श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# समयसार प्रवचन

## प्रथम और द्वितीय भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ ( उत्तर प्रदेश )



स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

संस्करण १००० ]  सन् १९७३  [ मूल्य १३

# श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | श्रीमान् | सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, | झूमरीतिलैया |
| २ | | वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, | कानपुर |
| ३ | ,, | कृष्णचन्द जी जैन रईस, | देहरादून |
| ४ | ,, | सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या, | झूमरीतिलैया |
| ५ | ,, | श्रीमती सोवती देवी जी जैन, | गिरिडीह |
| ६ | ,, | मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, | मुजफ्फरनगर |
| ७ | ,, | प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, | मेरठ |
| ८ | ,, | सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, | मुजफ्फरनगर |
| ९ | ,, | दीपचन्द जी जैन रईस, | देहरादून |
| १० | ,, | बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, | मसूरी |
| ११ | ,, | बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, | ज्वालापुर |
| १२ | ,, | केवलराम उग्रसैन जी जैन, | जगाधरी |
| १३ | ,, | सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, | सनावद |
| १४ | ,, | मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, | मुजफ्फरनगर |
| १५ | ,, | श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, | देहरादून |
| १६ | ,, | जयकुमार वीरसैन जी जैन, | सदर मेरठ |
| १७ | ,, | मंत्री, जैन समाज, | खण्डवा |
| १८ | ,, | बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, | तिस्सा |
| १९ | ,, | विशालचन्द जी जैन, रईस | सहारनपुर |
| २० | ,, | बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर, | इटावा |
| २१ | ,, | सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जनसंघी | जयपुर |
| २२ | ,, | मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज, | गया |
| २३ | ,, | सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, | गिरिडीह |
| २४ | ,, | बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन | गिरिडीह |
| २५ | ,, | बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, | गिरिडीह |
| २६ | ,, | सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, | मुजफ्फरनगर |
| २७ | ,, | सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, | बड़ौत |

| | | |
|---|---|---|
| २८ | श्रीमान् गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, | लालगोला |
| २९ | ,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर, | कानपुर |
| ३० | ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी, | आगरा |
| ३१ | ,, संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, | आगरा |
| ३२ | ,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, | रुड़की |
| ३३ | ,, झब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले, | सहारनपुर |
| ३४ | ,, रोशनलाल के० सी० जैन, | सहारनपुर |
| ३५ | ,, मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट | सहारनपुर |
| ३६ | ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, | शिमला |
| ३७ | ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, | सदर मेरठ |
| ३८ | ,, दिगम्बर जैनसमाज | गोटे गाँव |
| ३९ | ,, माता जी धनवंती देवी जैन राजागंज | इटावा |
| ४० | ,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द" | रुड़की |
| ४१ | ,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन, | चिलकाना |
| ४२ | ,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन, | चिलकाना |
| ४३ | ,, हुकमचंद मोतीचंद जैन, | सुलतानपुर |
| ४४ | ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, | सदर मेरठ |
| ४५ | ,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, | कानपुर |
| ४६ | श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी | सुलतानपुर |
| ४७ | ,, ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज | गया |
| ४८ | ,, ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावड़ा, | झूमरीतिलैया |
| ४९ | ,, ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, | जयपुर |
| ५० | ,, ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. | सदर मेरठ |
| ५१ | ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, | सहारनपुर |
| ५२ | ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, | शिमला |

नोटः—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

# आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

—०—

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए ]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

# समयसार-प्रवचन प्रथम पुस्तक

अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं द्वादशाङ्गं विशालं,
चित्रं बह्वर्थयुक्तं मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः ।
मोक्षाग्रद्वारभूतं व्रतचरणफलं ज्ञेयभावप्रदीपं,
भक्त्या नित्यं प्रवन्दे श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारम् ॥१॥
जिनेन्द्रवक्त्रप्रतिनिर्गतं वचो यतीन्द्रभूतिप्रमुखैर्गणाधिपैः ।
श्रुतं धृतं तैश्च पुनः प्रकाशितं द्विषट्प्रकारं प्रणमाम्यहं श्रुतम् ॥२॥
कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि ॥३॥
अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गुंथियं सव्वं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥४॥

इच्छामि भंते ! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अङ्गोवङ्गपइण्णये पाहुडय-परियम्मसुत्तपढमाणुयोगपुव्वगयचूलियाओ चेव सुत्थत्थुइधम्मकहाइयं णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं सम्मं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं । (९ बार नमस्कार मंत्र)

ॐकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः । कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥ अविरलशब्दघनोघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का । मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥ अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ श्री परमगुरवे नमः ॥ परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः । सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं धर्मसम्बन्धकं भव्यजीवमन प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री समयसारनामधेयं, अस्य मूल ग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्येण विरचितम् । मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी । मंगलं कुन्द-कुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु । सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्व-कल्याणकारकं । प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

## मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

इस ग्रन्थका नाम है समयप्राभृत । समय नाम आत्माका है, प्राभृत नाम है भेंटका, सो यह ग्रन्थ आत्माके दर्शन करने वालोंके लिये भेंट है, उपाय है । आज दुनियामें जितने भी धर्म प्रचलित हैं सभी यह जानना चाहते हैं कि हमारी सृष्टिका मूल क्या है ? कैसे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ और उस सृष्टिका रचयिता कौन है ? यह बात जैनधर्मके आध्यात्मिक ग्रन्थ इस समयसारमें आचार्योंने अच्छी तरह खुलासा करके दिखाया है कि सृष्टिका मूल तत्त्व क्या है, उस मूल शक्तिकी पहुंचमें कैसी सृष्टि होती है व उसके अपरिचयमें कैसी सृष्टि होती है ?

हिन्दू भाइयोंने भी उपनिषदोंमें यही जानने समझनेका प्रयत्न किया है कि हमारी सृष्टिका मूल क्या है ? उपनिषदोंमें कहा गया है कि ब्रह्म एक है और वह प्रत्येक पदार्थमें रहता है । सृष्टिका करने वाला भी वही है तथा कोई कहते हैं कि ब्रह्मा है वह एक है, सर्व व्यापक है, वही जगतकी सृष्टिका उपादान कारण है, और वही निमित्त कारण है । फिर यह उचित ही है कि जो हमारी सृष्टिका मूल कारण है उसको प्रसन्न करें ताकि हमारी भवसृष्टि न होकर शिवसृष्टि हो । उपनिषदका प्रयोजन सृष्टिका मूल जानकर उसकी उपासना करना है, तो अध्यात्मशास्त्रका भी प्रयोजन अपनी सृष्टिका मूल जानकर उसकी उपासना करना है । केवल यह निर्णय करना है यथार्थमें अपनी सृष्टिका मूल कौन है ? यह बात सही है कि सृष्टिके मूलको जानो और उसकी उपासना करो, किन्तु उपासना किस लिये है यह, इसका क्या ध्येय होता है ? यह सब केवल प्राथमिक अवस्थाके उपयोग हैं । वस्तुतः इसकी उपासन में उपयुक्त महात्माओंका कोई ध्येय ही नहीं रहता । वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर उसकी उपासना होती ही है ।

आप हम सब आत्मा हैं । कल्याणकी यदि भावना हो गई और जगतका, मित्रका, देहका, वचनका, मनका यदि पक्ष नहीं रहा है तो कोई संदेह नहीं कि बड़े बड़े व्यवसाय करनेके क्षयोपशमको कर लेने वाले आप लोग आपकी सृष्टिके मूल कारणको न पहिचान सके । हां तो यह कुन्दकुन्दोपनिषद कहो या अध्यात्मशास्त्र कहो, एक ही दोनोंका अर्थ है । उपनिषदमें तीन शब्द हैं उप–नि–पद, अपने आपके समीपमें जो भली भांति बैठावे वह उपनिषद है । अध्यात्म शब्द भी यही कहता है । प्रभु कुन्दकुन्दकी इस वाणीमें सृष्टिके आधारकी चर्चा है, श्रीमत्परमपूज्य कुन्दकुन्ददेवने आत्मस्वरूप बतानेके लिये ४१५ गाथाओं का निर्माण किया है । उन गाथाओंपर श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द्र जी सूरिने व्याख्यान किया है । उस व्याख्यानका यह प्रथम श्लोक मंगलाचरणके रूपमें ।

समयसारके लिये नमस्कार हो । समयसारका अर्थ है वह आत्मतत्त्व जो अनादिसे अनंत काल तक रहता है, स्वतःसिद्ध है । विज्ञान वितर्कसे देखो हमारी सृष्टिका मूल यह आत्मा है । प्रत्येक आत्मा परिणामशील है । प्रति समय द्रव्य अपनी अवस्था करता है ऐसा

स्वभाव ही है। यह आत्मा किसी भी अवस्था रूप बनकर नहीं रहता है। सब अवस्थाओंको एक एक क्षणके लिये धारण करता चला जाता है। जिस एककी ये अवस्थायें बनती चली जाती है, एकको जानो और उसकी आराधनारूप भक्ति करो। अपनी सृष्टिका मूल यह स्वयं आत्मा है और यह आत्मा स्वयं धर्म है, इसकी सत्ता भी स्वतन्त्र है। आत्माकी सब अवस्थायें इसही धर्मके परिणमन हैं, उन परिस्थितियोंमें कोई विकृत कोई अविकृत है। उनका सृष्टिकर्ता यह आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र है, आत्मद्रव्य मूल है, अतः आत्माकी रचनाओंका वही सृष्टिकर्ता है। तब यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब आत्मा स्वयं ही सृष्टि कर्ता है तब इसकी रचनावोंके नाना प्रकार भिन्न-भिन्नरूप कैसे बने ? इसका उत्तर है कि जिसमें जैसी शक्ति है उसी रूप वह परिणाम जाते हैं। इसमें निमित्त परद्रव्य है।

आत्माके रागादि विभाव जिनमें विविधता है उनकी सृष्टि भी आत्मासे हुई और वह हुई मलिन आत्मासे। यद्यपि आत्मस्वभाव शुद्ध सत्ताका कारण परमात्मतत्त्व है तथापि अब तक चले आये परिणमनोंको देखकर निर्णय करें तो आत्माकी मलिनताकी परम्परा अनादिसे है। यह मलिन आत्मा प्रति समय परिणमता जा रहा है अपनी शक्तिसे अपने गुणोंमें, किन्तु मलिन आत्मारूप उपादानकी ऐसी प्रकृति है कि अपनी योग्यतानुसार निमित्त को पाकर मलिन पर्यायरूप परिणमता जाता है। यह असर, प्रभाव व वैशिष्टच आत्माका है। विभावपरिणमनमें बाह्य अविनाभाव-सम्बन्ध अथवा बहिर्व्याप्यव्यापक संबंध निमित्तका है। यह निमित्त उदित अथवा उदीर्ण द्रव्य कर्म है अर्थात् कर्मके उदय व उदीरणाके अभाव में रागादि होते नहीं हैं और कर्मके उदय उदीरणाके सद्भावमें ही रागादिक होते हैं। यह सम्बन्ध होते हुए भी कर्मकी परिणति स्वीकारे बिना ही आत्माकी परिणतिसे रागादिक होते हैं। स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थ रागादिके निमित्त नहीं हैं उनमें, किन्तु आश्रयभूत पदार्थ हैं। उनमें जिसपर आत्माकी दृष्टि जावे वह रागादिका विषय बन जाता है।

**आत्माका अहित विषय कषाय है:**—प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और वह दुःखसे छूटना चाहता है, किन्तु यह इतना विचार ही नहीं करता कि दुःख वास्तवमें क्या है ? यदि प्राणी यह विचार कर लेवे—आतमके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥ तो वह दुःखसे छुटकारा प्राप्त कर लेगा। विषय कषायमें परिणति न जावे, यह बात तभी हो सकती है जब आत्माका यथार्थ बोध हो और विषय कषाय रूप पर्यायका यथार्थ बोध हो। सभी प्रकारके अध्यात्मवादियोंने यह निर्विवाद माना है कि विषय और कषाय ये ही बुरे विकल्प हैं और इनसे ही दुःख होता है। इस दुःखसे छूटनेके लिये सभी विवेकी अचाक्षुष तत्त्वकी ओर गये। हमारे सुख दुःखमें हमारा और परद्रव्य निमित्तका सम्बन्ध व दृष्टिरूप झगड़ा है, अथवा झगड़ा किसीका नहीं। सभी कोई एक ईश्वर ही अपनी मंशाके मुताबिक

सब प्रबन्ध करता है। इन दोनों बातोंका यथार्थ मंथन करके निष्कर्ष निकाल लेना और सत्पथ पर चलनेके लिये सबसे बड़ा काम कर लेना है। मूल भटकनका निरखेरा न करके रूढ़िगत धर्म प्रवृत्तियोंमें लगे रहना, क्षमा करें, बिना लक्ष्य नाविका समुद्रमें इतस्ततः नाव भटकानेके समान व्यवसाय है। भैया! यथार्थ ज्ञानके उपार्जनका पुरुषार्थ महान् पुरुषार्थ है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेनेके पश्चात् सम्यक् चारित्र धारण कर मोक्ष पा लेना सुगम है। जन साधारण प्रायः यह कहते देखे गये है कि ज्ञान पा लेना सरल बात है, उसपर चलना कठिन बात है। कुछ बुद्धिमान् बतलाते हैं कि दुःख मेटनेका उपाय जान लेना तो सरल है किन्तु उसपर चलना यानी दुःखसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। किन्तु जैन सिद्धान्तमें तो कहा है कि दुःखोंसे छुटकारा पाना अत्यन्त सरल है, किन्तु दुःखके व उसके नाशके उपायको जान लेना अति कठिन है। मिथ्यात्व और कषाय इन दोनोंमें कौन कठिन है? इन दोनोंमें मिथ्यात्व ही कठिन है, क्योंकि मिथ्यात्व सम्यग्दर्शनका प्रतिबन्धी निमित्त है। जब मिथ्यात्वका उदय रहता है तब तक सम्यग्दर्शनका उदय नहीं होता है। इसलिये मिथ्यात्वका उदय रहता है तब तक सम्यग्दर्शनका उदय नहीं होता है। इसलिये मिथ्यात्व का उच्छेद करना अति कठिन है उतना कठिन कषायोंका उच्छेद नहीं।

**निज ज्योतिके दर्शनसे विषय कषाय नष्ट होंगे**—सम्यग्दर्शन बिना प्राणीका अनंत काल परिभ्रमणमें बीता। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् यदि वह नष्ट न हो तो अधिकसे अधिक उसे दहाई सागर प्रमाण ही संसारमें रहना पड़ता है व कमसे कम अंतर्मुहूर्तमें ही चारित्र द्वारा मुक्ति पा लेता है। सम्यग्ज्ञानका उपार्जन सबसे कठिन है। जिन लोगोंकी धारणा है कि ज्ञान पा लेना सरल है, चलना कठिन है, उन्होंने ज्ञानको ही नहीं समझा, और किसी कलाको ज्ञान कहकर ऐसी टिप्पणी की है। यथार्थतः देखो तो सम्यग्दर्शन भी ज्ञानस्वरूप आत्माकी श्रद्धा है। ज्ञान भी ज्ञानस्वरूप आत्माकी ज्ञप्ति है और चारित्र अभीक्ष्ण ज्ञान-वृत्तिसे बने रहना है। इधर लोग भी कहते हैं 'नर्ते ज्ञानान्मुक्तिः'। आप भी कहते हैं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। इस सूत्रमें विशेषण बहुवचनान्त है और विशेष्य एकवचनान्त है। जिसका रहस्य यह है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है। वह ऐक्य अति निर्लेप होकर ज्ञाता द्रष्टा बने रहनेकी स्थितिका संकेत करता है। वह स्ववृत्ति है। भैया, कोई कहते हैं कि वह मनुष्य अधिक क्रोध करता है इसलिये महाराज आप ऐसा नियम दिला दें कि जिससे यह क्रोध न करे। सो भैया मानो उसने उसे ऐसा ही समझा है जैसे कि बाह्य चीजको न ग्रहण करना, न खाना, त्याग कर देना आसान है, सो ऐसा क्रोध भी होता होगा। वह यह बात दूसरेके प्रति ही समझता है, अपने प्रति तो कोई कहे—मान ले, तो यही जवाब देता हमारे बसकी नहीं। उसके यह उत्तर बाह्य अर्थोंमें भी रहो

हैं। क्रोध नियम करानेसे नहीं छूटता है बल्कि आत्मामें जब ज्ञानकी प्राप्ति होगी और वह यह जान जावेगा कि यह जो कुछ मैं देख रहा हूँ सभी क्षणिक नश्वर हैं। क्रोध करना आत्माका स्वरूप नहीं, क्रोध अन्य पदार्थोंको निमित्त पाकर होता है, क्षण भरके लिये आकर फिर विनष्ट हो जाता है, मैं तो ध्रुवज्ञान स्वभावरूप हूँ यह सब होते हैं उनका मैं ज्ञाता हूँ। मेरी वृत्ति जानने की है। यह बोध हो तो फिर क्रोध छूट जायगा। वस्तुत: मैं स्वचतुष्टयसे ही सत् हूँ, पर चतुष्टयसे नहीं, अन्य द्रव्य कोई मेरा नहीं है। पुत्र, स्त्री, माता, पिता सभी स्वार्थके हैं, जब तक उनका मेरे द्वारा स्वार्थ चल रहा है तभी तक कल्पनामें मेरे हैं। किन से क्रोध करना, किसीसे मेरा सम्बन्ध नहीं। आत्मा अपनेको पहचानेगा तब उसके क्रोध, मान, मोहादिक स्वत: नष्ट हो जायेंगे।

**कलुषतायें अज्ञानके बलपर जीवित हैं:**—जहाँ भगवान कारणसमयसार अर्थात् विशुद्ध आत्मतत्त्व विराजमान होगा वहाँ कलुषतावोंका अड्डा नहीं जम सकता। कलुषताएं वहीं आराम पाती हैं जहाँ अज्ञानका निमंत्रण मिलता है। कलुषतावोंको निमंत्रणकी कमी नहीं है। अनंतानंत जीव अनादिसे अज्ञानपूरित हैं। यह वस्तुस्वरूपकी मेहरबानी है कि वे अब भी चेतनरूप ही हैं, अन्य रूप नहीं हुये और अब भी आत्माकी संभाल करें तो उतने ही चोखे निखरते है जितने चोखे चिरकाल पहिले आत्मा हो गये। पूज्य श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है कि 'अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन: तदेव ज्ञानसंस्कारै: स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।' जो उपयोग अविद्या वृत्तके अभ्याससे दूषित हो गया था वही उपयोग ज्ञानवृत्तके संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही निज विशुद्ध सहज भावमें ठहर जाता है। उपयोग यद्यपि चैतन्यकी परिणति है और उपयोग जो पहले था वह बादमें नहीं रहता तथापि उपयोगपने मात्रकी अविशेषतासे वही उपयोग ऐसा व्यवहारमें आता है, इसका तात्पर्य आत्मासे है। जब तक आत्माकी शुद्धि नहीं होगी तब तक ज्ञान भी पैदा नहीं होगा। एक उदाहरण है—एक राजाके पास दो चित्रकार आये और दोनों अपनी प्रशंसा करने लगे। राजाने दोनोंको काम दिया और छह माहके बाद दोनोंकी चित्रकारी देखनेका वायदा किया। पहला चित्रकार जो कि रंग ब्रुश आदिसे चित्र बनाता था, १ दीवालपर बढ़ियासे बढ़िया चित्र बनाने लगा और दूसरेने एक दीवालकी सफाई शुरू की। उसने ६ महीने बराबर अपनी दीवालकी सफाई करना जारी रखी। राजाने जब पर्दा हटाकर देखा तो जितने चित्र रंगादिकसे बनाये गये वे उन चित्रोंके सामने खुरदरे प्रतीत हुये, किन्तु वे चित्र जिसने छह महीने सिर्फ दीवालकी सफाईकी उसकी दीवालमें उत्तम प्रतीत हुये। राजाने द्वितीय चित्रकारको ही अधिक पुरस्कार दिया। इसी तरह जब तक आप आत्मशुद्धि नहीं करोगे तब तक आत्मामें ज्ञान-वृद्धि होना कठिन है अथवा ज्ञानवृद्धि नहीं हो सकेगी। चित्तशुद्धि करनेमें, उपयोगभूमिको निर्मल बनानेमें यदि

जीवनका बहु भाग भी लग जावे तो समझ लें कि हमने पौने सोलह आने काम कर लिया है। दर्जीसे कमीज सिलवाने जाते तो वह दर्जी आपसे आधा घन्टे तक नाप माप आदि करके कपड़ेको आपके सामने कतर कर रख लेता है। क्या आप कभी यह सोचते हैं कि इसने हमारा आधा घंटा समय व्यर्थ कर दिया और अभी सीना शुरू भी नहीं किया? नहीं सोचते; क्योंकि आप जानते हैं कतर ब्योंत ही बिगड़ गया तो कपड़ा बिगड़ जावेगा। यही बात आपके लक्ष्य ठीक बनाने और उपयोग शुद्धि करनेके बावत समझें। एक दृष्टिसे ज्ञान-प्राप्ति करना कठिन है उतना कठिन चारित्र नहीं, ज्ञानका ज्ञानावस्थामें रहना उसीका नाम चारित्र है। ज्ञानोपार्जन करके ज्ञानसे देखो—ज्ञान कठिन भी नहीं है क्योंकि जाननेमात्रकी बात ही तो है, खुद जानना व खुदको जानना। वह सहज ज्ञानमय आत्मा पर्यायको गौण करके स्वभावदृष्टिसे देखनेमें आता है। जैसे यह सीधी उंगली टेढ़ी, तिरछी कई अवस्थाओंमें है लेकिन कहा जावे कि सिर्फ उंगली मात्र बतावो तो वह आप लोग नहीं बता सकते, क्योंकि वह तो सिर्फ ज्ञानसे जाननेमें आवेगी। बाकी यह जो हम टेढ़ी आदि देख रहे हैं यह पर्यायें हैं। यदि वास्तवमें यह टेढ़ी अंगुली अंगुली है तो सीधी होनेपर अंगुलीपना नष्ट हो जाना चाहिए। यहाँ अंगुलीको द्रव्य नहीं समझना किन्तु दृष्टान्तमें बताया है। इसी तरह बालक, जवान, बूढ़ा ये सभी मनुष्य हैं लेकिन आपसे हम सिर्फ मनुष्यमात्र मात्र लानेको कहें तो आप बालक मनुष्यको लावेंगे अथवा जवान मनुष्यको आदि। कहनेका मतलब है कि ये तो सभी मनुष्यकी पर्याय हैं। मनुष्यमात्रको तो हम ज्ञानपूर्वक ही देख सकेंगे।

**मोह निद्रा मिटनेपर विकल्पक्लेश मिट जाते हैं:**—इसी तरह सहज ज्ञान अथवा आत्मगुणोंका ज्ञान होता है। स्वभाव ज्ञानके प्रतिभासमात्रसे इस सहज स्वरूपके जाने बिना अनंत काल व्यतीत हो गया भटकते-भटकते। ये सब दुःख मोहके विकल्पके हैं। विकल्पोंके रहते हुये कोई भी प्राणी हमारी क्लेशमुक्ति, रक्षा व दया करनेमें समर्थ नहीं है। ये विकल्प मिटें तो हमारी आत्माकी शांति सहज ही प्राप्त होगी।

**गर्मीके दिन थे।** एक सेठको दिनमें स्वप्न आया कि मुझे बहुत गर्मी लग रही है इसलिये समुद्रमें जाकर नौका द्वारा भ्रमण करना चाहिये। वहाँ ठन्डी हवा लगनेसे गर्मी शांत हो जावेगी। तुरन्त ही वह कुटुम्ब सहित नावमें जा बैठा। थोड़ी दूर पहुंचा होगा कि बड़े जोरका तूफान आया और जहाज डूबने लगा। तब सेठ जीने मल्लाहसे कहा कि हे माझी! तुम मुझे बचाओ मैं तुम्हें ५००) रुपये इनाम दूंगा। मल्लाहने कोई उत्तर नहीं दिया। तब सेठ जीने दुबारा कहा कि मांझी तुम मेरे प्राण बचा लो, मैं तुम्हें ५००० रुपया इनाम दूंगा। तब मांझी बोला सेठ जी! यह जहाज किसी भी तरह नहीं बचाया जा सकता है, इसलिये आप मुझे आज्ञा दें कि मैं अपने प्राण बचा सकूं, क्योंकि किनारा पास है, मैं

तैरकर बच सकता हूं। आप विचार करो उस समय उस सेठके प्राण कितने कष्टोंमें हैं; किन्तु जहाँ सेठ पड़ा है वहाँका वातावरण तो देखो — दासियाँ पानी लिये खड़ी हैं, पंखे डोल रहे हैं. कुछ मित्र लोग प्रतीक्षामें बैठे हैं कि सेठजी की आँख खुलें तो हम सद्‌वचनोंसे सेठ जी को प्रसन्न करें। परन्तु ये सब नर भी उस दुःखी सेठको बचानेमें समर्थ नहीं। सेठ स्वप्न में ही मरा जा रहा है। भैया बताओ सेठजी के दुःख मिटनेका कोई उपाय है ? हां उपाय है। उपाय यही है कि वह जग जावे। सब लोग उस दुःखको नही मेट सकते, किन्तु वह दुःख जग जानेसे मिट जावेगा। इसी तरह यहां भी लोभ मोहकी नींदमें ये स्वप्न देख रहे ठाट-बाटके। इससे जो विकल्पोंका दुःख है उसे महान् साम्राज्य भी नहीं मिटा सकता, वह तो ज्ञानसे मिटेगा। मेरा तो निज ही निज है, अन्य सब अत्यन्त पृथक् हैं—-ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञानोपयोग चले तो कृत-कृत्यताकी श्रद्धाके बलसे विकलता खतम हो। इसलिये यदि सुख चाहना है तो ज्ञानका अनुभव करो, बिना ज्ञानके सुख नहीं मिल सकता।

श्रीमत्परमपूज्य कुन्दकुन्ददेवको नमस्कार करके उनके द्वारा रचित ग्रन्थ समयसारका क्या अर्थ है, यही आज पहिले बताना है। जैसा कि नामसे स्पष्ट है समय यानी सम्पूर्ण द्रव्य और उनमें सारभूत आत्मा है तथा आत्मामें भी सारभूत है ध्रुवस्वभावमय तत्त्व।

**समयसार कारण परमात्मा है, जिसने ईश्वरका स्थान प्राप्त किया:**—समयसारमें शुद्ध अध्यात्मविषयकी चर्चा की गई है। आत्माका शुद्ध स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? निश्चयनयकी दृष्टिसे इस प्रश्नका हल करना भी इस ग्रन्थका उद्देश्य है। निश्चयनय के अनुसार आत्माका शुद्धस्वरूप बंधरहित, ग्रन्थरहित, विशेषरहित. ध्रुवनियत, चैतन्य है और सहज दर्शनज्ञानचारित्ररूप अभेद शुद्ध आत्माका ध्यान उसकी प्राप्तिका उपाय है। उपनिषद्में सृष्टिका मूल कारण निर्णीत करके जैसी कि उसमें कल्पना की गई है उस कारण ब्रह्म की उपासना दुःख मुक्तिका उपाय कहा है। यहाँ भी सृष्टिके मूल कारणरूप निज ब्रह्मकी जैसा कि यह सनातन है उस स्वभावमें उपासना करनेको दुःखमुक्तिका उपाय कहा है। वेद में मीमांसा और वेदान्त ये दो मार्ग कहे हैं, वह जैनसिद्धांतके षट्कर्मवृत्तिरूप गृहस्थोंके चरणानुयोग व अध्यात्मयोगियोंकी निर्विकल्प समाधिके प्रतिरूप हैं। अन्तर मीमांसा और गृहस्थ धर्ममें यह हो गया कि मीमांसा पशुवलिको विधेय कह डालती है, जबकि गृहस्थ धर्म प्रासुक विधिसे देवपूजादिके आरम्भको अप्रतिषेध्य वताता है। इस तरह इन दोनोंमें इतना अन्तर हो गया है। इसी प्रकार वेदान्त सृष्टिकर्ताके विषयमें सबको सृष्टिका मूल कारण वताता है और अध्यात्मसिद्धान्त प्रत्येक द्रव्यकी सृष्टिका मूल कारण उस ही द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप अभिन्न विभूति वाले द्रव्यको सिद्ध करता है। हाँ, तो यहाँ अपनी सृष्टिके स्रोतरूप समयसार का अर्थ कहा जा रहा है। समयसार सामान्य दृष्टिसे परखे गये अथवा अवगम्य आत्मतत्त्व

को कहते हैं। अध्रुवदृष्टि, अध्रुवकी दृष्टि, अध्रुवमें दृष्टि, अध्रुवके प्रयोजनके लिये दृष्टि, अध्रुवताको प्राप्त होगी और उससे अध्रुव ही हाथ आकर निकल जायेगा, किन्तु ध्रुवदृष्टि, ध्रुवकी दृष्टि, ध्रुवमें दृष्टि, ध्रुवके प्रयोजनके लिये दृष्टि ध्रुवताको प्राप्त होगी और उससे ध्रुवकी उपलब्धि होगी। यहां ध्रुव शब्दसे दो मतलब लेना है। कहीं अविचल और कहीं सदृश पर्याय, जहाँ जो उपयुक्त बैठे। इस विषयको आगेकी गाथाओंमें कहेंगे। प्रकरणवश यहाँ इतना जान लेना कि परसे भिन्न, मैं निज अभिन्न चैतन्य ध्रुव समयसार है और सदृश पर्यायरूप प्रवाहित ध्रुव अरहन्त सिद्ध पर्याय, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख आदि कार्य समयसार हैं तथा विषय कषाय आदि विभाव अर्थपर्याय है और नर नरकादि विभाव व्यञ्जन पर्याय हैं। इस ग्रन्थमें अन्य सबको गौण करके ध्रुव समयसारका वर्णन किया है। वीतराग मुनिराज स्वरूपाचरण चारित्रके समय जब आत्मध्यानमें मग्न हो जाते हैं तब ध्यान (चिंतवन) ध्याता (ध्यान करने वाला) और ध्येय (ध्यान करने योग्य) पदार्थमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता, वचनका विकल्प भी नहीं होता, वहांपर आत्मा ही कर्म (कर्ताके द्वारा अभीष्ट कार्य होने वाला) और आत्माका भाव ही किया जाता है अर्थात् कर्ता कर्म और क्रिया—ये तीनों बिल्कुल अभिन्न तथा परस्पर अविरोधी हो जाते हैं; शुद्धोपयोगकी अटल हालत प्रकट हो जाती है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र भी एक साथ एक रूप होकर प्रकाशमान हो जाते हैं जिसको उपादान करके निर्मल आत्मा होती है। आचार्य श्रीने इस अध्यात्म महाग्रन्थमें उस शुद्ध आत्मस्वरूपका निश्चयनयकी दृष्टिसे प्रतिपादन किया है। यह पहले कह चुके हैं कि सब द्रव्योंमें श्रेष्ठ है तो वह शुद्ध आत्मा ही है। द्रव्योंकी संख्या अनन्तानन्त है। जीवद्रव्य अक्षय अनन्त है। उससे अनन्तगुणी संख्या पुद्गल द्रव्यकी है और एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्म द्रव्य है, एक आकाश द्रव्य है और असंख्यात काल द्रव्य हैं। किन्तु इनमें सबसे श्रेष्ठ जीव द्रव्य है। यदि सभी द्रव्य रहते आवें, सिर्फ जीवद्रव्य न होता तो संसारमें यह कुछ भी न होता अर्थात् जीवद्रव्यके अभावमें एक स्कन्ध भी दृष्टिगत नहीं होता, क्योंकि दुनियाका कोई भी परमाणु वह शक्ति नहीं रखता कि बिना जीवद्रव्यको निमित्त किये वृद्धिको प्राप्त हो सके। जीवद्रव्यके अभावमें यह पेड़ पौधे किस प्रकार बड़े होते? देखो! यह कागज है, क्या जीव बिना संयोग यह बना है? यद्यपि इस समय यह निर्जीव है लेकिन यह बताओ यह बना कैसे? बासों और कपड़ोंके पेषणसे। कपड़े कपाससे हुये और बाँस व कपास वनस्पतिकायिक थे; एकेन्द्रिय जीवका पूर्व सम्बंध पाकर ही यह काय-रूप स्थिति हुई। प्रश्न—धातुकी चीजें तो बिना जीवके हुई हैं? उत्तर—यह चद्दर अथवा आपके दूकानोंमें रखे हुये सोना चांदी खानसे निकले हैं; खानमें से उन्हें निकाल करके प्रायोगिक संयोग वियोग करके कुछ भी बना लो। आप एक भी कंकण या

टुकड़ा हमें नहीं बता सकते तो जीवका संयोग न पाकर अपना कुछ भी आकार बना पाया हो। खैर, यहाँ इन बातोंसे प्रयोजन तो नहीं है। बात यह चल रही है कि जीवद्रव्य सब द्रव्योंमें सार है। आप हमें बता दो कि अमुक पदार्थ, अमुक स्कन्ध बिना जीव-प्रवेश पाये बढ़ा है, अथवा किसीने वृद्धि प्राप्त की है। यह बात परोक्ष ढंगसे है। वस्तुतः तो जीवका काम जीवमें ही हुआ। उसके निमित्तको पाकर स्कंधोंमें स्कंधका संचय हुआ। अब अन्तरंगसे देखो तो जीव ज्ञाता है, सबका व्यवस्थापक है, निर्देशक है। अतः जीव सब द्रव्योंमें सारभूत है। अन्य द्रव्योंका पता देने वाला भी जीवद्रव्य है और जीवद्रव्योंका पता देने वाला भी जीवद्रव्य है तथा स्वयंका भी पता देने वाला जीव-द्रव्य है। अतः सब द्रव्योंमें जीवद्रव्य सार है।

**सामान्य और विशेष दृष्टिका परिणाम**—जीव-द्रव्य अनंतानंत है। अतः उसका कभी अन्त भी नहीं हो सकता है। अब हमें उस जीवद्रव्यमें, उस आत्मतत्त्वमें कौनसा श्रेष्ठ आत्मतत्त्व है, उसका निर्णय करना है। इस निर्णयके लिये हमें सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेना होगा, आज सभी जगह सामान्य और विशेषका जिक्र आता है। कोई कहता है भाई मैं तो सामान्य सी दुकान करता हूं, मैंने फलोंका काम बड़ी विशेषतासे किया, उसने शादी सामान्यरूपसे की है आदि। सभी पदार्थोंमें सामान्य और विशेष लगता फिर रहा है। हमें लौकिक सामान्यका वर्णन नहीं करना है—यह तो इसलिये कहा है कि सामान्य विशेष घर-घरमें राज्य जमाये हुये हैं। वहाँ वास्तविक सामान्य विशेषका वर्णन करते हैं। इसमें से सामान्य दृष्टिसे समयसार जाना जायगा, और विशेष दृष्टिसे सब गुण पर्याय तथा गड़बड़झाला जाने जावेंगे और सामान्यदृष्टिके फलस्वरूप जो आराध्य पद होते हैं वे भी जाने जावेंगे।

सामान्य दो प्रकारका है; विशेष भी दो प्रकारका है। बहुतसी चीजोंमें किसी एकको सामान्य कहना, यह तिर्यक्सामान्य है। जैसे-ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य आदि अनेक मनुष्य कहीं बैठे हों किन्तु सभीको सामान्यसे मनुष्य कहा, यह है तिर्यकसामान्य, क्योंकि वहाँ पर सभी मनुष्य हैं।

(२) **ऊर्ध्वतासामान्य**—उसे कहते हैं कि एक वस्तुमें ही सामान्य कहना, वह है ऊर्ध्वतासामान्य। जैसे एक ही पुरुषके बालक जवान बूढ़े की अवस्थाओंमें बालक जवान बूढ़ा इन तीनों दशाओंमें सभीको मनुष्य कहा। इन तीनोंमें जो एक रहा उस एकको ही मनुष्य कहा। इसी तरह विशेष भी दो तरहका है—तिर्यक्विशेष और उर्ध्वता—विशेष। इन चारोंके निर्णय द्वारा हमें जो अपनी आत्माका सार है उसे ढूँढ़ना है। श्रेष्ठ आत्मतत्त्व क्या है उसे ढूंढ़ना है। हमें प्रत्येक आत्मामें सार नहीं देखना है किन्तु स्वयंकी आत्मामें सार देखना है और उसीसे अनुमान कर लेना है कि जो सार मेरी आत्मामें है वही प्रत्येक आत्मामें है।

जब तक हमें स्वात्माका ज्ञान नहीं होगा तब तक हम अन्यकी आत्माका परिज्ञान नहीं कर सकते। इसलिये हमें पहले अपनी आत्माका सार देख लेना चाहिये और वह सामान्य विशेष के द्वारा निर्णय करके ऊर्ध्वतासामान्यसे देखें। जब हम ऊर्ध्वता विशेषकी दृष्टिसे देखेंगे तो यह हमारी गड़बड़ियोंको बतायेगा, किन्तु सामान्य दृष्टिसे जब हम आत्माको देखते हैं तो हमें एक सामान्य भाव दिखता है वह है ज्ञायक भाव। णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव। इस गाथाके अनुसार आप जल्दी समझेंगे जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक भावसे जान लिया वह वही है, अन्य कोई नहीं। आज हम जितने भी व्यवहार देखते हैं वे सभी व्यवहार पर्यायके पर्यायके साथ हैं। द्रव्यका व्यवहार द्रव्यसे नहीं चलता है। अपना निजी सृष्टिकर्ता आत्मा है इसलिये अपने सृष्टिकर्ताकी उपासना करके उसे प्रसन्न करना चाहिये जिसके आगे भवसृष्टि न हो किन्तु शिवसृष्टि हो। यहां प्रसन्नका अर्थ है निर्मल। यह अर्थ व्याकरणके अनुसार है। अतः हमें अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिये जिससे हमें आगे शिवसृष्टि ही मिले।

**सामान्य अर्थात् व्यापक आत्मतत्त्व**—समयसारका अर्थ बताया जा चुका है। आज उस आत्माके बारेमें कहा है जो अनादिसे अनंत तक चलता है। आज तक जितने भी महान् पुरुष तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि हुये है उन्होंने भी उसीका ध्यान करके परमपद शिवको पाया। समयसारके रचयिता श्री कुंदकुंददेव ने और उसके टीकाकार श्री अमृतचंद जी सूरि महाराजने समयसारको नमस्कार किया है। समयसारमें आत्माको ही नमस्कार किया है। श्री पूज्यवर टीकाकार ने आत्मख्यातिके अंतमें भी एक श्लोक लिखा है—मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना। अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमाम्यहम्। वह आत्मा जो अविनश्वर, ज्ञानमूर्ति, परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोसे, रागादिक भाव कर्मोसे और शरीररूप नोकर्मोसे मुक्त है सामान्य स्वरूप उस आत्माको नमस्कार किया है। आत्मतत्त्वकी अनुमापकता शुद्धपर्यायी श्री सिद्ध महाराजमें है। तीन प्रकारके कर्मोंको नष्ट कर देनेके कारण वे मुक्तरूप हैं, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुखादि गुणोंसे मुक्त होनेके कारण जो अमुक्तरूप है, ज्ञान ही जिसकी मूर्ति है, आत्मा भी समस्त परद्रव्योंसे मुक्त है और निज अभिन्न गुणों से अमुक्त है ऐसी उस अविनश्वर आत्माको नमस्कार है। पर्यायशुद्ध आत्माके प्रायः सभी विशेषण दर्शनज्ञान-सामान्यात्मक आत्माके लागू हो जाते है। मीमांसक परमात्माको कर्मरहित नहीं मानते, इसलिये उनके अभिप्रायसे शुद्ध करनेके लिये कर्ममुक्त विशेषण दिया है। नैयायिक व वैशैषिक मुक्त जीवमें ज्ञानादि विशेष गुणोंका भी अभाव मानते हैं। इस लिये तथ्यके निर्णयके लिये ज्ञानादिकसे अमुक्त यह पद दिया है। कोई कोई मतावलम्बी

मुक्तिसे फिर आना मानते हैं इसलिये अक्षय विशेषण दिया है। सांख्य परमात्माको ज्ञान-रहित मानता है इसलिये ज्ञान-मूर्ति शब्द दिया है। आत्मामें एक चेतना नामका गुण है, जिस गुणकी ज्ञान व दर्शन ये दो पर्यायें होती हैं, और इस चेतनागुण अथवा इसकी ज्ञान-दर्शन पर्यायोंकी अपेक्षासे ही आत्मा चेतन कहलाता है। इस चेतन गुणके अतिरिक्त आत्मामें और भी अनन्तगुण पाये जाते हैं जो पुद्गल आदि द्रव्योंमें भी कह सकते हैं। आत्मा नित्य परिणमनशील पदार्थ है और उसमें अनंतगुण हैं, किन्तु ज्ञानगुणको छोड़ अन्य हमारे अनुभवमें नहीं आता है। उसी ज्ञानके द्वारा हम निज और परकी आत्माका बोध कर पाते हैं। अत: ज्ञानको भी आत्मा कहा है। ज्ञानसे आत्मा अमुक्त है और परद्रव्योंसे आत्मा अनादि से ही मुक्त है। यह आत्मा राग द्वेषादि कारणोंसे कर्मका बंध करके पराधीन व दुखी अपने आप होता है और ज्ञान-ध्यान तपादि करके बंध अवस्थाको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त कर स्वाधीन हो जाता है। किसी भी पदार्थकी प्राप्ति प्रयत्न करने पर होती है, इच्छा मात्रसे नहीं होती। यहाँ तक कि मोक्षकी इच्छा भी बिना प्रयत्नके सफल नहीं होती है। मोक्षकी इच्छा करनेसे मोक्ष नहीं मिलता किन्तु मोक्षप्राप्तिमें उतना विघ्न पैदा हो गया जितनी इच्छा की। चाहे वह मोक्षकी भी हो। हित चाहने वाले पुरुषोंको इच्छा हमेशा त्यागना चाहिये। कर्मकी या वस्तुकी प्राप्ति प्रयत्नसे होती है। भोजनके सभी सामान, आटा, दाल नमक, घी, बरतन आदि सामने रखे रहनेपर भी भोजन नहीं मिलता किन्तु भोजन तो तभी मिलता है जब हम प्रयत्नपूर्वक सब सामानकी सहायतासे रोटी बनाते हैं, यह मात्र औपचारिक बात है। निश्चयत: स्वरूपानुरूपवृत्तिसे स्वरूपोपलब्धि है। इसलिये इच्छाको छोड़कर प्रयत्नमें लगना चाहिये, यही श्रेयस्कर मार्ग है। इसीसे कल्याण होगा।

जैन परम्पराका यह नियम है कि शास्त्रके पहिले मंगलाचरण किया जाता है। अभी जो स्तवन किया है यह श्रुतभक्ति है। इस श्रुतभक्तिमें श्रुत अंग प्रकीर्णक व अंग बाह्यरूप समस्त शास्त्रकी भक्ति की गई है। भक्तिके बाद अंचलिका पढ़ी जाती है। तदनंतर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ते हुये कायोत्सर्ग किया जाता है। इस कायोत्सर्गको वक्ता और श्रोता दोनों करते हैं। इसके पश्चात् अन्य कोई वार्ता नहीं होती है। यदि शास्त्रश्रवणके बीचमें कोई ऐसा प्रश्न आवे जो वक्ताको अपना प्रकृत विषय बढ़ाने या स्पष्ट करनेमें भी सहायक हो तो श्रोता वक्तासे प्रश्न करे किन्तु कोई परस्पर बात न करे। भक्तिके अतिरिक्त इस व्यवस्था की भी इस प्रक्रियासे पूर्ति हो जाती है। और दूसरा कारण यह भी है कि हम जो कार्य कर रहे है वह निर्विघ्न समाप्त हो, इसलिये शास्त्रके शुरूमें मंगलाचरण किया जाता है क्योंकि इससे सावधानी आ जाती है। प्रतिदिनकी श्रुतभक्तिके बाद अब यहाँ पर—

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावांतरच्छिदे ॥

इस श्लोकके द्वारा नमस्कार किया गया है । समयसारका यहां अर्थ वह आत्मतत्त्व लिया गया है जो अनादिसे अनन्तकाल तक चलता है । यहाँ पर समयसारसे अरहन्त, सिद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग हितोपदेशो आदि नहीं लेने हैं किन्तु उस आत्मासे सम्बंध है जो सहजदर्शन, सहजज्ञान, सहजशक्ति, सहजसुखका धारक है और सबसे भिन्न है, मोक्षका दाता है । अरहन्त सिद्धोंका ध्यान करनेसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती, किन्तु मोक्षमार्गकी प्रेरणा मिलती है । प्रस्पष्ट निर्मल पर्यायके धारी केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतशक्ति, अनंतसुखके भोक्ता अरहन्त, सिद्ध भी निज आत्मप्रभुको ही उपादान करके उत्कृष्ट हुए हैं । उनकी पर्याय सहज है, अन्य निमित्त बिना हुई है । सो वह पर्याय सहजस्वरूपके अनुरूप प्रकट है, उस परिणामस्वरूपके ध्यान द्वारसे गुजरकर सहजस्वरूपके ध्यानपर आना सुगम है । अतः अर्हद्भक्ति सिद्धभक्ति ज्ञानी पुरुषोंकी प्रवृत्ति है ।

अरहन्त सिद्धकी आत्मा निर्मल है, तथा वे हमारे उपास्य, आराधक देव हैं । उनकी आराधना, उपासना हम इसलिये करते हैं कि उनकी वीतराग निष्परिग्रह, शांतमुद्राको देखकर हमारे अन्दर भी उन सरीखे बननेके भाव जागृत हों । आजकल देखा जाता है कि अधिकांश व्यक्ति नित्य मंदिरमें जाते हैं, भगवानका दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं, स्तुतियों तथा अनेक स्तोत्रोंका पाठ भी करते हैं; शिखरजी, गिरनारजी, अनेक सिद्ध क्षेत्रोंकी वन्दना भी करते और भी अनेक कार्य करते हैं, किन्तु प्रायः यह ज्ञान नहीं रहता कि यह सब कुछ क्यों किया जाता है और इसकी क्या आवश्यकता है ? अधिकांश व्यक्ति यह सारी क्रियायें परम्परागत होनेसे करते हैं और कुछ व्यक्ति इसलिये करते हैं कि हमें सुख मिले, धनकी प्राप्ति हो, सन्तान आदिका सुख मिले । किन्तु ऐसा करना उनका अबोधसे है । क्योंकि भावशून्य क्रियासे फलकी कुछ भी प्राप्ति नहीं होती है । कल्याणमंदिर स्तोत्रमें कहा है कि—

आकर्णितोऽपि, महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रम्,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलंति न भावशून्याः ॥

हे भगवन् ! जन्म जन्मांतरोंसे मैंने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया, दर्शन भी किये हैं । यह सब कुछ करते हुये भी मैंने भक्तिपूर्वक आपको नहीं देखा (आपकी आत्मामें आपको धारण नहीं किया जिसका फल है कि मैं संसारके दुःखमें ही पड़ा हूँ । वह भावपूर्वक भगवानको बिठाना और है क्या ? ऐसी भावभीनी भक्ति होना जिसके पश्चात् अद्वैत,

सनातन, सहजसिद्ध, निर्विकल्प निज आत्माका अनुभवन हो जावे। भक्तिकी पूर्ति यही होती है।

दूसरी बात यह है कि हम नित्यप्रति पूजन, स्वाध्याय करें लेकिन जब तक हम अपनी शुद्ध आत्माके दर्शन नहीं करेंगे तब तक हमें वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

**अभिलाषायें तो अनन्त सुखकी बाधिकायें हैं**—सुख और दुःख आत्मासे भिन्न कोई दूसरी चीज नहीं है। जब तक विकल्प हमारे अन्दरसे नहीं हटेंगे तब तक सुख नहीं होगा। क्योंकि विकल्पोंका नाश होना ही सुख है और विकल्पोंका होना ही दुःख है। दुःखका लक्षण आकुलता है और आकुलताका मूल इच्छा है। संसारी जीवके इच्छा अनेक प्रकार की हैं। एक तो विषय ग्रहणकी है—अच्छी अच्छी वस्तुएँ देखना, अच्छे-अच्छे गाने सुनना आदि, दूसरे कषाय भावोंके अनुसार कार्य करनेकी इच्छा है। कोई कार्य करना चाहता है, कोई सुन्दर वस्तु देखना चाहता है। यहाँ पर कोई कष्ट नहीं है, ऐसा लोग सोचते हैं, किन्तु विषयवृत्तिके काममें भी आकुलता है और पहले भी थी, पीछे भी होगी। जब तक वह गाना नहीं सुन लेता तब तक अति व्याकुल रहेगा। इसलिये भैया! इन इच्छाओंको छोड़ कर आत्माकी ओर देखो। ये इच्छाएं कभी भी पूरी नहीं हो सकती हैं। एकके बाद दूसरी उपस्थित हो जाती हैं। और अगर कोई कहे कि मैं इच्छाओंकी पूर्ति कर लूंगा तो सभी इच्छायें एक साथ पूरी भी नहीं हो सकती हैं, एकके समाप्त होनेपर दूसरी पैदा हो जावेगी। इस तरह जीव कभी भी निराकुल नहीं रह पाता है। हमारी आपकी बात तो क्या इन इच्छाओंसे देवतागण भी दुःखी हैं। इच्छाएं आकुलता सहित हैं और आकुलता ही दुःख है।

छहढालामें कहा है:—

आतमको हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातें, शिवमग लाग्यो चहिये॥

आकुलताके बिना ही सुख है और वह आकुलता मोक्षमें नहीं है इसलिये मोक्षके मार्गमें लगना चाहिये। मोक्षके इच्छुक व्यक्तियोंको वही ध्यान करना चाहिये जिसके द्वारा यह चंचल मन स्थिर होकर परमात्मतत्त्वके विशेष स्वरूपमें लीन हो जावे। जब तक हमें अपने आपकी परमविशुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं होगा तब तक हम सुख और दुःखके चक्करोंसे नहीं बच सकते। पर्याय व भेदोंको गौण करके चित्सामान्यकी मुख्यतासे विश्राम लो, सर्व विशुद्ध तत्त्वका परिचय हो लेगा।

हमारे अन्दर ही अनंत सुख विद्यमान है किन्तु हम सुखकी खोजमें उसी तरह भटक रहे हैं जैसे हिरण अपनी नाभिमें ही कस्तूरी रखे हुये है किन्तु फिर भी खुशबूके लिये यत्र तत्र भटकता फिरता है। इसलिये हमें चाहिये कि अपनी परमविशुद्ध आत्माका ही ध्यान

करें । आत्मा नित्य-परिणामनशील है और उसमें अनंत गुण हैं, जिनमें ज्ञानगुण ही एक ऐसा पाया जाता है कि जो हमारे अनुभवमें आता है और जिसके द्वारा हम अपने आत्मको पहिचान सकते हैं, इस कारण ज्ञानको ही आत्मा कह दिया है ।

यह आत्मा अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है और अपने स्वभावको भूलकर विभावपरिणमनरूप परिणाम रहा है, किन्तु यही कर्ममलको नष्ट करके परमात्मा बन जाता है । आत्मतत्त्व एक ऐसा तत्त्व है जिसको पहिचान करके, जिसका ध्यान करके प्राणी सुखी हो सकता है; किन्तु जब तक यह मिथ्यात्वरूपी अज्ञान रहेगा कि यह मेरा है; स्त्री बेटे, मकान, धन, रुपया, पैसा आदि सब कुछ मेरे हैं तब तक वह जीव आत्माका कल्याण नहीं कर सकता । और तो क्या कल्याणकी वार्ता भी हृदयमें रख नहीं सकता । दुनियामें यथार्थ दृष्टिसे देखो तो यह जितने भी पदार्थ हैं धन, दौलत आदि कुछ भी तुम्हारे नहीं हैं; व्यर्थ ही तुम इनके पुजारी बने हो । प्रत्येक मनुष्य किसी न किसीका पुजारी होता देखा गया है । जिसके मनमें जो वस्तु प्रिय है वह उसीका पुजारी है । किसीको अपने लड़के प्रिय है तो यह लड़कोंका पुजारी कहावेगा, कोई धनका, कोई रूपका आराधक है तो वह उसका पुजारी होगा आदि । कहनेका मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसीका पुजारी है अवश्य । भैया ! जरा सोचो तो कि तुम्हारे लिये व परिवारको कितने आटेकी आवश्यकता है ? तुम्हारा खर्चा दो रुपया दिनका होगा तो फिर इससे अधिक उपार्जनकी लालसा क्यों ? इसी लिये ना कि मेरे पुत्र हैं, स्त्री है, मेरी उन्नति है, मेरी प्रतिष्ठा है आदि । सो इन सबसे मेरी अधिक श्रेष्ठता जाहिर हो । यही होगा या और कुछ हो तो आप जानें । वास्तवमें यह कोई भी तुम्हारे नहीं हैं । यह शरीर जो तुम्हें दीख रहा है वह भी तुम्हारा नहीं है । तुम्हारा तो सिर्फ आत्मा है जो कि ज्ञानमय और शुद्ध चेतनस्वरूप है । वही निजका सृष्टिकर्ता है, वही परमात्मा है, वही अपना निजका प्रभु है । यह जीव कितना नादान बन रहा है कि अपने प्रभुको अपनेमें छिपाये रखे है और प्रभुकी खोजमें यत्र तत्र भटक रहा है । कैसी है यह मूर्खता ? पानीमें रहते हुये भी मगर प्यासा रहे तो यह उसकी मूर्खता नहीं तो फिर क्या है ? इसलिये अपने अन्दरके प्रभुको देखो और उसे प्रसन्न करो तथा जन्ममरणके दुःखों से छुटकारा प्राप्त करो ।

**दुर्लभ नरजन्म पाकर अनुपम लाभ उठावो**— भैया ! यह मनुष्य गति सबसे श्रेष्ठ गति है । जिस तरह चिन्तामणि रत्नका मिलना मुश्किल है, दुर्लभ है, उसी प्रकार यह मनुष्यभव मिलना भी कठिन है, फिर मनुष्यभव, जैनकुल, उत्कृष्ट मन इन सबके रहते हुये भी यदि अपना कल्याण नहीं किया तो समझो चिन्तामणि रत्नको पा करके बिना समझे, (नहीं पहिचानी है कीमत जिसने) उसे फैंक दिया है । सबसे उत्कृष्ट

मन मनुष्यका ही मिला है, क्योंकि मनुष्योंमें ही श्रुतकेवली होनेकी शक्ति है। यह सभी बातें बड़े पुण्यके उदयसे मिली हैं, फिर भी आत्माका कल्याण नहीं किया तो इससे दुखकी बात और क्या हो सकती है ? कीड़े मकोड़ोंका भव अनेक बार धारण किया। यदि इस भव में भी सुधार नहीं किया तो आगे भी इन्हीं भवोंको धारण करना पड़ेगा, फिर क्या इन भवोंसे आप अपना कल्याण कर सकेंगे ?

इसलिये भैया, इस नर तनको पा करके व्यर्थमें मत खोओ। अपनी आत्माको पहिचानो। आत्माका स्वरूप ज्ञान और दर्शन है, इसी (स्वरूप) से आत्मा बड़ा है, धन वैभव से आत्मा बड़ा नहीं होता है। जीव, प्राणी वही श्रेष्ठ है जिसने अपने ज्ञान द्वारा अपनी आत्माको पहिचाना है। आत्माका स्वरूप आंखसे नहीं दिखता, कानसे सुनाई नहीं पड़ता, किन्तु वह स्वानुभवसे, आत्मज्ञानसे ही देखा जा सकता है। जब आत्मस्वरूपका बोध हो जायगा तो सभी विकल्प छूट जायेंगे, तभी सुख भी स्वतः आ जावेगा। जब यह स्वानुभव हो जायगा कि यह आत्मा ही मेरा है, इससे भिन्न मेरा कुछ भी नहीं है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है, वह तीन कालमें भी मुझसे छीनी नहीं जा सकती, वह मुझसे अलग नहीं जा सकती और जो वस्तु मेरी नहीं है वह त्रिकालमें भी मेरी नहीं हो सकती है। इसलिये विवेकपूर्वक उस आत्मतत्त्वका ध्यान करो जो हमारी निजकी वस्तु है। बिना आत्माके पहिचाने सुख नहीं मिल सकता। इसलिये सुखके इच्छुकोंको उस एक अनादि निर्विकल्प ज्ञानमय आत्माका ध्यान करना चाहिये, तभी कल्याण होगा।

**अखण्ड आत्मस्वभाव ही समयसार है**—समयसारको नमस्कार हो। किन्तु यहाँ समयसारसे अरहंत और सिद्धोंको नमस्कार नहीं है, किन्तु जो आत्माका स्वरूप अरहंत सिद्ध अवस्थामें है वैसा ही स्वरूप अन्य सब अवस्थाओंमें है। जो सहजस्वभाव है, अनादिसे अनन्त काल तक एकरूप है; उस सहजस्वरूप अथवा उस सहजस्वभाव दृष्टिसे प्रतिभात आत्माको नमस्कार है। अरहंत और सिद्ध पर्यायसे शुद्ध हैं, हम पर्यायसे अशुद्ध हैं, किन्तु द्रव्यसे हम तथा सिद्ध भगवान दोनों ही शुद्ध हैं। यहां अरहंत और सिद्धोंको छोड़कर उस चेतन निर्विकल्प परम शुद्ध आत्माको नमस्कार किया है जिस स्वभावके अवलम्बनसे अरहंत सिद्ध पर्याय होती है, जो आदिसे अंत तक रहता है और ध्रुव है। किसी भी पदार्थको अथवा वस्तुको भली भांति जाननेके लिये चार बातोंका सहारा लेना पड़ता है, बिना इनके जाने यथार्थ वस्तुस्थितिका परिचय होना कठिन हो जाता है। वे चार ये हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्य किसे कहते हैं—वस्तुस्वरूप, सत्ता रूप जो वस्तु है वही द्रव्य है याने द्रव्य पिण्डरूप है। क्षेत्र—वस्तुके विस्तारको क्षेत्र कहते हैं। जितने विस्तारमें वह रहे उतना उसका क्षेत्र है। वस्तुके परिवर्तनको काल कहते हैं; नया, पुराना आदि परिणमन। ज्ञान, दर्शन चेतना

आदिक जितने भी गुण हैं वे भाव कहलाते हैं। दृष्टांतके लिये जैसे यह पुस्तक लो और इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव घटाओ। देखो भैया ! यह द्रव्य नहीं, वस्तु नहीं, किन्तु वस्तुवों का स्कंधरूप पर्याय है, फिर भी कुछ समयके लिये इसे द्रव्यस्थानीय समझकर उक्त चतुष्टय घटाओ। यह जो है जैसा कि हाथ पर रखे हैं पिण्डरूप, यह द्रव्य है। इसका जो विस्तार है, लम्बा चौड़ा आकार है यह क्षेत्र है। इसकी जो वर्तमान परिणति है नई अथवा पुरानी आदि यह सब काल है और भावरूप रस, गंध, स्पर्शादि हैं। अब अपनी आत्माको ही इन चार बातोंसे देखो। आत्मा जैसाकि ज्ञान करने पर मालूम हुआ कि यह पिण्डरूप है वह द्रव्य है। और जितने निजके स्थानमें आत्मा रहता है वह है उसका क्षेत्र। आत्मा अपने ही में रहता है, इसका विस्तार अभी इस पूरे शरीरमें है। आत्माका निवास प्रदेश विस्तार जितना है उतना उसका क्षेत्र है। कालसे आत्माको देखिये। कालका ही परिचय तो प्रायः दुनिया भरको है, इसी कारण मिथ्यात्व-पालन हुआ है। मिथ्यादर्शनादिकसे जीवके स्व पर विवेक नहीं रहता है। स्वयं आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीरके संयोगरूप जो मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है उसीको यह अपना रूप मानता है। श्रद्धाकी मिथ्यात्वरूप पर्याय, चारित्रकी रागद्वेषरूप पर्याय, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि रूप पर्याय इनमें ही तो यह संसारी आत्मबुद्धि करता आया है। यह सब काल है। इतना ही नहीं किन्तु सभी पर्यायें काल कहलाती हैं। अरहंत, सिद्ध पर्याय भी आत्माका काल है।

**हमपर भावदृष्टिकी अनुपम करुणा हो**—अब भावको देखो—इसकी दृष्टि परमोपकारिणी है। भाव शक्ति अथवा गुणोंको कहते हैं। क्रोध, मानादि राग द्वेष मोहादि इन सबका आश्रयभूत अथवा यों कहो जिन-जिन शक्तियोंके परिणमन काल कहलाते हैं, उन शक्तियोंको भाव कहते हैं। जैसे आत्माके भाव सहज-दर्शन, सहज-ज्ञान, सहज-सुख व सहज शक्ति आदि हैं। आत्माके ज्ञानदर्शनादिक जो स्वभाव हैं उनको मिथ्यादृष्टि सहजस्वरूपसे किंचित जानता, देखता नहीं, किन्तु मोहवश इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने की इच्छा करता रहता है। उसकी वे इच्छायें कभी भी शांत नहीं हो सकतीं, फिर भी उनमें सुख मानता रहता है। जैसे कुत्ता हड्डीको चबाते समय अपने मुंहसे निकलते हुये खूनको हड्डीका स्वाद मानता है उसी तरह यह जीव विषयोंमें परिणमनसे फंसा होनेके कारण उन्हींमें आनंद मानता है। किन्तु वे आनंद नहीं, वह स्वयं ही इच्छा करता है, स्वयं ही आनंद मान लेता है। मिथ्याज्ञानके कारण दुखोंको भी सुख मानता हुआ संसारमें भटकता रहता है। ज्ञान दर्शन, सुख, बल, ये जितने भी गुण हैं वे आत्माके भाव हैं।

यह सुख, दुःख सुख गुणके परिणमन हैं। इच्छा चारित्रगुणका परिणमन है। जिनके ये परिणमन हैं वे तो भाव हैं और परिणमन काल हैं। आत्मामें अनंतगुण हैं, वे

परस्पर व्यापक हैं, उनका आश्रय आत्मा है। आत्मामें विभुत्व शक्ति विराजमान है। उस शक्तिका काम क्या है? आत्माके अन्दर जो विभुत्व गुण है उसके निमित्तसे एक गुण सब गुणोंमें है। अथवा यह कह लो एक गुण विशेष्य बना लो दो सब गुण विशेषण हो जाते हैं।

उपनिषदोंमें पूछा गया कि जगत्का सृष्टिकर्ता कौन है? उन्होंने कहा कि जगत्का सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है, और वह एक है। फिर पूछा कि वह कौनसा कारण है उपादान अथवा निमित्त? तो उत्तर दिया है कि वह न केवल उपादान कारण है और न केवल निमित्त कारण है किन्तु उपादान निमित्त कारण है। किन्तु अब वस्तु सिद्धान्तसे देखिये। सैद्धान्तिक नियमोंका कथन है कि यह संसार अनादिसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चला जायेगा। इसका न कोई सृष्टिकर्ता है और न कोई मिटाने वाला ही। ईश्वर याने अरहंत सिद्ध हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं और न कुछ हमारा सुधार कर सकते हैं। भगवान तो परम ज्योतिस्वरूप चराचर जगत्के साक्षी हैं। हमारा सृष्टिकर्ता स्वयं आत्मा है और वह उपादान कारण है। परन्तु देखो भैया! इस ही उपादानभूत आत्मामें आपको निमित्तत्वका भी आभास मिल जावेगा। इस आत्मामें इन गुणोंका विकास है तो एक गुणके विकासमें अन्य गुण निमित्त रूप पड़ जाते हैं। जैसे सुख गुणका परिणमन है, उसे ज्ञान द्वारा अनुभव न किया जावे तो हमें आप सुखका स्वरूप बताइये। यदि ज्ञान विकासका निमित्त सुख गुणके विकासको न मिले तब फिर सुख कोई रूप, रस, गंध जैसा शायद कुछ होता होगा; क्या कल्पना की जावे? तो सुख विकासका ज्ञानविकास निमित्त है, इसी तरह अन्यमें भी लगाना।

**आत्म-विलासका गहन मर्म नाना रूपोंमें निरखा जाता है:**—कहनेका प्रयोजन है कि आत्माकी परिणतिमें आत्माकी परिणति निमित्त भी होती है तब आपकी सृष्टिमें आपका आत्मा उपादान निमित्त कारण कहलाया। संतका उक्त अभिप्राय इन नयोंसे उठा है। मात्र इतना अन्तर रह गया है कि चैतन्यभावकी दृष्टिमें एक अनेककी कल्पना नहीं होती; सो उन्होंने अनेकका ही प्रतिबंध करके एक कारण ठहरा दिया है। इसी तरह सृष्टिके बारेमें अनेक बातें प्रचलित हैं। उनमें कोई नय अवश्य मिल जाता है; शेष नयोंके निषेधमें वह विरुद्ध पड़ जाता है। इस समयसारके विशेषण प्रभु अमृतचन्द जी सूरिने इस मंगलाचरणमें चार दिये हैं। पहिला विशेषण है, स्वानुभूत्या चकासते, यह स्वानुभवसे प्रकट है। कुछ भाई ऐसा मानते हैं कि आत्माको आत्मा प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है वह तो वेदाभ्याससे ही जाना जाता है। कोई कहता है कि आत्माका ज्ञान तो वेदजन्य है, कोई दूसरा उसे नहीं जान सकता है कि वह क्या वस्तु है। इसीलिये आचार्य श्री जी ने शुरूमें मंगलाचरण करते समय कहा

ज्ञान ग्रपने ग्रनुभवके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान ग्रात्माका गुण है,
है 'स्वानुभूत्या चकासते' ज्ञान ग्रपने ग्रनुभवके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान ग्रात्माका स्वानुभव
ज्ञानमय ग्रात्मा है, ज्ञान जानता है। सो ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता एक होनेपर ग्रात्माका स्वानुभव
सम्यक् प्रकट होता है। वहाँ वह परमब्रह्म स्वानुभूतिसे प्रकाशमान हो ही रहा है। दूसरा
विशेषण दिया है चित्स्वभावाय। इससे सिद्ध है कि वह ग्रन्यके सम्बन्धसे चेतन नहीं किन्तु
स्वयं ही है। एक ग्रभिप्राय कहता है कि ग्रात्मा स्वयं चेतन नहीं है किन्तु इसमें चैतन्यका,
ज्ञानका समवाय सम्बन्ध होता रहता है। इस दुरभिनिवेशसे मुक्त करानेके लिये चित्स्वभावाय
यह विशेषण दिया गया है। यह एकान्त विशेष दृष्टिका ग्रभिप्राय है; इस ग्रभिप्रायमें ग्रात्मा
तो द्रव्य पदार्थ है ग्रौर ज्ञान गुण पदार्थ हैं याने दो भिन्न पदार्थ हैं। इन दोनोंमें समवाय
संबंध होनेसे ग्रात्मा चेतन है। इस मतमें समवाय सम्बन्ध छूटनेपर ज्ञान पदार्थ ग्रलग हो
जाता है ग्रौर ग्रात्म जड़ हो जाता है ऐसी ग्रवस्था ही इस ग्रभिप्रायमें निर्वाण है। इसका
विचार दर्शनशास्त्रमें विशेषतासे किया है। ग्रात्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव है। तीसरा विशेषण
है "भावाय" वह सद्भाव रूप सिद्ध है। कोई कहते है कि यह ग्रात्मा वगैरह कोई चीज
नहीं है किन्तु चार महाभूत तत्त्वोंके मिलनेपर पृथ्वी, जल, तेज. वायु इनके मिलनेपर एक
प्रकारकी बिजली पैदा होती है उसीका नाम जीव है, ग्रात्मा है; किन्तु वृद्धावस्थामें वे तत्त्व
खराब हो जानेसे वह बिजली भी खराब हो जाती है, ग्रौर ग्रन्तमें ब्रिजली भी समाप्त हो
जाती है। ग्रतः इस ग्राशयके खण्डनके लिये ग्राचार्य श्री जी ने भावाय यह शब्द कहा है
ग्रर्थात् वह ग्रात्मा सद्भावसे मौजूद है। भैया! जो चीज जिसकी है वह कहीं भी नहीं जा
सकती है, तुम इसका विश्वास करो। जो तुम्हारा है वह तुमसे कहीं भी ग्रलग नहीं हो
सकता, ग्रौर जो तुम्हारा नहीं है वह तुम्हारा कभी हो भी नहीं सकता। जो चीज सत् है
उसका कभी नाश नहीं होता, नाश होकर कहाँ जायगा? जो ग्रसत् है उसकी कभी उत्पत्ति
नहीं होती है। सत् पदार्थ ग्रपनी ग्रवस्थायें बदलते रहते हैं। इसीमें उत्पादव्यय ध्रुवता है,
सत्त्व, रज, तमः है। पृथ्वी ग्रादि जड़ हैं उनके मिलनेपर भी जो ग्रवस्था बनेगी वह जड़
ही बनेगी, चेतनारूप नहीं हो सकती। फलतः चेतन पदार्थ स्वयंसिद्ध वस्तु है वह भावस्वरूप
है। चौथा विशेषण दिया है, सर्वभावान्तरच्छिदे। सर्वदा परभावोंको दूर करनेके स्वभाव
वाला है। सर्व भावान्तरोंको छेदता है, दूर करता है।

**वस्तुमें स्वका ग्रस्तित्व व परका नास्तित्व निषेधा नहीं जा सकता**—भैया! जो
सत् होता है उसमें ये दो धर्म ग्रवश्य होते है कि ग्रपना सर्वस्व तो सब है उसमें, ग्रौर पर-
का कुछ लवलेश भी उसमें नहीं है। इसी बातको जतानेके लिये "भावाय" से पहिले
"चित्स्वभावाय" लिखा है ग्रौर भावायके पश्चात् 'सर्वभावान्तरच्छिदे' लिखा है। सर्वभावा-
न्तरच्छिदेका यह भी ग्रर्थ है कि वह सबको जाननने वाला हैं।

यह आत्मा अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावमें रहकर अपना कार्य याने परिणमन करता है। जानता भी है तो वह अपनेमें जाननक्रियासे जानता है। वह जानन सर्व पदार्थों के अनुरूप निज ज्ञेय करके ग्रहणरूप है। दुनियाके सभी पदार्थ हैं, वे जितने हैं, जितने क्षेत्र में फैले हैं उनकी चीजें उतने ही क्षेत्रमें हो सकती हैं उनसे बाहर नहीं हो सकतीं। दुनिया कहती है कि सूर्य सारे जगको प्रकाशमान करता है, किन्तु यह तुम जो प्रकाश देख रहे हो यह प्रकाश क्या सूर्यका है ? नहीं है। क्योंकि सूर्यका प्रकाश तो उतनेमें ही रहेगा, जितनेमें सूर्य। किन्तु यह दीवाल कांच आदिपर जो हम प्रकाश देख रहे हैं यह प्रकाश तो उन्हींका है, सूर्य तो निमित्त मात्र है; सूर्यको निमित्त पाकर वे स्वयं प्रकाशमान हो उठती हैं। यदि कहो कि हमें तो सीधा सूरजका ही प्रकाश समझमें आ रहा है तो उसके हेतुमें यह प्रश्न उठावें कि दीवालमें चमक थोड़ी और कांचमें अधिक क्यों ? उत्तर है कि भैया जिसकी जैसी जैसी शक्ति है वह उसी रूपसे निमित्तको पाकर परिणमन कर जाता है। सर्व द्रव्य ऐसे ही अत्यन्त स्वतन्त्र समझो, आप भी स्वतंत्र हैं। भैया ! कोई कहते हैं कि हम इनपर बहुत प्रेम करते हैं सो यह झूठ बात है। कोई कहे वह हमसे द्वेष करता है सो झूठ बात है क्योंकि रागद्वेप जिसकी पर्याय है वहीं होती है, उससे बाहर कहीं नहीं। आपको तो सर्व विकल्प छोड़कर अपनी स्वाश्रितता देखना चाहिये। इसलिये आप सब इस मिथ्या वार्ताको छोड़कर जो अपनी आत्माका मुख्य धन, वैभव है उसी ओर ध्यान दो। उसीको प्राप्त करनेमें जुट जावो तभी सफलता मिलेगी, और उसके प्राप्त हो जानेपर ही आत्माका कल्याण होगा।

समयसारका अर्थ बताया जा चुका है। समयसारका मुख्य अर्थ सनातन शुद्ध आत्मतत्त्व है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सत् है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा असत् है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ निजकी सत्तासे सत् है और परकी सत्ता से असत् है। परकी सत्तासे असत् है, यह न मानो तो सर्व पररूप हो जावेगा, स्वकी सत्तासे सत् है, यह न मानो तो वह रहा ही क्या ? एक अभिप्राय ऐसा भी है कि द्रव्य स्वयं सत् नहीं है, सत्ताके सम्बंधसे सत् है, परन्तु यह बात तो स्पष्ट अविवेक पूर्ण है। सत्ताका जिसमें सम्बन्ध मानते वह है या नहीं ? यदि है तब सत् ही कहलाया और नहीं है तो सत्ताका सम्बंध किसमें जोड़ते ?

आत्मा स्वयं सत् है इसका समस्त परद्रव्योंमें अत्यन्त अभाव है और समस्त परद्रव्यों का इसमें अत्यन्त अभाव है। सभी द्रव्योंकी यह बात है कि एक द्रव्यका समस्त इतर परद्रव्योंमें अत्यन्त अभाव है। पर मोटे रूपसे देखो तो पुद्गल स्कन्धोंमें एक दूसरे अभी तो नहीं किन्तु आगे हो सकता है। सूक्ष्मरूपसे तो उस ही द्रव्यकी एक पर्याय छूटकर दूसरी पर्याय हुई जैसा कि उत्पाद व्ययका साधारण नियम है।

जैसे एक चौकी पुस्तकके रूप नहीं। चौकी चौकी है; पुस्तक नहीं है। तो वह
परकी अपेक्षासे असत् है, किन्तु वह चौकी पुस्तक होनेकी शक्ति रखती है और बहुत कुछ
समयके बाद उसी चौकीके परमाणु पुस्तक रूपमें परिवर्तित हो सकते हैं। चौकी टूटी,
उसके बाद सड़ने गलनेके बाद खेतमें पहुंचने पर मिट्टी बनकर फिर कपास बनती, उससे
कागज आदि बनाये गये और फिर वही चौकीके परमाणु पुस्तकमें आ गये। किन्तु आत्मा
इस प्रकार नहीं है। आत्माका अन्यमें अत्यन्ताभाव है। एक आत्मा दूसरी नहीं हो सकती।
दो आत्मायें कभी मिल भी नहीं सकती। अणुओंमें भी अत्यन्ताभाव है। उक्त कथन स्कंध
का है। इन सभी बातोंका बोध, ज्ञान हमें श्री जिनेन्द्रदेवको वाणीसे हुआ है। वस्तुतः
अनुभवसे हुआ है। इस हमारे ज्ञानप्रकाशमें श्रुत देवता जिनवाणी निमित्त है। अब इस
ही जिनवाणीके आदिमें मंगलाचरण करते हैं।

अनंतधर्मणस्तत्त्वं, पश्यंति प्र यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

यह जिनवाणी नित्य ही प्रकाशमान हो, जो अनंत धर्मात्मक आत्माके तत्त्वको समस्त
परद्रव्योंसे पृथक् दिखा देती है। यहाँ देखने वाला स्वयं आत्मा है, परोपकारिणी जिनवाणी
परम निमित्त है, अथवा भावश्रुत देवता आत्मतत्त्वको दिखा देता है। जिनवाणीकी विशेषता
है कि जो आत्माका यथार्थ दर्शन करा दे कि यह आत्मा सभीसे भिन्न, परम स्वतन्त्र, शुद्ध
और एकाकी है, यही तो जैनवाणीकी विशेषता है। यदि सब कुछ रहता और जैनवाणी इस
मर्मसे रहित होती तो वह जैनवाणी ही नहीं थी। जैनवाणी हमें बताती है कि आत्मा सभी
से भिन्न है, उसका साथी कोई नहीं है, वह तो सिर्फ ज्ञानरूप है। जबसे यह सुख हुआ
तभीसे सारे दुःख मिट गये, यह कृपा जैनवाणी की है। उसीके द्वारा अज्ञान मिटा और हुई
ज्ञानकी प्राप्ति। अतः ऐसी जैनवाणीको नमस्कार है।

दुनियामें सैकड़ों आये चले गये। अपनी-अपनी करामात दिखाके चले गये। इस
दुनियामें सैंकड़ों आते हैं और अपनी-अपनी करामातें दिखाके चले जाते हैं। किसीसे पूछो कि
हे भाई! तुम्हारे पिता क्या कर गये तो वह उत्तरमें कहता है कि मेरे पिताजीने व्यापार
किया, धन कमाया, मकान बनवाये और चले गये, लेकिन यह कोई नहीं कहता कि हमारे
पिता भाई हमें आत्मोन्नतिका मार्ग बता गये, शिवका मार्ग बता गये, अथवा वे स्वयं
समाधिके साथ गये। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी असली स्थितिका
रूप देखना चाहिये कि मैं क्या हूँ और क्या कर रहा हूं? आत्माका बड़प्पन धनसे नहीं है।
आत्माकी लोग प्रशंसा करते हैं इससे आत्माका बड़प्पन नहीं है। बड़प्पन है तो सदाचारसे,
वैभव भी आत्माका सदाचार ही है। बाह्यकी चीज कुछ भी हो और सदाचार न हो तो

वह गरीब ही है। बाह्य स्कंध धन आदिका संग्रह न हो और सदाचार हो तो वह वास्तविक धनी ही है। सदाचारसे आत्मा इस ही लोकमें शान्ति व आनन्द पाता है। जिसमें मूल सदाचार अर्थात् प्रारंभिक सदाचार भी नहीं वह जिनवाणीकी श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है। वह आत्मकल्याणको अभी नहीं जान सकता। प्रारंभिक सदाचार है लौकिक न्यायशीलता। हमेशा न्यायवृत्तिसे, सदाचारसे आत्माको बढ़ाना चाहिये। आत्मा धन वैभवसे बड़ा नहीं होता है। आत्माका धन तो सदाचार है। जैनधर्म न्यायवृत्ति बताता है। जब आप और हम न्यायवृत्तिसे नहीं चलेंगे तो दुनिया वाले किसका अनुकरण करेंगे? आज दुनियामें हर एक जगह प्रायः न्यायवृत्तिका अभाव हो गया है। इसलिये हमें चाहिये कि सदाचार और न्यायवृत्ति को अपनावें। निज धर्मको छोड़के अन्य कोई धर्म मोक्षका उपाय बताने वाला नहीं है, तथा न्याय और सदाचार भी निजधर्म या जिनधर्मने दिया है। इसलिये हमें चाहिये कि सदाचार और न्यायवृत्तिको अपनावें, और अन्य लोगोंको इसका अनुकरण करावें। लोग आपको न्यायशील देखकर स्वयं अनुकरण करेंगे। आत्माका असली स्वरूप बताने वाला है तो सिर्फ अनोकान्तमयी मूर्ति; श्रुदेतवता है। यदि उसके मानने वाले आप न्यायवृत्तिसे नीचे गिर गये तो यह अपने पर तो अन्याय करना है ही, साथ ही दुनियापर भी अन्याय करना है। दुनिया किसका अनुकरण करे? आत्मतत्त्वको जानो। इसका परिज्ञान होनेपर सदाचारसे विरुद्ध चलनेका भाव नहीं होगा।

भूतार्थनयसे आत्मतत्त्वको जानने पर सर्व आत्मा पृथक् पृथक् होते हुए भी व्यक्तिगत मालूम नहीं देते। आत्माके भेद तीन हैं—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। चौथे गुणस्थानसे पहले बहिरात्मा कहलाता है और चौथेसे १२ वें गुणस्थान तक अन्तरात्मा और १३ वाँ १४ वाँ गुणस्थान है परमात्मा। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा एक है और वह ध्रुव शुद्ध है। किन्तु भेददृष्टिसे देखा जाय तो आत्माके भेद अनंत हैं। वह अरहंत है, वही सिद्ध है, वही निगोद, वही हम हैं। जब चैतन्यस्वभावपर दृष्टि देते हैं तो वह अद्वैत ही है। बिना आत्मतत्त्वको जाने हमें सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जितने भी महापुरुष हुये हैं अंतमें उन सभीने आत्माका ही ध्यान किया है। चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदि जितने भी महापुरुष हुये हैं उन सभी ने अन्तमें अपनी परमविशुद्ध आत्माका ध्यान किया और उस परमपद शिवको प्राप्त किया, इसलिये जब तक आत्माका ध्यान नहीं किया जायेगा तब तक सभी निष्फल होगा।

आत्मा अनंतधर्मात्मक है। इसमें ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख, श्रद्धा चारित्र आदि जो अनंत शक्तियां हैं वे धर्म हैं और आत्मामें अनंतानंत समस्त परद्रव्योंका नास्तित्व है वह भी धर्म है। आत्मा नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है, सत् है, असत् है आदि परस्पर

विरुद्धधर्मोंका भी आश्रय है अतः आत्मा अनंतधर्मा भी है। ऐसे इस अनंतधर्मात्मक आत्माके तत्त्वको, स्वरूपको सबसे भिन्न दिखाती हुई जिनवाणी नित्य ही प्रकाशमान होवे।

अभेददृष्टिकी मुख्यतासे यह अनंतधर्मा एक अद्वैत आत्मा दिखाई देता है। अनंतधर्मा अर्थात् नहीं है अंत कहिये विनाश जिसका, ऐसे धर्म याने स्वभाववाला आत्मा है। आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है, उस ही के अभिन्न तत्त्वको प्रकट करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती हैं। जिस तरह आत्मामें द्वैतता नहीं, वह अभिन्न अखंड एक चैतन्यस्वभावमय है उसी तरह इसका प्रकट करने वाला श्रुत भी एक ज्ञेय प्रतिबिम्बमात्र है। वह श्रुतदेवता अनेकान्त मूर्ति है अर्थात् जहाँ एक भी विकल्प नहीं है ऐसे अद्वैतस्वभावकी मूर्ति वाला है। वह अनेकान्तमयी अर्थात् निर्विकल्प ज्ञेयप्रतिबिम्बमात्र मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान होवे।

**सरस्वती देवीका स्वरूप**—भेद नित्य प्रकाशमान नहीं किन्तु अभेद ही सतत प्रकाशमान होता है। उस अभेद तत्त्वको बताने वाली अनेक भेदोंका समन्वय करने वाली अनेकांत मूर्तिके प्रति नित्य प्रकाशमान होनेकी भावना की है। लोग अनेकांतमूर्तिका ऐसा चित्रण करते हैं कि सरस्वती देवी सरोवरमें कमलके ऊपर विराजमान है। उसमें चार हाथ हैं किन्तु मुख एक है। एक हाथमें माला, एक हाथमें सितार, एक हाथमें पुस्तक व एक हाथमें शंख है। पासमें राजहंस बैठा है। इस चित्रणका सीधा अर्थ ऐसा नहीं है कि सचमुच ही कोई ऐसी देवी विराजती है और वह हमें विद्या देती है। यह अनेकांतमूर्तिका अलंकारिक चित्रण है। सरस्वतीका अर्थ है "सरः प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती" जिसका फैलाव है वह सरस्वती है। सबसे अधिक फैलाव प्रज्ञाका है, वही सरस्वती है। अब देखें उसके चार हाथ हैं:—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग, परन्तु मुख उसका एक ही है, सबका स्वाद अभेद निज रसका ही है, सबका प्रयोजन निज कारणपरमात्माकी अद्वैत आराधना ही है। आराधनाके प्राथमिक उपाय चार हैं, १—माला अर्थात् जाप ध्यान द्वारा तत्त्वकी आराधना करना। २—पुस्तकके अध्ययन द्वारा आराधना करना। ३—सितार संगीत भक्तिका प्रतीक है—स्तोत्र भजनके परम अनुरागपूर्वक आत्मतत्त्वकी आराधना। ४—शंख अनहद ॐ स्वरूप अन्तर्ध्वनिका प्रतीक है। ॐ के गंभीर और लम्बे मिश्र जल्पपूर्वक बाह्य विकल्पोंको भूलकर आत्मतत्त्वकी आराधना करना। यह सरस्वती कमलपर विराजमान है अर्थात् निर्मल हृदयमें विराजमान होती है। इसका उपासक राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ भव्य आत्मा है। सिद्धान्तमें जो द्रव्य गुण पर्याय विषय कहीं होता है उसीका अलंकारिक चित्रण जब मर्मका उल्लंघन कर देता है तब लोग सिद्धान्तसे दूर होकर अपपथमें भ्रमण करने लगते हैं, भ्रमजालमें अपना समय खो देते हैं। वस्तुत्वसे विचारो तब कोई बाधा न होगी। अनंतधर्मा आत्माके तत्त्वको दिखाने वाली अनेकान्तमूर्ति नित्य प्रकाशमान हो, क्योंकि यही

हमें वह ज्योति प्रकट कराती है जिससे हम वस्तुके याथातथ्यके वेदी हो जाते हैं।

अभेदकी प्रमुखतासे जिसका अंत कहिये विनाश नहीं है ऐसे अभेद एक असाधारण स्वभाव वाला है, उसका निर्विकल्प रूपसे तत्त्वका दर्शन करने वाली अनेकान्तमूर्ति है अर्थात् जिसमें एक भी कहिये धर्म, विकल्प नहीं है ऐसी अनुभूति है वह नित्य प्रकाशमान हो।

**द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी दृष्टि द्वारा वस्तुका परिचय होता है**—कल बताया गया था कि किसी भी वस्तुके जाननेके लिये चार चीजों (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की आवश्यकता पड़ती है, बिना इनके वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। इसी तरह आत्माके जाननेके लिये भी ये चारों चीजें उपयोगी हैं। द्रव्यसे जाना जाता है पिण्डरूप। क्षेत्रसे वह कितने स्थानमें रहता है, उसका विस्तार जाना जाता है। काल द्वारा उसकी अवस्थायें जानी जाती हैं। और भावसे उसकी शक्तियोंका ज्ञान होता है। अब इन्हीं चारोंसे आप अपनी आत्माको देखिये। द्रव्यसे तो आत्मा है जो हम आप हैं। क्षेत्र जितनेमें आत्मा रहती है। और नाना प्रकारकी पर्यायें हैं काल तथा अनंत चतुष्टयरूप जो आत्माकी शक्तियां हैं वे भावसे हैं। जब तक इन चारसे हम आत्माको नहीं देखेंगे तब तक यह आभास नहीं होगा कि वास्तवमें आत्माका क्या स्वरूप है? ग्रन्थके आदिमें आचार्य श्री अमृतचंद्र जी सूरि ने मंगलाचरणमें चार विशेषण रखे हैं। उनमेंसे पहला है, "स्वानुभूत्या चकासते" शब्दसे क्षेत्रप्रदेशोंकी प्रमुखता हुई।

दूसरा विशेषण है चित्स्वभावाय। इसका अर्थ है कि आत्मा चित्स्वभावरूप है, स्वयं ही चेतन है, वह अन्यके सम्बन्धसे चेतन हो ऐसी बात नहीं है। यह विशेषण चतुष्टय में से भावकी अपेक्षासे है। आत्मामें भाव, शक्ति अनंत है, अनंतविध है, उन सब शक्तियों का प्रतिनिधिरूप सबमें अभिन्न एक चैतन्य है; उस चैतन्य स्वभावमयताका यहाँ संस्तवन किया है। तीसरा विशेषण है भावाय। यानी आत्मा सहज भावरूपसे है, यह गप्पें नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि आत्मा न हो और आचार्योंने उसका वर्णन कर दिया हो, इसलिये कहा है भावाय। आत्मा सद्भावरूपसे है और वह त्रिकाल तक रहता है। कोई मनुष्य कहता है कि मुझे आत्माका ज्ञान नहीं है। अरे वही तो आत्मा है जिससे यह ज्ञान हुआ कि मुझे ज्ञान नहीं है। आत्मा कोई भिन्न और नहीं है। भावाय यह विशेषण द्रव्यकी अपेक्षासे है। द्रव्यका लक्षण सत् है और सत्का पर्यायान्तर भाव है। सत्का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है तो भाव शब्दका भी अर्थ देखिये। भू धातुका अर्थ सत्ता है और सत्ता शब्द अस् धातुसे बना है, सो अस् धातुका अर्थ होना है। होना उत्पाद, व्ययका संकेत करता है और सत्ता ध्रौव्यका संकेत करता है। इस तरह भाव विशेषण द्रव्यकी उत्पादव्ययध्रुवताको पुष्ट करता है।

चौथा विशेषण है सर्वभावांतरच्छिदे। सर्व, परभावको नाश करता है। अथवा सर्व

वाभान्तरोंसे स्वयं पृथक् है। यहाँ भावान्तर शब्दसे अर्थ समस्त परद्रव्य भी है, और समस्त विभाव भी है क्योंकि वे चैतन्यस्वभावसे भावान्तर हैं। उन भावान्तरोंको दूर करनेका इसका स्वभाव ही है और प्रतिसमय दूर करता भी रहता है और पर्यायशुद्धि होनेपर तो सदा विभावसे दूर रहता ही है। इस विशेषणमें कालकी दृष्टि आपतित हो जाती है।

**धर्मभावके कारण ही इस भवकी श्रेष्ठता है**—इस भवमें हमें सबसे श्रेष्ठ मन मिला है, इतना श्रेष्ठ मन किसी भी गतिमें नहीं है। देव, तिर्यञ्च नारकीको भी ऐसा मन नहीं, इसलिये अपना अपूर्व कल्याण इसी भवमें कर सकते हैं। यही भव सबसे श्रेष्ठ है, और उत्तम है, क्योंकि इस भवमें ही उत्तम रीत्या धर्मपालन हो सकता है। जिसने धर्मका पालन नहीं किया तो उसमें और पशुमें कोई भी फर्क नहीं। किसी नीतिकारने कहा है:—

आहारनिद्रा भयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः॥

आहार, निद्रा, भय व मैथुन इनसे तो पशु और मनुष्य समान हैं; किन्तु मनुष्यमें एक धर्म ही अधिक है। और जो धर्मसे रहित है तो उसमें और पशुओंमें तो कोई अन्तर नहीं है। वैसे देखो तो मनुष्य उक्त चार बातोंसे पशुसे भी हीन है। परन्तु भैया! जिन कवि महाराजने यह न्याय बनाया है वे मनुष्योंकी बिरादरीके थे, अतः मनुष्योंकी लाज रखदी। पशुसे गया बीता धर्महीन मनुष्योंको नहीं बताया, पशुके समान बता दिया। आहार, निद्रा, भय व मैथुनमें धर्महीन मनुष्य पशुसे भी कैसे हीन है, इस बातको देखो। पशु जब पेट भर चुकता है तो उसके बाद उसके सामने आप कितनी ही उत्तम घास लाकर रखो लेकिन वह नहीं खावेगा, किन्तु मनुष्य रोटी खानेके बाद बैठा है और अकस्मात् कोई चाटवाला आ जाता है तो वह दो चार पैसेका कुछ खा ही लेता है। निद्रामें देखो, पशुओंकी निद्रा मनुष्योंसे उत्तम है, वे अपने समयपर सो जायेंगे और समय पर उठ बैठेंगे, न तो उनके पास घड़ी है, और न कोई टाइम टेबल ही है, किन्तु फिर भी वे अपना काम समयपर कर लेते हैं। मनुष्योंके पास आलर्म, वाच, घड़ी होते हुये भी वे अपने निश्चित् टाइम पर नहीं जग पाते और न कोई काम अपने समयपर कर पाते हैं। भयमें देखो—मनुष्य २४ घंटे किसी न किसी भयसे भयभीत बना रहता है। कभी कोई भय है, तो कभी कोई। किन्तु पशुको तो उसी समय भय है जब उसके ऊपर कोई डंडा चलाता आजावे। बाकी तो वह हमेशा निर्भय होकर विचरण करता है। अब मैथुनमें देखो। सो यह बात सभीको ज्ञात है कि वे विषय भी अपनी ऋतुमें करते हैं, अन्य समयमें नहीं। किन्तु मनुष्य इसमें बेखबर, असंयमी है। प्रयोजन यह है कि धर्म करो, अन्यथा हम क्या कहें आपने श्लोकमें सुन ही लिया है।

**धर्म करनेके लिये क्या करना है?**—'सर्वभावांतरच्छिदे' इस विशेषणसे सीख लो,

आत्मस्वभावपर दृष्टि हो और उसके दृढ़ आलंबनसे पर्यायसे भी सर्वभावान्तरच्छिद बन जाओ, धर्म सब पदार्थोंसे हैं, धर्म वस्तुके स्वभावको कहते हैं। समस्त वस्तुओंमें स्वभाव है। आपमें भी स्वभाव है। चेतन और पुद्गलके अतिरिक्त अन्य धर्म, अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्योंमें तो धर्मके विरुद्ध परिणति नहीं होती। पुद्गलके स्वभावके विरुद्ध परिणति होती है परन्तु ज्ञान न होनेसे उस परिणतिसे उसका कुछ बिगाड़ नहीं है। चेतनमें धर्मके विरुद्ध परिणति होती है सो उसीको अर्थात् चेतनको महात्माओंका उपदेश होता है कि धर्म करो। धर्मकी परीक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे करो। और परीक्षाके बाद निराकुल, निर्विकल्प परिणति चाहते हो तो द्रव्य, क्षेत्र कालको गौण करके भावकी प्रधानतासे देखो। स्वानुभूत्या चकासते। जो अपने अनुभवसे प्रकाशमान है। ज्ञानके द्वारा आत्माको देखो। उस अनुभवकी योग्यता लानेके लिये सबसे पहले भैया अपने चित्तमें दो बातें तो बसा लो—१–ममताभाव न रखना, २–किसी भी प्राणीके प्रति द्वेषभाव न रखना। अपनेको ममता रहित तथा सरल बनाओ। रागद्वेषोंको छोड़ो, क्योंकि दुनियामें अनन्त प्राणी है, आप सभी को नहीं जानते हैं। जिसपर क्रोध करते हो उसे अपरिचितकी श्रेणीमें रख दो। ममत्वबुद्धि मत करो। ममत्व बुद्धि कोई ऐसी चीज नहीं जो सिर्फ साधु (मुनि) के लिये ही त्याज्य हो। किन्तु उसका त्याग तो गृहस्थधर्मसे ही शुरू हो जाता है। ममत्वभावका त्याग सम्यक्त्व होते ही हो जाता है। आत्मामें जब तक ममत्वबुद्धि रहेगी आपका कल्याण नहीं हो सकता। ऐसा होना कोई कठिन नहीं है। सरल और कठिनकी परिभाषा क्या है?

**धर्म कमाना कठिन है या धन कमाना?**—जो बहुत सी चीजोंके समुदायसे काम हो अथवा यों कहो जो बहुत पराधीन हो उसे कठिन कहते है। और जो बहुत स्वाधीन हो उसे सरल कहते हैं। अब भैया, आप लोग ही बताओ कि धर्म कमाना कठिन है या धन कमाना?

हमारी दृष्टिमें तो धन कमाना कठिन है क्योंकि उसमें पहले अनेक लोगोंसे मिलना जुलना पड़ेगा, ग्राहक बांधने पड़ेंगे, उन्हें खुश करना आदि बहुत सी झंझटें करनी पड़ेंगी, फिर भी वे आवें न आवें। यह सब उपचारसे कह रहे हैं, परका कोई कुछ करता नहीं; मात्र मान्यता है। लाभ हानि भाग्याधीन है। इतना कठिन धर्म नहीं है क्योंकि वह केवल स्वकी दृष्टिसे स्वके द्वारा विकसित होता है। किन्तु मोहके वश लोगोंको धर्म कठिन प्रतीत होता है। देखो भैया! हमें सत्पथवृत्तिके लिये बड़ी सुविधायें हैं। सबसे पहले तो वस्तुस्वभाव ही हमारी बड़ी मदद कर रहा है। प्रत्येक द्रव्य चाहे कितने ही मिले भेले रहें, परन्तु कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता, ऐसा सबका स्वभाव है। और जब कोई स्वभाव नहीं छोड़ता तो वह अन्यमें अलाबला भी क्या दे सकता है। अनादिसे आत्मा और कर्मका एक

क्षेत्रावगाह रहा, फिर भी वस्तुस्वभावकी हमपर कृपा बनी ही है। दूसरी बात देखो—पर को निमित्त पाकर कुछ भावांतर याने विभाव उत्पन्न हो भी जावें जो कि आत्माकी शक्तिके ही परिणमन हैं, फिर भी चूंकि वे भावांतर हैं सो स्थायी नहीं होते हैं, प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। उपयोग ग्राह्यताकी अपेक्षा अजघन्य अन्तर्मुहूर्त तक ही रह पाते हैं। ये भावांतर स्वयं जा रहे हैं। रागद्वेष स्थायी तो हैं नहीं किन्तु प्राणी उन्हें स्थायी बना लेता है याने एक के बाद दूसरेको पैदा करता रहता है। स्थायी तो सिर्फ ज्ञान है। परवस्तुके होनेमें सुख नहीं और वस्तुके न होनेमें दुःख नहीं किन्तु मनके अन्दर उत्पन्न जो विकल्प हैं उन्हीं विकल्पोंसे दुःख होता है।

**आत्माका नाता विकल्पसे होता है, विकल्पसे नाता टूटता भी है**—एक आदमी अपना १ वर्षका बालक छोड़ अर्थोपार्जनके लिये बाहर चला गया। कारण कुछ ऐसे आये कि वह १२ वर्ष तक वापिस नहीं लौट सका। १२ वर्षके पश्चात् उसे अपनी स्त्री और पुत्रकी याद आती है और वह वहाँसे प्रस्थान कर देता है। इधर इसकी पत्नी पुत्रसे कहती है कि बेटा! तुम अब बड़े हो गये हो इसलिये फलाने देशमें जाकर अपने पिताको ढूंढ़कर लिवा लाओ। सो वह लड़का भी अपने पिताकी खोजमें वहाँसे चलता है। संयोगसे पिता और पुत्र दोनों एक ही धर्मशालामें रात्रि व्यतीत करते हैं। रातके समय पुत्रके पेटमें बड़े जोरसे दर्द उठता है। वह रोता है, उसके रोनेके हल्लेसे परेशान होकर वह सेठ (उसका पिता) वहाँके चपरासीसे कहता है कि इस लड़केको धर्मशालाके बाहर कर दो, हमने तुम्हें १०) रुपये इनामके इसीलिये दिये थे कि हमें आराम मिले। चपरासी बोला आधी रात है, इस समय मैं कहाँ कर दूं? कुछ देरके बाद वह लड़का मर जाता है। सेठ घर पहुंचकर अपनी स्त्रीसे पूछता है कि लड़का कहांपर है? तब वह कहती है कि वह आपको लेने गया है। सेठ पुत्रकी खोजमें निकलकर उसी धर्मशालामें आया और सारा हाल जानकर बेहोश होकर गिर पड़ता है। वहाँ पुत्रके न होनेसे दुःख नहीं है, किन्तु पुत्रके अभावमें मनके अन्दर जो विकल्प पैदा हुये हैं उनके कारण वह दुःखी हुआ है। तथा देख लो जब पुत्र सामने था दुःखी था, तब उसे राग व विषाद नहीं हुआ। परवस्तुके सद्भाव, अभावसे क्लेश नहीं। आप बीमार हो जावें तो आपका पुत्र आपकी सेवा नहीं करता है, किन्तु आपको दुःखी देख-कर उसके हृदयमें जो विकल्प पैदा होते हैं और उससे जो दुःख होता है वह उसे शांत करने को आपकी सेवा करता है।

एक भिखारी भूखा आया। आपको ज्ञात हो गया कि यह भूखा है तब आप उसे भोजन करा देते हैं। वहाँ आपने उसका दुःख मेटा है क्या, कहो ...... नहीं। उसके दुःख के ज्ञानके पश्चात् आपको दुःख होने लगा था, सो आपने अपना दुःख मेटनेके लिये यह

चेष्टा की। वहाँ भी आपकी चेष्टा आपमें हुई, देहकी चेष्टा देहमें हुई।

**विकल्प ही जीवनका शत्रु है:**—सबसे विकट भावान्तर तो यह है कि मैंने इसको पाला, इसे सुखी किया, इसे दुखी किया आदि दुराशा। कहनेका तात्पर्य यह है कि वस्तुके होने या न होनेसे सुख दुःख नहीं हैं, किन्तु दुःख तो विकल्पोंका नाम है। जहाँ विकल्प नष्ट हुये वहीं सुख है। शत्रुता, मित्रता की बात अपने आपके परिणामोंमें देखो, अन्यथा अच्छा बताओ तुम्हारा दुश्मन कौन है ? तुम्हें सुख देने वाला कौन है ?

एक राजा शत्रुसे मुकाबला करने जा रहा था। वह जंगलमें पहुंचा, वहाँ एक साधु (मुनि) बिराजमान थे। राजा प्रणाम करके बैठ गया, कुछ देर धर्मोपदेश सुना, थोड़ी देरमें शत्रुकी हलचल सुनाई दी, राजा कुछ सचेत हुआ। जब और नजदीक आवाज आई तब तलवार लेकर खड़ा हो गया। तब साधुने पूछा—राजा क्या कर रहे हो ? राजा बोला, महाराज शत्रुके आगमनकी सूचना पाकर मुझे क्रोध आ गया है, ज्यों-ज्यों शत्रु पास आता है मुझे क्रोध बढ़ता है, मैं उसे नष्ट करूंगा। तब साधु बोले—राजन् ! ठीक है, यही करो, जो शत्रु पास हो, उसे नष्ट करो। पहले जो शत्रु तुम्हारे भीतर बिराजमान है उसका नाश करो। वह कौन है ? सुनो—किसी परप्राणीके प्रति तुम्हारे यह जो विभाव हो रहे हैं कि यह शत्रु है ऐसी कल्पना ही तुम्हारा शत्रु है। वह अत्यन्त पास बैठा हुआ है उसे नष्ट करो। राजाके मनमें कुछ ठीक लगी। राजाने तुरन्त दीक्षा ले ली और ध्यानमें बैठ गया। थोड़ी देर बाद शत्रु आया और राजाको ध्यानस्थ देख चरणोंमें नमस्कार करके वापिस हो गया। तो कहनेका आशय सिर्फ इतना है कि विकल्पोंका नाश हो जाना ही सच्चा सुख है। जब तक विकल्प रहेंगे कभी भी सुख नहीं मिलेगा; इसलिये आत्माको पहिचानो; उसका स्वरूप क्या है ? यह देखें ! जब तक आत्माका शुद्ध ज्ञान नहीं होगा तब तक सुख नहीं मिलेगा। इसलिये अपना एक लक्ष्य बनाओ कि मुझे क्या करना है, और किस तरह मेरी आत्माका कल्याण होगा ? मुझे अपनी आत्माका कल्याण करना है, तभी सब कुछ होगा। मेरा उद्देश्य तो केवल यह ही है कि मैं निर्विकल्प स्थिति पाऊं, ऐसी दृढ़ भावना भी बनाओ और यथार्थ परिज्ञान करो।

**समयसार शब्दके अर्थ:**—इस समयसार ग्रन्थमें शुद्ध आत्मतत्त्वका निरूपण है। यह शुद्ध आत्मतत्त्व, कारणसमयसार, समयसार, सहजपरमात्मा, सहजसिद्ध, पारिणामिक तत्त्व, परमब्रह्म, सामान्यात्मा, चित्, चैतन्य आदि अनेक नामोंसे वाच्य है। पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरिने इस तत्त्वको समयसार शब्दसे कहा है और नमस्कार किया है 'नमः समयसाराय।' यद्यपि मुख्यतया समयसार शब्दसे परमपारिणामिक चैतन्य कहा गया है तथापि महापुरुषों के वचनोंमें अनेक रहस्य होते हैं—इस समयसार शब्दके भी अनेक पूज्य तत्त्वोंके अर्थ हैं।

समयसारका अर्थ—श्री अरहंत परमेष्ठी है। समयसार शब्दके ३ भाग करिये—सं अय सार—सं याने सम्यक् अर्थात् अच्छे प्रकारसे अय कहिये निश्चय करने वाले (अय गती) जो सातिशय व भद्र मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि जो अन्तरात्मा हैं वे समय कहलाते है, उनके पूज्य होनेसे जो सार है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हैं वे अरहंत परमदेव समयसार हैं। सार शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः। जो सर्वोत्कृष्ट-पनेको प्राप्त हो वह सार कहलाता है। मुमुक्षके सर्वोत्कृष्ट शरण्य आप्त अर्हंतपरमदेव होनेसे वे समयसार हैं। सं सम्यक् वस्तु अयतां निश्चिन्वतां पूज्यत्वेन आप्तत्वेन सारः समयसारः।

समयसारका अर्थ श्री सिद्ध भगवान भी है—समयसार शब्दके ३ भाग करिये—सम य सार। सम याने समता भावको य कहिये प्राप्त होने वाले (या प्रापणे) योगिराजोंको ध्येय होनेसे जो सार हैं वे सिद्ध परमात्मा हैं। यहाँ समयसार शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—समं यातां प्राप्नुवतां ध्येयत्वेन सारः समयसारः।

समयसार शब्दका अर्थ आचार्य परमेष्ठी है। इस अर्थके लिये समयसार शब्दके ३ भाग करिये—सं अय सार। सं कहिये सम्यक् समिति गुप्तिपूर्वक, अय कहिये स्वमें चलने वाले चारित्र पालन करने वाले साधुओंके दीक्षा शिक्षा पोषण आत्मसंस्कार आदिसे उपकारक होनेसे जो सार हैं वे समयसार आचार्य परमेष्ठी हैं। सं सम्यक् समितिगुप्तिगर्भं अयतां साधूनां उपकारित्वेन सारः समयसारः।

समयसारका अर्थ उपाध्याय परमेष्ठी भी है। इस अर्थके लिये भी ३ भाग करिये—सं अय सार। सम्यक् प्रकारसे वस्तुतत्त्वका निश्चय करते हैं भव्य जीव जिसके द्वारा वह कहलाता है समय अर्थात् सिद्धांत। वह सिद्धांत पाया जाता है जिसके द्वारा वह उपाध्याय परमेष्ठी हैं। सं सम्यक् याथातथ्यरूपेण अयंति निश्चिन्वन्ति भव्या येन भावेन शब्देन वा स समयः। समयः स्रियते प्राप्यते येन विशुद्धात्मना स उमयसारः।

समयसारका अर्थ साधु परमेष्ठी भी है, इस प्रकरणमें समयसार शब्दके ३ भाग करिये—सम य सार—मय कहिये आचरणोंमें सार हैं रत्नत्रय। उस रत्नत्रयके साथ जो वर्तते हैं वे समयसार साधु परमेष्ठी हैं। समयसार शब्दकी व्युत्पत्ति यहाँ इस प्रकार है—मयेषु सारः मयसारः, मयसारेण सह वर्तते इति समयसारः।

समयसार शब्दका अर्थ रत्नत्रय भी है—इस अर्थमें समयसार शब्दके इस प्रकार भाग करिये—सं अय सार। सं का अर्थ सम्यक्त्व, अयका अर्थ ज्ञान और सारका अर्थ चारित्र है। सं सम्यक्त्वं, अयः ज्ञानं, सरणं स्वस्मिन् चलनं चारित्रम्। इत्यादि प्रकारसे समयसारके अर्थ परम आगम, चैतन्यस्वरूप, प्रकृत ग्रंथ, सहजसिद्धि आदि अनेक अर्थव्युत्प-त्तिपूर्वक निकलते हैं। इसका विशेष विवरण समयसार भाष्यमें इसही मंगलाचरणके भाष्य

में किया है, वहांसे भी देख लेना अच्छा रहेगा।

यह समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व यद्यपि परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षासे कर्ता भोक्ता आदि सर्व विकल्पसे रहित है, उत्पाद व्यय की कल्पनासे रहित है, तथापि वही तत्त्व पर्याय सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय की दृष्टिसे उसकी सारी सृष्टियोंका वही कर्ता है। जो अपने सृष्टिकर्ताको प्रसन्न कर लेगा अर्थात् निर्मल कर लेगा याने सर्व विकल्पपक्षोंसे परे परमपारिणामिक भाव रूपसे उपयोगमें विराजमान कर लेगा वह शिवसृष्टिमें सर्जन पाकर परमशिवमय अचल अनुभूतिका स्वामी होगा।

मंगलाचरणके इस प्रथम श्लोकमें आत्माके शुद्धस्वरूपका वर्णन है, उसे नमस्कार, अंगीकार, स्वीकार किया है। समयसारके विकास सब समयसार-रूप हैं। समयसारके सब विकासोंमें, समयसारके सब प्रयोज्योंमें समयसार शब्द निरुक्त्यर्थसे भी प्रवृत्त है।

अब पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि समयसार व्याख्यानसे पहले अपने ग्रन्थ व्याख्याके उद्देश्यको भावनारूपसे प्रकट करते हैं।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥

वह कैसा हूं मैं जिसकी परमविशुद्धि चाही जा रही है? "शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः।" शुद्ध चैतन्यमात्र है मूर्ति जिसकी, ऐसा मैं हूं, सो यद्यपि ऐसा मैं हूं तो भी जो ये अन्धेर लग गया है उसकी निवृत्ति होवे।

इस ग्रन्थ समयसारकी व्याख्याके पूर्व पूज्याचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरिजी कहते हैं कि इस ग्रन्थकी व्याख्यासे मेरी अनुभूति, परमविशुद्धि हो जावे।

दुनियांके लोग चाहते हैं कि मैं हमेशा एकसा रहूं। आप किसीसे कहो कि हम तुझे दो दिनके लिये करोड़पति बनाये देते हैं, इसके बाद तुझे एक पैसा नहीं देंगे, और वैसा ही निकाल देंगे, तो वह कभी भी करोड़पति बनना स्वीकार नहीं करेगा। इसके बदलेमें वह एक छोटीसी दुकानको ही स्वीकार कर लेगा जो कि उसके पास कुछ स्थायी रहे। उसे वह भला समझता है अथवा आप किसीको छह महीनेका राजा बना दें और उससे कहें कि हम इसके बाद तुझे जंगलमें भगा देंगे तो वह व्यक्ति कभी इसे स्वीकार नहीं करेगा। वह भी आपसे इसके बदलेमें कोई छोटी सी याचना कर लेगा और उसीमें अपने को सुखी समझेगा, क्योंकि वह वस्तु उसके पास हमेशा रहेगी—ऐसा उसका भाव है। इसी तरह हमारा आत्मा भी चाहता है कि मैं सदा स्वतंत्र (अकेला) रहूं, सदा ध्रुव, निश्चल रहूं। इसके लिये आप लोग अध्रुवकी ओर दृष्टि मत दो। अपनेको मत मानो कि मैं जैन हूं, खण्डेलवाल हूं, अग्रवाल हूं, पुरुष हूं, स्त्री हूं आदि। ये वास्तवमें कुछ भी नहीं हैं, किन्तु ये

तो सब मोहकी पर्यायें हैं। यदि वास्तवमें आत्माका कल्याण चाहना है तो इन बाह्य वस्तुओंको अपना मत मानो, इनमें ममत्व बुद्धि मत करो, इन्हें अपनानेकी कोशिश मत करो बाह्य बातोंसे अपना बड़प्पन मत समझो, ये जितनी भी वस्तुयें दीखती हैं उनसे तथा धनसे तथा सम्पत्तिसे आत्मा बड़ा नहीं होता है। इन बाह्य चीजोंसे वैभवयुक्त नहीं बनता है, किन्तु आत्माका वैभव है ज्ञानयुक्त स्वयं आत्मा। जो जीव परवस्तुओंसे अपनेको बड़ा नहीं मानते वे ऐसा ही करते हैं और समस्त बाह्य वस्तुओंसे अपनत्व भाव हटा लेते हैं, जिससे उनकी आत्माका कल्याण हो। संसारी जीवको मोहका अन्धकार इतना लगा हैं कि वह अपने असली स्वभावको भूल विभावरूप परिणम रहा है। उसे यह बोध ही नहीं है कि मेरा असली स्वभाव क्या है ? मैं वह हूँ, जो ध्रुव हूँ, स्वतःसिद्ध हूँ। वह देह मैं नहीं हूँ, देह मेरी मूर्ति नहीं है, क्योंकि यह अध्रुव है, नैमित्तिक है, जड़ है। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, मेरी मूर्ति चैतन्यमात्र है जो कि अमूर्त है, मेरा चैतन्यरूप देह कर्मसे अत्यन्त पृथक् है। मैं आधेय नहीं, किन्तु आधार मात्र हूँ।

**खुदकी निधि खुद न पा सके यह अंधेर है**—अहो ! यह जगत अपने शाश्वत सहज स्वरूपको भुलाकर इन चर्मेन्द्रियोंसे देखता है कि यह मेरा है, अमुक मेरा है। शुद्ध ज्ञानमय एवं शुद्ध चैतन्यमात्र अपनेको नहीं समझता, नहीं देखता। शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप भगवान सिद्धका है और शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप हमारा भी है, किन्तु भगवानकी परिणति मोहादिकसे रहित हो चुकी है और वह अपने स्वरूपमें परिणत हो चुके हैं। हमारी अवस्था अभी मलिन है, उसमें रागद्वेषोंका सम्पर्क है। ज्ञानी पुरुष अपने इस अंधेरपर बड़ा आश्चर्य करता है। एक मीठा शांतिरूपी गुस्सा करता है, अतीव उपेक्षा करता है। आपसे अथवा किसी धनी, प्रतिष्ठित व्यक्तिसे एक कोई छोटा आदमी कुछ छोटे वचन (अनादरी) कहता है तो आपको कितना क्रोध होता है, क्योंकि आप अपनेको बड़ा आदमी मानते हैं आप सोचते हैं मेरी प्रतिष्ठा है, लोग मेरी इज्जत करते हैं, सम्मानपूर्वक मुझे अभिवादन करते हैं, मैं तो ऐसा हूँ और यह मामूली हैसियत वाला व्यक्ति मेरा अनादर करे बड़ा अंधेर है, बस ऐसा विकल्प होते ही आपको बहुत क्रोध पैदा होता है। आपने इसपर तो क्रोध किया, किन्तु क्या कभी आपने इसपर भी सोचा या क्रोध किया कि मैं तो भगवानकी जातिका हूँ फिर यह क्या हो गया हूँ, इस संसारके मायामोहमें यह कैसे हो गया, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, मेरे स्वभावमें तो ऐब है ही नहीं, यह क्या अंधेर हो गया ! क्या आपने इसपर कभी विचार किया व इस अंधेरपर क्रोध किया ?

भैया ! जब तक आप लोगोंकी कोई प्रशंसा करता है तब तक आपकी उसपर कृपा रहती है, अपनी उदारता प्रकट करते हो, आपके शांत भाव रहते है आप

अनुकूल रहते हैं, किन्तु वही व्यक्ति दूसरे दिन आपकी बुराई करने लगता है तो आप उसके खिलाफ हो जाते हैं, आपको उसपर क्रोध आ जाता है, इसका कारण है रागद्वेष और अहंबुद्धि।

वास्तवमें पूछो तो तब भी आप उदार या शांत नहीं थे, किन्तु तृष्णाका एवं साता-नुभवका ही वह रूप था। यदि शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति निज परमपारिणामिक भावका लक्ष्य हो जावे तो उदारता व शांति अनुकूल प्रतिकूल समागममें भी रह सकती है। कई भाई कहते हैं कि सामायिक करते समय हमारे विचार एकाग्र नहीं रहते, हमारे विचार दसों जगह जाते हैं, किन्तु जब हम दूकानपर रहते हैं तो हमारे भाव दूकानसे बाहर नहीं जाते; इसलिये सामायिक करनेसे तो दूकान ही ठीक है, क्योंकि दूकानमें हमारे भाव एक जगह रहते हैं तो एक बन्ध होता है, किन्तु सामायिकमें हमारे भाव दसों जगहका बन्ध करते हैं क्योंकि वे दसों जगह जाते हैं अतः सामायिकसे भली तो दुकान है। किन्तु जो ऐसा कहते हैं यह उनकी भूल है। बंध तो दुकानपर भी दसों हो रहे थे, संसार तो सबका था और ऐसी सामायिकमें भी दसोंका बंध हो रहा है परन्तु सामायिकमें फिर भी लगाम लगी है, दुर्भावोंकी शिथिलता है अथवा एक सुन्दर अवसर तो मिलता है कि जल्दी ही उससे उपेक्षा करके समतामें आ सकते हैं। स्तव वन्दनसे अशुभोपयोग कम हो जाता है। सामायिकने हमारे ऊपर बड़ी दया की है। उसने हमें यह बताया है कि तुम्हारे जो दस जगह भाव जाते हैं वही सबसे बड़ा दोष है। इनका सुधार करो यह सभी बातें हमें सामायिक बताती हैं। अतः वह हमारा महान उपकारिका है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो इस अपनेको कभी भी बड़ा मत मानो, इस अपनेको उच्च मत मानो। आचार्य अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं कि मेरी परिणति मलिन है, अभी मेरी आत्मा मलिन है; अभी मैं रागी द्वेषी हूं। तो आप विचार कीजिये, जो वीतरागमूर्ति हमारे लिये परमपूज्य, हमारे लिये उपासक, हमारे आराध्य हैं वे आचार्य अपने लिये कहते हैं कि मैं रागी हूँ. मैं द्वेषी हूँ, मैं मलिन हूं। उनके राग द्वेष होगा तो सिर्फ यही तो कि जगतका कल्याण हो, दुर्भावोंका विनाश हो, पंच गुरुका वंदन करते होंगे, स्तवन व आराधन करते होंगे, आदि शुभ उपयोग ही तो करते होंगे। फिर भी वे अपनी आत्माको मलिन कर रहे हैं तो फिर हमारे और आपके बारेमें तो न जाने कितना कहा जायगा? जरा त्रैराशिक तो लगाओ। भगवानने कहा कि तुम अपनी आत्माका वास्तविक कल्याण करना चाहते हो तो दुनियाकी चीजोंसे रागद्वेष छोड़ो और हमसे भी राग छोड़ो तभी तुम्हारा उद्धार होगा अन्यथा नहीं। जिन पूज्य आत्माओंने निजको शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति जान लिया है उन्हें उपकार भावना, वंदन, अनुराग आदि भी एक भार दीखता है। अहो! भार तो यह भी है, यह भी दूर हो। अत्यन्त निर्मल

परिणतिका विकास हो, श्री सूरिदेव इस मलिनताकी निवृत्ति भा रहे हैं। आजकल मनुष्य दूसरेका अभ्युत्थान, दूसरेका ऐश्वर्य नहीं देख सकते, एक दूसरेके प्रति इतनी ईर्ष्या; और ईर्ष्या क्या रखते हैं, हमेशा उनका बुरा सोचते हैं कि अमुकको घाटा हो, यह मेरे समान न बन जावे आदि, किन्तु किसीके अनिष्ट व इष्ट चाहनेसे इष्ट व अनिष्ट नहीं होते, क्योंकि खुद के परिणमनसे खुदको फल होता है। आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न होता है, उसका निमित्त कारण है पुद्गल कर्मका उदय। ये पुद्गलकर्म विरुद्ध स्वभाव वाले हैं और स्वभावविरुद्ध कार्यके निमित्त हैं। मोहनीयके अनुभवसे आत्मामें निरंतर विभाव परिणतियाँ होती रहती हैं सो विचारो कि व्याख्याकार प्रभुमें कौनसी मलिनता रह गई होगी और कौनसा मोहोदय होता रहता होगा? आजकल भैया, क्षायिक सम्यक्त्व तो उत्पन्न नहीं और न क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव इस पंचमकालमें उत्पन्न होते हैं। तब इतनी बात तो सुनिश्चित है कि उनके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं था उपशम सम्यक्त्वमें द्वितीयोपशम होता नहीं क्योंकि आजकल मोहोपशमका उद्यम नहीं हो सकता याने श्रेणी नहीं चढ़ते। उसीके लिये द्वितीयोपशम होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्वका काल २-१ सैकिन्डका समझलो और एक बार होकर दुबारा उनके हो नहीं सकता। तो फिर यही रहा कि वेदक सम्यक्त्व रहा आया, उसमें मिथ्यात्व, मिश्र व अनंतानुबंधी ४ का उदयाभावी क्षय व अनागत इन्हीं छहका सदवस्थारूप उपशम व सम्यक् प्रकृतिका उदय रहता है। इस सम्यक् प्रकृतिके उदयसे जो सूक्ष्म वचनागम्य मलिनता है, उसका इन आचार्य प्रभुको खेद है अथवा जो चारित्रमोहका विपाक है उसका खेद है।

आजकल मनुष्योंको अपनी परिस्थितियोंपर इतना गर्व है कि वे अपने सामने अन्य लोगोंको कुछ भी नहीं जानते। आजकलके आदमी त्यागी, व्रती, साधु, आचार्य आदिको भी बेचारे शब्दसे कह बैठते हैं। बेचारे साधु बड़े सीधे हैं इत्यादि और आप बन जाते हैं सचारे।

**निज स्वरूपके भाव बिना कल्याण नहीं**—प्राचीन आचार्य जितने भी हुये हैं वे कोई गरीब नहीं थे कि निर्धनताके कारण साधु हो गये हों, वे प्रायः सभी धनी थे। कोई राजा का पुत्र तो कोई सेठका, तो कोई मंत्रीका। वे बड़े धनी थे, सो उस कारण अब महान हैं यह बात नहीं। धनी हो या गरीब हो, निजकी महिमासे ही उन्होंने अपनी आत्माका असली स्वरूप जान करके जो आत्मीय आनन्द व प्रकाश पाया उससे वे महान् हैं। उन्होंने सारे जीवनकी साधनासे जो निचोड़ पाया वो इन महाग्रन्थोंमें भर दिया। किन्तु उन्हीं की संतान हम लोग हैं कि उनको देखने, सुननेका अवसर नहीं और न है उस ओर रुचि। उन्होंने जीवनमें जो पाया और अनुभव किया सो हमारे लिये छोड़ गये, किन्तु हम हैं कि

तन, मन, धन खर्च किये विना भी नहीं देखना चाहते। हमें फुरसत नहीं, हम जानना नहीं चाहते। सो भैया ! हम तो यही कहेंगे यदि ज्ञानोपासनामें समय उपयोग न दिया तो हम, आप लोग अपना जीवन व्यर्थमें खो रहे हैं। हम आपका जीवन सार्थक तभी जानेंगे जब आप चौबीस घन्टोंमें से कमसे कम तीन घन्टेका भी समय इन बातोंको जाननेमें, इनका अध्ययन करनेमें व्यतीत करोगे। कालचक्र आ रहा है, अवस्था जा रही है लब्धिका सदुपयोग कर लीजिये। अलं विस्तरेण।

कलके प्रकरणमें आचार्य अमृतचंद जी सूरि यह भावना भा रहे थे कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूं, किन्तु मेरी परिणति मोह कर्मके उदयका निमित्त पा करके मैली है, रागादिक स्वरूप हो रही है, इसलिये समयसारकी व्याख्या, टीकासे मेरी आत्मा रागादि भाव रहित होकर शुद्ध हो, यही मेरी कामना है। देखो भैया, द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिका कैसा संगम इस पद्यमें किया है ? मैं तो द्रव्यदृष्टि द्वारा पश्चात् अनुभवमें आने योग्य शुद्ध चैतन्य-मात्र मूर्ति हूं, परन्तु अवस्था तो वही मलिन है यह पर्यायदृष्टिसे देखा। तब विश्रामके लिये कहते हैं कि रागादि व्याप्त अनुभूतिको परमविशुद्धि होओ। यहां पर्यायदृष्टिका अर्थ पर्याय-बुद्धि नहीं, किन्तु पर्यायको देखना है। आजकल आप किसी भी व्यक्तिसे पूछिये कि आप प्रसन्न हैं तो वह आपको फौरन उत्तर देता है—खूब प्रसन्न हैं, सब आपकी कृपा है; अभी-अभी लड़केकी शादी करनी है। यह सब वह अपने मोहके द्वारा उत्पन्न जो विकल्प हैं उनका कारण पाकर ऐसा कह रहा है, वास्तवमें वह अपनी आत्माके स्वरूपको नहीं समझ सका है और न जाना है आत्माका कर्म। संस्कृतमें प्रसन्नका अर्थ है निर्मल, तो प्रश्नकर्ताका अभि-प्राय है कि आपकी आत्मा निर्मल है या नहीं ? लेकिन उत्तरदाता कहता है कि सभी ठीक है, बच्चेकी शादी करनी है याने व आत्माको मोहादिकसे लिप्त बताता है याने उत्तर प्रश्नके विरुद्ध अप्रसन्नताका देता है। इसका कारण है कि जीवको परवस्तुमें परिणति अधिक है और इसीलिये वह यथार्थ जाननेमें और अपना कल्याण करनेमें असमर्थ है। यह तो दृष्टि मोहियोंकी बात है, चारित्रमोहियोंका भी मालिन्य चारित्र मोहके अनुरूप होता है। इसी-लिये आचार्यदेव इच्छा प्रकट कर रहे हैं कि मैं परम शुद्ध हो जाऊं। शुद्ध बननेके लिये अपनी आत्माको विचारो, उसीका ध्यान करो, सिद्धकी दृष्टिसे अथवा सिद्धके ध्यानसे शुद्ध नहीं हो सकते, किन्तु विशुद्ध अवश्य होवोगे। सिद्ध तो हमारे शुद्ध होनेसे पूर्व होने वाले विशुद्ध भावमें निमित्त कारण है, उनकी शुद्ध अवस्थाको देखके हमारे भी यह भाव हों कि हम भी ऐसे ही पवित्र बनें। उन्हें देखकर हम शुद्ध बननेके उत्साही हो सकते हैं। शुद्धकी दृष्टिसे जीव शुद्ध होता है और अशुद्धकी दृष्टिसे जीव अशुद्ध होता है, सो निश्चयसे जीव पर को नहीं देखता वो तो अपनेको ही शुद्ध या अशुद्ध देखता है।

**प्राकरणिक एक गहन समस्या**——भैया ! यहां एक समस्या आ गई, अभी आप अपने भीतर देखो कि आप शुद्ध हैं या नहीं ? यदि शुद्ध हो तो मोक्षमार्गकी आवश्यकता नहीं और यदि अशुद्ध हो तो वह अशुद्धता हमारी द्रव्यसे हममें है, तब कभी शुद्ध होनेका अवसर ही नहीं आ सकता। समाधान——द्रव्य शुद्धता अब भी है, सो पर्यायशुद्धिके लिये इस शुद्धको देखना है। तुम जिसे देखकर शुद्ध बन सकते हो, सिद्ध भगवान हमारे लिये शुद्ध बननेमें सहारे हैं कि उनके स्वरूप दर्शनसे झट द्रव्य दृष्टिपर आ सकते हैं। भगवान हमें कुछ नहीं देते और न हम भगवानका कुछ करते है। न तो हम भगवानकी पूजा करते हैं, न आदर करते हैं। हम भगवानके बारेमें जो कुछ भी करते हैं वह सब अपने लिये अपने आपमें करते है। हम भगवानका आदर नहीं करते किन्तु अपना आदर करते हैं। न भगवानकी कोई निन्दा करता है किन्तु वह अपनी ही निन्दा करता। निश्चयत: न कोई भगवानको जानता है, और न भगवान ही किसीको निश्चयसे जानते हैं। न आप भगवानको कुछ देते हैं और न भगवान ही हमको कुछ देते हैं। वह न आपका सुधार करता है और न कुछ बिगाड़ करता है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हमारे और भगवानके बीचमें है। आप जो कुछ करते हो अपना ही परिणमन करते हो, भगवानकी आनन्दभक्तिसे वैराग्यको प्रोत्साहन मिलता है, वैराग्य आनन्दमय है।

संसारके समस्त प्राणी सुख चाहते हैं किंतु जिन कारणोंसे सुख मिलता है उन कारणोंपर नहीं चलना चाहता है, और जो चाहता भी है वह बाह्य वस्तुवोंके समागमसे उनके विकल्पोंके कारण उस मार्गपर नहीं चल पाता। जैसे कोई व्यक्ति मार्गमें जा रहा है वहाँ जुआ हो रहा है और वह व्यक्ति मनबहलाव अथवा इस आशयसे कि चार आठ आना पैसे आ जावेंगे तो दो चार दाव लगाता है और वह बराबर हारता जाता है, तब वह वहां से उठनेकी कोशिश करता है किन्तु अन्य लोग उसे उठने नहीं देते। कहते है कि बस इतना ही दम है आदि। इसी तरह यह जीव सुखके मार्गपर जाना चाहता है, किन्तु बाह्य वस्तुओं के समागमोंसे वह हट नहीं पाता। मनुष्य अज्ञानरूपी अंधकारमें पड़ा है, उसे अपने स्वरूप, अपने कल्याणका कुछ भी ध्यान नहीं है।

**अल्पकालकी गलती का भयंकर परिणाम**——भैया ! एक सैकिन्डकी गलतीसे यह प्राणी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त संसारमें रुलनेका बंध करता है तो आप विचार करो कि इसने कितना बंध कर लिया होगा। सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरका समय कितना होता है सो देखो। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा करो, जो लब्ध हो उतना एक कोड़ाकोड़ी सागर कहलाता है। ऐसे सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक वे कर्म संसारमें भ्रमण कराने को निमित्त होंगे।

अब सागर देखो कितना होता है ? कल्पना करो कि दो हजार कोश विस्तार वाला एक गोल गढ़ा है। उसमें उत्तम भोगभूमिज मेंढेके बालोंकी कतरन जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके उसमें ठसाठस भरे जायें। फिर १०० वर्षमें एक बाल निकालें, जितने वर्षोंमें वे सब बाल निकल जायें उतनेको तो व्यवहारपल्य कहते हैं। उत्तम भोगभूमिमें बाल बहुत पतले होते हैं, उनसे आठ गुणे मोटे मध्यम भोगभूमिमें और इससे आठगुणे मोटे जघन्य भोगभूमिमें और इससे आठ गुणे मोटे यहाँके जीवोंमें हैं। इससे वहाँका दृष्टांत रखा। देखो भैया ! यह तो हुआ व्यवहारपल्यका प्रमाण। इससे असंख्यातगुणा होता है उद्धारपल्य और उद्धारपल्यसे असंख्यातगुणे समयका होता है अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा करके जो लब्ध हो, उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक सागर होता है।

देखो भैया, एक सैकिंडकी मलिनतामें सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर तक की स्थितिके कर्म बंध जाते। किन्तु इससे कोई यह न समझ बैठे कि तब तो हम संसारसे कभी नहीं निकल सकते, ऐसा सोचना ठीक नहीं। एक सैकिंड भी शुद्ध आत्मानुभवसे अनेक भवोंके संग्रहीत पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बाह्य समागमकी संयोगबुद्धि छोड़कर आत्मध्यान करो। ये जितने भी बाह्य समागम हैं वे कोई भी साथ जाने वाले नहीं हैं, दुनियामें कोई भी शरण नहीं है; इस दुनियामें मेरा कोई भी नहीं है, ये विभाव स्वयं अशरण है, ये न मेरे शरण हैं, न हित रूप हैं। इस तरहकी भावना अपने मनमें आवे। दुनियामें यदि कोई मेरा साथी है तो प्रसिद्ध सहजसिद्ध धर्म है। किसी तरह यह परिज्ञान करके निजस्वरूपमय धर्मका ज्ञान, श्रद्धान करके उसकी स्थिरतासे धर्मकी प्राप्ति करो। धर्ममें अटल श्रद्धा, भक्ति रखो, ज्ञान प्राप्ति करो। इन बातोंसे फिर सहज ही सम्यग्दर्शन होगा और तुम्हारी आत्मा को शांति मिलेगी। कहीं धन कमानेसे ही नहीं मिलेगा, पुण्यके उदय होनेपर धनकी उत्पत्ति होती है। आप कितना ही परिश्रम करो किन्तु धन उतना ही पैदा हो सकेगा जितना कि मिलना चाहिये; और धर्म करनेपर अटूट धनकी प्राप्ति होगी। यदि आप यह कहें कि मैं कमाता हूँ और सारे परिवारका पालन करता हूं तो कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आपका धन जिनके कामोंमें आता है आप उनकी मुनीमी अथवा चौकीदारी करते हैं। विकल्पके व इसके अलावा आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं; आप सच्ची श्रद्धा धर्ममें करो, पुण्यके प्रभावसे आपको लौकिक तो अटूट धन मिलेगा ही, अन्तमें अनुपम सहज आनन्द भी प्राप्त होगा।

इष्ट समागम भी परिणाम विशुद्धिका उपचरित फल है:—एक बार ब्रह्मा तकदीर बांट रहा था। एक लड़केकी तकदीरमें लिख रहा था एक काला घोड़ा और पांच रुपये। इतनेमें वहांसे एक साधु जी निकले, उन्होंने ब्रह्मासे पूछा, क्या कर रहे हो ? तब ब्रह्मा बोले

तकदीर बना रहा हूँ, इस लड़केको करोड़पतिके घर भेज रहा हूं लेकिन इसकी तकदीरमें एक काला घोड़ा और ५ रुपये लिख रहा हूं जो कि हमेशा इसके पास रहेंगे। तब साधु बोला—इसके साथ ऐसा अन्याय मत करो, इसकी तकदीर ऐसी मत बनाओ। लेकिन ब्रह्मा ने एक न सुनी। तब साधु बोला आप भी तकदीर बनाओ मैं भी इसका उपाय आप ही बताऊंगा। इतना कहके चला गया। १२ वर्ष तक साधु बाहर घूमता रहा। इधर बालक १२ वर्षका हुआ तो उसकी सारी जायदाद नष्ट होने लगी और कुछ ही दिनोंमें सब बिक जानेके पश्चात् उसके पास वह काला घोड़ा और ५ रुपये शेष रहे। इतनेमें साधु जी उस लड़केके पास आये और बोले—मैं तुम्हें जैसे कहूँ तुम वैसा करो। लड़केने साधुसे कहा, आप जो आज्ञा दें वही करूंगा। साधुने कहा कि घोड़ेको बाजारमें बेच आओ और इससे जो दाम आवें उनमें ये ५ रुपये मिलाकर अच्छा भोजन लाओ और वह बांट दो। लड़केने ऐसा ही किया। तब ब्रह्माने उस लड़केको दूसरा घोड़ा और ५ रुपये दूसरे दिन भेज दिये, किन्तु साधुने दूसरे दिन फिर ऐसा ही कराया। इस तरह जब २०-२५ दिन व्यतीत हुवे और ब्रह्मा परेशान हो गया तो वह साधुके पास आकर बोला, तुम क्या करवाते हो ? तो साधु बोला, मैंने आपसे पहले ही कहा था कि आप उसकी तकदीरमें ऐसा मत लिखो। ब्रह्मा बोला—जैसा तुम कहोगे वैसा ही कर दूंगा, तो साधुने कहा कि इसे वही करोड़पति बना दीजिये ! ब्रह्माने वैसा ही किया।

कहनेका उद्देश्य है कि आपका जितना पुण्य प्रताप होगा आपको उसके अनुसार ही धन सम्पत्ति ऐश्वर्य आदि मिलेंगे। तब क्या करना ? दुनिया कहीं भी जावे लेकिन तुम अपना एक उद्देश्य बना लो कि हमें तो अपनी निर्विकल्प स्थिति बनाना है, आत्माकी शुद्धि करना है, उसीमें हमारा कल्याण है, क्योंकि विकल्पोंके अतिरिक्त दुःख और कोई नहीं है। भैया ! सुबुद्धिके बाधक प्रबल-प्रबल कारण, प्रायः लोगोंके लगे हैं, एक तो संगति अच्छी नहीं है, संगति है तो मोही, मायावी, अभिमानी लोगोंकी। और दूसरे ज्ञानाभ्यासकी ओर उतना उपयोग नहीं। यदि जीवोंको ये दोनों बातें डटकर, ये २ सत्साधन मिल जावें तो जल्दी यह आत्मा अपने ब्रह्म नामको सार्थक कर लेगा।

**ब्रह्म नाम बढ़नेका है, जो अपने गुणोंसे बढ़े उसे ब्रह्म कहते हैं**—स्वगुणैर्वृं तीति ब्रह्म। उन्नतिके सत्साधन ये हैं—पहला सत्संगति और दूसरा ज्ञानाभ्यास, परन्तु जगत तो प्रायः मोही है और अज्ञानियोंसे भरा है। भरा रहने दो। जो मुमुक्षु हैं वे तो ज्ञानियोंकी गोष्ठीमें रहें और ज्ञानाभ्यासका यत्न करें। आजकल लोग धर्म करना नहीं चाहते हैं। सभी सांसारिक कार्योंमें ही आनंदित हैं, उन्हें यहांसे फुरसत ही नहीं है कि वे स्वर्ग और मोक्षकी ओर जाने का प्रयत्न करें याने वे स्वर्ग जाना नहीं चाहते। एक कथा है उससे तथ्य, अतथ्य पर न

जावें, मतलब पर जावें।

एक बार नारद घूमने निकले तो सबसे पहले वे नरकमें पहुंचे, किन्तु वहां पर उन्हें खड़े होने तककी जगह नहीं मिली, तब वे वहांसे चलकर स्वर्गमें गये, वहां पर विष्णुके सिवाय कोई भी नहीं था। सारा स्वर्ग खाली था। तब नारद बोले कि भिक्षु तुम बहुत पक्षपाती हो, देखो कहीं तो तुमने इतने आदमी भेज दिये कि मुझे खड़े होनेको जगह नहीं मिली और कहीं पर तुमने एक भी आदमी नहीं भेजा। तब विष्णु बोले—भाई हम तो आदमियोंको स्वर्गमें लाना चाहते हैं किन्तु कोई आना नहीं चाहता, हम क्या करें? नारद बोले—आप हमें आज्ञा प्रदान करो हम आपके स्वर्गको भर देवेंगे। विष्णुने कहा ठीक है। तब नारद मध्यलोकमें आये। एक वृद्ध लकड़ी टेकता जा रहा था। उससे बोले भाई तुम स्वर्गमें चलोगे हम तुम्हें स्वर्गमें ले चलेंगे। तब वह वृद्ध गुस्सा होकर बोला कि हमीं तुम्हें मारनेके लिये मिले, जाओ हम नहीं जाना चाहते। इस तरह नारद युवकसे लेकर बच्चों तक हो आये लेकिन स्वर्ग जानेको कोई तैयार नहीं हुआ।

तब एक १८ वर्षका बालक तिलक लगाये मंदिरमें माला फेर रहा था, सोचा यह तो अवश्य चल सकेगा। नारदने उससे भी कहा तो बोला मैं तैयार हूँ स्वर्ग चलनेको, अभी हमारी सगाई हुई है शादी हो जाने दो। फिर आया वहां दो वर्ष बाद जब तक उसके बच्चा हो गया। नारद बोले चलो। गृहस्थने कहा बच्चा बड़ा होने दो। आखिर वह बूढ़ा हो गया। नारद फिर आया, तो कहा—हमने बड़े परिश्रमसे इतना धन कमाया और ये पुत्र कपूत निकले सो धनकी रक्षा करता हूँ। आप मेरे मरनेके बाद परभवमें आना। वह मरकर जहां उसका धन गढ़ा था सांप हो गया। नारद फिर भी आया तो फन उठा कर संकेत किया, कपूत धन बरबाद कर देंगे सो हम तो अब रक्षा कर रहे हैं फुरसत नहीं। तब नारद स्वर्गमें जाकर बोले कि आपने ठीक कहा है कि स्वर्गमें कोई आना नहीं चाहता। भैया! आप लोग अपने परिणामोंको निर्मल बनाकर अपना स्वर्ग यहीं बना लो। स्वर्ग तो लोगोंने ऊँचा चढ़ा रखा है, सुख तो ज्ञान व संयममें है। ज्ञान और सत्संगतिसे आत्मा का कल्याण होगा, इसलिये हमेशा ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहो।

समय प्राभृत प्रवचन—अथ सूत्रावतारः—अब सूत्रका अवतरण होता है। यहां सूत्रसे मतलब भगवान कुंदकुंद विरचित समय प्राभृतकी गाथाओंसे है। ये गाथायें सूत्ररूप हैं। क्योंकि थोड़े ही अक्षरोंसे असंदिग्ध और बहुत अर्थ निकलता तथा इन गाथाओंमें से कई गाथायें श्री श्रुतकेवली गौतम गणधर आदि सभी के मुखसे निर्गत द्वादशांगकी गर्भा हैं। भगवत्कुंदकुंददेवने इन गाथाओंको भी पूज्य होने से बीच बीचमें रक्खी हैं। ये समस्त गाथायें परमोपास्य हैं, अतः इनका अवतार होता है। महाविनयसे श्रीमत्पूज्य अमृतचंद्रजी

सूरि कहते हैं—वह सूत्र इस प्रकार है:

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुमिणमो सुदकेवली भणिदम् ॥१॥

पूज्य आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते है, ध्रुव अचल और अनुपम गतिको प्राप्त जो सिद्ध भगवान हैं उनको नमस्कार करके इस समयसारको कहूँगा। कोई प्रश्न करता है, सोचता है कि आचार्य जी ने अभी ग्रन्थ तो बनाया नहीं है, किन्तु वे कहते हैं कि इस समयसारको कहूँगा, तो वह कौनसा समयसार है ? उत्तर है कि उसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है जो वे कहना चाहते हैं।

इस ग्रन्थके कर्ता इस कालके अलौकिक महर्षि थे। आचार्य श्री कुंदकुंद जी का बाल्य जीवन धर्मसे कितना ओतप्रोत था कि वे ११ वर्षकी आयुमें ही मुनि हो गये थे। अब आप विचारो कि बालकका वह रूप उस समय कितना सुहावना लगता होगा ? भगवान कुंदकुंद जब छोटी अवस्थामें थे तब उनकी माता उन्हें झूलेमें झुलाती हुई लोरियां गाती थीं, उनमें कहती थीं कि—शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां श्री कुन्दकुन्दजननीदमूचे ॥ हे कुन्दकुन्द ! तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, और तू निरंजन है। जो माता अपने पुत्रको ये आशीर्वाद देवे उसके ज्ञानका क्या ठिकाना है ? कुन्दकुन्द जी की माता सभी जानती थी तभी वह कहती हैं कि हे बेटा, तू शुद्ध, बुद्ध निरंजन है। उन्हें द्रव्यदृष्टिकी परख थी। वे श्री कुन्दकुन्द शिशुसे जिस वाच्यसे सम्बोधन कर रही हैं उसे सहजदृष्टिसे देख रही हैं। वे जानती थीं कि यह आत्मा मेरी ही भांति पर्यायसे मलिन है। यदि बालक पर्यायसे शुद्ध है तो फिर उपदेश ही क्यों ? और यदि द्रव्यसे अशुद्ध है तो भी उपदेश क्यों ? हे बालक ! तू द्रव्यसे शुद्ध, परसे भिन्न और अपने स्वभावमें तन्मय है, बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। सर्वकर्ममलरूप अंजनसे रहित है। यदि स्वभाव निरंजन न हो तो निरंजन पर्याय भी नहीं हो सकेगी।

देखो भैया ! माता किस दृष्टिसे पुत्रको निहार रही है ? अपने पुत्रका जो सच्चा हितू होगा वही अपने पुत्रको इस प्रकारका उपदेश देगा। आज आप हमें बता दीजिये कि कौनसे माता पिता अपने पुत्रोंका असली हित चाहते है। आजके माता पिता तो उन्हें संसार के माया मोहमें फंसाना चाहते है। यह कोई नहीं कहते कि तू अपने स्वरूपको, अपनी आत्माके भावको सम्हाल, तू संसारसे अलग है।

जीवके साथ क्या बंधा है ? केवल विकल्प ही किया जा रहा है—आप ही बता दो कि आप अभी मन्दिरमें आये हो किन्तु यहांपर क्या दूकान साथमें चिपकी है, या घर साथ में चिपका है ? नहीं, किन्तु अपने आप इन्हें अपनेसे चिपकाना चाहते हो। कुन्दकुन्द तू इस

स्वामीकी माता कुन्दकुन्द जी से कह रही हैं कि हे कुन्दकुन्द ! तू इस संसारकी मायासे अलग है, तू इस संसारकी मायासे अलग है, तू इस संसारकी मोह मायाको छोड़ दे, क्योंकि जब तक इस संसारकी मोहनिद्रामें फंसे हो और स्वयं देख रहे हो तभी तक यह सब कुछ है। स्वप्नमें प्राणी देखता है और कहता है—यह मेरा है, किन्तु स्वप्नके नाश होनेपर तुम्हारा कुछ भी नहीं है। इसलिये, संसार-स्वप्नं त्यज मोहनिद्रा संसाररूपी स्वप्नकी मोह-निद्राको छोड़ो उसीमें कल्याण हैं। एक कथा है—एक ब्राह्मण था उसे रात्रिमें स्वप्न आया कि राजा मुझपर प्रसन्न हो गया है और उसने मुझे अच्छी २ सौ गायें इनाममें दी हैं। इतनेमें ही एक सौदागर आ गया और उसने कहा मुझे १० गायें चाहियें सो इनकी कीमत बताओ, वह ब्राह्मण बोला १००) एक गायकी कीमत है, सौदागरने कहा २५) रुपये, इस तरह कमते बढ़ते ब्राह्मण ७०) रुपयेसे कम नहीं हुआ और सौदागर ५०) से अधिक देने को तैयार नहीं हुआ, यह सारी क्रियायें स्वप्नमें ही हो गईं। इतनेमें ही जोरकी तानातानी गरम बहस हुई और उस ब्राह्मणकी आंख खुल गई। आंख खुलनेपर उसे वहाँ कुछ भी दिखाई नहीं दिया। तब वह जल्दीसे आंखें बन्द करके बोला—अच्छा भाई लाओ ५०), ५०) ही सही। तो क्या इस प्रकार आँख बंद करनेसे कुछ मिल सकता है ? यथार्थमें देखो तो यह कुछ भी नहीं है किन्तु सब सांसारिक विकल्प हैं। यदि सही आत्मकल्याण करना है तो ध्रुव निज आत्माका ध्यान करो।

शास्त्रोंमें कथन है कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अपनी आत्मामें इतने लीन हो गये कि उन्हें सारा अध्यात्मशास्त्र आने लगा। एक बार जब वे सीमंधर स्वामीका ध्यान कर रहे थे तो वे ध्यानमें इतने लीन हो गये कि उन्हें अपनी कुछ भी सुध न रही। केवल सीमन्धर देवाय नमःके स्वर हुये, उधर सीमन्धर स्वामीके समोशरणमें बैठे हुये लोगोंने आशीर्वाद सुना। सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये। देवको जब यह मालूम हुआ कि पंचम कालके उत्कृष्ट आचार्य कुन्दकुन्द भगवान श्री सीमन्धर जीका ध्यान कर रहे हैं तो यह आचार्य कुन्दकुन्द जी के पास आकर कहने लगा कि स्वामी मैं आपको भगवान सीमन्धर स्वामीके समोशरण में ले चलूं और देव आचार्यश्री को समोशरणमें ले गया। वहाँके मनुष्योंकी ऊँचाई ५०० धनुषप्रमाण थी। चक्रवर्ती आचार्य कुन्कुन्द स्वामीको अपनी हथेलीपर रखकर समोशरणमें गया और वहाँ पूछा कि हे प्रभो ! यह कौनसा प्राणी है ? बादमें ज्ञात हुआ कि यह तो बहुत बड़े आचार्य हैं। इसके बाद आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी ने ८ दिन उपवासादि करके भगवानके दर्शन व ध्वनिसे अपनी आत्माको शुद्ध किया और बादमें इस ग्रन्थराजकी रचना की। किन्तु खेद है कि ऐसे महान् ऋषि द्वारा प्रणीत यह महान् ग्रन्थ जिसका शुद्ध मनसे

स्मरण करनेपर जीवका कल्याण होता है उस ग्रन्थको सुननेकी प्रायः इच्छा नहीं है और न अवकाश है। आप लोग तो रात-दिन लक्ष्मीकी आराधनामें लगे हो, उसीके गुलाम बने हो, यह ध्यान नहीं है कि मेरा हित हो रहा है या अहित। इस ग्रन्थका मङ्गलाचरण है उसके प्रथम चरणद्वयमें नमस्कार किया है। और द्वितीय चरणद्वयमें उद्देश्य विधेय बताया है।

वंदित्तुसव्वसिद्धे ध्रुवममलमणोवमंगदिंपत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥

आचार्यश्री ने सर्वसिद्धोंको नमस्कार किया है। एक तो अनादिसिद्ध, और दूसरे कर्मक्षय सिद्ध। कर्मक्षयसिद्ध लोकके अग्रभागमें स्थित हैं। अनादि सिद्ध सभी आत्मा हैं। परन्तु अनादि सिद्धताका भोग नहीं होता। हाँ, अनादि सिद्ध शुद्ध आत्मतत्त्वका लक्ष्य व आश्रयरूप अवलम्बन उत्तम सुभोग है। तुम भी अपनी आत्माको देखो जो सहज है, अनादि मुक्त है। तुम भी द्रव्यदृष्टिसे अनादिमुक्त हो किन्तु अपनेको सर्वथा-सर्वथा मुक्त समझ लेना, नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। अनादिमुक्तके अवलम्बनसे कैवल्य प्रकट होवेगा। प्रभुमुक्ति कन्याके वरणकी अपूर्व बात सुना रहे हैं, जिसमें सिद्धोंको नमस्कार किया है।

कहीं किसीकी बारात जाती हो और उसे यह मालूम पड़ जावे कि लड़की वाला बहुत परेशान करेगा तो वह बाराती छांट-छांटकर चुनेगा, कुछ तो ऐसे कि यदि हाथापाईका अवसर आवे तो ये काम आवें और बुद्धिके लिये बुड्ढोंकी आवश्यकता पड़ने पर बुड्ढे; इस तरह वह हर तरहके आदमी छांटकर ले जाता है और अधिकसे अधिक ले जाता है। तो आप विचारो कि जो साक्षात् मुक्तिरूपी कन्यासे वरण करने व उसकी चर्चा करने जा रहा हो तो उसे कैसे बराती चाहियें? उसके लिये आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है सब सिद्ध।

**सिद्धप्रभु द्रव्य और पर्याय दोनोंसे निर्मल हैं:**—द्रव्यकी निर्मलता ध्येय है तो पर्याय की निर्मलता ध्यान करना है। जीवके हितकी चरम अवस्था सिद्ध पर्याय है, सो सब सिद्धों को नमस्कार किया है अथवा श्री आचार्य कुन्दकुन्ददेवने ऐसा शब्द कहा है कि जो दोनों जगहमें घटित होता है। अर्थात् द्रव्य, ध्रुव, अचल अनुपम स्वरूपको प्राप्त है और सिद्ध पर्याय ध्रुव अचल अनुपम अवस्थाको प्राप्त है सो सिद्धत्व पर्यायमें घटित होता है व द्रव्यमें भी घटित होता है। आगे वे कहते हैं, कैसे हैं वे सिद्ध, जिन्होंने ध्रुव अचल और अनुपमगति को पाई है; ऐसे सर्वसिद्धोंको नमस्कार है। सिद्ध अवस्था ध्रुव है, अनंतानंत काल तक यही रहेगी तथा अचल है, अपने प्रवाहमें कभी भी चलितता नहीं होगी।

कुछ जनोंका ऐसा भ्रम है कि भगवानकी आराधना करनेपर हम मुक्त हो जाते हैं

और भगवान जब कभी अंगड़ा वगैरा लेता है तो फिर हम सब नीचे गिर पड़ते हैं। किन्तु जैन सिद्धान्त याने वास्तविकतामें ऐसा नहीं है। जीवको अपने भलेके लिये ऐसे स्थानपर पहुँचना है जहाँ पर कुछ भी क्षोभ न हो। द्रव्यदृष्टिसे स्वयंको देखो, अहो यह तो चैतन्यमात्र है, मैं न मनुष्य हूँ, न अग्रवाल परिवार आदि हूँ, न गृहस्थ हूं, न त्यागी हूँ। बड़े-बड़े मुनिराज भी अपनेमें 'मुनि हूं' ऐसी श्रद्धा नहीं करते थे। मैं चित्स्वरूप हूं यही देखते थे। पर्यायमें अहंबुद्धि होना मिथ्यात्वमय अंधकार है। अहंकार एक भूत है जो हमें स्वपदसे हटाकर एक गड्ढेमें डाल देता है। इसलिये गड्ढेसे बचनेके लिये उपदेश है कि तुम अपनेको मुनि होते हुये भी मुनि मत कहो, अपनेको चैतन्यस्वरूप जानो। व्यवहारके समय व्यवहार करो। यदि तुम अपनी आत्माका कल्याण चाहते हो तो, इस निष्पाप आत्माका स्वरूप देखना है तो, आत्म-ध्यान करो और संसारकी सत्यता कायम रखनी है तो विकल्पोंमें फंसे रहो।

दुनियामें जितने भी सिद्ध हुये हैं उन सबने अपनी आत्माके दर्शन किये हैं, पश्चात् आत्मामें लीन होकर पर्यायसिद्ध हुये हैं। हे प्रभो! आपकी महिमा कहां तक गावें? आप तो अनुपम सिद्ध गतिको प्राप्त हुये हो, अन्य आपकी अवस्थाको छोड़ कोई गति ऐसी नहीं है जिससे आपकी उपमा दी जा सके, आपको हमारी वन्दना है। वन्दना करना सफल तभी होगा जब हमारी भावना उत्कट और दृढ़ हो जावे। भगवान कुंदकुंद जी की एक ही भावना थी कि सिद्ध गति पानेकी। चाहे वह कभी मिले, किन्तु मनुष्यको अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना चाहिये। आपके व्याख्याकार आचार्य श्री सूरि जी एक कुशल वकीलके सदृश थे। उन्होंने श्रीमत्कुंदकुंददेवके हृदयको युक्ति आदिसे खोलकर रख दिया है। उनकी चतुराई आपको आगे स्वयं ज्ञात होगी। इस समयसारमें कुछ गाथायें ऐसी हैं जिन्हें श्री श्रुतकेवली और गौतमगणधर अपने भावसे उच्चारण किया करते थे। आचार्य कुंदकुंददेवने यहांपर उस चैतन्यको नमस्कार किया है जो यहांपर हम और आप बैठे हैं।

आप ध्रुव हैं एकस्वरूप हैं किन्तु आपकी भावनासे वह ध्रुव और एक स्वरूप सामान्यसे दिखेगा। श्री सूरि जी कहते हैं कि उस विशिष्ट आत्माको नमस्कार करके मैं उस समयप्राभृतको कहूंगा। यहां जो 'अब' कहकर समयका प्रयोग किया गया इससे ज्ञात होता है कोई शुभ संदेश। क्योंकि 'अब' शब्द ऐसे स्थानपर आता है जहां सारा झगड़ा निपट गया हो और थोड़ासा बाकी हो, तो वहांपर प्रायः लोग कहते हैं अब तुम संधि कर लो आदि। इससे ज्ञात होता है कि 'अब' शब्द मंगलसूचक है। इससे आचार्य सूरि जी की सफलताका दिग्दर्शन होता है।

भगवान सिद्धकी अवस्था अनंतानंत समय तक नहीं मिटेगी। किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो प्रतिसमय उनकी नई-नई पर्यायें होती हैं। परन्तु हैं वे सब पूर्णसदृश। आपकी

गति ध्रुव है और ज्ञानमय है, किन्तु आप उसपर अत्याचार कर रहे हैं। वैसे तो सिद्धपर्याय एकसी है सो ध्रुव है और आप भी तो एक ही हैं सो ध्रुव हैं, किन्तु उस निज ध्रुवस्वरूप का ज्ञान न होनेसे यह अन्धेर हो गया है।

**अपने ध्रुव स्वरूपको पहिचानो यही ध्रुवकी वंदनाका उद्देश्य है**—श्रीमत्परमपूज्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि सर्वसिद्धोंको नमस्कार करके मैं इस समयप्राभृतको कहूँगा। कैसे हैं वे सिद्ध भगवान ? ध्रुव गतिको प्राप्त हुये हैं। ध्रुवगति स्वभावभावभूत है। जीवके भाव पाँच होते हैं। वे भाव निम्न प्रकार हैं—

१–औपशमिक, २–क्षायोपशमिक, ३–क्षायिक, ४–औदयिक, ५–पारिणामिक। जो कर्मोंके उपशमसे होवे वह औपशमिक भाव है, जो कर्मोंके उपशम, उदयाभावीक्षय व उदयसे होवे सो क्षायोपशमिक है और जो कर्मोंके क्षयसे होवे उसे कहते हैं क्षायिक। जो कर्मो के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखकर हो सो पारिणामिक। यद्यपि सिद्ध अवस्था कर्मोके क्षयसे होती है तथापि वह सद्भावरूप निमित्तसे नहीं है किन्तु कर्मोंके वियोगरूप (अभावरूप) निमित्तसे है अर्थात् कर्मोंके क्षयको निमित्तमात्र करके है। इसमें भी यह क्षयरूप निमित्त सिद्ध अवस्थाके प्रथम समयमें है, अनन्तर समयमें यह क्षयरूप वियोगरूप निमित्त नहीं है। अब जब कोई निमित्त नहीं है तब दशा विषम नहीं होती है किन्तु स्वभावके अनुरूप होती है। सिद्ध प्रभुकी गति इसी तरह स्वभाव भावरूप है। इसी कारण सिद्धगति ध्रुवपनेको प्राप्त हुई है।

इस सिद्ध अवस्थाका कारण उक्त भावोंमेंसे कौनसे भाव हैं, इस पर भी विचार करो। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भाव अध्रुव हैं या क्षायिक भाव तो फल रूप हैं, औदयिक भाव अध्रुव अतिमलिन हैं। पारिणामिकमें भव्यत्व विशिष्ट होता है। अभव्यत्व मलिन है, जीवत्वमें प्राणरूप जीवत्व अध्रुव है, शुद्ध जीवत्व अपरिणामी तत्त्व अनादिसे अनन्त काल तक रहता है। सो ये कोई कारण न बने, किन्तु ध्रुव शुद्ध जीवतत्त्वकी दृष्टि व अवलंबनरूप औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक की सन्धि कारण है।

सिद्धकी अवस्था ध्रुव है, स्वभाव रूप है, और अनन्त सुखी है, क्योंकि वह बाह्य पदार्थोंके व्यावहारिक बन्धनसे भी निवृत्त होकर स्वतन्त्र हो चुकी है। सुख इन बाह्य पदार्थों में नहीं है। यदि कोई कहता है कि इन्हीं बाह्य पदार्थोंमें सुख है तो हमें बताओ किसमें सुख है ? यदि तुम कहो कि रुपयेमें सुख है तो बताओ कितने रुपयेमें सुख है ? तुम कहते हो कि अरब रुपयोंमें सुख है तो किसी अरबपतिके पास जाकर पूछो या जानो कि क्या उसे इतने में संतोष है ? क्या इससे ज्यादा पानेकी अभिलाषा नहीं है ? क्या यह नहीं चाहता

कि मेरे पास इससे भी अधिक हो जावे ? क्या आकुलित एवं निदानके चक्करमें नहीं है ? कोई कहे चक्रवर्ती होनेमें सुख है तो चक्रवर्तियोंने भी हमेशा इसमें रहना पसन्द नहीं किया है। उन्होंने भी इस पदको छोड़कर संन्यास लिया है। अध्रुव दृष्टि हित नहीं है। सुख तो आत्माका स्वभाव है, और वह उसीमें रहता है। किन्तु आज तक लोगोंने आत्माको बाह्य वस्तुओंके सम्पर्कसे रागद्वेषादिके सम्बन्धसे मलिन बना रखा है जिससे सांसारिक विकल्पोंके कारण यह आत्मा दुःखका अनुभव करता है। देखो तो हम ही सुख हैं और हम ही ज्ञान हैं और ऐसी भूलभूले रहे या रहते हैं कि मानो खुदमें ये हैं ही नहीं जिन इनको चाह रहे हो। आत्मा अपने स्वरूपसे ही सत् है व परके स्वरूपसे असत् है, परवस्तुमें आपका न सुख है, न ज्ञान है, प्रत्युत् परकी दृष्टि आपके सुखमें भी बाधक है और ज्ञानमें भी बाधक है। उचित तो यह ही है कि समस्त परकी दृष्टि छोड़कर विश्रामसे निजज्ञायक स्वभावमें स्थिर होओ। फिर भी अभी हमारा मतलब यह नहीं है कि आप अपने पुत्रादिक व अपने परिवार का पालन न करें क्योंकि जबर्दस्ती छोड़ोगे तो भी विकल्प रह सकता है। अरे आप अपने परिवारका चाहे पालन करो किन्तु इसके साथ ही साथ यह ज्ञान भी रखो कि आत्माका स्वरूप क्या है ? ज्ञानके बिना आत्माका उद्धार नहीं होता। परिवार आनंदके साधनमें बाधक है। वह आनंदके सुखके योगमें साधक नहीं हो सकता है। किन्तु आजकल लोग-बागोंने परिवारको ही सुखका साधन समझ लिया है। यह मिथ्या विकल्प जब तक रहेगा तब तक आत्मामें सत्ज्ञानका विकास नहीं होता है।

**बाधक को साधक मान लेना ही तो मिथ्या अभिप्राय है**—देखो तो भैया ! बाधक को ही साधक मान लिया, अब और कौनसी औषधि दी जावे ? अब तो बस उसकी भेद-विज्ञान ही औषधि है। भेदविज्ञानके बिना और अभिन्न अनुपम विभूतिके परिचय बिना ही यह कर्म केवल कर्मके गुण गाया करता है। जैसे एक बालकके माता पिता छोटेमें ही मर जाते हैं, वह धनीका लड़का है, इसलिये सरकार उसकी ४०, ५० लाखकी जायदादको अपने यहाँ कोर्ट (जमा) कर लेती है क्योंकि अभी वह नाबालिग है। और सरकार उसे दो सौ रुपया मासिक खर्चके लिये देती है। तो वह लड़का अपने मनमें सोचता है कि यह सरकार तो बहुत अच्छी है, जो मुझे २००) रुपये माहवार देती है और वह सरकारको अनेक धन्य-वाद देता है किन्तु कोई पुरुष उस लड़केको बताता है कि तेरी बहुतसी जायदाद सरकारके पास जमा है जिसके बदले में वह तुझे सिर्फ २००) रुपया मासिक देती है, तो इतना ज्ञान होते ही उस बालककी श्रद्धा सरकारके प्रतिसे उठ जाती है और वह उसपर दावा करनेको तैयार हो जाता है। आत्माका स्वाभाविक आनंद अपार है इसकी कोई सीमा नहीं है, किन्तु कर्मरूपी सरकारने इसकी नाबालिगीके कारण उस अपार वैभवको कोर्ट कर लिया है और

उसके एवजमें कुछ ये ही धन संतानके सुख मिल रहे हैं जिनसे आप ऊवते भी जा रहे हो। किन्तु जब इस आत्माको किसी सद्गुरु आचार्यके उपदेशसे यह अवगत हो जाता है कि मेरी तो अपार सम्पत्ति है परन्तु कर्मरूपी सरकार अधिकार जमाये हुये है। यह निमित्तदृष्टिसे समझना। बस इतना ज्ञान होते ही यह आत्मा उस अशान्तरूपी पुण्य सरकारके ऊपर दावा करता है कि अब तो मैं बालिग यानी (सम्यग्दृष्टि) हू और अब मैं ही अपनी सम्पत्ति का अधिकारी हूं, यह तो हमारी वस्तु है। कर्मोके उदयसे प्राप्त जो वस्तु है जब उसे न देखोगे, न चाहोगे तभी आत्मा सुखी होगा। कर्मपर दावा ऐसा ही होता है कि न पुण्य चाहो और न परमाणुमात्र कुछ भी परपदार्थ, आपकी सम्पत्ति आपके हाथ होगी। सिद्धका आनन्द जो है वह सहज आनन्द है। आनंद जितने भी हैं वे सभी आत्मासे प्रकट होते हैं। आनन्द आकुलताका अभाव है और कोई अन्य वस्तु नहीं है। जहाँ आकुलता खतम हुई वहाँ सुख है। आकुलता इच्छासे पैदा होती है और इच्छाओंका चक्कर ऐसा है कि एक इच्छा खतम हुई और दूसरी तैयार हुई। आपको इच्छा हुई कि हमें शिखरजी जाना है, बस आपको यह आकुलता हो गई और जब आप शिखरजी पहुँच जाते हैं तो यहाँ आपको सुख आनंदका अनुभव होता है तो शिखरजी जानेका आपको सुख नहीं है किन्तु वह आकुलता जो पहले थी उसका नाश होनेपर आपको सुखका अनुभव हुआ है। पूर्वकी आकुलता ही सुखमें बाधक थी। अब तो जो नई आकुलता की है वह मात्र ही उतनी बाधक है।

**सुखमें बाधक दो चीजें हैं पहली अज्ञान और दूसरी इच्छा**—अज्ञान और इच्छाओंके रहते हुये आप कभी पूर्ण सुखी नहीं हो सकते है। इसलिये सुखार्थी मनुष्यका कर्तव्य है कि वह इन दोनोंका नाश करे। शिखरजीके दृष्टांतमें इतनी विशेषता है कि वह मंदकषायकी आकुलता है। सिद्ध भगवान अनन्त सुखी हैं, क्योंकि उनके अज्ञान और इच्छायें नष्ट हो गई हैं। उनके केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, केवलज्ञानकी प्राप्तिसे अज्ञान दूर भाग गया है। इच्छाका अभाव होनेसे समस्त दुःख नष्ट हो गये। जहाँ इच्छाओंका अभाव होगा वहाँ विशद ज्ञान बढ़ेगा और सुख भी होगा। ज्ञानके अभावमें दुःख होता है। जैसे सामने बैठे बालकसे पूछा—पांच गुणित उसने झटसे दिया उत्तर २५; और यदि इसी बालकको याद न होता तो आप इसके चेहरेपर देखते कितनी मलिनता आ जाती। वह क्यों? अज्ञानके कारण। और देख लिया न इसने बड़े खुश होकर उत्तर दिया; यह काहेकी खुशी है? ज्ञान की। कुछ खाने पीनेको तो नहीं दिया। मात्र ज्ञानसे ही यह खुश हो गया। मुनीम लोग दिन भर अपनी रोकड़ लिखते हैं और रात्रिमें जब उस रोकड़को मिलाते हैं अगर उसमें से एक पैसा भी कहीं गड़बड़ हो जाती है तो वह कितना परेशान होता है, वह क्यों? यहाँपर पैसेका लोभ नहीं है किन्तु अज्ञान है कि पैसा कहां गया। और जब उसे अपनी भूल याद

आ जाती है कि जोड़में एक पैसा कम है तब वह दुःखी नहीं रहता है। भैया! मनुष्यभव बड़ा दुर्लभ है, पाया है तो इसे व्यर्थ न खोना, अपना काम निकाल लेना।

भगवान सिद्ध प्रभुमें आनंद ध्रुव है, सुख स्वाभाविक है। आप भी जरा अपने सिद्ध को देखो। सिद्ध दो प्रकारसे हैं--अनादिमुक्त सिद्ध, और कर्ममुक्त सिद्ध। तुम भी द्रव्यदृष्टिसे अनादि सिद्ध हो, किन्तु वहाँपर अनादि सिद्धताका भोग नहीं होता है। जब तक आप कर्म-मुक्त सिद्ध नहीं होंगे तब तक आप आनंदको प्राप्त नहीं कर सकते। आपका अनादि सिद्ध जो आपमें बैठा है वह द्रव्यदृष्टिसे है। यदि आप वास्तविक आनंद चाहते हैं तो सर्व विकल्पों को छोड़ अपनी आत्माका ध्यान करो। अपने ध्रुव प्रभुको देखो, आप त्रिकालमें भी परद्रव्य परवस्तुरूप नहीं हो सकते और न परवस्तु त्रिकालमें भी आपके रूप हो सकती है। इस आत्माका कल्याण करना है तो अपने चैतन्य स्वभाव को देखो और बाह्य वस्तुओंमें कुछ भी नहीं है, ऐसा विचार करो। अभी जो पाँच भाव कहे थे उनमें विचार करो कि किससे मेरा कल्याण होगा ? औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक इनकी दृष्टिसे तो आपका कल्याण हो नहीं सकता क्योंकि ये भाव अध्रुव हैं। अब पारिणामिक भाव बाकी है सो उसके भी तीन भेद हैं--भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व। इनमें अन्तके भावोंकी दृष्टिसे कल्याण हो सकता है।

वह जो बाकी जीवत्व है सो उसके भी दो भेद हैं—शुद्ध जीवत्व भाव और अशुद्ध जीवत्व भाव। सो अशुद्ध जीवत्व भावसे मोक्ष होता नहीं और शुद्ध जीवत्व भाव सामान्य एक अपरिणामी होता है वह स्वयं मोक्ष नहीं करता, किन्तु उसकी दृष्टिसे मोक्ष होता है। इसलिये जो अपने आप ध्रुव है उसकी दृष्टि करो, अध्रुवकी दृष्टि मत करो। दुनियांमें पक्ष-पातसे बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं। यह मेरा है, मैं इसका हूँ, यह मेरा मित्र है, वह मेरा दुश्मन है, यह वस्तु ठीक है और यह बेकार है--इस तरहका जो पक्षपात है इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है, इसलिये यह मेरा आदि ऐसे भावोंसे दूर रह कर मैं शुद्ध चेतनस्वरूप हूँ इस प्रकारके भाव रखो। इसलिये चेतनस्वरूपताका शुद्ध चिंतवन करके स्वभाव भावरूप होकर यथाशीघ्र मुक्तिको प्राप्त करेगा। जब तक हमें यह ज्ञान नहीं होगा कि हमारी आत्मा का क्या स्वभाव है, तब तक हम परम आनन्दको प्राप्त नहीं कर सकते। आत्माका बोध ज्ञानसे होगा इसलिये सबसे पहले ज्ञानप्राप्तिका लक्ष्य दृढ़ करो, बिना इसके कुछ भी नहीं हो सकता है। अज्ञानता हमारा शत्रु है इसलिये इसे मिटाओ।

**हमारे ध्यान किये जाने योग्य क्या क्या हैं**—दुनियांमें हमारे हितके लिये ध्यान करने योग्य हैं तो ये पंचपरमेष्ठी या निज आत्मतत्त्व। पंचपरमेष्ठी तो निमित्त मात्र हैं, नकेइ ध्यानसे हमें अपनी सुध आती है और स्वभावरूप बननेका उत्साह जगता है, परन्तु हैं

ये अपने से अत्यन्त भिन्न.। इनका ध्यान प्राथमिक अवस्थामें ठीक है, वस्तुतः इनके लक्ष्य रहते हुये निर्विकल्प अवस्था नहीं होती, सो सर्वोत्कृष्ट ध्यान तो आत्माका ही है यह प्रभुने बताया है। देखो आत्माका अवलम्बन, परिणमन सदा रहता है, किन्तु देव, शास्त्र, गुरुकी **आराधना भी सदा नहीं रहती।** शुद्धपर्याय की अपेक्षा शुद्धध्यान शुद्ध आत्माका है। सिद्ध सिद्धका ध्यान नहीं करते किन्तु वे अपनी निजनिर्विकल्प आत्माका परिणमन करते हैं। देव शास्त्र गुरु पर दृष्टि दो। सच्चे देव शास्त्र गुरु कौन हैं? सच्चा देव कौन है? जिसने अपनी आत्माका ध्यान कर कर्मोंका नाश कर दिया है और परमपद शिवको प्राप्त किया है, जो हितोपदेशी हैं सर्वज्ञ हैं और वीतराग हैं वही सच्चे देव है याने तत्त्वरूप परिणम गये हैं। सच्चे शास्त्रः—इन शब्दोंसे जो सुना है उस उससे जो तत्त्व समझा है वही तत्त्व सच्चा शास्त्र है और जो तत्त्वरूप होनेका यत्न कर रहे हैं वे सच्चे गुरु हैं। ये ही हमारे लिये सच्चे गुरु हैं, ये ही हमारे लिये कल्याणपथदर्शक हैं। इस लिये उन्हीं पर दृष्टि दो। यह समयसार ग्रन्थ व्याख्यान श्रीमत्परमपूज्य आचार्य अमृतचंदजी सूरि बना रहे हैं। वे ग्रन्थके आरम्भमें कहते हैं कि सब सिद्धोंको नमस्कार है जो ध्रुवपनेको अवलम्बन करने वाली गतिको प्राप्त हैं सो जो आलम्बन करना है उसमें द्वैतभाव रहता है। भगवानकी सिद्धपर्याय एकसी है, केवलज्ञान एकसा है। वे कभी भी कमते बढ़ने नहीं हैं। फिर भी सिद्ध भगवान की दशा प्रतिक्षण नवीन नवीन होती रहती है। जैसे यहां पर यह बिजली जल रही है तो क्या यह हमेशा एकसा ही काम करती है? नहीं। इसने एक सैकिण्डमें जिन चीजोंको प्रकाशमान किया दूसरे सैकिण्डमें उसने दूसरा कार्य किया। दूसरे सैकिण्डकी शक्तिसे दूसरे काम किये। जो बिजलीकी शक्तिको नहीं जानते वे भले ही ऐसा कह दें कि जो काम उसने पहले सैकिण्डमें किया वही काम दूसरे सैकिण्डमें किया, किन्तु वास्तवमें वह प्रतिक्षण अलग अलग कार्य करती है, तभी तो कितनी बिजली खर्च हुई हिसाब लग जाता है। इसी तरह सिद्ध भगवानका जो ज्ञान है उसमें हर समय नई नई पर्यायें होती रहती हैं। जो ज्ञान पहले था वही ज्ञान दूसरे समय नहीं रहता है किन्तु उसमें प्रतिक्षण नई नई पर्यायें बदलती हैं किन्तु वे जितनी भी पर्यायें बदलती हैं अथवा होती हैं वे सभी सदृश रूप होती हैं। केवलज्ञान पर्याय रूप है इसलिये वह हमेशा नवीन-नवीन होकर भी सदृश होनेसे उसे ध्रुव कहा गया है। इसी प्रकार समस्त गुणोंके परिणमनकी बात है तभी सबको अभिन्न करके सिद्ध गतिको ध्रुव गति कही है।

सिद्ध भगवान भी आत्मद्रव्य हैं। आत्मा सत्स्वरूप है। सत्का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। जो ध्रुवताको प्राप्त अवस्था है वह उत्पादव्ययको भी प्राप्त है। सिद्ध अवस्था प्रतिक्षण वैसी ही परिणमती जाती है, अतः ध्रुवत्वको अवलम्बन करने वाली गति

है। जो ध्रुवपनेको प्राप्त हो उसमें ध्रुव-विरुद्ध अन्यका वास भी है, तभी प्राप्त करना भी घटता है। इस प्रकार स्वभाव भावभूत होनेसे ध्रुवपनेकी अवलम्बन करने वाली सिद्धगति प्राप्त हुये सर्वसिद्धोंको नमस्कार हो, यह विशेषण हुआ।

**अचल गतिके अर्थ अचल स्वरूपका ध्यान करो:**—श्री सिद्ध भगवानको नमस्कार हो। कैसे हैं वे सिद्ध जो अचलगतिको प्राप्त हैं। उनकी आत्मासे रागद्वेषादि सभी दूर हो चुके हैं इसलिये वे सिद्ध भगवान अचलगतिको प्राप्त है। आपकी गति कैसी है? चल है क्योंकि उसमें राग, द्वेष, मोहादि लगे हैं, संसारकी चारों गतियां चल हैं, और जब तक राग, द्वेष, मोहादि भाव रहेंगे तब तक वे जीव अचल गतिको प्राप्त नहीं हो सकते। किन्तु यह मनुष्य अपनी चल अवस्थामें ही आनन्द मानता है और उसीमें मग्न हो रहा है। यह लेश भी ध्यान नहीं रखते कि हम जिसपर मचल रहे हैं वह कुछ दिनोंका खेल है। दूसरोंकी मौत, दूसरोंके अपमान ऐसे लगते हैं कि इन लोगोंपर हुआ ही करते हैं, अपने सम्बन्धमें ये ऐसे ही देख सकते हैं इसका तर्क ही नहीं है। प्रभु सिद्ध महाराज समस्त आपत्तियोंसे दूर है। क्योंकि उनके आपत्तिका मूल ही नहीं है। सिद्ध प्रभुका सुख और ज्ञान उनकी आत्मासे प्रगट हुआ है, उनकी पर्यायमें परका अवलम्बन नहीं है। परकी दृष्टि अथवा परिणति नहीं है. उनकी परिणतिका स्वभावके साथ अभेद हो गया है। परभावका अभाव हुआ है और इसी हेतु संसरणका अभाव हो गया है, फिर चलना कैसे संभव हो। भैया, मनुष्यपर्याय अति दुर्लभ है, आपको मिली है तो व्यर्थ न गवां दो। अपने स्वभावका पता अवश्य उपयोग में पा लो, अन्यथा वही पुरानी दुरवस्था पुनरावृत्ति कर बैठेगी।

भैया, एक साधु था। उसके पास एक चूहा खेल रहा था, चूहेपर बिल्ली झपटी। साधुको दया आई सो उन्होंने चूहेको आशीर्वाद दे दिया कि तू भी बिल्ली हो जा। जब वह बिल्ली हो गया तो बिल्लीके ऊपर कुत्ता झपटा, तब साधुने आशीर्वाद दिया कि तू भी कुत्ता हो जा। कुत्ताके ऊपर चीता झपटा, तब साधुने कहा कि तू भी चीता हो जा। अब चीता पर शेर झपटा सो उसे आशीर्वाद दिया कि सिंहो भव शेर हो जा। शेरको एक दिन बड़ी जोरोंसे भूख लगी और उसे उस समय कुछ न मिला तो यह सोचकर कि साधुकी देह हो पवित्र है, उत्तम है क्यों न इसीका भोजन करूं ऐसा विचारकर ज्यों ही वह साधुके ऊपर खानेको झपटा तब साधुने उससे कहा, पुनः मूषको भव अर्थात् फिरसे चूहा हो जा। और वह तुरन्त चूहा हो गया। क्योंकि अभी तक जितनी भी पर्यायें मिली थीं वे सब साधुकी कृपासे और अब साधुपर ही आक्रमण करने लगा तो साधुके आशीर्वादसे वह चूहा होकर निस्तेज हो गया। इस तरह अपनेमें घटावो। हम आप पहले निगोद थे। वहांके दुःख तो

आपने सुने ही हैं। अनंतकाल निगोदमें बीता। निगोदमें कौन था? हम आप ही प्रभु। प्रभुताका तिरोभाव था और मलिनताका आविर्भाव था। जब चैतन्य प्रभुका प्रसाद (निर्मलता) मिला तब हम वहाँसे निकलकर प्रत्येक स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय हुये। चैतन्य प्रभुकी प्रसन्नता बढ़ती गई सो हम उसकी प्रसन्नतासे आशीर्वादसे आज पंचेन्द्रियोंमें भी उत्तम मन वाले मनुष्य हुये। अब यदि हम इस चैतन्य निज प्रभुपर हमला करेंगे तो आपको पता है चैतन्य निज प्रभुका क्या आशीर्वाद मिलेगा--पुनर्निगोदो भव, फिर निगोद हो जा।

लोकमें रिवाज है कि जो आशीर्वाद देवे उसके प्रति सद्भावना रखना चाहिये, क्योंकि अगर हम उसके प्रति सद्भावना नहीं रखेंगे तो वह आगे ऐसा आशीर्वाद दे दें कि जिससे हमें दुःख उठाना पड़े। इसलिये हमें अपने उपकारीके प्रति हमेशा कृतज्ञ भाव रखना चाहिये। फिर जिस निज प्रभुके प्रसादसे हमने यह मनुष्य गति (पर्याय) और जैन कुल प्राप्त किये हैं उस निज प्रभुका आदर क्यों नहीं करते, हमें उसके स्वभावका पालन करना चाहिये, हमें उसकी श्रद्धा और उपासना करनी चाहिये। जिस निज प्रभुसे हमें यह कुल और पर्याय मिली है अगर हम उसका सदुपयोग नहीं करेंगे, अपनी आत्माके चैतन्यस्वरूपको नहीं पहचानेंगे तो हमें वह फिरसे आशीर्वाद देगा कि निगोदो भव याने फिरसे निगोदमें जाओ। और हमें फिरसे निगोदमें जाना होगा। यह मनुष्यपर्याय बहुत ही कठिनतासे प्राप्त होती है इसलिये इसे प्राप्त करके हमें अपना कल्याण कर लेना चाहिये। आत्मा एक चेतन रूप वस्तु है, वह सत् है। इसमें अनंत गुण हैं, ये गुण बिखरे नहीं हैं। सब एकमें अभेद है और देखो भैया! सब गुणोंका स्वरूप न्यारा-न्यारा होकर भी एक गुणका प्रभाव समस्त गुणोंमें है। यही सब गुणोंकी बात है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, शक्ति, श्रद्धा, चारित्र, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुण हैं, अब एक एक गुणकी चर्चा ले लो। जैसे सूक्ष्मत्व है, उसके प्रभाव या पर्याय अनंत गुणोंमें है, जैसे ज्ञानसूक्ष्म, दर्शनसूक्ष्म आदि। अब एक ज्ञानसूक्ष्म को ले लो वह अनंत गुणोंमें ज्ञान रूप है उसमें भी एक ले लो, उसके अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उसमें एक ले लो, उसमें अनंत रस हैं और एक रसमें अनंत प्रभाव हैं ऐसा अतिशय अनंत विलास होकर भी आत्मा एक अखंड वस्तु है एक स्वभाव रूप है। उसमें अपनी वर्तमान ज्ञानपर्यायका अभेद कर देनेपर धर्म होता है। उसके प्रसादसे सिद्ध हुये हैं उनकी गति अचल है। ज्ञान आत्मामें सूक्ष्म पदार्थ है। उसमें प्रत्येकका ज्ञेयकार है किन्तु वह बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता, वह तो सिर्फ अपनेको जानता है। ज्ञान अपने अनंत गुणोंको जानता है अथवा अपने स्वरूपको परिणमता है, वह बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता।

आप एक ऐना अपने सामने रख लो। उसमें अनेक मनुष्योंकी सूरतें आपको दिखेंगी

किन्तु आप किसे देखते हैं ? आप तो ऐनाको ही देखकर आप मनुष्योंका बखान कर डालते हैं। इसी तरह ज्ञानमें अनेक पदार्थोंको अनुरूप ज्ञेयाकार ग्रहण होता है। किन्तु वह अन्यको नहीं देखता। ज्ञेयाकार ज्ञानमें है वह अपनेको जानता है। परन्तु जानना ही स्वयं ऐसी विशेषता रखता है कि उसमें स्वपरप्रकाशत्व है। इसलिये ज्ञाता ही रहकर हमें बाह्य वस्तुओं से पृथक् रहना चाहिये। ज्ञायकस्वरूप जो आत्माका है उसे प्राप्त करना चाहिये। किन्तु जगतके प्राणी इस तत्वको भूलकर स्वको चल बना रहे हैं और उसीमें आनंद और सुखका अनुभव कर रहे हैं।

भैया ! आत्माका सबसे बड़ा शत्रु यदि कोई है तो वह मोह बुद्धि है। जो लोग ऐसा समझते हैं "अयं निज: परो वेति" यह मेरा है और वह उसका है वे अपनी आत्माके साथ बहुत अन्याय करते हैं। अरे भाई ! हम व्यवहार करनेको मना तो नहीं कर रहे हैं किन्तु तुम चौबीस घन्टे तो पक्षकी दृष्टिमें मत रहो। व्यवहारके समय व्यवहार कर लिया करो। इसके लिये कुछ समय निश्चित कर लो, उसमें ये मेरे मामा हैं, मौसियां हैं, सबसे व्यवहार और मिलजुल लिया करो। शेष समय तो बाह्य पदार्थोंसे मोह छोड़ अपनी विशुद्ध चेतनापर दृष्टि दो। अपनी आदतें ऐसी बनाओ कि वे पर्यायको गौण करके हृदयको देखें। अन्यात्मा को भी देखो तो चैतन्यके जानने से। चेतन भेद को गौण करके दर्शन करो।

**प्रभुस्वरूपके कर्तव्य स्वामित्वका भाव त्यागकर ज्ञाताद्रष्टा रहो**—तुम मत विचारो कि मैं एक कमाता हूँ और सबको पालता हूँ। ऐसा सोचना तो भैया ! ठीक नहीं है, क्योंकि क्या मालूम आप किसके भाग्यसे कमाते है ? आपकी कमाईसे जो लाभ लेते हैं आप उन सबके मुनीम अथवा चौकीदार हो, इसके अलावा कुछ नहीं हो। जिसके भाग्यमें जैसा होता है उसे स्वयं उसकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जगतके स्वरूपको समझ कर अपनी आत्माको पहचानो कि मेरा तो स्वरूप चैतन्य है, ध्रुव है, यह संसारकी कोई भी वस्तु मेरी नहीं है, मैं इनसे भिन्न हूँ। बाकी तो यह सब परवस्तुओंकी पर्यायें हैं। जब आप इन विकल्पोंको छोड़कर निज ज्ञायकभावके सन्मुख होनेके उपाय द्वारा अपने आत्माके ध्यानमें लीन हो जावेंगे तब आपको एक अलौकिक सुख मिलेगा। जो न धनमें है और न संसारके किसी भी अन्य पदार्थोंमें है। उनमें तो कभी सुख है ही नहीं परन्तु मूढ़ताकी कल्पना है। चैतन्यरूप ज्ञानमय जो आत्मा है उसीका ध्यान करना परमसुख है। इसलिये जगतका स्वरूप देखकर इससे उपेक्षा करो और अपनी आत्माको पहिचानो। कुछ लोगों का कहना है कि मुक्त दो तरहके हैं—(१) सदाशिव और (२) मुक्त जीव।

सदाशिव तो हमेशासे ही मुक्त हैं और हमेशा तक रहेंगे। वे कर्मोंसे कभी भी

छुये नहीं गये हैं। और दूसरे आत्माओंको उस सदाशिव भगवानकी साधना करनेसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है और जब भगवान कभी अंगड़ाई लेता है तब वे फिरसे धरतीपर टपक पड़ते हैं। आपके यहाँ भी दो तरहसे इष्ट मुक्त हैं। एक तो अनादि मुक्त और दूसरे कर्ममुक्त सिद्ध। अनादि सिद्ध सभी आत्मा हैं परन्तु अनादि सिद्धताका भोग नहीं होता। हम, आप, जितने यहांपर बैठे हैं सभी अनादिसिद्ध हैं। किन्तु वे द्रव्य दृष्टिसे हैं। और जो परपरिणति से भिन्न हैं, अचल हैं, स्वात्मामें लीन हैं वे पर्यायसिद्ध भगवान कर्ममुक्त हैं क्योंकि वे कर्मोंसे रहित हैं। सनातन, सदाशिव, निज चेतन प्रभुकी उपासनासे, अवलम्बनसे अंतरात्मा कर्म-मुक्त होते हैं, परन्तु इतनी विशेषता है कि यह सदाशिव अंगड़ाई नहीं लेता।

आत्माका उद्धार करना है, उसे सिद्ध बनाना है तो आत्मामें आत्माके द्वारा आत्मा को देखो तो आत्माका उद्धार अवश्यम्भावी है।

**आत्मस्वभाव टंकोत्कीर्णवत् अचल व स्वाश्रित है:**—आत्मस्वभाव टंकोत्कीर्ण अचल और सदा है, दृष्टिगत कर लो। जैसे एक चतुर कारीगरको आप बुलाकर एक बड़ा सा पत्थर दिखाके कहते हो कि इसमेंसे एक अमुक नमूनेकी प्रतिमा बननी है। कारीगर सभी बातें सोच लेता है और सोचनेके पश्चात् उस कारीगरको उसी पत्थरमें प्रतिमा दिखने लगती है, वह प्रतिमाको अलगसे थोड़े ही बनायेगा, किन्तु उसे उसीके अवारक पत्थरोंको निकाल देना है। उसे प्रतिमा पूर्ण रूपसे दिखने लगी है। यदि वह प्रतिमा उसे दिखाई न दे तो वह प्रतिमा नहीं बना सकता।

प्रतिमाके दिखते ही वह उसके आसपासके आवरणको छेनी हथौड़ेसे दूर करेगा। पहले तो उसके हाथ बहुत शीघ्रतासे चलेंगे, किन्तु जब प्रतिमाका आकार व्यक्त नजर आ जायेगा और उसे उसकी सफाई मात्र बाकी रह जायेगी तब वह अपने हाथ सावधानीसे चलावेगा। और जब वह प्रतिमा बिल्कुल साफ हो चुकेगी तो वह अपने हाथ और भी धीरे-धीरे सावधानीसे चलावेगा। आपमें जिसका विकास होना है वह अभी भी आपमें है उसका विकास करना है। इसी तरह आप भी अपनी आत्माको सिद्ध बनाओ। किसको? जो अभी पत्थरसा है। पहले तो यह निर्णय कर लो कि हम वास्तवमें क्या हैं? जान लिया अब सम्यग्दृष्टिरूप कारीगर बनो और ज्ञानरूपी छैनी और हथौड़ा लेकर आसपासका पत्थर राग, द्वेष, मोह रूपी मलको दूर करो। देखो इसके लिये ३ बार मोटे रूप प्रयत्न होते हैं पहले तो सम्यक्त्व उत्पन्न करने में करण द्वारा, फिर व्रतोंके धारण पालनमें, फिर श्रेणीमें। श्रेणी तो आजकल नहीं, फिर भी ज्ञानीको यह विकल्प नहीं, अपना लक्ष्य बनावो और कदम बढ़ाओ। आत्माका नाश करने वाला मोह है। इसलिये इस मोहको दूर हटाओ। कोई किसीका साथी नहीं है और न कोई किसीके दुःखकी दवा करता है। जैसे कोई

भिखारी माँगता हुआ आपके दरवाजे पर आता है और आपसे उसका दुख नहीं देखा जाता है तब आप उसे कपड़ा देते हैं। तो आपने उसका दुःख नहीं मिटाया वस्तुतः उसे देखकर आपको जो दुःख हुआ था उसे मिटानेके लिये आपने उसे वह कपड़ा दिया। दो मित्र थे, एक बोला, मित्र हमने आज तक तुम्हारी अविनय नहीं की किन्तु मरनेके बाद हम तुम्हारी जरूर अविनय करेंगे क्योंकि मित्र तो पैदल चलेगा और हम उसपर सवार होंगे। कहनेका तात्पर्य कि दुनियाँमें कोई किसीके लिये कुछ नहीं करता। भगवान कुंदकुंद स्वामी ने इस ग्रन्थकी रचना हमारे लिये नहीं बनाई किन्तु उन्होंने निजकी वेदना मिटानेके लिये ग्रन्थ बनाया। हम मूढ़ोंका दुःख देखकर वे दुखी थे। यानि आत्माके सुखके लिये बनाया। इसलिये मोहबुद्धिको दूर हटाकर अपने स्वभावको देखो। आप देखो पशु जब धूलमें लिपट जाते हैं तो वे एक जोरोंसे फुरफुरी लेते हैं। इस तरह इन कर्मोंसे लिपटे होनेके कारण इनसे छूटनेके लिये आप भी एक फुरफुरी लेवें और घर, मकान, धन, दौलतसे मोहबुद्धिको हटा कर कल्याणमार्गमें लगें। यह मकान मेरा है, यह घर मेरा है, इस तरह तो एक भंगी भी जो सफाईका काम करता है कहता है क्योंकि वह किसीके दो तीन मकानोंको कमाये हुये है तो वह कहता यह बिल्डिंग मेरी है, अमुक भी मेरी है आदि। किन्तु क्या यह सही है? इन सबकी ममता छोड़ो, अपनी तरफ ध्यान दो, कषाय भावोंको दूर करो। क्योंकि कषाय सहित होनेसे जीव कर्मोंका बंध करता है। इसलिये कषाय भावोंको दूर करो। कर्मोंके ऊपर तो हमारा कुछ बस नहीं चल सकता। क्योंकि कर्म पौद्गलिक हैं, परका द्रव्यके ऊपर कोई बस नहीं चलता। इसलिये आत्मासे कषाय भाव, राग, द्वेष मोहादिकको दूर करके आत्मामें आत्माके द्वारा आत्माका ज्ञान करो, फिर देखो कैसे उद्धार नहीं होता? भगवान सिद्ध प्रभुने स्वभावके अवलम्बनसे ही अचल गति पाई है। हम जिन-जिन विशेषणोंसे नमस्कार करते हैं उनका प्रयोजन है। लोकमें भी जिस प्रयोजन वाला हो उसी विशेषणसे दूसरेको पुकारता है।

भगवान सिद्ध परपरिणतिसे होने वाले संसारसे रहित हैं, अतएव अचल गतिको प्राप्त हुये हैं। हमारा भी यही लक्ष्य रहे कि निज ज्ञायकस्वभावमें वर्तमान ज्ञानपर्यायकी एकता कर परपरिणतिका प्रध्वंसाभाव करें और सहज आनंदमय होवें। यहाँ पर श्रीमत्-पूज्य कुन्दकुन्द स्वामी सर्वसिद्धोंको नमस्कार करते है।

**आत्मस्वभाव और उसका विकास अनुपम तत्त्व है:**—अनुपम विशेषणके द्वारा सिद्ध भगवानने अनुपम गति प्राप्त की, यह कालिका क्रिया है। जिसकी कोई उपमा न हो उसे कहते हैं अनुपम (उपमासे रहित) हम यहांपर उपमा व्यवहारमें एककी अपेक्षा दूसरेको धनी आदि कहके कर देते हैं कि वह अमुककी अपेक्षा धनी है, सम्पन्न है; किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं

है कि सिद्धप्रभुको किसी सिद्धकी अपेक्षा हीन या अधिक बताया जा सकता है और न अन्य कोई संसारियोंमें ऐसा उत्कृष्ट है, जिसके समान उन्हें बताया जा सकता हो। तब सिद्धप्रभुकी उपमा किसीसे भी नहीं दी जा सकती है। हाँ यदि कह सकते तो यही कह सकते कि सिद्ध भगवान सिद्ध भगवानके समान हैं सो उसमें कोई उपमा अन्य नहीं है अतः सिद्ध भगवानकी गति अनुपम ही है।

सिद्ध प्रभुकी आत्मामें चार विशेषतायें हैं—सर्वज्ञता, वीतरागता, अनंत सुख, अनंत शक्ति, इनके द्वारा उन्होंने अनुपम गति प्राप्त की है। वे शरीर व कर्मसे भी रहित हैं। आप बताओ दुनियामें आत्मज्ञान, और आत्मकल्याणसे बढ़कर और कौनसी वस्तु है? हमारी आपकी जो अवस्थायें हैं ये अनुपम नहीं। ऐसे हीनादिक परिस्थितिके करोड़ों मनुष्य हैं, संसारकी चारों गतियोंमें विषमता और आकुलता है। सर्वपरिभ्रमणसे रहित शिवस्वरूप अवस्था ही उत्कृष्ट अवस्था है।

सिद्ध प्रभु भी सिद्ध होनेसे पहले अरहंत थे और अरहंतसे पहिले साधु व साधुसे पहिले कोई श्रावक भी तथा अविरत सम्यग्दृष्टि थे। उन्होंने समस्त परद्रव्योंसे भिन्न व अपने गुण पर्यायके एकत्वमें प्राप्त समयसारकी दृष्टि की और यत्न हुआ उनका वर्तमान ज्ञानपर्याय का स्वभावमें अभेद करनेका, तब उत्तरोत्तर निर्मल पर्यायका विकास ही होकर वे सिद्ध हो गये। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, और उस ज्ञानने कितने द्रव्योंके गुणोंको जाना? उस केवलज्ञानने अनंतानंत जीवोंको, अनंतानंत पुद्गलोंको, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात काल द्रव्योंको और प्रत्येक द्रव्यके अनंतगुणोंको जाना और प्रत्येक गुणोंकी अनन्त पर्यायें हैं, सो उनको भी जाना और एक पर्यायमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, सो उन्हें भी जाना और अविभाग प्रतिच्छेदमें अनन्त रस हैं, एक रसमें अनन्त प्रभाव हैं सो सिद्धप्रभुने आत्मज्ञान (केवलज्ञान) से उन सबको जाना। उस आत्मज्ञानके द्वारा अनुपम गति शोभायमान हो रही है। भैया ज्ञान प्राप्त करो, विज्ञानसे अधिक दृष्टि ज्ञानपर दो। जिस ज्ञानपर अहंकार आता है वह विज्ञान ही है। देखो यहांपर जरा-जरा सी बातपर अहंकार आता है कि ओह! जो मैं हूं सो कोई नहीं है। ये सब बातें अज्ञानके कारण हैं। अरे सोचो! क्या इन क्षणिक वस्तुओंपर अहंकार हो। अहंकार करने लायक तो वह वस्तु है—जिसके प्राप्त होनेपर अहंकार ही नहीं रहे, वास्तवमें वही वस्तु ठीक है। इसलिये गौरव अनुभव करना है तो आत्मज्ञानपर गौरव करो, ज्ञानके होनेपर अहंकार ही नहीं रहेगा, वही सच्चा ज्ञान है। सिद्धप्रभुको केवलज्ञान हो चुका है, इसलिये वहाँपर राग द्वेष आदि कोई भी नहीं है। इसलिये वे अनुपम गतिके धारक हैं, उनकी उपमा हम किसीसे भी नहीं दे सकते।

आत्माका ज्ञान व आनन्द आत्मासे प्रकट होता है.—जो स्वभाव सिद्ध प्रभुमें है

वह स्वभाव हममें भी है, किन्तु यहां गलती इतनी हो गई कि जिनसे सुख मिलता है, ज्ञान प्राप्त होता है उन्हें नहीं मानते, किन्तु मोहबुद्धिमें फंसे होनेसे धनसे सुख होता है, सुख परवस्तुमें है, ज्ञान शास्त्र सुननेसे बढ़ जाता है, लोगबाग इस प्रकारकी बातोंमें पड़े होनेसे अपनी आत्माका भुलावा कर रहे हैं। अपनी प्रभुताको व सिद्धप्रभुकी प्रभुताको देखो।

आप परचित स्तुतिको जब बोलते हैं उस समयके भावको, स्ववचनोंमें की गई स्तुतिके समयके भावोंको जरा देखो तो उनके तारतम्यपर विचार करो, आपको जमीन आसमान जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होगा। जब आत्माका परिचय होगा तब प्रभुका भी परिचय होगा।

आजकल कुछ भाइयोंने ऐसी धारणा बना रक्खी है कि ज्ञान शास्त्रसे होता है और सुख अनुरागसे होता है। तो हम पूछते हैं शास्त्र कहते किसे हैं ? क्या हम जो यह कागजकी पुस्तक रखे हैं, इसका नाम शास्त्र है ? अरे ! वास्तवमें इस पर शास्त्रसे ज्ञान नहीं होता, भगवान् की दिव्य ध्वनिसे भी ज्ञान नहीं होता। किन्तु ज्ञान तो हमें अपने स्वभावसे होता है। शब्दोंसे ज्ञानका प्रकाश नहीं होता किन्तु ज्ञानका प्रकाश तो अपने आत्म-स्वरूपसे होता है। ज्ञान न तो औरोंसे होता है और न किसी परपदार्थसे। अभी आप ही देख लो जब पढ़नेमें समझमें नहीं आता तो पत्रको मरोड़ते, कि दिमागका मरोड़ते इसी तरह सुख भी, परवस्तुसे, या परपदार्थसे भहीं होता है। सुख धनसे या संतान परिवारसे नहीं होता है। देखा जाता है कि कभी कभी धनको छोड़कर प्राणरक्षाके हेतु भागना पड़ता है तो आप विचार करो कि धनमें कहाँसे सुख आया ?

परिवार, पुत्र आदिसे भी सुख और आनन्द नहीं, क्योंकि प्रायः देखा और सुना जाता है कि परिवारसे हम दुखी हैं, हम संतानसे दुखी हैं क्योंकि वह कपूत निकला या सुपूत निकला तो मोहवश गधेका जीवन खुदका बन गया। इस तरह आनन्द और सुख किसी परदार्थसे नहीं होते। वस्तुतः आनन्द और सुख तो आत्माका स्वभाव है। वे आत्मासे ही पैदा होते हैं, परपदार्थसे नहीं। भक्तिरूप अनुरागसे भी सुख नहीं होता। सुख, सुखस्वभावसे प्रकट होता है। सिद्ध भगवान जो बन गये हैं, उन्होंने ऐसा समझाया कि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है। वह तो अपने स्वभावसे होता है, परपदार्थसे ज्ञान और सुख नहीं होते। ऐसा समझ कर अपनेसे अपनेमें अपनेको देखा और निर्मल पर्याय हो, उत्तरोत्तर विकास-प्रवाहसे सिद्ध बन गये। आज दुनियामें सभी अनुपम बनना चाहते हैं। किन्तु कोई धनमें, कोई संसारके सुख ऐश्वर्योंमें अनुपम बनना चाहते हैं। अगर अनुपम बनना है तो सिद्ध प्रभुके समान अनुपम बनो।

**भगवानकी गति अपवर्ग है:**—वर्ग ३ हैं—धर्म, अर्थ, काम। सिद्धप्रभु इन तीनोंसे

रहित हैं।

गृहस्थोंके लिए शास्त्रोंमें बतलाया है, धर्म, अर्थ, काम ये गृहस्थ धर्मके लिए तीनों चीजें आवश्यक हैं, बिना इनके गृहस्थकी शोभा नहीं। गृहस्थकी शोभा इन तीनोंसे एकसे नहीं। देखो भैया पुरुषार्थ चार बताये हैं। प्रथम धर्म है सो धर्म पालन करे और धन कमावे तथा सांसारिक व्यवहार सो है, काम। अब चौथा बचा है मोक्ष, सो आजकल मोक्ष तो होती नहीं अर जो आज मोक्षका यत्न हो सकता है वह धर्ममें गर्भित है। इसलिए भैया! आप लोगोंको उसके स्थानपर एक सरलसी चीज बताये देते हैं—वह है सोना (नींद)। तो अब इन चारोंको क्रमशः पालन करो। दिन रातमें २४ घंटे होते हैं, सो प्रत्येकको ६-६ घंटे दो। छः घण्टे धर्मध्यान करो। सुबह ४ बजे उठो, उठकर सामायिक करो, स्वाध्याय करो, पश्चात् शौच, शुद्धि स्नान क्रियासे निवृत्त होकर नहा धोकर भगवानकी पूजा करो और बाद में शास्त्र सुनो, तत्त्वचर्चा करो। फिर शुद्ध क्रियासे बने हुए भोजनका अतिथि संविभाग करो, शुद्ध भोजन करो। शुद्ध भोजन करना भी एक धर्म है। इससे दो लाभ होंगे, एक तो आप त्यागी व्रतीको भोजन प्रतिदिन भी करा सकते हैं और दूसरे आत्माकी शुद्धि भी होगी। तो भोजन करके अब ६ घण्टे अर्थ उपार्जन करे, किन्तु वह न्यायपूर्वक पैदा करे। और इसके बाद ६ घण्टे अपने व्यवहारके कार्योंमें बितावे। पश्चात् ६ घण्टे आराम करे अर्थात् सोवे। देखो एक गृहस्थकी कितनी सुन्दर दिनचर्या है? समयका विभाग हो गया और प्रहरोंका भी विभाग हो गया।

भगवान सिद्ध प्रभुको धर्म, अर्थ, काम—इनमें से कोई भी काम करनेको बाकी नहीं है और जो इन तीनोंसे रहित है उसे अथवा उस गतिको कहते हैं अपवर्ग। तो सिद्धप्रभु अपवर्ग गतिको भी प्राप्त हैं, इसलिये यहाँ सर्वसिद्धोंको नमस्कार है। कोई कहता है कि सर्वसिद्धोंको नमस्कार क्यों है? कहते हैं कि हम और हमारे हितैषी जन मार्गमें जा रहे हैं और वहाँ हमारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण करता है तो हम वहाँ किसीको छाँटकर नहीं पुकारते किन्तु समुदाय रूपमें कहते हैं दौड़ो। इसी तरह भगवान कुंदकुंद अपने अशुभोपयोग से बचनेके लिये व शुभोपयोगकी वेदनासे दूर होनेके लिये समुदायरूपमें कहते हैं व सब सिद्धोंको नमस्कार करते हैं।

हमारे अन्दर कषायरूपी अनेक शत्रु हैं और जब उनका हमला हमारे ऊपर होता है तो हमें वहाँ छाँटनेकी फुरसत नहीं मिलती कि हम किसे पुकारें? इसलिये समुदायरूपसे सब सिद्धोंको नमस्कार हो, ऐसा श्री पूज्य आचार्य कुंदकुंद स्वामीने अपने ग्रन्थके आदिमें कहा है। भगवान सिद्धके अनेक नाम हैं। उन्हें परमात्मा कहते हैं याने जिसकी उत्कृष्ट आत्मा है उसे कहते हैं परमात्मा। तो सिद्ध प्रभुकी आत्मामें परम-उत्कृष्ट ज्ञानका विकास

हुआ है। परमात्मा शब्दकी निरुक्ति है—परा मा लक्ष्मीर्यत्र स परमः परश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा। जहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मी है, उसे कहते है परम व जो परम आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं। लक्ष्मी शब्द लक्ष्म से बना है। लक्ष्म का अर्थ लक्षरण याने चिह्न है। आत्माका चिह्न ज्ञान है, सो जहाँ उत्कृष्ट ज्ञान प्रकट हो गया उसे कहते हैं परम, और जो परम आत्मा हो गया है उसे परमात्मा कहते हैं।

उनका ज्ञान लोक, अलोक और तीनों कालोंमें व्यापक है, वे तीनों कालोंकी बात जानते हैं।

**सिद्ध भगवान को ईश्वर भी कहते हैं:**—जो ऐश्वर्यसे सहित हो वह ईश्वर है अथवा जिसे अपना ऐश्वर्य भोगनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा न रखनी पड़े उसे कहते हैं ईश्वर। और जिसे अपना ऐश्वर्य भोगनेमें दूसरेकी अपेक्षा रखनी पड़े वह ईश्वर नहीं है। भगवानको प्रभु भी कहते है। याने जिसमें प्रकर्ष प्राप्त गुरण हों वह प्रभु है। तो भगवानके सभी गुरण प्रकर्षताको प्राप्त है। उनका ज्ञान कितना व्यापक है कि जो लोकको, अलोकको और तीन कालोंको भी जानता है, इतना व्यापक है उनका ज्ञान, इस लिये उन्हें प्रभु भी कहते हैं। एक ही समयमें लोक अलोकमें व्यापक हो और एक ही समयमें तीनों कालोंमें व्यापक हो ऐसा कुछ अद्भुत तत्त्व है तो वह है केवलज्ञान। इसी कारण परमात्माका नाम विभु भी है। अब अन्य प्रकारसे लोगोंके ईश्वरका रूप देखो। हिन्दू धर्ममें तीन महान् देवता माने गये हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश। वे घट घटमें रहते हैं याने हर जगह, प्रत्येक वस्तुमें वे रहते हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं जो उनसे छुटा हो, अर्थात् वे उसमें न रहते हों, वे ही ईश्वर हैं। सो भैया ! वह तीन देवता हैं—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य। इन्हींका रूपक उत्पादमें स्रष्टा ब्रह्मा, व्ययमें नाशक शङ्कर (महेश) और ध्रौव्यमें रक्षामें विष्णु हैं। वैसे ब्रह्माकी कल्पना आदिनाथमें है। भगवान श्री वृषभदेवने कलियुगके आदिमें षट्कर्म की देशना कर प्रजाकी पालना की। वे नाभिराजाके पुत्र थे, लोग उन्हें नाभि (टुँडी) से उत्पन्न होना मानते थे। महेश एक दिगम्बर मुनि थे। ११ अङ्ग ६ पूर्वके ज्ञाता थे। जब दसवां विद्यानुपूर्व सिद्ध होनेको था तो विद्या देवताओंकी प्रशंसासे विचलित हो गये; फिर जो चरित्र प्रसिद्ध है वह उनका चरित्र हो गया। विष्णु नारायणको कहते हैं। इन ईश्वरोंके भैया ! ऐसे चरित्र बताये हैं कि जब एकपर आपत्ति आवे तब दूसरोंसे बचानेकी वे अभ्यर्थना करते थे। देखो, एक उदाहरण है जिससे उनके ईश्वरत्वका पता चलता है। महादेवजी तपस्या कर रहे थे, तब भस्मासुर उनकी सेवा किया करता था, सेवा करते करते जब बहुत दिन हो गये तब महादेवने उससे कहा कि हम तेरे ऊपर प्रसन्न हैं तुझे जो वरदान चाहिये सो माँग ले। तब उसने महादेवजी से कहा कि मुझे तो आप यह वरदान दें कि मैं जिस पर हाथ रख दूँ वह

जल कर भस्म हो जावे। महादेवजी ने यह वरदान दे दिया। अब भस्मासुरके मनमें विचार उठा कि पार्वतीको ले चलना चाहिए और पहले महादेवको ही छू लेना चाहिए जिससे वह भस्म हो जायें और वह महादेवको छूनेको जब चला सो महादेव वहाँसे उठकर विष्णु भगवानकी शरणमें जा पहुँचे और बोले--भगवान मेरी रक्षा करो और सारा हाल बताया। तब भगवान विष्णु बोले कि तुम इस तरह कई बार कर चुके हो, अच्छा तुम बैठो मैं तुम्हें बचाये लेता हूं। तब विष्णु पार्वतीका रूप धारण करके भस्मासुरके पास गए और बोले कि देखो मेरे पति महादेव अपने कूल्होंपर एक हाथ रख कर और दूसरा हाथ शिर पर रख कर नाचते थे सो अब आज तुम भी अपना नाच दिखाओ। भस्मासुरने वैसे ही नाच शुरू किया और अपना एक हाथ अपने कूल्होंपर रखा और दूसरा हाथ अपने शिरपर रखा तो शिर पर हाथ रखते ही वह स्वयं जल कर भस्म हो गया। क्यों कि उसे वरदान प्राप्त था। इस उदाहरणसे आप लोग जान गए होंगे कि ये कितने ज्ञानी घटघटमें रहने वाले देव हैं। ईश्वर उसे कहते हैं कि जो अपने ऐश्वर्य आदिके योगमें दूसरेकी अपेक्षा न करे। इस लिए सब बाह्य पदार्थोंको छोड़कर उस आत्मस्वभावका ध्यान करो जिसका ध्यान करके भगवान सिद्ध बने, जिन्होंने अनुपम गतिको प्राप्त किया है। ऐसे उन सर्व सिद्धोंको नमस्कार हो। और जो पुण्य पापके सब चक्रोंसे दूर हो चुके हैं, शरीरादि बाह्य मलसे अत्यन्त विमुक्त हो गए हैं ऐसे सर्वसिद्धोंको नमस्कार हो।

**वर्गके झगड़ोंसे रहित सिद्धोंको नमस्कार**--यहाँ भगवान कुन्दकुन्द स्वामी सिद्धोंको नमस्कार कर रहे हैं, कैसे हैं वे सिद्ध, अपवर्ग गतिको प्राप्त हुए हैं, उनकी आत्मा परम विशुद्ध हो गई है। उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञान हो वहां कोई भी वर्ग नहीं रहता है। उनकी आत्मासे रागद्वेष आदिक भाग चुके हैं, उनकी आत्मा परम विशुद्ध हो गई है। वर्ग माने समूह भी है, वह समूह जो रागद्वेष, मोह, लोभ आदिके रूपमें आ जुड़ा उस सबसे रहित गतिको प्राप्त हुए हैं अथवा वर्ग कर्मशक्तिका नाम है, रंचमात्र भी वर्ग जहाँ नहीं रहा ऐसी गति सिद्ध गति है। १४ वें गुणस्थान तक वर्ग, वर्गणावर्द्धक भी रहते हैं, सो १४ वें गुणस्थानसे भी अतीत सिद्धप्रभु, वर्गसे ही रहित हो गये, फिर वर्ग के समूह रूप वर्गणा और वर्गणाके समूह रूप स्पर्द्धककी तो बात ही नहीं है, ऐसी अपवर्ग नामक पंचमगतिको प्राप्त हुये; उन सब सिद्धोंको नमस्कार हो।

आत्मा अखण्ड है, वह अपने स्वरूपसे कभी भी विचलित नहीं होती है, इसीके अनुरूप, भगवान सिद्ध प्रभुने अचल गति भी प्राप्त करली है, क्योंकि सिद्धकी दशा स्वभाव के अनुरूप है। धर्म आत्मा की वीतराग परिणतिका नाम है, धर्म आत्माका स्वभाव है। जीवमें जब तक रागद्वेष रहता है, तब तक वह अपने असली स्वरूपको नहीं पहिचान पाता।

स्वरूपकी पहिचान बिना स्वरूपकी प्राप्ति न होगी। अतः रागद्वेषको छोड़ कर अपने असली स्वरूपको देखनेका प्रयत्न करना चाहिये। उसका उपाय भेदविज्ञान करके स्वभावदृष्टि करना है। अहङ्कार किसपर किया जावे ? रागद्वेषसे अहङ्कार पैदा होता है। वह प्राणी यह नहीं जानता कि मैं अहङ्कार किसपर कर रहा हूँ ? मैं अहङ्कार जिसपर कर रहा हूं क्या वे वास्तवमें अहङ्कार, गर्व करनेकी वस्तुएं हैं ? धन क्षणभंगुर है। आज जिसके पास अपार धन है कल वही निर्धन अवस्थामें देखा जाता है। तिसपर भी उसकी दृष्टि आकुलता का ही निमित्त होती है। जड़की तो बात क्या ? परन्तु ज्ञान जो वास्तविक ज्ञान नहीं है, यह भी अहङ्कार करनेकी चीज नहीं है। अहङ्कार करनेकी चीज तो वह है कि जिसके प्राप्त होनेपर अहङ्कार ही न रहे। यह जो मैं इन बाह्य परवस्तुओं पर अहङ्कार करता हूं यह तो कुछ भी मेरा नहीं है। जिस ज्ञानपर अहङ्कार हो वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं, मात्र विज्ञान है। ज्ञान, ज्ञानके अनुभवन रूप है, वहाँ अपूर्व आनन्द है, वहाँ अहंकार जैसे ऐबोंको कोई स्थान नहीं है। इस अत्यन्त उदार गम्भीर तत्त्वके समझे बिना जो विविध बाह्य ज्ञान होते रहते हैं, अज्ञानियोंको उनपर अभिमान हो जाता है।

**अहंकारका फल बुरा होता है**—एक लड़का था। उसने बड़े परिश्रमसे बी० ए० शास्त्री आदि कई परीक्षायें पास कीं। एक दिन वह कार्यवश कहीं जा रहा था। रास्तेमें नदी पार करनी पड़ती थी, सो उसने एक मल्लाहको बुलाकर कहा—'हमें नदी पार करा दो।' तब मल्लाह नाव लेकर आ गया और उस लड़केको बैठा करके दूसरे किनारेकी ओर चल पड़ा। थोड़ी दूर जाने पर वह बाबू साहब मल्लाहसे बोला, 'क्यों तुम कुछ पढ़े हो ?' उसने कहा 'हुजूर मैं तो कुछ भी नहीं पढ़ा।' तब लड़केने फिर पूछा कि 'तुम्हारे बाप दादा भी पढ़े थे या नहीं ?' मल्लाह ने उत्तर दिया कि नहीं। तब उस लड़केने मल्लाहको नालायक बेवकूफ आदि अनेक उपमाएं दीं और बोला—तुम्हारा जीवन बेकार है, ऐसे लोगोंने ही भारतवर्षको बर्बाद कर दिया है। नाव आगे बढ़ रही थी। वह जाकर एक ऐसी भंवरमें जा पड़ी कि वहांसे नाव निकलना मुश्किल था। बाबू घबड़ाया और बोला 'मल्लाह बचाओ' तब मल्लाहने उस लड़केसे पूछा 'क्यों जी आप तैरना जानते हैं' लड़का बोला—नहीं। मल्लाह बोला—क्या तुम्हारे बाप दादा भी तैरना जानते थे, तब लड़के ने कहा कि नहीं। तब मल्लाह ने उसे उतनी ही उपाधियाँ दीं और बोला कि 'तुम्हारा जीवन बेकार है लो अब यह नाव डूबने वाली है; मैं तो तैरकर अपने प्राण बचाता हूँ।' कहनेका मतलब सिर्फ इतना है कि ये बाह्य पदार्थ हैं, इन्द्रिय और मनके परिश्रमसे पैदा किया हुआ ज्ञान भी बाह्य तत्त्व है; इनपर अहंकार करना मूर्खता है। इसलिए अपनी आत्माको देखो, उसे पहिचानो। निज स्वभावमें वर्तमान ज्ञान पर्यायकी एकता करो। अपना स्वभाव अत्यन्त निर्विकार है।

स्वभाव विकारको स्वीकार करता नहीं है, वह सनातन सम है। आत्मा संसारमें अकेला भ्रमण करता है, कोई उसका साथी नहीं है। उसका साथी यदि कोई है, तो निर्मलता है, अतः इस निर्मलताको लानेके लिये अपना स्वरूप जानो, भगवानको जानो और उससे निज स्वरूप जानने माननेका प्रयोजन निकाल लो, बस फिर सहज वैराग्यसे निर्मलता प्राप्त करो।

**इसके लिये कोई एक लक्ष्य बनाओ**—बहुतसे लोग ऐसे हैं जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि हमें क्या करना है, हमें क्या बनना है; मानो उन्होंने अपने जीवनका कोई ध्येय ही नहीं बनाया। जिसका कोई लक्ष्य नहीं रहता है, उसका जीवन समुद्रमें घूमती हुई नाव की तरह होता है। जैसे कोई समुद्रमें नाव घुमा रहा है, किन्तु उसका कोई लक्ष्य न हो उसे पता नहीं कि मुझे कहाँ जाना है; तो वह थोड़ी देर नावको पूर्वकी ओर ले जाता है तो कभी पश्चिमकी ओर। इस प्रकार वह समुद्रके बीचमें ही रहता है। फल यह होता है कि वह किसी किनारे पर नहीं लग पाता। इस प्राणीका भी जब एक लक्ष्य नहीं है, तो कभी किसी ओर राग करता है, कभी किसी ओर। इसी प्रकार द्वेष संग्रह आदिकी बात करता है, फल यह होता है कि जिन्दगीमें कभी संतोष नहीं होता कि हमने कुछ कर लिया। इस लिये मनुष्यको सबसे पहिले अपना लक्ष्य बना लेना चाहिये। वह उत्तम लक्ष्य यदि संक्षिप्त शब्दोंमें है तो यह है कि 'हमें तो सिद्ध बनना है'। आप जैसा लक्ष्य बना लेंगे वैसी सफलता भी प्राप्त कर लेंगे ऐसी आपमें शक्ति है। दुनियामें सबसे बड़ा काम यही है कि एक लक्ष्य बन जावे कि हमें तो सिद्ध बनना है। सिद्ध भी क्या बनना है, यथार्थ स्वरूपकी समझ होने पर मात्र ज्ञाता होना है, सो यथार्थ ज्ञाता रहना है। यह माना कि आपने सोचा—समानता सामान्यके आश्रयसे हो सकती है, समानताका सामान्यके साथ सामंजस्य है। विशेष विषयक यत्न समानतासे दूर रख देता। कुछ बड़े लोगोंकी दृष्टि भी मात्र ब्रह्मपर इस हेतु है। हमें तो हिन्दुस्तानका महान नेता बनना है यह लक्ष्य बनाया और आप एक नेता बन कर ऊंचे ऊंचे काम करने लगे, आपने बहुत जगहमें खूब प्रशंसा प्राप्त की, लेकिन यह बताओ कि इनसे आपकी आत्माका कोई कल्याण हुआ क्या या होगा ? नहीं, क्योंकि यह तो सांसारिक कार्य है। अरे ! अपनी आत्माको देखो। वह आपका सच्चा कार्य है।

**समान भाव सहज भाव बनाया जा सकता है**—समान जो बनते हैं वे सहज बनते हैं, जैसे सिद्धदेव। यहाँ भी यदि आप सब समान बनना चाहते हैं तो बन सकते हैं द्रव्यदृष्टि से। अपना उपयोग चैतन्यतत्वपर दो। सभी चेतन चैतन्यभावसे एक स्वरूप हैं, स्वभावसे परस्पर सभीमें कोई अन्तर नही है। समान दृष्टिमें आनंद है। समान परिणमनमें आनंद है। जिस उपयोगमें जितनी विषमताओंका आदर है वह उपयोग उतना ही परेशान है, यों

ही प्राणियोंके उद्देश्य निःसार हैं। आप स्वयं निर्णय करलें कि विषम बने रहनेमें लाभ है कि पूर्ण सम होनेमें लाभ है।

**यथार्थ उद्देश्यका अभाव कलहका मूल बन सकता है**—अपना उद्देश्य अवश्य ठीक बना लो। हमें तो आत्मज्ञान पैदा करके सिद्ध बनना है। जहाँ यह लक्ष्य बन गया कि सारे झगड़े समाप्त हो गये। आज यह देखनेमें आता है कि भाई भाईमें, पिता पुत्रमें, सास बहूमें, नित्य कोई न कोई झगड़ा चलता रहता है क्योंकि उनका कोई आत्मसाधना का लक्ष्य नहीं है। वे तो सांसारिक क्षणिक पदार्थोंमें मोहबुद्धि, रागद्वेष किए हुए हैं और इन्हींके कारण आपसमें कलह करते रहते हैं। यदि उनका यह लक्ष्य बन जावे कि हमें तो अपनी आत्माका उद्धार करना है, अपना असली स्वभाव देखना है, सिद्ध बनना है, तो कोई भी कारण नहीं कि ये कलह और झगड़ा करें। भैया! अपनेपर दया करो और विचार करो कि हमें तो सिद्ध बनना है। शक्तिसे हमारी आपकी दशा भी सिद्ध है, किन्तु उसपर रागद्वेष तो लगे हैं। यदि हमारी शक्ति सिद्ध नहीं तो हम कभी भी सिद्ध नहीं बन सकते। जैसे कंकड़ोंमें गलनेकी, चुरनेकी योग्यता ही नहीं है तो आप १० रोज भी चुरावें लेकिन वे चुर नहीं सकते। हमारी आत्मामें सिद्ध बननेकी योग्यता है। इस अचल स्वभावकी ओर देखो और सिद्ध बनो।

**हमारा तारने वाला कौन है यह समझो**—हमें भगवान नहीं तारते, किन्तु उनकी वीतराग अवस्थाको देख कर हमें अपनी आत्माका ध्यान होता है। पश्चात् अपने स्वरूपका चिन्तवन करने से हम स्वयं तर जाते हैं। अगर भगवान सभीको तारने लगें तो भगवान मुसीबतमें फंस जाँय, क्योंकि अकेले भगवान और इतना बड़ा संसार; पूरी दुनियाका भार उनपर आ जाय। लेकिन ऐसा है नहीं, आप लोग विचार करो कि जो अधूरा होता है, जिसे किसी तरहकी इच्छा होती है, वही ना किसी कामको करता है। जिसके कोई इच्छा नहीं होती वह किसी भी कामको नहीं करता है। उसका काम तो अनन्त सहज आनन्दका परिणमन है। भगवानके सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) पैदा हो गया है तो उन्हें क्या करना है?

**भगवद्भक्तिकी महिमा**—भैया, आप लोग यदि अपना कल्याण चाहते हो तो भगवानसे प्रेम करो। भगवान प्यारे तभी हो सकेंगे, जब आपको उनका हमेशा ध्यान रहेगा। जैसे आपको जो वस्तु अधिक प्रिय है तो आपको हमेशा उसीकी धुन सवार रहती है। वैसे ही भगवानस्वरूपकी धुन सवार हो जावे। भैया अब तो भगवान्को अपना इतना प्रिय बना लो कि घरमें, दुकानमें कहीं भी रहते हुये सदा भगवान ही हृदयमें बसा रहे। किन्तु आपके मनमें भगवान तभी विराजमान होगा, जबकि हृदयसे राग द्वेष मोह आदिक सभीको दूर कर दोगे, पर्यायबुद्धिका घोर अन्धकार हटा दोगे। जिसके हृदयमें भगवान बसा है, वह कभी भी

सन्तापको प्राप्त नहीं होता । कोई उसके अभिप्रायके प्रतिकूल भी बोले तो भी उसे दुःख और संताप नहीं होता । भगवद्भक्ति शुभपरिणाम है, उसका नैमित्तिक सम्बन्ध भी पुण्य सम्बन्धसे है । तत्काल महती आकुलताओंसे दूर है वह पवित्र भाव है । किन्तु भैया भगवत्स्वरूपचिन्तवनके अनन्तर शुद्ध स्वभावके स्पर्शमें आता रहे, तो उसके चरम उन्नयनका कारण भगवत्स्नेह हो जावे । भगवद्भक्तिसे लौकिक बाधायें भी यों ही दूर हो जातीं ।

एक पुजारी था । उसने करीब १० वर्षसे अपने घरमें भगवानकी मूर्तिकी स्थापना की । भगवानका नित्य सवेरे बड़े भावपूर्वक पूजन किया करता था । कुछ दिन बाद खूब धनी हो गया, तब कुछ चोरोंने परस्पर कहा कि कल इसका सब धन छीन लें, और इसकी जान भी ले लें । ऐसा विचारकर दूसरे दिन वे उसके यहाँ आ गये और बोले कि हम तुम्हारा धन भी लेंगे और जान भी लेंगे । यह सुनकर पुजारी बोला कि मुझे चिन्ता नहीं, तुम दोनों चीजें ले लो । किन्तु मेरी एक प्रार्थना है, अगर तुम उसे मान जाओ तो कहूं ? चोर बोले कहो, तब पुजारी बोला, मेरे पास एक मूर्ति है, मैं उसकी १० वर्षसे प्रति दिन पूजा किया करता हूँ, सो मुझे उस मूर्तिको नदीमें डुबा आने दो । चोरों ने कहा ठीक है, दो चोर उसके साथ गये और अन्य चोरोंने कहा कि जैसा यह करे सो हमें बताना । इसके बाद पुजारी मूर्तिको लेकर बोला—हे भगवन्, मेरा धन चला जाय, मेरी जान चली जाय मुझे इसका दुःख नहीं, किन्तु दुःख इस बातका है कि भगवान की १० वर्ष सेवा की उसे अपने हाथोंसे कैसे सिराऊं ? तब ऊपरसे आवाज होती है कि तू मुझे फेंक दे चिन्ता मत कर । जिस भगवान की तूने १० साल सेवा की है उससे तुझे बहुत लाभ मिल चुका है । जो ये ४ चोर हैं सो पूर्व भवमें तूने उन्हें मारा था, सो तुझे भी इनके हाथों चार बार मरना था, किन्तु पूजनके प्रभावसे तू चारोंसे एक बार ही मारा जायगा । इतना सुनकर वे दोनों चोर बोले कि तू अभी इस मूर्तिको नदीमें मत फेंक और हमारे साथ चल, वहाँ लौट कर दोनों चोरोंने अपने दोनों साथियोंसे सारी बातें कहीं, और बोले कि देखो भगवानने तो इस की तीन मौतें काट दीं तो क्या हम चारों मिलकर इसकी एक मौत नहीं काट सकते ? ऐसा विचार उन चोरोंने उसे छोड़ दिया और बोले तू आरामसे रह । कहने का मतलब है कि ईश्वरके सच्चे स्वरूप (अपने निज प्रभु) का जब ज्ञान हो जाता है, तब उसका कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता है, क्योंकि आत्मा अजर अमर है । ध्रुव चैतन्यभाव ही इसका सहज भाव है उस ही स्वरूप आत्मा है यह त्रिकाल आत्माका सर्वस्व है, दिखने वाला तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय है । अगर कोई शत्रु इसपर आक्रमण करेगा तो वह आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, शरीरको चाहे वह नष्ट कर दे, याने शरीरके नाशमें कारण बन जावे । अपनी आत्माको पहिचानो तभी यह अविनाशी कल्याण होगा । जरा

सोचो समझो भैया !

**सिद्ध गति (गतिरहित दशा) की विशेषता**—यहाँ पूज्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं सर्वसिद्धोंको नमस्कार करके, समय प्राभृतको कहूंगा, सिद्धप्रभु सहजसिद्ध भी कहा जाता है, और कर्मक्षय सिद्ध भी कहा जाता है। गतिरहित कर्मक्षय सिद्धप्रभु हैं, और गतिरहित, सहजसिद्ध प्रभु भी। ये प्रभु दो प्रकारके जुदे-जुदे नहीं हैं, हम और मैं सहजसिद्ध प्रभु भी तत्त्व हैं, किन्तु सिद्ध प्रभुमें, सहजसिद्ध तत्त्व एवं कर्मक्षय सिद्धपना भी है।

**सिद्ध प्रभुकी आदर्श ध्रुव दशा**—कैसे हैं वे सिद्ध जिनकी गति ध्रुव है। ध्रुव कहते हैं जो हमेशा रहे, न घटे और न बढ़े, ऐसी अवस्था सिद्धप्रभुकी है। चारों गतियोंमें कोई भी गति ध्रुव नहीं है। मनुष्य हमेशा मनुष्य नहीं रहता, तिर्यंच हमेशा तिर्यंच नहीं रहता, कोई रहे भी तो वहाँ भी भव परिवर्तन है, और नारकी देव हमेशा अपनी गतिमें नहीं रहते; एक गतिसे दूसरी और दूसरी गतिसे तीसरी, इस तरह संसारी जीवोंका परिभ्रमण होता रहता है। सिर्फ सिद्धगति ही ऐसी एक गति है जो ध्रुव है। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनकी आत्मा परम विशुद्ध हो चुकी है उन्हें संसारमें कोई काम व भ्रमण नहीं करना है। इस लिये वे ध्रुव हैं।

**सिद्ध प्रभुकी आदर्श अचल दशा**—आत्मा सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य तत्त्व ध्रुव है। विशेष जो परिणमन है वह अध्रुव है। यद्यपि सामान्य तत्त्व जुदा नहीं है, फिर भी ज्ञानदृष्टिसे उनका स्वरूप और विशेष पृथक् देखा गया है, दोनोंका एक रूपक सत् है, फिर भी लक्षण तो जुदे जुदे भावसे जाने गये हैं। अब सामान्य तत्वसे देखें तो वह दृष्टि परिणमन भी स्वीकार नहीं करती। इस दृष्टिमें वह तत्त्व, अर्थ सर्वगतिसे रहित है, वह विशुद्ध अचल है। इसका लक्ष्य, उपयोग, अवलम्बन गतिरहित अवस्थाकी सृष्टिका कारण है। गतिरहित ये सिद्धप्रभु भी ध्रुव हैं। ध्रुव गतिको प्राप्त सिद्धप्रभुको हमारा नमस्कार होओ।

भगवंत देव नामरहित है। श्री आदिनाथ जी, श्री महावीर जी, श्री रामचन्द्र जी, श्री हनुमान जी आदि व्यक्तियोंने सिद्धप्रभुकी प्रभुता पाई है किन्तु वे जो भगवान हैं सो नामरहित हैं। वास्तवमें भगवान नामरहित है। भगवान तो विशुद्ध चैतन्य हैं। हम व्यवहारदृष्टिसे नाम लेते हैं क्योंकि जिन व्यक्तियोंने शुद्ध दशा प्राप्त की है उनका ख्याल करते हैं हम। यथार्थमें भगवानका कोई नाम नहीं। यदि उनमें इस उपचारके कारण भेद हो जावे तो भगवानमें असमानता हो जावेगी। कहो भैया वे अपने पूर्व चरित्रके कारण लड़ने झगड़ने लग जावें (हंसी) भगवानके शुद्ध स्वभावको निरखो और अपने स्वभावमें उपयुक्त

होवो। कितने ही लोगोंकी धारणा है कि किसी भगवानपर संकट आया तो वह किसी अन्य भगवानके पास गया। किसी भगवानने किसी भगवानको डांटा और किसी भगवानने किसी भगवानको संभाला। यह सब भौतिक दृष्टिकी मान्यतासे भगवान और धर्मका नाम लेकर भी होता रहता है।

**भगवान तो विशुद्ध चैतन्य है**—भगवानको चैतन्य तत्त्वकी ओरसे देखना है, जो निर्मल चैतन्य हैं वही भगवान हैं। भगवान शब्दका अर्थ भी यही कहता है और परमात्मा शब्दका अर्थ भी यही कहता है और परमात्मा शब्द भी यही कहता है। भगवानके जितने नाम हैं वे सब शब्द निर्मल चैतन्यका संकेत करते हैं। इसलिये जिनमें उत्कृष्ट ज्ञान है, जो चैतन्यस्वरूप हैं वे ही भगवान हैं। परमेश्वर भगवानकी भक्तिका हमसे क्यों सम्बन्ध है? इसलिये कि हमारी व भगवानकी जाति एक है।

हमारे और आपके अन्दर भी भगवान होनेकी शक्ति है। हमारी आत्मा भी ज्ञान-स्वरूप है। हां केवल यह अन्तर है कि हमारा स्वभाव अभी आवरणोंसे तिरस्कृत है। फिर भी ज्ञानपर पूरा आवरण नहीं हो सकता। जब सहजस्वभावका ज्ञान होगा तभी आत्मा आत्मामें उपयुक्त है। मैं सर्व अन्य द्रव्योंसे भिन्न हूँ, जैसा हूँ वैसा अपना स्वरूप जाननेमें आ गया कि सम्यग्ज्ञान हो गया। फिर इसीके पूर्ण विकासको भगवान समझिये। भगवान हो जानेपर उसमें परस्पर पर्यायदृष्टिका भी असमान वाला अन्तर नहीं रहता है। सिद्ध प्रभु समस्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व अनन्त आनन्दमय है। उसमें अन्तर नहीं प्रतीत होता। इसीलिये तो यह प्रसिद्धि हो गई कि ईश्वर एक है और उसमें आत्मा समा जाते हैं, ईश्वर में लीन याने मुक्त हो जाते हैं। तात्पर्य तो एक स्वरूपसे है। वैसे बननेपर अन्तर नहीं रहता, इसे समान कह लो। लोकमें भी घनिष्ठ प्रेमियोंको, एकसे भाव वालोंको कह देते हैं कि ये तो सब एक हैं, क्योंकि वहाँ अन्तर नहीं दिखता। इसी प्रकार सर्वसिद्धका एक ईश्वर स्वरूप समझ लो। लौकिक जन तो विषम अर्थोंमें भी एकता थोप लेते हैं, फिर भगवानकी विशुद्ध पर्याय तो बिल्कुल समान है। लोकालोकके सब ज्ञाता हैं, अनन्त आनन्दके सब भोक्ता हैं।

**भगवानकी सिद्ध अवस्था भी अचल है**—भगवानकी सिद्ध अवस्था अचल है क्योंकि मलिनताका उपादान नहीं रहा। अब किसे निमित्त पाकर कर्मबंध हो और किसे निमित्त पाकर वे स्वभावसे च्युत हों। भैया, जैसे प्रभु शक्ति और व्यंजना दोनोंमें अचल हैं वैसे व्यंजनामें तो नहीं किन्तु शक्तिसे आप हम सभी अचल हैं। हमारी आपकी सबकी यह अच-लता अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगी। इसका प्रबल प्रमाण यही है कि आज दुनिया में सब पदार्थ हैं।

अचलता न होती तो ये पदार्थ भी कैसे रह पाते ? अपने बोधके लिये व त्र और शक्तिको देखें।

**सिद्धकी उपमाके लिये और कुछ नहीं**—सिद्ध भगवान अनुपम हैं, इस विशेषणसे पहिले जो दो विशेषण दिये हैं कि सिद्ध प्रभु ध्रुव और अचल हैं, ये अनुपम विशेषणके कारणपनेको प्राप्त हैं। प्रभुकी अलौकिकता, ध्रुवता और अचलता अनुपमताके कारण हैं, समर्थक हैं। वे भगवान रागद्वेषरहित हैं, वह न हमें बनता है और न सुख दुख देता है, हम तो भगवानका ध्यान इसलिये करते हैं कि उनको देखकर हमारे भाव भी उन्हीं सरीखे बनने के पैदा हों; अथवा यह तो प्रासंगिक चिंतना है। वीतराग आत्माकी शुद्ध अवस्था निरखनेसे शीघ्र स्वभावपर दृष्टि टिक जाती है। स्वभाव किसी विशेषकी विशेषता न ग्रहण करके दृष्टिगोचर होता है, अत: शीघ्र अपने आपके स्वभावमें उपासक आ जाता है।

**सिद्ध प्रभुकी स्वच्छता**—सिद्ध प्रभु ऐसे स्वच्छ हैं कि उनकी पर्याय स्वभावमें एकता को प्राप्त हो गई। तभी स्वभावकी उपासनाके लिये भगवद्भक्ति एक प्रधान साधन हो गया है। स्वभावदृष्टिके बलसे सम्यक्त्व पैदा करके अपनी आत्माका कल्याण कर लेना भक्तिका प्रयोजन है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति बहुत बड़ा कार्य है। वह तब होगा जबकि पहिले आप अपने हृदयमें धारणा करोगे। यदि मुक्तिका वरण चाहते हो तो इसे एक बारातका रूपक दे दो—जैसे एक बारातके लिये, वरविवाहके लिये अनेक बरातियोंकी संगति होती है और वे कार्यको सफल बना देते हैं। सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके लिये, मुक्तिका वरण करनेके लिये अलौकिक आध्यात्मिक एक बारात बनाओ। उसके बराती सर्वसिद्ध हों। इन सब सिद्धोंके ध्यानके प्रसादसे आप अपने उस महान् कार्यमें सफल होंगे जिसे अब तक नहीं किया। जिन्होंने किया इस मोक्षमार्गको पार करके मोक्षका लाभ, उन्हें अपने हृदयमें बिठाओ।

**सिद्ध प्रभुका शुद्ध आसन**—भैया, जिसके हृदयमें सिद्ध प्रभु विराजता है, अर्थात् जिस अन्तरात्माकी दृष्टि सिद्धस्वरूपपर रहती है, उसके विषयकषायकी आपत्तियोंका तो अवकाश ही नहीं है, और अवकाश है निर्मलताकी वृद्धिको, स्वभावकी उपासनाको। धन्य है उस निर्मल अन्तरात्माको, परमात्मा जिसके ज्ञानका विषय है। यहाँ श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं कि—सिद्ध रूपसे साध्य जो आत्मा है उसके लिये श्री सिद्ध भगवान प्रतिध्वनिरूप हैं। हमें क्या बनना है इसके उत्तरमें जिसपर दृष्टि जावे वह सिद्ध भगवान ही हैं। पूर्णनिष्पन्न दशा जो कि पूर्ण सर्वथा निर्मल हो वह सिद्ध प्रभुकी अवस्था है।

**परमात्माका वस्तुगत स्वरूप**—द्रव्य गुण पर्यायकी जहां एकता हो गई वह परमात्मा है—लक्षणसे तो वहां भी द्रव्य गुण पर्यायका अपना लक्षण जुदा है, पहिचानने का साधन है। परन्तु सामंजस्य ऐसा अलौकिक है कि एकता कहकर ही विराम लिया जा सकता है।

अरहंत प्रभुकी अवस्था पूर्ण निर्मल है, जो अघातिया कर्मोंका उदय उनके है वह स्वरूप विकासका लेश घातक नहीं है किन्तु बाह्य संपर्क अवश्य है, सो इतनी भी अशुद्धता सिद्ध प्रभुमें नहीं है। अरहंतदेव अघातिया कर्मोंका क्षय होते ही सिद्ध दशामें प्राप्त होते हैं, अतः सिद्धदशा पूर्ण शुद्ध अवस्था है। जिस अवस्थामें किसी भी प्रकारकी अपूर्णता न रहे वह ही सर्वोत्कृष्ट अवस्था उपलब्धव्य है।

**हमारा पवित्र सही प्रोग्राम क्या होना चाहिये**—हमें क्या बनना है? इसके उत्तरमें जो लक्ष्य होता वे सिद्धप्रभु हैं। प्रभु अथवा सिद्धप्रभु प्रतिध्वनि है। जैसा हम सिद्धप्रभु को देखते परखते व कहते हैं उसी स्वभावकी प्रतिध्वनि हमें आती है कि सभी सिद्ध हैं। स्वभावको देखनेपर यह तत्त्व समझमें आता है, समझ कर प्रभु कुन्दकुन्द कहते हैं कि अचलगति, ध्रुवगति और अनुपम गतिको प्राप्त ऐसे सिद्ध भगवानको नमस्कार करके समय प्राभृतको कहूंगा। यहाँ नमस्कार क्या किया, सिद्ध प्रभुको भावांजलि द्वारा अपनेमें विठाया और द्रव्य जल्पको निमित्त पाकर दूसरे भव्य आत्माओंके चित्तमें विठाया। सिद्धासनका निर्माण तो भावद्वारा ही होता है, सो यही बात खुदके लिये भी है और सबके लिये भी है, किन्तु श्रोताओंको वचन, श्रुति एक बाह्य कारण है। श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवकी चेष्टा स्वपरउपकारिणी है। इस तरह महान् उत्सवके लिये बनाये व सजाये मण्डपकी दृढ़ व्यवस्था करके आचार्य अपने उद्दिष्ट धर्मके प्रकाशको करते हैं, याने समयसारको कहते हैं। अब श्री आचार्य जिस समयसारको कहेंगे उस समयसारकी विशेषता देखिये। कैसा है वह समयसार, जो अनादि निधन श्रुतसे प्रकाशित होनेसे प्रमाण रूप है तथा प्रमाणित है।

**सही ज्ञान, परम्परासे चले आये हुयेके सदृश होता है**—ये द्वादशांग किसीके द्वारा रचित नहीं होते, किन्तु ये तो अनादि कालकी परम्परासे चले आये हैं जो बनाये हुये होते हैं, उनमें समानता नहीं रहती, आगे द्वैत रूप-हो जाता है—अर्थात् उनमें विरुद्ध अथवा प्रकारान्तरसे वर्णन हो जाता है किन्तु इनमें वैसा नहीं है, यह अनादि श्रुतसे प्रकाशित होने से प्रमाणरूप है। महावीर स्वामीके पहले पार्श्वनाथ थे, और पार्श्वनाथसे पूर्व नेमिनाथ। इसी क्रमसे आदिनाथ प्रभु तक यह क्रम रहा। हां आदिनाथ स्वामीके पूर्व १८ कोड़ाकोड़ी सागर समय तक विच्छेद हो गया था, फिर भी द्वादशांग शास्त्रोंमें कोई भी अन्तर नहीं आया है, क्योंकि इसका कारण यह है कि केवलज्ञानीकी ध्वनिको निमित्त पाकर गणधर देव जो अवधि और मनःपर्यय: ज्ञानके धारी भी होते है, तथा सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके भी। उनके ज्ञानस्वभावसे उठकर यह श्रुतस्कंध हुआ है, यह श्रुतज्ञान श्रुतज्ञान नामक द्वितीय प्रमाणका पूर्व विकसित रूप है। हमारे श्रुतज्ञान ही वृद्धिगत होकर यह रूप रख लेते हैं। यद्यपि आजकल ऐसी योग्यता व परिस्थिति नहीं है तथापि शक्ति इस योग्य है तथा यद्यपि यह

आवश्यक नहीं है कि इतना विकसित ज्ञान हो, तभी जीव मोक्षमार्गमें प्रवेश करे, तो भी इतना तो आवश्यक है कि इसके अविरुद्ध निज तत्त्वसे सम्पर्क व परिचय तो हो ही जावे। यह समस्त श्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग—इन चार प्रकारोंमें विभक्त है।

**वेद श्रुति स्मृति पुराण**—कुछ विवेकप्रिय लोगोंने ४ प्रकारसे वेद श्रुति, स्मृति, पुराण माने है, सो वे इस प्रकारसे घटित हैं—वेद कहते है, उत्कृष्ट ज्ञान (केवल ज्ञान) को और श्रुति कहते है केवलज्ञानीके द्वारा जो नैसर्गिक शब्द हुआ यानि दिव्यध्वनि तथा दिव्यध्वनिका जो स्मरण है उसे कहते हैं स्मृति। वह है द्वादशांगके अवज्ञान रूपमें। और पुराण; जिन्हें पुराने आदमियों ने बनाये हैं, सो इन्हें कहते हैं पुराण। प्रथमानुयोग, करणानुयोग आदिके जितने भी ग्रन्थ हैं, पुराण हैं, वे सभी इस विविक्षामें पुराण हैं। स्मृति; स्मृतिरूप ही है, वह लिपिके द्वारा अक्षरोंमें निवद्ध नहीं हो पाती। इसलिये स्मृति शब्दसे सही अर्थ द्वादशांग व अंग प्रकीर्णक रूप, सर्व भाव श्रुतज्ञान है। श्रुति कहिये दिव्यध्वनि श्रुतिमें द्वादशांग जैसे अक्षर भी निवद्ध नहीं हैं, वह तो मात्र सुननेमें आती है निरक्षरी ध्वनि है। अतः श्रुति शब्दसे सही अर्थ दिव्यध्वनि ही निकलती है। इस सम्बन्धमें यद्यपि २ मान्यतायें हैं—१ निरक्षरी, २ साक्षरी, तथापि इनका एक्सप्रेशन (विवरण) होने पर करीब-करीब एकार्थक सिद्ध होते हैं। प्रभु वीतराग हैं, उनकी श्रुति बुद्धिपूर्वक नहीं होती, अतः सर्वाङ्गीण श्रुति है, वह निरक्षरी है, ॐ ध्वनिरूप है, श्रोताओंके कर्णगोचर होनेपर उन श्रोताओंकी योग्यता व संस्कृतिके अनुरूप जल्पका कारण होती है, और तब साक्षरी कहलाती है। इस श्रुतिकी प्रामाणिकताका प्रमाण है वेद। वेदमात्र ज्ञान है, वह न श्रुति है, न स्मृति है, इसलिये वेद शब्दका अर्थ केवलज्ञान है। इस तरह परस्पर व्यतिरेकरूपसे रहण द्योतित करने वाले ये वेद श्रुति स्मृति पुराण, केवलज्ञान दिव्यध्वनि, सर्वश्रुतज्ञान और शास्त्रके ही वाचक ठीक बैठते हैं। और इनका संकेत आगममें भी आया है। इस समयसार ग्रन्थ की प्रामाणिकताका विषय चल रहा है।

यह समयसार समस्त द्रव्यगुण पर्यायोंको साक्षात् करने वाले जो केवली भगवान हैं उनके समीपसे प्रणीत है। व्याकरण शास्त्रज्ञ मानते हैं कि १४ सूत्र अइउण्, ऋलृक् आदि महादेवकी डमरूसे निकले हैं सो चौदह सूत्र ही नहीं किन्तु समस्त श्रुत सूत्र जो कि १२ अङ्ग हैं और १४ प्रकीर्णरूप हैं, केवलज्ञानी अरहंत महान्‌देवकी दिव्य ध्वनिसे निकले हैं। यही दिव्यध्वनि उनके डमरूके शब्दकी कल्पना है, इसमें निरक्षरीकी समानता है अइ-उण आदि तो आचार्योंने शब्दरचना समझानेके लिये अपनी प्रतिभासे संचित किया है, यह द्वादशांग मूलमें दिव्यध्वनिपर आधारित है, क्योंकि दिव्यध्वनिके निमित्तसे, यह सब रचना है। इसी परम्परासे समागत यह शास्त्र समयसार केवली भगवानकी दिव्यध्वनिसे

निकला (प्रणीत) है, इसलिये यह प्रमाणित है।

दूसरे, समयसारमें कई गाथायें तो ऐसी है जिन्हें श्रुतकेवली भगवान, गणधर स्वामी स्वयं उच्चारित किया करते थे, द्वादशांगके पाठी तो द्वादशांगको पढ़ा करते थे। गाथाने भी यही संस्कृतमें कहा है कि जिन गाथाओंको गणधर स्वामी पढ़ा करते थे, वे भी कहीं-कहीं गाथायें इस महाग्रन्थमें हैं। यह बात सुदकेवलो भणिदंसे सूचित होती है।

**विराग ऋषियोंकी अपूर्व निष्पक्षता**—इतना सब प्रमाणिकताको लिये होनेपर भी श्रोताओंके आत्माका वास्तविक आदर करते हुए यहाँ कुन्द-कुन्द प्रभु कहते हैं कि तुम मत मानो कि यह आप्तोक्त होनेसे प्रमाण रूप है। सब बातोंको छोड़ो, किन्तु इस ग्रन्थको एक बार एकाग्रचित्त होकर आदिसे अन्त तक सुन लो। इसका परिचय करो, मनन करो। भैया, सोच लो, तब तुम्हारा हृदय स्वयं यह कह उठेगा कि ग्रन्थ प्रमाणरूप है। इस समयसारमें उस समयका वर्णन है जिसकी दृष्टिसे निर्मल पर्यायका विकास होता। ऐसे समयको नमस्कार होवे।

अपने हृदयके विकल्पोंको हटाकर उस समयसारके तत्त्वोंको ग्रहण करो, उनका अनुभव करो तो आत्माका बहुत कुछ लाभ होगा।

सिद्धप्रभुके नमस्कारके साथ इस गाथामें भगवान आत्मस्वभावकी भी वन्दना हो जाती है। गतिका अर्थ भाव, भवन, अवस्था अथवा जो भी समझमें आवे वह तत्त्व है। भगवान् आत्मस्वभाव ध्रुव भावको प्राप्त हैं क्योंकि यह तो प्रकट स्वभावभूत है ही। भगवान आत्मस्वभाव अचलताको प्राप्त है क्योंकि अनादिकालसे ही स्वभाव भावान्तरोंसे विविक्त रहता है। भगवान आत्मस्वभाव अनुपम है क्योंकि समस्त उपमानोंसे विलक्षण इसकी महिमा है। स्वभाव व स्वभावपरिणमनमें स्वरूपसे एकत्व है, केवल शक्ति व्यक्तिका ही भेद है। अतः स्वभावपरिणमन चाहिये तो स्वभावकी उपासना करना चाहिये। स्वभावपरिणमन साध्य है, उसके लिए उपास्य स्वभाव है अथवा यही साध्य है और यही एक साधक है अथवा उसमें साध्यसाधक भेद भी नहीं है। ऐसे परमपारिणामिक भावमय भगवान अनादि सिद्ध आत्मस्वभावको भावस्तवसे स्वात्मामें रखकर और द्रव्यस्तवसे परात्मामें रखकर स्वपरमोहके परिहारके लिये इस ही कारण परमात्मतत्त्वरूप समयसार अर्थात् भगवान आत्मस्वभावके परिभाषणका उपक्रम किया जाता है।

जैसे स्वभाव जल और निर्मल जलका परिचय पूछा जावे तो जो विशेषण निर्मलजल के लिये कहे जा सकते हैं वे ही विशेषण स्वभाव जलके लिये कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार कर्मक्षय सिद्ध प्रभुके जो विशेषण कहे गये हैं वे ही विशेषण भगवान आत्मस्वभावके कहे गये हैं। सहजसिद्ध कारणसमयसारको नमस्कार हो।

श्रीमत्पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं सब सिद्धोंको नमस्कार करके इस समयसार ग्रन्थको कहूँगा। कैसा है यह ग्रन्थ कि जिसमें स्वयंकी आत्माका वर्णन है, वह आत्मा कैसी है जो रागद्वेषरहित है, चैतन्यस्वरूप है, जो न कर्ता है, न भोक्ता है। आत्मा ध्रुव है, आत्मा स्वत.सिद्ध है ऐसी स्वयंकी आत्माका वर्णन इस समयसारमें है, आत्मा रागरहित, सहजसिद्ध है। उस स्वभावकी सर्वथा पूर्ण व्यक्ति सिद्ध अवस्थामें हुई है, तो सिद्ध पर्यायका विलास सहज रसकी एकतामें परिणत है। अतः सिद्धप्रभुका स्मरण करके सहज सिद्ध आत्मा रागरहित, आत्माके वर्णन करने वाले इस ग्रन्थराजको प्रारम्भ किया जा रहा है।

इस समयसार ग्रन्थमें उस ध्रुव आत्माका वर्णन है जो कि हम आप सभी हैं। प्रश्न—सिद्धों को ही चमत्कार क्यों है? उत्तर—जो जैसा बनना चाहता है अथवा जो वस्तु जिसे प्रिय होती है वह उसीका आदर तथा उसीका आचरण करता है। किसीको धन प्रिय है और वह धनी होना चाहता है तो वह धनी व्यक्तिका आदर तथा वैसा आचरण करता है, इसी तरह जो परम शुद्ध आत्मा प्राप्त करना चाहता है वह सिद्धोंका आदर तथा उन्हीं जैसा आचरण और उन्हींको नमस्कार करेगा। मुमुक्षु सत्पुरुषोंको व्यवहारमें प्रियतम है सिद्धप्रभु और निश्चयसे प्रियतम है ध्रुव चैतन्य निज स्वभाव। प्रियतम शब्दका अपभ्रंश प्रीतम व पीतम हो गया है। लोकमें पीतम पतिको कहते हैं, किन्तु पीतम शब्दका असली अर्थ है जो पीतम सिद्धप्रभू है। अन्य लोग भी अपने अपने देवके प्रति प्रीतम शब्दका व्यवहार करते हैं।

श्रीमत्कुन्दकुन्द देव सत्य मुमुक्षु महर्षि थे। उनका प्रियतम सिद्धदेव है, सो उन्होंने सिद्ध भगवानको नमस्कार करके समय प्राभृत कहनेका उद्देश्य किया है। यहाँ नमस्कार भी वन्दित्त शब्दसे किया है, जिसका भाव है गुणोंको स्तवन व भावना करते हुए नमस्कार करना।

**ग्रन्थकी प्रामाणिकता**——यह समय प्राभृत ग्रन्थ अलौकिक भेंट है व पूर्ण प्रमाणभूत है। कोई कहता है कि आप भले ही इस ग्रन्थको कहें लेकिन हम कैसे मानें कि यह आपका ग्रन्थ प्रमाणभूत है? इसके लिये इसमें तीन विशेषण दिये हैं जिनसे आपको ज्ञात हो जायगा कि यह ग्रन्थ प्रमाणभूत है या नहीं? प्रथम तो यह केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिसे प्रणीत है और इसमें कई गाथाएं तो ऐसी हैं जिन्हें श्री गौतम गणधर स्वामी स्वयं अपने मुंहसे उच्चारण किया करते होंगे, द्वादशांगके पाठी जो आचार्य थे उन्होंने ऐसा ही कहा होगा तथा आप एक बार इस ग्रन्थको आद्योपान्त एकाग्रचित्तसे सुन लें तब आपको स्वतः भान हो जायगा कि यह ग्रन्थ प्रमाण है या नहीं? युक्तियोंको भी देख लें—अबाधित युक्तियां हैं।

यह ग्रन्थ समयप्रकाशक है, समय नाम यहाँ आत्माका है। इस ग्रन्थमें उस सामान्य आत्मा पर प्रकाश डाला है जो समस्त परसे भिन्न और अपने गुण पर्यायकी एकतामें अनुगत है। देखो भैया! जो आत्मामें नहीं है वह अन्य द्रव्यसे आता नहीं है और जो आत्मामें है वह आत्मासे जाता नहीं है ऐसी अवस्था सामान्य रूपसे है। इसमें प्राभृत शब्द भी लगा है जिससे यह अर्थ निकलता है कि आत्माका प्रकाश करने वाली भेंट है। क्योंकि भेंट प्राभृत का नाम है, सो जैसे राजा महाराजा आदि किसीसे मिलनेके लिये भेंट ले जाया करते है उसी तरह आत्मारूपी प्रभुसे मिलने के लिये यह ग्रन्थ भेंट स्वरूप है। यह ग्रन्थ सारभूत है।

यह केवल भगवान अरहंत प्रभुके वचनोंका अवयव है, उनकी वाणीसे (दिव्यध्वनिसे) यह ग्रन्थ भी निकला है, अतः मैं— कुन्दकुन्द इस हित रूप एवं प्रमाणभूत समयसारको कहूँगा।

**पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरिकी प्रतिभा**—कोई कहे कि आप अपना आध्यात्मिक अमूल्य समय छोड़कर (अपनी समाधिको छोड़कर) यह कर्म (कार्य) क्यों कर रहे हो? इस ग्रन्थको बनानेका तुम्हारा क्या ध्येय है? आदि।

तब आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामीके टीकाकार जो एक कुकल वकीलके स्वरूप थे, याने जो विचार भगवान कुन्दकुन्द स्वामीके होते थे उन्हें खोलकर रख देने वाले पूज्य आचार्य श्री अमृतचन्द जी सूरि कहते है कि इस ग्रन्थको बनानेका उद्देश्य सिर्फ यही है कि अनादिकालसे चला आया जो हमारा और आपका मोह है वह आत्मासे दूर हो जाय। इस ग्रन्थको बनानेका यही उद्देश्य है और कोई अन्य उद्देश्य नही है। पूज्य सूरि जी 'जो अनादिकालसे स्वका तथा परका मोह लगा है यह हमारी आत्मासे दूर हो' यह इस ग्रंथका उद्देश्य कहते हैं। अनादि कालसे जो मोह राग द्वेषादि है, ये कहाँसे आये, जिनके द्वारा हम अशुद्ध हैं? आप विचार करो कि हम ऐसे कैसे बन गये? किसी चीजकी उत्पत्ति बिना कारण या साधनके नहीं होती है। आप चेतन है तो पूर्व चेतनावस्थासे बने हो, क्योंकि तुम्हारी यह चेतना दशा है और वह पूर्व चेतनावस्था पूर्व चेतनावस्थासे बनी होगी और वह चेतनावस्था पूर्वचेतनावस्थासे बनी होगी; इस तरह वह चेतन अनादि है।

**कर्म व आत्माका यह संबंध अनादि परम्परासे है**—अब आप कल्पना करो कि वह चेतन परले शुद्ध था या अशुद्ध? शुद्ध था तो अशुद्ध होनेका कारण क्या है? अशुद्ध होता है कषाय भावोंसे और कषाय स्वयं या बिना निमित्तके सद्भावके नहीं होती; कोई बड़का पेड़ पैदा हुआ किसके द्वारा? बीजके द्वारा और वह बीज कहाँसे आया? पूर्व वृक्षसे, वह भी पूर्व वृक्षसे पैदा हुआ। इस तरह ये सभी जीवादि द्रव्य अनादिसे आये है। किसी भी द्रव्यकी नवीन उत्पत्ति नहीं हुई है। जीव भी अनादिसे है और कर्म भी अनादिसे है। जीवमें

अशुद्धता किसी निमित्तको पाये बिना नहीं होती है, क्योंकि अशुद्धता स्वाभाविक भाव नहीं है। इसी प्रकार कर्म वर्गणामें कर्मत्व निमित्तको पाये बिना नहीं होता, क्योंकि कर्मत्व विषम, विविध और अध्रुव है। बस जीवकी अशुद्धताका निमित्त तो कर्मका उदय, उदीरणा और कर्मत्वरूप आस्रव बंध जिनके बिना उदय नहीं हो सकता, उनका निमित्त है जीवकी अशुद्धता। तो इस प्रकार अशुद्धताके पूर्व कर्म और कर्मके पूर्व अशुद्धता अवश्यम्भावी है। तब परम्परासे यह अशुद्धता और मोह अनादिका; परम्परा दृष्टिसे समझना चाहिए। यद्यपि कोई भी निमित्त अपनी परिणतिसे उपादानको नहीं परिणमाता। किन्तु निमित्त पाकर उपादान स्वयं विभावरूपसे परिणमता है, सो इस परिणमनमें यह उपादानकी शक्ति और उपादानकी विशेषता है। इस अनादि परम्परासे मेरी भी अशुद्धता है और यह जीव भी अनादिकालसे मोह, राग द्वेषसे लिपटा है। सो मैं व वे उनसे दूर हो जावें, इसलिये इस ग्रन्थकी रचना की जा रही है। यहाँ वचनका कर्ता आत्मा नहीं है, वचन तो भाषावर्गणाका परिणमन है। आत्मामें इच्छा पैदा होती है कि मैं ऐसा बन जाऊं, ऐसा हो जाऊँ, ऐसा करूं और जब उसमें इच्छा पैदा होती है तो उसका निमित्त पाकर योग पैदा हो जाते हैं, उसका निमित्त पाकर वायुका संचार होता है, उस वायुको निमित्त पाकर यह मुँहरूपी हारमोनियम चलने लगता है। यहां मुँह एक हारमोनियम ही है। जैसे वह हवाको निमित्त पाकर के जैसे स्वर दबाते हैं वैसे ही शब्द स्वर निकलते हैं, इसी तरह यह मुंह है, इसकी हवाका दबाव जब तालुपर पड़ता है तो च–छ–ज आदि शब्द निकलते हैं। वायुका कण्ठपर जोर हो तो क, ख, ग, घ आदि अक्षर निकलने लगेंगे। इसी तरह जैसी-जैसी वायु जिन-जिन स्थानोंसे सम्बन्धको पाती है उसी तरहके शब्द निकलते हैं। किन्तु आप यह मत समझ बैठना कि ये शब्द जीभ अथवा ओंठके द्वारा निकले याने जीभ और ओंठ ने निकाले। हवा को निमित्त पाकर ओंठ आदि चले, उसका निमित्त पाकर यहां जो भाषावर्गणाके शब्द भरे हैं वे प्रकट हो जाते हैं। इस विषयका वर्णन फिर करेंगे, इसी तरह यह ग्रन्थ यहां पर निमित्तनैमित्तिक भावसे बनाया जा रहा है, जिससे मैं अपने मोह, रागको दूर करूंगा और जो भाई इसे अपने हृदयमें धारण करेंगे तो उनका मोह भी दूर होगा।

**सम्यग्दर्शनकी शांति, सुखके लिये आवश्यकता**—मोह रागादिकको नष्ट करनेके लिये सम्यग्दर्शनकी परम आवश्यकता होती है। जब तक सम्यग्दर्शन आत्मामें प्रकट नहीं होता तब तक वह मिथ्यात्वके प्रभावसे बाह्य पदार्थोंमें मोहबुद्धि रखता है। यह मेरा है, पुत्रादि मेरे हैं, मैं उनका पिता हूं—ऐसी मिथ्याबुद्धि इस जीवके बनी रहती है, और इसका भी मूल कारण निज पर्यायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है, जिसके प्रभावसे यह अनादिकालसे इसी संसारमें भटकता फिरता है और अनेक तरहके जन्ममरणके दुखोंको भोगा करता है।

इसलिये अहंकारको नष्ट करके जो परसे भिन्न आत्मा है उसे देखो। मत सोचो कि यह कुटुम्ब मेरा है, मैं इसका पालन करता हूँ। आपके कुटुम्बी जनोंका पूर्व पुण्य है जिसके उदय से तुम उनके नौकर और वे तुम्हारे स्वामी बने हैं। लोग तो यह समझते हैं कि यह नौकर है और मैं स्वामी हूँ, किन्तु हो रहा है उल्टा। इसलिये मोह, राग, द्वेषको छोड़ अपनी ध्रुव रूप जो आत्मा है उसीका ध्यान करो, तभी कल्याण होगा। यही प्रयोजन इस समयसार के रचने का है, अन्य प्रयोजन नहीं। मोह विनाशके प्रयोजनके अर्थ भाववचनसे और द्रव्यवचनसे इस ग्रन्थका परिभाषण प्रारम्भ किया जा रहा है। देखो भैया! इस भाव-वचनसे तो स्वमोहके प्रहाणका प्रयोजन सिद्ध होता है। निश्चयतः मोहका विनाश वचनसे नहीं होता है किन्तु स्वभावदृष्टिसे होता है, तो उस स्वभावदृष्टिसे पूर्वका विकल्पात्मक परिणाम जिस भाववचन व द्रव्यवचनको निमित्त पाकर हुआ उसमें निमित्तका उपचार है। तो मोह प्रयाणके लिये इस ग्रन्थका परिभाषण किया जा रहा है। यहाँ कर्तृ वाच्यका प्रयोग नहीं है जिससे निरहंकारता प्रकट होती है। देखो तो भैया! महर्षियोंके संस्कार, कभी गर्वका भाव नहीं रहता। अब आगे समयप्राभृत ग्रन्थका प्रारम्भ होता है।

श्रीमत्परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी समयसार ग्रन्थका विषय इस दूसरी गाथामें कह रहे हैं, किन्तु उनके पूर्व जो कि इस ग्रन्थके टीकाकार हैं जो एक महान् कुशल वकीलके समान थे। पूज्य आचार्य अमृतचंदजी सूरी कहते हैं कि इस ग्रन्थमें सबसे पहले तो समयका ही वर्णन किया जा रहा है। समय याने आत्मा कैसी है? वह आत्मा जो पेड़में, पौधोंमें, चींटी, हाथी, देव-नारकी हम आप सभीमें है वह सामान्य आत्माका वर्णन इस ग्रन्थ में सबसे पहले किया जा रहा है, क्योंकि महान् पुरुषोंके वचन थोड़े होते हैं और अर्थ अधिक होता है। उनके प्रतिपाद्य विषयमें जो सार रहता है, जो निचोड़ होता है, वही पहले कह दिया जाता है। सरल व्यक्ति वे हैं जो मुद्दोंकी सारी बातोंको पहले ज्यों की त्यों सामने रख देते हैं और फिर इसके बाद उसका स्पष्टीकरण होता रहता है। किन्तु आजकी पद्धति इससे भिन्न है, आजकलके लेखकगण कहानी, नाटक, उपन्यास अथवा और ग्रन्थोंकी पहले बड़ी-बड़ी भूमिकायें बनाते हैं, उसके बाद प्रस्तावना आदि बहुतसा विषय भर देते हैं तब कहीं अंतमें जाकरके उसका थोड़ासा रहस्य होता है। उसे प्रकट करेंगे, प्रस्ताव भी करेंगे तो पहिले सब कह डालेंगे, फिर वह दो लाइनका प्रस्ताव रखा जावेगा। प्रत्येक जगह ही ऐसा होने लगा है। यह वक्रताका जमाना है, इसलिये मुख्य बात, असली जो भेद है, उसे कोई भी शुरूमें नहीं कहना चाहता है किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु प्रारम्भसे ही आत्माका वर्णन शुरू कर रहे हैं। यहां यह कहा गया कि उसमें पहले भले प्रकारसे समय [illegible] कहा जा रहा है। यहां एक एक शब्दका रहस्य देखिये, उसमें इस शब्दके कहनेसे तो

यह जाहिर होता कि वह ग्रन्थ सब प्रकट हो चुका है तब "उसमें" यह शब्द लागू हुआ। सो भैया! महर्षिद्वयके उपयोगमें सब प्रकट हो ही चुका था। फिर श्री सूरिजी के द्वारा यह टीका टीकित हुई। "पहले" शब्दसे यह ध्वनित है कि ग्रन्थका प्रारम्भ यहांसे है और एकदम ही ग्रन्थका जन आधार कहा जा रहा है। "भले प्रकारसे" शब्दसे यह स्पष्ट है कि वर्णन तो आत्माका होगा, पर विशदरूपसे अन्य सभी अङ्ग वर्णित हो जावेंगे।

"समय एव अभिधीयते" वाक्यसे सरलता व परम करुणा प्रकट हुई है। सारभूत बातको पहिले रख देना सरल पुरुषोंका ही काम है। सारभूत तत्त्व समय है, जिसके बारेमें समस्त अध्यात्मशास्त्र है। 'अभिधीयते' शब्द तो बहुत ही निर्मलताका सूचक है। इसका अर्थ है 'कहा जा रहा है'। आजकल तो लोग जरासा भी काम करें तो अपना गर्व दिखाते हैं "मैंने किया" "मैं कर रहा हूं" आदि कर्तृवाचक शब्दों द्वारा, परन्तु यह कर्मवाच्यका प्रयोग है, इसमें कार्य तो मुख्य रहा है और कर्ता गौण हो चुका, अपने कर्तृत्वका गर्व इसमें नहीं झलकता। वाच्य तीन प्रकारके होते हैं—कर्तृत्वाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। जिसमें मोही जीव तो कर्तृवाच्यका उपयोग अधिक करता है, जैसे मैंने मकान बनवाया, मैं देहली जाऊंगा आदि। उसकी सभी बातोंमें अहंबुद्धिका वास रहता है। निर्मोही जीव प्रायः कर्मवाच्यका तथा भाववाच्यका प्रयोग करता है। जैसे यह कार्य हो रहा है, यह मंदिर दिख रहा है। वहाँ कषायकी मंदता सूचित होती है किन्तु भाववाच्यमें तो कषायादिकी अधिक मंदता सी जंचता है। इसलिये यहाँ पर श्रीमत्पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीके मुखारविंदसे आत्माका वर्णन किया जा रहा है, यह शब्द सुननेमें भी अच्छा है और गर्वसे रहित है। अब समयका स्वरूप बताने वाली पहली गाथाका प्रारम्भ होता है।

जीवो चरित्तदंसण णाणट्ठिउ तंहि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

जो जीव दर्शन ज्ञान चारित्रमें स्थित है उसे तो स्वसमय जानो और जो पुद्गलकर्म के प्रदेशमें स्थित है उस जीवको परसमय जानो। भाव इसमें क्या भरा? जो परसमय अवस्था व स्वसमय अवस्थामें रहने वाला है इस एकको समय जानो। एक बात यह भी है कि लोगबागोंकी समझमें व्यक्त बात जल्दी समझमें आ जाती है और अव्यक्त बात देरमें समझमें आती है। इसलिये व्यक्त चीजको पहले बताकर बादमें अव्यक्तका कहना होता है। जैसे ये आपको स्कन्ध दिख रहे हैं और अगर हम आपसे पूछें कि आप परमाणुके बारेमें क्या जानते हो अथवा उसका कथन करो तो आप यकायक परमाणुके कथन करनेमें हिचकेंगे, क्योंकि परमाणुके कथनके लिये सुगम पद्धतिसे स्कंधसे शुरू करना पड़ेगा।

पहले यह समझाया जावेगा कि देखो यह स्कंध एक पदार्थ नहीं है, क्योंकि इसके

टुकड़े हो सकते हैं। तब फिर इसके टुकड़े टुकड़े होनेपर जो अंतिम अविभागी खंड हो गया वह परमाणु है। यहाँ भी पर्यायरूपमें परमाणु जान पड़ा। फिर परमाणु द्रव्य जाननेका उपाय कहा जावेगा।

**सामान्य आत्माके जानने के मार्ग**—आत्मा ज्ञानियोंके लिये व्यक्त है। सो जो अव्यक्त नहीं जान सकते उनके लिए कृपालु महर्षि जीवकी अवस्था पहिले बता रहे हैं। जीव दो तरहके होते हैं—सही पर्यायमें चलने वाला जीव और उल्टी पर्यायमें चलने वाला जीव। सही पर्यायमें चलने वाला जीव याने स्वसमय और उल्टी पर्यायमें चलने वाला जीव याने परसमय। जो परसमयमें और स्वसमयमें भी क्रमसे रहने वाला एक चेतन है, उसे कहते हैं आत्मा। जैसे उङ्गली टेढ़ी, गोल, सीधी आदि दस रूपमें परिणमती है तो आप इसकी उस असली अंगुलीको बताओ जो कि इन दसों दशावोंमें रहती हुई एक है। आप उसे नहीं बता सकते, ज्ञानसे तो जान जावेंगे कि वह मैटर एक ही है जो सीधी अंगुलीमें था और टेढ़ी गोल आदि अंगुलियों रूप भी परिणमा, सो जान तो जावोगे, लेकिन उसे आँखसे नहीं देख सकते। और वह ऐसा भी नहीं है कि न हो, किंतु इन १० पर्यायोंमें रहने वाला एक है अवश्य, और वह ज्ञानपूर्वक देखनेसे ही दिखेगा। वस्तुकी पर्याय एक समय में एक होती है। सो क्रमसे यह वस्तु सब पर्यायोंमें है।

एक बुढ़िया थी। वह रंहटा चलाती थी। एक बार उसका तकुवा टेढ़ा हो गया सो वह उसे ठीक करानेके लिये लुहारके पास गई और बोली कि मुझे इस तकुवेकी टेढ़ निकलवानी है। लुहारने कहा टेढ़ निकलवानेके दो टके लगेंगे। बुढ़िया बोली ठीक है, मैं दूंगी। लुहारने टेढ़ निकाल दी और बोला कि अपना तकुवा लो और मुझे दो टके दो। तब बुढ़िया बोली, तुमने जो इसकी टेढ़ निकाली है वह मुझे दे दो और अपने दो टके ले लो, क्योंकि मैंने तो टेढ़ निकलवानेके दो टके मंजूर किये थे, सो तुमने जो टेढ़ निकाली है सो मुझे दे दो। जैसे आप अपनी टार्चमें मसाला डलवाते हो तो दुकानदारसे पुराना मसाला ले लेते हो, यदि लुहार उसे टेढ़ देनेके लिए तकुवाको फिर टेढ़ा करे तो टेढ़ा करने के टके नहीं ठहरे थे, टेढ़ निकालने के ठहरे थे। बात क्या है? तकुवा यहाँ माननेमें स्थायी मैटर है और उसकी पहले टेढ़ी अवस्था थी, उसका तो तिरोभाव हो गया और सीधी पर्यायका आविर्भाव हो गया। तकुआ दोनों अवस्थामें एक है। आत्मामें परसमय अवस्था विलीन हो जाती और स्वसमय अवस्था उद्भूत हो जाती है। दोनों पर्यायोंमें आत्मा वही एक है। समय स्थायी है, स्वसमय व परसमय अवस्थायें आत्मा त्रिकाल व्यापक एक है। यही समय है।

**प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय किसी एक अवस्थामें है**— इस तरह प्रत्येक आत्मा एक-एक

आत्मा है। अब एक आत्माको ले लो। वह परसमयमें भी स्थित था, अब स्वसमयमें है, दोनोंमें द्रव्य एक है। ऐसे अनंतानन्त जीव हैं जिन्होंने परसमयपना अब भी नहीं छोड़ा है और न छोड़ेंगे। तो परसमयपना भी प्रति समय होता रहता है, सो उन अनन्त परसमय अवस्थाओंमें जीव एक है। इस गाथामें कहते हैं कि जो जीव निज दर्शन, ज्ञान, चरित्रमें स्थित हो उसे स्वसमय कहते हैं और जो पुद्गल कर्मके उदयसे होने वाले राग द्वेष मोह आदि नामोंमें स्थित हो उसे परसमय कहते हैं। इस गाथाका उद्दिष्ट भाव है कि स्वसमय और परसमयमें स्थित हो उसे समय कहते हैं।

**प्रत्येक कार्य श्रद्धा ज्ञान चारित्रसे होते हैं**—आत्मा (समय) का स्वभाव दर्शन ज्ञान चारित्र है। आप कोई भी कार्य ले लीजिये, प्रत्येक काममें श्रद्धा, ज्ञान चारित्रकी आवश्यकता आती है। विना श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके न पाप होता है और न पुण्य होता है। आप पाप करेंगे तो जब आपको उसमें श्रद्धान हो जावेगा कि यही हित है तभी आप उसे करेंगे और ज्ञान भी हो कि यह काम कैसे किया जाता है आदि और चारित्र तो इसका शीघ्र हो जाता है। कार्य रूपमें प्रवृत्ति करना सो चारित्र है। यहाँ यह वस्तु है कि वह मिथ्याश्रद्धा मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र है। बिना श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके रोटी भी तैयार नहीं होती है। रोटी बनाने वालेको पूर्ण श्रद्धा है और ज्ञान भी है कि रोटी इस तरह बनती है। यदि उसे ज्ञान न होता तो वह रोटी कैसे बनाता और कैसे सेकता और उसका उसने चारित्र किया याने बनानेका कार्य कर दिया तो रोटी बन गई। जहाँ श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र होंगे वहींपर संसार और मोक्ष होंगे। यहाँपर दर्शन ज्ञान चारित्र सामान्यसे दिये हैं किन्तु उनमें स्थितिका तात्पर्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे है। जिस एक गुणकी अनन्त पर्यायें चलती हैं वह दर्शन चारित्र यहाँ लिया गया है।

अब आचार्य अमृतचंद जी सूरि कहते हैं कि यहाँ समयका लक्षण शुरू किया जा रहा है। कोई श्रोता वहांपर प्रश्न करता है कि आप जीवकी विशेषतायें तो कहने लगे, किन्तु पहले आप यह तो बताओ कि जीव है या नहीं? तो पहले सिद्ध करते हैं कि जीव है।

**जीव वास्तविक पदार्थ है**—जीव है। कैसे? सत्तासे। जिसमें सत्ता है वही है। है, मानो कोई चीज है। जीवकी सत्ता है। कैसे? जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पाये जावें वह चीज है, जो बने बिगड़े और बनी रहे वह चीज है और वह सत् है। अगर इनमेंसे एक भी चीज न रहे तो वह सत् नहीं, वह चीज नहीं है। क्योंकि ये तीनों चीजें अविनाभावरूप हैं। जिनमें ये तीनों पाये जावें वही चीज है, वही सत् है। ये तीनों चीजें आप अपनी आत्मामें भी देख लो। आप पहले कुछ और थे, अब मनुष्य हैं। तो जो पर्याय पहिले भव की थी उसका तो व्यय हो गया और इस मनुष्यपर्यायका उत्पाद हो गया। दोनों पर्यायोंमें आत्मा

वही एक है । इसी तरह गुणपरिणमनमें भी लगाना तथा जैसे आप अब मनुष्य हैं, किन्तु जो आप दो वर्ष पहिले थे क्या वही आप अब भी हैं ? क्या ? और अब भी आप मनुष्य ही हैं, तो देखो आप बने भी बिगड़े भी और बने भी रहे तो आपमें तीनों बातें, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हैं । ये सभी दृष्टान्त अभी जल्दी समझनेके लिये पर्यायके ही दे दिये गये हैं । आत्मा तो वह एक है और वह कभी तिर्यंच होता, कभी नारक, कभी मनुष्य, कभी देव, कभी सिद्ध । हैं ये सब पर्याय । हां सिद्ध पर्यायकी विशेषता यह है कि सिद्ध पर्यायके बाद फिर नरक तिर्यंच मनुष्य व देव—इनमेंसे कोई भी पर्याय नहीं होते तो इन सबमें गया हुआ सत् एक है वहां तो इन रूप परिणमा ।

**जो बने, बिगड़े, बना रहे वह वस्तु है**—आपकी सरल घरू बोली । ये शब्द ठीक हैं कि जो बनता है, बिगड़ता है, फिर भी बना रहता है वह "है" । देखो भैया ! यह सत्ता त्रिलक्षण है । जिसमें ये तीन बातें हों वह सत् है । ये परस्पर अविनाभावी हैं । जो बनता है वह बिगड़ता व बना रहता अवश्य है । जो बिगड़ता वह बनता व बना रहता अवश्य है । जो बना रहता है वह बनता व बिगड़ता अवश्य है । बने बिना बिगड़ना, बना रहना नहीं । बिगड़े बिना बनना, बना रहना नहीं । बने रहे बिना बनना, बिगड़ना नहीं । यद्यपि जो बननेका स्वरूप है वह बिगड़ने, बने रहने का नहीं, जो बिगड़नेका स्वरूप है वह बनने, बिगड़नेका नहीं, जो बने रहनेका स्वरूप है वह बनने बिगड़नेका नहीं । फिर भी जो बनना है वही बिगड़ना व बना रहना है । जो बिगड़ना है वही बनना, बना रहना है । जो बना रहना है वही बिगड़ना व बनना है । अब आप देखलो आप बनते हैं, बिगड़ते और बने रहते हैं । आपमें ये तीनों चीजें हैं । अब कोई पूछता है कि यह बात सत्तामें कहांसे आ गई ? कहते हैं कि वस्तुका सत्तासिद्ध ही यह स्वभाव है, और यह अनादिसे चली आई है । हमारा काम तो बताना है, सो हम तो वस्तुका स्वभाव बता देते हैं जैसे महर्षियोंकी आज्ञा है । वस्तुका स्वरूप धर्म है । इसे आप देखलो, कोई वस्तु ले आओ, उसमें खोज लो कि इस वस्तुमें इतना धर्म है, और इतना अधर्म है । सो भैया हम तो गवाह हैं । किन्तु आप हमें आजकल के गवाह मत समझना क्योंकि आजकलके गवाह तो जरा सी देरमें और जरासे लोभमें तैयार हो जाते हैं ।

आत्मामें जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र है सो वह तो धर्म है और राग, द्वेष, मोह, आदिक जो हैं वे अधर्म हैं । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें रहता है सो वह तो स्वसमय है और जो राग, द्वेष, मोह आदिकमें रहता है वह परसमय है । इस समयसार महान् ग्रन्थमें उसी का कथन है जो आत्मा पेड़, हाथी, चींटी, हम आप और सिद्धप्रभुमें सामान्य है ।

वीतराग प्रभु आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी इतने महान् ग्रन्थ रच गये हैं किन्तु

लोगोंको उस महान् ग्रन्थका सुनने या अध्ययन करनेकी फुरसत न हो तो यह कितने खेदकी बात है ? भैया ! इस आत्माका कल्याण ज्ञान बिना नहीं हो सकता है। छहढालामें श्री कविवर दौलतराम जी ने स्पष्ट कहा है कि, ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन। इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारन ॥ इस जगतमें जीवोंको सुख देने वाला ज्ञानके बराबर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। यह ज्ञान ही उत्तम अमृतके समान है। इस ज्ञानामृतके पाने से ही, जन्म जरा (बुढ़ापा) और मरण जो तीन भयानक रोग हैं, दूर भाग जाते हैं। इसलिये हमारा और आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि ज्ञानप्राप्ति करें जिससे अपनी आत्मा का कल्याण हो।

यहाँ श्रीमत्परमपूज्य आचार्य अमृत न्दजी सूरि आत्माके विशेषण बता रहे हैं किन्तु इसके पूर्व श्रोताने उन्हें बीचमें मानों टोक दिया कि हे स्वामिन् ! पहिले तो आप हमें पुनः यह बताइये कि जीव है भी या नहीं ? आत्माके विशेषण तो बादमें होते रहेंगे।

तब पूज्य श्री अमृतचन्द जी सूरि कहते हैं कि वह जीव है, वह सत्तारूपसे अनुस्यूत है, क्योंकि उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनोंका अभेद है वह जीव सत् है। सत् वही होता है जिसमें तीन बातें पाई जायें। जो बने, बिगड़े और बना रहे वही वस्तु, पदार्थ याने चीज होना है और जिसमें इन तीनमें से एकका भी अभाव हो वह चीज नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तुमें बनना बिगड़ना और बना रहना—ये अविनाभावरूपसे रहते हैं।

एक आमको ले लो। आम जब पेड़ोंमें आता ही है, वह बिल्कुल छोटी सी अवस्था में होता है और वह काला रहता है। जब कुछ बढ़ता है तब उसमें नीलापन आता है और फिर हरापन इसके बाद पीलापन और फिर लाल होता है। तो जब वह कालेसे नीले रूपमें आता है, तब उसका कालापन हटना यह तो बिगड़ना और नीलेपनमें आना यह बनना है, और वह रूप सामान्य बना भी रहा है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमें तीनों चीजें अविनाभाव रूपसे हैं। जो लक्षण बननेका है वह बिगड़नेका नहीं, फिर भी बनता बिगड़ता एक साथ है। आत्मामें भी ये तीनों चीजें पाई जाती हैं।

**आत्माका असाधारण गुण**—इस तरह पहिले आत्माको सत् सिद्ध भले प्रकार कर दिया, अब उसमें जो असाधारण गुण है उसे कहेंगे। देखो भैया ! महापुरुषोंकी वाणी बहुत रहस्य लिये होती है। यहां यद्यपि सत्तासे अनुस्यूत कहा, किन्तु इसके साधारण गुण सभी समझ लेना। जैसे साधारण गुण ६ बताये हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व। सो ये सब हों तब सत् निर्वाध है। मान लो, अस्तित्व धर्म ही माना तो वह अस्तित्व तब तक नहीं हो सकता कि जब यह व्यवस्था न हो कि वह अपनेमें तन्मय है, परसे भिन्न है, सो स्वका उपादान व परका दान करना ही वस्तुत्व है। वस्तुत्व माना तो

वह तब तक वस्तु नहीं जब तक अर्थक्रिया उसमें न हो; सो अर्थक्रिया होना द्रव्यत्वका काम
कर रहा। अब वह परिणमे तो सही, लेकिन अटपट किसी रूप परिणमे तो वह नष्ट ही
होगा, सो अपने द्रव्य रूप परिणमना और गुणोंका भी अपने-अपने गुणरूप परिणमना आव-
श्यक है यह अगुरुलघुत्वका काम हुआ। यह सब निराश्रय हो नहीं सकता, सो प्रदेशवत्वने
साश्रय किया। इतना होनेपर भी प्रमेयपना नहीं हो तो क्या व्यवस्था हो, सो प्रमेयत्व आप-
तित है। इस तरह ६ साधारण गुणोंकरि सहित यह आत्मा नामक पदार्थ है। परन्तु भैया
'है' इतनेसे तो कुछ प्रयोजन नहीं सधा; सो अब असाधारण गुण कहते हैं—चैतन्यस्वरूप
होनेसे नित्य उदित है निर्मल, दर्शन ज्ञानरूप ज्योति जिसकी ऐसा यह आत्मा है। भैया
दर्शन ज्ञानका विकास तो प्रकट दिख रहा है। विकासमें कम व अधिक यहां है। यदि चैतन्य
न हो तो सुख दुःखादिका कैसे वेदन हो?

हमारे बचपनकी एक घटना हमें याद हो आई है जो यहां आजके सम्बन्धसे कुछ
सम्बन्धित है। हम स्कूल जाते थे पढ़नेको। हमें पढ़नेमें रुचि थी। किन्तु यह अधिकांश
रूपमें देखा जाता है कि बचपनमें पढ़नेको जी नहीं चाहता। एक दिन हम स्कूलमें एक
लड़केको बड़ी बुरी तरह पिटते देख आये सो हम डर गये। दूसरे दिन हम कलेवा करके
ढ़ने नहीं गये। जब माता जी ने हमसे कहा तो हमने जानेसे इन्कार कर दिया। तब माँ
हमें पीट दिया तो हम रोते जायें और सोचते जायें कि यह सामने जो लकड़ीका खम्भा
, यदि हम यह लकड़ीका खम्भा होते तो हमें पिटना नहीं पड़ता, दुखी भी नहीं होना
ड़ता। सो उसका मतलब यह आज मिला कि उपयोग होता है तभी तो ये वेदन है। हाँ
पहले सत्ता मात्र सिद्ध किया था। तो जब 'है' यह सिद्ध हो चुका कि यहां कोई वस्तु
श्य है तो अब उसके विशेषण आदि देने पड़ते हैं। सो अब आत्माके विशेषण कहे जा
है कि वह आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ज्ञान दर्शन उस आत्माके गुण हैं। ज्ञान दर्शन
उसके प्रगट हैं।

**ज्ञान दर्शन गुणकी शक्तियां और व्यक्तियां**—ज्ञान, दर्शन दो तरहके हैं। पहला
तो सामान्य ज्ञान और दूसरे विशेष ज्ञान। इसी तरह सामान्य दर्शन व विशेष दर्शन। सो
सामान्य ज्ञान तो प्रत्येक जीवके होता है। गायके, बैलके, मनुष्यके, देवता आदि सभीके
सामान्य ज्ञान होता है। खुदका वह सामान्य ज्ञान त्रिकालमें एक वही रहता है किन्तु विशेष
ज्ञानमें तारतम्य है, परिणति है। सामान्य ज्ञान तो हमेशा प्रकट है वह कभी अप्रकट रूपसे
नहीं है, चाहे कोई देखे या न देखे। उसका विशेष ज्ञान सूर्य और उसके आवरणकी तरहसे
नहीं। जैसे सूर्य निकला है और उसके आवरण, बादल उसके ऊपर आकरके उसे ढक लेवें
तो उसका प्रकाश जाता रहता है और आवरणके भीतर पूरा प्रकाश रहता है। इस तरह

ज्ञान नहीं। आत्मापर आवरण आ जानेपर भी तो सामान्य ज्ञान है वह उसी तरहसे प्रकाशित रहेगा, और उसका विशेष किसी न किसी रूपसे बाहर निकलता ही रहता है। सामान्य रूपसे दर्शन, ज्ञान इस आत्मामें हमेशा प्रकाशमान है। क्योंकि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जिसमें दर्शन ज्ञान है वही चैतन्य आत्मा है। इस आत्मामें अनन्त गुण हैं किन्तु वे गुण बिखरे नहीं हैं।

**सब एकमें अभेद हैं**—देखो, सब गुणोंका स्वरूप न्यारा-न्यारा होकर भी एक गुणक प्रभाव समस्त गुणोंमें रहता है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्तगुण हैं। जैसे सूक्ष्मत्व है, उसके प्रभाव या पर्याय अनन्त गुणोंमें हैं। जैसे ज्ञान सूक्ष्म, दर्शन सूक्ष्म आदि। इसी तरह सूक्ष्म है, वह अनन्त गुणोंके ज्ञान रूप है, उसके अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं और एक अविभाग प्रतिच्छेदमें अनंत रस हैं और एक रसमें अनंत प्रभाव हैं ऐसा अचित्य आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। उसके कभी भी खण्ड याने टुकड़े नहीं हो सकते। आत्मा अपने स्वरूपसे अलग नहीं हो सकती है। आत्मामें जितने भी गुण हैं वे लक्षणसे एक दूसरेके रूप नहीं हो सकते हैं, वे न्यारे न्यारे लक्षण वाले हैं। किन्तु एक गुणमें सभी गुण मौजूद हैं। साधारण गुणोंकी अनन्त शक्तियां हैं, वे सभी ज्ञानमें मौजूद हैं। आत्मामें तिर्यक् पर्याय भी अनन्त हैं और ऊर्ध्वता पर्याय भी अनंत हैं, इस तरह ज्ञान अनन्त गुणमय है और सब गुणोंमें सार है। आत्मामें ऐसे सभी गुण हैं किन्तु उनके ऊपर ध्यान नहीं देकर दर्शन और ज्ञान जो आत्माके असाधारण गुण हैं उनको ही कह रहे हैं। लोगबाग ज्ञानको शब्दमें देखते हैं, आँखोंसे देखते हैं किन्तु वह न शब्दसे और न आँखोंसे ही प्रकट होता है, दिखाई देता है, किन्तु वह ज्ञान आत्मशक्तिसे ही प्रकट होता है।

**रागादिसे भी चैतन्यका अनुमान होता है**—देखो भैया, तुम्हें आत्मामें जो रागादि मालूम होता है वह भी ज्ञानमयताको सिद्ध करता है। कमरेमें एक कोनेमें दिया रखा है, आप कमरे के बाहर हैं, आपको कमरेका दरवाजा दिख रहा है, दिया नहीं दिखता है, किंतु जब आप दरवाजेसे देखते हैं तो आपको सामनेके सारे प्रकाशित पदार्थ दिखते हैं। तब आपको यह आभास होता है कि यहाँ दीपक है, इसलिये कि यहाँ प्रकाशित पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है। पदार्थोंका स्वरूप दीपक तो नहीं है किंतु वे दीपकको निमित्त पा करके प्रकाशमान हो रहे हैं। इसी तरह राग द्वेष आदिक आत्माके गुण नहीं, किंतु फिर भी वे आत्मामें आ गये, सो वे आत्माको बता देते हैं। जैसे बच्चोंको पढ़ाया जाता है कि जो राग द्वेष करे, खावे, पीवे आदि सो जीव है। कहीं यह जीव नहीं है, फिर भी ये बात जीवके होनेपर ही है। हमारा दर्शन ज्ञान तो हमेशा उदीयमान रहता है। परंतु उसपर दृष्टि दें तो वह

सम्यग्दृष्टि है जिसको इस अत्यन्त पासके सहज तत्त्वपर भी दृष्टि नहीं पहुँचती, वह पर-समय है। देखो भैया ! चेतना, ज्ञान सभीको है। अभी कोई आत्माको भी मानने वाला न हो, तो वह भी जब देखे कि कोई कुत्ताको या बैलको पीट रहा है तो वह भी कहता है कि भैया इसे मत मारो। क्यों जी, यदि वह भींतको पीटे तो कोई दया करके नहीं कहता है कि इसे न पीटो। है न भैया ! उसे चैतन्य और जड़का ध्यान। ये रागादिक होते हैं, ये सावित करते है कि यहाँ चैतन्य है। यह आत्मा स्वयं ज्ञानरसनिर्भर है और यह ऐसा अपना अनुभव न कर पाये तो इससे बड़ी दरिद्रता और कुछ नहीं है। यह आत्मा चैतन्यस्वरूप है, आत्माके अंतरमें दर्शन ज्ञान सदा प्रकाशमान है। इस विशेषणसे श्री अमृतचंद्र जी सूरिने यह सिद्ध किया कि आत्मा सत्‌रूप है और चैतन्यमय है।

**आत्मा अनंत धर्मात्मक होनेसे धर्मी है, द्रव्य है:**—अब आगे कहते हैं कि वह आत्मा "अनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्व" है। अनंत धर्मोंके द्वारा अधिरूढ़ एक धर्मी यह आत्मा है तभी इसमें द्रव्यत्व प्रकट है।

देखो, अभी आत्मामें यह बताया था कि उसमें दर्शन, ज्ञान है, लेकिन इतना बता देनेसे आत्माका परिज्ञान नहीं हो पाया। एक देश ज्ञानसे पूरा ज्ञान नहीं हो पाता है। जैसे एक हाथी पानीमें डूबा है—सिर्फ उसकी सूंड बाहर निकली है, सूंड मात्रके देखनेसे पूरे हाथीका ज्ञान नहीं हो सकता जिसे कि पूरे हाथीका ज्ञान नहीं है। और जिसे हाथीका ज्ञान है तो संबंधसे उसने हाथी पहिचान ही लिया। वस्तु सभी पूर्ण हैं। पुद्गल अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, यह हमारे ऊपर उसकी कृपा है। निज द्रव्यकी भी हमारे ऊपर कृपा है कि वह भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। इस पूरे आत्माको जाने बिना ज्ञान दर्शन भी समझमें न आवेगा। एक पुरुषमें अनंत धर्म विद्यमान है। जैसे वह किसीका मामा है, और वही पिता भी है, उसमें पुत्रपना भी है। माता पिता, ये अनंत धर्म उसमें है जरूर; लेकिन असलमें वह एक है। उस पूरे पुरुषको जाने बिना हम पिता आदि कोई एक धर्मका भी हम भला व पूरा परिचय नहीं कर सकते। आचार्य महाराजकी हमारे ऊपर महान कृपा है कि जो उन्होंने अनुभव किया वह शब्द द्वारसे सबकी आत्माका मर्मसर्वस्व कह रहे है। भैया ! अभी तक तुमने अनंत भव धारण किये और उन्हें व्यर्थ खो दिया, वे एक भी आपके कार्यमें नहीं आ रहे हैं, और अगर आपने अब भी अपनेको नहीं देखा, नहीं समझा तो यह भव भी यों ही बीत जावेगा।

**अपनेको देखो**—अपने असली स्वभावको जान करके अपनी आत्माका कल्याण करो। अपनी दया अवश्य कर लो, नहीं तो जैसे सभी भव व्यतीत हो गये यह भी व्यतीत होने वाला है। [illegible] कि वृद्ध महाशय शाकभाजी खरीदनेमें निपुण है, सो जिस दिन उनके गांव

का बाजार लगता है सो पड़ौसी लोग उन्हें पैसे देते जाते हैं कि हमारे लिये भाजी ले देना और वह वृद्ध महाशय सभीका शाक भाजी खरीद देते हैं, फिर अन्तमें उन्हें सड़ी गली शाक भाजी मिलती है और वे उसीको रख लेते हैं, तो इसमें उनकी चतुराई नहीं है। हां, वे चतुर थे तो पहले अपनी शाक भाजी अच्छी ले करके अपने थैलेमें रख लेते तब बादमें दूसरोंकी खरीदते, इसमें उनकी चतुराई थी। इसी तरह आत्माने दुनियाको देखा, दुनियाको पहचाना किन्तु वह किसके लिये ? यदि उस आत्मामें धर्मत्व–बुद्धि पैदा नहीं हुई तो सब व्यर्थ है। जान लिया कि स्वयंभूरमणमें बड़ी अवगाहनाके जीव हैं, क्या फायदा खुदका हुआ अगर उसमें यह भाव उठता कि आत्मज्ञानके बिना, यह आत्मा ऐसे क्षेत्रोंमें (देहोंमें) घूमा और नाना प्रकारके कष्ट सहे, अब तो इसका कल्याण करना चाहिये तब तो ठीक था, कुछ लाभ था। बाह्य वस्तुओंसे क्या प्रयोजन, हमें तो अपना कल्याण करना है, यदि हम अपने को नहीं पहचान पाये तो इन बाह्य वस्तुओंका ज्ञान करना बेकार है। इसलिये विचार करो और अपनी आत्माको देखो।

**अपनी व्यवस्था तो ठीक कर लो**—एक बाबू साहब थे। व्यवस्थाका कार्य करनेमें बहुत ही निपुण थे। एक दिन उनका भाव उठा कि अपना कमरा सजाना चाहिये, प्रत्येक वस्तुको ठिकानेपर रखकर उसका स्थान निश्चित कर देना चाहिये। सो उन्होंने घड़ी, छड़ी, दवात अपने-अपने स्थानपर रख दी और घड़ीके नीचे लिख दिया घड़ी, छड़ी भी स्थानपर छड़ी रख दी और उसके नीचे लिखा छड़ी, कमीज टांगनेके स्थानपर लिख दिया कमीज, इस तरह करते रात्रिके नौ बज चुके। अब बाबू साहबको नींद आने लगी और वे अपने पलंगपर लेट गये, सोते समय उन्होंने पलंगपर भी लिख दिया मैं'।

जब सुबह बाबू साहब सोकर उठे तो देखा कि सब चीजें अपने ठिकानेपर हैं या नहीं ? सो उनका निरीक्षण किया; सभी चीजें यथास्थानपर पाईं। किन्तु जब पलंगके ऊपर निगाह गई तो उसपर लिखा था 'मैं', सो वे उस 'मैं' को तलाश करने लगे, छड़ी उठाकर झाड़ पोंछकर देखा, लेकिन उन्हें वह 'मैं' न मिला, तब उन्होंने अपने नौकरको बुलाया और उससे कहा कि देखो भाई मैंने रातको सभी चीजें ठीक करके रखी थीं सो और तो सब अपने स्थानपर मिल गई हैं, परंतु इस पलंगपर 'मैं' था सो वह नहीं मिल रहा है। देखा हो तो बताओ। नौकरको बाबू साहबकी बातोंपर हंसी आई। बाबूने सोचा इसने देखा होगा तभी तो हंसता है, उसको वह डांटने लगा। नौकर बोला यह 'मैं' आपको बता दूंगा, आप निश्चित होकर भोजन कीजिये और आराम कीजिये। बाबू साहब बोले भाई भोजन तो करता हूँ लेकिन वह 'मैं' मुझे बता देना। बाबू साहब भोजन कर आराम कर रहे थे, तभी नौकरने कहा कि बाबू साहब अब आप यह देखो कि वह 'मैं' पलंगपर है

या नहीं। बाबू साहबको 'मैं' मिल गया। सो देखो भैया ऐसी जिसकी अचेत अवस्था है कि खुद तो है और खुदकी तलाश नहीं कर पाता अथवा खुद तो ज्ञान आनन्दका पुंज है किन्तु ज्ञान आनन्दको ढूंढ़ता दूसरी जगह है तो वह बात कुछ कामकी नहीं। जो दुःख होंगे वे हम ही को तो। इसीलिये ऐसी व्यवस्था तो करो जिससे अपनेको पहिचान पाओ। अपने आपको देखो कि मैं ऐसा हूं, विचार करो और अपने आपकी आत्माको अपनेमें देखो।

**हमारा प्रियतम चैतन्य ही है**—आत्मतत्त्व ही हमारे लिये प्रियतम ज्ञेय है, हमें उसीको जानना चाहिये। दुनियाकी चीजोंको हम जान पायें अथवा न जान पायें, उनसे हमें क्या? हमारे लिये तो आत्मतत्त्व ही शाश्वत है ऐसा ज्ञान करो। वैसे तो दुनियामें जितने भी पदार्थ हैं (होते हैं), वे सभी शाश्वत हैं। कोई भी नष्ट नहीं होते, किन्तु उस ध्रुव तत्त्वकी श्रद्धा न हो और वर्तमान पर्याय ही सर्वस्व जंचे तो उसकी परमार्थ दृष्टि कहां हुई भैया! जब तक ऐसा विचार नहीं करोगे कि हमारे अन्दर आत्मतत्त्व ही शाश्वत है तब तक कल्याण नहीं होगा।

हां एक बात अवश्य है कि श्रद्धा आत्मतत्त्वकी ही कर लो, तो सभी ज्ञान श्रद्धाके पोषक और आनन्दके कारण बनेंगे। सो भैया! अनन्त भव तो बीत गये अब इस एक भव को आत्मोद्धारके लिये ही समझ लो। देख लो भैया! खुदका विलास। अन्यथा फिर असैनी हो गये तो सब गुड़ गोबर हो जावेगा।

**इस ग्रन्थमें आपके ही गुण गाये जा रहे हैं**—इस ग्रन्थमें आपकी ही बात कही जा रही, इसलिये बातको सावधानीसे सुनो। क्योंकि जब कोई अपनी प्रशंसा करता है तो उसे सावधानी और शांतिसे सुना जाता है, सो इस ग्रन्थमें भी आपकी प्रशंसा होती है और यही प्रशंसा हितकर है लोकमें, जो आपकी प्रशंसा होती है वह अहितकी होती है एवं कुछ स्वार्थ-वश की जाती है, किन्तु यहांपर जो यह प्रशंसा की जा रही है वह आपके लिये हितकारी है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपकी प्रशंसा श्रीमत्पूज्य आचार्य कुंदकुंद प्रभु और पूज्य आचार्य अमृतचन्द जी सूरि कर रहे हैं। लोग बाग इसके लिये तरसते हैं कि हमारी प्रशंसा कोई बड़ा पुरुष करे। यहांपर जो आत्माका वर्णन है वह आप लोगोंकी ही प्रशंसा है। पहले बताया था (सिद्ध किया था) कि आत्मा उत्पाद, व्यय ध्रौव्यसे युक्त है सत् है। इसके बाद कहा कि वह चैतन्यरूप है। आज उस आत्माका वैभव बताते हैं।

**आत्माका अनन्त वैभव**—आत्मामें अनादि अनंत शक्तियां हैं, अनंत गुण हैं। अनंत गुणोंकी अनंत पर्यायें हैं। यहांपर एक जिज्ञासु भाईकी एक चर्चा है कि आत्माकी जितनी भी शक्तियां हैं वे सब एक साथ पाई जाती हैं अथवा अलग-अलग? कहते है कि आत्माकी जितनी भी शक्तियां हैं वे सब एक साथ पाई जाती हैं। अवस्थायें तो क्रमसे होती हैं, किन्तु

शक्तियां एक साथ होती हैं। सभी शक्तियोंकी वर्तमान परिणतियां भी एक साथ हैं, समस्त शक्तियोंका वर्तमान विकास युगपत् है, भूत व भविष्यद् विकास एक साथ नहीं है।

कोई पुरुष पांच भाषाओंका ज्ञाता है, जब वह हिन्दी बांच रहा है, वह रहा है तो उसे उस समय अन्य चारों भाषाओंका भी ज्ञान है उनका उसे विस्मरण नहीं है, इस तरह आत्मामें दर्शन ज्ञान आदि सभी गुण एक साथ मौजूद रहते हैं, दृष्टि चाहे एकपर रहे। आत्माके वर्णनमें जैसे कहते हैं कि दर्शन ज्ञान चारित्र है, ये आत्माकी शक्तियां हैं और उनका एक साथ अनंतकाल तक सत्त्व है। आत्माकी सर्वशक्तियोंमें तन्मय है। शक्तियोंका स्वरूप पृथक् पृथक् है, सत्त्व पृथक् पृथक् नहीं।

**आत्मामें शक्ति और परिणमन दोनों हैं**—शक्ति तो सामर्थ्य याने स्वभावको कहते हैं; वह तो अनादि अनंत स्वतःसिद्ध एकरूप है। उसकी प्रत्येक समयमें वृत्ति रहती है, वही प्रति समयकी भिन्न-भिन्न अवस्था है। सामर्थ्यको भेद दृष्टिसे देखनेपर अनंत सामर्थ्य हैं, इन्हींको गुण कहते हैं। सो गुण तो अब युगपत् ही हैं अर्थात् उनकी अक्रम प्रवृत्ति है और अवस्थाओंकी अर्थात् पर्यायोंकी प्रवृत्ति क्रमसे है, क्योंकि पर्याय प्रति समयकी वर्तनाका नाम है।

भैया ! अपने स्वभावकी अनुभूति होना सबसे बड़ी विभूति है और यही स्वानुभूति परम देवता है।

कोई लोग दुर्गा, काली, चन्द्रघण्टा, भद्रकाली आदिको मानते हैं सो वह सब क्या है ? किस देवताका संकेत है ? सबसे पहिले लोग इन शब्दोंसे क्या जानते होंगे और आज इनका क्या रूप माना जाने लगा है ? गहराईसे विचारें तो इनके शब्द ही रहस्य बता देते। दुर्गा कहते किसे हैं ? दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा। जो बहुत ही कठिनाईसे प्राप्त हो उसे कहते हैं दुर्गा। सो यह आत्माकी अनुभूति कठिनाईसे प्राप्त है। दुर्गाकी लोग अब दो रूपसे आराधना करते हैं, एक तो शक्तिरूपसे, दूसरे दैत्य असुर आदिको संहार करने वाली मूर्तिके रूपसे यह आत्मा भी अनंत शक्तिवाली है। इसकी स्वानुभूति जब इसे हो जाती है तब यह भी राग द्वेष आदि बड़े बड़े राक्षसोंका नाश कर देती है। सो इस दुर्गाकी उपासना करो, जब तक आत्माकी स्वानुभूति नहीं होगी तब तक सुख नहीं मिल सकता।

**अपनेको जानकर फिर कुछ भी जानो**—जब तक आप अपना बड़प्पन नहीं जान पावोगे तब तक आप अपनी आत्माका कल्याण नहीं कर सकते। आप दुनियांमें चले जावो सभीको देखो किन्तु जब तक यह ज्ञान नहीं हुआ कि यह मैं ही अपना पूरा जिम्मेवार हूँ और कोई नहीं, तब तक सत्य शरणागत नहीं हो सकता। मेरी निर्मलता ही मेरी रक्षिका है। इस प्रतीतिके बिना बाहरमें किन्हींको मानो वह सब परिश्रम मात्र है।

एक आदमी बहुत व्यसनी था, एक दिन उसकी पत्नीने कहा कि तुम मेरी एक बात मानो, तुम और तो कोई भी बात नहीं सुनते और न मानते हो। वह व्यक्ति बोला कौनसी बात है ? स्त्रीने कहा कि ये जो अपने घरमें भगवान हैं सो तुम इनकी रोज पूजा करके २४ घंटेके लिये पाप छोड़ दिया करो। एक मूर्ति भी दे दी। सो वह आदमी ऐसा करने लगा। इस तरह उसकी प्रवृत्ति पाप कर्मोंसे, व्यसनोंसे हट गई। एक दिन वह मूर्तिको चावल चढ़ा रहा था कि इतनेमें ही एक चूहा आकर उन चावलों को खाने लगा, सो उसने ऐसा सोचकर कि यह ही बड़ा है, ये कुछ नहीं सो प्रतिदिन चूहेकी पूजा करने लगा। एक दिन चूहे पर बिल्ली झपटी सो उसने बिल्लीको बड़ा मानकर बिल्लीकी पूजा शुरू की। कुछ दिन बाद बिल्लीके ऊपर कुत्ता झपटा सो ऐसा कहकर कि यही सबसे बड़ा है उसीकी पूजा करने लगा। कुत्ता उससे खूब हिल-मिल गया। सो एक दिन कुत्ता रसोई घरमें चला गया सो वहाँ उसकी स्त्री ने उसे बेलनसे मारा। तब कुत्ता चिल्लाता आवाज करता हुआ वहाँसे भागा। तब वह आदमी बोला कि इन सबसे बड़ी तो मेरी औरत है, सो सबेरा होते ही वह औरतसे बोला कि तू ही सबसे बड़ी है। वह प्रतिदिन औरतकी पूजा करने लगा। इस तरह पूजा होनेसे औरतको कुछ घमंड आ गया। एक दिन दालमें नमक कुछ ज्यादा था सो आदमीने उस अपनी औरतसे कहा कि इसको खारी क्यों कर दी ? तब स्त्री बोली कि एक दिन ज्यादा हो गया तो क्या करूं थोड़ा गर्म पानी डाल लो। आदमीको जोरकी गुस्सा आ गई और उसने अपनी औरत को पीट दिया, औरत रोने लगी। तब उसके मनमें ध्यान आया कि अरे सबसे बड़ा तो मैं ही हूँ यह तो कथा ही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आप दुनियाँमें चले जायें किंतु अंतमें यही ध्यान आवेगा कि मैं ही बड़ा हूँ। ज्यों ज्यों आपका ज्ञान बढ़ेगा त्यों त्यों यह ज्ञान पुष्ट होगा कि अपने लिये सबसे बड़ा तो मैं हूँ। आत्माका ध्यान करोगे तब अपना ध्यान आवेगा। इसलिये हमेशा ऐसा ध्यान करो कि मैं ही स्वयंका जिम्मेवार हूँ, मेरी आत्मा निर्मल है, ध्रुव है, दुनियामें कोई मेरा नहीं है, ये तो सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक हैं, मेरा हित करने वाली यदि दुनियांमें कोई है तो सिर्फ मेरी निर्मल आत्मा ही है। हमें एक बात स्मरण हो आई है। सुनो।

हम रुड़की गये थे, वहां शास्त्र मन्दिरमें नहीं होता था किन्तु बाहर चौकमें होता था। वहाँकी जैनसमाज मय बाल बच्चोंके जितनी संख्यामें आती थी उससे दुगने अजैन लोग आ जाते थे। हम वहाँ १० दिन रहे, किन्तु एक जैन व्यक्ति भी हमारे पास ऐसा नहीं आया जिसने हमसे प्राइवेट समय ले करके कुछ समझनेकी चेष्टा की हो, किन्तु अजैनोंमें से कई पुरुष महाशय आये। उन्होंने अपनी चर्चाएं बताईं और आगे उत्थानके लिये सम्मति मांगी। वे लोग भी परिवार-सम्पन्न थे, आजीविका करते थे, फिर भी ३ घण्टा ४ घण्टा

समय योगसाधनमें लगाते थे। मन सब मनुष्योंमें है, जो इसका सदुपयोग करले वही मनस्वी है।

**देहकी दृष्टि छोड़ो**—एक दिन एक अजैन स्त्री मन्दिरमें आई और बोली कि हम तो बहुत दुःखी है; क्योंकि हमने यह स्त्री पर्याय प्राप्त की है; सो हम न तो धर्म कर पाते हैं और न अपनी आत्माका कल्याण ही कर पाते हैं। यह मनमें रहता है कि हम स्त्री हैं। तब हमने उसे समझाया व पूछा कि यह तो बताओ कि यह शरीर ही तुम हो क्या ? उसने अपने अनुभवपर जोर देकर कहा कि 'नहीं, मैं जीव तो शरीरसे न्यारा हूं'। तब बताया कि देखो जब तुम देह नहीं हो तो ज्ञानमात्र हो, सो उसका तो स्त्री पुरुष व्यवहार है नहीं; फिर शरीरकी विशेषताओंको अपनी क्यों मानते ? समझाया कि आत्मामें अपनी प्रगति करो मानो कि मैं न तो स्त्री हूं, न पुरुष हूं, मैं इस संसारका नहीं हूं और न मेरा इससे सम्बन्ध है। जब तुम अपनेमें यह दृढ़ विश्वास कर लोगे कि मैं तो आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं तब आपको अपनी आत्माका असली स्वरूप ज्ञात होगा और जब तक आप इसमें व देहमें आत्मबुद्धिको नहीं छोड़ोगे तब तक आत्माका कल्याण नहीं होगा। यहां आत्मस्वरूपका वर्णन चल रहा है कि आत्मा गुणपर्यायवाला है। गुण तो है तिर्यक् विशेष और पर्यायें हैं ऊर्द्धता विशेष। गुण तो नित्य है और पर्यायें अनित्य हैं। आत्मा नित्यानित्यात्मक है। समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं। उसके निरूपणका प्रकार स्याद्वाद है। देखो भैया, अनेकांत व स्याद्वादके बिना तो कुछ भी व्यवहार नहीं बनता। सभी लोग स्याद्वादसे अपना व्यवहार चलाते हैं। कोई स्याद्वादका खण्डन भी करता रहे तो भी गुजारा नहीं, जीवन स्याद्वादके बिना है नहीं। आत्मकल्याण करनेके लिये अनेकांतमय निज स्वभावका आश्रय लेना पड़ेगा, बिना अनेकांत दृष्टिके निजका यथार्थ निर्णय नहीं है और निज परिचय बिना आत्माका कल्याण होना असम्भव है। आत्मामें अनन्त शक्तियां एक साथ पाई जाती हैं, वे सब तिर्यक् विशेषमें चली जाती हैं तथा परिणमन ऊर्ध्वताविशेषमें चले जाते हैं। आत्मा एक रूप है और आत्मा नाना रूप है। आत्मा नित्य है, आत्मा अनित्य भी है।

भैया ! बताओ यह तुम्हारे प्राण तुमसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? यदि तुम कहो कि प्राण तो हमारे भिन्न हैं तो कोई तुम्हें मारे पीटे, कुछ करे, तुम मत बोलो, क्योंकि ये प्राण तो तुमसे भिन्न हैं। प्राणोंके आघातसे तुम्हारा क्या बिगड़ सकता है, तुम तो प्राणोंसे भिन्न हो। और अगर तुम कहो कि प्राण हमसे अभिन्न हैं तो भी तुम्हें मारे पीटे सो भी तुम कुछ मत कहो, क्योंकि प्राण तुम्हारे अभिन्न हैं, सो तुम अजर अमर हो, पीटनेसे उनका या तुम्हारा कुछ बिगड़नेका नहीं है।

देखो भैया ! भिन्न कहो तो मौत है, अभिन्न कहो तो मौत है। तो फिर है कैसा ? कथंचित् प्राण अभिन्न है और कथंचित भिन्न है। व्यवहारसे अभिन्न है, निश्चयसे भिन्न है

और भी सभी बातें हैं वे स्याद्वाद, अनेकांतके बिना चल नहीं सकतीं। पुत्र पितादिके व्यवहारमें स्याद्वादका आश्रय न लो तो लट्ठवाजी हो जावेगी। किसीको सभीका पिता कहते फिरो तो सब भाव समझमें आ जावेगा। इस कारण बिना अनेकांतका सहारा लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता। आप मानो या न मानो, जो अनेकांतका खंडन करता है वह स्वयं अनेकांत रूप है, और जो खंडन नहीं करता सो उसने पदार्थ जैसा है उसी रूप मान ही लिया है। कहनेका अर्थ है कि आत्माका कल्याण करना चाहते हो तो अनेकांत रूपसे आत्माको देखो, अपने स्वभावको पहिचानो। यहां आत्माको गुणपर्यायवाला कहा जा रहा है, यह स्वतःसिद्ध तत्त्व बताया जा रहा है। जो वस्तुमें है वह वस्तुका धर्म है, उसे प्रतीतिमें लाने वाला धर्मात्मा होता है। वस्तु जैसी नहीं है वैसी बात वस्तुकी कहना वह अधर्म है। उसीपर अपना निर्णय, हित समझना सो धर्मसे दूर होना है।

बन्धुओ ! एक बार दृढ़ विचार बनाकर आत्मस्वभावमें रत हो जाओ सर्वसिद्धि इसीमें है।

श्रीमत्परमपूज्य आचार्य कुंदकुंद स्वामीजीने आत्माका वर्णन करते हुये आत्मस्वभावगर्भित जीवके स्वसमय एवं परसमयका वर्णन किया। जिसकी टीका करते हुए पूज्य श्री सूरि जी समय नामक पदार्थका सात विशेषणोंसे वर्णन कर रहे हैं। इनमेंसे चार विशेषणोंका वर्णन तो हो चुका। याने पहिले तो बताया कि वह सत्स्वरूप है, पुनः कहा कि ज्ञानदर्शनमय, फिर कहा कि वह साधारण गुणवाला है, फिर बताया कि वह अनंतधर्मा है, पश्चात् बताया कि वह गुणपर्याय वाला है। आज पांचवां विशेषण है कि—

**आत्मा एकरूप है एवं आत्मा अनेकरूप है**—आत्माके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी इस बारेमें निम्न प्रकार एकांत धारणायें हैं—(१) कोई कहते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक एक रूप है, (२) कोई कहते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक या अव्यापक अनेकरूप है, (३) कोई कहते हैं कि आत्मा अनेक अणु-अणुमात्र एक एक रूप है, (४) तो कोई कहते हैं आत्मा अनेक और अनेकरूप हैं। किन्तु ऋजु गति व समुद्घात दशाके अतिरिक्त सभी कालोंमें आत्मा देह प्रमाण है और वह स्वभासित्वकी अपेक्षा एक रूप है और परभासित्वकी अपेक्षा नानारूप, विश्वरूप है।

भैया ! आपसे कोई दर्पणके बारेमें पूछे कि वह एक रूप है या नानारूप है ? अगर आप कहें कि दर्पण तो एक रूप है सो बनता नहीं, और अगर आप कहें कि वह तो नाना रूप है सो भी नहीं बनता तो फिर क्या है ?

दर्पण कथंचित् एक रूप है व कथंचित् अनेक रूप है। वह अपने स्वरूपसे एक रूप है, किन्तु परद्रव्योंके प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे वह नाना रूप भी है। दर्पण अपनी स्वच्छतामात्र

है सो तो दर्पण एकरूप है और दर्पणमें अनेक बालक और पुरुषोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है सो वह परद्रव्यापेक्षासे कथंचित् नाना है। इसी तरह हमारी आत्मा भी हमारे रूपसे हमारे अन्दर एक है, आपके अन्दर आपके रूपसे एक है, किन्तु परद्रव्योंके प्रतिभास होनेसे निज ज्ञेयाकारकी अपेक्षासे आत्मा अनेक भी है। कोई कहता है यह आत्मा सब जगहमें एक ही है सो कैसे? देखो भैया! काल्पनिक तत्त्व तिलका ताड़ कल्पनामें बना देते है, पर मूल निर्देश तो कुछ होता ही है। परन्तु खरगोसके सींग होनेकी बात नहीं छुप सकती। जो आत्माको केवल एक ही मानते हैं उनकी भी कोई दृष्टि होगी या २-१ दृष्टियोंका मेल होगा। इस बातको सोच लीजिये। अच्छा तो चलें इसी बातका विचार करें। देखो, प्रत्येक वस्तुके जाननेमें चार चीजोंका सहारा लेना पड़ता है। भैया! द्रव्य क्षेत्र काल भावका विशद परिज्ञान जरूर करना चाहिये। इनके ज्ञानसे वस्तुस्वरूपका विशद बोध होता है।

**द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव**—द्रव्य कहते हैं—यहाँ कोई पिण्डरूप पदार्थ है सो वही द्रव्य है याने पिण्डरूप जो है वही द्रव्य है तथा क्षेत्र—जितने निज स्थानमें वह द्रव्य रहे जो कि आकार प्रकार रूपसे अवगत होता है उतना स्थान उसका क्षेत्र है। वस्तुके परिणमनको काल कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनंद आदिक जितने भी गुण है वे सब भाव कहलाते हैं। इन चारोंके द्वारा पदार्थ जाना जाता है। इन चारोंको किसी पदार्थमें घटाओ, जैसे हम यह पुस्तक हाथपर रखे हैं तो इसका यह सब जो पिण्ड रूप है वह द्रव्य है और जितने निज स्थानमें यह पुस्तक रखी है याने इसका इतना आकार प्रकार इसका क्षेत्र है। और इसकी जो वर्तमान परिणति है सो काल है और रूप रस आदि इसके भाव हैं।

**आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव**—अब इन्हीं चार बातोंसे अपनी आत्माको देखो। आत्मा जैसा अपनेको ज्ञात हुआ, पिण्डरूप है सो वह द्रव्य है, और जितने प्रदेशों में आत्मा रहता है सो उतना स्थान आत्माका क्षेत्र है। राग द्वेष, क्रोध, मान, माया आदिक यह सब आत्माका काल है और आत्माके भाव सहजदर्शन, सहजज्ञान, सहजसुख आदि आत्माके भाव हैं। जब हम इन चारोंसे आत्माको देखते हैं तो आत्मा स्वचतुष्टयसे अस्ति है और परचतुष्टयसे नास्ति है। द्रव्य, क्षेत्र, कालकी दृष्टिसे आत्माको देखनेपर विकल्प नहीं छूटते, किन्तु जब भावदृष्टिसे आत्माको देखते हैं तब सभी विकल्प हट सकते हैं। छहढालामें कविवर पं० दौलतराम जी ने कहा है 'जहं ध्यान ध्याता, ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहाँ, यानी जहाँ पर, ध्यान अवस्थामें न ध्यानका, न ध्याताका और न ध्येयका कोई भेद रहता है वह उत्तम ध्यान है। यह स्थिति कैसे आ जाती है? सो कहते हैं कि जब ज्ञान ज्ञानको जानने लगता है तब यह अभेददृष्टि हो जाती है। इस समय पहिले तो ध्यान अवस्थामें आत्मा विचार करता है कि मैं दर्शन ज्ञान रूप हूँ, मुझमें दूसरा कोई भाव

पश्चात् यह भी विकल्प न रहे वहाँ ज्ञान
नहीं है, मैं ही साध्य हूँ और मैं ही साधक हूँ। तो जब आप अपने चैतन्यस्वरूपको जानोगे तब वहाँपर
ज्ञाता व ज्ञान ज्ञेय हो जाता है। जैसे हम और आप कह देते हैं कि सिद्ध भगवान
मात्र प्रतिभासस्वरूप है याने सब एक हैं।
तो एक हैं। जिसे इस स्वरूपका परिचय हो जाता वह कृतार्थ है।

कोई ज्ञानी आपत्ति या दु:खमें फंस जाय तो वहाँ ऊपरसे दु:ख प्रकट होता है किन्तु
भीतर वह वेदना नहीं है। उदाहरणके लिये कोई लड़की अपनी ससुराल जाती है, वह जैसे
प्रथम बारके जानेमें रोती है उसी तरह १० बार भी जाती है तो भी उसी तरह रोती है
किन्तु उस तरहका रोना ऊपरी दिखावटी रहता है। उसके मनमें तो हर्ष रहता है कि हम
अपने घर जाते हैं। आप किसी मुनीमको लीजिये यदि सेठ साहबको १०० ००.एक लाख
का घाटा होता है तो मुनीम साहबको कोई दु:ख नहीं होता। हां यदि सेठ साहबका कार-
बार ही नष्ट हो जाता है तो मुनीमको अपने वेतन जो कि उसे प्राप्य था, उसके छूट जानेका
दु:ख अवश्य होता है। किन्तु उस घाटेका दु:ख नहीं मानता, क्योंकि मुनीम प्रकरणका
स्वामी नहीं बना तो इसी तरह सम्यग्दृष्टि संसारमें रहते हुये भी उससे मोह नहीं रखता है।

**सम्यग्दृष्टि जीव किसी कार्यका स्वामी नहीं बनता**––जब तक यह जीव अपने स्वरूपको
नहीं समझता है, जब तक जितने भी यह बाह्य पदार्थ है उन्हीको अपना माने रहता है, इसे
पर-समय कहते है। इसी पर-समयकी अपेक्षा भी नानारूप है। इस परसमयताको, राग, द्वेषादि
को छोड़ो तभी सुख होगा। परसमयताको छोड़नेके लिये योग्यता पानेको व्यवहारमें मिथ्यात्व
अन्याय अभक्ष्य ये तीनों छोड़ने होंगे। परसमयमें रत यह जीव सोचता है कि यह घर मेरा है,
बच्चे, स्त्री, धनादिक सब मेरे हैं। दूसरे यदि कहीं नेतागिरी या कोई और प्रतिस्पर्द्धाको कार्य
मिल गये तो वहां शरीरकी बात प्रधान तो नहीं रखता किन्तु विकल्पका मोह करता है। मानता
है कि मैं काम करनेवाला हूँ, मैं दुनियाका बड़ा काम करता हूँ; मैं नेता हूं। और कहीं थोड़ा
सा ज्ञान पैदा हो जाता है तो मैं ज्ञानी हूं, मैं शिक्षक हूं, और इसने मेरी बात नहीं मानी
है इत्यादि शोक भी करता है। त्यागी व्रती होनेपर मै त्यागी, व्रती हूँ–इस तरहके भाव पैदा
होते रहते है, ये सब ज्ञायक भावके परिचयके अभावमें होते है। और जब उसे ज्ञायक स्व-
भावका पता चल जाता है, तो वह सभीको छोड़ देता है और तब उसे असली बात समझमें
आती है। ये सभी भाव उससे दूर हो जाते है, फिर उसके भावमें विकल्प नहीं रहते कि मैं
अमुक हूँ, मैं त्यागी हूँ, मुनि हूं आदि। उसकी प्रतीति चैतन्य भावमें होती है। अब सच्चा
विश्राम लीजिये, हमे करना क्या है? हमें अपने स्वरूपको जान करके अपने आत्मारूपी
मकानमें विश्राम पानेका प्रयत्न करना है। बिना उसके कल्याण नहीं हो सकता है। इसलिये
अपने स्वरूपको पहिचानो, विश्राम स्वत: मिलेगा। स्वरूपसे बाहर उपयोग भटक गया सो

उसे बाह्यसे हटाकर निज समता मंदिरमें ले आवो उनको। कोई मनुष्य विलायत गया और जब वहांसे लौटता है और कोई उससे पूछता है कि भाई तुम कहां जाओगे ? तो वह कहता है कि मैं तो भारतवर्ष जा रहा हूं और जब उसका जहाज भारतकी सीमापर आ जाता है और फिर कोई उससे पूछे कि आप कहां जा रहे हो ? तो वह कहता है कि मैं मध्यप्रदेश जा रहा हूं और मध्य प्रदेश जैसे जबलपुर आदि सीमापर आ जाता है और फिर पूछा जाय तो वह मध्यप्रदेशके किसी शहरका नाम बतावेगा, जैसे सागर। और जब वह सागर स्टेशन पर उतर जाता है तो तांगेवालेसे किसी बाजारका नाम लेता है और फिर मुहल्ला और फिर मुहल्लेमें अमुक घर। जब वह निर्दिष्ट घरमें पहुंचता है तो पांच दस मिनट कुछ आराम करता है। इसी प्रकार देखो वह जीव अपने स्वरूप विश्राम भवनसे निकलकर विज्ञान, विकल्प, संकल्प, मोह, पुण्य, पाप, शरीर, परिवार, मकान, धन, वैभवमें भटक गया है। श्री सुगुरुकी देशना धारण करे और परिचय करे अपने स्वभावका तो यह वैभवसे हटे, मकानसे हटे और सजातीय परिग्रह परिवारसे हटे। देखो तो भैया ! प्रकट पर दीख रहे हैं ये जड़ पदार्थ और मिश्र परिवार, फिर भी इनसे उपेक्षा भाव नहीं होता। इन प्रकट परसे हटकर ज्ञानी शरीरके प्रति सोचता है कि यह शरीर जड़ है, मैं चेतन हूं। भिन्न भिन्न सत्ता है दोनों की। अतः ज्ञानी शरीरमें अहंबुद्धि नहीं करता। शरीरसे हटा और पुण्य पापमें अटक गया कि पुण्यसे हित है तो भैया ! यह श्रद्धान है सो पाप तो हो ही गया।

**विभावकी अटक पर सब अटकोंका मूल है**—बाह्य अर्थकी अटकसे भी विज्ञानके द्वारा निकलता तो मोहमें उपयोग रमा लेता, संकल्पमें कटिबद्ध हो जाता, राग द्वेष भावोंमें अटक जाता। इनसे भी हटता तो विज्ञानमें अटक जाता है। स्वरूप परिचय होनेपर इन सब अटकोंसे छूट परमानन्दनिधान निज ज्ञायकस्वरूपमें विश्राम करता है। यही सहज आनन्दका अमोघ उपाय है। अभी प्राणी रागद्वेषरूपी विलायतमें है, इसलिये किसी सद्गुरु का उपदेश मिलेगा तभी इस विलायतसे छुटकारा पाकर अपने आत्मारूपी घरमें बैठनेका उत्साह कर सकेगा व तभी विश्राम प्राप्त कर सकेगा, तभी कल्याण होगा, अन्यथा कुछ भला होनेका नहीं है। और आप भी विचार लो धन जुड़ गया तो आपकी आत्माको क्या शांति मिल जावेगी ? भैया ! शान्तिमय तो आपका स्वभाव ही है, स्वभावका अज्ञान मिटावो, अशान्ति तो रह नहीं सकती। जो चीज जैसी है उसे वैसी जान जाओ, बस इतना ही सुखके स्वलगावके लिये रोजगार करना है। अन्य विकल्प रूप टोटेका रोजगार क्यों करते हो ? मैं ज्ञायकस्वरूप एक हूँ, ध्रुव हूं, इसी स्वरूपकी दृष्टि केवलज्ञानका कारण बनेगी।

**प्रत्येक आत्मा अन्य सबसे न्यारा है**—आत्माका वर्णन करते हुये पूज्य सूरिजी कह रहे हैं कि आत्म अन्य सबसे न्यारा है। अभी तक आत्माके पाँच विशेषण हो चुके हैं। सब

से पहले बताया कि आत्मा है, और वह सद्रूप है। फिर कहा कि वह ज्ञान दर्शन भाव, असाधारण गुणवाला है। फिर बताया कि वह अनन्तधर्मा है, उसमें अनन्त धर्म हैं। फिर बताया कि वह गुण पर्याय वाला है। इसके बाद बताया कि वह आत्का एक रूप है और नाना रूप है। आज छठवें विशेषणको बताते हुए कह रहे हैं कि वह आत्मा सबसे न्यारा है। कोई कहे कि न्यारेकी पहिचान क्या है? द्रव्योंको न्यारा-न्यारा समझनेके लिये जाति अपेक्षासे तो लक्षण पहिचान है, और व्यक्तिगत अपेक्षासे न्यारा-न्यारा समझनेके लिये दो मोटे उपाय हैं— १ अखंडका होना; २ किसीके परिणमनसे किसी अन्यका परिणमन न होना।

जीवका लक्षण अलग है। पुद्गलका लक्षण अलग है। धर्म, अधर्म, आकाश काल— ये अपने अपने लक्षणसे सभी न्यारे हैं। जीवका लक्षण चेतना है। पुद्गलका लक्षण है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चारों गुण पाये जावें। धर्मद्रव्य——जो जीव और पुद्गलको चलानेमें सहकारी हो और अधर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलको ठहरनेमें सहकारी हो। आकाशद्रव्य—जो जीव और पुद्गल द्रव्योंको अवकाशका कारण हो। और कालका लक्षण है कि जो जीवादिक द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी हो सो कालद्रव्य है। ये छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूपसे तो हैं अन्य सबसे न्यारे-न्यारे हैं।

इसी तरह आत्मा अपने स्वरूपके कारण सबसे न्यारा है। इन लक्षणोंमें कुछ लक्षण स्वरूपदृष्टिसे हैं, और कुछ लक्षण निमित्त दृष्टिसे हैं। जीव और पुद्गलका लक्षण तो स्वरूपदृष्टिसे है, और धर्म, अधर्म, आकाश व काल—इन चार द्रव्योंका लक्षण निमित्त दृष्टिसे है। लक्षण भेदकी पहिचानके लिये होता है। अतः निमित्त दृष्टिकी प्रधानतासे इन ४ अमूर्त द्रव्योंका लक्षण किया है तथापि यह न समझना कि इनका स्वयं कोई स्वरूप नहीं है। धर्म-द्रव्य अमूर्त असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य है और इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी। इनके प्रदेश विस्तृत हैं; और आकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक ही उनके प्रदेश हैं। इस तरह जितने आकाशमें यह धर्मद्रव्य है उतना ही अधर्मद्रव्य है। उतने आकाशका नाम लोकाकाश है। आकाश अनन्तप्रदेशी अमूर्त एक द्रव्य है। कालद्रव्य एक एक प्रदेशी असंख्यात हैं, ये भी अमूर्त हैं। इन पांचों जड़ द्रव्योसे चैतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न है। आत्मा सब अनन्तानंत हैं, पुद्गल सब अनन्तानंत हैं; धर्मद्रव्य एक है। अधर्मद्रव्य एक है। आकाशद्रव्य एक है। कालद्रव्य असंख्यात हैं। प्रत्येक आत्मा व प्रत्येक अणु अखंड है। पति पत्नी एक नहीं हैं। क्योंकि उनके खंड हो जाते हैं अर्थात् वे पहिलेसे ही खंड रूप याने भिन्नसत्ताके हैं। एक आत्माके दो भाग नहीं होते हैं; सो आप अपने अखंड आत्माको ही निज समझो, इसीकी दृष्टिसे हित पर्याय होगी।

संसारमें जितने भी द्रव्य हैं वे सभी परिणमते हैं, और अपने रूप ही परिणमते हैं। द्रव्य कहते किसे हैं? जिसके टुकड़े-विभाग न होवें वही द्रव्य है। क्या यह पुस्तक द्रव्य है? नहीं। क्योंकि इसके टुकड़े हो जावेंगे। पुद्गलमें देखो, जितने भी ये स्कन्ध हैं इन सभी के टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु परमाणुके टुकड़े नहीं होते हैं। सो वह द्रव्य है। द्रव्य अपनेमें अपने रूप ही परिणमता है, क्योंकि स्वयं रूप परिणमनेसे ही स्वयंकी अवस्था होती है। पररूप परिणमनसे खुदकी अवस्था नहीं होती है।

**प्रत्येक पदार्थ खुदका ही भोग याने परिणमन करता है**—जगत्के समस्त द्रव्योंकी यही व्यवस्था है कि वह अपने द्वारा ही अपना भोग (परिणमन) करता है, दूसरेके अनुसार भोग नहीं करता। जगतके अन्दर अनंतानंत पदार्थ हैं; ये पररूपसे नहीं परिणमते किन्तु अन्यको निमित्त पाकर अपना विभावका काम चलाता है। जैसे हम इस चौकीपर बैठे तो क्या चौकीने हमें अपने ऊपर बैठनेका निमंत्रण दिया था? नहीं। चौकीमें ऐसी कोई कला नहीं है कि उसने हमें बिठाया हो, किन्तु हम चौकी को निमित्त पाकर उसपर बैठ गये। अगर हम उसपर नहीं भी बैठते तो भी चौकी रखी रहती, और हम बैठ गये सो भी चौकी रखी है। हमारे बैठने में चौकी निमित्त मात्र है। आप को किसीके वचनोंसे क्रोध आया तो क्या उसके वचनोंमें क्रोध कराने की कला है? नहीं। किन्तु उसके वचन आपके क्रोधके निमित्त मात्र हैं। निमित्तको प्राप्त कर क्रोध उत्पन्न हो गया। यदि उसके वचनोंसे ही क्रोध है तो प्रत्येकके लिये उसके वचनोंसे क्रोध पैदा होना चाहिये। सो भैया! अपनेको तो देखते नहीं, और परकी दृष्टि करके उसके आधीन खुद बन रहे। बस इसी पराधीन कल्पनाका ही दुःख है।

एक राजा था। वह जानवरोंकी भाषा पहिचानता था। एक दिन वह उस तरफ घूमने गया जहाँ कि उसके बैल घोड़े बंधे थे। घोड़े बैलसे कह रहे थे कि तुम बड़े बेवकूफ हो! बैल बोले—क्यों? घोड़ोंने कहा कि इतना बोझा ढोते हो सो यह तुम सब अपनी बेवकूफीके कारणसे। तब बैल बोले कि तुम कोई उपाय बताओ जिससे हमें यह बोझा न ढोना पड़े। घोड़े बोले—यह तो जरा सी बात है—जब राजाके नौकर तुम्हें गाड़ीमें जोतनेके लिये लेने आवें तो तुम पेट फुलाकर बीमारीका बहाना लेकर पड़े रहा करो। दूसरे दिन राजाके नौकर बैलोंको लेने आये और बैलोंने बीमारीका बहाना करके अपना पेट फुला दिया। राजाके पास खबर भेजी कि महाराज बैल आज बीमार हैं। राजाने कहा कि उनके पास जो घोड़े बंधे हैं उन्हें जोतो। नौकरोंने वैसा ही किया। जब तीस चालीस मन बोझा घोड़ोंको लादना पड़ा तो उनकी अकल ठिकाने आई। वे सोचने लगे, "हमने अक्ल बताई" और 'यह आफत हमारे सिर आई।' सो दूसरे दिन घोड़ोंने बैलोंको समझाया कि देखो अब

यह निश्चय हुवा है कि यदि बैल बलके दिन बहाना करें तो उन्हें इतने कोड़े मारे जावें जिससे उनकी चाहे चमड़ी भी फूल जावे। यह भी बादशाह ने सुन लिया। उसे उनकी चालाकी पर बड़ी हंसी आई। रनवासमें भी पहुंचकर उनका चालाकी का ख्याल आते ही हंसी आ गई। रानीने हंसीका कारण पूछा, पहिले तो टाला, फिर रानीके आग्रहसे बता दिया। तब रानी पशुभाषा सीखनेको हट करने लगी। बादशाह बोला कि जिसने भाषा दिखाई उसका कहना था कि स्त्रीको सिखावोगे तो तुम खुद मर जावोगे। रानी न मानी। उसने सातवें दिन सिखाना मंजूर कर लिया। अब राजाकी मृत्यु जान सब पशु चिन्तित हो गये, परन्तु मुर्गी मुर्गा खेल रहे थे। कुत्ते ने कहा कि तुम बड़ी कृतघ्न हो, राजा तो मरने जा रहा और तुम्हें खेल सूझ रहा। तब मुर्गियाँ बोलीं कि हम राजाकी मृत्यु पर नहीं हंस रहे हैं। वह तो बेवकूफीसे मर रहा है। न पराधीन बने, न बोली सिखाये और यदि हठ करे तो दो तमाचे लगाये, लो जान बची। राजाने यह भी सुना और यही उपाय किया, बच गया।

**प्रत्येक अपनी बेवकूफीसे ही दुःखी है:**—सो भैया! ये संसारी जीव भी अपनी बेवकूफीसे मर रहे हैं। ये परमाणु मात्र अपना नहीं है, किसीको अपना न मानें लो जान बच गई, सहज आनन्द हो गया। परको निज मानना तो दुःख ही है, क्योंकि पर तो परके ही परिणमनसे परिणमेगा।

दुनियाँमें कोई भी चीज ऐसी नहीं है कि वह परिणमे नही। हाँ यह बात जरूर है कि वह आपको न दिखे, किन्तु वह प्रति समय परिणमती रहती है और अपनी पर्यायोंसे नई पुरानी रूप होती रहती है। आप किसीके विचारसे नही परिणमते, आप तो अपने विचारसे अपने रूप परिणमते हो और कोई अन्य भी आपके विचारसे नहीं परिणमता, वह अपने विचारसे परिणमता है। अब तुम उन परिणमनोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके दुःखी होते हो। स्वपरिचयसे ही दुःख भागेगा। भैया! देखो! दुनियाँमें चारों ओरसे यही आवाज आती है कि हम दुःखी हैं, सुखी कोई नहीं है। यह आत्मा अनंत सुखकी खान है, किन्तु जीव उसे पानेमें अब तक असफल है।

**दुःख मिटनेका उपाय पास ही है**—दुःख मिटानेकी जरा सी तरकीब है। वह है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान पैदा कर लो दुःख स्वतः नष्ट हो जावेंगे। धनसे, परिवारसे, ऊँचे ऊंचे मकान हवेलियोंसे दुःख नहीं मिटेगा। देखा जाता है जो व्यक्ति जितना धनवान, ऐश्वर्यवान इज्जत आबरू वाला बन जाता है, वह उतना ही मोही और दुःखी रहता है। एक मुहल्ले में एक सेठ और एक बढ़ई रहते थे। बढ़ई प्रतिदिन मजदूरी करता था और उसमें उसे जो कुछ मिलता था, डेढ़ दो रुपये उससे अपना खर्च चलाया करता था, अच्छा भोजन करता

था शाक पूड़ी हलुआ। ऐ भैया ! मोहियोंका तो यही भोजन है। सेठजी कुछ लोभी थे और बड़ी किफायत करते थे। एक दिन उनकी औरत बोली कि देखो अपने पास जो बढ़ई रहता है वह आपसे कितना गरीब आदमी है, प्रतिदिन कमाता और खर्च करता है, उसके यहां रोजाना हलुआ पूड़ी बनती हैं, और आपके पास इतना धन होते हुये भी इतनी कंजूसी। तब सेठ बोला कि तुम नहीं जानती, अभी वह ९९ वें के चक्करमें नहीं पड़ा है। सेठानी बोली कैसे ? सो सेठने एक दिन ९९) की एक थैली भरकर रातके समय बढ़ईके आंगनमें फेंक दी। सुबह जब बढ़ई उठा तो वह उस रुपयेकी थैलीको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ, बोला भगवान मुझपर प्रसन्न हो गया है। तब उसने थैलीको खोलकर रुपये गिने तो वे ९९ निकले। तब बोला कि भगवानने रुपये भेजे जरूर हैं, लेकिन पूरे नहीं भेजे, और रुपयोंको इक्ट्ठाकर बोला--ठीक है १) रुपया तो मैं मिला दूंगा और उस दिन उसने अपने रुपयोंमें से ।।) उनमें मिला दिये और दूसरे दिन ।।), जब इस तरह उसके पूरे सौ रुपये हो गये तब विचारने लगा कि इतने रुपयोंसे क्या होता है कमसे कम १०००) २०००) तो होना ही चाहिये, इस भावसे अपना विशेष खर्च बन्द किया और सादा भोजन करने लगा। तब सेटानी फिर सेठसे बोली कि अब वह बढ़ई बहुत कम खर्च करता है क्या बात ? तब सेठ बोला कि अब वह ९९ वें के चक्करमें पड़ गया है।

**बाह्य सम्बंध सुखके नहीं, दुखके निमित्त हो सकते हैं**— कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य इन सांसारिक कार्योंमें धनादिकमें जितना भी आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों यह दुःखी होता जाता है। ये सांसारिक चीजें व इनके जितने भी सम्बन्ध हैं वे साथ देने वाले नहीं हैं। और तो क्या, यह आपका शरीर भी आपका साथ नहीं देता। शरीर कहते हैं, उर्दू में चालक या बदमाशको। आप इस शरीरको कितना ही खिलावें पिलावें, किन्तु यह शरीर अन्तमें साथ नहीं देता है। इसलिये इन सब बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध हटाकर अपने एक स्वरूपपर दृष्टि दो तो सुख मिलेगा और अगर परस्वरूपपर दृष्टि रखोगे तो दुःख होगा। दुःखके मूल कारण दो हैं। प्रथम तो खोटी संगति और दूसरा अज्ञान। मोही जीवों की संगति करनेसे हमेशा मोह भाव पैदा होंगे। मैं धनी हो जाऊँ, मेरे पास ऐश्वर्य वैभव बढ़ जाये, इस तरह ये भाव पैदा हुये कि लो यह मोह जीवन भरके लिये हो जाता है और दुःख लग जाता है उसे। सत्संगसे शुभ भावनायें पैदा होती हैं। सत्संगति सत्पुरुषोंकी संगतिको कहते हैं। सत्पुरुष वे हैं जो धन वैभवको बुरा मानते हों और जिनके भाव आत्मकल्याण की ओर हों। आत्मकल्याणकी भावना जिनमें जागृत हो गई है, संसारसे जिनकी रुचि हट गई है ऐसे पुरुषोंका संग ऐसी सत्संगतिसे आत्माका कल्याण होगा, भगवानका भी यही उपदेश है कि तुम यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी आत्माको देखो। मेरी भक्ति तब

तक करो जब तक तुम्हें अपने स्वरूपका ध्यान नहीं हुआ है विश्राम नहीं हुआ है। किन्तु जब तुम्हें अपना ध्यान आ जावे, तुम अपनेको समझ जाओ, अपनेमें विश्राम पावो तब तुम मेरी भक्ति छोड़ दो। अपनी असली आत्माका स्वरूप जान लेना, ज्ञाता रहना ही अपनी चैतन्य अवस्थाका शुद्ध विकास है। इसलिये आत्मकल्याणके लिये राग द्वेपादिको छोड़कर आत्मस्वरूपका चिंतवन करो।

**अपनी अज्ञानता ही दुःखका मूल है**—कर्म कषाय नहीं कराता किन्तु कर्म तो वहाँ निमित्त माना है। कोई किसीको सुख नहीं देता और न कोई किसीको दुःख देता है। जब तक मिथ्याज्ञान रहता है, तब तक दुःख रहता है। और जब सम्यक्त्व हो जाता है उस समय सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।

शुभचन्द्र और भर्तृहरि ये दो भाई थे। सो एक दिन शुभचन्द्रको वैराग्य हुआ सो उन्होंने अपने छोटे भाई भर्तृहरिको बुलाकर कहा कि यह संसार असार है, इसमें कुछ भी अपना नहीं, यह मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुई है, और इसे पाकर भी यदि अपना कल्याण नहीं किया तो जीवन निष्फल जायगा, और आगेके लिये भी रास्ता दुर्गम बन जायगा। इसलिये इस राज्यभारको तुम सम्हालो, मैं तो अपना कल्याण करूंगा। तब भर्तृहरि बोले कि मैं भी अपना कल्याण करूंगा। ऐसा विचारकर शुभचन्द्र तो दिगम्बर जैन मुनि हो गये और इसके कुछ दिन बाद भर्तृहरि भी संन्यासी हो गये। भर्तृहरिको कुछ दिन बाद ही सिद्धरसकी सिद्धि हो गई। तब उन्होंने अपने शिष्योंको भेजकर अपने भाईके समाचार मंगवाये। शिष्योंने आकर कहा कि आपके भाई बड़ी भारी मुसीबतमें हैं, न तो उनके पास एक नौकर है और न शरीरपर कपड़े हैं, बेचारे बड़ी तकलीफमें है। तब भर्तृ-हरिने शिष्योंके हाथ कुछ सिद्धरस भेजा और कहला दिया कि आप कष्ट क्यों सहते हो? इस रसको लोहेपर डालो और सोना बना लो। शुभचंद्र मुनिने वह सिद्धरस नीचे गेर दिया। शिष्य वापिस आकर भर्तृहरिसे बोले कि इनका तो दिमाग भी सही नहीं मालूम होता। तब भर्तृहरि गये और भाईको समझाया व सिद्धरस भी सारा उनके आगे रख दिया। शुभ-चंद्र मुनिने वह सिद्धरस भी नीचे गेर दिया, भर्तृहरि बहुत दुःखी हुए। तब शुभचंद्रने पग तलेकी धूल उठाकर एक महान शिलापर डाली तो वह शिला सुवर्णमय हो गई। भर्तृहरि की आंख खुली। शुभचंद्रने भर्तृहरिको ज्ञान व वैराग्यका उपदेश दिया।

**आत्माका भला तत्त्वज्ञानसे ही है**—आत्माके स्वरूपका वर्णन करनेमें अभी तक ६ विशेषण आ चुके है। सबसे पहले कहा कि आत्मा है और वह सत् रूप है। दुनियांमें जितने भी पदार्थ है या वस्तुयें हैं उनमें तीन बातें होती हैं। वे तीन ये हैं—जो बने, बिगड़े और बनी रहे जिसमें ये तीनों हों वही वस्तु है।

इसके बाद कहा गया कि यह आत्मा ज्ञानदर्शनमय असाधारण गुण वाला है। फिर बताया कि वह गुण पर्याय वाला है। इसके बाद कहा कि वह आत्मा अनन्तधर्मा है, उसमें अनन्त शक्तियां हैं तथा इसके पश्चात् कहा कि वह आत्मा एक रूप है तथा नाना-रूप है। और फिर कहा कि वह आत्मा अन्य सब द्रव्योंसे भिन्न (न्यारा) लक्षण वाला है, अचेतन पदार्थोंके स्वरूपका इसमें अभाव है।

**स्याद्वादका विशद् बोध एक बड़ी सफलता है**—इस आत्मतत्त्वको समझने के लिये बड़े-बड़े ऋषि महर्षियोंने अपना दिमाग लगाया, उनमें कोई यहाँ तक पहुँचे हैं कि आत्मा सर्वव्यापक एक रूप है। तो किसी की पहुँच है कि आत्मा सर्वव्यापक अनेक रूप है तथा किसीकी पहुंच है कि आत्मा अनेक अणु-अणुमात्र एक एक रूप है। तो किसीकी पहुँच है कि आत्मा अनेक हैं और अनेक रूप है। किन्तु जैनाचार्योंका मत है एवं युक्ति आगम और अनु-भवसे पूर्ण उनकी खोज है कि आत्मा स्वभासित्वकी अपेक्षा एकरूप है और पराभासित्वकी अपेक्षा नानारूप है, विश्वरूप है। इसमें किन्हीं भी अन्य ऋषियोंकी मान्यताओंका विरोध नहीं, बलिक स्पष्टीकरण हो जाता है। दुनियांमें जातिकी अपेक्षा ६ द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। ये अपने अपने लक्षणोंसे ही सत् हैं शेष सबसे न्यारे न्यारे। जीवका लक्षण चेतना है। पुद्गलका लक्षण है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हों। धर्म—जो पुद्गल और जीवको चलनेमें सहकारी हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीवादिक द्रव्योंको ठहरनेमें सहायक हो। आकाशद्रव्य जो जीवादिक द्रव्योंको अवकाशका कारण हो। और कालद्रव्य वह है जो कि जीवादिक द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी हों। इस तरह ये छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूपसे न्यारे न्यारे हैं। छह द्रव्योंमें से पाँच जड़ द्रव्य हैं उन द्रव्योंसे चैतन्य स्वभाव आत्मा भिन्न है। जीव द्रव्यको छोड़कर बाकीके सभी द्रव्य अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। जैसे रिकार्ड बजता है, और उससे कहा जाय कि जो तुमने अभी कहा वही फिरसे कहो तो वह नहीं कह सकता है, उससे प्रश्न किया जाय तो वह उत्तर नहीं दे सकता। द्रव्य अनन्तानंत है, जीव अनंतानंत है, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्म भी एक है; आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात हैं। द्रव्यका मोटा लक्षण है कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके वही द्रव्य है। ये जो स्कंध हैं ये द्रव्य नहीं हैं, इनमें एक एक अणुरूप जो है सो द्रव्य है। परमाणुके टुकड़े नहीं होते हैं इसलिये वह द्रव्य है। स्कंधोंके तो विभाग हो जाते हैं। इसकी दूसरी पहिचान है कि एकके परिणमनसे दूसरा न परिणमे, सो वह द्रव्य अपनेमें अनेकरूप ही परिणमता है क्योंकि स्वयंरूप परिणमनेसे ही स्वयंकी अवस्था होती है। इस तरहसे अब आत्माका यह सातवां विशेषण चल रहा है कि अनन्त द्रव्योंके बीच रहकर भी स्वरूपसे च्युत न होनेके कारण टङ्कोत्कीर्णवत् अचल स्वसमागत चैतन्यस्वभावमय जीव है।

**स्वसमय व परसमयमें समय**—समयका लक्षण बतानेके लिये परम कृपालु भगवान

श्री कुन्दकुन्द स्वामी वह रहे हैं कि भले जीवका नाम स्वसमय है, और बुरे जीवका नाम
परसमय है। यानी रागद्वेषोंसे रहित दर्शनज्ञानचारित्ररूप स्वभावमें जो स्थित है सो तो स्व-
समय है और जो रागद्वेषमें रत है—यह मेरा है कुटुम्ब मेरा है, इस प्रकार परके एकत्वकी
मान्यता वाला है, इसे कहते हैं परसमय। और इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाला जो एक
सत् है वह है समय। भैया ! इस जीवने दुनियामें अनेक बार बहुत वैभव पाये, किंतु आप
यह बतावो कि अभी आपके पास उनमेंसे क्या है ? याने आपके पास पहलेके वैभवमेंसे कुछ
भी नहीं है। इसी तरह अभी सोचो कि जो हमारे पास वर्तमानमें है क्या वह हमारे पास
रहेगा ? नहीं। हां परवस्तुओंमें से कुछ रहेगा भी आपके पास तो पुण्य और पाप ही रहेंगे
जो आपने अभी तक बांधे हैं; इनके अलावा कुछ भी आपके पास रहनेका नहीं, फिर भी तुम
अपने स्वरूपसे नहीं चिगते। दुनियामें एक स्थान भी ऐसा नहीं है जहां कि एक द्रव्यका भी
अभाव हो किंतु प्रत्येक जगह प्रत्येक स्थानपर ६ ही द्रव्य हैं। हमारे शरीरमें भी छहों द्रव्य
हैं, और वे द्रव्य अनंतानंत हैं, फिर हमारे शरीरमें अनंत निगोदिया जीव हैं और उनसे भी
अनंतगुणे आहारवर्गणाके पुद्गल परमाणु है, फिर उनसे अनन्तगुणे तैजस और उनसे भी
अनन्तगुणे कार्माण शरीरके परमाणु हैं। कोई कहे कि तुम इतने द्रव्योंके बीचमें रहकर
अपने स्वरूपमें ही हो, सो यह तो द्रव्योंकी बहुत बड़ी कृपा है कि वे सब अपने रूप ही
परिणमते हैं पर स्वरूप नहीं। और यह भी कृपा देखो कि समय सब अवस्थाओंरूप बर्तकर
भी किसी अवस्थारूप ही नहीं हो जाता।

देखो भैया ! परमकृपालु भगवान पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द महाराज बार बार निज-
स्वरूपकी बात बता रहे हैं, किन्तु फिर भी हम आप लोग उसपर ध्यान नहीं देते हैं, इतना
मनावना तो हितकी बातके लिये बालक भी नहीं कराता है। भैया, अपना अभिन्न वैभव
देखो; इन रागद्वेष मोहादिकको छोड़कर, जो यथार्थ सुखका मार्ग है उसे अपनाओ ! ये बाह्य
पदार्थ तो जितने भी ये दीख रहे हैं कोई भी तुम्हारे नहीं हैं; इन्हें तो तुम पिछले कई भवों
में प्राप्त कर चुके हो। इसलिये इन्हें छोड़कर अब निज स्वरूपको अपनाओ।

**थोड़ीसी भी असावधानीका दुष्फल**—भैया, एक समयकी गल्तीमें ७० कोड़ाकोड़ी
सागर प्रमाण संसारमें भ्रमण करानेवाले कर्मोंका बंध यह जीव कर लेता है, किन्तु आप
यह न सोचने लगें कि फिर तो हम न जाने कितनी गल्तियां कर चुके हैं तो हम संसारसे
कभी भी नहीं निकल सकते सो बात नहीं है। तत्त्वज्ञान और वैराग्यमें वह सामर्थ्य है कि
तद्रूप उत्कृष्ट ध्यान हो तो अन्तर्मुहूर्तमें ही जन्मजन्मार्जित कर्म नष्ट हो सकते हैं। निरु-
पाधि होना व स्वभाव परिणत होना स्वयंके आधीन ही है। दुःखी तो व्यर्थके भ्रमसे ही
थे। हैं तो सर्व पदार्थ स्वतन्त्र, किन्तु भ्रम यह कर रखा था कि मैं उनका स्वामी हूँ। यह

भ्रम तत्त्वज्ञानसे ही मिटता है। जैसे कोई रस्सीमें सांपका भ्रम करे तो भयभीत होता। जब जाना कि यह तो रस्सी है इस यथार्थ ज्ञानके साथ भ्रम भी समाप्त हो जाता है।

**हमें दुःखसे छूटनेके लिये क्या करना है?**—दुःखसे छूटनेके लिये सबसे सुगम एक ही उपाय है—ज्ञान। बिना ज्ञानके ही जीव दुःख पाता है, जैसे ऊपरके उदाहरणमें रस्सीका ज्ञान नहीं था सो वहाँ दुःख था और जब ज्ञान हो गया कि वह तो रस्सी है सो उसी समय सारे दुःख दूर हो गये। आत्मा अनन्त शक्तिका भंडार है, आत्माका वैभव ज्ञान है। अनन्त शक्ति रूप होती हुई भी यह आत्मा अखण्डरूप है, इसके खण्ड नहीं होते। एक आत्माके दो भाग नहीं होते।

**यह आत्मा टङ्कोत्कीर्ण ज्ञानस्वभाव है**—जैसे किसीको एक मूर्ति बनवाना है, सो उसने एक कारीगरको बुलवाकर एक मूर्ति बताकर कहा कि हमें इस पत्थरमें ऐसी मूर्ति बनवाना है। सो वह कारीगर उस मूर्तिको उसी पत्थरमें देख लेता है, वह मूर्ति उस पत्थरमें शुरूसे ही स्थित है। कारीगर तो उस मूर्तिके जो आवरण हैं उन्हें हटाकर उसकी सफाई कर देता है। इसी तरहसे हमें सिद्ध बनना है, सो सिद्ध बननेकी शक्ति हममें शुरूसे है जिस स्वभावको व्यक्त होकर सिद्ध कहलाता है, वह अभी भी है, किन्तु हमारी आत्माके ऊपर अभी विभावरूप कर्मोंका आवरण पड़ा हुआ है सो हमें उसे हटाना पड़ेगा। सिद्धप्रभु और हमारी आत्मा एकसी है किन्तु अन्तर इतना है कि उनकी आत्मासे भावकर्मोंका आवरण हट चुका है सो उनकी आत्मा निर्मल हो गई है और हमारी आत्मा मलिन है। इसलिये आत्माके आवरणोंको हटाना पड़ेगा। जब वे हट जायेंगे तो सच्ची निर्मलता प्राप्त हो जावेगी, तब इसी स्वभावकी वह सिद्ध पर्याय कहलाने लगेगी। यह आत्मा अचल रूप है इसमें सिद्धत्व भाव शुरूसे ही स्वभावमें विद्यमान है, जिस तरह कि पत्थरमें मूर्ति।

वह आत्मा जिसे आगे सिद्ध बनना है वह यहांपर परिपूर्ण रूपसे मौजूद है, वही ज्ञान, वही शक्तियाँ यहां मौजूद हैं किन्तु हमें उनका ज्ञान करना है। हमें अपना स्वरूप जानना होगा कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, और सबसे भिन्न हूं।

**और करना होगा इस ही प्रकारका अनुभव**—भैया! आप विचार करो कि हम वास्तवमें क्या हैं? हमारा असली स्वरूप क्या है? और आप क्या होना चाहते हो? क्या यह सांसारिक पदार्थ मेरे हैं? नहीं। मैं तो अपने स्वरूपमय हूं, अन्यरूप मेरा नहीं है। मैं तो वह हूं जो ध्रुव एक स्वरूप होऊँ। आजकल देखा जाता है कि कोई पुरुष धनी होता है तो वह हमेशा उसी रूपमें रहना चाहता है, हमेशा एकसा रहना चाहता है। आप किसीसे कहो कि हम तुझे सात दिनके लिये राजा बनाये देते हैं, और इसके बाद तुझे बिना कुछ दिये जंगलमें भगा देंगे तो वह पुरुष इस बातको कभी भी स्वीकार नहीं करेगा, इसके बदले

वह छोटी सी दुकान पसन्द न देगा जो कि उसके पास हमेशा रहे। तो जब आप ध्रुव रहना पसन्द करते हैं तो ध्रुव की ओर ही रहो, क्यों अध्रुवकी ओर जाते हो? अध्रुवको ध्रुव माननेका कष्ट क्यों करते हो? आप अध्रुवकी ओर मत जाओ, किंतु आपमें जो चैतन्य और ज्ञान ध्रुव हैं उन्हें ही अपना मानलो, उन्हें ही ध्रुव मानलो तो कल्याण हो जावेगा।

अब तो अपनेको प्रसन्न करो—भैया! आपका यह दर्शनज्ञानसामान्यात्मक आत्मा सनातन है, अनादि-मुक्त है, जिसे कारणसमयसार भी कहते हैं। इसके आलंबनसे निर्मल पर्याय प्रकट होकर कार्य समयसार बनता है। प्रत्येक आत्मा खुदका प्रभु है, इसलिये हमें अपने निजके प्रभुकी उपासना करना चाहिये और उसे प्रसन्न करना चाहिये। प्रसन्नका अर्थ यहां निर्मलतासे है सो जब आपकी आत्मा, आपका निज प्रभु प्रसन्न होवेगा तो आप भी प्रभु बन जावेंगे। इसके अतिरिक्त धर्म अन्य कुछ नहीं है। विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प रूप बन जाना इसीमें सच्चा धर्म है। हमें चाहिये कि हमारा जितना भी समय बीते वह स्वानुभवमें बीते।

गृहस्थ धर्म भी इसी लिये है कि उसमें लोग यथाशक्ति स्वानुभव कर सकें। गृहस्थावस्थामें स्थिरतासे तो स्वानुभव नहीं हो सकता, स्थिरतासे स्वानुभव तो मुनिमार्गमें ही होता है। किन्तु फिर भी कभी-कभी स्वानुभव गृहस्थावस्थामें भी प्राप्त कर सकें इसी लिये यह गृहस्थ पद्धति है। जीवका हित सब विकल्पोंसे दूर होकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेमें है। इसके अर्थ बाह्यमें प्रथम यह आवश्यक हो जाता है कि हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रहके जो बाह्य निमित्त हैं ऐसे गृह, धन, परिवार आदि परिग्रहोंका परित्याग करे, किन्तु ज्ञान हो जानेपर भी कषायांश इतने न गल सके हों तो उनकी जो पद्धति बनती है वही तो गृहस्थ धर्म है। गृहस्थीमें बिना रसोई बनाये कोई निभा तो नहीं सकता, और उसमें स्थावर जीवका बचाव कठिन है, सो गृहस्थके त्रसहिंसाका तो त्याग बनता है किंतु स्थावर हिंसाका त्याग नहीं हो सकता। इसी तरह सबमें अणुव्रत रहता है। गृहस्थों में यह विवाह-पद्धति चली है वह इसलिये कि मन वचन एक स्थानपर रहें, ब्रह्मचर्यकी सीमा रहे, बिना शादी किये यह मन कितने स्थानोंमें जाता है, वहां पर ब्रह्मचर्यकी सीमा टूट जाती है। यदि कोई स्वस्त्रीमें भी आसक्ति रखे तो वह भी विवाहके उद्देश्यसे विरुद्ध जाता है। गृहस्थी एक गलती है किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्तिरूप बड़ी गलतीसे बचनेके लिये यह भार अङ्गीकार किया जाता है। इसका जो ध्यान रखे वह सद्गृहस्थ है। परिग्रहका परिमाण भी इसलिये किया जाता है कि बहुपरिग्रहीको देखकर लालच न हो और तृष्णाका प्रसार न हो। इन सब व्रतोंमें यही बात आई कि विकल्पोंकी वृद्धि न हो। इससे होता

क्या है कि स्वानुभव के अवसर प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्य इसलिये हुए न समझना कि इन्द्रियज मौज उड़ालो। यह सुन्दर अवसर है सदाको दुःखसे छूट लेनेकी तैयारी कर लेना, इसलिये आप लोगोंको अपना मन स्वानुभवकी ओर ले जाना चाहिये।

**यथार्थ अद्वैतबुद्धि ही शरण है**— सिद्धि अद्वैतबुद्धिको कहते हैं व द्वैतबुद्धिको असिद्धि कहा है। अद्वैतबुद्धि दो तरहकी होती है—१ प्रत्येकअद्वैतबुद्धि, २ स्वअद्वैतबुद्धि—अनंतानंत जीव, अनंतानन्त पुद्गल १ धर्मद्रव्य, तथा अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, इन सबका उन खुदके अपने स्वरूपसे परिणमन मानना ही प्रत्येक अद्वैतबुद्धि है। और स्व-अद्वैतबुद्धि उसे कहते हैं कि अपनी आत्मामें गुण पर्यायकी कल्पनाओंसे रहित ज्ञायकस्वभाव का अपनेमें ज्ञान करना, सो स्वअद्वैतबुद्धि है। प्रत्येकअद्वैतबुद्धि हो तो स्वअद्वैत बुद्धि हो सकती है। प्रत्येकअद्वैतबुद्धि तो उद्यमसे होती है और स्वअद्वैतबुद्धि सहज होती है। भैया! स्वभाव के लिये अपने ये क्षण समझो। अपना एक लक्ष्य बनाओ कि हमें तो सिद्ध बनना है, फिर अपने लक्ष्यसे न डिगो।

(१) यह आत्मा सद्रूप है क्योंकि यह परिणात्मक है। (२) यह आत्मा ज्ञान-दर्शनात्मक है क्योंकि यह चैतन्यस्वरूप है। (३) यह आत्मा एक पदार्थ है क्योंकि यह अनन्त-धर्मात्मक है। (४) यह आत्मा गुण पर्यायवाला है, क्योंकि इसमें क्रमभावी व सहभावी तत्त्व पाये जाते हैं। (५) यह आत्मा एक अनेक स्वरूप है, क्योंकि यह स्व व परको अव-भास आनेमें समर्थ है।

उक्त ५ बातोंमें से दूसरी बातसे जीवातिरिक्त समस्त पदार्थोंसे विभाग हो जाता है आत्माका (जीवका)। शेष चार बातें अन्य भी समस्त पदार्थोंमें पाई जाती हैं। शेष चार बातोंमें से भी ५ वीं बात बिवक्षावश सिद्ध होती है क्योंकि पदार्थ तो परमशुद्ध निश्चयसे न एकस्वरूप है और न अनेकस्वरूप है। पदार्थका परिचय पानेके लिये अभेद व भेदका विवरण किया जाता है। पदार्थ अभेददृष्टिसे एक स्वरूप है और भेददृष्टिसे अनेकस्वरूप है। स्वभावदृष्टिसे तो पदार्थ एकरूप है और गुण पर्यायोंकी दृष्टिसे पदार्थ अनेकरूप हैं।

(१ जो परिणामात्मक नहीं वह सद्रूप नहीं अथवा जो सद्रूप नहीं वह परिणामा-त्मक नहीं। (२) जो चैतन्यस्वरूप नहीं वह ज्ञानदर्शनात्मक नहीं अथवा जो ज्ञानदर्शनात्मक नहीं वह चैतन्यस्वरूप नहीं। (३) जो अनन्तधर्मात्मक नहीं वह पदार्थ नहीं अथवा जो पदार्थ ही नहीं है वह अनन्तधर्मात्मक नहीं (४) जो क्रमभावी सहभावी भावयुक्त नहीं वह गुणपर्याय वाला नहीं अथवा जो गुण पर्यायवाला नहीं उसके क्रमभावी सहभावी भाव नहीं। (५) जो स्वपरावभासक या भेदाभेदात्मक नहीं वह एकानेकस्वरूप नहीं अथवा जो एकांतक-स्वरूप नहीं व स्वपरावभासक वा भेदाभेदात्मक नहीं। इस प्रकार इनमें परस्पर हेतुहेतुमद्-

भाव बन जाता है तथापि परिचाय परिच्चयकी दृष्टिसे जो पहिले ५ बात कह आये है, उनमें हेतुरूपसे दी हुई बात तो परिचायक है और साध्य परिचेय है। जैसे आत्मा सद्रूप है क्योंकि परिणामात्मक है। इसमें परिणामात्मकता तो परिचायक है और सद्रूपता परिचेय है। इसी तरह सबमें घटा लेना।

यह आत्म अनादि अविद्यासे मोहवश होकर अपने असाधारण चित्स्वभावसे च्युत होकर परद्रव्यविषयक रागद्वेष स्नेह भावोंमें एकतारूपसे प्राप्त होता है सो औपाधिक परभावोंमें रत होनेसे परसमय कहलाता है। जब ही यह आत्मा विवेक ज्योतिके द्वारा समस्त परद्रव्य व परभावसे च्युत होकर निज चैतन्यस्वरूपमें एकताको प्राप्त होता है तब यह स्वसमय है। स्वसमय आत्मा अपने आपको ही जानता है, प्राप्त होता है, परिणमता है, अनुभवता है।

ये दोनों समयकी अवस्थायें हैं। जो इन दोनों अवस्थाओंमें वही एक है, वही समय है।

**आत्माके कालकृत भेद**——अब यहांपर आत्माकी परिणतियां बता रहे हैं। आत्माकी परिणतियां दो होती है—१ अच्छी परिणति, २ बुरी परिणति। अच्छी परिणतिका नाम स्वसमय है, और बुरी परिणतिका नाम परसमय है।

यद्यपि जीवकी अवस्था पहले परसमय ही होती है, किन्तु यहांपर पहले स्वसमयको कहते हैं क्योंकि परसमयसे स्वसमय पूज्य है, और शान्तिकी पूर्व अवस्था भी स्वसमय है। परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन ज्ञानचरित्रसे स्व-स्वभावको एकत्वरूपसे जाने सो स्वसमय है। और परस्वभाव, रागद्वेष मोहरूप होकर एकत्वसे परवस्तुओंको अपना माने सो परसमय है। मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव परवस्तुओंमें एकत्वबुद्धि लगाये है। यह लड़का मेरा है, सोना, चांदी, धन, मकान, ऐश्वर्य, ये सब मेरे हैं। इस तरहकी कल्पनायें किया करता है, दुनियामें ऐसे लोग अधिक हैं। मिथ्यादृष्टि जीव तो सुभट बन रहा है। घर उससे भाग रहा है, धन भाग रहा है किन्तु वह मोहबुद्धिसे उनमें एकत्वसे रहना चाहता है। भैया, अपने एकत्वकी खबर नहीं है सो ऊधम मचाते, झगड़ा करते रहते हैं लोग। आप स्त्रियोंको देख लीजिये, इन लोगोंको कमाना तो नहीं पड़ता। इनके पुण्य प्रतापसे इनके नौकर कमानेको लोग हैं। आप लोग जो कि दिन भर कमाते हो और मानते हो कि मैं कमाकर इनका पालन करता हूं सो नहीं है। आप उनके नौकर हो, क्योंकि उनके पुण्योदयके निमित्तसे आपको कमाना पड़ता है। हां, तो उन्हें कमाना नहीं पड़ता है फिर भी दिन रात घरोंमें लड़ाई झगड़ा होते हैं। किसीके यहां लड़ाई होती है गहनोंके ऊपर, किसीके यहाँ होती है कामके ऊपर। मतलब कि उसने गहनोंमें एकत्व मान लिया है। किसीके यहाँ काम पर लड़ाई होती है, तो उसने काममें, देहमें एकत्व मान लिया। किसीके यहां बातोंमें लड़ाई

होती है, उसने मेरा कहना नहीं माना है, सो क्यों ? क्योंकि उसने बातोंमें एकत्व मान लिया है। कोई गहने कपड़े आदिमें एकत्व, कोई कोई निंदा, प्रशंसामें भी एकत्व मानते हैं। इन्हीं एकत्व भावनाओंके कारण लड़ाई झगड़ा होते है, दुःख होता है।

**सांची सांची मान तो लो—**भैया ! अगर सुख चाहते हो तो इन बाह्य पदार्थोंसे एकत्वकी मान्यता हटाओ। जो अपने हैं नहीं, उनमें क्यों तुम अपना भाव, अहंबुद्धि लगाये हो। सुख तो अपनी आत्मामें एकत्व आनेपर ही होगा। परपदार्थोंमें एकत्व बुद्धि रहनेपर त्रिकालमें भी सुख नहीं मिल सकता। यह बात निश्चयसे जानो प्रत्येक अपनेमें स्वतन्त्र है। सो जैसा है तैसा देखते जाओ। जैसे पूर्वकी मंजिलपर जाने वाला व्यक्ति पश्चिमकी ओर बढ़ रहा है, तो वह कभी भी पूर्वकी मंजिलको नहीं पा सकता है। इसी तरह मिथ्या-दृष्टि जीव तब तक परपदार्थसे अपनी मोहबुद्धिको नहीं हटावेगा, जब तक ये विचार उसके हृदय में पैदा होंगे कि दुनियामें मेरे सिवाय मेरा कोई नहीं है; मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, ध्रुव हूं, तभी उसे सच्चा सुख और आनन्द मिलेगा।

मोह एक वह अज्ञान है जहाँ अपनी गल्तीको गल्ती रूपसे ख्याल ही नहीं हो पाता। दुःखको सुख समझकर भोगते जाना इसी पट्ठेकी दमका जहूरा है। फल यह होता है—दुःख भोगनेकी परम्परा बढ़ती चली जाती है। पर उस परके ही आधीन है तब परकी दृष्टिमें वह फिर उपयोग कैसे हो सकता है जहाँ कि शान्तिका वास ही रहता है।

**स्वकी स्वकीयतामें ही सुख है—**इसलिये अपनेको जानो, अपनेको देखो, जब कभी भी आपको समय मिले उस समय अपना ध्यान करो कि मैं क्या हूं ? हाँ अगर कोई कहे कि हम भी तो गृहस्थ हैं क्या करें ? न घबरावो गृहस्थ अवस्थामें भी स्वावभासन् करना चाहिये। आप सांसारिक कार्योंमें चौबीस घंटे जुटे रहते हो, किन्तु हमें बताओ कि आप अपने स्वयंके कामको कितना टाइम देते हैं ? स्वयंका काम तो इतना है कि मैं चैतन्य हूँ, उसकी साधना करना, भगवानकी पूजा करना, स्वाध्याय करना—ये आत्मकल्याणके बाह्य साधनरूप चीजे हैं अवश्य, किन्तु इन प्रसंगोंमें भी कभी स्वकी दृष्टि नहीं जाती तो पूजनादि करना व्यायाम है। वैसे तो दुनियाके जीव किसी न किसीके पुजारी बने हुये हैं। कोई धनका, कोई पुत्रका, कोई स्त्रीका आदि।

जिस पुरुषको जो वस्तु प्रिय है वह उसीका पुजारी है। धन जिस पुरुषको प्रिय है तो उसके हृदयमें हमेशा धनको प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा बनी रहती है, और वह धनी कैसे बने, इसीके विचारमें मग्न रहता है, तो वह है धनका पुजारी। भगवानको हाथ पर भी रखे रहो और भाव है लड़के ऊपर, तो आप भगवानके पुजारी नहीं हो, उस समय लड़केके पुजारी हो। और आप काम कर रहे हो घरका और चित्तमें बसा हुआ हो भगवान तो आप बालकको हाथमें लिए भी भगवानके पुजारी हैं, क्योंकि उन्हें तो आप ऊपरी मनसे

करते हो। ज्ञानी गृहस्थके अन्तरङ्गमें इच्छा नहीं है, शुद्धस्वरूप ही लाभकर है ऐसी प्रतीति बनी हुई है। जब ऐसे भाव पैदा हो जावेंगे तब वह जाता हुआ भी नहीं जाता है, जानता हुआ भी परद्रव्यको नहीं जानता, देखता हुआ भी नहीं दीखता; बोलता हुआ भी नहीं बोलता, ऐसी स्थिति हो तभी आत्माका कल्याण होगा। इसलिये जिस तरहके धनी बनने वाले पुरुषके भाव रहते हैं, खानेमें बैठनेमें प्रत्येक जगह वही धुन सवार रहती है, उसी तरह अपनी आत्माको देखनेके लिये भी उसी तरहकी तेजीके भाव पैदा करो।

**अपनी दया तो अवश्य करलें**—एक राजा था। वह किसी अन्य देशमें युद्ध करने चला गया। उसका राज्यभार उसकी पटरानीने संभाला। इधर अवसर देख एक दूसरे राजाने उसपर चढ़ाई करदी। तब रानीने अपने मंत्रीको बुला करके कहा कि तुम सेनापति बनकर युद्धके लिये जाओ। मंत्री जैन था। वह सेना लेकर युद्धके लिये चल दिया। रास्ते में शाम हो गई, सो सेनापतिने हाथीके ऊपर बैठे बैठे ही अपनी सामायिक देना शुरू करदी। सामायिकमें सेनापति कहते थे कि जिन पेड़ पत्तोंको मेरे द्वारा कष्ट पहुँचा हो सो वे मुझे क्षमा करें; कीड़ों मकोड़ोंको कोई कष्ट हुआ हो तो मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ—यह बात किसी ने सुनली, सो रानीके पास जाकर वह बोला—महारानी जी ! आपने कैसे व्यक्तिको सेना-पति बनाया, जो कि पेड़ पत्तोंसे डरता है, उनसे क्षमा माँगता है, वह आदमी युद्धमें कैसे युद्ध करेगा और कैसे जीतेगा ? इधर पाँच छः दिनमें ही सेनापति उस राजाको जीतकर वापिस आ गया। तब रानीने पूछा कि सेनापति ! तुम तो इतने कायर हो कि पेड़ पत्तोंसे क्षमा मांगते हो फिर युद्धमें कैसे लड़े होगे ? तब सेनापतिने उत्तर दिया कि मैं आपका नौकर हूं किन्तु चौबीस घंटेका नौकर नहीं हूँ। मैं जितने समय आपका नौकर हूँ सो आपका काम करना हूँ बाकी समय सुबह शाम मैं अपना नौकर हूँ सो अपना काम करता हूँ। मेरे द्वारा किसी को कष्ट पहुँचा हो सो मैं उसकी क्षमा मांगता हूं और अपना स्वरूप निजमें देखता हूं। रानी बड़ी प्रभावित हुई। इसी तरह आप भी गृहस्थीमें रहते हुये भी अपने कामके समय अपनी आत्माका ध्यान स्व-स्वरूप चितवन किया करो। स्व-स्वरूपके देखनेसे ही आत्मा निर्मल बनेगी। इसे निर्मल बनानेके लिये एकत्वगत स्वसमयकी आव-श्यकता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र—इन तीनोंमें एकत्व होनेका ही नाम स्वसमय है।

**दर्शन ज्ञान चारित्रका सर्वत्र उपयोग**—एकत्वका क्या रूप होता है सो आप सब जल्दी जान जाओगे क्योंकि एकत्वका उपयोग सब करके जानते हैं, कोई कहीं तो कोई कहीं। जैसे किसीका बालक छतपर खेल रहा, और वह खेलते खेलते छतके अन्त तक चला जाता है, तब उसे अपने लड़केके गिर जानेका ज्ञान होता है और वह उठकर जल्दीसे लड़केको उठाने जाती है। जल्दीमें उसे चोट भी लग जावे तो उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता है

क्योंकि वहाँ पर एकमें उस बालकमें ही एकत्व है। कहीं बालकमें एकत्व ही नहीं गया किन्तु कल्पनाकी कल्पना की। इसी तरह दर्शन–ज्ञान–चारित्रमें एक साथ एकत्व भाव होना सो स्वसमय है। यहाँ एकत्व हो जाता है। दर्शन ज्ञान चारित्र प्रत्येक आत्मामें रहते हैं— रोटी बनानेमें, पाप करनेमें, जप करनेमें, पुण्य करने, धर्म करने आदिमें श्रद्धा ज्ञान चारित्र ही तो काम कराता है। वह अच्छा है या बुरा यह दूसरी बात है। आप रोटी तभी बना लेते हैं जब आपको उसमें श्रद्धा है, उसका ज्ञान है और चारित्र है। यदि ऐसा नहीं है तो गुंदे हुये आटेको छोड़ बेलन आदि अन्यमें से लोई क्यों नहीं तोड़ते ? सो इससे ज्ञात होता है कि आपको उस विषयका श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र है।

श्रद्धा ज्ञान चारित्र प्रत्येक स्थानमें है। जब आत्माके स्वभावका श्रद्धान ज्ञान आचरण होता है तो आत्म-स्वभावकी सिद्धि हो जाती है याने वह निर्मल हो जाता है।

भैया ! जो अपनी निर्मल आत्मामें विराजमान है उसके नामका पत्थर भी दुनियांमें पुजता है। पुजनेकी ओर दृष्टि न हो, अनन्त सुखकी ओर देखो। आपका कर्तव्य भी है कि आप अपनी आत्माको अपनेमें देखो। भगवान किसीके दुःखोंको नहीं मिटाता है। दुःख स्वयं भगवानकी पूजा उपासनासे मिट जाते हैं। किन्तु कब जब कि भगवानकी पूजा स्वभावश्रद्धापूर्वक हो। यथार्थमें होता भी यही है कि भगवानकी पूजा आराधना भगवानके प्रेमसे कोई नहीं करता बल्कि वे अपने दुःख और संताप मेटनेको भगवानकी पूजा करते हैं, उनके पास जाते हैं।

**प्रत्येक परिणतिका सम्प्रदान या प्रयोजन वही स्वयं है**—जैसे कोई व्यक्ति गर्मीके दिनोंमें नंगे पैर और नंगे सिर मार्गमें जा रहा है तो उस गर्मीसे उसे संताप पैदा होते हैं और जब वह उन्हें सहन नहीं कर पाता तब वह विचारता है कि कोई घना छायादार वृक्ष मिले। रास्तेमें जहाँ उचित वृक्ष मिलता है, वृक्षके मिलते ही वह जल्दी जल्दी उस पेड़के नीचे जाकर आराम करता है। तो हम पूछते हैं कि वह व्यक्ति पेड़के नीचे क्यों गया ? क्या उसे पेड़से प्रेम था ? यदि आप कहो कि हो वह पेड़के प्रेमसे ही पेड़के पास गया, तो जब धूप खतम हो जाती है, शामके पांच बज जाते हैं फिर वह व्यक्ति उस पेड़के नीचेसे क्यों चला जाता है ? यदि उसे पेड़से प्रेम था तो उसे पेड़के पास ही रहना चाहिये किन्तु नहीं, वह तो अपने संताप जो कि कड़ी धूपके कारण हुये थे और वे उससे सहन नहीं हो रहे थे, उन्हें मेटनेके लिये पेड़के नीचे गया था। इसी तरह कोई भी व्यक्ति भगवानके पास भगवानके प्रेमसे नहीं जाता है बल्कि अपने दुःखोंको मेटनेके लिये भगवानके पास जाता है।

दुनियांमें ज्ञानी और अज्ञानी जीव दोनोंको दुःख है। अज्ञानी जीव तो अपने मोहसे लौकिक दुःखको मेटने जाते हैं। कोई महावीर जी, पद्मपुरी आदि, मेरे बच्चे हों, मुझे

धनकी प्राप्ति हो जावे, इन भावनाओंको लेकर जाते हैं। तो क्या कुछ होता है परसे ?

**प्राप्त समागमोंमें विभक्त होनेका मार्ग बनाओ**—अगर इन तीर्थ क्षेत्रोंमें अपनी आत्म-बुद्धि, आत्म-कल्याणकी भावना लेकर जाओ तो कुछ लाभ भी हो। ज्ञानी जीव भी अपने दुःखोंको मेटनेके लिये भगवान की शरणमें जाते हैं, आप पूछो कि ज्ञानी जीवको क्या दुःख है ? ज्ञानी जीव सोचता है कि मेरा स्वभाव तो निर्मल चैतन्यस्वरूप है और मैं क्या हो रहा हूं ? उसके जो विकल्प शेष हैं उन्हीं विकल्पोंका उदय ही दुःख है, सो उसी दुःखको मिटानेके वास्ते भगवानकी शरणमें जाते हैं। ज्ञानी जीवके दुःख तो भगवानकी पूजा भक्ति से मिट जाते हैं। देखो उनके दुःख मिटनेमें भगवान भी निमित्त हो जाते हैं किन्तु अज्ञानी जीवके दुःख नहीं मिटते हैं। इसलिये विकल्पोंसे रहित यानी निर्विकल्प जो आत्माकी अवस्था है (स्वसमय) उनका ध्यान करो। धन पर है, यह शरीर पर है किन्तु मैं चैतन्य मात्र हूं। क्या ये पुण्य पाप मैं हूं ? नहीं, क्योंकि पुण्य पाप तो जड़ हैं, किन्तु मैं चैतन्य-स्वरूप हूं। तो क्या इन पुण्य पापोंके द्वारा उत्पन्न जो सुख दुःख हैं वह मैं हूं ? नहीं। क्यों कि सुख दुःख तो विभावमात्र हैं, किन्तु मैं तो चैतन्य और स्वभाव रूप हूं, मैं तो ध्रुव-चैतन्य हूं। इस तरह जब तक ज्ञान नहीं होता है तब तक शुद्ध चिद्रूपका ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये चित्स्वरूपके जाननेमें भेदविज्ञान प्रधान कारण है।

**भेदविज्ञान पूर्णज्ञानका मूल है**—भेदविज्ञान केवलज्ञानको पैदा करनेमें भी कारण है, यह बात दूसरी है कि अभी केवलज्ञान नहीं होता फिर भी दो एक भवोंके बाद हो सकेगा। आप उसे पानेकी तैयारी तो यहीं कर सकते हो। अपना तो बस एक लक्ष्य होना चाहिये कि हमें तो सिद्ध बनना है, आपके अन्दर सिद्ध बननेके नारे गूंजना चाहियें। जैसे आजादी प्राप्त करनेके लिये स्वतन्त्रताके नारे लगते थे उसी तरह आपके मनमें सिद्ध बननेके नारे (हृदयके भाव) होना चाहिये, भेदविज्ञान होना चाहिये। आप जरासे कामोंमें तो भेद-विज्ञान करते हो; किन्तु आत्माके सुखके लिये भेदविज्ञान नहीं करते। आप गेहूं बीनते हैं उसमें दो दृष्टि रहती हैं एक तो गेहूं और दूसरा गेहूँ याने गेहूंको लेना गेहूंके अतिरिक्त जितनी भी चीजें हैं मिट्टी आदि उन्हें छोड़ना। तो इसी तरह आत्मामें भी भेदविज्ञान करना है। आत्माको लेना है और अनात्माको अलग करना है। गेहूंमें तो दो काम करने पड़ेंगे कि एक तो ज्ञान करना कौन गेहूँ और कौन नहीं है, दूसरे हाथ चलाना किन्तु आत्माके लिए सिर्फ एक काम करना है, निजको निज, परको पर जान। स्वका जानना ही परपदार्थोंसे छूट जाना है। स्वसमयकी आराधना करो तभी कल्याण होगा।

**स्वसमयका वैभव**—जब यह जीव सर्व पदार्थोंको जाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञानको उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण जो भेददृष्टि है उसके उदय होनेसे परद्रव्योंसे छूटकर, दर्शन

ज्ञान चारित्रमें स्थित होकर अपने स्वरूपको एकत्वसे देखता है उसे स्वसमय कहते हैं। यह जीव आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर आत्माका लक्ष्य बनाता है क्योंकि जो जैसा लक्ष्य बनाता है उसकी प्रवृत्ति उसी ओर रहती है। जो आत्माका लक्ष्य बनाता है उसकी प्रवृत्ति स्व-(आत्मा) की ओर होती है और जो परका लक्ष्य बनाता है उसकी प्रवृत्ति परवस्तुके उपयोगमें जाती है; वह परवस्तुको ही अपना मानकर प्रसन्न होता है। किन्तु स्वका लक्ष्य बननेपर स्वभावदृष्टि रखकर जीव सोचता है कि मेरा आत्मा ध्रुव है, मैं पवित्र हूं, मेरी आत्मा निर्मल है। अनादिकालसे यह आत्मा निर्मल है, किन्तु कर्मोंके संयोगसे यह आत्मा मलिन हो गया है। वहां भी स्वभाव देखो क्या मलिन हो जाता है, गंदा हो जाता है? आप बतावो कि क्या यह पानी गंदा है या राखने उस पानीको गंदा बना दिया है? उस निर्मल पानीको उस राखने गंदा कर दिया है, यह संसर्गदोषसे ही राखकी मलिनताका पानी में व्यवहार है। यदि राखको दबा दिया जावे तो वह पानी अपनी स्वभाव अवस्थामें आ जावेगा, पानी पूर्ण निर्मल हो जावेगा। इसी तरह आत्मा राग, द्वेष मोहादिकके संसर्गसे मलिन है। आत्मस्वभाव उपाधिमय नही है। अन्तः बाह्य आवरण दूर हुये कि लो आत्मस्वभाव विकासरूपमें प्रकट हो गया।

**परसमय ही तो ज्ञानदृष्टि होनेपर स्वसमय बन जाता है:**—यद्यपि आत्माका स्वभाव मलिन नहीं है तथापि कर्मोदयको निमित्त पाकर आत्माकी शक्तियोंका परिणमन परोन्मुख हो रहा है। द्रव्यके स्वभावको देखो—वह ही ध्रुव स्वरूप है वह मलिन नहीं, तो भी पर्यायका तदात्वकालमें व्यतिरेकका अभाव है सो मलिन अवस्था है। यह आत्मा मोहके एकत्वमें रत होनेसे अपनेको पररूप करता है, अनादि परम्परासे कर्मोंके संसर्गसे यह आत्मा पहले परसमय बनता चला आया है; उसके पश्चात् ज्ञानदृष्टिसे स्वसमय बनता है। परसमयसे स्वसमयमें आनेका मुख्य कारण है सम्यग्दर्शन। यह तीन प्रकारका है—क्षायिक, वेदक, औपशमिक। क्षायिक सम्यक्त्व सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है। वे सात प्रकृतियां है अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व होता है। यदि इन सातमें सर्वघाती ६ का उदयभावी क्षय होवे, इन ही अनागत स्पर्द्धकोंका सद्वस्थारूप उपशम हो एवं सम्यक् प्रकृतिका उदय हो तो वेदक सम्यक्त्व होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके अनंतानुबंधी ४ व मिथ्यात्व इन ५ के उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है। वेदक योग्य मिथ्यादृष्टिके ७ के उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है। इन सातकी उक्त अवस्था बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता है। यह बात निमित्तदृष्टिसे, विज्ञानसे ठीक है।

**कर्म आत्माकी परिणति नहीं करता**—किन्तु यह नियम अकाट्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका लेश भी परिणमन नहीं करता। सो कर्मोके उपशमादिको निमित्त पाकर

सम्यग्दर्शन हो किन्तु कर्मोंकी किसी भी परिणतिसे आत्मामें यह परिणमन नहीं होता। निमित्तमात्र अवश्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि तत्व है परन्तु यह भी तो विचारो कि कर्मों के बंध बिना ही कर्मोंका सत्व हुआ नहीं, और सत्व हुआ सो उसका उपशमादि परिणमन भी तो सादि है, सो उपशमादिका भी तो कोई निमित्त होना ही चाहिये। तो कोई तत्व ऐसा भी है जिसके बिना इन सात प्रकृतियोंका क्षय आदि नहीं हो सकता है। वह तत्व क्या है? अपनी आत्माका स्वरूप जानना ये कारण है। स्वरूपका ज्ञान तभी हो सकता है जब पहचान हो; पहिचानके लिये लक्षण-ज्ञान चाहिये, लक्षण-ज्ञान भेद-विज्ञानसे होगा, भेदविज्ञानके लिये उसके अध्ययन मननादि रूप ज्ञानाभ्यास चाहिए। तो आत्मस्वरूप जाननेके लिये सब से पहला कोई कारण है तो वह है ज्ञानाभ्यास। ज्ञानाभ्यासके लिये भी कोई कारण होना चाहिए। उसके लिये कारण है ज्ञानावरणका क्षयोपशम, क्षयोपशमके लिये कोई चिंता आपको होनी चाहिये। भैया! उसके लिये आपको कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि वह तो आपको पहलेसे ही प्राप्त है, जिसके द्वारा आप दुनियाके कार्य, बड़ी-बड़ी कंपनियोंकी व्यवस्था, नेतागिरी करते हैं, हिसाब खाता वही आदि जिसमें पाई-पाईका हिसाब रखते हैं, क्या ज्ञानावरणका आपके क्षयोपशम नहीं हैं? बड़े-बड़े व्यापार व्यवसायका प्रबंध करते हैं। इनमें अकल कितनी लगाते हैं? इसी क्षयोपशमका उपयोग आत्महितके लिये करना है। आत्मकल्याणकी तीव्र रुचि होनेपर हितका कार्य अनायास बन जावेगा।

**भेदविज्ञान केवलज्ञानका कारण हो जाता है**—इसके लिये विवेक ज्योति पहले चाहिए। यह विवेक ज्योति पूर्ण ज्योतिका कारण बनेगी। पूर्ण ज्योति कैसी है? समस्त पदार्थ सार्थकी भासनामें समर्थ है। केवलज्ञान इसका अपर नाम है। केवलज्ञानमें पदार्थ जैसे व्यवस्थित हैं, प्रतिभासित हो जाते हैं। केवलज्ञानमें समस्त शक्तियां समस्त अविभाग, प्रतिच्छेद प्रतिभासित हो जाते हैं। केवलज्ञानमें समस्त पर्यायें जिस क्रमसे त्रिकालवर्ती हैं प्रतिभासित हो जाते हैं। यह ज्ञान अति निर्मल है, इसमें सर्व द्रव्य गुण पर्याय झलकते हैं किन्तु केवलज्ञानीके देशक्रम व कालक्रम आदिका लेश विकल्प नहीं है, क्योंकि उनके ज्ञानमें वे सब पर्यायें एक साथ झलकते हैं जिनमें सत्ताका योग था, है व होगा। यहांपर अभी स्वसमयकी प्रतिक्रियायें की जा रही हैं। हां तो उसमें कितने जीव आ गये? केवली भगवान, वीतराग छद्मस्थ, सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरणस्थ, अपूर्वकरणस्थ, अधःकरणस्थ, अप्रमत्तविरत, प्रमत्तविरत, देशविरत, अविरतसम्यग्दृष्टि—इस तरह सर्व सम्यग्दृष्टि जीव उसमें आ गये।

**मोक्षमार्गकी वृत्ति सबकी एकविध है**—क्या इनमें जीवोंका काम नाना प्रकारका है? मोक्षमार्गमें चलने वाले जितने भी जीव हैं उन सभीकी कला एक है। मोक्षमार्गका पुरुषार्थ

सहजपुरुषार्थ है और वही उत्कृष्ट है। हमारी बुद्धिपूर्वक जितने भी पुरुषार्थ होते है वे सभी नैमित्तिक हैं। जितना भी धर्म हमारे आपके हो रहा है वह अनैमित्तिक हो रहा है—किन्तु उस धर्मके पास पहुँचनेके पूर्व जो विकल्प होते हैं उनके कारण अवश्य हो जाते हैं। द्रव्यदृष्टि के विचार, निश्चयनयके अभिप्राय आदि विकल्प रूप हैं। पर्यायको गौण कर उसके स्रोत रूप शक्तिके उन्मुख होना भी विकल्प है। इतने कार्यके लिये ज्ञानको ज्ञानातिरिक्त अर्थका आश्रय रहता है परन्तु इसके पश्चात जो निर्विकल्प समाधि है वह अनैमित्तिक परिणमन है। संसारमें जितने भी द्रव्य हैं, हम और आप उनको ज्ञानद्वारा समझ सकते हैं। आँख द्वारा उन्हें नहीं देख सकते हैं। पर्याय तो आँख द्वारा जानी भी जा सकती है, समझमें आती है, किन्तु कुछ पर्यायें भी ऐसी हैं जो ज्ञानसे जानी जाती हैं। वस्तुतः सभी ज्ञानगम्य हैं, इन्द्रिय निमित्त स्थूल विषयमें है। पर्याय तो इन्द्रियगम्य है। किन्तु द्रव्य या शक्ति इन्द्रियगम्य नहीं है। मूर्तिद्रव्य भी इन्द्रियगम्य नहीं। उनकी स्थूल (स्कन्ध) अवस्था इन्द्रियगम्य है। फिर आत्मतत्वकी तो बात ही निराली है। वह कैसे इन्द्रियगम्य होगा, प्रत्युत इन्द्रिय निरोध बिना गम्य नहीं होगा।

**मोक्षमार्ग निज ज्ञायक स्वभावका अवलम्बन है**—अनादि अनन्त वह ध्रुव आत्मा हम और आप सभीमें है, वह आतमा अचल है। उसका एक आलम्बन पाकर ही अनेक आत्मा परमात्मा हुये हैं। हां तो यहां अभी यह विषय चल रहा है कि मोक्षमार्गियोंका मोक्षमार्गके लिये जो कदम बढ़ता है वह एक शैलीका है। उसमें न्यून अधिक विकासका ही अन्तर हो सकता है। जितने भी विकास हैं वे स्वभावके ऊपर प्रवेश करते हैं। भगवान् सिद्धमें जो केवलज्ञान है उसका भी स्वभावके ऊपर प्रवेश हुआ है। उस उपयोगरूप होकर वे परिणत करते हैं, सो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभाव आपको कारण रूपसे उपादान करके परिणाम रहे हैं, इसी तरह अन्य स्वभाव भी अनादि अनन्त, अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके प्रवेश पाते हुये अपने-अपने ज्ञानोपयोग रूप हो होकर परिणमते हैं। वहां प्रवेशसे प्रयोजन नाटकके रंगमंच जैसा नहीं है कि उसके ऊपर अभिनयकर्ताका प्रवेश हुआ और थोड़ी ही देरमें भिन्न स्वरूप वाला भिन्न अभिनयकर्ताका प्रवेश हुआ और निकल गया। मंच सूनी हो गई। किन्तु यहां तो प्रवेशसे प्रयोजन इतना है कि केवलज्ञान होता रहता है और प्रतिसमय नष्ट होता रहता है और उस केवलज्ञानके विलीन होनेपर इसी तरहका केवलज्ञान फिर पैदा होता है क्योंकि वह अनैमित्तिक परिणति है। अनैमित्तिक परिणति सब एक समान होती है। पर्याय प्रतिसमय दूसरी दूसरी होती है, उनका यह क्रम अनन्त काल तक रहेगा।

**ज्ञान तो वही है जहां विकल्प नहीं है**—भगवान् सिद्ध, सर्वज्ञपरमात्मा स्वयम्भू,

परमात्मा इतने निर्मल हैं कि उनके अन्दर द्रव्योंकी अनंतानंत पर्यायें झलक गई हैं, जिनको उन्होंने कल जाना उन्हींको आज जाना। उनके अन्दर देशक्रमकी सभी चीजें झलक गई तो भी देशक्रमका विकल्प नहीं। सर्व पर्यायें झलक गई किन्तु उनमें भूत भविष्य और वर्तमानके विकल्प नहीं हैं। आकारकी पर्यायें भी उनमें झलक गई हैं, फिर भी उनमें किसी तरहके विकल्प नहीं हैं, उनका ज्ञान निर्मल है। ये स्वसमय सिद्ध हैं। ऐसी स्वसमयता उत्पादक पूर्व स्वसमयता है, उसका उत्पादक पूर्व स्वसमयता है। इस तरह पूर्व पूर्वके स्वसमय पानेका कारण सबसे पूर्वका स्वसमय वना है। उसकी उत्पादिका द्रव्यदृष्टि है। उसका कारण स्वरूप परिचय है, उसका कारण लक्षण-ज्ञान है, उसका कारण भेदविज्ञान है। सो जब भेदविज्ञानके बलसे यह जीव परद्रव्यसे च्युत होता है तव यह कहाँ विलास करता है? देखो वह पद है ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप। यह चैतन्य सामान्यविशेषात्मक होनेसे दर्शनज्ञान-स्वरूप है। आत्माका स्वभाव दर्शनज्ञानरूप एवं उसकी वृत्तिरूप है। ऐसे आत्माके एकत्व में गत होकर जो वर्तते हैं वे स्वसमय हैं। जो पर-पदार्थसे च्युत होकर स्वपदार्थमें ठहर जाते हैं वही स्वसमय हैं। अभी यहां स्वसमयका ही वर्णन चल रहा है। स्वसमयके कारणभूत समयके जाने बिना जीव विभावरूप परणतियोंमें रत हो जाता है और वहाँ पर नाना प्रकारके बाह्य पदार्थोंमें एकत्व करता रहता है, जिसके कारण तरह-तरहके विसम्वाद होते हैं और जब तक क्लेश ही रहता है कि मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं, यह दीखने वाले वह सपनेमें एकत्व नहीं करता तब तक पदार्थ मेरे नहीं हैं, ये तो सब मोहकी परिणतियाँ, मोहजन्य विकल्प हैं। मुझे इनसे दूर रहना चाहिये। मेरा तो दुनियामें कोई है तो सिर्फ मेरा ध्रुव चैतन्य आत्मा है। इस प्रकार अपना स्वरूप (अपनेमें) नहीं देखता तब तक वह दुःख उठाता रहता है और जब वह अपनेमें एकत्व करके अपने स्वरूपको देखता है तभी उसके सारे विकल्प, विसम्वाद नष्ट हो जाते हैं।

**विसंवादसे अवश्य हटिये**—इसके लिये हमें अपना शुद्ध स्वरूप देखना है, उस शुद्ध-स्वरूपसे निज आत्माका परिचय होता है, तब आत्मामें ज्ञान होता है। ज्ञानके द्वारा आत्मा को जानता है, और आत्माकी ओर उन्मुख होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है और जीव अपना कल्याण करता है।

देखो भैया! परमकृपालु भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामीके हृदयमें कितनी दया थी? वे हमारी स्थितिको देखकर किस जातिका दुःख देखते थे? वे हमारी मूढ़तापर दुःखी होकर कहते हैं कि ये जीव जगतके मोह, राग द्वेषमें फंसे हैं, इनसे विभक्त होनेके लिये जरासी तो बात है। अपना आत्मस्वरूप देखो और कल्याण करो। उन्हें इस तरहसे यही दुःख था। उनके हृदयमें जब अनुराग होता था, इस तरहके विकल्प उटते थे तब उन्होंने अपनी

लेखनी चलाई। इन विकल्पोंको हटानेके लिये उनका बुद्धिपूर्वक जो कार्य हुआ है सो यह ग्रन्थ है।

**अपनी परिणति अपने लिये ही होती**—देखो वस्तुतः कोई चेतन अथवा अचेतन कोई भी द्रव्य किसी अन्यके लिये नहीं परिणमता। सब अपने स्वरूप लाभके लिये परिणमते हैं। तब यहां कोई ऐसी दृष्टि रखे मैं अमुकको पालता हूं, सुखी करता हूं आदि तो वह भाव उनको कितने दूर लिये जा रहा है? भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव आदि आचार्योंके ग्रन्थरचनाके दो ही प्रयोजन हैं, १–दूसरोंको सत्पथ मिले, ऐसी दया सम्बन्धी स्वदुःख मेटना। २–दूसरों पर लक्ष्य हो क्यों जाता मेरे परविकल्प ही नहीं इसके लिये सुतत्त्वके वर्णनमें लग जाना। भैया अपना परिणाम अपनेमें समझ। द्वैत बुद्धि मिटावो।

**ब्रह्म और ब्रह्मपरिणति**—आत्मा कहो या ब्रह्म कहो एक ही बात है, आज भी उसी ब्रह्मका वर्णन चल रहा है। ब्रह्मकी दो अवस्थायें हैं, स्वसमय, और परसमय। स्वसमयका वर्णन कल हो रहा था, उसमें केवली भगवान, वीतराग छद्मस्थ अनुवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अप्रमत्त आदि सम्यग्दृष्टि आ जाते हैं। निज समयको जब प्राणी जान लेता है कि मैं ध्रुव हूँ परमार्थसे भिन्न हूं, इन सांसारिक पदार्थोंसे मेरा कोई संबंध नहीं है, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूं, तब उसे स्वसमयताकी पात्रता आ जाती है।

जैन सिद्धान्तमें जिसको आत्माके नामसे कहा है उसको अन्य अभिप्रायोंने तुरीयपाद से सम्बोधित किया है। अन्तर इतना है कि उनका तुरीयपाद सर्वव्यापक है और आपका आत्मा अपने विशिष्ट सत्स्वरूप है। जब यह अपने स्वरूपको जानकर अपनेमें स्थित, लीन होता है उस समय वह स्वसमयको प्राप्त हो जाता है। स्वसमयका वर्णन हो चुका है। आज परसमयको कहते हैं। परसमय—यह उस अवस्थाका नाम है जिसमें संसारी जीव मान्यता द्वारा मोह बुद्धि, मोह नींदसे परपदार्थमें एकमएक होता है। ये संसारी जीव जागते हुये भी सो रहे हैं। बर्राते हुए भी सो रहे हैं। वेदान्तमें सोनेकी तीन अवस्था बतलाई है, जिन्हें हिन्दीमें कहते हैं जगना, बर्राना, (यानी स्वप्नावस्था) और खूब प्रगाढ़ निद्रामें सोना। ये तीन अवस्थायें प्रत्येक संसारी जीवके हैं। सोते में उसे जो कुछ दीखता है जागनेपर वह कुछ भी नहीं दीखता है। स्वप्नमें देखी हुई वस्तु जिस तरहसे भ्रमरूप है उसी तरह जागते हुये जिन्हें हम आंखोंसे देख रहे हैं वे भी भ्रमरूप हैं। यह तो सब मायारूप है। मायाका लक्षण है कि जो सादि और सांत है वही मायारूप है, तो ये हमें आपको दुनियामें जितने भी पदार्थ दीखते हैं ये सभी मायारूप एवं भ्रम हैं। ये तो क्षणिक तथा नश्वर हैं, ये नो मेघोंके समान चंचल हैं, जिस तरह आकाशमें मेघ पटल छा जाते हैं और थोड़ी देर बाद वे सबके सब नष्ट हो जाते हैं और फिर छा जाते हैं, इसी तरह ये दुनियाके पदार्थ हैं।

जागने और सोनेकी अवस्थाको देखो, जो सोनेमें है वह सोनेकी चीज जागनेमें नही और जागनेकी चीज सोनेमें नहीं; तो ये सभी विकल्प मात्र हुए। जहां तत्वका ग्रहण नहीं है वहाँ कोई विकल्प नहीं है। जहां 'मैं हूँ' यह ज्ञान भी जिसे नहीं है उस अवस्थाको कहते हैं ज्ञान घन। वहाँ सन्मात्र भासना सूक्ष्म रहती है याने खूब सोनेकी अवस्था, खूब गाढ़ी नींदमें सोनेमें अपनेका भी ध्यान नहीं रहता है और न बाह्य वस्तुओंका। यह अवस्था तृतीय है। इन तीनोंसे परे वह ब्रह्म है।

देखो भैया ! दुनियामें जैन तथा अजैन जितने भी बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि हुये हैं उन सभीने यह प्रयत्न किया है हम सृष्टिके मूल तक पहुंच जावें किन्तु वस्तुगत ये दृष्टिको छोड़ करके सृष्टिके मूल तक कोई नहीं पहुँचा है।

**द्रव्यस्वरूपके जाने बिना अनेक अन्दाज होते हैं**—कोई आशय मानते हैं कि ईश्वर एक है और उसने सृष्टि करनेके पहिले एक आलोचक बनाया कि जब मैं सृष्टि करूंगा और आलोचकको जो वस्तु ठीक नहीं लगेगी उसे मिटाकर पुनः अन्य प्रकारसे बना दूंगा, सो उस ईश्वरने पहिले बन्दर बनाया। तब आलोचकने कहा कि यह तो बहुत चालाक चंचल है इससे काम नहीं चलेगा। तब ईश्वरने गधा बनाया तो आलोचक बोला कि यह तो सुस्त है। इसके बाद ईश्वरने ऊंट बनाया। तब आलोचकने कहा कि इसका मुंह ऊपर उठा है। तब हाथी बनाया, सो भी आलोचककी पसंद नहीं आया। अन्तमें ईश्वरने मनुष्य बनाया। कोई भाव मानते हैं कि पहले कुछ भी नहीं था, खुदा और आदम ही था। कुन और कान थे। आदमने कहा कुन यानी सृष्टि करो, तब खुदाने कहा कान, सृष्टि करता हूं और सृष्टि हो गयी।

कोई कहता है कि पहले एक ब्रह्म था, उससे तेज बना, जिससे सूर्य चन्द्र बने और उसके बाद जो यह दुनियाका ठाठ है सो भी उसीसे बना। तो कोई कहता है कि यह सृष्टि तो प्रधानके द्वारा की गई है। सांख्य पुरुष और प्रधान ये दो मानते हैं सो ये कहते हैं कि पुरुष तो चैतन्य है और वह अनादि मुक्त है और जो प्रधान है वह अचेतन है सो वही सभी कार्य करता है, पुरुष तो उसका भोक्ता है। इस तरह प्रत्येक अभिप्रायानुयायीने सृष्टिको जानना चाहा है। लोगोंने सोचा कि जो सृष्टिकर्ता है उसकी पूजा, उपासना करना चाहिये जिससे कि वह हमपर प्रसन्न हो जावे और अगले भवनमें हमारी सृष्टि भी अच्छी जगह कर दे।

**पर्याय सृष्टि और द्रव्य स्रष्टा है**—यहांपर श्रीमद्पूज्य भगवान कुंदकुंद प्रभु इस सृष्टि के बारेमें आगे सभी बतावेंगे। जैनोंने भी सृष्टिकर्ताकी उपासना और पूजा आदि करनी चाही है। जैन लोग मानते हैं कि सृष्टि एककी नहीं बल्कि सृष्टि नाना की है। और वे नाना क्या हैं ? वे नाना ये द्रव्य हैं। अनंत जीव, द्रव्य, अनंतानंत पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य,

एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। इन्हीं नाना द्रव्योंकी सृष्टि है और जो आत्माके दो भेद — स्वसमय और परसमय किये हैं सो वे इसी सृष्टिके भेद हैं और सृष्टिके मूल हैं ये द्रव्य। और सृष्टिकर्ता है स्वयंका उनका आत्मा। इसलिये इस समयसारमें भगवान् कुन्द प्रभु कहते हैं कि अपने निज सृष्टिकर्ताकी पूजा करो, उसीकी उपासना करो और उसे अपनी उपासनासे प्रसन्न करो जिससे आगेके लिये भवसृष्टि न हो किन्तु शिवसृष्टि हो। तहाँ 'प्रसन्न' का अर्थ व्याकरणके अनुसार निर्मल है, सो जिसने अपनी आत्माको निर्मल बना लिया है सो उसका कल्याण होगा।

**गांठमें लाल होकर भी आँख न खोले तो क्या इलाज**—देखो जैसा यह सब समागम अध्रुव है ना, सादि सांत है ना, इससे इस जागृत अवस्थामें भी जो कुछ देखते हो वह भ्रमरूप है, वह सभी वस्तुयें नष्ट होने वाली हैं, फिर भी यह मनुष्य उन्हींमें रत है। देखो यह जीव खुद ज्ञानमय होकर खुदकी ज्ञानमयताको नहीं देख पाता है। इससे अधिक इस जीव की मूर्खता क्या होगी? जैसे समुद्रमें रहते हुये भी मगर प्यासा रहे तो ये उसकी ही अज्ञानता एवं मूर्खता है। सो यदि आत्मकल्याण करना है तो परमार्थको पहिचानो, अपनी ज्ञानमयताका ध्यान करो। ज्ञानमयता तो अभेददृष्टिसे मान्य है उसके लिये स्वरूपपरिचय भेददृष्टिसे गम्य है। ※

※ जिनके पास सम्यग्ज्ञान व सदाचारकी सुनिधि है वे सच्चे अर्थमें पुण्यात्मा, महात्मा एवं सम्मानित साहूकार हैं। जो इनके विपरीत है आजके अर्थमें साहूकार होने पर भी कर्जदार है, दिवालिया है।

**ज्ञानमयताको तो अनुभव पहिचानता है**—जैसे किसी मनुष्य ने मिश्री खाई, और उससे कोई दूसरा व्यक्ति उसका स्वाद पूछता है जिसने कि कभी मिश्री नहीं खाई है, तो वह पहला व्यक्ति जिसने मिश्री खाई है सो वह उसका स्वाद जानता है किन्तु वर्णन नहीं कर सकता है। वर्णन भी करे तो उन वचनोंसे वह मिश्रीके स्वादको नहीं पाता। वह कहता है भाई! मिश्री बहुत मीठी होती है। आपने कभी गन्ना खाया है, तो उसी गन्नेके रसके मैलको हटाकर उससे गुड़ बनता है, फिर उसका भी मैल निकाल कर शक्कर बनती है और फिर बादमें उस (शक्कर) से भी मैल निकाल कर मिश्री बनती है। तो आप ही सोचलो वह मिश्री कितनी मीठी होती होगी? मैल मीठेके बाधक थे। जब इतने मैल निकले तो वह अधिक मीठी हुई। तो इस तरह सुन भी ले, किन्तु जब तक वह मिश्रीको नहीं चखेगा तब तक उसके रसका आस्वादन नहीं कर पाता, सुननेसे उसका मात्र विज्ञान हो जाता है।

प्रवचनसारमें आत्माका वर्णन करते हुये पूज्य आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि कहते

हैं कि यह दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप में यह सूरिजी पैंतरा बदलते हुये द्रव्य और पर्याय दोनोंको ले रहे हैं। पर्याय न हो तो स्वरूपको वर्णन व भगवद्भक्ति कैसे हो और द्रव्य न हो सो भी नहीं बनता। हाँ तो यह मैं आत्मा--यहां यह तो है अन्य पुरुष और मैं है उत्तम पुरुष। सो दुनियामें सबसे अच्छा उत्तम पुरुष ही है। आप किसीसे कहो कि तुझे अन्य पुरुष बनाना चाहता हूँ वह कभी भी अन्य पुरुष बनना नहीं चाहेगा। अन्य पुरुष माने हैं इधर उधरके ऐरे गैरे और उत्तम पुरुषका अर्थ है मैं अपना सगा आप ही। जो निजी व्यक्ति है यह मैं ही हूँ। तो यह 'मैं' शब्द तीनों लिङ्गोंमें चलता है। मैं जाती हूं, मैं जाता हूँ। इस तरह यह मैं शब्द न स्त्रीलिंग है, न पुरुष लिंग है और न नपुसंक लिंग है, यानी मैं शब्द किसी लिंग रूप नहीं है।

**खुदके लिये खुद उत्तम है और प्रथम है**—देखो भैया ! जैन व्याकरणमें तो रूप चलते हैं, पहले उत्तग पुरुषसे जैसे—अस्मि, स्वः, स्मः। असि, स्थः, स्थ। अस्ति स्तः संति। और अन्य व्याकरणमें रूप चलते हैं अस्ति, स्तः संति आदि, अन्य पुरुषसे प्रारम्भ करके। जैन महर्षियोंकी प्रतिभा भी अनुपम होती थी क्योंकि उनका आशय और तप विशुद्ध था। व्याकरण जैसे क्लिष्ट ग्रन्थमें भी जगह-जगह तत्वका रहस्य भरा हुआ है।

इसी तरह अंग्रेजीमें फर्स्ट परसन, सैकिण्ड परसन और थर्ड परसन हैं। फर्स्ट माने अव्वल। आपके लिये अव्वल आप हो, मेरे लिये अव्वल मैं हूँ और तुम सैकिंड परसन हो; अर्थात् समझाने वाले जिसे समझाते हैं वह यदि समझनेका पात्र है तो वह सैकिण्ड परसन है। कल्याणरत और प्रतिबोध्य दोनोंके अतिरिक्त अन्य सभी थर्ड परसन है। इङ्गलिश भाषा में भी 'आई' किसी लिंगरूप नहीं है। हिन्दी आदि सभी भाषाओंमें 'मैं' का लिंग नहीं है। तो यह आत्मा न स्त्रीलिंग है, न पुरुषलिंग है, न नपुंसक लिंग है। इसीलिये अपनेमें कभी भी यह मत सोचो कि मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूँ आदि। जिसने ऐसा विचार किया सो उसीकी हानि होगी, वही कल्याणमार्गसे च्युत हो जायगा, वह अपना कल्याण नहीं कर सकता है। अतः इन सब विकल्पोंको छोड़कर विचारो कि मैं तो शुद्ध स्वरूप चैतन्यरूप हूं, मैं तो ध्रुव हूं मेरा आत्मा अचल है।

सभी शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागता है, उसकी सृष्टि अविकार निजस्वभावके आश्रयसे होती है, अविकार तत्वके आश्रयसे अविकारी पर्याय प्रकट होती है। अपनी वर्तमान ज्ञान-पर्यायका सहज ज्ञानस्वभावके साथ एकत्व करो। जब द्रव्यपर्याय एकाकार हो वह स्वानुभव है, मोक्षमार्ग है।

**शांतिका उपाय निर्विकल्पता है**—भैया ! अभी तक हमारे जितने भी महापुरुष हुये हैं जिन्होंने अपनी आत्माको समझकर निर्वाण प्राप्त किया है वे हमारे लिये अरहंत अवस्था

में निर्विकल्प वाणी द्वारा निर्विकल्प तत्त्वकी लब्धिके लिये उपदेश दे गये हैं कि जिस तरहसे हमने अपनी आत्माका कल्याण किया है, हम सिद्ध बन रहे हैं, सो तुम इसी तरह अपने स्वसमयको पहचानो और अपनी आत्माका उद्धार करो, रागद्वेषको छोड़ो। शुभ रागसे शुभ बंध होता है और अशुभ रागसे पापका बंध होता है और तीसरी चीज है द्वेष; सो इसके आप दो भेद कर नहीं सकते हैं क्योंकि शुभ द्वेष और अशुभ द्वेष ऐसा बन नहीं सकता है। जिसे कदाचित् तानतून कर आप शुभ द्वेष कहेंगे वह शुभ रागमें ही शामिल हो जायगा। सो द्वेष जो है उसमें पापका ही बंध होता है। जब तक ये रागद्वेष रहेंगे तब तक अनुत्तम स्वसमयकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

जीवमें अनादि कालसे परसमयता चली आ रही है। यह कोई ऐसी चीज नहीं है कि आजकलमें नई व्यवस्था बन गई हो। जो परमें एकत्वसे लीन हो सो तो है परसमय और जो स्वस्मरणमें लीन हो सो है स्वसमय।

**हटने वालोंमें मोही ही झुकता है**—मनुष्य जिसमें परसमयता करता है, जिन्हें अपना मानता है वे उससे कोई भी सम्बन्ध रखना नहीं चाहते। मनुष्य घरमें जाना चाहता है किन्तु घर उससे दूर भाग रहा है। वह शरीरमें जाना चाहता है किन्तु शरीर उससे दूर भाग रहा है। आपका अर्थ यहाँ उस आपसे है जो निज चतुष्टयसे अभिन्न है। सो परख लो आपकी आत्मासे परपदार्थ भाग रहे हैं, आप जाना चाहते हो घरमें, किन्तु आप जा नहीं सकते हो, वह आपसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता है।

रागादिको उपयोगभूमिमें न ले जाओ तो बंध होता है और रागादिकको उपयोगभूमि में ले जावो तो बंध होता है। यहाँ भी देखलो निजमें भी पर है, वह भी भाग रहा है। उसमें एकत्व मानो तो बंधनेपर मोही जीव इन परपदार्थोंसे नहीं भाग सकता है, और न भागनेकी कोशिश ही करता है। यह ज्ञानी जीव अपनेमें रहने वाले पर-भावसे भागनेकी कोशिश कर रहा है। मोही जीव इन प्रकट बिराने पदार्थोंसे भी दूर नहीं भाग पाता है।

भैया! आत्माका कल्याण करना है तो अपने समयको जानो और निज समयमें रत हो जाओ, तभी कल्याण होगा, परम आनन्द होगा।

**दुःखोंकी बुनियाद मोह है**—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण कर रहा है और नाना प्रकारके जन्म मरणके दुःखोंको भोग रहा है। इस अनन्त संसारमें भ्रमण करनेका एक ही कारण है वह है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व होनेका कारण है मोह, मोहके द्वारा इसे यह प्रतीति होती है कि ये दुनियाके पदार्थ सब मेरे हैं, यह मैं हूं। यह मेरे कुटुम्ब परिवारके लोग हैं। इसी प्रतीतिके कारण इस जीवको इस संसारमें भटकना पड़ता है। संसार से छूटनेका मुख्य कारण है कि मैं चैतन्य मात्र हूँ, मेरा स्वभाव चैतन्य है, ये रागादिक

पर्यायें तो मेरी है नहीं, मैं तो एक हूं ऐसी प्रतीति। इन विचारोंसे विभावरूप परिणामोंको दूर कर दे तो संसारसे छूट गया और जिसके मनमें विभावरूप विचार तथा विकल्प और परपदार्थोंमें एकता रही सो वही इस संसारमें भटकता रहेगा। संसारमें भटकने व न भटकनेके ये दो ही उपाय हैं। रागादि विभावोंमें अहं अनुभव करो तो भटकना हो, चैतन्यमें अहं अनुभव हो तो भटकना बन्द हो।

भैया ! यह आत्मा तो कल्पवृक्ष है, इससे आप जो चाहेंगे आपको वही मिलेगा, आप चाहे दृष्टिके प्रसादसे अपनेको शुद्ध बना लें चाहे इसी अपनेको दृष्टिके प्रसादसे अशुद्ध बना लें। जिसे शरीर प्रियतम हो सो वह शरीर प्राप्त करता रहेगा और जिसे सहज ज्ञान आनंद अच्छा लगे सो वह ज्ञान प्राप्त कर लेगा। भगवानने तो हर तरहके उपाय बता दिये हैं, अब निर्णय आपके हाथमें है कि आपको क्या बनना है, तथा आपको क्या अच्छा लगता है ? आपके सामने दो चीजें रखी जावें, एक रत्न और दूसरा खलीका टुकड़ा और कहो जो चाहो मुंह मांगा मिलेगा तो आप किसे प्राप्त करना चाहोगे ? रत्नको। खलीका टुकड़ा लेना कोई पसन्द नहीं करेगा। इसी तरहसे शान्ति और आकुलता दोनों आपके सामने है और केवल भावोंसे ही जैसा भाव करो मिल जावेगा; तो आपको क्या करना चाहिये ? आप विभावरूप संसारसे उपेक्षा करो कि यह संसार तो असार है इसमें कोई भी मेरा रूप नहीं है तो आप संसारसागरसे याने अशान्तिसे छूट सकते हैं। और आपने पुद्गल पर्यायोंमें एकता की तो आप संसारमें ही पड़े रहोगे।

**सम्यग्ज्ञानी ही महापुरुष हैं—** बहुतसे मनुष्य अपनेको धन सम्पत्तिके वैभवसे बड़ा मानते हैं। कोई सड़कसे जा रहा है और सामनेसे कोई धनी व्यक्ति आ जावे और वह उस को राम राम, जय जिनेन्द्र न बोल पावे अथवा उन्हें हाथ न जोड़ पावे तो उनका पारा गर्म हो जाता है, उन्हें एकदम क्रोध आ जाता है, क्योंकि वे अपनेको बड़ा मानते हैं। वे कहते हैं विचारते हैं कि मैं तो इतना बड़ा आदमी और वह छोटा व्यक्ति मुझे नमस्कार भी नहीं करता। किन्तु भैया ! छोटे बड़ेका भेद धनसे नहीं, लौकिक कार्योंसे नहीं, किन्तु जिसने अपनी आत्माका स्वरूप पहिचान लिया है, वही बड़ा है। क्योंकि बड़ा उसे कहते हैं जिसे कुछ करना नहीं पड़े, जो कृतकृत्य हो गया है ऐसे तो भगवान सिद्ध हैं, फिर भी जिसने अपनी आत्माको पहिचान लिया है उसे भी कुछ नहीं करना है क्योंकि उसने अपनी आत्मा का स्वरूप समझ लिया है। अब जो ज्ञाता रहता है, जिसने अपने स्वरूपको नहीं पहिचाना है वही छोटा है, और जिसने अपने स्वरूपको पहिचान लिया है वह बड़ा है। छोटे बड़े धनादिकसे नहीं होते लोग तो जो छोटे आदमी हैं वे अपने स्वरूपको जान करके कल्याण कर जाते हैं और जो बड़े हैं वे बैठे ही रह जाते हैं, ऐसा भी हो सकता है। आप अपनी

आत्माको देखो ! अपनेको कभी भी बड़ा मत समझो बाह्य वैभवोंसे ।

**तुम प्रभु हो जैसा चाहोगे वैसा मिलेगा**—अपना निर्णय करो कि आपको क्या अच्छा रहता है ? वही इस आत्मारूपी कल्पवृक्षसे माँगलो । इससे जो चाहोगे वही मिलेगा । एक पुरुष था, वह मार्गमें जा रहा था । चलते चलते वह थक गया, सो अपनी थकान मिटाने के लिये वह एक पेड़के नीचे बैठ गया । उसे पता नहीं कि यह कल्पवृक्ष है. गर्मीके कारण उसे पसीना आ रहा था । सो उसने कहा कि कहीं थोड़ीसी हवा चल जावे तो ठीक हो । उसका कहना था कि ठण्डी-२ हवा चल उठी । अब उसने कहा क्या ही अच्छा हो कि थोड़ा-सा ठण्डा पानी पीनेको मिल जावे । कहनेकी देर थी कि पानी आ गया । अब उसने कहा कि पानी पीना तो जब ठीक है जब कुछ पहिले खानें को मिले । खाना भी थालीमें आ गया । अब वह आदमी बोला कि कुछ ऐसा तो नहीं है कि यहाँ भूत हो क्योंकि कोई दिखता नहीं है और चीज हाजिर हो जाती है । उसने भूतका नाम लिया और भूत भी सामने आ गया । उसे देख करके वह व्यक्ति बोला कि यह तो मुझे सता डालेगा । तब उस भूत ने उसे सता लिया । तो जैसे-२ विचार वह करता गया, उस कल्पवृक्षसे पूरे होते गये । यह कथा कल्याणपत्रमें छपी थी । इसी तरह यह हमारा आत्मारूपी कल्पवृक्ष है, इससे जो चाहोगे वही मिलेगा, निर्णय करना आपका काम है ।

**प्रशंसाके शब्द गाली व गालीके शब्द प्रशंसा जाहिर करते हैं**—लोकमें जो आपकी प्रशंसा करता है समझो वह हमारी निन्दा करता है क्योंकि प्रशंसाके लायक हम हैं नहीं, सो वह धन वैभव रूप आदिकी बात कहता है यानी गाली देता है कि तुम्हें परपदार्थमें मोह है । वास्तवमें यह बात ठीक है कि जो प्रशंसा करता है वे सब हमारी निन्दायें हैं । किसी ने कंजूसमलसे कहा कि आइये कुंवर साहब ! तो उसे बुरा लगता है । क्यों ? क्योंकि वह कंजूस है, दान तो देता नहीं है फिर भी वह उसे कुबेर कहता है । कुछ इस प्रकार भी गाली बन जाती है । और जो लोकमें आपकी यथार्थ प्रशंसा करता है या जो प्रशंसाके शब्द हैं उन्हे आप गालियां समझते हैं, किन्तु यथार्थतः वे गालियां नहीं हैं । उनके योग्य जो नहीं हैं सो वे उन्हें गालियां समझते हैं । आप ही बताओ कि गाली है कौनसी ? जिसे आप गाली कहते हैं वे गाली नहीं हैं आप उनके अर्थ देखिये । आपसे किसीने कहा कि तू नंगा है, सो नग्न··· ··· यानी परिग्रहरहित दिगम्बर साधु । किसीने कहा लुच्चा, सो जो अपने केशोंका लुंच करे याने साधु । लफङ्गा—लफ-अङ्ग, लफ गये हैं अंग जिनके ;ऐसे नम्र व्यक्ति. पुङ्गा—सो पुंग कहते हैं श्रेष्ठको यानी जो तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ हो; ऐसे सिद्ध भगवान अरहंत भगवान । पट्ठा—पट्टः = प्रधान पुरुष । उचक्का-उच्चकः ऊंचा पुरुष । पाजी—पा-पापको, जीतने वाला । निठल्ला निष्ठाल:—निष्ठा श्रद्धाको लाने वाला । धमंगा धर्मांग—धर्म ही जिसका

शरीर है। जानवर--जान कहिये ज्ञान उसमें जो श्रेष्ठ हो। बुझक्कड़-बुद्धयाकर जो बुद्धिकी खान हो अर्थात् बड़ा बुद्धिमान हो। कुलच्छी-कुलं अच्छंयस्य, जिसका अच्छा कुल हो आदि। आप जिन्हें गालियां समझते हैं वे प्रशंसापूर्ण शब्द हैं। किन्तु ये गालियां कबसे कहाने लगीं? जबसे प्राणी इन शब्दोंके अर्थोंके योग्य नहीं रहे और उसको ऊंची प्रशंसाके शब्द कहे, तबसे वे गालियां मानने लगे।

**जड़की प्रशंसामें मोही मुग्ध है**--प्रशंसाकी बातें देखो--कोई कहे ये सेठ जी हैं इनके तीन लड़के हैं--एक बैरिस्टर है, एक उद्योगपति है, एक मिनिस्टर है। तो इसको सुनकर सेठ जी फूल जाते हैं। यह नहीं सोचते कि उसने तो गालियां दी हैं कि लड़के तो होशियार हैं और ये सेठ जी कोरे मूर्ख हैं। मकान, धन आदि की प्रशंसा सुनकर भी फूल जाते है। वह भी निन्दा है। इन सब लौकिक प्रशंसाओंमें यह भी निन्दागर्भित है कि आत्मन् तेरा तो ध्रुव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, तू जड़में मोह करके जड़ बन रहा है।

प्रश्न--महाराज निपोराका क्या अर्थ है? निपोरा--पोर कहते हैं गांठको, भागको, खण्डको यानी जिसमें गांठ नहीं है, कषाय नहीं है यानी कषायसे रहित व खण्डरहित अखंड। तो इस प्रकारसे आप जिन्हें गालियाँ समझते हैं वे यथार्थतः आपके लिए प्रशंसासूचक शब्द हैं। किन्तु जो व्यक्ति उस योग्य नहीं हैं वे उन्हें गालियां समझते हैं। जिसकी जैसी दृष्टि है अपनेको वैसा मानता है। आप आत्मासे जो भी चाहें सो ले लें। जैसे आपके सामने रत्न और खलीका टुकड़ा ये दोनों चीजें रखी हैं, यहां कोई कहे कि जो आपकी इच्छा हो सो ले लो तो आप जो चाहो सो वही आपको मिल जावेगा। इसी तरह आप मोक्ष और संसार जो चाहो सो मिल जावेगा। आत्मा ही उस रूप परिणमनेवाला है। संसारसे छूटना चाहते हो तो पहले राग, द्वेषमें मोहको छोड़ो। अपने निजस्वरूपके सिवाय मेरा कुछ नहीं है, बाकी तो सभी नष्ट और नश्वर हैं, मेरा तो यही चैतन्यरूप आत्मा है। परसे हटकर निज स्वरूपका एकत्व अपनेमें रखो तो इस संसारसे छूट जाओगे और राग, द्वेष मोहमें एकत्व रखोगे तो संसारमें ही पड़े रहोगे।

**श्रद्धासे ही क्रमका अपूर्व परिवर्तन**--संसारसे छूटनेके लिये सबसे पहले अपनेमें श्रद्धा करो। श्रद्धा बहुत बड़ी चीज है। यदि हमारेमें श्रद्धा है, श्रद्धासे श्रद्धापूर्ण कार्य करते जावें और कुछ गलती भी हो जावे तो भी हमें पाप नहीं लगता। किन्तु यहांपर याथतम्य श्रद्धा है इसलिये तब जो भी राग रहता है उससे पुण्यका ही बंध होता है। जैसे किसीके भाव पूजन करनेके हुये और वह भक्ति भावसे भगवानका पूजन करने गया, किन्तु वहांपर वह भूलवश दीपकी जगह नैवेद्य और नैवेद्यके स्थानपर दीप चढ़ा देता है किन्तु उसके हृदयसे सच्ची श्रद्धा और भगवान के प्रति लगन है तो आप ही बतावें क्या उसे वहांपर पाप लगेगा

या पुण्य बंध होगा ? श्रद्धाके रहते हुये कोई गल्ती हो जाती है, कोई क्रिया-कलापमें हेरफेर हो जाता है तो भी उसे पुण्य उसी तरहका बंधता है।

**लाभका मूल तो श्रद्धा है**—भैया ! आप लोग ज्यादह हंसो नहीं तो एक कथा सुनावें। एक भोला पटेल (मुखिया) रास्तेमें जा रहा था। सामनेसे बगलमें पोथी पत्रा तथा डंडा लिये हुये एक पंडा जी आ रहे थे। पंडा जी को देखकर पटेलने नमस्कार किया और बोला कि पंडाजी ! कहांको जा रहे हो ? तब पंडाजी बोले कि भाई रामचरित्तर पढ़ने जा रहा हूं। मुखियाने पूछा—रामचरित्तर क्या है ? तब पंडा जी बोले कि भाई इसमें राम का वर्णन है कि कैसे वे बालक रहे, फिर कैसे युवक हुये, कैसे वनमें गये, कैसे रावण सीता को हर ले गया और किस तरहसे रावण मरा आदि, सभी वर्णन इसमें है। इसके सुननेसे बहुत ही पुण्यका बंध होता है। तब मुखिया बोला कि महाराज एक दिन हमारे यहां भी रामचरित्तर बांच देना। पंडा बोला ठीक है, इतवारके दिन बांच देंगे। मुखियाने बूझा—क्या-क्या करना होगा ? पंडाने कहा कि दो तीन हाथ जमीन लीप देना और सबको बुलावा दे देना। सो मुखियाने ऐसा ही किया। जब पंडा जी आये तो वे सभी सामग्री रखाकर पूजाके लिये बैठे और मुखियासे बोले कि देखो हम जो कहें, सो तुम करना और जैसा हम करें सो वैसा ही तुम करना। मुखियाने कहा ठीक है। वह बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे बैठा और पंडा जी जैसा बोलें और करें सो वह भी कहता व करता गया। क्योंकि उसे श्रद्धा थी और वह सोचता था कि कहीं मैं भूल न जाऊँ, नहीं तो सारा रामचरित्तर बेकार हो जायगा। सो जैसा पंडा जी करते गये वह भी ठीक उसी तरह करता गया। इधर अब एक मन्त्र जल चढ़ानेका कुछ बड़ा आया। सो पण्डा जी ने सोचा कि अभी तो जल चढ़ना नहीं है, कुछ देर बाद ही चढ़ाना पड़ेगा तो इससे कह दूं कि जल ले और मैं मंत्र बोलनेके बाद ले लूंगा। सो पंडा जी मुखियासे बोले कि जल ले। सो मुखिया भी बोला कि जल ले। तब पंडा जी बोले—अरे जल नहीं लिया जल्दीसे ले। तब वह भी बोला—अरे जल नहीं लिया जल्दीसे ले। बस इतने पर पण्डा जी को गुस्सा आ गया और उन्होंने दो तमाचे उसको लगा दिये। मुखिया यह सोचकर कि कहीं कोई कसर न रह जाय, नहीं तो मेरा सारा रामचरित्तर बेकार हो जाय सो उसने भी ठीक उसी तरहके, न ज्यादा जोरसे और न धीरेसे, जैसे उसे लगाये थे उसी तरहके उसने दो तमाचे पण्डा जी को बड़ी श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे लगा दिये। तब पण्डा जी अपनी चौकी परसे उठ गये और उठकर उस मुखियाको दो तीन मुक्के लगा दिये। सो मुखिया भी ठीक उसी तरहसे मुक्के पण्डा जी में लगाता जाता था, क्योंकि वह सोचता था कि इसी तरह रामचरित्तर होता होगा। इसी तरह होते होते वे २०-२५ गजकी [illegible] तक बढ़ते चले गये। जब वे इतने आगे बढ़ गये तो पटेलिनी बड़े जोरोंसे रोने लगी। तब

गांवकी सभी स्त्रियोंने उससे कहा कि तुम्हारे घर तो रामचरित्तर हो रहा है तुम क्यों रोती हो ? तब उसने कहा कि जरा सा कमरेमें तो हमारे घरमें रामचरित्तर हो रहा है और यह भी बिना लिपेमें। मुझे क्या मालूम था कि इतने मैदानमें रामचरित्तर होगा, नहीं तो मैं उतना ही लीप डालती। सो यहांपर उसे भी श्रद्धा है और मुखियाको भी पूरी श्रद्धा है और सुनने वालोंको भी श्रद्धा थी। वे सब भक्ति-भावसे देख रहे थे। श्री राम भगवानकी श्रद्धासे वे पुण्य बांध रहे थे।

जब पण्डा जी कुछ थक गये तो वे लौटकर अपनी चौकी पर आ बैठे। मुखिया भी अपनी चौकी पर बैठ गया और पण्डा जी की तारीफ करने लगा कि आपको तथा आप की शक्तिको धन्य है कि आप रोजाना इसी तरह रामचरित्तर सुनाते हो और थकते नहीं, किन्तु पण्डा जी मन ही मन कुढ़ रहे थे। मुखिया बोला--एक दिन और हमारे यहां रामचरित्तर पढ़ देना। तब पण्डाजी बोले कि ठीक हो जाऊंगा तब सुनाऊंगा।

तो कहनेका मतलब है कि उन दोनोंको, मुखिया और उसकी स्त्रीको, उसमें पूर्ण श्रद्धा थी, भक्ति थी और देखने वालोंको भी श्रद्धा थी, श्रद्धाके कारण उन सबने पुण्य बंध किया। कहने का तात्पर्य है कि बशर्ते श्रद्धा और भक्तिके रहनेपर क्रियाकलापमें थोड़ीसी गलती भी हो जाय तो पुण्यका बंध होगा। भैया ! आप लोगोंसे इतनी बड़ी गलती नहीं होगी। आत्मश्रद्धा दृढ़ करो, यह कल्याण बीज है सो यहाँ पर श्री परमपूज्य आचार्य ''सूरि' जी संकेत करते हैं कि यदि तुम संसारसे छूटना चाहते हो तो अपनी आत्माके स्वरूपका विचार करो—मैं ध्रुव हूँ, सहज शुद्धस्वरूप हूं, चैतन्यमात्र हूँ, अहेतुक हूं, बस इतनी सी दवा है। इस दवाको जिसने पिया सो उसका रोग दूर हो गया (यानी वह संसारसे छूट जायगा) परसमयसे अलग होनेपर ही आत्माका कल्याण होगा।

**धर्ममार्गमें प्राथमिक आवश्यक सदाचार**—सबसे पहिले स्वतत्त्वके श्रवण मननके लिये सदाचारकी पात्रता होना तो बहुत जरूरी है।

जैन धर्ममें पहले अष्टमूल गुण बताये हैं। यदि पूर्णरूपेण मनुष्य अच्छी तरहसे उन्हीं अष्टमूल गुणोंका पालन करे तो उसका कल्याण संभावित है। वे अष्टमूल गुण हैं—मद्य, मांस, मधु---इनका त्याग व पंच उदम्बरका त्याग। सो जैनियोंमें प्रायः करके इनको कोई नहीं खाता है और कोई दुबके छिपे खाता भी हो तो उसको वही जाने। जीवदयाका पालन करना। सो भैया, देखो जब तक जो पुरुष मुलायम बढ़ियासे बढ़िया चमड़ेका उपयोग करते हैं तब तक वे जीवदयाके पालक कभी हो ही नहीं सकते हैं।

**चमड़ेका उपयोग अहिंसाका बाधक है**—भैया ! आपको मालूम है कि यह चमड़ा कैसे बनाया जाता है ? घटनास्थलके दर्शी ने सारा हाल हमें बताया है। गर्भवती गायको

एक कठघरेमें ले जाया जाता है, वहाँ पर धीमी-धीमी मारके द्वारा उसका गर्भ गिरा दिया जाता है, और फिर उस बछड़ेके ऊपर गर्म पानी छोड़ा जाता है जिससे उसका चमड़ा फूल जाय और फिर उसको पतले-पतले बैतों द्वारा धीमी-धीमी मार दी जाती है जिससे वह चमड़ा और भी अधिक फूल जाय और इस तरह कुछ ही देरमें वह बछड़ा मर जाता है। बादमें उसको चीर करके उसका चमड़ा उतार लिया जाता है। वही लैदर क्रुमके नामसे प्रसिद्ध है जिसे कि शौकीन लोग उपयोगमें लाते हैं। भैया! हिंसा तो सभी चमड़ोंमें है। इसलिये आप लोगोंको चाहिये कि जो वस्तुयें चमड़ेके अतिरिक्त भी मिल सकती हैं वे चीजें चमड़ेकी उपयोग में न ली जावें। जैसे सन्दूक, मनीबेग आदि चमड़ेके सिवाय अन्य चीजोंके भी बनते हैं सो उन्हें ही उपयोगमें लेना चाहिये। चमड़ेको उपयोगमें न लें।

**अभक्ष्यका भी अनुक्रम पहिचानो**—इसी तरह गोभीका फूल जो आप खाते हो उसे छोड़ देना चाहिये, क्योंकि गोभीके फूलमें अनेक त्रसजीव रहते हैं और त्रसजीवोंका कलेवर ही मांस माना गया है। सो जो गोभीको खाता है वह मांसभक्षणसे नहीं बचता। आलू २–३ बोरी भी हों, किन्तु गोभीका फूल एक, उसके खानेमें उसके बराबर क्या ज्यादह पाप है। इसका यह मतलब नहीं कि हम आलू खाने को प्रेरित करते हों। आलू आदिमें अनन्त स्थावर जीवोंकी हिंसा है। आलू त्यागी नहीं खाते, फिर भी त्यागीके चौकेमें पहुँच जाय तो वह चौका बिगड़ता नहीं है किन्तु गोभीका फूल यदि चौकेमें पहुँच जाय तो वह चौका त्यागी के लायक नहीं रह जाता है। इसलिये गोभीका त्याग जरूर रखना चाहिये। पानी छानकर पीना चाहिये, रात्रिभोजनका भी त्याग करना चाहिये क्योंकि रात्रिमें चूल्हा जलानेसे अनेक त्रस जीवोंका घात होता है तथा आपकी लोलुपता भी बढ़ती है। इसलिये रात्रिभोजन भी नहीं करना चाहिये। इन सभी बातोंको त्याग करके ऐसा उपाय करो जिससे कि हमेशा ही धर्मका समागम मिलता रहे, क्योंकि धर्मसे ही कल्याण होगा।

**धर्ममार्गमें चलनेको पहिला सदाचार यह है**—मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, इन तीनों का ही त्याग हो जावे तो सदाचार बन जावेगा। बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व तो अभी छोड़ सकते—कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को नहीं मानना, लौकिक इच्छासे देव गुरुको नहीं पूजना। जो अपने को बुरा लगे वह दूसरेपर प्रयोग नहीं करना अन्यायका त्याग है। जबसे छल, विश्वासघात की वृत्ति हुई तभीसे इज्जत भी गई। पहले समयमें खजांची दीवान आदि पद पर राजा लोग प्रायः जैन को ही रखते थे। व्यवसायमें, व्यवहारमें सचाई ही रहे तो आपका उद्धार न रुकेगा, लोगोंमें प्रतीति बढ़नेसे आपका व्यवसाय भी अच्छा चलेगा। अस्तु, बाह्य सदाचार पालन करते हुए आत्मज्ञानकी भावनाके अर्थ यत्नशील रहो, इसही का प्रोग्राम बनाओ। जब वर्तमान ज्ञानपर्याय स्वभावमें एकत्व कर लेती है तब विपदाका विकल्पका प्रवेश नहीं

होता। इसके अर्थ अपना यही नारा रखो कि मैं रागादि विभावसे विभक्त ध्रुव चैतन्य-मात्र हूँ।

परसमयता यानी देहाशी—आत्माकी अवस्थाओंका वर्णन यहाँ चल रहा है, जिसमें से स्वसमयका वर्णन हो चुका था, अब २-३ दिनसे परसमयका वर्णन चल रहा है।

यह जीव मोहके वशीभूत होकर अनित्य पदार्थोंको नित्य, अहित पदार्थोंको इष्ट, दुःख को सुख तथा अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थोंको अपना मान रहा है। मनके विकल्प, वचन और देहमें आत्मा आत्मबुद्धि कर रहा है, यह उन्हींमें एकत्व बुद्धि किये हुये है। इसीका नाम परसमयता है। इस परसमयतामें जीव स्वात्मज्ञानसे विमुख होकर पर-पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेका भाव रखता रहता है। किसीने प्रश्न किया कि यह परसमयता आई कहाँसे ? उसके लिये कहते है कि अनादिकालसे चली आनेवाली जो अविद्या उससे उत्पन्न जो मोह है उस मोहकी वृत्तिके आधीन होनेसे, विभावोंकी एकत्व बुद्धिके कारण उत्पन्न यह परसमयता है। यह परसमयता जीवके साथ अनादि कालसे चली आ रही है। जिस प्रकार बीज और वृक्ष संततिरूपसे अनादिकालसे हैं उसी तरहसे यह परसमयता है। कोई ही बिरला जीव ऐसा है जो आंशिक स्वसमयताके बाद परसमय हुआ है। इसी पर-समयता (मोह) के कारण जीव स्त्री, पुत्र आदिकमें परतंत्र रूप विकल्पोंकी परतन्त्रतासे व्याप्त है। इसीका नाम मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके कारण यह जीव अपने हिताहितके विवेक से शून्य है। स्त्री, पुत्र, धन आदिक बाह्य पदार्थोंमें यह मेरा है, ये मेरे भोग्य हैं, मैं इनका स्वामी हूं—इस तरहकी अहंबुद्धि बनाये हुये है। यदि यह जीव स्वात्मज्ञानकी ओर प्रवृत्ति कर ले, उसे पहचान ले तो इसका भला हो जावे। स्वात्म ज्ञान कहते हैं एक ज्ञान दर्शन लक्षण वाला, ज्ञाता, द्रष्टा, अविनाशी आत्मा ही मैं हूं, वह सहज भाव मेरा है और शेष सम्पूर्ण वैभाविक भाव मेरेसे परे (भिन्न) हैं, ऐसे प्रत्ययको स्वात्मज्ञान कहते हैं।

**मिथ्या बुद्धिमें निरंतर अहित है**—स्वात्म-ज्ञानके अभावमें मिथ्यादृष्टि जीव विषयों का आसक्तिपूर्वक सेवन करनेसे अनंत संसारके कारण मिथ्यात्वादि कर्मोंका प्रतिसमय बंध करता रहता है। कोई-कोई सम्यग्दृष्टि जीव भी चारित्र मोहके तीव्रोदयसे विषयोंका सेवन करते हैं, किन्तु विषयोंका सेवन करनेपर भी उनमें किसी अपेक्षासे अबंधकता कही है यानी वे कर्मोंका बंध नहीं करते हैं क्योंकि वे भोगों को सेवते हुये भी उनमें आसक्त नहीं, लिप्त नहीं है। जैसे बच्चेका पालन करने वाली धाय बच्चेमें आसक्त नहीं होती। जैसे कमलिनी पत्र व कमल पानीमें पैदा होता है किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि भोगोंका सेवन करता है परन्तु भोगकी अन्तरंगसे इच्छा न होनेसे भोग सम्बन्धी कर्मोंका बंध करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि वह विषयोंका सेवन करना नहीं चाहता है, किन्तु

चारित्रमोहके तीव्र उदयके वेगसे उसे जबरन उनका भोग करना पड़ता है। इसलिये अनिच्छाके कारण विषयोंका सेवन करनेसे वे भोग नहीं करने वालोंके सदृश कहे जाते हैं। उन्हें अनंतानुबंधी बंध नहीं होता है। जिस अविद्यासे बंध होता है उस अविद्याका नाश करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि इन पर-वस्तुओंसे, इन जड़ पदार्थोंसे आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है, आनन्दकी प्राप्ति तो ज्ञानसे होती है। आनन्दसे ही कर्म कटते हैं; कर्मोंकी निर्जरा होती है, दुःखोंसे कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती और न कर्म कटते हैं। इसलिये स्वानुभव द्वारा आत्मीय आनंदको प्राप्त करना चाहिए।

**आनन्दका उपाय अति सरल है**——जो सब पदार्थोंसे भिन्न है, एक-स्वरूप है, ऐसे उस अविचल स्वभावका ज्ञान हो जाना ही आनंद है। जब जीवको इनका भास (ज्ञान) हो जाता है तभी उसे आनंद प्राप्त हो जाता है और कर्मोंकी निर्जरा भी हो जाती है। साधु तथा योगी पुरुष जो तपस्या करते है वे आनंदके लिये ही करते हैं, उससे उन्हें आनन्दकी प्राप्ति होती है और वह आनन्द अपूर्व है। जिस समय मुनिराज अपनी आत्माके ध्यानमें लीन होते हैं उस समय उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द इन्द्र, नागेन्द्रोंको भी प्राप्त नहीं है। किन्तु कोई-कोई लोग उस तपस्याको क्लेश कहते हैं, सो यह उनकी अज्ञानता है। मोही जीव ही संवर भावोंमें क्लेश मान सकते हैं, क्योंकि वे बाह्यपदार्थोंमें मोहबुद्धि करते हैं। वे जिन धन, वैभव आदिमें मोहबुद्धि करते हैं सो वे सब आकुलताके ही कारण हैं, वे निराकुलताके कारण तो कभी बन ही नहीं सकते हैं। कोई जीव सोचता है कि हमारे पास खूब धन हो जाता, जिसमे हम एक दो नौकर रख लेते और हमें आजीविकाकी कोई चिंता न रहती; तब हम धर्म निश्चिन्ततासे करते। किन्तु ऐसा सोचना उनका सोचना मात्र ही है। मोही जीवमें यह योग्यता ही नहीं है कि वह धर्ममें, धार्मिक कार्योंमें अपना उपयोग लगा सके।

**परिग्रहका व्यामोह घोर अन्धकार है**——मोही सोचता है कि ये जगतके जितने भी पदार्थ हैं ये सब मेरे हित हैं, ऐसा विचारना उसका कोरा भ्रम है, क्योंकि उसका जो कुछ है सो उसके पास है और जो उसका नहीं है सो त्रिकालमें भी उसका हो नहीं सकता है। अनादिकालीन जो अविद्या इस जीवके साथ लगी उसके कारण इसे अपने स्वरूपका परिचय नहीं हो पाता है और जब तक स्वरूपका परिचय नहीं हुआ तब तक उसके अज्ञान रहता है। सो जहाँ अज्ञान है वहाँ ज्ञान नहीं, जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं। जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अन्धकार नहीं होता और जहाँ अन्धकार होता है वहां प्रकाश नहीं होता है।

**स्थूल दृष्टिसे भी विचारो तो बाह्य संसर्ग दुःख ही है**——देखो सबमें सबसे बड़ा मोह है तो पुत्रका है! देखो भैया! यह पुत्र शुरूसे लेकर अन्त तक कितना दुःखदायी है? निमित्त

दृष्टिसे ही बात देखना, वस्तुत: तो कोई किसीका न सुधारक है और न कोई किसीका विराधक है। देखो जब पुत्र गर्भमें आता है, तो आपकी पत्नीका रूप बिगाड़ देता है, उसका चेहरा पीला पड़ जाता है, कमजोरी आ जाती है, तथा आपको जो सुख मिलता था वह सुख भी छिन जाता है, और जब प्रसव समय पासमें आता है तो आपको यह चिंता लग जाती है कि प्रसव अच्छा हो जावे, किसी तरहका बिगाड़ पैदा न हो जाये, नहीं तो स्त्री और पुत्र दोनों मर जावें—ऐसी स्थितिका सन्देह रहता है। उस गर्भकी अवस्थामें आपका पूजन पाठ सभी छूट जाते हैं क्योंकि यहां चिता और ही लगी है और जब वह पैदा हो गया तो उसकी सेवा शुश्रूषामें ही समय बीतने लगता है। जब वह कुछ बड़ा होता है, खाने पीने लगता है तो अगर आप कोई चीज बाजारसे लायें तो कहते हो कि हम नहीं खायेंगे, लड़केको ही खिला देंगे। यानि अच्छी-अच्छी चीज उसे खिलाना और बचीखुची वस्तु खुद खाना। जब वह और बड़ा होता है तो बड़े यत्नसे बड़ी कठिनाइयोंसे, पढ़ाते लिखाते हो और उसके बाद उसकी शादी कर देते हो। शादी होनेके बाद वह स्त्रीके प्रेममें अपने माता पिताको भूल जाता है और जब कभी अगर सास बहूमें लड़ाई झगड़ा हुआ तो लड़का माताकी ही गलती बताता है, माताको ही बुरा कहता है। इस तरह पुत्रसे कितने दुःखी हैं और आगेके भी दु.ख ले लो।

यदि लड़का कुपूत निकल गया तो भी दुःख है, किन्तु कुपूतसे तो आप किसी तरहसे अपना पीछा भी छुड़ा सकते हो, लेकिन उससे अधिक सुपूतसे दुःख है। उसके मोहमें आप जीवन भर लद लदकर उसे खूब धनी, आरामी बनानेका यत्न करते हों। आपका लड़का बैरिस्टर या अन्य कोई नेता अथवा पदाधिकारी हो गया तो उसकी तो सब प्रशंसा करते हैं और आपको कोई नहीं पूछता है। इसका तात्पर्य कि आपको लोग मूर्ख समझते हैं। इस तरह पुत्रसे शुरूसे अन्त तक कितने दुःख हैं और यह मोही जीव सबसे अधिक उसीके ऊपर मोह करता है। वस्तुत: सबकी जड़ निज परभावमें एकता है। इस परसमयताको छोड़कर (मोह आदिको त्यागकर) उस स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करो जो सम्यग्दर्शनका कारण है। सम्यग्दर्शनके द्वारा आत्माका कल्याण निश्चित है। क्षायिक सम्यक्त्व तो मोक्षका निरन्तराय कारण होता है।

**यह सब अहेतुक निजस्वभाव दृष्टिका प्रसाद है**—क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके समय केवली श्रुतकेवलीके पाद मूल निमित्त नहीं है, वह तो अनैमित्तिक परिणति है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्वके प्रादुर्भावसे पहिले जो शुभ विकल्प अवश्यम्भावी है उसके निमित्त केवली श्रुतकेवली है। ये ही सबसे बड़े हैं। क्योंकि बड़ा उसीको कहते हैं जिसे कोई काम करना बाकी नहीं रहा है, मानो जो कृतकृत्य हो गया है। लोकमें जो अपनेको बड़ा कहते हैं ये तो उनकी महती भूल है। धनादिकसे छोटे बड़ेका भेद नहीं होता है। वास्तवमें बड़ा तो वह है

जिसने अपने स्वरूपको जान लिया है, अपने स्वरूपका परिचय प्राप्त कर लिया है। जिसे स्वरूपका परिचय नहीं मिला है, जिसे यह भान नहीं हुआ है कि वास्तवमें मेरा क्या स्वरूप है वह छोटा है,चाहे वह कितना ही धनी वैभवयुक्त क्यों न हो। इसलिये अपनेको चाहिये कि अपने आत्म-स्वरूपको पहिचाने, अपनी आत्माको पहिले पवित्र करे। उसके बाद तुम्हें जगत दीखेगा तो इस तरह कि तुम्हें संक्लेश न होगा, क्योंकि जिसकी आत्मा जैसी होती है अति-विरुद्धताके अभावमें वह दूसरोंको भी वैसा ही जानता है। जिसके हृदयमें ईमानदारी होगी उसकी भावनायें पवित्र होंगी तो दूसरोंके अन्दर कभी भी बेईमानीके भाव नहीं सोचेगा। वह तो सभीको ईमानदार और पवित्र समझेगा और जो घमण्डी होता है वह हर एक व्यक्तिको घमन्डी ही समझता है, जो सुखी होता है वह हर एकको सुखी समझता है। गुण-परिचयी को सर्वत्र गुण दीखेगा फिर बुरा लगनेका कारण नहीं मिलेगा।

एक नाई था। उसके यहाँ ४–५ भैंसे थीं तथा १–२ गायें भी। वह खूब आरामसे रहता था। एक दिन वही नाई राजाके बाल बनाने आया। राजाने उस नाईसे पूछा कि कहो राज्यमें तो कोई गड़बड़ नहीं है, सब प्रजा सुखी है या नहीं ? तब नाई बोला कि हे महाराज ! आपके राज्यमें सारी प्रजा सुखी है किसी तरहका दुःख नहीं है। राजा ने बातों बातोंमें उसके घरका सारा भेद जान लिया और जब नाई घर चला गया तब मंत्रीसे राजा ने कहा कि देखो उस नाई पर कोई दोष (कसूर) लगा करके उसकी भैंसें और गायें छीन लो। सो मंत्रीने वैसा ही किया। इसके कुछ दिनों बाद वही नाई राजाके बाल बनाने को आया। सो राजाने फिर पूछा कि कहो राज्यमें प्रजा तो सुखी है, कोई कष्ट तो नहीं ? तब वह नाई बोला—महाराज ! काहे के सुखी हैं, दूध, घी के तो दर्शन ही नहीं होते हैं।

**गुणचिन्तनसे अपने गुण सुरक्षित करो**—कहनेका मतलब यह है कि जो जैसा होता है वह दूसरेको भी वैसा ही देखता है। लोगोंको दुःख दूसरेकी बुराइयां देखनेसे अधिक बढ़ता है। सो भैया ! गुणचिन्तनसे अपनी आत्माको पवित्र करो। देखो ! पूज्य दयालु भगवान कुंदकुंद प्रभु तुम्हें बार-बार समझा रहे हैं, बार बार सम्बोधन कर रहे हैं कि तुम गल्तियां मत करो; किन्तु कोई ऐसे सुभट हैं कि कहनेपर भी गलतियां कर रहे हैं। निज आत्मा का अन्य समस्त चेतन और सर्व अचेतन पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है, किसी परमाणु मात्रके साथ भी परमाणुमात्रका भी सम्बन्ध नहीं, फिर भी कोई मोहभाव करे तो यह ऊधम नहीं है तो और क्या है ? अनादिसे ऊधम ही मचाते तो जीव चले आ रहे है। अब कुछ सयानापन भी तो करो। आप कहते हो कि भैया ! मैं तेरे ऊपर सबसे ज्यादा प्रेम करता हूं, सो यह तो आप सरासर झूठ बोलते हो। क्योंकि आप ही बताओ कि आपकी प्रेमपर्याय आपके क्षेत्रमें होती है या आपके क्षेत्रसे बाहर ? यदि क्षेत्रके बाहर नही होती तो वह हम तक वैसे

आवेगी ? इसलिये ऐसे झूठको त्याग करके सत्यको समझो कि मेरा प्रेम मेरे ऊपर है, मेरा राग मेरे ऊपर है, इस तरह सब कुछ अपनेमें देखो, परमें कुछ मत देखो, क्योंकि स्वाश्रित दृष्टि करनेमें स्वभावदृष्टिका अवसर मिलेगा। स्वभावदृष्टि ही सुखका कारण है और यदि तुम समस्त बाह्य पदार्थोंको देखना चाहते हो, तो प्रत्येक-अद्वैतबुद्धिसे देखो। प्रत्येक-अद्वैत-बुद्धिसे देखनेपर सब समझमें आ जावेगा, प्रत्येक-अद्वैतबुद्धिसे देखनेपर वही सम्यग्दर्शनका कारण बन जाते हैं।

भूतार्थनयसे तत्त्वोंको जानो तो सम्यक्त्वके कारण है यह भूतार्थनय पहिले इस ही प्रत्येक-अद्वैतबुद्धिका संकेत करता है। आस्रवको जानो परन्तु आस्रव द्रव्य है या पर्याय ? पर्याय है। यह पर्याय कहांसे प्रकट हुई, कार्माणवर्गणारूप परमाणुओंसे प्रकट हुई। आत्मा का विभावरूप आस्रव आत्मासे प्रकट हुआ। जो पर्याय जहांसे प्रकट हुआ उसको उसमें देखो। यह बुद्धि स्वतन्त्रताकी नजर करावेगी फिर विकल्प तुरंत ठहरेंगे नहीं।

**आत्म-स्वभाव भवरहित है**—हमेशा ऐसा प्रयत्न करो या करते रहना चाहिये जिससे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो, स्थिरता हो। सम्यक्त्वसे हमारा कल्याण होगा—यही भावना, सत्य-प्रतीति, निशदिन रखना चाहिये। ये मनुष्यभवके सुन्दर क्षण हैं, इनका सदुपयोग कर लो जिससे फिर कोई भव ही धारण न करना पड़े। आत्मस्वभावको देखो वहां कोई भव नहीं है, आत्मस्वभावको देखो वहां कोई विकल्प नहीं है। निज घरमें तो अनुपम वैभव है। उसे भूलकर परमें मित्रता करना भूल है। अपनेमें उठने वाले विकल्पभावोंसे भी उपेक्षा करो, निज ध्रुव स्वभावको ही देखो अन्यथा दुःखकी परम्परा आपको बरबाद करती रहेगी। जीव सुख चाहते हैं, दुःखसे डरते हैं। सो आचार्य महाराजने देखो सुखस्वरूप स्वसमय और दुःख-स्वरूप परसमयके वर्णन द्वारा आपको समयका उपदेश दिया है।

**समयके ज्ञान बिना परसमयका भी रूद्बोध न होगा**—परसमयका वर्णन करते हुये पूज्य आचार्य महाराज कहते हैं कि परसमय उस अवस्थाका नाम है जिसमें संसारी जीव परपदार्थमें मोहबुद्धिसे एकमेक होकर रह रहा है। वह समयका स्वरूप नहीं है। इसलिये इनसे छूटनेके लिये हमें स्व-परपदार्थोंके 'स्वरूपका अवलोकन' करना होगा। साथ-साथ हमें अपनी आत्माको अहेतुक रूप अथवा अहेतुक दृष्टिसे देखना होगा, क्योंकि हम जिस दृष्टिसे आत्माको देखेंगे उसी तरहसे हमारी आत्मा हो जावेगी। आत्मा एक कल्पवृक्ष है, उससे आप जो माँगेंगे, जैसा बनना चाहोगे वैसा ही बन सकते हो। 'जैसी दृष्टि वैसी ही सृष्टि है'—यह कथन असत्य नहीं है। आत्मा ही निजका सृष्टिकर्ता है। सो उसे आप जिस दृष्टिसे देखेंगे उसके अनुरूप सृष्टि होगी, आप उसे अहेतुककी दृष्टिसे देखेंगे तो आत्मा अहेतुक पर्यायरूप या स्वसमय रूप परिणमेगी और आप परसमयरूप उसे देखेंगे तो वह वैसी ही परिणमेगी, नैमित्तिक पर्यायोंमें रहेगी। यहाँ आत्माको देखनेसे मतलब है कि आपको स्वयं जैसा मानोगे वैसा बनोगे।

आप सोचो कि दुनियाके सारे पदार्थ मेरे है तो आप कभी भी संसारसे नहीं छूट सकते हैं। मेरे नहीं हैं मानोगे तो मुक्ति पा लोगे। जाति अपेक्षासे द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनको न्यारा-न्यारा समझनेके लिये जाति अपेक्षासे तो पहिचान लक्षण है और व्यक्तिगत अपेक्षासे समझनेके दो उपाय है–पहला तो अखंडका होना तथा दूसरा एकके परिणामनसे दूसरेका न परिणमना।

**सब पूरे हैं, कोई किसीसे नहीं मानता**—द्रव्य कहते किसे हैं? द्रव्य उसे कहते हैं जो स्वत: सिद्ध है, अखंड है, जिसका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके; यह जितने भी पदार्थ (स्कंध) हम और आप देखते हैं ये द्रव्य नहीं हैं क्योंकि इनके टुकड़े (भाग) हो जाते हैं, किन्तु पुद्गलका जो एक अणु है वह द्रव्य है क्योंकि अणुका दूसरा टुकड़ा नहीं होता है।

दूसरे तरीके से यों कहिये कि जो एकके परिणामनसे दूसरा नहीं परिणमे। दुनियामें जितने भी द्रव्य हैं वे अपने ही परिणामनसे परिणमते हैं।

कोई नौकर आपके यहाँ काम करता है, आप उसे आज्ञा देते हैं कि ऐसा काम करो और आप सोचते हैं कि यह मेरी आज्ञासे यह काम कर रहा है किन्तु यह आपकी भूल है, वह आपकी आज्ञासे काम नहीं करता है किन्तु वह तो अपनी इच्छासे काम करता है, न कि आपकी आज्ञासे। इसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपने रूप ही परिणमते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक अणु एवं प्रत्येक आत्मा अखंड है, उनके भाग नहीं हो सकते हैं। सो आप अपने अखंड आत्माको ही निज समझो, इसीकी दृष्टिसे हितपर्याय होगी।

जगतके समस्त द्रव्योंकी व्यवस्था है कि वे सब अपना भोग अपने आपही करते हैं दूसरेके अनुसार भोग नहीं करते। जैसे हम इस चौकीपर बैठे हैं सो चौकीने हमें नही बिठाया किन्तु हम उसे निमित्त पाकर स्वयं बैठ गये हैं; इसका जिक्र पीछे हो चुका है।

**यथार्थ स्वरूप पहिचान जरूर जाओ**—जब तक आत्मा और अनात्मामें भेद नहीं होता है तब तक जीवको संसार है, वह संसारसे नहीं छूट सकता है। इसलिये अपनी आत्मा को देखो अन्यसे भेद स्वयं हो जावेगा। आत्मा चैतन्य है, चैतन्य होनेसे उसमें ही विकल्प परिणमनकी शक्ति है, कर्म तो अचेतन है, सो कर्ममें विकल्पपरिणमनकी शक्ति भी नहीं है। आत्माके विकल्प आत्माके असर हैं, होते हैं निमित्त पाकर। भैया! आप विचार करो कि हमारे शुभाशुभ भाव ही सुख तथा दु:खके कारण हैं। जैसा आप करते हैं सो उसका फल आप उसी समय पा जाते है। ऐसा नहीं है। कि आप पुण्य भाव तो करो अभी और उसका फल आपको मिले स्वर्गमें। सो नहीं है। जिसके जैसी भावना रहती है उसको निमित्त पाकर कर्म अपनी सत्ता कर लेते है। अशुभरागसे पापका बंध होता है तथा शुभरागसे पुण्य का बंध होता है और उनका फल आप उसी समय पा जाते हैं। जब यह जीव स्वात्मका

अनुभव अपने आपमें कर लेता है तब सुखका आभास अपने आपमें करने लगता है।

**आत्महित स्वभावदर्शनमें है**—आत्महित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में है। ये तीनों ही मोक्षमार्गके कारण हैं, किन्तु मोक्ष तथा मोक्षमार्ग दोनों अनैमित्तिक हैं, ये दोनों अहेतुक हैं। आप जैसा ज्ञान प्राप्त करोगे वैसा ही फल प्राप्त करोगे। सम्यग्ज्ञानसे सुख मिलेगा, आनन्द मिलेगा और वह आनंद जो कि इन्द्रादिकको प्राप्त नहीं है तथा मिथ्याज्ञानसे आपको कष्ट (दुःख) होगा, क्योंकि मिथ्यात्व ही संसारका कारण है। जीव मिथ्यात्वके वशसे जीवादि सात तत्त्वोंका सच्चा श्रद्धान नहीं कर पाता, वह तो सांसारिक पदार्थोंको ही अपना मानता है। अरे आप परवस्तुमें अपने की कल्पना करो तो इससे दुःख ही तो होगा, क्योंकि वह आपकी हो तो नहीं सकती। सो उससे आपको विकल्प उठेंगे और वे विकल्प दुःखके कारण हैं। आप एक पत्थरमें कल्पना करलो कि ये हीरे हैं तो क्या वे हीरे (रत्न) हो जायेंगे? जिसके पास रत्न होते भी हैं और वह उनमें अपनी कल्पना करे सो वे भी उसके नहीं होते हैं। इसलिये ये कल्पनायें करना व्यर्थ है क्योंकि कल्पनाओं से सुख नहीं होता है। अगर भैया! आत्माका हित चाहते हो तो विकल्पोंको छोड़ो। छहढाला में आत्माका हित क्या है? इसका वर्णन कविवर दौलतराम जी ने किया है कि—

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातें शिवमग लाग्यो चहिये॥

आत्माका हित सुख है, और वह सुख आकुलताके बिना कहा गया है और वह आकुलता शिव यानी मोक्षमें नहीं है। इसलिये मोक्षके रास्तेपर लगना चाहिये। अनाकुलता तो भैया! विकल्पोंके नाशसे ही होगी। जब तक विकल्प हैं, सो अविकल्पोंसे इच्छायें पैदा होती हैं और इच्छाओंसे आकुलता बढ़ती है, इसलिये सबसे प्रथम इन विकल्पोंका नाश ही कर देना उत्तम है।

आप विचार करो यह आत्मा अविनाशी है, चैतन्य-स्वरूप है, अहेतुक है—इस तरह से अपने अविनाशी स्वभावपर दृष्टि दो तो इसकी पर्यायें भी अविनाशी ही होवेंगी, आत्माको अहेतुक दृष्टिसे देखो, इसपर अहेतुक दृष्टि दो तो इसकी पर्याय भी अहेतुक (स्वाभाविक) हो जावेगी, अहेतुक स्वभावकी दृष्टि सम्यक्त्वका कारण है।

**भैया! यदि अपना हित चाहते हो तो**—अपने अन्दर हमेशा ऐसा विचार करो कि मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ; शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाला हूं। दुनियाके जितने भी स्वांग हैं मैं उन रूप नहीं हूँ। सो आपमें ये सभी गुण मौजूद हैं किन्तु जिन्हें उनका ज्ञान नहीं है, उन्हें अपने स्वरूपका परिचय नहीं है; इसलिये वे दुःखोंको प्राप्त हैं। जब भी उन्हें अपने स्वरूप का परिचय मिल जावे तो अपने आप सब दुःखोंसे छुटकारा पा जायेंगे, क्योंकि ये जो परके

आश्रयसे होने वाले रागादिक हैं ये हमको क्या परेशान करेंगे ? क्योंकि वे तो परके आश्रित से पैदा हैं, उनमें इतनी हिम्मत कहां है जो हमारे स्वभावपर अपना प्रभाव कर सकें। चोरमें कितनी हिम्मत होती है ? वह किसीके घरमें घुसे और कोई सिर्फ खांस दे तो उसकी खांसी मात्रसे ही वह चोर नौ दो ग्यारह हो जाता है यानी भाग जाता है। इसी तरह ये रागादिक भाव हमारे अज्ञानके कारण हमें परेशान करते हैं। यदि हमें अपनी आत्माका सत्यरूपेण ज्ञान हो जावे तो ये रागादिक चोर ठहर नहीं सकते और हमें अलौकिक आनन्द तथा सुख की प्राप्ति हो जानेमें कोई विघ्न नहीं कर सकते।

**आनन्द आत्मामें है किसी स्थान आदिमें नहीं**—आनन्दसे मतलब यह नहीं कि सिद्धशिलापर पहुंचना ही अलौकिक आनन्द है। जो ऐसा मानते हैं कि सिद्धशिलापर पहुंचना ही आनन्द है सो वे देखें; भैया सिद्धशिलापर अनेक निगोदिया जीव रह रहे हैं और वे एक श्वांसमें अठारह बार मरते तथा पैदा होते हैं, सो उन्हें तो सुख है ही नहीं। सो स्थान विशेषसे सुखकी प्राप्ति नहीं मानना। अच्छा आप ही विचार करो कि सिद्ध भगवानकी आत्मा ऊर्ध्वगमन न करके यहींपर रहती तो क्या उनके सुखकी कमी रह जाती ? नहीं। आत्माको पहिचानो तभी सुखकी प्राप्ति होगी। द्रव्य, क्षेत्रकालकी दृष्टिसे यदि आप आत्मा को देखोगे तो आपको निर्विकल्प स्वानुभव नहीं हो सकता है, किन्तु जब आप आत्माको निज अद्वैत भावकी दृष्टिसे देखेंगे तो आपको स्वानुभव हो जावेगा। आत्माके बारेमें कई तरहके मत हैं—कोई कहता है कि ब्रह्म एक है और वह सर्वव्यापक है, किन्तु ये बातें एकान्त दृष्टिसे ठीक नहीं हैं। अनेकांतकी दृष्टिसे देखनेपर यह सभी बातें ठीक हैं। ब्रह्म एक है, यह भी सत्य है और वह सर्वव्यापक है, यह भी सत्य है। आत्मा नित्य है—यह भी सत्य है और यह आत्मा अनित्य भी है सो यह भी ठीक है।

किन्तु ये सब अनेकांतकी दृष्टिसे हैं। जब यह जीव अपनी द्रव्यदृष्टिसे अपनेको देखता है तो उसे स्वसमय प्राप्त होता है और पर्यायदृष्टिसे देखने व उसे ही सर्वस्व देखने पर परसमय होता है। देखो ये जीव खुद ही सुख हैं और खुद ही ज्ञान हैं, किन्तु मोहके वश में होकर ऐसी भूल कर रहे हैं कि उन्हें यह आभास ही नहीं है कि ज्ञान और सुख खुदमें है। आत्मा अपने स्वरूपसे ही सत् है, वह परके स्वरूपसे असत् है। परवस्तुमें आपको न सुख है, न ज्ञान है, किन्तु परकी दृष्टि आपके सुखमें उल्टे बाधक है तथा ज्ञानमें बाधक है, इसलिये समस्त परकी दृष्टि छोड़कर स्वमें एकत्वभावसे स्वसमयमें रहना चाहिये, क्योंकि विकल्पोंसे तो दुःख ही होते हैं।

विमोह जीव ही सुखके भाजन होते हैं। मोही जीव हमेशा दुखी रहते हैं। उन्हें सुखका मार्ग समवशरणमें भी नहीं मिल सकता।

**दृश्यमान सर्व स्वप्नसम हैं**—एक ब्राह्मण था। एक दिन उसे स्वप्न आया कि राजा मेरे ऊपर प्रसन्न हो गया है, और उसने मुझे इनाममें सौ गायें दी हैं। इतनेमें ही एक खरीदार आ गया और बोला कि मुझे १० गायें चाहियें। ब्राह्मण बोला कि इनमें से छांट लो जो तुम्हारे पसन्दकी हों। खरीदारने कीमत पूछी सो ब्राह्मणने कहा कि एक गायकी कीमत ८०) रु० है। खरीदार बोला कि ५०) ले लो। इसपर ब्राह्मणने आनाकानी की और अपना अन्तिम ध्येय बताया कि मैं ७०) रु० से कम नहीं लूंगा। तब खरीदार बोला कि मैं ६०) से अधिक नहीं दे सकता हूं। इन्हीं बातोंपर उनमें खींचातानी शुरू हो गई, और जोरके मनके हल्लासे ब्राह्मणकी नींद खुल गई। आँखके खुलनेपर उसे कुछ भी नहीं दीखा। तब वह झटसे अपनी आँखें बन्द करके कहता है कि अच्छा भाई ६०) रुपये ही लाओ। परन्तु वह तो सब कल्पना की बात है। कहनेका तात्पर्य है कि जीव जितने विकल्पों में जाता है उतना ही उसे दुःख मिलता है।

**परमें अपना सुख नहीं, परसे मिलेगा कैसे**—संसारके किसी भी पदार्थमें सुख नहीं है। कोई सोचता है कि सुख तो धनमे है और वह धनी बननेकी कोशिश करता है, किन्तु जैसे-जैसे उसके पास धन बढ़ता जाता है उसी तरह उसकी तृष्णा और भी बढ़ती जाती है। एक व्यक्ति जो धनसे सुख मानता था वह अपने विचार अन्तमें इस प्रकारसे कहता है कि मैंने दुनिया देख डाली किन्तु कहीं पर भी हमको सुख नहीं मिला। धनकी इच्छा प्रति-समय बढ़ती रहती है। लाख वाला सोचता है कि मेरे पास तो करोड़ होते तब सुखी होता, यानी ज्यों ज्यों वह धनकी चाहमें आगे बढ़ता है त्यों त्यों उलझनमें पड़ता जाता है। इन सबसे बच करके, अपने स्वात्मज्ञान को प्राप्त करके, अपनी ध्रुव चैतन्यस्वरूप तथा अहेतुक जो आत्मा है उसका ध्यान करना चाहिये जिससे इस संसारसे छूट सको। किन्तु इसके लिये विवेकाभ्यास करना ही चाहिये। भैया! निजको निज और परको पर जाननेपर दुःख लेश-मात्र भी नहीं रहते है।

इस दूसरी गाथामें पूज्य आचार्यश्री ने स्वसमय व परसमयका लक्षण दिखाया है, जिसमें यह भी ध्वनित हुआ है कि स्वसमय व परसमय दोनों अवस्थाओंमें जो गुजरने वाला एक है वह समय है।

अब इसी समय (आत्मा) अर्थात् आत्मतत्त्वके स्वरूप और सुन्दरताके दिखानेके लिये तीसरी गाथाका प्रारम्भ होता है—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बन्ध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होइ ॥३॥

द्रव्य गुण पर्यायके भेदते परे एकत्वके निश्चयको प्राप्त समय सर्वत्र सुन्दर है।

आत्मामें यह एकत्व है, तिस पर भेददृष्टि, संयुक्तदृष्टिसे ज्ञान सम्बन्धकी कथा, सम्बन्धरूप अनुभूति विसंवाद, कष्ट उत्पन्न करने वाला हो जाता है।

जीवकी मुख्य हालत दो हैं, जिनमें अनेक पर्यायें गर्भित हो जाती हैं—एक स्वसमय और दूसरा परसमय। अपने ज्ञानस्वभावमें स्थित जीवको स्वसमय कहते हैं और स्वभावसे च्युत होकर राग द्वेष मोहमें स्थित हुये जीवको परसमय कहते हैं।

परन्तु मूल वस्तु न स्वसमय है और न परसमय। ये दोनों ही हालतें वस्तुकी अवस्था, एक अङ्ग या एक काल या एक परिणमन है। पूर्ण अखंड वही है जो इन सभी अवस्थाओंसे गुजर कर भी पृथक् ही है। बालकपना, बूढ़ापना, जवानपना ये मनुष्य नहीं किन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें रहने वाले एकत्वकी दृष्टिसे ज्ञात एक मनुष्य है।

अवस्थाओंको गौण कर उन सभीमें रहने वाले एकको ही निरखा जाय तब उपयोग सुन्दर रहता है। क्योंकि वह विषय भी सुन्दर है। समताका कारण एकत्वकी दृष्टि है और अनेकत्वकी दृष्टि इन्द्रिय व मनके विषयभोग हैं जो कि विषम होते हैं। समतारूप उपयोग ही सुन्दर है और विषयभोगरूप विषमभाव असुन्दर हैं। आत्मा न क्रोधरूप है, न मान रूप है, न मायारूप है। योगीगण इसे ध्रुव चैतन्यमय अनादि अनन्त अनुभवते हैं। इसीसे वे किंचित् भी परिणमनमें एक अशान्तिका अनुभव करते हैं कि ये विभाव क्यों हो रहे हैं? ये हमारे कलङ्क हैं।

**स्वभाव रूपसे देखो जो कुछ देखो**—जगतमें जितने पदार्थ हैं उनके सहजस्वभावको देखो तो सभी सुन्दर हैं। एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप कभी नहीं होता। सभी द्रव्य अनादिसे अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सर्वथा शुद्ध हैं। इनमें कोई विकार नहीं आता। विभावशक्ति इन चारोंमें नहीं, परन्तु जीव वा पुद्गलमें विकार आता है। पुद्गलमें होने वाले विकारका पुद्गलमें कोई असर सुखादिवेदनका नहीं पड़ता, क्योंकि वह अजीव है जड़ है। क्रोधादिके निमित्तसे जीवमें जब विकार होता है तब यही दुःखी हो जाता है। क्रोध हुआ कि तड़फ गया। मान हुआ कि ऐंठ गया। परन्तु क्रोध और मान आदि रूप अवस्थाको आत्मीय अवस्था माननेपर ही यह तड़फन होती है। और अपनेमें एकत्व अध्यवसाय न होनेसे वह तड़फन और भी बढ़ जाती है। किन्तु शुद्धदृष्टिसे यदि एकत्व समझमें आ जाय तो क्रोधादिकी ओर लक्ष्य ही नहीं जाता और सारी तड़फन कम या दूर हो जाती है।

**अज्ञानमें अहितका आदान प्रदान**—गाली देने वाला अपने शरीरपर ही दृष्टि रखता है। उसे आत्मीय चैतन्य नहीं दिखता। यदि उसके एक चैतन्यपर लक्ष्य होता तो गाली देनेकी भावना ही न होती। इसी प्रकार गाली सुनने वालेको भी चैतन्यका बोध नहीं होता,

उसका लक्ष्य चैतन्यपर न रहकर शरीरपर रहता है इसीलिये वह गाली सुनकर दुःखी होता है। यदि स्वभावपर दृष्टि जावे कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, तो क्रोध, मान, माया आदिपर दृष्टि ही नहीं जाती, परन्तु प्राणी सदासे परसमयरूप ही होता आ रहा है। इससे आकुल है, सदा आकुलताके कारणोंमें ही फंसा रहता है। पुत्रसे, कुटुम्बसे, धनसे बड़ा कष्ट दुःख होता है। फिर भी इनको बढ़ाता जाता है, इनके समागममें रुचि करता रहता है। कहीं अग्नि पड़ी हो तो ज्ञानी जन अगल-बगलसे निकल जाता है, तो वह दाहसे बच जाता है किन्तु अनजानके विवेक नहीं होता है। वह अगल-बगलको नहीं अपनाता है, प्रमत्त हो चला जाता है। नतीजा यह होता है कि वह जल जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी जन कषायोंके उद्वेगको आत्मीय नहीं मानता। कषायोंमें आत्मीयताकी जानकारी अज्ञानीके ही होती है। वह ही इन्हें अपनाता है। जिसके स्वभावका ज्ञान होता है उसे आत्माके एकत्वका निश्चय हो जाता है। जिसका उपयोग ऐसे एकत्वके निश्चयको प्राप्त हो जाय वह बहुत ही उत्तम उपयोग वाला है। एककी दृष्टिमें आकुलता नहीं और अनेककी दृष्टिमें आकुलता ही आकुलता है। जैसे पुत्र एक हो तो अड़चन कम होती है और दो चार हुये तो अड़चनें बढ़ जाती हैं।

**खुद एक हो, खुदको एक रूप जानो**––यदि एकपनेका निश्चय हो जाय तो जीवको सुख हो जाय। स्त्री, पुत्र, धन, वैभव सभी 'एक' से अत्यन्त भिन्न हैं। उनके इस 'एक' का तनिक भी सम्पर्क नहीं। उनसे यह अत्यन्त भिन्न है। जिसे 'एक' का निश्चय हो जाता है वह अपने आपमें जो परिणमन होते हैं उनमें भी यह मानता है कि यह मैं नहीं हूं।

आनन्दका कारण तो एकत्वका उपयोगात्मक ज्ञान है। अपने स्वरूपके अतिरिक्त बाह्य वस्तुमें उपयोग ही दुःख है। परसमागमोंसे अशान्तिके सिवाय और क्या मिले ? दुःख या अशान्तिका प्राप्त कराना उनका स्वभाव ही है। परन्तु मोही उनमें स्वयं तो कर्तृत्वका अहङ्कार करता है और उलाहना समागमोंको देता है कि ये अशान्तिदायक हैं। उनमें स्वयं ही कर्तृत्व बुद्धि छोड़ दे, सारी अशान्ति मिट जाय। जब तक वस्तुकी स्वतन्त्रताका बोध न हो तब तक सभी श्रम वृथा है। धर्म लोभके परित्यागसे ही होता है। धर्मसे समता और अशांति होती है। सांसारिक पदार्थोंसे सुखकी आशा छोड़ दो। अपने आप सुखी हो जाओगे।

'समय' शब्दकी साधारण व्युत्पत्तिसे अर्थ करने पर सभी पदार्थोंका नाम समय है। सम् अयते इति समय–एकीभावसे अपने गुण, पर्यायोंको जो प्राप्त हो वह समय है। सब पदार्थोंके वाचक 'समय' शब्दका एक अर्थ है और सभी पदार्थ एक जगह रहते हैं अर्थात् लोकमें किसी भी स्थान पर देखो सभी जातिके पदार्थ मिलते हैं। फिर भी चूँकि अपने गुण पर्यायोंको ही पदार्थ प्राप्त होते हैं, अतः सब ही पदार्थमात्र अपने-अपनेमें अनन्त धर्मोंकरि

युक्त हैं, अपने गुणपर्यायका एकीभाव नहीं त्यागते। इसी कारण सभी पदार्थ अपने स्वरूपसे तो गिरते नहीं और परके स्वरूपसे परिणमते नहीं। यही वजह है कि लोकमें समस्त अनन्त पदार्थ हैं उनमें से कोई भी पदार्थ अभाव या विनाशको प्राप्त नहीं हुआ। सब अपने-अपने स्वरूपमें सीमित हैं। यही तो एकत्व है। इस एकत्वको प्राप्त समय अर्थात् आत्मा भी है। एकत्वके निश्चयको प्राप्त समय अर्थात् कोई भी पदार्थ अथवा आत्मा सुन्दर है, अविसंवादक है, आकुलतापहारक है।

ऐसे एकत्व स्वरूपको प्राप्त आत्मा है तो भी इसमें सम्बन्धकी कथा जो भी होती है वह विसंवाद करने वाली होती है। प्रश्न—इसमें संबंध की कथा क्यों होने लगती है? उत्तर—ये पदार्थ स्वतन्त्र होकर अन्य पदार्थोंके विरुद्ध अथवा कार्यके हेतु अर्थात् निमित्त होते हैं, सो निमित्त-नैमित्तिक भाव होनेपर भी एकता, स्वतन्त्रतामें कोई आघात नहीं पहुँचता। तो भी मोहवश जीवकी दृष्टि स्वतन्त्रतापर तो टिक नहीं पाती। सम्बन्धकी कल्पनामें दृष्टि थम जाती है। परन्तु निश्चय व्यवहार दोनोंके विषयरूप ज्ञात होने पर भी एकत्वके निश्चयको प्राप्त हुआ अन्तरात्मा तो सुन्दर है, निराकुल है और सम्बन्धका आशय रखने वाला वहिरात्मा विसंवादक बन जाता है।

यद्यपि सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं और सभीके साथ किसी न किसी रूपसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो भी बन्ध कथासे जीव नामक पदार्थमें ही आपत्ति आती है। कारण कि जीव पुद्गलको छोड़ कर बाकी चार प्रकारके द्रव्योंमें तो विरुद्धकार्य होता ही नहीं अर्थात् विभाव तो होता ही नहीं। शेष वचे जीव और पुद्गल अचेतन हैं, अतः वहाँ विसंवाद ही नहीं उत्पन्न होता। अन्तगत्वा जीवमें ही बन्ध कथासे विसंवाद होता है। जीव का श्रद्धान ज्ञान, चारित्र विभावोंमें उपयुक्त हो जाता है। इसी बातसे जीवमें द्विविधता भी हो गई।

**विपत्ति खुदकी उलझन है**—प्राणी क्रमशः शरीर, बात (शान), संकल्प, विकल्प और धनके विकल्पमें या इनकी मानमर्यादाके विकल्पमें उलझ जाता है। चैतन्यसे धनका कोई सम्बन्ध नहीं; वह बहुत भी क्यों न हो, परन्तु परभवकी तो बात ही क्या इस धनसे इस जीवनका भी लाभ नहीं होता।

कर्म कलङ्क दूर करना ही तो इस जीवनमें काम पड़ा है। धन अपने इस कामका है क्या? यदि वर्तमान ढङ्गको धनका काम मानो तो यह धन जिनके काम आता है वास्तव में विचारा जाय तो वह धनी उन व्यक्तियोंकी नौकरी करता है जिनके उपयोगमें वह आता है। अतः यह धनार्थी महान् दयाका पात्र है। धनीकी इज्जत नहीं होती, इज्जत वास्तव में उसकी उदारताकी ही होती है। यदि बहुत भारी धनी व्यक्तिकी भी अपनी उदारता

दिखाई न दे तो उसे कौन पूछता है ? उदारता केवल धनसे ही हो, सो बात नहीं । लोकोपकार, समाज सेवा, हितोपदेश आदिसे भी उदारता हो सकती है । लौकिक प्रतिष्ठा भी धनसे नहीं होती, धनसे तो गालियाँ तथा अभिशाप ही प्रायः मिलता है । प्रशंसा तो उदारतासे है ।

धनादिकका लोभ आत्माका हितकर नहीं । मरते समय इस धनकी बड़ी शल्य रहती है, हाय तोबा मचाता है । आगामी भवका सुन्दर निर्णय प्रायः मरते समय होता है सो वह इस धनकी शल्यमें बिगड़ जाता है । मोहीके धन जितना भी अधिक होगा उतने ही अधिक संक्लेश परिणाम होंगे । अतः आनन्द इसीमें है कि इसमें वृद्धि न करें ।

**संसारकी रुचिका फल क्लेश है**—संसार तो कारागार है । इसमें धोखा, विश्वासघात और अपमान आदि ही मिलेंगे । संसारका पारितोषिक केवल दुःख ही है । जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि । जैसी दृष्टि बनाओ; वैसी ही सृष्टि होती है । दृष्टिसे ही परम आनन्द और दुःख मिलते हैं । अपने आपका निश्चय ही परमानन्द है । दृष्टि तुम्हारे ही हाथ है ।

मैं सबसे न्यारा, स्वचतुष्टय रूप, अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध, अखंड ध्रुव निज ज्ञानस्वरूप हूं, यही हमें प्राप्तव्य है, अन्य विकल्प हेय हैं, ऐसी भावनासे ही परमानन्दकी उपलब्धि होती है । योगीको इस भावनाकी प्राप्ति सहज हो जाती है । इसकी प्राप्तिका उपाय धर्म और ज्ञानाभ्यास है परन्तु ये जितनी मात्रामें होने चाहियें मानव उतनी मात्रामें इन्हें नहीं अपनाता । नतीजा यह होता है कि इनका पूर्ण फल उसे प्राप्त नहीं हो पाता और भवों-भवोंमें इनके अर्जनका दुःख लगा रहता है । मोही जितने अंशोंमें धर्म या ज्ञानोपार्जन करता है वह उतना दुःख या संक्लेशका ही कारण बनता है । संसार संतापका नाशक नहीं हो पाता ।

**लगनसे ही सफलता मिलती है**—आत्मतत्वकी लगनसे ही शान्ति मार्ग मिल पाता है परन्तु लगन होनी चाहिये दृढ़ । जिसे दृढ़ लगन लग जाती है उसे और कुछ नहीं सुहाता है । अपनी चीज ही प्रिय लगती है अन्य कुछ सुहाता नहीं है उसे । कहा भी है—

काक-बीट सम गिनत है, सम्यग्दृष्टि लोग ।

जिसे अपनी आत्माकी एकताका ज्ञान नहीं हुआ वह सुबहसे शाम तक केवल धनादिकके संग्रहमें ही जुटा रहता है, इनकी व्यवस्था करता रहता है और यही करते करते कूचका समय आ जाता है । धर्मचर्चा सुनने मात्रकी वस्तु नहीं, वह तो श्रुतिके अनुकूल अपने प्रवृत्ति करानेकी है कि मैं उस धर्मपथपर चलूं और अपनेको तदनुरूप बनाऊं और यदि ऐसा न बन पाऊं तो कमसे कम पश्चात्ताप तो हो, अफसोस हो कि लाभकी बात तो यही है; पर क्या करूं करते नहीं बना । निर्विकल्प दृष्टि ही हित है, अन्य विकल्प नहीं रहे

इसका प्रयत्न करना ही उत्तम है। लोभरहित निजात्मदृष्टि ही निर्विकल्प दृष्टि है।

जब अपने स्वसमयका आनन्द आता है तब विषयरूप अनुभव आकुलता, धनीपना प्रतिष्ठावानपना, ज्ञानका गौरव, चतुराई आदि सबकी वर्तमान परिणतियाँ मालूम हो जानेसे उनसे उपेक्षा होने लगती है, परन्तु जिसके सदा ऐसा ही भाव रहता है कि यह वर्तमान मैं हूँ वह पर्याय बुद्धि है। उसे पता ही नहीं होता कि यह सब इसी भव तक सीमित हैं। एक समय बाद निगोद पशु नारकीका आकार बन सकता है और एक ही समयमें जीवनकी करतूतका फैसला हो जाता है।

**जैसी प्रवृत्ति तैसी ही गति**—जितने अंशोंमें परसमयरूप प्रवृत्ति है उतने अंशोंमें दुर्गति है और जितने अंशोंमें स्वसमय रूप प्रवृत्ति है उतनेमें सद्गति है। तेरा स्वरूप किसी पर्यायरूप नहीं, तेरा वह स्वरूप एक है जिसके ऊपरसे ये सारे नाटक चलते हैं, परन्तु तेरा स्वरूप किसी नाटकका पात्र नहीं। एक चैतन्यपर दृष्टि सुन्दर आनन्दका अवसर है। पूर्ण आनन्द यही है कि आत्मा शुद्ध एक ही रह जाय, इसमें किसी अन्यका असर नहीं रहे।

अपवित्रकी पवित्रताका तरीका दूसरी चीजकी उपेक्षा ही है। आत्मामें क्रोधादिकी मलीनता आ गई, इन परिणामोंमें आत्मीय दृष्टि मत रखो। दुष्ट यदि दुष्टता करे तो उसकी उपेक्षा करो। उससे स्नेह मत करो। दुर्भावको अपना नहीं मानना ही उससे छुटनेका उपाय है। ज्ञानदृष्टिके ठीक बनने पर चारित्रमें कठिनाई नहीं होती। धार्मिक क्रियाकांड भी शुभ दृष्टि बिना वृथा है। उससे केवल शरीरका ही शोषण होता है और होता है पर्याय बुद्धिका पोषण।

**ज्ञान दृष्टि अमृत है**—इसका पाने वाला अमर हो जाता है। आत्माके एकत्वरूपका निश्चय अति सुन्दर है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सुन्दर है; धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये चार द्रव्य तो स्वयं सुन्दर हैं। पुद्गलमें द्रव्य दृष्टिसे परमाणु स्वयं शुद्ध हैं। एक आत्मा भी स्वयं शुद्ध है और सुन्दर है। एक हो वही सुन्दर है। है सब एक एक, पर ऐसा मानता तो नहीं है मोही जीव। आपका ज्ञान आपके पास है, परन्तु जब तक उसका बोध नहीं होता तब तक उसमें रुचि नहीं होती है। गांठमें लाल बंधा हो परन्तु विस्मरण हो जाय तो उस में रुचि नहीं रहती। तू खुद ही ज्ञानका पिंड है। खुदका पता नहीं, इससे तू ज्ञान वा आनन्दको प्राप्त नहीं होता। मैं आत्मा ऐसा और एक ही हूँ—जब ऐसा पता चल जाता है तब जो कथनातीत आनन्द प्राप्त होता है वह—इन्द्र नाग-नरेन्द्रको भी नहीं होता।

**जो स्वतन्त्र है वह वस्तु है, जो वस्तु है वह स्वतन्त्र है**—वस्तु एक एक है अनेक मिलकर एक नहीं, उस एकका एकत्व धर्म है। देखो यहाँ पर धर्मका प्रकरण चल रहा है। धर्म किसे कहते हैं, यही यहाँ पर बताते हैं। आचार्योंने कहा है—वत्थुसहावो धम्मो, यानी

वस्तुका स्वभाव धर्म है। अग्निका स्वरूप उष्ण है। सो वही उष्णपना अग्निका धर्म है, इसी तरह जिस वस्तुका जो स्वरूप है वही उसका धर्म है। दृष्टान्तमें बताया गया कि अग्नि द्रव्य नहीं है वह पर्याय है, किन्तु समझानेके लिये दृष्टांत मात्र दिया है। यहाँ सबसे पहले वस्तुको जानना है कि—वस्तु कितनी-कितनी होती है, इसे जाने बिना वस्तुका ज्ञान नहीं होता है। वस्तु उतनी-उतनी होती है जिसका दूसरा हिस्सा, दूसरा टुकड़ा न हो सके। जिसका दूसरा टुकड़ा हो जावे या वियोग हो जावे ऐसी संयुक्त वह वस्तुद्रव्य नहीं है। किन्तु अनेक द्रव्यका समूह था ऐसा जानना। अच्छा बताओ, क्या यह कागज वस्तु है ? नहीं। क्यों ? क्योंकि इसके टुकड़े हो जाते हैं।

यह विशाल आकाश वस्तु है, क्योंकि इसका दूसरा टुकडा (भाग) नहीं होता है। दुनियामें ये दीखने वाली नाना तरहकी चीजें द्रव्य नहीं हैं क्योंकि इन सबके टुकड़े हो जाते हैं। पुद्गलका एक एक परमाणु वस्तु है, द्रव्य है। आत्माके टुकड़े नहीं होते हैं इसलिये वह एक वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश ये सभी एक एक वस्तु हैं। कालद्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक है सो कालद्रव्य असंख्यात हैं वे वस्तु हैं। पहले वस्तुके यथार्थस्वरूप को जानो, क्योंकि वस्तुके स्वरूपके ज्ञान बिना वस्तुका ज्ञान होना असम्भव है। इसलिये वस्तुके यथार्थस्वरूपसे ही वस्तुका ज्ञान होगा। भैया ! यह बताओ कि आप [illegible] पिण्डस्वरूप यहांपर बैठे है वह एक वस्तु है या अनेक ? अनेक है। यह जो पिण्ड दीख रहा है औदारिक शरीर इसमें अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य हैं और एक आत्मा है। इतने ही द्रव्य नहीं, इस शरीरमें असंख्यात त्रस जीव हैं, अनन्त बादरनिगोद हैं और प्रत्येक जीवके साथ औदारिक शरीरके अतिरिक्त तेज शरीर और कार्माण है। प्रत्येक तेजस शरीरमें अनंत परमाणु हैं और प्रत्येक कार्माण शरीरोंमें तैजस शरीरसे भी अनन्त गुणे परमाणु द्रव्य हैं। अब देख लो भैया इस पिण्डोलामें अनन्तानन्त द्रव्य हैं किन्तु मोही जीव इस सारे पिण्डको समझता है कि यह सब इतना मैं ही हूं।

**अनेकको एक व एकको अनेक मानना मिथ्यात्व है**—अनेक वस्तुको एक मान लेना यही मिथ्यात्व है, इसीसे मोह राग द्वेष पैदा होते हैं और ये ही सुखके नाश करने वाले तथा **दुःखके कारण** हैं। अनेक वस्तुको एक मानकर बाह्य पदार्थोंको अपना मानकर यह जीव दुःख उपार्जन करता है। इस तरह संसारके सभी जीव दुःखी हैं, वे सभी दुःखसे छुटकारा पा करके सुखी बनना चाहते हैं; किन्तु मोह रागद्वेषके वशीभूत होकर यह जीव निर्णय नहीं कर पाता कि सुख क्या वस्तु है और उसकी प्राप्ति कहांपर है ? सुख आत्माका अभिन्न गुण है, इसका अपर नाम आनन्द है, इस गुणकी व्यक्तिको सुख कहते है। वैसे तो सुख दुःख आनन्द गुणकी व्यक्तियां हैं, परन्तु ये सुख दुःख आनन्दगुणकी विकृत अवस्थायें है। आनन्द

गुणकी स्वाभाविक दशाका नाम अहेतुक आनंद या सुख है। शब्दार्थसे देखो तो आनन्द शब्द ही उपयुक्त है। सुख तो उसे कहते हैं जहाँ ख याने इन्द्रियको सु कहिये सुहावना भला लगे, वह विकार ही है। यह सुख भी आनन्द शक्तिसे प्रकट होता है, आत्मासे प्रकट होता है।

**बाह्य समागम क्लेशका कारण है**—लेकिन मोही जीवोंकी जरा दशा तो देखो; किसीके विचारसे धनमें सुख है, क्योंकि वह सोचता है कि धनसे सभी कार्य किये जा सकते हैं, बड़ेसे बड़ा कर्म भी धनके द्वारा किया जा सकता है। धनके द्वारा जगतको अपना दास बनाया जा सकता है, ऐसा मोही मानता है। किन्तु ऐसा विचार करना, धनसे सुखकी प्राप्ति चाहना नितांत मूर्खता है, क्योंकि लौकिक रीति रिवाजोंमें भी देखा जाता है कि धन वालोंको डाकुओं, चोरोंका भय लगा रहता है। वे सुखपूर्वक रात्रिमें सो भी नहीं पाते। कभी कभी प्राण रक्षाके हेतु धनको छोड़कर भागते है। अतः धनसे सुख है ऐसी मान्यता यह भ्रम है। भोजनके भोगोंमें भी सुख नहीं है, क्योंकि जो भोजन कुछ समय पूर्व सुखकर प्रतीत होता है वही भोजन पेटके भर जानेपर अरुचिकर प्रतीत होता है। सभी इन्द्रियोंकी ऐसी ही बात है। विषयकी उन्मुखतामें आकुलता ही है। भैया सुख तो आत्मामें लीन होनेपर, आत्माके स्वरूपको जाननेपर ही प्राप्त होगा; इसके लिये यही ज्ञानोपयोग रहो।

**प्रतीति कीजिये पहले वस्तुकी स्वतंत्रताकी**—एक वस्तुको एक मानो, अनेक वस्तुको अनेक मानो। संसारके विषयभोगोंको त्यागकर आत्मलीन होना ही सुखका मार्ग है। यह मार्ग वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे शीघ्र अभिव्यक्त होगा। वस्तुका ज्ञान करनेके लिये दूसरी बात यह है कि जो अपने परिणमनसे अपनेमें परिणमे, दूसरेके परिणमनसे न परिणमे वह वस्तु है। दुनियांमें जितनी भी वस्तुयें हैं वे सभी अपने-अपने परिणमनसे परिणमती हैं। एकके परिणमनसे दूसरी नहीं परिणमती। इन दो बातोंको जाननेसे ही वस्तुका ज्ञान होगा। अपनी परिणतिका ज्ञान कर लेनेपर दुःख नहीं होता है। जैसे हम आपको शास्त्र सुनाते हैं, हम विचार कर लें कि हम तो अपना कार्य करते हैं, हम किसीको न सुनाते है, न किसी को समझाते हैं किन्तु अपनी कषाय चेष्टामें अपना कर्तव्य कर रहे हैं। इस चेष्टाके निमित्तसे जिसे लाभ होना होगा वह हो लेगा। इस तरहकी वस्तुकी स्वतंत्रता वस्तुकी दृष्टि होनेपर कहीं कुछ परिणमो, कभी यहांपर दुःख पैदा न होगा। किन्तु यदि हम यह सोचें कि हम तो इन्हें शास्त्र समझा रहे हैं और ये समझते नहीं हैं तो हमें दुःख, क्रोध पैदा होगा। इसलिये हमें विह्वलताके संतापसे बचनेके लिये अपनी निज परिणतिका ज्ञान करना चाहिये। गुण, पर्यायकी एकताकी दृष्टिसे द्वैत बुद्धि नष्ट होती है जिससे निजका अनुभव हो सकता। यदि अपनेमें स्वानुभव पैदा हो जाय तो दुःखका नाम लेश भी न रहे। यह जीव एकतापर नहीं जाता है, किन्तु अनेकतापर जाता है और अनेकतापर भी एकताकी मान्यता करता है।

अनेकताको पकड़े हुए है। यदि वह जीव एकको एक और अनेकको अनेक माने तो सारे झगड़े ही मिट जावें। निज एक सत् है वह कभी नष्ट नहीं होता। देह वियोगके बाद भी रहेगा। अगर यह प्रतीति भी हो जावे कि हम तो मरनेके बाद भी रहेंगे, मरनेपर यह शरीर नष्ट हो जायेगा किन्तु हम तो रहेंगे, उस समय हमारी क्या गति होगी ? क्या हालत होगी ? ऐसी प्रतीति होनेपर धर्मकी ओर अधिक लगन लगेगी।

**ज्ञान होने पर मोहके स्वप्न स्वप्न मालूम होते हैं**—ये बाह्य वस्तुओंके समागम तो क्षणिक हैं, नश्वर हैं, सभी स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्नमें राजा बन जाना, अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंका प्राप्त कर लेना दिखता, किन्तु उसी बीचमें कोई जगा दे अथवा नींद खुल जावे, उस समय क्या हालत होती है, कुछ भी अपने पास नहीं रहता है। इसी तरहसे ये बाह्य पदार्थ भी अपने नहीं हैं, इनसे हमारा आपका कोई संबंध नहीं है। भैया ! आप लोगोंमें वस्तुओंका स्वस्वलक्षण देखकर पक्का निर्णय करलो। ज्ञानसे आपदायें दूर होंगी। सबसे बड़ी दो कमजोरियां हैं, एक तो यह है कि आप कोई पुस्तक विद्यार्थीकी भाँति नहीं पढ़ते हो तथा दूसरी ये है कि आप शास्त्रमें जो कुछ भी सुनते हो उसे दुहराते नहीं हो। इसलिये जो हालत प्राय: १० वर्ष पूर्व थी वही हालत आज है। इस तरहसे ज्ञानके आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है। आनंद तो भैया ज्ञानसे मिलेगा, यह निश्चित समझो बिना ज्ञानके आनंद नहीं होगा। जैसा ज्ञान होगा वैसा ही आनंद मिलेगा। ज्ञान यदि उत्कष्ट होगा तो आनंद भी उत्कृष्ट मिलेगा। इसलिये हमेशा ऐसे प्रयत्न करो कि ज्ञानकी वृद्धि होवे। इन बाह्य पदार्थों से क्या मिलेगा ? इनके सम्बन्धसे दु:ख ही मिलेगा सुख नहीं मिल सकता है।

**सुखमें और आनन्दमें अन्तर है**—सुख कहते है जो इंद्रियोंको अच्छा लगे। सु माने अच्छा और ख नाम है इंद्रियोंका, इंद्रियोंको अच्छा लगे सो है सुख। सो सुखके बाद दु:ख और दु:खके बाद सुख। ये परिवर्तन इन इंद्रियके सुखोंमें लगे हैं, 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दु:खानि च सुखानि च।' इस तरहसे इन परिवर्तनोंमें आत्माका जो शाश्वत सुख है, जो अविनाशी सुख है वह प्राप्त नहीं होता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न (उपाय) करना चाहिये जिससे आत्माको अविनाशी सुख प्राप्त हो सकता है। और वह तभी जब आत्माका ज्ञान (स्वानुभाव) खुदमें होगा। जब आत्मा चारों ओरसे समृद्धिशाली बनती है उसे आनंद कहते है और वह आनंद ज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है, इसलिये उस आनंदको पानेकी दृष्टि करो। आनंदका समय तभी आवेगा जब कुटुम्बी जन तथा शत्रु और मित्रोंमें समता आ जायगी।

श्रीमत्पूज्य कुंदकुंद प्रभुने कहा है कि एकत्वकी दृष्टिसे प्राप्त वस्तु ही सुन्दर है। जैसे खालिस घी ही अच्छा है, मिला हुआ ठीक नहीं है उसी तरहसे आत्मा भी खालिस (यानि एकत्वका उपयोग) सुन्दर है। आपमें सभी शक्तियां मौजूद है, सब कुछ कर सकते

हो। आत्माको देखने पर ही आनंदकी प्राप्ति होती है। आत्माके देखनेपर आत्माका ध्यान करनेपर जो आनंद प्राप्त होता है वह तो वर्णनातीत है। वह आनंद तो पर्यायागु, इंद्र• नागेन्द्रोंको भी प्राप्त नहीं होता है। बाह्य वस्तुओंके लक्ष्यसे दुःख होता है, विकल्प उठते हैं और विकल्प उठकर मरते है, फिर भी मनमाना हो नहीं पाता, सो देखलो दुःख ही दुःख है।

**कोई किसीके सुखको न चाह सकता और न कर सकता**—एक सेठ थे। उनके पांच लाखकी दौलत थी। एक दिन सेठने अपने चारों पुत्रोंको बुला करके एक एक लाख रुपया बांट दिया और अपने हिस्सेके एक लाख रुपयेके हीरे जवाहरातोंको लेकर अपने मकानकी दीवारोंमें गाड़ दिया। कुछ दिन बाद सेठ जी बीमार पड़े और अन्त समयमें उनकी बोलती बंद हो गई यानी उनके वचन ही नहीं निकले। पंचलोग जुड़े और बोले कि 'सेठ साहब आपका अन्तिम समय है सो इस समय तो कुछ दान कर लो।' सेठ साहबने हाथके इशारेसे दीवारोंको बताया कि जो कुछ भी इनमें है वो सब मैंने दान किया। किन्तु वहींपर सेठके लड़के खड़े थे, सो वे बोले कि पिता जी कह रहे हैं कि मेरे पास तो जो कुछ था सो इन्हीं दीवारोंमें लगा दिया यानि ये घर खड़े कर दिये, अब मेरे पास तो कुछ है नहीं, दान काहे का करूं? उस समय सेठ साहबके मनमें भारी विकल्प उठते थे किन्तु क्या करे मुंहसे कुछ कह ही नहीं पाते थे। बताओ विकल्पोंका संकट झेलकर उम्र गुजारी और अन्तमें यह दुष्फल मिला। भैया! जो कुछ करना है सो पहले कर लो, क्योंकि यह जवानी अपेक्षाकृत बहुत ही उपयोगी वस्तु है। जिसने इस जवानीमें ज्ञानोपार्जन नहीं किया वह वृद्धावस्थामें तो क्या करेगा? जवानीमें आप जैसा ज्ञान उपार्जन कर लेंगे वैसे ही संस्कार वृद्धावस्थामें बने रहेंगे और उस समय विशेष ज्ञान भी पैदा कर सकते हो। यदि शुरूमें ही ज्ञानकी ओर ध्यान नहीं दिया तो आगे प्रायः कुछ भी नहीं कर सकते हो।

**आनन्दका माप जड़समागमसे नहीं है**—भैया! यह बात तुम निश्चयसे मानो कि यदि सुख अथवा आनंद मिलेगा तो ज्ञानभावके द्वारा ही मिलेगा, आनंदके अनुकूल ज्ञान होगा तो आनंद मिलेगा। बाह्य पदार्थोंसे राग द्वेष मोह ममता आदिसे सुख (आनंद) नहीं मिलता है। लौकिक अमीरी गरीबीसे सुख दुःख नहीं मिलता है। एक राजा था, वह अपने शत्रुके ऊपर चढ़ाई करने जा रहा था। रास्तेमें एक साधुको कोई एक पैसा भेंटमें चढ़ा गया, जब साधु अपने ध्यानसे उठे तो उन्होंने सोचा कि यह पैसा किसी गरीब व्यक्तिको दूंगा। उन्होंने गरीबको ढूंढा, किन्तु उन्हें अत्यन्त गरीब व्यक्ति न मिला। इतनेमें ही राजा की फौज वहांसे निकली। साधु जीने एक सिपाहीसे पूछा कि ये फौज कहां जा रही है? तब सिपाही बोला कि हमारा राजा अन्य राजाको जीतने उसकी धन दौलतको अपने कब्जे

में करनेके लिये जा रहा है। तब साधुने विचार किया कि यह पैसा इसी राजाको देना चाहिए, क्योकि इसे पैसेकी सबसे अधिक आवश्यकता है, यह बड़ा गरीब है। ऐसा विचार कर उस पैसेको गोदमें फेंक दिया। तब राजा बोला कि तुमने यह पैसा मेरे ऊपर क्यों फेंका ? तब साधु ने कहा कि तुम गरीब हो इसलिये यह पैसा मैने तुम्हें दिया है। राजा बोला कि मैं गरीब हूं ? मेरे पास इतनी दौलत, इतनी फौज है फिर भी आप मुझे गरीब बनाते हो ? तब साधुजी बोले कि—राजन् यदि तुम गरीब न होते तो यह तृष्णा क्यों बढ़ती ? राजाको बोध हुआ और वापिस लौट गया। जिसने स्वभावकी दृष्टिसे अपनेको देख लिया वह अमीर है और जिसने स्वभावदृष्टिसे अपने को नहीं देखा वह गरीब है, इस वास्तविकताकी प्रतीति करलो भैया !

**जरा आत्माके वैभवको देखो कि**—यह आत्मा कितना वैभवशाली है, आखें बंद करके याने सभी इन्द्रियोंका व्यापार रोककर, सभी विकल्पोंको छोड़कर एकाग्रचित हो करके आत्माको देखो तो आत्मा ज्योतिर्मय ज्ञानमय दीखेगा। आत्मा स्वतन्त्र है किसीके बन्धनमें नहीं है, उस एक आत्मामें समस्त रस है अथवा आत्मा स्वरसपूर्ण है। आत्माकी एक शक्तिमें समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। जैसे आप ५० दवाइयोंको मिला करके कोई गोलियाँ बनाइये और उनमें से एक गोली का रंच भी हिस्सा खाओ तो १ दवाका स्वाद आवेगा या ५० दवाओंका ? ५० दवाओंका स्वाद ही उस एक गोलीके अंशमें आवेगा। यह तो, अभिन्नता बताने के लिये मोटा दृष्टान्त दिया है। आत्माकी बात इससे भी ऊपर है। आत्मा में समस्त रस, समस्त शक्तियाँ विद्यमान है। आत्माके अनुभवसे ही आत्माका कल्याण होगा। बड़े बड़े राजा लोग चक्रवर्ती आदिक आत्मानुभव करके ही अपनी आत्माका कल्याण कर गये हैं। इसलिये भैया अगर आत्मकल्याण करना चाहते हो तो ज्ञान उपार्जन करो। ज्ञान उपार्जनके लिये एक पुस्तक क्रमसे नियमपूर्वक पढ़ो और शास्त्रमें जो सुनते हो उसे एक बार अवश्य दुहराओ। इन बातोंसे ज्ञानवृद्धि होगी और ज्ञानवृद्धिसे ही आत्मतत्त्वकी जानकारी प्राप्त होगी।

**आत्मतत्त्वके आश्रयसे ही कल्याण हो सकेगा**—आत्मतत्वके परिज्ञान होते ही **विकल्प अवस्थामें प्रतीतिपूर्वक** कह उठोगे— एयत्तविच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरोलोए। अब जरा एकत्व निश्चयगतता सप्ततत्वोंमें भी देखिये। सम्यग्दर्शनके स्वरूपके निश्चयके लिये व सम्यग्दर्शनके लिये प्रथम कारण कार्योका ज्ञान यथार्थ करना होगा। यहाँ सम्यग्दर्शन के स्वरूप व कारणोंका कुछ वर्णन होगा कि वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? ये शरीर सम्पत्ति कुटुम्ब परिवार कभी भी आत्माके नहीं हो सकते है, क्योंकि ये सभी नाशवान हैं व आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। जबकि आत्मा एक अविनाशी पदार्थ है, वह अपनेमें ही चतुष्टय-

मय है। जब तक दुनियांके पदार्थोंमें जीवका मोह रहता है तब तक वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता है किन्तु ज्ञानी जीव इन परपदार्थोंके योग-प्रयोगमें हर्ष विषादको नहीं करता है क्योंकि वह पदार्थोंके स्वभावको जानता है कि सारे पदार्थ तो पर्यायसे नाशवान हैं. इनसे न तो मुझे कोई हानि है और न कोई लाभ है। कहनेका मतलब है कि बिना सम्यग्दर्शनके यह जीव कभी भी सुखी नहीं हो सकता है।

**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**—यानी सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप है उसी प्रकारसे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। या यों कहिये कि आत्माके स्वभावका अटल विश्वास होना, वस्तुमें अटल श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है। आत्माका हित सम्यग्दर्शनमें है, सम्यग्दर्शन पा लिया तो समझ लो कि त्रिलोककी विभूति पा ली है। यह शरीर तो जड़ है, एक शरीर के बाद दूसरा शरीर मिलता है, यही सबसे बुरा है, क्योंकि आज मनुष्य शरीर है तो न मालूम आगे किसका शरीर मिलता है, अथवा मनुष्य व देवका भी मिले तो भी क्या हित है ? इसलिये इन बाधाओंको मिटानेके लिये प्रथम तो सम्यग्दर्शनको प्राप्त करो जिसके बिना लौकिक अच्छे भी कार्य मोहके नशेके काम हैं। सम्यक्त्वके बिना भगवानकी पूजा भी एक व्यवसायमात्र है। सम्यक्त्व पानेके लिये तुम्हें जो भी करना पड़े सो करो, तुम्हें कष्ट उठाना पड़े, तन, मन खर्च करना पड़े तो करो। किसी भी हालतसे सम्यक्त्वको प्राप्त करो। भैया ! यह उपचारसे कहा जा रहा है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन स्वके ही सहायसे होता है।

विज्ञानका यह नियम है कि जो वस्तु सत् है उसका तो कभी नाश नहीं होता है, उनकी पर्यायोंमें भी तबदीली होती रहती है किन्तु जो चीज है वह नहीं बदलती है। आत्मा सत् है आत्माका नाश तो कभी होता ही नहीं है। अतः अपनी अब जिम्मेवारी समझो, इस आत्माको सम्यक्त्व सहित बनाओ, क्योंकि सम्यक्त्व सहित आत्मा यदि है तो नरकोंमें भी दुःख नहीं है और यदि सम्यक्त्व नहीं है तो स्वर्गमें भी सुख नहीं है। इस तरह सम्यक्त्वका बड़ा भारी महत्त्व है। यह तो भावोंमें महत्वकी बात है, वस्तुतः सम्यक्त्वका महत्व आत्मसुख से है। तो अब यहां विचार करना है कि वह सम्यक्त्व कैसे हो ? कलके प्रकरणमें वस्तुके बारेमें दो बातें बूझी थीं। वस्तु वही है जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके तथा जो एकके परिणमनसे दूसरा नहीं परिणमे सो वस्तु है। वस्तुके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है। जगत में वस्तुयें कितनी हैं ? अनंतानन्त जीव द्रव्य, अनंतानंत पुद्गल द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। इस तरहसे वस्तुयें अनंतानंत हैं और वे सभी अपने परिणमनसे ही परिणमती हैं, दूसरेके परिणमनसे नहीं।

**वस्तु स्वरूप विपरीत ज्ञान दुःखकर है**—सो भैया ! वस्तुका स्वरूप इस भांति है

और मोहीकी मान्यता और भांति है। यह महान् दुःखकी बात है कि यह जीव परपदार्थमें बुद्धिको लगाये हुये है, जिसको देखकर यह जीव खुशी होता है, प्रसन्न होता है। जिनके संयोगसे अपनेको सुखी मानता है वे ही दुःखके कारण हैं या बन जाते है। आत्माके बिगाड़के वे ही बाह्य कारण हैं। अगर अपनी दया, आत्माकी दया समझमें आ जावे, उसकी प्रतीति हो जावे तो समझो कि आत्माका कल्याण हो गया। आत्माकी हिंसा स्वभावके विरुद्ध परिणति है और आत्माकी दया स्वभावके अनुरूप परिणति है। आत्मा चैतन्यमात्र वस्तु है उसकी स्वाभाविक परिणति ज्ञाता द्रष्टा रहना है। इसके विरुद्ध जो श्रद्धा-विकार और चरित्र-विकार है वही आत्माकी हिंसा है। परचिंतामें आत्मा विह्वल हो जाता है, परके स्नेह करनेमें आत्मा कैसा विकल्पोंसे संतप्त होता है? फिर भी शांत होनेका मार्ग ही नहीं पहचानता है। वह अनंत क्रोधी है, क्रूर है, अपने आपकी करुणासे शून्य है।

**अपनी दया कब होती है**—अपनी दया तब समझ लीजिये कि आ गई जब यह भाव आ जावे कि 'आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।' जिसके निज वस्तुत्वकी प्रतीति हो जाती है, वह यदि चाहता है तो चाहता है निज वस्तुत्व विकास अथवा वह कुछ चाहता ही नहीं है। यथार्थरूपमें ज्ञाता द्रष्टा रह जाता है और उसकी परिणति स्वाभाविकी हो ही जाती है। हां तो अपनी प्रतीति कभी समझना कि जब यह भावना पैदा हो जावे—आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय—मैं रहूं आपमें आप लीन, सो करहुँ होऊं ज्यों निजाधीन। यानी आत्माके अहित करनेवाले जो कषायादि भाव है उनसे मैं दूर रहूं, मैं तो सिर्फ अपनेमें ही लीन रहूं। उस निजकी अमोघ अनुभूति कैसे हो, इसका उपाय दर्शक श्री परमपूज्यपादका वाक्य है—सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः॥ पांचों इन्द्रिय तथा मन नामक अनिन्द्रिय इन सबका संयमन करके विश्रामसे रह जाओ, स्वयं ही जो आप अनुभव करेंगे वही परमात्माका स्वरूप है और वही स्वभावकी महिमा है। ये बाह्य पदार्थ सभी दुःखके कारण हैं। जब ऐसी भावना जागृत हो जावेगी तो वहांपर क्रोध, मान, माया, लोभ स्वतः मंद हो जावेंगे। यह जीव विचार करेगा कि ये रागद्वेष किसके लिये करना है—यह शरीर तो मेरा है नहीं। मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप अकेला हूं। जहाँ मोह छूटा कि आत्माका भला हुआ, किन्तु सबसे बड़ा जंजाल है तो इस मोहका ही है। मलिन आत्मा इसीमें फंसा है, मोहियोंके बीचमें ही रहना पड़ता है इसलिये वैसा ही अपने आपका अपनेपर असर पड़ता है। यदि निर्मोही जीवकी संगति मिले तो कुछ लाभ भी होवे। हां सम्यक्त्व हो जावे फिर भले ही मोहियोंके बीचमें रहना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ज्ञानी फिर तत्वकौतूहली हो जायगा। दुनियामें सम्यक्त्वके बराबर कोई सुखकर नहीं है तथा मिथ्यात्वके बराबर कोई

दु:खकर, अकल्याणकारी नहीं है। इसलिये अपनेमें सम्यक्त्वको जगाओ, सम्यक्त्वको प्राप्त करो। सम्यक्त्व जगता है वस्तुविज्ञानसे। वस्तुविज्ञान होता है वस्तुके स्वरूप जाननेसे।

**वस्तु स्वयं परिणमे, इतना ही उसका काम है।**—प्रत्येक द्रव्य हमेशा परिणमते रहते हैं, सिद्ध भगवान भी हमेशा अपनेमें ही परिणमते रहते हैं। अगर आप कहो कि मैंने नौकरको आज्ञा दी सो उसने काम किया, किन्तु यह कोरा भ्रम है। उसकी आज्ञासे उसने काम नहीं किया, किन्तु उसकी इच्छा थी इसलिये उसने काम किया। उसे कामके बदलेमें कुछ मिले यह उसकी भावना है और इसीसे काम करता है। हां आप उसमें निमित्त अवश्य हैं। काम भी देखो तो सबके अलग अलग हैं। आत्माका कार्य योग उपयोग है, भाषावर्गणा का कार्य वचन है, देहका कार्य वायुसंचरण व प्रवृत्ति है। जगतमें सभी द्रव्य अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं, दूसरेको स्पर्श नहीं करते। हाँ यह बात अवश्य है एक दूसरेका निमित्त है, सो कोई सद्भावरूप निमित्त है और कोई अभावरूप निमित्त है। सद्भाव रूप निमित्त विभाव कार्योंका बाह्य हेतु है और अभावरूप निमित्त स्वाभाविक परिणति तथा विषमपरिणतिका भी बाह्य हेतु है। कालद्रव्य सर्वत्र साधारण है, वह चर्चाका विषय नहीं है।

यह सब कुछ पद्धति हो तब भी प्रत्येक पदार्थ अपनी शक्तिके विकाससे ही परिणमता है। देखो भैया! व्यवहारमें भी कोई किसीका बुरा करना चाहता है और इच्छाके अनुरूप देहचेष्टा भी होती है तथापि उसका परिणाम सावधान है अथवा पुण्योदयरूप बाह्य हेतु है तब बुरा नहीं होता। इसी तरह कोई किसीका भला करना चाहता है और इच्छाके अनुरूप वचन कायकी चेष्टा होती है नथापि उसका परिणाम असावधान है अथवा पापोदय बाह्य हेतु है तब भला नहीं होता है।

**समर्थ तो अपनी सावधानीका सामर्थ्य करता है**—देखो गजकुमार मुनि, सुकौशल मुनि आदिके ऊपर कितने उपसर्ग हुए, किन्तु वे अपने परिणमनसे ही अपनेमें अपनी दृष्टि द्वारा परिणमते रहे और मोक्ष चले गये। और उपसर्ग करने वाले अपने परिणमनसे अपने में कषाय भाव पैदा करते रहे और पापका बंध किया। आत्मा तो अमूर्तिक है, वह तो सिर्फ इच्छा करता है, देहादिकी क्रिया नहीं करता है। जैसे भोजन करनेमें आत्मा भोजन करने की इच्छामात्र करता है और क्रिया शरीरकी होती है। हाँ भोजन पानेमें इच्छावान् होनेसे आत्मा निमित्त कारण अवश्य है। एक वस्तुकी बात उस एक ही में देखोगे तो वस्तुपद्धति शीघ्र समझमें आ जावेगी। हमने अपने हाथकी छाया पुस्तकपर की तो बताओ यह छाया पुस्तककी ही है अथवा हाथकी है? यह छाया पुस्तककी ही है, हाथकी नहीं है क्योंकि जिस की जो चीज होती है वह उसमें ही रहती है, बाहर नहीं। हाथका रूप रस हाथमें रहते हैं वा बाहर भी? यदि हाथमें ही रहते हैं तो फिर इसकी छाया कैसे हाथसे बाहर आ सकती

है ? छाया पुस्तककी ही है वह तो हाथको निमित्त पा करके प्रकट हो गई है।

**किसी की परिणति किसी अन्यपर नहीं होती**—आपपर मित्रने प्रेम किया, ऐसा कहते हैं ना। तो बतावो मित्रका प्रेम आपपर पहुँचता कि नहीं ? नहीं। मित्रका प्रेम मित्र से बाहर नहीं आ सकता है। यह तो सब अपनी-अपनी समझ है। वस्तुको निरखो, एकत्व निश्चयका व्यवहार करके शुद्ध देखो, अशुद्ध देखो, परमशुद्ध देखो, एकमें देखो।

इस पद्धतिकी दृष्टिमें मोह, मिथ्यात्व समाप्त हो जावेगा। सम्यक्त्वके विना संसार के प्राणी किस तरहसे भटक रहे हैं, जन्म मरणके नाना तरहके दुःखोंको उठा रहे हैं। अगर इन दुःखोंसे बचना चाहते हो तो सम्यक्त्वको पैदा करो। जो ये बुद्धि वनी रहती है कि कमाओ, कमाते रहो और अन्तमें मर जाओ, इस बुद्धिको छोड़कर समस्त बाह्य पदार्थों को छोड़कर "निजको निज, परको पर जान, फिर दुःखका नहीं लेश निदान।" जहाँ निजके निजत्वकी यह प्रतीति हो गई वहाँ दुःखका नाम निशान भी नहीं रहता है।

(प्रश्न)–महाराज यही तो नहीं होता है, कैसे मोह छोड़ देवें ?

(समा०)–देखो भैया ! तुम्हारे पास लाख दो लाख होंगे किन्तु तुम देखो कि छह-खंडोंके स्वामी चक्रवर्तीने भी अपने ऐश्वर्यको छोड़ा। अभीकी बात देखना है तो देखो, हुकम चन्द सेठने भी अपने घर आदिकसे मोहको तोड़ा। तो भैया ये सब कुछ हो सकते हैं किन्तु इसके लिये लगन चाहिये।

**मनमें आ जाये तो सब कुछ हो सकता है**—इसलिये अपना लक्ष्य बनाओ कि हमें तो ऐसा बनना है। मनमें तुमने लक्ष्य बना लिया कि हमें तो मुनि बनना है, फिर चाहे तुम इस जीवनमें कभी भी न बन सको, किन्तु सिर्फ तुम्हारे लक्ष्यमात्रसे तुम्हें धर्माभिमुख पुण्य बंध हो गया, स्वभावका परिचय हो गया। इसलिये अपने मनमें ऐसे विचार लाओ कि हमें तो अपना कल्याण करना है। इस तरहकी भावना रखनेसे एक दिन वैसे हो भी जाओगे। कहा भी है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' यानी जैसी जिसकी भावना होती है उसे सिद्धि भी वैसी ही मिलती है। इसलिये अपनेमें शुद्ध भावनाओंको आने दो। हमेशा निज एकत्वकी शुद्धि रखो। समागमका उपयोग, समागमको सर्वथा मिटा देनेके लिये करो।

**भैया एक बात भूलना—मोह छूटनेका उपाय सत्य ज्ञान ही है।**—दो मित्र थे। दोनों स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन वे बोले कि देखो जो पहले मरे और देव होवे तो वह दूसरेको सम्बोधन करनेको आवे। बात तय हो गई उनमेंसे एक मित्र पहले मरा और देव हुआ; वहां उसने अपने अवधिज्ञानके द्वारा जब सारा हाल जाना तो वह अपने मित्रके पास आकर बोला कि देखो ये दुनिया नश्वर है, ये माता पिता पुत्र स्त्री आदिक तेरे कुछ

भी काम नहीं आवेंगे और तू उनमें इतनी प्रीति किये है। अब तो इनके ममत्वको छोड़ करके अपने आत्मकल्याणमें लगो। वह मित्र बोला कि मैं कैसे मानूँ, मुझे यह प्रतीति कैसे हो कि ये मेरे साथी नहीं हैं। ये सब कुटुम्बके लोग मेरे आज्ञाकारी हैं। देव बोला—कल तुम बीमारीका बहाना लेकर बीमार बन जाना, मैं तुझे सब प्रतीति करा दूंगा। दूसरे दिन वह बीमार हो गया। इधर देवने अपना रूप वैद्यका बनाया और इधर उधर चक्कर लगाता हुआ वहीं आकर कहने लगा– मेरे पास हर रोगकी शर्तिया दवा है। इधर दो चार डाक्टर वैद्य देख चुके थे। देवरूपी वैद्यको भी बुलाया। वैद्यजी ने एक गिलासमें कुछ पानी मंगा करके उसमें थोड़ी भस्म डालकर और कुछ मंत्र सा पढ़कर उसकी माँ को वह गिलास दिया और बोला कि इसे पी लो। सब लोग बोले कि बीमारको दवा पिलाई जाती है या घरवालों को ? तब वैद्यजी ने कहा कि मेरी दवाईमें तो यह गुण है कि कोई भी इसे पी ले तो रोगी ठीक हो जायगा और जो कोई भी दवाको पीयेगा वह मर जावेगा। तब माँ ने सोचा मेरे अभी चार लड़के और हैं, अगर एक मर जायेगा तो चारके सुख देखूँगी, अगर मैं ही मर गई तो सुख कौन देखेगा ? ऐसा विचार करके उसने दवा पीनेसे मना कर दिया। इसी तरह घरके सभी लोगोंने मना कर दिया। तब उस देवने धीरेसे कानमें कहा कि देख जिन्हें तू अपना मानता है ये कुछ भी तेरे नहीं। वह तो घटना देख ही रहा था, सत्य ज्ञान हुआ और मोह छूटा। इसलिये इन समस्त बाह्य पदार्थोंकी दृष्टि छोड़ करके अपनी आत्माका ध्यान करना चाहिये तभी कल्याण होगा तभी शाश्वत आनन्द मिलेगा।

**निजके एकत्वका निर्विकल्प अवलम्बन धर्म है**—यहाँ धर्मका ही प्रकरण चल रहा है। धर्मोंमें मुख्यतः यह बात बताई है कि आत्मा निज एकत्वको जाने और उसीमें उपर्युक्त रत रहे, सो ही धर्म है। मैं चैतन्य हूँ, मैं ध्रुव हूँ, मैं अचल हूँ, इन पदार्थोंसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसा विचार कर पश्चात् निज एकत्वकी दृष्टि आत्माकी हो जावे सो धर्म है। धर्मसे शाँति प्राप्त होती है। आचार्य श्री पूज्य समन्तभद्रस्वामी जी ने धर्मका लक्षण किया है कि संसारके दुःखोंसे निकाल कर जो उत्तम सुखमें धारण कराता है वह धर्म है। धमसे शाँति प्राप्त होती है, आत्मा समस्त विकल्पोंसे रहित होकरके स्वाधीन सुखका उपभोग करता है।

अब आप विचार करो—निर्णय करो कि किन कामोंसे शाँति प्राप्त होती है ? रथ निकालने से कितनी शांति मिलती है ? आप रथका प्रोग्राम बनाकर देख लीजिये, फिर आपको मालूम हो जावेगा कि इसमें कहां तक शांतिका अनुभव होता है ? जबसे रथका प्रोग्राम शुरू होता है और वह सानन्द लौटकर घर नहीं आ जाता है तब तक कितने विकल्प उठते रहते हैं। रथादिक स्वयं धर्म नहीं है किन्तु उपचार धर्मके कार्य अवश्य हैं।

रथसे दो बातें होती हैं, एक तो लोगों को वीतराग मुद्राके दर्शन होते हैं, दूसरे धर्मकी प्रभावना होती है। समस्त जैन भाई गांवके एकत्रित होते हैं। विद्वानोंके भाषणोंसे धर्म-लाभ होता है। किन्तु आजकल तो एक प्रथा सी चल गई है--यह है प्रीतिभोज तथा सुन्दर जलूसमात्र निकाल देना। आप देखो कि इसमें कहाँ तक शांति मिलती है? ज्ञानोपदेश द्वारा प्रचार हो तो रथकी पूर्ण सफलता है। जहाँ शांति मिले सुख मिले, सो धर्म है। समस्त धर्मोंमें एक बात बताई है--आत्माका एकत्व कर लो।

विचार करो--मैं एक हूं, शुद्ध चैतन्यरूप हूं, ध्रुव हूं, अचल हूं। जहाँ इस तरह के विचारपूर्वक सामान्य दृष्टि द्वारा आत्मा एकत्वमें उपयुक्त हो गया सो ही धर्म है। अपने स्वमें रहे सो धर्म है; वही सुन्दर है और अपने धर्मको छोड़ दे, अपने धर्मसे अलग होकर अन्य धर्ममें रहे सो असुन्दर है। लौकिक रूपसे देखो—जैसे सांप है उसका धर्म है फुफकारना (धर्म याने स्वभाव)। अगर वह फुफकारना छोड़ दे तो उसकी कीमत रहेगी क्या? नहीं। तो जब तक अपने धर्ममें वस्तु है तब तक उसकी शोभा है और अपने धर्मको छोड़नेपर उसकी शोभा नहीं रहती है। यह उल्टा और पर्याय स्वभावका दृष्टान्त है। कहीं फुफकारनेसे रूठनेकी शिक्षा मत ले लेना (हंसी)।

**जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही अधर्ममें रह सकते हैं:**—परमार्थमें देख लो। धर्म, अधर्म, आकाश, काल--ये चार द्रव्य तो हमेशासे (अनादिसे) अपने धर्ममें ही रहते हैं, ये अपने धर्मसे, अपने स्वभावसे नहीं हटते हैं किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे है जो अपने धर्मसे हट जाते हैं। पुद्गलको देखो--ये जो स्कन्ध दिख रहे हैं, ये चौकी आदि यह सब अधर्ममें हैं, धर्ममें रहनेपर तो वह अणुरूप हैं जो कि दिखता तक नहीं है, तो देखो यह पुद्गल अपने धर्मसे हटा तो इसकी कितनी अवस्थायें की जाती हैं? यह काटा जाता है, चूल्हेमें जलाया जाता है आदि तरह-तरहसे कितनी ही अवस्थाओंमें परिणत किया जाता है किन्तु उसे इनसे कोई दुःख नहीं होता है क्योंकि वह अजीव है, इसलिये उसका कुछ बिगाड़ नहीं है। जीवद्रव्य अगर अपने धर्मसे हटकर अधर्ममें आ जावे तो उसका बिगाड़ है। अतः अपने धर्ममें रहना ही ठीक है वही सुन्दर है; अपने धर्ममें ही अनुराग करना सो संवेग है। कल बताया था कि वस्तु उसे कहते हैं जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके, तथा जो अपनेमें ही परिणमे, अन्यके परिणमनसे न परिणमे—इन परिभाषाओंसे आप यह जान गये होंगे कि वस्तु क्या है और वस्तु किसे कहते हैं?

**वस्तु स्वचतुष्टयसे है**--प्रत्येक वस्तुमें चार चीजें होती हैं--द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। इन चार चीजोंसे वस्तुकी पहचान होती है। अब इन चारोंके लक्षण जानना जरूरी है। द्रव्य किसे कहते हैं? द्रव्य कहते हैं पिण्डरूप जो है उसे। क्षेत्र जितनेमें यह पिण्डरूप द्रव्य

रहे उतना उसका क्षेत्र है। परिणमन नई-पुरानी अवस्थायें हैं वह काल है, और भाव कहते हैं रूप-रस-गंध-स्पर्श आदि। अब इन चारोंको इस पुस्तकमें घटाओ। पुस्तकका जो आकार है यानी यह पिण्डरूप जो पुस्तक है सो तो पुस्तकका द्रव्य हुआ। क्षेत्र जितनेमें वह पिण्ड रूप पुस्तक रहती है उसका क्षेत्र है। रहनेसे मतलब आकाशद्रव्यसे नहीं है किन्तु पुस्तकका क्षेत्र जो पुस्तकके साथ है, काल जो पुस्तकका परिणमन है; नई, पुरानी, अच्छी खराब ये सब पुस्तकका काल है। भाव रूप, रस, गंध, स्पर्श ये पुस्तकका भाव है। इसी तरहसे ये चारों परमाणुमें एवं अपनी आत्मामें घटाओ। सबका चतुष्टय अपनेमें अपने रूपसे रहता है वह दूसरे रूप नहीं होता है। आप जितना भिन्न अपनेसे असंबंधी दूसरेको समझते हैं उतने ही भिन्न आपके परिवार मित्र आदि हैं। दूसरेका मकान आपसे जितना भिन्न है उतना ही आपका मकान आपसे अलग है; दूसरेका शरीर जितना आपसे जुदा है उतना ही आपका शरीर आपसे जुदा है, किन्तु यहाँ पर क्षेत्रावगाह संबंध अवश्य है।

**ज्ञाता द्रष्टा रहे इसमें ही शान्ति होगी**—आप भगवानकी पूजा करते हो, बहुत भक्ति करते हो—किन्तु भगवान्‌का तो उपदेश है कि तुम हमारी पूजा करना भी छोड़ दो, हमसे प्रीति छोड़ दो और अपनी आत्मासे प्रीति करो, आत्माका ध्यान करो—आत्मध्यान ही कल्याण मार्ग है। अपने धर्ममें रहो वह सुन्दर है, अपने धर्मको छोड़नेपर असुन्दरता आ जाती है। एक हिन्दीकी किसी किताबमें एक कहानी है—एक धोबी था। उस धोबीके एक गधा और एक कुतिया थी। एक दिन धोबी कुतियाके बच्चेको खिला रहा था, वे बच्चे इधर उधरसे धोबीके ऊपर चढ़ते, कभी अपने पैर उस पर रखते, इन सब बातों को देख करके गधा विचारने लगा कि हमारा मालिक इन कुत्तोंसे कितना प्रसन्न हो रहा है? देखो ये कुत्ते मालिकके ऊपर पैर रखते हैं और मालिक प्रसन्न हो रहे हैं। सो मैं भी कलसे ऐसा ही करूँगा तब मालिक मेरे ऊपर भी अत्यन्त प्रसन्न होगा, ऐसा विचार करके दूसरे दिन गधा भी मालिकके सामने अपनी दुलत्ती झाड़ने लगा। गधेको दुलत्तियाँ झाड़ते देख धोबी ने डंडोंसे गधेकी खबर ली। खूब डंडोंकी मार पड़ी। तो देखो गधे ने अपनी प्रकृति छोड़ी—अपने कर्तव्यसे हटा सो डंडोंकी मार पड़ी। भैया! यह लौकिक दृष्टिसे कहा गया। वस्तुतः गधा एक पदार्थ नहीं, धर्म कहाँ होगा? जितने भी विषैले जीव हैं अगर अपना स्वभाव छोड़ दें, इनका विष नष्ट हो जावे तो इनसे कोई डरेगा क्या? नहीं। इनका विष खतम हुआ, फिर इनकी कोई कीमत नहीं रहेगी, उनसे कोई नहीं डरेगा। कदर या सुन्दरता तो अपने धर्ममें है। स्फटिक मणिका धर्म स्वच्छता है सो अपने धर्ममें रहता हुआ स्फटिक मणि कैसा सुन्दर है? भैया! ऐसा प्रयत्न करो कि आत्मा हमेशा अपने धर्ममें रहे। बाह्य पदार्थोंसे उसका कोई सम्बन्ध न रहे। परमें आत्मीयताके भ्रमसे आकुलता होती है—ये कोई धर्म

नहीं हैं, पर्यायगत प्रकृतियां हैं, लौकिक निःशंकताके लिए दृष्टान्तपात्र। एक मनुष्य रास्तेमें जा रहा था। उसने मार्गमें एक दृश्य देखा कि हाथी ने एक बच्चेको सूंडमें लपेट कर दूर फेंक दिया। उस आदमीका भ्रम हो गया कि वह बच्चा मेरा है। ऐसा भ्रम होते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। उसके मित्रादिक लोग आये और जब उन्होंने कुछ पास ही लड़केको पड़े देखा, उन्होंने अनुमान किया कि इसीके भ्रमसे यह मूर्छित हो गया है। तब उन्होंने उसके लड़के को बुलाया और उसके सामने खड़ा किया। तब उसके अवलोकनमें आनेपर उसकी मूर्छा हट गई। भ्रम होनेपर भ्रमका निवारण कर देना, भ्रमको दूर कर देना ही उत्तम उपाय है।

**अपने सिवाय अपना अन्य कुछ नहीं है**—घर स्त्री पुत्र आदिक मेरे हैं—ऐसे विचार करना भूल है क्योंकि समय आनेपर, कर्मोदय आनेपर कोई भी सहायक नहीं होते हैं। देखो भगवान आदिनाथ जिनके इन्द्र किंकर थे, भगवानके चरणोंमें हमेशा सेवाभावसे तैयार थे किन्तु कर्मोदय आनेपर भगवानको भी मुनि अवस्थामें ६ महीने तक आहार नहीं मिला, ६ महीने तक पानी पीनेको नहीं मिला। सुकुमाल मुनिको देखो स्यालनी २–३ दिन तक बराबर उनके शरीरका भक्षण करती रही। यदि कोई उस मार्गसे आता तो वह उस स्यालनीको भगा देता अथवा देवतागण ही कोई सहायता करते, किन्तु कर्मोदयके सामने किसीकी नहीं चलती है। कर्मसे जब तक डरते रहो तब तक वह डराता है और अगर उसके सामने आ करके डट जाओ तो वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

**उदार होनेसे पाप भी भाग जाता है**—एक कथा है हालांकि वह किंवदन्ती है फिर भी उससे तत्व ग्रहण करो। एक बार ब्रह्मा तकदीर बना रहा था। तकदीर बनाते-बनाते अन्तमें एक लड़केकी तकदीर बनाई और उसे एक बड़े करोड़पति सेठके यहाँ भेजनेका निर्णय किया और उसकी तकदीरमें लिखा—एक काला घोड़ा और ५) रुपये। इतनेमें साधु जी वहांसे निकले। उन्होंने ब्रह्मासे पूछा—क्या कर रहे हो? ब्रह्मा बोले तकदीर बना रहा हूँ। साधु जी ने पूछा कि तकदीरमें क्या लिखा है? तब ब्रह्माने कहा कि इस लड़केको एक करोड़पतिके यहां भेजना है और इसकी तकदीरमें एक काला घोड़ा और ५) रुपये रहेंगे। तब साधु जी बोले कि ऐसा मत करो। इस लड़केको गरीबके घर भेजो तो काला घोड़ा और ५) रुपये रहने दो वरन् उसकी तकदीरमें करोड़पतिकी दौलत लिखो। ब्रह्मा बोला—इसमें तुम्हारा क्या—हमें जो कुछ करना है सो करना है तुम कौन? साधु जी को कुछ क्रोध आ गया। सो वे बोले, अच्छा तुम काला घोड़ा और ५) रुपये लिखो। मैं इसको मिटाके रहूंगा। यदि न मिटाया तो मेरा नाम साधु नहीं। इतना कहके साधु वहांसे चले गये।

कुछ दिन बाद जब सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, मकान आदि बिक गये और वही काला घोड़ा और ५) रुपये पासमें बचे, तब वही साधु उस लड़केका नाम ठिकाना पूछकर उसके पास आया और बोला कि बच्चे ! जैसा मैं कहूं वैसा करना। लड़का बोला ठीक है जैसा हुक्म दोगे वैसा ही मैं काम करूंगा। साधु बोला—जाओ इस घोड़ेको बेच आओ। लड़का घोड़ेको बेच आया १०) रुपये घोड़ेके मिले। साधु बोले, ये ५) रुपये और मिला दो, सबका अच्छा भोजन लाकर गरीबोंको बांट दो। लड़केने वैसा ही किया। दूसरे दिन ब्रह्मा ने एक काला घोड़ा और ५) रुपये फिर भेजे। साधुने फिर वैसा कराया—इस तरह बहुत दिन हो गये तो ब्रह्मा जी बोले कि साधु जी आप क्या कराते हैं ? साधु बोला कि हमने तो पहले ही आपसे कहा था ऐसा मत करो। ब्रह्मा जी बोले—अच्छा अब आप बताओ क्या करूं ? साधुने कहा, इसकी तकदीरमें इसके माता पिताकी दौलत लिखो। ब्रह्माने वैसा ही लिखा। तो इस तरहसे अगर कर्मके सामने आकर डट जाओगे याने कर्मके फलसे भिन्न निज चैतन्य स्वभावपर दृष्टि कर लोगे तो वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। कर्मोदयसे दो बातें ही तो होंगी। पहली तो दरिद्रता और दूसरा मरण। सो अगर आप इन्हींको निमंत्रण देने लगे, आप इनसे भय न करो तो कर्म क्या बिगाड़ सकता है ?

**हानि तो मात्र बाह्य प्रकरण है**—कोई दुष्ट पुरुष अपने साथमें लग जावे और यह ज्ञात हो जावे कि इससे इतनी हानि होगी और आप उतनी हानि पहले से ही समझ लो—फिर वह क्या करेगा ? भैया ! आप जिस भावको अरुचिकर मानते हैं उससे दूर रहते हो, घृणा करते हो, किन्तु आत्म-कल्याण करनेके लिये, मोक्षमार्ग पानेके लिये जब तक इसका सहारा नहीं लोगे तब तक मोक्ष हो ही नहीं सकता है। आप दूसरेका खाना और भीख माँगना इसको बुरा मानते हो। किन्तु दूसरेका खाये बिना अर्थात् अपना भी खाकर कभी कल्याण मार्ग नहीं हो सकता है। भिक्षा लेना भी मोक्ष मार्गमें एक व्रत है। किन्तु वह भीख लेवे गौरवके साथ। कभी भीखके न मिलने पर भी प्रसन्न रहे।

गृहस्थावस्थामें हमेशा मुनि बननेके भाव रहें क्योंकि जिसके भाव मुनि बननेके होंगे वह हमेशा शुद्ध आचरण, शुद्ध भोजन करेगा, मुनियोंको आहार देगा, आहार देनेसे आहार की विधि सीखेगा। शुद्ध भोजन करनेसे बहुत धर्मके साधन कार्य होते हैं। इसलिये हमेशा शुद्ध भोजन करनेका नियम करना चाहिये। यदि हमेशाके लिये न हो सके तो इतना तो अवश्य करना चाहिये कि जब तक घरमें रहेंगे शुद्ध भोजन करेंगे। बाहरकी बात जाने दीजिये। इसका तात्पर्य यह है कि चौके पर अशुद्ध भोजन नहीं बनाना चाहिये। शुद्ध भोजन करनेसे बहुत ही पुण्यका बंध होगा। हमेशा अशुद्ध भोजन न करनेका नियम प्रत्येक व्यक्तिको लेना चाहिये। यह सब व्यावहारिक है, इनमें जिन्दगी व्यतीत हो; ध्यान; लक्ष्य

निर्विकल्प तत्त्वका हो।

स्वतंत्रता सत्त्वासिद्ध अधिकार है—संसारके अन्दर जितने भी द्रव्य हैं वे सब अपना अलग रूप रखते हैं, कोई किसीके सम्बन्धसे नहीं परिणमता है, किसीका सम्बन्ध किसीसे नहीं है। सबका रूप भिन्न-भिन्न है। अगर उनका स्वरूप एक दूसरेसे मिल सके तो संकर दोप पैदा हो जावेगा और संकर दोप पैदा हो जाने पर द्रव्योंका अभाव हो जावेगा। अतः सर्व स्वतन्त्र है। छह द्रव्योंमें चार द्रव्य तो हमेशा ही शुद्ध रहते है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों द्रव्य हमेशा शुद्ध रहते हैं। जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे हैं, जिसमें वैभाविक परिणतियाँ हो जाती है, किन्तु पुद्गल द्रव्य तो जड़ है। इसलिये उसका कुछ भी विगाड़ नहीं होता है। वह किसी भी रूपमें आ जावे तो भी उसका कोई बिगाड़ नहीं होता है। कारण कि वह निर्जीव है, जड़ है। यदि अपने से च्युत होवे तो उसे हानि है। जीवका विभाव परिणतिमें, बंधकथामें हानि है। जहाँ बंधकथा है वहीं पर विसम्वादकता है। इसलिये आत्माका जो सहज स्वरूप है उसे ही हमेशा दृष्टिमें रखना चाहिये। बंधकथासे विसम्वाद उत्पन्न होता है और विसम्वादसे दुःख होते हैं। एकमें कोई विसम्वाद नहीं किन्तु जहाँ और अन्यकी कल्पना हुई वहाँ ही आपत्तियाँ आ जाती हैं। एक चुटकला है। स्त्री पुरुष दोनों खाटपर सो रहे थे, उनके संतान कोई थी नहीं। स्त्री अपने पतिसे बोली कि अगर तुम्हारे लड़का हो जावे तो तुम उसे कहाँ पर सुलाओगे? सो वह आदमी खाटसे जरा हटकर सोया कि यहाँ पर सुलाऊंगा। स्त्री बोली कि कहीं दो लड़के हो गये तो कहां सुलाओगे? जैसे ही वह पीछेको हटा सो जमीनपर गिर पड़ा और ऐसा गिरा कि उसका पैर टूट गया। उसके टूटे पैरको देखकर आदमी उससे पूछे कि तुम्हारा पैर कैसे टूट गया? वह कहे कि भैया! पुत्रके विचारके संकल्पसे मेरा पैर टूट गया, किन्तु तुम लोग बहुत पुण्यवान् हो, शक्तिशाली हो कि लड़के होते हुए भी तुम्हारे पैर नहीं टूटे हैं। और भैया! आत्माके पैर दो ज्ञान दर्शन हैं जिसपर आत्मस्वरूप अवलंबित है। वे टूट ही गये, कहनेका तात्पर्य है कि बंधकथासे विसम्वाद होता है, और उसके द्वारा ही ये दुःख मिलते है। विभाव का रिश्ता बंधकथा है। मनुष्य चौबीस घंटे अथवा यों कहो कि दिन और रात ही बंधकथामें फंसा है। इसका उपकार हो जावे यह सत् मार्गपर आ जावे ऐसे विचार करना भी बंध-कथा है, वह विकल्प है, विकल्प हित नहीं। क्योंकि इन विचारोंसे भी मनमें विकलता होती है। विकल परिणामोंसे दुःख होता है। कोई कहे कि फिर तो उपदेश भी नहीं देना चाहिये, सो भैया! समय पा करके हितका मार्ग बता दिया, उसका विवेचन किया, समझा दिया वह समझे या न समझे। जिसकी समझमें उपदेश आ गया, जो एकत्वको समझ गया उसका कल्याण हो जावेगा। किन्तु इसे भी विकल्प समझे। दुनियामें जीवको रुलाने वाला,

संसारसागरमें भ्रमण कराने वाला यदि कोई है तो मोह है। मोहकी प्रबलता इस जीवमें अधिक है। देखा जाता है कि कबूतरके मर जानेपर नागके मर जानेपर कबूतरनी नागिन भी अपने प्राण दे देती हैं, वह मर जाती हैं। तिर्यंचोंकी बात जाने दीजिये, मनुष्योंमें भी पतिके मरनेपर स्त्री सती हो जाया करती थीं, वे पतिके साथ स्वयं जलकर प्राण दे देती थीं। ये है मोहकी पराकाष्ठा। स्त्रीके मरनेपर पुरुष पागल कर्तव्यहीन हो जाते हैं। यह देख लो मोहका पुतला। जब तक जीव इस मोहको नहीं फाड़ेगा तब तक वह अपना कल्याण, अपना उद्धार नहीं कर सकता है। मोह राग, द्वेषादि ये ही तो असली बंधकथा है। पर्यायको आत्मा मानना, अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें राग करना कि ये मेरे हैं यही सब तो बंधकथा है भैया यही विसम्वाद है। शुद्ध आत्मद्रव्य मानना ये भी बंधकथा है; जितना भी भेद कथन है वह सभी बंधकथा है। इसलिये अभेददृष्टिसे आत्माको देखो, समस्त द्रव्योंको अभेददृष्टिसे देखो तभी कल्याणमार्ग मिलेगा।

भैया! निश्चयकी बात भी व्यवहारसे कही जाती है। कहते हैं कि निश्चयसे तो बात ऐसी है किन्तु व्यवहारसे ऐसी कही जाती है। निश्चयका प्रतिपादन तो किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि निश्चय तो अवाच्य है। एक एक हो रहे तो भला है।

पुद्गलके सड़ानका कारण आत्माकी मलिनता—पुद्गल द्रव्य कभी सड़ता गलता नहीं है! हम और आप जितने भी ये पुद्गलके स्कंध देखते हैं ये सड़ते गलते हैं किन्तु जब तक इनमें त्रस जीव पैदा नहीं होते हैं तभी वह सड़ने लगता है। आम, खरबूजा आदि ये जितने भी हैं ये स्वयं कभी नहीं सड़ते हैं किन्तु उनमें जब त्रस जीव पैदा हो जाते हैं तब यह सड़ने लगता है। कहनेका मतलब है कि पुद्गल स्वयं अपवित्र नहीं है किन्तु उसको अपवित्र बनानेके लिये मुख्य चीज है आत्माकी मलीनता। मलीनताके संसर्गसे ही यह अपवित्र होता है। जैसे पसीना निकलता है, सो यह अपवित्र है क्योंकि वह मलीन कायसे पैदा हुआ है। काय मलीन क्यों? मलिन आत्माका संसर्ग है; इसी तरह अन्योंमें लगाना चाहिये।

अस्पृश्य तो पाप है—आप दुनियामें देखते हो कि एक लड़का गधासे छू जाता है तो सभी लोग कहते हैं कि तू हमें मत छूना क्योंकि वह अपवित्र है, और अगर वही लड़का दूसरे लड़केको छू लेता है तो उसे भी कोई नहीं छूता है। इस तरहसे दो से तीन, तीनसे चार जितने भी उस लड़केसे छुवते जाते हैं वे सभी अपवित्र हो जाते हैं—ऐसी लोकमें पद्धति है। किन्तु आप विचार करो कि क्या ये सब अपवित्र हैं? या जिससे ये छुये गये हैं वह लड़का अपवित्र है? जब हम इस दृष्टिसे देखेंगे तो अन्तमें गधा ही अपवित्र ठहरता। लोकमें लड़का अपवित्र नहीं है। इसी तरहसे आत्मामें जो रागद्वेष मोहादिक हैं वही अपवित्र हैं वही खराब है। यह बंधका फल है। आत्मा शुद्ध है, चेतनस्वरूप है, ज्ञानमय है ध्रुव है।

यदि इस तरहकी एकता वर्तमान ज्ञानपर्यायें प्राप्त हो जावें तो आत्माका कल्याण हो जावे। इसलिये एकताको प्राप्त होनेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

**आत्महितका ध्यान न होना अक्षम्य अपराध है**—जगतमें जितने भी देहधारी मिलते हैं वे सभी जीव कहलाते हैं, इनमें से आप और हम भी हैं, ये जीव किसी न किसी गतिसे आये हैं। जीव कहो, आत्मा कहो एक ही बात है। यह संसारकी फिरन आपको आपकी पहिचान विना हो रही है। जो प्राणी या मनुष्य अपनी आत्माका ध्यान नहीं रखते वे मोही हैं, मूढ़ हैं, पापी कहो, आत्मघाती कहो, मिथ्यात्वी कहो एक ही बात है। किसी भी शब्दसे कहो सभी उसके ही वचन हैं। इस परबुद्धिमें आनन्द नहीं मिलेगा, इसलिये अपनी आत्माका परिचय पाकर अपना हित करनेके लिये प्रयत्न करो। इस शरीरकी सेवा तेल मर्दन, अच्छा भोजन आदि लौकिक उत्तरोत्तर पदार्थ आत्महितके साधन नहीं हैं। यह शरीर तो आपका निमित्त शत्रु है, ये किसीका साथी नहीं है, इसलिये इस शरीरसे मोहको छोड़ करके अपने हितके मार्गको देखो। दुनियामें जितने भी पदार्थ हैं उनमेंसे कोई भी आपका हित नहीं कर सकता, कोई भी आपका हितकारी नहीं है। अपना लक्ष्य बनाओ कि हमें तो अपना हित करना है सो राग द्वेष मोहको छोड़ करके एकत्वको प्राप्त हो जाओ। यही हित का उपाय है। आत्माको आत्माकी दृष्टि प्राप्त होनेपर सम्यग्दर्शन होता है। उससे अपना स्वरूप ज्ञात होता है। तव वह सोचता है कि दुनियामें मेरा कोई शत्रु नहीं है, मैं समस्त जीवोंको क्षमा करता हूं। और मैं भी सब जीवोंसे क्षमा चाहता हूं। मेरे द्वारा किसी प्राणी को कोई कष्ट हुआ हो तो वे क्षमा करें। खम्मामिसव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमन्त मे। इस तरहके भाव वह करता है और पश्चात् निज उत्तमपदमें पहुँचता है तो वह अपना हित करता है, किन्तु जो इससे विपरीत विचारता है वह अपना हित नहीं कर पाता है। उसका मनुष्य जीवन ही व्यर्थ रहता है। भैया! यह मनुष्य जन्म बहुत ही कठिनाईसे प्राप्त होता है। इसलिये इसे व्यर्थमें नहीं खोना चाहिए। एकत्व दृष्टि प्राप्त करके ही आत्माका हित हो सकता है वह करें।

**दुनियांमें कोई किसीका सहायक नहीं है**—कोई ऐसी वस्तु नहीं, कोई ऐसी शक्ति नहीं जो तुम्हारा सहायक बन सके। द्वारिकादहनके समय श्रीकृष्ण और बलदेव अपने माता पिता को लेकर भगानेका प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु चारों ओरसे अग्निने आ घेरा, तब श्रीकृष्णने रथमें सबको बिठा रथ भगाना शुरू किया। रथ थोड़ी दूर जाकर रुक गया। घोड़ोंके पैर जम गये। इतनेमें ही ऊपरसे आकाशवाणी होती है कि तुम दोनों भाइयोंको छोड़ और कोई भी नहीं बच सकता है, अतः तुम्हारे सारे प्रयत्न निष्फल हैं। इतना सुन श्रीकृष्णके माता पिता बोले कि तुम लोग भाग जाओ हमें तुम नहीं बचा सकते हो। हमारे

उदयमें जो होना है सो होगा उसे कोई भी नहीं मेट सकता है। तब श्रीकृष्ण और बलदेव वहाँसे हट गये और अपने माता पिता को अपनी आँखोंसे जलते देखते रहे। वहाँ पर उनकी कोई शक्ति काममें नहीं आई। कहनेका मतलब है कि दुनियाँमें कोई किसीका हित अहित नहीं कर सकता है। आत्मा परपदार्थोंमें यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूं ऐसे विचार कर अपना अहित करता है, दुःख पाता है। अपनेमें एकत्व दृष्टि करे कि मैं तो एक ध्रुव हूं जगतके पदार्थोंसे मेरा कोई संबंध नहीं है तो वह इस तरहके विचारोंसे अपना हित तथा सुख प्राप्त करता है।

शरीरकी कोई परिस्थिति होओ, आत्मा तो आनन्दमय आत्मध्यानसे हो ही जाता है। आत्मा एक है। यह अकेला आता है और अकेला जाता है। कर्मोंका अकेला भोक्ता है, स्वयं ही कर्ता है। इसलिये इस आत्माको शुद्धदृष्टिसे पवित्र बनाकर सुख प्राप्ति करना चाहिए। आत्मा यदि पवित्र हो गया तो निश्चित है कि अगले भवमें भी सुखकी प्राप्ति होगी। और अगर आत्माको पवित्र नहीं बनाया तो दोनों—इस लोकमें और परलोकमें दुःख होगा। पवित्र हृदयमें, शुद्ध हृदयमें ही भगवान विराजमान होते है। शुद्ध हृदयमें ही धर्म विराजमान होता है, जो हृदय शुद्ध नहीं है उस हृदयमें भगवानका वास नहीं है।

**आनंद पाना स्वयंके बसकी बात है**—सुख पानेकी जरासी तरकीब है, जरासा उपाय है किन्तु करना आपको ही है। सहजसुखस्वभावी निज आत्मद्रव्यको देखो। सुख-प्राप्तिके लिये अपनी आत्माको पवित्र बनाओ, निर्मल बनाओ; तभी सच्चा सुख प्राप्त होगा। सुख कहीं बाहरसे नहीं आता है। सुख आत्माका एक गुण है, अतः वह आत्मासे ही प्रकट होता है। किन्तु आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ यह संसारी जीव अन्य परपदार्थो परवस्तुओं में सुख ढूंढता है, सुखकी खोज करता हुआ यत्र तत्र फिरता है। जैसे कस्तूरीको धारण किये हुये हिरण उसकी खुशबूको पानेके लिये इधरसे उधर भागता फिरता है, किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि जिसे पानेके लिये मैं इतना व्याकुल हूँ, जिसको प्राप्त करने के लिये मैं इधर उधर भाग रहा हूँ वह वस्तु तो मेरेमें मौजूद है। यह सारा भटकना अज्ञानसे हुआ है। अब अज्ञानतमका ध्वंस करो और ज्ञान प्राप्ति करो। जहां आत्मबोध हुआ कि मैं तो स्वतंत्र हूँ, समस्त परपदार्थोंसे भिन्न हूँ, वहां पर सबसे राग द्वेष हटकर अपनी आत्माकी ओर ही प्रवृत्ति जाती है।

**दुर्भाव दूर होते ही सद्भाव हो जाता है**—एक कथा है। दो सेठ थे। एक लखपति दूसरा करोड़पति। एक बार किसी कारणसे उन दोनोंमें खटापटी हो गई, वैमनस्यता बढ़ी, उन दोनोंका बोलचाल बंद हो गया। एक बार एक साथ एक टाइममें विराग हुआ, सो एक दूसरेसे क्षमा माँगनेकी तैयारी करने लगे। एक अपनी मोटरपर सवार होकर चला और

दूसरा अपने तांगेपर सवार होकर चला। रास्तेमें दोनों मिल गये। सो बिना कहे सुने एक दूसरेके गलेसे मिल गये। किसीने किसीका कसूर नहीं बताया, किन्तु अपने रागद्वेष मोहादिकको हटाया। अपने मनसे रागद्वेष मोहको हटाओ और ज्ञानकी प्राप्ति करो, क्योंकि ज्ञान से ही आत्माका कल्याण हो सकता है। ज्ञानके लिये अध्ययन अत्यावश्यक है, इसलिये एक गोष्ठी बनाओ और उसमें एक पुस्तक विद्यार्थीकी भाँति पढ़ो, अध्ययनसे ज्ञानवृद्धि होती है। हाय बड़ा कष्ट है—ज्ञानमय तो यह स्वयं आत्मा है और स्वयंको जाननेके लिये भी इसे यत्न करना पड़ता है। कोई मूर्ख पुरुष एक अमूल्य हीरा अपनी गांठमें बांधे है किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि यह हीरा है यदि मैं इसे बेच डालूं याने उपयोगमें ले लूं तो अपनी निर्धनताको छोड़कर बहुतसा धन प्राप्त कर सकता हूँ। इन बातोंका बोध भी उसे नहीं है। इसलिये वह निर्धनताको प्राप्त है और जिस समय उसे हीरेका मूल्य ज्ञात हो जाता है तब यह निर्धन नहीं रहता है। इसी तरहसे यह आपकी आत्मा कितनी वैभवशाली है, किन्तु आपको स्वयं अपने आत्माके वैभव ज्ञात नहीं है, अतः दुःखी है। जिस क्षण अपने वैभवका बोध होगा, क्लेश मिट जावेगा।

**आनन्दका उपाय आनन्द है**—आत्मा अटूट आनन्दका भण्डार है। किन्तु उसे प्राप्त करनेका उपाय संसारके विषयभोगोंकी ओर दौड़ना नहीं है, बल्कि उन विषयभोगों को त्यागकर आत्मलीन होकर ही सहज आनन्द पानेका मार्ग मिलता है। इसी मार्गपर चलकर बड़े ऋषि मुनियोंने, चक्रवर्तियोंने उस आनन्दको पाया। हालांकि गृहस्थावस्थामें उन लोगोंको समस्त सांसारिक सुख मिले थे। लोकदृष्टिसे किसीको कमी नहीं थी किन्तु उन सांसारिक सुखोंसे उन्हें शान्ति नहीं मिली, उन्होंने उन सांसारिक सुखोंको ठोकर मारकर संसारके कोलाहलसे दूर शांत एकांतवनमें आत्मध्यान लगाया, जिससे उन्होंने जन्ममरणके दुःखोंसे छुटकारा पाकर अनन्त निराकुल आनन्द पाया। यह सब महिमा है निज एकत्व दृष्टि की इसलिये अपनेमें एकत्व भाव पैदा करो। एक दृष्टिसे आत्माको देखो। जहाँ जीवने मोह दृष्टि की वहींपर बंधकथा है और बंधकथासे अनेक विसम्वाद उत्पन्न होते हैं। इन विसम्वादोंसे अनेक झगड़े, अनेक विकल्प पैदा होते हैं। विकल्पोंसे रहित अवस्थामें ही सुख है। देखो भैया! आचार्योंने कहा है कि पुण्य और पापमें भी विकल्प नहीं करना चाहिये। पुण्य पाप दोनों विकारी भाव है, अहित हैं। छहढालामें कहा है कि—पुण्य पाप फलमांहि हरष बिलखो मत भाई। यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै फिर थाई॥ लाख बातकी बात यही निश्चय उर लाओ। तोरि सकल जग-दंद फंद निज आतम ध्याओ॥

कहते हैं, हे भाई! धनादिक पुण्यके फल हैं सो उन्हें देखकर खुश मत होओ। तथा रोग वियोगको दुःखका फल जानकर शोक मत करो, क्योंकि ये पुण्य पाप पुद्गलकी अवस्थायें

हैं जो पैदा हो करके फिर नाश हो जाती हैं। इसलिये लाख बातकी यही बात है कि समस्त जगके दंद फंदोंको तोड़कर आत्मध्यानमें लीन हो जाओ। आत्माका एकत्व जब होता है तभी अनन्त शाश्वत निराकुल सुख प्राप्त होता है।

**इच्छाका अभाव ही सुख है**—संसारमें जितने भी जीव हैं वे सभी सुख चाहते हैं। सुख पानेके लिये वे अनेक तरहकी क्रियायें करते हैं। त्यागी, व्रती, श्रावक, ज्ञानी, अज्ञानी सभी सुखके लिये अच्छेसे अच्छा काम तथा बुरेसे बुरा काम भी करता है, फिर भी वह सुखी नहीं होता है। इसका क्या कारण है?

इसका कारण है कि उन्होंने सुखके कारणोंको, सुखके मार्गको नहीं समझा है। किन्तु जिन्होंने सुखके कारणोंको, सुखके मार्गको समझा है वह हमेशा सुखी निराकुल रहते हैं। सुखके बारेमें छहढालामें कहा है कि आकुलता बिन कहिये, यानी वह सुख आकुलताके बिना है। जहाँ इच्छाओंका अभाव है वहींपर सुख है। अभी भी सुख जितने हो रहे हैं वे इच्छाके अभावसे हो रहे हैं, किन्तु मोही जीव इस तथ्यको स्वीकार नहीं कर सकता। किसी के पास एक मित्रका पत्र आया, उसमें मिलनेके बाबत लिखा था। उसी समयसे उनके मन में मिलनेकी आकुलता होने लगी, और उसी समयसे मिलनेकी प्रतीक्षामें अपने दैनिक कार्यों से जल्दी निपट करके स्टेशन पहुंचा। किन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि गाड़ी आधा घंटा लेट है तो उसके मनमें और भी अधिक आकुलता होने लगी। जैसे तैसे गाड़ी आई और मित्रसे मिले। मिलनेके बाद कुछ सुख मिला। अब आप हमें बताओ कि वह सुख मित्रके मिलनेसे हुआ अथवा जो उसके अन्दर आकुलित भाव थे सो उनके मिटनेपर सुख हुआ, किन्तु जो आकुलता थी, मित्रसे मिलनेकी इच्छा थी उस इच्छाके शांत होनेपर सुख हुआ है। ऐसा ही सर्वत्र है। इच्छा दूर हो तो और आनन्द आ जाता है।

इसलिये समस्त इच्छाओंका नाश करना चाहिए। इच्छानाशके लिये ज्ञानप्राप्ति करना चाहिये। ज्ञानके द्वारा ही इच्छाओंका दमन होगा और तभी सच्चा सुख मिलेगा। आज दुनिया जिसे ज्ञान माने वह ज्ञान नहीं है, वह तो अज्ञान है अथवा विज्ञान है। आज सारा जगत, सारा संसार इस ज्ञानसे दुखी है। क्योंकि सभीके अन्दर नाना तरहकी इच्छाओं का वास है। सभी कहते हैं कि यह मेरा है, यह मेरा है, मैं इसका कर्ता हूं, मैं इसका स्वामी हूं, इसका भोक्ता हूँ, मैं ही इनका सर्वस्व हूं। किन्तु यथार्थमें यह कुछ भी तेरे नहीं है, यह तो सब अज्ञान एवं मिथ्यात्व है।

**सम्यग्ज्ञान ही भ्रमका नाशक है**—द्रव्यका यथार्थ ज्ञाता हो, सर्व स्वतंत्रताकी प्रतीति हो तो क्लेश दूर हो लेंगे। जगतमें समस्त द्रव्य कितने हैं? जातिकी अपेक्षासे तो द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। द्रव्यापेक्षासे द्रव्य अनंतानंत हैं, अनंत जीव-

द्रव्य, अनंतानंत पुद्गल द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। द्रव्योंके जाननेके लिये, समझनेके लिये दो बातें हैं। एक तो जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके, जिसका दूसरा खण्ड भाग न होवे वही द्रव्य है। जिसका खंड होता है वह द्रव्य नहीं है। जैसे ये दिखने वाली पुद्गल स्कंध है, यह द्रव्य नहीं है क्योंकि इनके टुकड़े हो जाते हैं। पति पत्नी द्रव्य नहीं क्योंकि वे एक नहीं वे अलग-अलग हैं। जड़ चेतनका समूह हैं। इस तरह जिसका दूसरा टुकड़ा न होवे, दूसरा खंड न होवे वह द्रव्य है। आत्माके खंड नहीं होते, आत्मा अखंड है इसलिये प्रत्येक आत्मा एक एक द्रव्य है। प्रत्येक पुद्गल परमाणु एक द्रव्य है। दूसरे एकके परिणमनसे दूसरा नहीं परिणमे, ऐसी केवल की परिणति जहां हो सो द्रव्य है। दुनियांमें कोई किसीके परिणमनसे नहीं परिणमता है, सभी अपने परिणमनसे ही परिणमते हैं। किसी ने नौकरको आज्ञा दी कि अमुक काम करो और वह करने लगता है सो मालिक विचारता है कि उसने मेरी आज्ञासे कार्य किया किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। नौकरने अपने स्वार्थसे अपनी इच्छासे कार्य किया। संसारका कोई भी पदार्थ दूसरेके परिणमनसे नहीं परिणमता है। आप जो कुछ भी करते हैं सो अपने लिये करते हैं अपने सुखके लिये करते हैं।

**सभी अपना दुःख मेटनेकी चेष्टा करते हैं**—एक जज साहब थे। वे अपनी मोटरसे कचहरी जा रहे थे। रास्तेमें कीचड़के अन्दर एक गधा फंसा हुआ था और बहुत ही दुःखी था। इस गधेको देख करके जज साहबके हृदयमें बहुत दुःख हुआ, अनेक विकल्प हुये, तो जज साहब अपनी मोटरसे उतर कर उस गधेको निकालने लगे। तब सिपाही बोले कि आप रहने दीजिये हम लोग इसे निकाले देते हैं। किन्तु जज साहब ने स्वयं ही उसे कीचड़से बाहर निकाल दिया। इतनी क्रियामें कुछ कीचड़के दाग जज साहबके कपड़ोंपर भी लग गये। टाइम न रहनेसे वे बिना कपड़े बदले ही कचहरी चले गये। वहां पर उनके कपड़ों पर कीचड़के दाग देखकर लोग आपसमें कहने लगे कि आज क्या बात है कि जज साहब के कपड़ों पर कीचड़के दाग हैं? लोगोंको परस्पर बातचीत करते देखकर उन्होंने पूछा कि क्या बात है? तब उन्होंने कहा कि हम लोग तो यह कह रहे थे कि आपके कपड़ों पर ये दाग कैसे लगे? तब सिपाही बोले कि जज साहब बड़े दयालु है। एक गदहा कीचड़में फंसा था और बहुत दुखी था, सो आपने उसे कीचड़से बाहर निकाला, सो ये कीचड़के दाग कपड़ों पर आ गये हैं। इस बातको सुन करके जज साहब बोले कि हमने गदहेके ऊपर कृपा नहीं की बल्कि अपने ऊपर ही कृपा की है। यदि मैं उसे कीचड़के बाहर नहीं निकालता तो अभी यहां पर मेरे मनमें नाना तरहके विकल्प उठते कि गदहा कीचड़में फंसा है और वह दुखी हो रहा होगा, तो मुझे भी दुःख होता। इसलिये मैने तो अपने दुःखको दूर करनेके

लिये उसे बाहर निकाला है।

**वस्तुसे बाहर वस्तुकी गुण, पर्याय नहीं होती**—लोग कहते हैं कि हमारा तुम्हारे ऊपर बहुत प्रेम है, सो भैया ! वह प्रेम आपका आपके बाहर कैसे होता है ? आपकी वस्तु आपके ही अन्दर रहेगी। लोग भगवान की भक्ति करते हैं, तीर्थवंदना करने जाते हैं, दानादिक करते हैं किन्तु ये सभी कार्य स्वयंके लिये ही करते हैं। अपने दुःख मेटनेके लिये भगवानके पास जाते हैं, भगवानकी पूजा करते हैं, वे भगवानके प्रेमसे भगवानके पास नहीं जाते है। कोई कहे कि इस बातको उदाहरणपूर्वक समझाओ सो एक छोटासा उदाहरण है। एक आदमी गर्मीके दिनोंमें दोपहरके समय नंगे सिर और नंगे पैर मार्गमें जा रहा था। गर्मीसे व्याकुल होकर वह इधरसे उधर दृष्टि फेंकने लगा कि कहीं कोई छायादार पेड़ मिल जाये क्योंकि वह धूप उससे सह्य नहीं थी; वह धूपसे घबड़ा गया था। एक छायादार पेड़ मिलता है और वह उसके नीचे जा बैठता है। तो आप बताओ कि यह आदमी पेड़के प्रेमसे पेड़के नीचे आया अथवा अपने संताप दूर करने आया। वह पेड़के प्रेमसे पेड़के नीचे नहीं आया। यदि वह पेड़के प्रेमसे पेड़के नीचे आया होता तो उसे वहांसे जाना नहीं चाहिये, पेड़से चिपटकर ही रह जाना चाहिये किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। जब धूप कुछ कम होती है शामके पांच बजेका समय होता है तब वह वहांसे उठकर अपने गन्तव्य स्थानको चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वह पेड़के प्रेमसे पेड़के पास पेड़के नीचे नहीं आया, किन्तु पहले अपने दुःखोंको पिटानेके लिये पेड़के पास गया। इसी तरह भक्त अपने रागतापको मेटनेके लिये वीतरागकी भक्ति करता है तभी तो विराग होते ही भक्ति छूट जाती है। भगवानकी पूजा तो यह है कि भगवानने जो मार्ग बताया, जो उपदेश दिया उसपर चले। मार्गपर चलना ही भगवानकी सच्ची पूजा है। भगवानने तो यहां तक बताया है कि तुम मेरेसे भी राग छोड़कर, मेरा ध्यान छोड़कर अपनी आत्माका ध्यान करो तभी आपको सम्पूर्ण निराकुल सुख प्राप्त होगा।

**व्यवहार ऐसा अविरुद्ध करो जिससे स्वभावदृष्टिकी पात्रता समाप्त न हो जाय**—भैया ! अपने विशुद्ध परिणामोंसे दर्शन ज्ञानके मार्गपर लगो, ज्ञानके प्रकाशमें आओ, तभी आत्म-कल्याण होगा। एकत्वदृष्टि करनेका यत्न उनके हो पाता है जिनके व्यसन एवं हिंसात्मक वृत्तिका संस्कार नहीं रहता। ऐसा विशुद्ध बननेके लिये, भैया ! आवश्यक है कि मौलिक सदाचारोंसे आत्मबलको पुष्ट करें। आदरणीय श्री क्षु० पूर्णसागर जी ने जो अपना उपदेश दिया है कि प्रत्येक व्यक्तिको आठ मूल गुणोंको धारण करना चाहिये, सात व्यसनोंका त्याग करना चाहिये। क्योंकि जो इनका त्यागी नहीं वह नाम मात्रका जैन है। किन्तु नाम मात्रका जैन क्या, जिसने आठ मूल गुण धारण नहीं तथा सात व्यसनोंका त्याग नहीं

वह जैन नहीं है। वह जैनी नहीं कहला सकता है।

**जैनोंके मुख्य बाह्य चिन्ह**—पहले जैनियोंके मुख्य रूपसे तीन चिन्ह थे। पहला रात में भोजन नहीं करना, दूसरा पानी छानकर पीना, तीसरा प्रतिदिन मन्दिर जाना, देव-दर्शन करना। आजकल लोगोंको रात्रिमें भोजन छोड़नेमें बड़ी कठिनाइयां आती बताते हैं। वे कहते हैं कि हम नहीं छोड़ सकते हैं। सो उनसे हमारा कहना है कि वे पूर्ण रूपसे इसे पालन नहीं कर सकते हैं तो कमसे कम इतना तो करें कि रातमें रोटी, पूरी आदि अन्नकी चीज न खावें। अन्नकी चीजका त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिये। यह भी खेदकी बात है कि अब ऐसे उपदेशकी नौबत आ गई है। वैसे तो यह त्याग त्याग नहीं है, अभ्यासी श्रावकको भी ऐसा त्याग होता है कि वह जल औषधिके अतिरिक्त अन्य कुछ रात्रिमें ग्रहण नहीं कर सकता।

जीवदया—जैनोंका जैन धर्मका मुख्य सिद्धान्त है। अहिंसा: परमो धर्म:। अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है, सब देश अहिंसाका त्याग करना उत्तम है। घर गृहस्थमें सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता। अत: संकल्प करके किसी भी जीवको नहीं मारना, किसीको दु:ख न पहुँचाना, सो जीवदया है। जीवदयाका पालन भी प्रत्येक जैन भाईको करना चाहिये। बिना इन बातोंके आत्माका उद्धार नहीं होता है।

**आत्मसंस्कारका करना प्रारम्भ कर दो**—हम और आप यहाँ किस लिये इकट्ठे हुये हैं? इसलिये कि हम पंचकल्याण प्रतिष्ठा देखेंगे, कुछ ज्ञान प्राप्ति करें जिससे हमारी आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी। आज तप कल्याण है। स्वर्गसे लौकांतिक देव आये और उन्होंने भगवानकी बहुत ही प्रशंसा की, संसारसे विरागताको दिखाया। भगवानने दीक्षा ग्रहण की, खूब तप किया और अपनी आत्माको निर्मल पवित्र बनाया। हमने और आपने सब कुछ देखा और सुना किन्तु उसे अपने जीवनमें, अपने हृदयमें नहीं उतारा। तो सुननेसे कोई लाभ नहीं हुआ, हमारा यहाँ आना ही निष्फल रहा। इसलिये प्रत्येक बन्धुको, प्रत्येक जैन भाईको ज्ञानाभ्यासका संकल्प आठ मूल गुणोंका पालन, सात व्यसनोंका त्याग करना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इन पांच पापोंको त्यागना चाहिये। पानी हमेशा छान-कर ही पीना चाहिये। चाहे वह पानी नदी, कुये, तालाब किसीका हो किन्तु उसे छान लेना आवश्यक है। रसनेन्द्रिय-विजयी ही संयमी होते हैं। अल्पकाल जिह्वा इन्द्रियको वशमें करने से आजन्म निरोगता और संयमकी रक्षा होती है।

देखो भैया! मुनि और श्रावक पांचवे कालके कुछ सप्ताह शेष रहेंगे तब तक मुनि और श्रावक दोनों रहेंगे। जैन धर्म भी तभी तक रहेगा। श्रावकको चाहिये कि मुनि आदि पात्रके लिये शुद्ध पवित्र भोजन समयानुकूल सभक्ति देना चाहिये, जिससे कि उनके धर्मसाधन

में किसी तरहसे अशांति-उपद्रव पैदा न हों। वे अपने कार्यको, अपने चारित्रकी वृद्धि करते रहें, अपनी आत्माके साथ साथ संसारके प्राणियोंका कल्याण करते रहें और आपको धर्म-मार्गका दर्शन होता रहे।

**गुरु सन्मार्ग दर्शक होते हैं**—मुनिके द्वारा श्रावकोंका महान् उपकार होता है। वे उन्हें धर्मका उपदेश देते है, उन्हें सन्मार्गका प्रदर्शन कराते हैं। यदि मुनिगण उन लोगों को सन्मार्ग न दिखावें तो वे पथभ्रष्ट हो जावेंगे और अपने मनुष्य जीवनको व्यर्थ ही बरबाद करेंगे। इसलिये चाहिये कि उनके उपदेशोंसे अपनेको जाने कि हम क्या हैं ? हमारी आत्मा क्या है ? अपनेको जान करके अपना कल्याण करें। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो ज्ञान-उपार्जन करो। ज्ञानके द्वारा आत्माका कल्याण होगा। बिना ज्ञानके कुछ होनेका नहीं है। इसके लिये ज्ञानी गुरुओंका समागम करो। प्रभुके स्वरूपको ज्ञान करो। प्रभुके वीतराग भावकी महिमाको जानकर प्रभुस्वरुप की अतुल भक्ति करो, जिससे आत्मसाधनाको अनुपम सहायता प्राप्त हो। जिसे कल्याणकी वांछा है, उस गृहस्थको चाहिये कि प्रथम ही अपने को उक्त तीन बाह्य चिन्होंकी पालनासे सुसंस्कृत बनावे। पश्चात् सर्वविविक्त निज आत्मतत्व के एकत्वकी साधनामें तत्पर हो जावे।

**आत्माका ध्रुवस्वभाव आत्माका है**—बन्धुजन ! जीव एक स्वरूपवाला है। जीवका स्वभाव अखण्ड ध्रुव है। उस ध्रुवताका परिज्ञान हो जाना ही सुन्दर है। जब तक इस जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है तब तक यह जीव नाटक करता रहता है। गृहस्थ बनना, साधु बनना—ये सब नाटक होता है अर्थात् पर्याय ही तो हैं। कभी यह जीव नारकी, कभी तिर्यच, कभी देव, कभी मनुष्य आदि चारों गतियोंमें घूमता है, नाटक करता फिरता है। इन सभी नाटकोंमें फिरने वाला नाचने वाला एक आत्मा है। जब तक जीव को अपने स्वभावका ज्ञान नहीं होता है तब तक उसका कल्याण नहीं होता है। अर्हत सिद्ध अवस्था रूप स्वाभाविक नाटक नहीं आ पाता है। जीवका कल्याणकारी इस दुनियाँमें अगर कोई है तो सिर्फ धर्म है। धर्मको छोड़कर अन्य कोई भी इसका भाग नहीं कर सकता है। वे धनादिकसे आत्मका स्वल्प मात्र भी कल्याण नहीं होनेका। इसलिये जो मुमुक्षु हैं, आत्माका कल्याण करना चाहते है उन्हें चाहिये कि वे धर्मकी प्राप्ति करें। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि धर्म है क्या ? पूजा स्वाध्याय करना यह धर्म नहीं है। हां पूजासें धर्म होता अवश्य है किन्तु पूजारूप जो बाहरी क्रिया है वह धर्म नहीं है। ये पूजादिक बाहरी जितनी भी क्रियायें हैं ये सब शुभरागकी परिणतियोंके फल हैं और ये शुभराग धर्म के पहले होते हैं। इन शुभरागोंसे छूटते छूटते अन्तकी जो निर्विकल्प अवस्था है उसका नाम धर्म है, वीतरागताका नाम धर्म है। बिना शुभराग हुये धर्म नहीं होता है, किन्तु

शुभराग धर्म नहीं होता है, शुभराग धर्म नहीं है।

**खुद ही खुदका शरण है**—संसारमें इस जीवका कोई सहायक नहीं है। पुत्र, स्त्री, माता, पिता आदि जितने भी कुटुम्बी जन हैं, वे सभी तभी तकके साथी हैं जब तक उनका स्वार्थ रहता है। आप देखो दुनियामें बड़े-बड़े राजा, बड़े-बड़े धनी चक्रवर्ती हुये किन्तु इनका कोई भी प्रयत्न कालके ऊपर नहीं चला। यदि ये चाहते कि हमारे पास बुढ़ापा न आवे, मृत्यु हमारे पास न आवे तो क्या यह सम्भव हो सकता था? नहीं। तो देख लो धन, ऐश्वर्य, मान प्रतिष्ठा कोई भी आत्माका हित करने वाला नहीं है। आत्माका हित तो आत्माको जाननेपर ही होगा। वहींपर धर्म होता है। धर्म चेतनस्वरूप है। इसलिये आत्माके हितको चाहने वालोंको चाहिए कि आजकल जो चेतन तीर्थ है यानी ज्ञानी, साधु, मुनि हैं, सो १–२ महीने उनके पास घर छोड़कर रहे, वहांपर उनके लिये ज्ञानोपार्जन होगा, आत्मामें सुख और शांतिका अनुभव होगा। हमारे कहनेका अर्थ यह नहीं है कि आप तीर्थयात्रा बन्द कर दें। वह तो आप करो, तीर्थोंके दर्शन करनेसे वहांपर आत्मामें एक अलौकिक स्फूर्तिमय आनन्द प्राप्त होता है किन्तु इसके साथ यह भी करें कि जहांपर ज्ञानाभ्यास हो सके, अच्छी अच्छी चर्चा सुननेको मिले ऐसे स्थानपर रहें और अपनी आत्माका कल्याण करें। आत्मामें प्रमादवश बन्धकथाका समावेश हो गया है। बन्धकथासे विसम्वाद पैदा होते हैं और उन विसम्वादोंसे दुःख होते हैं। इसलिये सबको छोड़कर अपनी आत्माको देखो।

**आत्मामें एकत्व प्राप्त करो**—जब आत्मामें एकत्व भाव पैदा हो जावेगा तब पश्चात् यदि विकल्प हो तो विचार होंगे कि राग, द्वेष, मोह, क्रोध किसके लिये करना, और किन दर करना, क्योंकि ये बाह्य पदार्थ तो कुछ भी मेरे नहीं हैं, इनसे तो मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। एकका विचार करो, आत्मामें एकत्व करो। दो का याने संयोगका या निमित्तका विचार जहां हुआ वहींपर दुःख हुआ। लोगबाग कहते हैं ना कि हम तो द्विविधामें पड़ गये हैं। दोका विचार करना द्विविधामें पड़ना है। पुत्रादिकसे सुख नहीं होता है। पुत्र हो गये। यदि वे कपूत हो गये तो दुःख है। और यदि वे सपूत हो गये तो भी दुःख है। कपूतकी अपेक्षा सपूतसे कहीं अधिक दुःख हैं, सुपूत हो गया, तो उसकी बहुत चिन्ता करनी पड़ती है कि इसके लिये किसी तरहका दुःख न हो, इसके लिये खूब धन इकट्ठा करना चाहिये, आदि अनेक चितायें पैदा होती है। इसलिए भैया जब तक दो का विचार आत्मामें रहेगा तब तक सुख नहीं हो सकता है। सुख तो एकमें है। जब तक जीव अकेला रहता है तब तक वह सुख और आनंदका अनुभव करता है। किन्तु दुनियाका कोई भी जीव अपनेको अकेला माननेको तैयार नहीं है। जब कि वह वास्तविक अकेला है, अकेला आया है और अकेला जाता है। यह जीव अकेला है। जो भी वह करता है वह अपने लिये करता है। स्वयं ही

कर्ता है और स्वयं ही भोक्ता है। अपनेको देखो; अपनेको अकेला समझो। एकत्वमें ही धर्म है। आप देखते हो कि साधुजन, मुनि लोग जंगलोंमें क्यों जाते हैं? क्योंकि वे अपनेको अकेला मानते हैं, इसलिये वे घर बारको छोड़कर जंगलोंमें अकेले रहते हैं, वहांपर वे अपनी आत्माका ध्यान करते हैं, उस आत्मध्यानसे उन्हें अलौकिक सुख आनन्दकी प्राप्ति होती है। एकत्वका नाम ही धर्म है। जिसकी आत्मामें एकत्व उपयुक्त हो गया वही बड़ा है। इसलिये सुखार्थी जन जो हैं उन्हें समस्त परद्रव्योंसे अलग होकर अपनेमें एकत्व अनुभूत करना चाहिये।

**अध्रुव और खंडित भाव आत्माका एकत्व नहीं**—यह जीव अनेक बार नारकी, तिर्यंच, मनुष्य देव हुआ किन्तु कहीं पर भी रंचमात्र सुखानुभव नहीं किया। नारकी जीवों को कितने दुःख होते हैं यह सभी जानते हैं। उनकी देह इतनी विकराल होती है कि जब वे अन्य जीवको मारनेकी सोचते हैं कि मैं अमुकको कुल्हाड़ीसे मारूं तुरन्त ही उनका हाथ कुल्हाड़ी बन जाता है। उन्हें अलगसे शस्त्र आदि लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। तिर्यंचोंके दुःख प्रत्यक्षमें हैं; सर्दी गर्मी भूख प्यास आदि, शक्तिसे अधिक बोझा ढोना आदि। देवोंमें भी दुःख है। मनुष्य सोचते हैं कि देवोंमें तो सुख ही हैं क्योंकि वहाँ अमृत पान किया और क्षुधा शाँत हो गई सो भूख प्यासके कोई दुःख वहाँपर नहीं है सो सुखी होंगे। यह सोचना उनकी भूल है। देवताओंको भी अनेक दुःख रहते हैं। छोटी जातिके देव हुए, और उनसे बड़ा देव उनके ऊपर हकूमत करता है तब विकल्प होते है, कि यह मेरे ऊपर हकूमत करता है, मैं ही बड़ा क्यों न हुआ आदि। कुछ अच्छे पुण्यशाली देव हुये तो वे रागवश तृष्णावश, अहङ्कारवश नाना विकल्पोंके कष्ट भोगते हैं। मनुष्योंके भी दुःख प्रत्यक्ष है। किन्तु मनुष्योंमें सबसे बड़ी बात, उत्तम बात यह है कि उनके मन सबसे उत्कृष्ट होता है। इतना उत्कृष्ट मन अन्य किसी गतिमें नहीं है। देव ११ अंग और १४ पूर्वके पाठी होते है किन्तु वे श्रुतकेवली नहीं कहला सकते हैं। श्रुतकेवली तो मनुष्य ही कहलानेका पात्र है। इसलिये ऐसा उत्कृष्ट मन पाकर भी यदि अपना कल्याण नहीं किया तो इससे बढ़कर और मूर्खता क्या होगी?

**आत्मा स्वयं आनन्दमय है**—एक ब्राह्मणको किसीने बताया कि सुख और ज्ञानका मार्ग मगर भी बता सकता है। ब्राह्मण रास्तेमें जा रहा था। वहाँ उसे एक नदी मिली। नदीमें एक मगर जा रहा था। सो वह ब्राह्मण मगरको देखकर बोला कि हे भाई! तुम हमें यह बताओ कि हमारा कल्याण कैसे हो? हमें कोई सुखका मार्ग बताओ। तब मगर बोला कि मैं तुझे सुखका मार्ग बताऊंगा। किंतु इसके पहले हमारा एक काम कर। मैं बहुत दिनोंसे प्यासा हूं सो तुम एक लोटा जल हमारे लिये लाओ उसके बाद मैं सुखका मार्ग बताऊंगा। ब्राह्मण बोला कि हे मगर! तुम मूर्खताकी बातें करते हो; पानीके अन्दर रहते

हो; जरा सा मुंह खोलो और मनचाहा पानी पी लो। जब तुमने पानीमें रहते हुये अपनी प्यास नहीं बुझा पाई और अब कहते हो कि एक लोटा जल लाओ। उस एक लोटा जलसे तुम क्या अपनी प्यास बुझाओगे ? यह तो तुम्हारी मूर्खता है। तब मगर बोला कि हे भाई ! तुम मूर्खताका प्रश्न मेरेसे कर रहे हो, यह आत्मा अनन्त सुखका भंडार है इसमें अनन्त सुख विद्यमान है फिर भी तुम इधर उधर सुख ढूंढ रहे हो, सुखका मार्ग पूछ रहे हो। अपनी ओर लक्ष्य करो, अपनी आत्माको देखो, सुख ही सुख मिलेगा। कहनेका तात्पर्य कि इतना उत्कृष्ट मन प्राप्त करनेपर यदि इस जीवने अपना कल्याण नहीं कर पाया तो फिर उन्हीं गतियोंमें भटकना पड़ेगा जिनमें से यह निकलकर आया है। सो देखो भैया ! अगर अपना हित चाहते हो तो अपना आत्माको देखो, ज्ञानोपार्जन करो; बिना ज्ञानके कल्याण होना असम्भव है। आपकी आत्मामें अनंत शक्ति मौजूद है, आप जो करना चाहो सो कर सकते हो। आप यह प्रण करो कि हमें तो ज्ञान प्राप्त करना है। उसके लिये २४ घंटोंमें से दो घंटे ज्ञानोपार्जनमें लगाओ। धर्ममें ६ घन्टा लगाना तो हिसाबसे भी बैठता है। आपको याने गृहस्थको संसारमें ४ चार काम करना है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। चौथा जो मोक्ष है सो आजकल तो मोक्ष होता नहीं है। इसलिये मोक्षके स्थानपर सोना ले लो; खूब पैर फैला करके सोओ। मोक्षका प्रयोजन धर्ममें शामिल कर लो। तो चार काम हैं और २४ घण्टे है, तो २४ में ४का भाग देनेपर ६ आता है यानि ६ घन्टे प्रत्येक कामको मिलता है। सो आप इन प्रत्येक काममें ६ घण्टे लगाओ। आप जिस तरहसे यह कहते हो कि धर्म कहांसे करें, व्यापारसे तो फुरसत ही नहीं मिलती, यहाँ आप ऐसे विचार करने लगो, ऐसे कहो कि हम व्यापारमें अधिक समय कैसे लगावें, क्योंकि हमें धर्म करनेसे फुरसत ही नहीं मिलती। ज्ञानोपार्जन करो इससे मिथ्यात्वका नाश होगा, सम्यक्त्वकी प्राप्ति होगी।

**धर्मगतिमें पहला कदम है ज्ञानाभ्यास**— बहुतसे लोगों व माताओं व बहिनोंमें मिथ्यात्व अधिकतासे घर कर गया है। किसीको चेचक आदि निकले तो वे शीतला देवी, भवानी आदि अनेक प्रकारके देवोंको पूजते है किन्तु वे यह नहीं जानते हैं कि इसकी आयु यदि शेष होगी तो वह बच जावेगा वरन् जैसा होनहार है सो होगा। हम तो इसमें कुछ भी नहीं कर सकते है। हम बच्चोंको न जीवित कर सकते है और न सुखी कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह मिथ्यात्वको नाश करके निज वचनोमे श्रद्धा करे। वस्तु जैसी है वैसी ही उसे जाने, पदार्थका जैसा स्वरूप है उसमें उसी तरहकी श्रद्धा करे और सम्यक्त्वकी प्राप्ति करे। सम्यग्दर्शनसे ही आत्माका कल्याण हो सकता है, अन्यसे नहीं। इस सबके लिये पहिले ज्ञानाभ्यासका प्रयत्न करो।

**वस्तुका पारिणामिक भाव वस्तुका एकत्व भाव है**—वस्तुका स्वभाव वस्तुकी एकतामें है। प्रत्येक जीव अपने स्वभावसे एक ही प्रकार है। जीवमें या वस्तुमें दो प्रकारता हो ही

नहीं सकती। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावसे अपनेमें रहता है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, ये चार द्रव्य तो अपने स्वभावसे कभी भी च्युत नहीं होते हैं। हाँ पुद्गल व जीव अपने स्वभावसे च्युत होता है। सो अपने स्वभावसे च्युत होनेपर उसकी क्या दुर्दशा होती है सो तो प्रत्येक देखता है। आप देखते हो ये जितने भी पुद्गल स्कंध हैं, ये सभी काटे जाते हैं। एक रूपसे अनेक रूपमें परिवर्तित किये जाते हैं। ये सब अपने स्वभाव छोड़नेका फल है। ये पुद्गल स्कंध द्रव्य नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य तो वह है जिसे परमाणु कहते हैं, जो हमारे और आपके दिखनेमें नहीं आते हैं। द्रव्यका लक्षण पीछे विस्तारसे बता चुके हैं। द्रव्यकी पहिचान करनेके लिये मुख्य दो लक्षण हैं। पहला तो जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। जिसका दूसरा खण्ड न हो सके वह द्रव्य है। दूसरा, जो एकके परिणमनसे दूसरा न परिणमे सो वह एक द्रव्य है। हाँ तो आप जान गये होंगे कि अपना स्वरूप छोड़ने पर क्या हालत होती है?

**स्वभावसे विरुद्ध चलना अहित है**—पुद्गल द्रव्यकी बात जाने दीजिये क्योंकि वह अजीव है इसलिये उसे कुछ भी हानि नहीं पहुँचती। यदि जीवद्रव्य अपने स्वभावसे च्युत हो जावे तो फिर अनेक कठिनाइयां पैदा हो जावेंगी। अग्निका स्वभाव उष्णता है। यदि वह अपने उष्णपने को छोड़ दे तो उसकी क्या कीमत रहेगी? कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुका स्वभाव स्वयंमें ही है।

**पदार्थके बाहर पदार्थकी बात नहीं होती है**—जीव अपनेको ही जानता है किन्तु व्यवहारसे ऐसा भी कह देते हैं कि वह अन्यको भी जानता है। यथार्थतः तो वह अपनेको ही जानता है। वस्तुके बाहर वस्तुकी बात ही नहीं है। वस्तुके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उसमें ही रहते हैं न कि उसके बाहर। हमारा ज्ञान हममें है, वह हमसे बाहर नहीं है। जैसे कहते हैं कि हमने चौकीको जाना। सो हमने चौकीको कैसे जाना, हमारा ज्ञान चौकी तक कैसे पहुंचा? ज्ञान तो हमारा हममें है, चौकीको जान लेने की बात कहना व्यवहारसे चल गई है। वास्तवमें तो ज्ञानगुण जैसे आत्मप्रदेशोंमें है, ज्ञानगुणकी क्रिया भी आत्मप्रदेशों में ही है, ज्ञानगुणकी क्रिया है जानना। वह जानना ज्ञेयविषयक होता है अतः आत्मा अन्य ज्ञेयोंको जानता है ऐसा व्यवहारसे कहते हैं। ज्ञानोंमें ज्ञान वही है जो वस्तुके अद्वैतस्वरूपको देखे। यह आत्मा बाह्य क्षेत्रकी दृष्टिसे यद्यपि उस ही लोकमें रह रहा है जिसमें सर्वत्र अन्य जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य हैं तो भी किसी भी अन्य द्रव्य का मुझ आत्मामें प्रवेश नहीं है, मैं अपने ही गुणोंमें तन्मय हूँ, अपने एकत्वसे ही मैं हूँ। इस प्रकार अपने ही एकत्वको देखते हुए अपने ही एक सहज स्वभावमें अपने को देखना यही सर्वोत्तम व सुन्दर तत्त्व है। अहो! यह सुन्दरता तो सभी द्रव्योंमें है, मुझमें भी है,

किन्तु यह दुर्लभ क्यों हो गई अर्थात् इसकी उपलब्धि क्यों नही हो रही है इस संसारी जीवलोक को ? इस जिज्ञासाके समाधानमें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं—आत्मामें यह सुन्दर तत्त्व चित्स्वभावके नामसे प्रसिद्ध है। इसका दर्शन उपयोगकी अविशेषतासे होता है। इसके दर्शनके उपाय ये दो भी हो सकते है— (१) किसी भी बाह्य पदार्थपर दृष्टि नहीं देना, किसी भी परपदार्थमें उपयोग न लगाना और परमविश्रामपूर्वक उपयोगको अन्तरमें ठहरने देना। (२) अपने ज्ञानप्रकाशको फैलाते चले जाना, बीचमें कहीं नहीं अटकाना अर्थात् जितना जाना उससे भी आगे जानते जाओ किन्तु किसी भी पदार्थमें राग न करो, अटको नही, अपने ज्ञानको सारे लोकमें फैला दो, लोकसे बाहर अलोकमें भी फैला दो, जैसा भी फैल सकता है परोक्षज्ञान को ही फैला दो। इस उपायसे उपयोग अविशेष हो जायगा। इन उपायोंसे फिर सहज चित्स्वभावका अनुभव हो जावेगा।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

इस संसारी सब ही जीव लोक ने काम व भोगसम्बन्धी कथा सुनी है, उस ही का इसने परिचय किया है और उसी बंधकथाका इसने अनुभव भी किया है। इतना ही नहीं, अहर्निश उस काम भोग बन्धवाली वासनाका ही संस्कार बनाये रहता है, इस कारण इस जीवलोकको अपने आत्माके पवित्र अद्वैत सहजस्वरूपकी उपलब्धि सुलभ नहीं है। यह आत्मतत्व स्वभावत: सर्व अन्य द्रव्योसे विभक्त है, जुदा है तो भी इस मोही जीवलोकके वासनामें सभी अन्य पदार्थोंमें तन्मय है और व्यक्तित: जिन अन्य पदार्थोंके संसर्ग प्रसंगमें इष्टबुद्धि बनाये है उनमें आसक्त रहता है। इसी कारण पवित्र निज आत्मतत्त्वकी इसके खबर भी नहीं, रुचि भी नही। फिर इस मोही प्राणीको अपने एकत्वस्वरूपकी उपलब्धि कैसे हो ? इस बहिरात्माने बाह्यपदार्थोंको विषय बनाकर कर्म उपाधिका निमित्त पाकर राग, द्वेष, मोहमय अध्यवसान चक्रके मध्यमें अपने आपको रोप दिया है, ऐसा करते हुए इस जीवको कोई २०–२५ वर्ष ही नही हुए, किन्तु अनन्त कालसे ऐसा करता चला आ रहा है अर्थात् जबसे इस जीवकी सत्ता है तबसे यह मोही रागी द्वेषी बनता चला आ रहा है। इसकी सत्ता अनादिसे है सो अनादिसे ही ऐसी मलिनता भी इस बहिरात्मामें चली आ रही है। देखो इस सारी सृष्टिमें वैज्ञानिक तथ्य है—जीवके कषाय परिणाम होते हैं उसको निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मत्वरूपसे बंध जाती है, उनमें उसी समय स्थितिबंध भी हो जाता है, प्रकृति भी उसी समय पड़ जाती है, अनुराग भी उसी समय पड़ जाता है, प्रदेशोंका अर्थात् परमाणुवोंका तो वह पुञ्ज है ही। इसी तरह यहाँ भी देखो पूर्वबद्ध कर्मो का जब उदयकाल आता है तब जीवमें रागादि परिणाम होते है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक

सम्बन्ध होनेपर भी न तो कर्मकी किसी भी परिणतिके कारण जीवकी कोई परिणति हुई और न जीवकी किसी परिणतिके कारण कार्माणवर्गणावोंकी कोई परिणति हुई। सम्यग्ज्ञानमें ही इस अलौकिक मर्मका बोध होता है।

आत्माकी एकता अनादिसे अनंत तक अंतरङ्गमें है, फिर भी मोहके द्वारा इस जीव को वह असुलभ रही। मोहरूपी पिशाच जीवके पीछे इस तरहसे पड़ा है कि वह एक मिनट को भी उसका साथ नहीं छोड़ता। जीवको आत्मतत्त्वकी कथा जिससे आत्मकल्याण हो ऐसा वर्णन सुननेको नहीं मिला, और भाग्यवशात् कभी प्राप्त भी हुआ तो उसका उपयोग नहीं कर सका। किन्तु काम आदिक कथायें अनादि कालसे सुनता आ रहा है और उन्हींमें सुख मानता आ रहा है। यदि इस जीवको मोक्षसम्बन्धी कथा सुननेको मिले और वह उसपर उपयोग दे तो उसका दुःख नष्ट हो जावे। रागद्वेष ही दुःख हैं, ये जहाँ नष्ट हो जावें वही दुःखोंका नाश है। यह जीव अनन्त संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। इनके मुख्य कारण है—रागद्वेष। जैसे कुम्हारका चाक एक कीली पर रखा है और कुम्हार उसे डंडेसे घुमाता है तो वह घूमता है और बहुत देर तक घूमता रहता है। यदि उस चाक को, उस पहियेको उस कीलीके नीचे उतार दिया जावे और फिर उसे डडेसे घुमाया जाये तो वह चाक घूम नहीं सकता है। उसी तरहसे यह जीव यह आत्मा इस अनन्त संसारमें घूम रहा है और उस घूमनेमें पंच परिवर्तनोंको पूरा कर रहा है। इस घूमनेके कारण हैं रागद्वेष। सो पहले इन रागद्वेषको दूर करो, तभी सुख मिलेगा। संसारमे कौनसा प्राणी ऐसा है जो सुख नहीं चाहता हो?

**दुःखका बीज स्वयंकी भूल है**—प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःखसे निवृत्त होना चाहता है। प्राणी जितने भी कार्य करता है वह सुखके लिये ही करता है किन्तु सबसे बुरी बात यह है कि उसे यह ज्ञान नहीं है कि जो मैं कर रहा हूं वह ठीक है या नहीं, वह सुखका मार्ग है या नहीं? इस जीवने अनन्त भव धारण किये और जो हुआ सो मानता रहा कि मैं अमुक हूँ। उसीमें अपनेको फंसाये रहा। मानता रहा मै हूं, यह मैं बड़ी भारी व्याधि है। जहां यह अहङ्कारका भाव न रहे वहांपर आनन्द और सुख हो जावेगा। यह जीव अनादि कालसे मानता आ रहा है कि—

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव। मेरे धन गृह गोधन प्रभाव॥
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन। वे रूप सुभग मूरख प्रवीण॥

मैं सुखी हूं। थोड़ासा पैसा पासमें हो गया अथवा कोई इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हुई सो मान लेता है कि मैं सुखी हू और थोड़ी सी आपत्तिके आते ही अथवा अनिष्टका संयोग होने पर अपनेको दुखी मान लेता है। मै राजा हूँ, मैं गरीब हूँ—इस तरहके विचार करता रहा।

यह मोहमें मेरे घर हैं, मेरे गाय, भैंस, हाथी, घोड़े आदिक धन हैं, मेरा प्रभुपना है, दुनिया के लोग मुझे आदर देते हैं, मैं बड़ा भारी नेता हूं, मेरे लड़के स्त्री हैं, मैं बहुत बलवान हूं तथा मैं दीन हूं, भिखारी हूं और मैं रूपवान हूं तथा मैं कुरूप हूं, मूरख हूं, मैं चतुर हूं आदि नाना तरहसे परवस्तुओंको अपना मानता रहा है। अपनेको रागद्वेषरूप मानता आया है यह जीव अज्ञानमें।

**अपनेको किस रूपमें देखना चाहिये**—जब इस जीवको अपनी असली हालतका पता लग जावेगा तब बोध होगा कि अभी तक मैं किस अंधकारमें पड़ा हुआ था ? मैं किन-किन को अपना मान रहा था ? जिनसे मेरा रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, उन्हें मैं अपना मान रहा था। मैं तो एक हूं। न मैं पुरुष हूं, न मैं स्त्री हूं और न परिवार खंडेलवाल आदि ही कोई हूं; किन्तु मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप चेतन, ध्रुव निजरूप हूं। मै एक हूं अच्छा, आप बताओ कि मनुष्य कौन है ? मनुष्यकी बालक, वृद्ध, तरुण ये तीन अवस्था हैं तो बताओ इन तीन अवस्थाओंमें से कौन सा मनुष्य है ? यदि बालकको मनुष्य कहते हो तो तरुण जो है वह मनुष्य नहीं कहा जा सकता है तथा बालकपन मिटनेपर मनुष्यका भी अभाव हो जायेगा ऐसा है नहीं। ऐसा मानो तो ठीक रहेगा कि जो इन तीनोंमें गया अर्थात् बूढ़ेपनमें भी गया तथा पहिले तरुणपनमें गया और बालकपनमें गया वही मनुष्य है। जिस मनुष्यको हम आंखोंसे नहीं देख सकते हैं; किन्तु अपने ज्ञानसे जान सकते हैं इसी तरहसे जो सब निज पर्यायोंमें एक है वह आत्मा है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर ही आनन्दका अनुभव होता है।

**अपनी वर्तमान परिणतिमें प्रीति न करो**—अवस्थामें लोभ न जावे तो क्रोध, मान, माया आदिक कुछ भी न हो, किन्तु अवस्थामें जब लोभ जाता है तभी क्रोध मान माया आदि होते हैं। दुनियामें जो पदार्थ भी दिखते हैं वे सभी माया है और यह मोही जीव उन्हींपर इतराता है, उन्हींपर घमंड करता है, उन्हींपर काम भोगादि करना चाहता है यह अथवा करता है। अच्छे-अच्छे कपड़े जेवर गहने पहन लिये सो स्पर्शन इन्द्रियका भोग है। अच्छे अच्छे मिष्ट सुस्वादु फल भोजन खाने वालेको मिले सो रसना इन्द्रियका भोग है। इसी तरहसे यह जीव पंचेन्द्रियोंको भोगोंमें आसक्त है, उन्हींकी ओर इसका ध्यान है। अच्छे अच्छे पदार्थ देखे सो नेत्र इन्द्रियका भोग है। इसी भोगमें आश्रय पड़ता है। उसे कह देते हैं कि यह इस वस्तुका भोग है। वस्तुतः जीव परपदार्थोंका भोग कर नहीं सकता है। वह अपना ही भोग करता है। जीव परमें आसक्त हो नहीं सकता है। किसी अन्य वस्तुके परि-णमनसे वह नहीं परिणमता, किसी अन्य पदार्थकी परिणति पदार्थमें नहीं होती है। मोही

जीव मोहमें ही आसक्त होता है, देहमें आसक्त हो नहीं सकता है किन्तु फिर भी ऐसा मानता है, ऐसा कहता है कि देह मेरी है। जब शरीरसे आत्मा अलग हो जाता है आत्माका वियोग शरीरसे हो जाता है तब शरीर मुर्दा हो जाता है। किन्तु फिर भी यह जीव उस शरीरको ही अपना मानता है। एक क्षण भी अपनी आत्मापर दया नहीं करता है, अपनी आत्माका ध्यान नहीं करता है। यह जीवकी महान भूल है कि चेतनस्वरूप होकर भी अपनी आत्मा को नहीं पहिचान पा रहा है।

**आत्मदया आत्मसेवा है**—एक राजा था। वह कहीं दूसरे राजा पर चढ़ाई करने गया। इधर अवसर देखकर एक दूसरे राजाने उसके ऊपर चढ़ाई करदी। वहाँका राज्यभार सब रानीके ऊपर था, तब रानीने अपने सेनापतिको बुला करके फौज ले जाकर युद्ध करने भेजा। सेनापति सेना लेकर चला। रास्तेमें शाम हो गई। सेनापति जैन था सो वह अपने हाथी पर बैठे ही बैठे सामायिक करने लगा। सामायिकमें बोले कि हे पेड़ पत्तों मुझसे मेरे द्वारा तुम्हें जो भी कष्ट हुये हों उन्हें क्षमा करना। हे कीड़े मकोड़ों! तुम्हें क्लिष्ट किया हो सो क्षमा करना, इस तरहसे वे सामायिक करने लगे। किसीने उनके ये वचन सुन लिये सो जा करके रानीसे चुगली कर दी कि—रानी जी आपने अच्छा सेनापति भेजा, वह क्या युद्ध करेगा जो कि पेड़ पौधोंसे कीड़े मकोड़ोंसे क्षमा याचना करता है? इधर सेनापति ३–४ दिनमें विजय प्राप्त करके वापिस लौट आया। तब रानीने सेनापतिसे पूछा कि सेनापति तुम तो पेड़ पौधोंसे क्षमा याचना करते थे फिर युद्धमें कैसे लड़े होगे? तब सेना-पतिने कहा कि महारानी मैं २४ घन्टे आपका नौकर नहीं हूँ। सुबह शाम मैं अपनी नौकरी करता हूँ। जितने समय अपनी आत्माकी दया करता हूँ उतने समयमें मैं आपका कार्य नहीं करता हूँ। सो उतने समयमें मैं अपनी आत्माकी दया अपनी आत्माका ध्यान करता था और आपके कामके समय आपका काम करता था। भैया! आप बताओ कि आप लोगोंने अपनी आत्माकी दयाके वास्ते कितना समय रखा है? अपनी आत्माका ध्यान करनेके लिये कितना समय निकाला है।

**आत्मधर्म व मानवधर्मका अन्तर**—आत्मधर्म और मानवधर्म, ये दो भिन्नस्वरूप हैं। मानवधर्मसे तो पुण्यका बंध होता है और आत्मधर्मसे मोक्षमार्ग चलता है जो कि वर्त-मानमें सुखका कारण तो है ही किन्तु अगले भवमें ही वह सुखका कारण है और निर्वाण पाने पर तो वह शाश्वत सुख पिण्ड है ही। मुझे अनाकुल अवस्थाको सुख शब्दसे कहना रुचता नहीं है किन्तु रूढ़ि इस शब्दकी अधिक है इसलिये कहा करता हूँ। अनाकुल अवस्था को आनन्द शब्दसे कहना मुझे अभीष्ट है। हाँ मैं न तो पुरुष हूँ और न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, क्योंकि मैं यह कोई भी लिंग नहीं हूं। पुरुष कहता है, मैं जाता हूं। स्त्री कहती है, मैं

जाती हूं। यहाँ पर दोनोंके लिये मैं का प्रयोग हुआ है। इसीलिये अंग्रेजीमें 'आई' यह भी तीनों लिङ्गोंमें एकसा है। देखो शाब्दिक दृष्टिसे भी लिंग नहीं, ऐसा विचार करो कि मैं तो कोई भी लिंग नहीं हूं किन्तु मैं सिर्फ चैतन्यमात्र हूं—जब ऐसी प्रतीति पैदा हो जावेगी तभी वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति होगी।

**परको निज मानना ही क्लेश है**—परवस्तुको अपना माननेमें तो आकुलता बढ़ती है। जैसे शरीरको अपना मान लिया, अपना माननेपर उसकी सेवा करनी होगी। सबेरेसे उठकर तेल आदिकी मालिश करना, साबुनसे उसे नहलाना, अच्छे सुगंधित तेल लगाना आदि। इज्जत बढ़ गई हर्ष हुआ और इज्जत घट गई तो दुःख हुआ। यह हर्ष विषाद क्यों करना? आज मनुष्य पर्याय है किन्तु वह कल नहीं है। इसलिये यह जो माया है इसके मोहका त्याग करो। मोहमें बड़ा भारी दुःख होता है। जैसे किसी को एक रस्सीमें सर्पका भ्रम हो गया कि यह तो सर्प है सो उसे नाना तरहके विकल्प पैदा होने लगे, अनेक संकट सामने आये, किन्तु कुछ हिम्मत करके जब आगे बढ़कर देखा तब यह ज्ञात हुआ कि यह तो रस्सी है। उसी समयसे सारे विकल्प, सारे दुःख नष्ट हो गये। सो अगर आप लोग सुखी होना चाहते हो, तो मिथ्या भ्रमको छोड़कर सम्यक्त्वकी प्राप्ति करो उसीमें सुख है। निर्विकल्प अवस्थामें ही सुख है।

**अपना शत्रु अपनेमें छुपा हुआ विकल्प है**—एक राजा था। वह जंगलमें निकला। वह कहीं लड़ने जा रहा था। जंगलमें मुनि महाराज मिल गये। सो वह राजा मुनिके पास बैठ गया और धर्मोपदेश सुनने लगा। इतने में ही उसका शत्रु उसी ओर बढ़ रहा था। सो वह राजा सेनाके शब्दोंका, बाजोंका, कोलाहल सुनकर कुछ सचेत हुआ। जब आवाज और पास आ गई तो राजा जो पहले पालथी लगाये बैठे थे तो अब पैरोंके बल बैठ गया, जब आवाज बिल्कुल पास आ गई तब राजाने अपनी तलवार निकाल ली और उठकर खड़ा हो गया। तब मुनिराज बोले, राजन् क्या बात है जो तुम इतने व्याकुल हो रहे हो? राजाने कहा प्रभो! मेरा शत्रु पास आ रहा है सो मुझे क्रोध आ रहा है कि शत्रुको समाप्त कर दूं। मुनिराज बोले—राजन् तुम ठीक कह रहे हो शत्रुको पास आनेपर गुस्सा आना ही चाहिये, उसका नाश ही कर देना चाहिये। किन्तु जो शत्रु तुम्हारे अन्दर है, अत्यन्त पास है पहले उसका नाश करो। राजाने पूछा, वह कौनसा शत्रु है? मुनिराजने बताया कि जिससे तुम्हारे यह भाव पैदा हुआ कि मेरा शत्रु मेरे पास आ रहा है वही भाव सबसे बड़ा शत्रु है। राजाके ध्यानमें बात आ गई और तुरन्त ही दिगम्बरी दिक्षा लेकर ध्यानमें बैठ गया। इधर सारी सेना आई किन्तु राजाको ध्यान करते देखकर राजा सहित पूरी सेना चरणोंमें नमस्कार करके लौट गई। कहनेका मतलब यह है कि जब तक अपने

स्वरूपका बोध नहीं हुआ तब तक ही आत्माको सुखानुभव नहीं होता है। आत्माके मित्र आत्माके शत्रु आत्माके हितैषी सभी उसके अन्दर ही मिलेंगे, बाहर इसका कुछ भी नहीं है। बाहर तो यह माया है सो दुःख देने वाला है, किन्तु जीव इसे सुख समझता है।

**परका संग्रह व परकी चाहमें क्लेश ही है**—एक ब्राह्मण था, उसकी लड़कीकी शादी होने वाली थी सो वह राजाके पास पहुँचा और प्रार्थना की कि राजन् लड़की की शादी हैं सो कुछ मिलना चाहिये। राजाने कहा कि अच्छा जाओ कल आना, सो जो मांगोगे वही मिलेगा। ब्राह्मण खुशी खुशी घर गया और अपनी टूटी हुई खाट पर जा लेटा। रातमें वह विचार करता है कि राजाने मुझसे कह दिया है कि जो मांगोगे सो वही मिलेगा। सो मैं क्या मांगू? विचार किया १००) रुपये मांगूगा, किन्तु फिर विचार करता है कि १००) रुपयेसे क्या होगा? मांगना चाहिये हजार। हजार, हजार से लाख करोड़ और फिर आधा राज। इस तरहसे विचार करने लगा। फिर बोला आधे राजसे भी काम नहीं चलेगा। लोग तो यही कहेंगे कि यह उनका दिया हुआ राज्य है। इस तरह विचार करते करते सुबह हो गया। सुबह भजनमें बैठा, कुछ उसके अच्छे परिणाम हुए। उसे ज्ञान हुआ कि बिना कुछ लिये तो हमें इतना विकल्प है और जब मैं राज्य ले लूँगा तो कितने विकल्प होंगे? सुबह हुआ और झट उठकर नहा धोकरके पूजा करने जाता है। इतनेमें ही बादशाह अपने घोड़ेपर सवार हुये वहीं आता है और पूछता है कहो ब्राह्मणदेव क्या चाहिये? तब ब्राह्मण बोला कि राजन् मुझे कुछ नहीं चाहिए। क्योंकि बिना कुछ लिये तो रातमें नींद नहीं आई और जब मैं कुछ ले लूँगा तब क्या हालत होगी?

**आत्मकल्याण बाह्य संयोगसे नहीं होता**—देखो भैया! आत्मकल्याण धनसे नहीं होता है और न वह कुटुम्ब पुत्रादिसे होता है! आत्मकल्याण तो निजस्वभावकी दृष्टिसे ही होगा। इसलिये प्रत्येकको चाहिये कि बाह्य पदार्थोंसे अपना सम्पर्क हटा करके अपनी आत्मामें एकत्व भाव पैदा करे उसीसे कल्याण होगा। स्वभाव ज्ञानके बिना रंच मात्र भी सुख नहीं मिलेगा। इसलिये उस आत्माके स्वभाव तक पहुँचना है। उसके पास पहुंचनेपर ही अलौकिक एवं अनन्त सुखकी प्राप्ति होगी। यहाँ संसारी जीवोंकी कथा चल रही है कि वे मोहमें किस तरहसे भूले हैं। मोहके कारण उन्हें अपनी आत्माकी पहिचान नहीं है, उन्हें अपने स्वभावका ज्ञान नहीं है, उन्हें पता नहीं है कि मेरा आत्मा ही मेरा पुत्र है, आत्मा ही मेरा पिता है एवं आत्मा ही मेरा गुरु और बन्धुजन, मित्र है। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि मैं एक चेतनस्वरूप हूं। इन बातोंका बोध न होनेसे यह जीव अनेक कष्ट अनेक तरहके दुःख उठा रहा है। इस जीवको महामोहरूपी पिशाच लगा है। पिशाचके लगनेपर जीव की क्या हालत होती है? वह अपनेको भूल जाता है, उसे हिताहितका विवेक नहीं रहता

है। इसी तरहसे इस संसारी जीवको यह मोहरूपी पिशाच लगा है जिसके कारण यह अपना हित अहित नहीं विचार पाता है।

**अज्ञानमें दुष्पथ सत्पथसा प्रतीत होता है**--इस मोहके कारण जीव कोल्हूके बैलकी सदृश लादा जाता है। जैसे कोल्हूके बैलकी आंखें बन्द है और वह कोल्हूमें जुत रहा है, वहां गोल चक्कर लगाता हुआ भी वह अपनेको यह मानता है मैं सीधा चल रहा हूं। ठीक यही हालत इस जीवकी है, यह जीव भी मोहके कारण गोलगोल फिर रहा है। कभी नारकी कभी तिर्यंच और कभी आदमी इस तरहसे चतुर्गतिमें पंच इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहमें, कभी स्पर्शमें, कभी स्वादमें, कभी देखनेमें, सुननेमें आदि विषय बाधामें चक्कर लगा रहा है। जिस पर भी वह अपनेको यही मानता है कि मैं ठीक चल रहा हूं। मैं सीधा चल रहा हूं। यदि इसे यह पता हो जावे कि मैं जिस मार्गपर चल रहा हूं वह ठीक नहीं है तो वह उस पथसे चलता हुआ रुक जावेगा। जैसे बैलको यह ज्ञान हो जावे कि मैं गोलगोल चल रहा हूं तो आंखें बंद रहनेपर भी उसे चक्कर आ सकते हैं, वह रुक जायगा। ज्ञान होनेपर आत्माका कल्याण हो सकता है। बिना ज्ञानके मोह-अज्ञानके ही कारण बैलके सदृश लदना पड़ता है। इसलिये मोहको छोड़ना चाहिये। मोहसे अनेक इच्छायें पैदा होती हैं और इच्छाओंसे अनेक दुःख होते है। वह इच्छा चाहे सत् हो चाहे असत्।

**सुख इच्छाओंके अभावमें है**--आपने इच्छा की कि आज पूजन करना है। इच्छा होते ही व्याकुलता पैदा हो गई। सुबह हुआ जल्दीसे शौच क्रियादिसे निपटकर स्नान किया और मन्दिरमें पहुंचे, पूजन की। उसके बाद कुछ शांतिका अनुभव हुआ सो वह शान्ति क्या पूजन करनेसे आई ? नहीं। आपके अंदर जो इच्छा थी, इच्छाके कारण जो व्याकुल भाव थे; उन व्याकुल भावोंका मिटाना ही इच्छाका दूर होना ही शांत्यनुभव हुआ। पूजनके बाद और और इच्छायें होती रहती हैं जैसे कि अब शान्ति पाठ विसर्जन आदि करना है। देखो शुभ इच्छाओंका जिन्हें लोग धर्म तक कह डालते है, परिणाम व्याकुलता ही मिला, तब फिर अन्य इच्छावोंके दुःखका तो कहना ही क्या है ? इस तरहसे इच्छा मात्रसे वेदना होती है। कहनेका अर्थ यह है कि स्वानुभवसे ही पूर्ण सुख मिलता है। इसलिये समस्त विकल्पको छोड़ करके आत्म-चिन्तन करना चाहिये। भगवान जिनेन्द्र प्रभुने तो यहाँ तक कहा है कि हे जीव ! तू यदि सुख चाहता है तो रागको छोड़ मुझसे भी रागको छोड़। मेरे रागसे मेरे ध्यानसे तुझे सुखकी प्राप्ति नही होगी। सुख तो स्वानुभवसे ही प्राप्त होगा। इच्छाओंसे सुख नहीं मिलनेका। क्योंकि कई इच्छायें तो मनुष्यको बालकके समान होती हैं। बालक कहते हैं अज्ञानीको। बालक जैसे इच्छा करता, उसका पूर्ण होना कठिन हो जाता है।

**परपदार्थका हठ विपत्तिका स्वागत है**--एक बालक था; सो एक दिन वह हाथीको

देख करके रीझ गया कि हमें तो हाथी चाहिए, खेलनेका हाथी नहीं वरन् जानवर हाथी। घरके लोगोंने बहुत समझाया किन्तु सभी समझावट निष्फल रही। उस शहरमें एकके पास हाथी था। तब वे उनके घर जाकर बोले कि हमारा बच्चा हाथीके लिये मचला है सो आप कुछ देरके लिये अपना हाथी मेरे बच्चेके सामने कर दीजिये तो ठीक होगा। महावत हाथी लाया; तब बच्चेसे कहा कि देख ये है सामने हाथी। तब बच्चा बोला कि नहीं सामनेसे क्या ? हमें तो यह मोल खरीद दो। इसे हमारे घरमें बाँध दो। घर बहुत बड़ा था, हाथी घरमें ले जाकरके बांध दिया गया। अब वह बच्चा बोला कि हमारे खेलनेका यह डिब्बा है ना, सो यह हाथी इसमें बन्द कर दो। हम तो उससे खेलेंगे। आप विचार करो हाथी डिब्बीमें कैसे रखा जा सकता है ? तो इस तरहकी इच्छायें कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है और बच्चा हठ पकड़ लेता है। हठ भी बुरी बला है। हठमें कभी कभी धोखा हानि उठानी पड़ती है। हठ भी तो देखो संसारी जीवोंकी, असार न कुछ चीज, पर ये हठ करते; सो उसके फलमें हाथ कुछ नहीं लगता।

एक सेठ साहब थे। एक दिन वे नाईसे बोले कि हमारे बाल बनाओ हम तुझे कुछ देंगे। नाई ने पूछा हुजूर क्या देंगे ? सेठ बोला कुछ देंगे। नाईने हजामत बनाई। हजामत बन चुकी तब सेठ साहबने अठन्नी निकालकर उस नाईको दी, किन्तु नाई बोला, अठन्नी मुझे नहीं चाहिए मुझे तो आप कुछ दीजिये। सेठ साहब ने रुपया निकाला किन्तु नाई तो हठ पकड़ गया था कि कुछ दीजिये। होते होते सेठ साहब ५–१०–१०० एवं अशर्फी तक लाये लेकिन नाई कुछके सिवाय और लेने पर राजी ही न होवे। इधर सेठजीका समय दूध पीनेका हुआ सो उन्होंने नाईसे कहा कि पहले हमारा दूध लाओ। वह सामने लोटा रखा है उसे उठा दो, फिर हम तुझे कुछ देंगे। नाई दूधका लोटा उठाकर लाया। दूधमें कोयला पड़ा था। कोयलेको देख नाई बोला कि सेठ साहब दूधमें तो कुछ पड़ा है। सेठ साहब प्रसन्नतासे बोले, भाई कुछ पड़ा है, तो तू निकाल ले क्योंकि तुझे कुछ देना है, तूने ही कुछ बता दिया सो उसे तू ले ले। देखा कुछकी हठमें मिला कोयला। यह हठ बुरी चीज है।

**तृष्णाका फल क्लेश ही है**—हठ आदि यह सब मायाके कारण हैं, तृष्णाका परिणाम है। तृष्णामें यह जीव उतना व्याप्त है कि इसे अपनी सुध नहीं है। तृष्णा दुःख का घर है। एक सेठजीके पास एक बढ़ई रहता था। वह प्रति दिन दो रुपया कमाता और बढ़ियासे बढ़िया भोजन करता, अच्छे कपड़े पहिनता था। किन्तु सेठजीके यहाँ पर साधारण भोजन बनता था। यह देख सेठानीजी ने सेठजी से कहा कि आपके पास इतनी सम्पत्ति है, फिर भी आप ये निम्न श्रेणीका भोजन करते हो। आप देखो आपके पास यह

बढ़ई रहता है जो कि प्रतिदिन दो रुपया पैदा करता है किन्तु भोजन कितना अच्छा खाता है। तब सेठजी ने कहा कि तुम इस बातको नहीं जानती हो। अभी यह निन्नानवेके चक्कर में नहीं पड़ा है और जिस दिन उसके चक्करमें पड़ जायगा उसी दिनसे यह सारी बातें, ऐसा आराम भूल जायेगा। सेठानीने कहा तो आप ९९ के चक्करमें डाल दो, जिससे मेरा दुःख तो कमसे कम दूर हो ही जावे। रातको सेठजी ने ९९ रुपये एक थैलीमें भरकर उस बढ़ईके आँगनमें फेंक दिये आदि। (ये कथा पीछे हो चुकी है)। रुपये पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और फिर किस तरहसे ९९ वें के चक्करमें पड़ गया। वह शतपति व हजार पति बननेके फिकरमें हो गया। जब उसके यहां भी साधारण भोजन होने लगा तब सेठानी से सेठजी बोले कि अब देखलो वह ९९ वें के चक्करमें आ गया है। कहनेका मतलब यह है कि जीव तृष्णासे दुःख पाता है। सुखकी कमी नहीं है किन्तु कमी है आत्माकी ओर प्रवृत्तिकी, लगनकी। उस ओर लगन ही नहीं है। पाँच इन्द्रियोंके विषयमें फंसकर यह जीव भले बुरेका विवेक नहीं रखता है और उन्हींमें सुख समझता है।

**विषयवृत्तिके लिए ही कोई किसीको चाहता है**—एक राजा था, वह विषयोंमें बहुत आसक्त था। रानीको छोड़ कर वह रहना ही नहीं चाहता था। दिन रात रानीके साथ ही रहता था। उसे अपने राज्यका भी कोई ध्यान नहीं था। इस अवस्थाको देख करके मंत्रियों ने राजासे निवेदन किया कि महाराज आप राजकाजकी ओर दृष्टि ही नहीं रखते हैं इस तरंह कैसे काम चलेगा ? या तो आप रानीजी को ले करके जंगलमें चले जावें अथवा दो चार घण्टे राज-काज देखें। राजाको पहली बात ठीक जंची और वह रानीको लेकर अपना राज छोड़कर चल दिया, चलते चलते एक शहरके नजदीक पहुँचा। राजा रानीको उस गांव के बाहर छोड़ करके खुद अन्दर गया कि कुछ खानेका सामान ले आवें। इधर जहां पर रानी बैठी थी वहीं पासमें एक गांव वाला अपना चरस चला रहा था। वह कुबड़ा था किन्तु उसका गला इतना सुन्दर था कि उसकी आवाजको सुन करके रानी उसपर मोहित हो गई और उसके पास जा करके अपनेको दासी बनानेकी प्रार्थना की। किसान बोला कि आप इतने बड़े राजाकी रानी हैं, कहीं राजा इस बातको सुन पावेंगे तो मुझे जिंदा ही जमीनमें गाड़ देंगे। तब रानी बोली कि तुम इसकी चिन्ता मत करो, इसका प्रबन्ध मैं सब कर लूंगी। राजा जब खाद्य सामग्री ले करके लौटा तो रानीको उदास पाया। रानीसे कारण पूछा, तब रानीने कहा कि आज आपकी वर्षगाँठ है, यदि आप अपने शहरमें होते तो आज मैं आपकी वर्षगाँठ कितने आनन्दसे मनाती ? राजाने कहा कि तुम्हें चिंतित होने की कोई बात नहीं है। तुम्हारे पीछे मैंने अपना राज्य छोड़ा और इधर उधर फिर रहा हूं, फिर भी यदि तुम अप्रसन्न रही तो मुझे बहुत दुःख होगा। तुम जैसा कहोगी मैं वैसा करने

को तैयार हूं। कहो क्या चाहती हो ? तब रानीने कहा कि स्वामिन् ! आप फूल मंगाओ, उन फूलोंकी मैं मालायें बना करके आपको उनसे सजाऊंगी तब मेरा हृदय प्रसन्न होगा। राजाने फूल मंगाये और रानीने मालायें बना करके राजासे ऊपर पर्वतपर चलनेको कहा क्योंकि ऊपरसे यह दृश्य अच्छा लगेगा। पर्वतके नीचे नदी बहती थी। रानी राजाको लेजा कर ऊपर पर्वत पर गई और मालाओंसे राजाके सारे अवयव शरीरके बांध दिये और जब सब जगहोंमें माला पहना दी तब राजाको जोरका धक्का दिया, जिससे राजा नदीमें गिरा और उसकी धारमें बह निकला। बहते-बहते राजा एक देशके किनारे जा लगा। उस देश का महाराजा मर चुका था। उसी दिन मंत्रियोंने यह सलाह करके एक हाथी छोड़ा था कि हाथी जिसे अपनी पीठ पर बिठाकर लावेगा वही यहाँका राजा होगा। हाथी इन्हीं महाराज को अपनी पीठ पर बिठला कर ले गया। पुण्यके प्रतापसे लौकिक सब कुछ ठीक होता है। राजा साहब इधर राज-काजको ले करके आनन्दपूर्वक रहने लगे। अब जरा-सा रानी जी का हाल भी सुनिये। रानी कुबड़ेको लेकर एक डलियामें रख करके गली गली नाचने लगी। उस कुबड़ेसे चलते तो बनता नहीं था। सो रानी उसे अपने सिरपर रखकर यह कहा करती थी कि मैं पतिव्रता नारी हूँ इसलिये अपने पतिको अपने सिरपर रखे फिरती हूँ। इस तरहसे वह ऐसा प्रचार करते करते नाचते गाते उसी शहरमें जा पहुँची। ,राजाके पास भी यह खबर पहुँची कि महाराज एक पतिव्रता नारी आई है। वह अपने पति को अपने सिर पर ही रखे फिरती है। राजाने उसे बुलवाया। रानीको देख करके राजा तुरन्त पहिचान गया और वैराग्यको प्राप्त हुआ। इस तरहसे शास्त्रोंमें विषयासक्तियोंकी अनेक कथायें मिलती हैं, फिर भी यह जीव उनको सुनकर उनसे नहीं छूटता है, उन्हींमें फंसा हुआ है। क्रोध, मान, माया, लोभकी अनन्त कथायें यह जीव अनादि कालसे सुनता आ रहा है किन्तु इन कथाओंसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता है। आत्माका कल्याण तो सम्यग्दर्शनसे ही होगा। स्वानुभव प्राप्त होनेपर सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये स्वानुभवको प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये। स्वानुभवके प्राप्त होनेपर ही आपका कल्याण होगा।

**जहां बसे उसीका राग**——सब जीवलोकमें पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी कहानी, बात-चीत सुनी वे ही अनुभवमें आई। कोई कहता है कि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी कथा ही क्यों अनुभवमें आई ? क्योंकि उसे आत्माका अनुभव नहीं था। आत्माका ज्ञान इस जीवने प्राप्त नहीं कर पाया, इन्द्रिय सुखसे ही यह सुख मानता रहा, इन्द्रियोंके अंदर ही वह अपने सुख को सीमित किये रहा। कोई जीव स्पर्शन इन्द्रियके विभवमें सुखी है, तो कोई रसना इन्द्रिय के विषयमें सुखी है। अच्छे भोजन मिलना, स्वादिष्ट फलादि खा लेना ही वह सुख मानता है, किन्तु वह वास्तवमें सुख नहीं, मात्र सुखाभास है। यदि भोज्य पदार्थोंमें ही सुख है, तो

जब उसका पेट भर जाता है तब खाना क्यों बन्द कर देता है ? उसे हमेशा खाते रहना चाहिये। पेट भर जानेपर भी १–२ लड्डू जबरन उसके पेटमें डाले जावें क्योंकि लड्डूओंसे तो सुख मिलता है। किन्तु पेटके पूर्ण होनेपर यदि उससे कहा जाय कि एक लड्डू खानेपर तुम्हें ५०) दिये जावेंगे तो शायद वह दो एक लड्डू खा जावे, लेकिन उसके पश्चात् उससे कहा कि १ लड्डू और खालो हम तुम्हें २०० रुपया देगे तो वह खानेको तैयार नहीं होता है। देख लो भैया ! अब भोगमें दुःख होने लगा। इसका नाम सुख नहीं है। सुख तो वह है जिसके पानेपर कभी इच्छा ही न हो अथवा यों कहो कि जिस सुखका अन्त न हो वही सुख है। किन्तु संसारी जीव पंचेन्द्रियोंके विषयमें ही सुख मानता है। सभी प्राणियों की, सभी जीवोंकी यही दशा है। इसका ही यह परिणाम है कि आत्मज्ञानकी ओर न यत्न है और न दृष्टि है। तभी तो देखो भैया ! तत्त्वचर्चामें, धर्मोपदेशोंमें, शास्त्र श्रवणमें मनुष्यों को नींद आने लगती है। वहांपर मनुष्योंका मन नहीं लगता है। धर्मस्थानोंमें जनसंख्या बहुत कम होती है। धार्मिक पुस्तकोंके पढ़नेमें मन बहुत कम लगता है, किन्तु उपन्यास आदिकी जो गन्दी पुस्तकें है उनके पढ़नेमें मन बहुत ज्यादा लगता है। मनुष्य कहीं सफरको जाता है तो वह टाइमको व्यतीत करनेके लिए एक उपन्यास खरीद लेता है और उसके पढ़नेमें ही आनन्द तथा समयको खर्च करता है। जीवको जो रुचता है वह उसीको पानेकी चेष्टा करता है, उसीमें अपना तन मन धन खर्च करता है और उसीमें वह अपने को लगाता है।

**धर्मकी ओर नैसर्गिक रुचि**——पहलेमें व्यक्तियोंकी रुचि धर्मकी ओर अधिक रहती थी। वे लोग न्यायप्रिय भी होते थे। जिसके यहां जितना खर्च होता था उसको उसकी प्राप्ति होनेपर दुकान बन्द करके मन्दिरजी में आकर बैठकर शास्त्र स्वाध्याय तत्त्वचर्चामें ही अपना समय व्यतीत करते थे। किन्तु आजकल देखा जाता है कि——लोग फालतूमें दुकान पर ही बैठे रहेंगे। ताश शतरंज आदिमें अपना समय नष्ट करते रहते है, आत्मोत्थानकी ओर ध्यान नहीं देते हैं। वे पंचेन्द्रियोंके विषयोंको भोगते हैं, उनमें ही सुख मानते हैं और दूसरे मनुष्योंको उपदेश देते हैं तथा उन विषयोंको भोगनेकी ओर अग्रसर करते हैं, उस ओर उन्हें प्रेरित करते हैं, उनके आचार्य बनते है।

**श्रेष्ठ मन पाकर इसे विषयोंमें मत लगावो**——इस जीवने इतना उत्कृष्ट मन पाया कि अन्य किसी गतिवालोंको प्राप्त नही है, फिर भी यह जीव उस मनको पा करके उसका सदुपयोग नहीं करता है, उसे व्यर्थमें नष्ट करता है, पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें रत रहता है। हाथी स्पर्शन इन्द्रियके विषयकी लोलुपतामें आकरके गड्ढेमें गिर पड़ता है। मछली रसना इन्द्रियकी लोलुपतामें फंस करके अपने प्राण खो देती है। भौंरा घ्राण इन्द्रिय की लोलुपता

में फंस करके कमलमें बन्द हो जाती है और अपने प्राण त्याग देता है किन्तु मनुष्य पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें हमेशा ही रत रहता है। किसी कविने कहा है कि—

आहार-निद्रा-भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।

कविके कहनेका आशय है कि, आहार (भोजन), सोना, भय और मैथुन—इन चार बातोंमें पशु और मनुष्य बराबर हैं—किन्तु मनुष्यमें यदि अधिकता है तो धर्मकी है जिसके कारण वह श्रेष्ठ है, धर्मसे रहित पशुके समान है। यहाँ पर कविने मनुष्योंकी ओरसे पक्षपात किया है। क्योंकि कवि भी तो मनुष्य ही है। या यों कहो कि मनुष्यसे डरकर कविने उन्हें पशुओंकी समानताकी श्रेणीमें ले लिया है। किन्तु वह मनुष्य जो धर्मसे रहित है, धर्मसे हीन है, पशुओंसे भी नीच है।

**धर्महीन मनुष्यसे तो पशु ही श्रेष्ठ है**—आप देखलो पशु पक्षी जब पेटभर भोजन कर लेते हैं, उनका पेट भर जाता है तो ये रात्रिको नहीं खाते हैं। खैर, पशु तो खा भी लेते हैं किन्तु पक्षी तो एक भी ऐसा नहीं है कि जो रातको खाता हो। किन्तु मनुष्य भोजन कर चुकनेपर भी यदि कोई बढ़िया चाटवाला निकल पड़ता है तो एक दो आने की चाट खा लेता है। तो यहां पर भी पशु मनुष्यसे श्रेष्ठ रहा। निद्रामें देख लीजिये। पशुओंकी नींद प्रसिद्ध है, जरा सा आहट होनेपर वे तुरन्त जग जाते हैं उनका नियमित समय रहता है, वे अपने ठीक समयपर जग जाते हैं। उन्हें जगानेके लिए कोई व्यक्ति नियुक्त नहीं रहता है और न होती है उनके लिए अलार्मवाच। मनुष्योंको घड़ी चाहिए, घड़ीकी घन्टी कानपर बज रही है फिर भी नींद नहीं खुलती है। इस तरहसे निद्रामें भी मनुष्य पशुसे कम है। अब भयमें देखिये मनुष्य २४ घंटे भयभीत रहता है किन्तु पशु तो तब भयभीत होता है जब उसके ऊपर कोई लाठी डंडा उठाकर मारने आ जाता है तो भय जीतने में भी मनुष्य पशुसे कम है। चौथी बात है मैथुन, सो मैथुनमें देखिये कि मनुष्यने रिकार्ड तोड़ दिया है। मनुष्य प्रायः दिनरात उसीमें लगे रहते हैं। किन्तु पशुओंका सालभरमें १ महीना या कोई भी समय निश्चित रहता है। वे अपने उसी समयमें भोग मैथुन सेवन करते हैं। तो इस तरह से हम देखते हैं कि पशु इनमें भी इनसे कहीं ठीक हैं।

**विषयोंकी सीख बिना सिखाये ही मोहीके बनी है**—यहांपर आचार्य पूज्य कुंदकुंद प्रभु कह रहे हैं कि इस जीवको विषयभोगोंकी कथा याद है। इनका उपदेश किसीने नहीं दिया। चोरी करनेकी शिक्षा कहीं नहीं दी जाती है, चोरी करना किसी को भी नहीं समझाया जाता है। विषयभोग करनेकी किसीको शिक्षा नहीं दी जाती है, किन्तु ये काम प्राणी स्वयं ही करने लगते हैं। इनका ज्ञान जीवको स्वयं हो जाता है, स्वयं इन बातोंको

करता है। छल कपटकी वार्तामें यह अपनी कीर्ति समझता है। जैसे कोई व्यक्ति छलपूर्वक विना टिकट रेलमें बैठकर टिकटचैकरकी आंखोंसे बच निकलता है, तब वह अपनी प्रशंसा करता है कि मैंने फलानेको कैसा उल्लू बनाया आदि। कहनेका मतलब इतना है कि इन कामोंको यह जीव स्वतः करता है और दूसरों को उपदेश देता है, प्रेरणा करता है, दूसरों का गुरु बनता है।

**निज स्वभावका एकत्व समझना श्रेय है**—इन पांच इन्द्रियोंके विषय की कथा अनेक बार सुननेमें आई किन्तु इस जीवने अपने एकत्वकी भावनारूप आत्मकथाको नहीं सुना, नहीं देखा। इस दुर्लभ मनुष्य भवको पा करके स्वभाव भान विना यदि व्यर्थमें नष्ट कर दिया तो अनन्त काल तक इसी संसारमें भटकना पड़ेगा। जैसे कोई व्यक्ति अन्धा है और उसके सिरमें खाज है। वह व्यक्ति किसी नगरमें घुसना चाहता है ऐसा नगर जिसके चारों ओर परकोटा खिचा हुआ है। वह व्यक्ति परकोटेको पकड़ कर चलता है और चलते चलते जब नगरमें घुसनेका दर्वाजा आता है उसी समय उसके सिरमें खुजली पैदा होती है और वह दोनों हाथोंसे खाजको खुजाने लगता है। और वह दर्वाजेको छोड़ करके आगे बढ़ जाता है। वह बाहर ही बाहर चक्कर लगाता रहता है, नगरके अन्दर नहीं घुस पाता। सो इसी तरह यह जीव अपने विषयरूपी खाजको खुजाता रहा और इसी संसारमें भटकता रहा है। इसका कारण है कि यह अपनी आत्माको नहीं पहचान पाया—आत्माके एकत्व तक नहीं पहुँचा। मैं ध्रुव हूं, चैतन्यमय हूं, अहेतुक हूं, सहजसिद्ध हूं आदि तात्त्विक बातों पर इसका ध्यान नहीं गया, इनकी कथा इसने नहीं सुनी, अपने स्वभावको नहीं जाना। जहां स्वभावकी बात आई वहीं पर भटक गया। शास्त्रमें जहां यह वर्णन आता है कि ६ पूर्व ११ अङ्गके पाठी, मुनि समता भावोंको धारण किए होने पर भी उनके मिथ्यात्वका उदय है, वे मिथ्यात्वी हैं। इसका कारण है कि वह वर्तमान पर्यायमें अटककर रह जाता है।

**भ्रम ही बड़ी विपदा है**—भ्रम होने पर यह जीव सच्ची बातको भी स्वीकार नहीं करता है। सच्ची बात को भी उल्टी असत्य मानता है। एक गांवमें एक बढ़ई रहता था। उसका मकान गाँवके कोने पर ही था, सो जितने भी रास्तागीर वहांसे निकलते थे, सो वे उससे रास्ता पूछें कि फलाने गांवका कौनसा रास्ता है तो वह हमेशा उल्टा रास्ता बताता था। जैसे कि है पूरबमें पश्चिमकी ओर बताता था एवं उस आदमीको समझा देता था कि इस गांवके लोग बहुत मजाकिया हैं इसलिये वे तुम्हें उल्टा रास्ता बतलावेंगे सो तुम किसीका विश्वास मत करना। वह व्यक्ति आगे बढ़ता। तब कुछ व्यक्ति, ग्राम वाले उससे पूछते कि भाई कहां जा रहे हो ? वह बताता कि अमुक गांवमें। तब वे कहते कि भैया ! रास्ता ये नहीं है इसका रास्ता तो पूरबमें है और तुम पश्चिमकी ओर जा रहे हो, किन्तु वह किसी

की बात नहीं मानता है और आगे बढ़ता जाता है। जब किसी दूसरे गांवमें पहुँचता है तब उसे अपनी गलती याद होती है। इसी तरह इस जीवको भ्रम है—इसलिए उसे सही मार्ग भी उल्टा प्रतीत होता है। क्रोधके फल क्या मिलेंगे या मिलते हैं? देखो अधिक क्रोध हुआ तो किसीको बुरा भला कह दिया तब मार पिटती है आदि अनेक दुर्दशायें होती हैं, फिर भी उसका क्रोध नहीं छूटता है इसका कारण है कि उसने क्रोधमें ही हित समझ रखा है, ऐसे ही मान मायाके हाल हैं। मायाचारीका कहीं आदर नहीं होता है, मायाचारी कहता है कुछ, करता है कुछ और मनमें कुछ और ही रहती है। हमेशा उसे अपनी बात खुल न जावे इसका भय बना रहता है।

**माया एक शल्य है वह छुपाये भी नहीं छुपता**—एक राजा था, एक दिन वह बगीचेमें घूमने गया। वहां एक सेव पेड़से टूट करके नीचे गोबरमें पड़ा था। राजाको वह सेव बहुत ही पसन्द आया, सो राजाने उसे उठा करके गोवर पोंछ करके चारों ओर देखा कि कोई मुझे देख तो नहीं रहा है और उस सेबको खा लिया। वापिस जब महलोंमें आये दरबार लगा। बड़े-बड़े सेठ धनी व्यक्ति इकट्ठे हुये, नाचगाने शुरू हो गये। नर्तकीने कई गाने गा चुकनेके बाद यह गाना गया। "कह दूंगी ललनकी बतियां"। इसको सुनकर राजा को शंका हुई कि सेव खाते समय इसने मुझे देख लिया है सो कहती है कि मैं तो कह दूंगी। कहीं यह कह न देवे ऐसा विचार करके राजाने अपना अमूल्य एक आभूषण उसे दे दिया। नर्तकीने फिर वही गाया राजाने दुबारा एक आभूषण दे दिया। नर्तकीने अबकी बार अन्य गाना गाया किन्तु उसका कोई इनाम नहीं मिला। नर्तकीने उससे बढ़ियासे बढ़िया कई गाने गाये किन्तु एकपर भी राजाने इनाम नहीं दिया। तब ऐसा सोच करके कि महाराजको वही गाना पसंद आया है सो उसने फिर वही गाना गाया कि "कह दूंगी ललनकी बतियां"। राजाने फिर उसे एक आभूषण उतार कर दे दिया। इस तरहसे नर्तकी ने राजाके सारे आभूषण ले लिये। जब राजाके पास आभूषण नहीं बचे और नर्तकीने फिर वही गाना गाया तब राजा क्रोधित होकर बोला कि जा कह देना, क्या कहेगी? यही ना, कि गोवरका सेव खाया था। कहनेका अर्थ है कि कषाय मायाचार छुपाये छुपता नहीं है, माया खुल जानेपर फिर इज्जत नहीं रहती। छुप भी जावे तो क्या हित है, अहित ही है? खोटे भावोंसे आत्माका हित नहीं है। कषायरहित अवस्थामें ही सुख है, आत्माका हित है। इस जीवके पास अनंत वैभव है अनंत ज्ञान शक्ति है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं है सो यह जीव दूसरोंसे आत्माका हित पूछता फिरता है।

**क्षणिकमें ध्रुवका कैसे पता पड़े**—यह जीव पर्यायमें आत्माकी खोज करता है और सुख चाहता है किन्तु वह कैसे मिले? जीवकी यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि अपने अन्दर

अनंत सुख अनंत ज्ञान विद्यमान रहनेपर भी उसे प्राप्त नहीं कर पाता है। जैसे कहते हैं कि 'मुझे सुन सुन आवे हाँसी। पानीमें मीन प्यासी॥' पानीमें रहते हुये भी मछली प्यासी अपने आत्मस्वभावको पहिचानो तभी अनंत आनंदकी प्राप्ति होगी।

अहो! भगवान स्वरूप यह समस्त जीव लोक संसार चक्रकी कीली रूप जो अध्यवसान भाव है, उसमें अधिरोपित है। इसी कारण अनवरत परिवर्तनकर है, जिससे बुद्धि अव्यवस्थित है। यह मनमाना जो चाहे चाह करता फिरता है। सारे ही विश्वपर एकछत्र राज्य करना चाहता है, कदाचित् इसे असंभव भी संभव हो जाय तो भी सन्तोष नहीं हो सकता क्योंकि मोहपिशाचसे ग्रस्त है। यह मोहग्रस्त प्राणी स्वभावसे च्युत होकर बाह्य पदार्थोंकी ओर उठ उठकर पञ्चेन्द्रियके विषयोंको संग्रहीत करता, अंगीकार करता है। वहां भी किसी विषयमें सन्तोष नहीं सो फिर फिरकर उन्हीं विविध विषम विषयोंमें फंसा रहता है। हाय! इस जीवको विषम विषयोंकी कथा, आपत्स्वरूप भोगोंकी कथा तो अनन्त बार श्रुत हुई, अनन्त बार परिचित हुई, अनन्त बार अनुभूत हुई। तभी तो इसीमें अपनेको रमाये रहता और कुछ भाषण योग्यता पाई तो दूसरोंको भी काम भोग सम्बन्धी बातोंमें लगानेका आचार्य-सा बन जाता है। किन्तु मोहावृत प्रभो! तेरी प्रभुता तुझमें अनवरत अन्तः प्रकाशमान है, अपनी स्वभाव प्रभुतापर दृष्टि न देकर विभावोंको ही आत्मसर्वस्व मान लिया है। इससे अखण्ड चित्पिण्ड निज तत्त्वकी बात तेरे सुननेमें भी नहीं आई, तब परिचयमें नहीं आई, अनुभवको फिर अवकाश कहां? हे प्रभो! निज एकत्व ही तो स्वभावमें देखना है। इतना काम तो कर।

**पर्यायमें आत्मबुद्धि ही क्लेशका मूल है**—जीवोंके पर्यायमें आत्मबुद्धि है। यह जीव अनादिकालसे देहको ही आत्मा मानता आ रहा है, इसलिये वह आत्माको नहीं पहचान पाता है, आत्माकी पहिचानके बिना यह जीव चारों गतियोंमें भ्रमण करता आ रहा है। बिना आत्मज्ञानके यह भ्रमण नहीं छूट सकता है, इसलिये सबसे पहले आवश्यकता है आत्माको पहिचाननेकी। आत्माकी पहिचान भेदविज्ञानसे होती है। यह भेदविज्ञान दो में होता है।

जैसे गेहूंको बीनते समय दो ओर दृष्टि रहती है— गेहूं और अगेहूं। गेहूंको ग्रहण करना और अगेहूँको छोड़ना उसी तरहसे आत्मा और अनात्मा ये दो चीजें हैं। सो इनमेंसे आत्माको ग्रहण करना, आत्माको जानना और अनात्माको त्यागना। यथार्थ भेदविज्ञान स्वभावमें तथा अस्वभावमें होता है। आत्माका स्वभाव कैसा है? आत्मा ध्रुव है, चेतन है, अहेतुक है, सहज सिद्ध हैं। विभाव विपरीत भाव वाले हैं। स्वभाव और विभाव केवल सुलक्षणका भेदज्ञान किस नयमें होगा? व्यवहारनयसे। क्योंकि दो वस्तुओंका ज्ञान व्यवहारनयसे होता है और एक वस्तुका ज्ञान होता है निश्चयनयसे। स्वभाव और विभाव

का ज्ञान कब होता है जबकि उसके अनन्तानुबन्धी कषाय कम होवे। अनन्तानुबन्धी कषायके कम होनेपर आत्माको स्वभाव और विभावका ज्ञान होता है। हाँ यह बात अवश्य है कि आत्माके एकत्वको प्राप्त करना बहुत कठिन है दुर्लभ है। किन्तु खाने पीनेकी बातें बहुत जल्दी प्राप्त कर लेता है। आप देखो जो वस्तु कठिन है--अथवा कठिनतासे प्राप्त होती है उस वस्तुसे हमेशा प्रेम रहता है, उसे हमेशा पास रखनेकी कोशिश करता है किन्तु मोही उल्टा ही काम करता है।

**अपनी ही बात सरल होती है**—आजकल लोग कहते हैं कि सरल उपदेश होना चाहिए, सरल ग्रन्थ हों क्योंकि कठिन उपदेश एवं कठिन ग्रन्थ हमारी समझमें नहीं आते हैं। सरल उपदेश सरल ग्रन्थ पुस्तकें हम लोगोंकी समझमें आ जाती हैं। देखो तो मोहका प्रताप—जो वस्तु निज है अभी भी है, सदा है उसकी बात तो कठिन मालूम होती है और जो अपनेसे भिन्न है उसकी बात सरल मालूम होती है। अधिकसे अधिक सरल आत्माको निज आत्मा ही है। भेदविज्ञान स्वभाव दृष्टि व स्वभावाश्रय सरल है क्योंकि यह सब स्वाधीन है। विषयोंके प्रसङ्ग कठिन हैं क्योंकि वे सब पर हैं। मोहियोंकी सरल पुस्तकें तो भैया! स्टेशनों पर बिकने वाले उपन्यास आदि हैं। संसारके विषय सुलभ हैं। किन्तु आत्माका ज्ञान कठिन है दुर्लभ है। यदि वह आत्मज्ञान एक बार इस जीवने प्राप्त कर लिया तो इसका कल्याण हो जावेगा। सो भैया! अगर तुम सुखी बनना चाहते हो तो अपनी आत्माको पहिचानो। सांसारिक पदार्थोंमें जितना सुख है उतना ही दुःख है। जीवन भर जिस पुत्र, स्त्री धन आदिको अपना माना और उनमें सुखका अनुभव किया, मरते समय वे ही दुःखके कारण हो जाते हैं। मरणकालमें उन पदार्थोंमें मोह अधिक बढ़ जाता है, मोहकी अधिकतासे मनमें नाना तरहके विकल्प उठते हैं और वे विकल्प ही दुःखके कारण अथवा विकल्प ही दुःख हो जाते हैं। बम्बईमें एक बड़ा भारी सेठ रहता था। स्त्रीसे उसका बहुत प्रेम था। वह हर काम स्त्रीके साथ ही किया करता था। मन्दिर जावे तो स्त्रीके साथ, भोजन करे तो स्त्रीके साथ। कहनेका अर्थ कि बिना स्त्रीके रहना उसे पसन्द ही न था। अपनेमें इतना अधिक अनुराग देखकर स्त्री बोली कि आप इतना अधिक प्रेम न करें क्योंकि अभी आप इतना प्रेम करते हो तो जब मैं मर जाऊंगी तब आप पागल हो जायेंगे। कुछ दिनों के बाद स्त्री मर गई और वह सेठ पागल हो गया। कहनेका तात्पर्य, प्रेममें जितना सुख है उतना ही दुःख है।

**मोहियोंकी कल्पना धोकेसे खाली नहीं**—सांसारिक पदार्थोंमें जितना सुख है उतना ही दुःख है। खानेमें यदि सुख है तो उत्तमोत्तम पदार्थोंको हमेशा खाते रहो—पेटभर जाने पर खाते रहो, किन्तु देखा यह जाता है कि थोड़ा-सा खाने पर (पेटके भर जानेपर) वही

भोजन अप्रिय हो जाता है और भूख लगनेपर वही प्रिय लगने लगता है। इस तरहसे हम
देखते हैं कि संसारके किसी भी विषय भोगमें आनन्द नहीं है। किन्तु जब तक इस जीवको
स्वभावका परिचय नहीं है तभी तक पंचइन्द्रियोंके विषयोंमें आनन्द सुख मानता है। यह
जीव अनेक बार सम्राट, चक्रवर्ती, देव-इन्द्र हुआ—खूब धन, सम्पत्ति, वैभव प्राप्त किया
किन्तु वे वर्तमानमें कुछ भी काम नहीं आ रहे हैं। धन, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री आदिक ये आपके
नहीं हैं किन्तु आप इन्हें अपना मान रहे हो, मरणसमय कोई भी आपका साथ नहीं दे
सकता—सब कुछ यहीं पर रहेगा। आपकी वस्तु आपमें है। वह आपसे बाहर नहीं जा
सकती है और जो वस्तु आपकी नहीं है वह आपमें आ नहीं सकती है। पदार्थ न इष्ट हैं
और न अनिष्ट। किन्तु हमने आपने उन्हें जिसे जैसा मान लिया सो वह वैसा ही प्रतीत
होता है। यदि पदार्थ इष्ट और अनिष्ट हैं तो एक चीज जो आपको अच्छी लगती है वही
अन्यको खराब तथा अहितकर सिद्ध क्यों होती है? आपको नीमकी पत्ती कटु प्रतीत होती
है किन्तु ऊंटको वही रुचिकर है। इस तरहसे पदार्थोंमें हम और आपने जैसी बुद्धि बना
रखी है, उसे उसी तरहका मान लिया है। यह संसार स्वप्नकी तरह है, अंधेर है।

**भोगोंका संयोग अनित्य है**—एक साधु मार्गमें जा रहा था। रास्तेमें एक सेठ
साहबकी हवेली मिली। द्वारपर पहरेदार खड़ा था। साधुने पहरेदारसे पूछा कि यह धर्म-
शाला किसकी है? पहरेदार बोला कि साधु जी धर्मशाला आगे मिलेगी, यह धर्मशाला नहीं
है। साधु जी बोले–हम यह नहीं पूछते हैं, हम तो यह पूछते हैं कि धर्मशाला किसकी है?
पहरेदारने फिर कहा कि साधुजी यह धर्मशाला नहीं है। साधुने फिर कहा कि हम तो
यह पूछते हैं कि धर्मशाला किसकी है? इस तरहसे जब कुछ कोलाहलसा हुआ, तब सेठने
पहरेदारसे पूछा कि क्या बात है? पहरेदारने सारी बात बताई। सेठ जी ने साधु जी को
ऊपर बुलवाया और कहा कि साधुजी यह धर्मशाला नहीं है, यह तो हवेली है। तब साधु
जी ने कहा कि आपकी यह हवेली किसने बनवाई थी? सेठजी बोले कि हमारे परदादाने
बनवाई थी। साधु बोले कि आपके परदादा इसमें कितने समय तक रहे थे? तब सेठजी
ने कहा कि वे तो बनवाते ही मर गये थे, फिर हमारे पिता जी ने इसे बनवाई। वे कितने
दिन इसमें रहे? १०–१२ वर्षके करीब और आप कितने समयसे इसमें रहते हैं? २० वर्ष
से। तब साधु जी ने कहा कि धर्मशालामें आदमी कितने दिन ठहर सकता है? ७ दिन
तक। और अगर आगे रहना हो तो? मंत्री आदि की आज्ञासे कुछ अवधि और बढ़
सकती है। तब साधु बोले कि यह धर्मशाला नहीं तो और क्या है? दस बारह वर्ष रहकर
और फिर इससे अलग हो जाते हैं। धर्मशालामें तो कुछ अवधि भी बढ़ जाती है, किन्तु
इसमें तो जहाँ आयु कर्म पूरा हुआ फिर एक मिनिट भी नहीं रह सकता है।

**विषयोंके त्याग बिना शान्ति नहीं मिल सकती**—संसारके सुखोंमें, जिनमें जीवों को प्रेम बढ़ा है, क्षणिक सुखको सुख मानता, उसे एक बार अच्छी तरहसे देखो—उसका अच्छी तरहसे परिचय प्राप्त करो और देखो कि क्या ये वास्तविक सुख हैं ? इन्द्रिय विषय भोगोंमें सुख नही है। पुण्यसे प्राप्त जो वस्तुयें हैं उनके ग्रहण करनेमें सुख नहीं है, किन्तु उनके त्यागमें ही सुख है। आप देखो—रामचन्द्र जी को पुण्यके प्रतापसे प्राप्त जो वस्तुयें थीं उनसे कितना दुःख रहा—किन्तु उनको जब इन्होंने त्यागा तभी सुख और आनन्द मिला, आनन्दका ध्यान किया तभी अनन्त सुखको पाया। पांडवोंको देखो। इस तरहके कितने ही उदाहरण मिलते हैं।

आत्माके कल्याणके लिए कषाय, मान, माया आदिका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु कषायत्याग सम्यक्त्व होनेपर ही संभव है। सम्यक्त्व भूतार्थनयसे तत्त्वस्वरूप जाननेसे संभव है। ऐसा अवगम भेदविज्ञानसे संभव है। भेदविज्ञान स्वस्वलक्षणपरिचय से संभव है। स्वस्वलक्षणपरिचय वस्तुस्वरूपके अध्ययन मननसे संभव है। अतः स्याद्वाद-पद्धतिसे वस्तुस्वरूपको जानो। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, प्रत्येक वस्तु निज निज अनन्तशक्तियों में तन्मय है, प्रत्येक शक्तिका प्रतिसमय परिणमन होता ही रहता है। ऐसी व्यवस्था सभी पदार्थोंकी है। इत्यादि वस्तुस्वरूपके अध्ययन, अभ्यास, प्रतीति होनेपर आकुलताकी कारण-भूत दुर्बुद्धियोंका अभाव हो जाता है। हमेशा ऐसे विचार करो कि जो आत्माके अहित करने वाले रागद्वेष मोहादिक विभाव परिणाम है उनसे यह आत्मा दूर रहे। जब ऐसे विचार आत्मामें पैदा हो जावेगे तब आत्मामें एक अपूर्व आनन्द पैदा होगा—वही आत्माका वैभव है, बड़प्पन है। बड़प्पन वही है जो हमेशा रहे। वह बड़प्पन आत्माके एकत्व प्राप्त होनेपर होता है। इस बड़प्पनके होने पर कषायें रह नहीं पाती है, अतः आत्माका एकत्व प्राप्त हो, ऐसे सत्प्रयत्न इस जीवको हमेशा करना चाहिए।

**गालीको सुनकर अज्ञानी रोष क्यों करता**—यह जीव अनादिकालसे मोह, माया, कषाय, राग द्वेषादिमें फंसा है। इसने अनेक बार उनकी कषायें सुनीं। किन्तु उन्हें इस तरह परिचयमें नहीं लाया, कि इसमें सही बात क्या है ? अज्ञानवश यथार्थ बातोंको भ्रमके कारण असत्य मान बैठा। दुनियामें कोई गालीका शब्द नहीं है। गालीका प्रचार ही नहीं हुआ है। किन्तु छोटे पुरुषोंसे बड़ी बात कही, उसने उसे गाली समझी। जैसे किसी गरीब आदमीसे आप कहो कि आइये कुबेर जी, आइये सेठ जी तो वह व्यक्ति आपके उन वचनों का क्या अर्थ करेगा ? वह तो उन्हें अपनी निंदा ही समझेगा। इसी तरहसे छोटे आदमीसे बड़े वचन कहे। जिसमे जो योग्यता नहीं है उससे प्रशंसाके शब्द कहे, किन्तु उन पुरुषोंने उन्हें गाली समझी। जैसे—कहा—नंगा। नंगाका अर्थ है नग्नः अर्थात् जिसके पास कुछ भी

नहीं है, निष्परिग्रही साधु–(मुनि) किन्तु छोटे पुरुष इसे गाली समझते हैं। पुंगा, पुंगवः—श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, सिद्ध भगवान। लुच्चा—लुञ्चः—जो केशोंका लोंच करे। गदहा—गद–रोग, हः—नष्ट करने वाला (जो रोगोंको नष्ट करे सो गदहा गधा)। पाजी—जो पापोंको जीते वह है पाजी। पागल—पापोंको गलाने वाला। जानवर—जान यानी ज्ञानी और उसमें जो श्रेष्ठ हो, वह (विद्वान्)। इस तरहसे दुनियामें गाली नामका कोई शब्द नहीं है किन्तु छोटे पुरुषोंने अथवा जिसे अपना स्वयंका कुछ बोध नहीं ऐसे पुरुषोंने उच्च शब्दोंको गाली समझी। यह जीव पर्यायको ही सर्वस्व आत्मा मानता आ रहा है इसलिये यह संकटोंको, दुखोंको पा रहा है।

**एक बार भी अपनी बात जाननेमें तो जुटो**—अनंत बार जगतके जीवोंने सब कुछ सुना किन्तु उसपर तथ्यका विचार नहीं किया। धन प्राप्त किया, मनुष्य जन्म प्राप्त किया, उत्तम कुल प्राप्त किया किन्तु इनका सदुपयोग नहीं किया। क्यों? ज्ञानके अभावसे। अब भी अवसर है, इस अवसरको हाथसे मत जाने दो। आत्मकल्याणके लिये ज्ञानाभ्यास करो। एक प्रौढ़शालाका निर्माण करो और उसमें तरुण वृद्ध सभी अध्ययन करो। धार्मिक पुस्तक विद्यार्थीकी तरह पढ़ो। देखो एक ही वर्षमें आप लोगों का कितना परिवर्तन हो जावेगा? बिना ज्ञानके आत्मकल्याण होना बहुत कठिन है। छहढालामें कहा है कि—कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे। ज्ञानीके छिन माहिं त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥ यानि अज्ञानी जीव करोड़ों वर्ष तक तप करके जितने कर्मोंका क्षय करता है ज्ञानी जीव उतने ही कर्मोंका त्रिगुप्ति—मन वचन काय इनके निरोधसे क्षय कर डालते हैं। सो भैया! अगर अपना हित चाहते हो तो खूब ज्ञानाभ्यास करो, २४ घन्टेमें २ घन्टे विद्यार्थी की तरह एकाग्रचित करके यह पुस्तक पढ़ो, इससे तुम्हें बहुत लाभ होगा। बिना ज्ञानके आत्म-कल्याण होना कठिन है। इसलिये ज्ञानोपार्जनमें जुट जाओ तभी कल्याण होगा। विषय-कषायोंकी आपदायें आत्मज्ञानसे ही शान्त होंगी। आत्मज्ञान वही है, जहाँ ध्रुव, शुद्ध आत्मा का भान है।

**वह शुद्ध आत्मा कैसा है**—इस विषयमें परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य अभी ही कहेंगे। इससे पहिले वे उस शुद्धात्माका प्रतिपादन करनेका उद्देश्य आदि सूचित करते हैं—

तं एयत्तविहत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥५॥

आत्मा अपने आपमें तो एकत्वमय है और समस्त पर-अनात्माओंसे अत्यन्त विभक्त है। ऐसे इस एकत्वविभक्त आत्माको मैं अपने वैभवके साथ दिखाऊंगा। यदि दिखाऊं तो प्रमाण करना, अन्यथा अर्थात् चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना। अहा! देखो मित्रो!

श्री सूरिवर्यका इन वचनोंमें कितना प्रसाद झलक रहा है ? अहंकारके विनाश कर देने वाले आचार्य अपने मुखसे कहें कि मैं अपने वैभवके साथ आत्मा दिखाऊंगा। इससे आप पहिचान लीजिये कि जगतके आत्मावोंपर कितनी उत्कृष्ट कृपा श्री कुन्दकुन्ददेवकी थी ? लोगोंको विश्वास उत्पन्न हो सुननेका और सुनकर इस पवित्र लक्ष्यका अनुभव पावें, यह उत्तम रूप में सद्भावना आचार्य महाराजकी थी जिससे प्रेरित होकर स्वयं अपने वैभवका संकेत कर देते हैं। धन्य है कृपालु हे श्रीकुन्दकुन्ददेव तुम्हारी कृपा को, जयवंत होहु।

**ज्ञानका चिन्ह निरहङ्कारपना है**—भैया ! वीतराग ऋषि सरल और ज्ञानी होते हैं। अद्भुत ज्ञान होनेपर भी अहंकार तो उन्हें छू भी नहीं पाता। आगे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं आत्मतत्त्वको दिखाता हूं। किन्तु यदि दिखा दूं तब आप स्वयं अपने ज्ञानसे प्रमाण करना, मान लेना। श्रीमत्कुन्दकुन्ददेव जो अध्यात्मयोगसे सुपरिचित हैं, जानते हैं कि कोई किसी अन्यके ज्ञानसे प्रमाण नहीं करता, प्रत्येक जीव अपने प्रमाण (ज्ञान) से ही प्रमाण करता (जानता) है। दूसरी बात निरहङ्कारता की है। श्रोतावोंपर सूरीश्वरकी अनुपम करुणा है। सूरीश्वर श्रीकुन्दकुन्ददेव आगे कहते हैं कि यदि चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना।

**महापुरुषोंकी बातचीतमें भी मर्म**—भैया ! क्या आप यह सोच सकते हैं कि अध्यात्मयोगसे परिचित श्री कुन्दकुन्ददेव अध्यात्मप्रतिपादनमें चूक सकते हैं ? नहीं, नहीं ना। अब इसका यथार्थ अर्थ समझना होगा। पदार्थका जो यथार्थ स्वरूप है उसका प्रतिपादन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। शब्द तो संकेत मात्र हैं, जो अर्थसे सुपरिचित होगा वही संकेत का लाभ ले सकता है। एक अन्य बात यह भी है कि पदार्थका प्रतिपादन नयोंके द्वारा हो पाता है। नय अनेक हैं और नयोंके विषय अनेक हैं। कौन प्रतिपादन किस नयसे है--इस बातका स्पष्ट बोध ही अध्यात्म तक पहुंचानेमें समर्थ है। प्राथमिक श्रोता इस सुबोधमें सफलता कठिनतासे पाते हैं, अतः उनको शब्द समझानेमें असमर्थ हैं, सो शब्द ही चूक सकते हैं। स्पष्ट भाव यह हुआ कि यदि शब्द चूक जायें तो उसपर छल ग्रहण नहीं करना कि आत्मा कोई नहीं है अथवा यह मात्र प्रलाप ही है आदि प्रकारसे दोष ग्रहण नहीं करना दोषयुक्त नहीं बनना। श्री अमृतचंद सूरीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेवके मर्मोंसे सुपरिचित थे, यद्यपि इसके बीच अन्तराल करीब ७-८ शत वर्षोंका था। अमृतचंद जी सूरि श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवके वैभवोंका वर्णन करते हैं:—

**आचार्यश्री की सर्वशास्त्रज्ञता**--श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यका पहिला वैभव था कि वे अनेक शास्त्रोंके महान् पारगामी थे। वही शास्त्र सत्शास्त्र कहलाते हैं जिनमें स्यात् मुद्रा झलकती है, अङ्कित है। समस्त शब्द ब्रह्म, परमागम द्वादश अंग व १४ अंग प्रकी-

र्णकोंमें है। इनमें आचार शास्त्र, श्रावकाचार, समस्त मत, अभिप्रायोंका विवरण, अनेक मंत्र शास्त्र, तन्त्र शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, भाषायें आदि सर्वविद्यावोंका इसमें समावेश है। जितना वेद अर्थात् केवलज्ञान जानता है उतना समस्त शब्दब्रह्म भी बताता है। किन्तु अन्तर इतना है कि वेद साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है तो शब्दब्रह्म परोक्षरूपसे जानता है। जानना सबका ही होता है। ज्ञानशक्तिके आश्रयसे जाननेकी अन्तःपद्धतिमें अन्तर नहीं है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य जी ने समस्त शास्त्रोंका हृदय पा लिया था। अतः उनका वैभव समस्त शब्दब्रह्मकी उपासनामें प्रकट हुआ। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी कृतियोंसे भी सुविदित है कि वे समस्त शास्त्रोंके कुशल विद्वान थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ जिनमेंसे कुछ उपलब्ध, कुछ अनुपलब्ध हैं अनेक हैं—श्रीसमयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, शीलपाहुड आदि अनेक पाहुड, रयणसार, नियमसार, छक्खडागमकी टीका, नीति ग्रन्थ आदि अनेक विरचित है। अनेक शास्त्रोंके मथनसे जिनका वैभव प्रकट हुआ है उस वैभवके बलपर भी श्रीमत्कुन्दकुन्द महाराज एकत्वविभक्त—शुद्ध आत्मतत्त्वका वर्णन करेंगे।

**प्रबल युक्त्यवलम्बन**—इसके अतिरिक्त आचार्यका वैभव युक्त्यवलम्बन है। ये आचार्य युक्ति, प्रतिभासे आदर्शसम्पन्न थे। इनकी युक्तियाँ समस्त कुयुक्तियोंको खंडित करनेमें समर्थ हैं। महती, समीचीन युक्तियोंके अवलम्बनसे श्री सूरीश्वरका आत्मवैभव जो प्रकट हुआ उस वैभवके द्वारा एकत्वविभक्त, शुद्ध आत्माका अनुपम करुणावश प्रदर्शन करेंगे। युक्तिका सम्बन्ध अविनाभावसे अधित है। अविनाभाव, व्याप्ति व तर्क इनका तात्पर्य एक है। जिसे सिद्ध करना है वह तो कहलाता है साध्य व जिस हेतुके द्वारा सिद्ध करना है वह कहलाता है साधन। साध्यके अभावमें साधनका न होना इस अटूट सम्बन्धको अविनाभाव कहते हैं। जैसे अग्नि न हो तो धुवां नहीं हो सकता है, इस अविनाभाव सम्बन्धके कारण यह युक्ति अबाधित हो जाती है कि धुवां हो तो अग्निका होना अवश्य समझना। यह तो लौकिक बात हुई। आत्माके सम्बन्धमें देखें—ज्ञानस्वभावी कोई पदार्थ है क्योंकि ये जानकारियां हो रही हैं। ज्ञानस्वभावी पदार्थके बिना ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है? ज्ञानस्वभावी पदार्थ अज्ञानस्वभावी माने जड़तास्वभावी पदार्थोंसे भिन्न है, क्योंकि दोनों अत्यन्त विरुद्ध-स्वभाव हैं। प्रत्येक पदार्थ भिन्न भिन्न हैं क्योंकि एक परिणमन एकके सिवाय अन्यत्र नहीं होता है। इस प्रकार तर्कणावों द्वारा वस्तुकी व्यवस्था करना युक्तिके अवलम्बनसे होता है।

समयसारमें अनेक विषयोंपर नाना अमोघ युक्तियाँ दी गई हैं। जैसे—केवल आत्मा कैसा है, आत्मामें मलिनता कैसे होती है, आत्मा बंधनमें कैसे पड़ जाता है, आत्माका दुःखोंसे छुटकारा कैसे होता है, आत्मा वस्तुतः करता क्या है आदि? ये सब विस्तृत बातें हैं। इनको तो जिन जिन स्थलोंपर आचार्य महाराजने जो विवरण किया है वहां सुनना

चाहिए, पढ़ना चाहिए। आचार्य श्री कुन्दकुन्द ऋषिका युक्त्यवलम्बन बड़ा अबाधित था। इसी कारण लौकिक दृष्टिमें भी वे उस समयके महान् एक ही आचार्य थे जिन्हें भारत ही नहीं किन्तु अनेक महादेश अपना आदर्श मानते थे। आध्यात्मिकता तो कूट कूट कर भरी हुई सी थी। यह समयसार तो परम उपनिषद है। सरल और अकाट्य युक्तियाँ अनादि परम्परागत अज्ञानको हटा देनेमें समर्थ हैं।

**गुरुवोंकी सविनय व सभक्ति सेवा**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यको बहुत बहुत परमागमोंका अधिकारपूर्ण ज्ञानका व निस्तुष युक्तियोंका महान् अवलम्बन था, इतनी ही बात नहीं है किन्तु उन्होंने गुरुवोंकी परमभक्तिके प्रसादसे प्रसाद रूपमें पाया हुआ शुद्ध आत्मतत्त्वका उपदेश भी अनुपम प्राप्त किया था। यह प्रसाद उन्हें पर गुरु श्री तीर्थंकर महाराज और अपर गुरु आचार्यादिककी परमभक्तिसे प्राप्त हुआ था। गुरु महाराज स्वयं निर्मलविज्ञानघनमें मग्न हुए थे और उनका अविरल प्रवाह भी चलता चलता आज सत्यस्वरूपका प्रदर्शन कर रहा है। प्रसाद उन्हें प्राप्त होता है जिनकी निष्कपट सेवा होती है। श्रीमत्कुन्दकुन्द आचार्यने निर्मल ज्ञानघनमग्न गुरवोंकी निःस्वार्थ उपासना की, सेवा की, जिसके प्रसादमें आचार्यश्रीको शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुशासन प्राप्त हुआ। इस परम धर्मशासनके परमधर्मोपदेशसे भी उनका आत्मा पूरा हो चुका था। इस शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुशासनसे भी रचयिताका वैभव उन्नत था, जिस वैभवके बलसे निज एकत्वमें तन्मय और सर्व द्रव्य और द्रव्यान्तरभावोंसे पृथक् समयसारका उपदेश आचार्यश्रीजीने किया है।

**सर्वोच्च वैभव स्वानुभव**—इन वैभवोंसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वैभव आचार्य श्रीका स्वानुभव था। बहुत शास्त्रोंका ज्ञान भी हो जाय, महती युक्तियोंका आश्रय भी मिल जाय, गुरुवोंका उपदेश भी प्राप्त हो जाय तथापि यदि स्वानुभवका वैभव प्रकट नहीं हो तो उक्त सब मोक्षमार्गके लिए अकिञ्चित्कर हो जाता। उक्त तीनों वैभव इस स्वानुभव महावैभवके कारण हैं, अतः उन तीनोंका भी महान् महत्त्व है और उनसे भी अधिक महत्त्व स्वानुभवका है जो कि उक्त तीनोंका प्रयोजन रूप है। स्वानुभव आत्मीय आनन्दके संवेदन स्वरूप है। यह आनन्द सहज और अनैमित्तिक है। यह स्वके ही आश्रयसे प्रकट होता है। सम्यक्त्व होनेपर आत्मीय आनन्द अन्तरमें निरन्तर झरता रहता है। स्वानुभवके समयमें वही आनन्द बाह्य विकल्पोंसे शून्य आत्माके हो जानेसे विशिष्ट हो जाता है। यह विशेषता सामान्यके सामान्यानुरूप विकासमात्र है। समस्त अचेतन वस्तुओं और विभावोंसे पृथक् निर्विकल्प निज चैतन्यस्वभावके अनुभवका जो अलौकिक आनन्द है वह इस अनुभवसे शून्य इन्द्र चक्री आदि को भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसकी प्राप्तिके उपायसे ही व्याप्त यह समयसार ग्रन्थ है। जगतके प्राणी आनन्द गुणके पुञ्ज होकर भी आनन्दके अनुभवसे वञ्चित रहे हैं, इसका

कारण पदार्थके यथार्थ ज्ञानका अभाव है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य इन समस्त वैभवोंके दलसे शुद्ध आत्मतत्त्वका उपदेश दे रहे हैं। जिज्ञासु मुमुक्षुओंका इससे बढ़कर और भवितव्य क्या होगा ?

**गर्वरहितके वैभवकी शोभा होती है**—इस समस्त वैभवकी बात होनेपर भी निष्पक्ष-हृदय, परमकृपालु आचार्यश्री कहते हैं कि यदि दिखाऊं तो स्वयं स्वानुभवसे प्रमाण करना, यदि चूक जाऊं बतानेमें, तो दोष लेकर न जाना, फिर कोशिश करना समझनेकी। जगतके जीवोंको अगर कोई सबसे अधिक प्रिय वस्तु है तो अपनी आत्मा है। आत्मासे अधिक प्रिय और कोई वस्तु नहीं दिखती। जब धनपर व परिवारपर संकट आता है तब परिवारको छोड़कर यह जीव अपनी रक्षा करता है। साधुजनोंको देखो जब उनपर संकट पड़ता है तब वे अपने अपने शरीरको छोड़ अपनी आत्माकी रक्षा करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणीको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। जब सबको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है तो उन्हें चाहिए कि वे अपनी आत्माकी रक्षा करें। आत्माकी रक्षा करें याने अपनी आत्माकी दया करें।

**आत्माकी दया करना ही श्रेष्ठ तत्त्व है**—सब विकल्पोंको छोड़कर आत्माका ध्यान करके, आत्मस्वरूपका ज्ञान करके उस आनन्दको प्राप्त करना चाहिए जिसे अरहंत व सिद्ध प्रभुने प्राप्त किया है। इसके लिए शरीर, पुत्र, स्त्री आदिकसे ममत्व बुद्धि हटायें। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, पुत्र मेरा नहीं है, न मैं पुत्रका हूं—इस तरहके विचार पैदा करके—ध्यान करे कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप, ध्रुव, अखंड, सहजसिद्ध, स्वतःसिद्ध एक आत्मा हूं। शरीरकी रक्षा करनेसे आत्माकी रक्षा नहीं होती है, और न वह आनन्द प्राप्त हो सकता है जो कि अरहंत सिद्धोंने पाया है। वह आनन्द तो ज्ञानसे प्राप्त होगा। बिना ज्ञान के कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता है। अनादिकालसे यह जीव अज्ञानके कारण इन जन्ममरण के दुःखोंमें फंसा आ रहा है। अब भी समय है; यदि अपना कल्याण चाहते हो, उस आनन्द को चाहते हो जिसे कि भगवान अरहंत और सिद्धोंने पाया है तो ज्ञान प्राप्त करो। इस मनुष्य भवमें आकर इसका सदुपयोग करो। ज्ञानप्राप्तिके लिये अध्ययनकी सबसे अधिक आवश्यकता है। भैया ! अपन सबको चाहिए कि एक पुस्तक विद्यार्थीकी तरह मननपूर्वक पढ़ें, उसे याद करें। एक सालमें ही भैया बहुत ज्ञान हो जावेगा। छहढालामें कहा भी है कि ज्ञान समान न आन जगतमें सुखका कारण। ज्ञानके समान जगतमें सुखका और कोई कारण नहीं है सो सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति होना आवश्यक है। प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञान है वही आनन्दको देता है। अब समयकी अधिकतासे कुछ ज्यादा नहीं कहना चाहते हैं। शामको इसी विषयको ले करके वर्णन चलेगा कि आत्माका कल्याण कैसे हो सकता है ?

**निष्पक्षता आनेपर ही कल्याण हो सकता है**—आत्मामें यह ज्ञान हो जावे, यह श्रद्धा हो जावे कि मैं न तो शरीर हूं, न मैं परवार—गोला पूर्व, खंडेलवाल आदि कोई हूं, किन्तु मैं तो एक शुद्ध स्वरूप अखंड आत्मा हूँ। इस तरहके ज्ञान होनेपर ही कृतकृत्यताका विकास होने लगेगा और आत्माका कल्याण हो सकेगा। सुबहके प्रकरणमें बताया गया था कि जीवको दुनियामें सबसे अधिक प्रिय वस्तु है तो आत्मा है। धन परिवार आदिपर विपत्ति आनेपर जीव—(मनुष्य) उन्हें छोड़कर अपनी रक्षा करता है, साधुजन (मुनिजन) अपने ऊपर विपत्ति आनेपर संकट उपस्थित होनेपर शरीरकी उपेक्षा करके आत्माकी रक्षा करते हैं। आत्मज्ञानका चिंतन करना, और उसका यथार्थ ज्ञान बनाये रखना, इतनेसे ही धर्मका प्रारंभ है। यहांपर सरलसे सरल बातको ले करके धर्मके स्वरूपका वर्णन करेंगे। यहाँ प्रकरण यह चल रहा था कि वस्तुका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। सबसे पहले जानना यह है कि वस्तु कितनी है? एतदर्थ वस्तुका लक्षण यहांपर बताते हैं।

**वस्तुकी सरल पहिचान**—वस्तु उसे कहते हैं जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। अच्छा आप बताओ कि यह कपड़ा है, क्या यह वस्तु है? नहीं। क्यों? क्योंकि इस कपड़े के टुकड़े हो जाते हैं। इस कपड़ेके बहुतसे टुकड़े हो जावें और वह अंतका टुकड़ा जिसका कि दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता है, जिसे हम परमाणु कहते हैं, जो हमारी दृष्टिमें नहीं आता है वही द्रव्य है, वही वस्तु है। ये दिखने वाले जितने भी स्कंध हैं ये वस्तु नहीं हैं, इन्हें तो माया कहते हैं। क्योंकि ये अभी दिखते हैं और कुछ समय बाद नहीं दिखेंगे, नष्ट हो जावेंगे इसलिए ये सब माया हैं। वस्तुका स्वरूप बताया कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके वही वस्तु है, वही द्रव्य है। अच्छा बताओ। यह आकाश है—यह द्रव्य है अथवा नहीं? आकाश द्रव्य है। क्यों? क्योंकि इसके टुकड़े नहीं होते हैं। हां आकाशके दो भेद अवश्य माने हैं—पहला लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश, किन्तु इससे यह नहीं जान लेना चाहिए कि आकाशके टुकड़े हो गए। ये दो भेद तो इस दृष्टिसे हैं कि जितने आकाशमें ६ द्रव्य पाये जावें उसे कहते हैं लोकाकाश और जहां केवल आकाश ही है अन्य कोई द्रव्य न हो वह है अलोकाकाश। अलोकाकाशमें सिर्फ आकाश ही आकाश है।

धर्मद्रव्य कितना है? जितना लोक है उतना ही धर्मद्रव्य है। इसी तरहसे अधर्म द्रव्य है। धर्मद्रव्य कहते हैं किसे? जो चलते हुए जीव व पुद्गलको चलनेमें सहकारी हो वह है धर्म। और जो ठहरते हुए जीव और पुद्गलको ठहरनेमें सहकारी हो सो अधर्मद्रव्य है। काल भी द्रव्य है। पुद्गलका एक एक परमाणु द्रव्य है।

**दिखने वाले जो स्कंध हैं वे द्रव्य नहीं**—लोग जिनमें लुभा जाते वे द्रव्य नहीं। तो विचार करो कि लोग बाग किनमें लुभाते हैं? दिखने वाले पदार्थोंमें ही मनुष्य लुभाते हैं।

उन्हींमें यह कल्पना की जाती है कि अमुक चीज सुन्दर है व अमुक चीज असुन्दर है। जीव के टुकड़े होते हैं ? नहीं ? हमारी आपकी आत्माके टुकड़े नहीं हो सकते हैं, हमारी आपकी आत्मा अखंड है अतः वह द्रव्य है। एक आपकी आत्मा एक अन्य की आत्मा इस तरहसे एक एक आत्का द्रव्य है। इस तरहसे कितने द्रव्य हो गये ? अनंतानंत द्रव्य हुये। अनंतानंत जीवद्रव्य और जीवद्रव्यसे अनंतानंत गुणें पुद्गलद्रव्य, १ धर्मद्रव्य, १ अधर्मद्रव्य, और १ आकाशद्रव्य और असंख्यात पुद्गलद्रव्य, इस तरहसे अनंतानंत द्रव्य हुये। सो कहते हैं द्रव्य छह हैं वे छह द्रव्य जातिकी अपेक्षासे हैं। द्रव्यका लक्षण किया है जो अखंड है। इसके साथ यह भी देखना है कि द्रव्यमें कितनी और कौनसी विशेषताएं भी हैं ? द्रव्य अखंड है और वे स्वतः सिद्ध है। द्रव्य किसीके द्वारा बनाये नहीं गये हैं किन्तु वे अनादि-कालसे स्वतः सिद्ध हैं। प्रत्येक आत्मा स्वतः सिद्ध है। द्रव्य कभी भी बनाई नहीं जाती। बनने वाली होती है अवस्था। द्रव्य अनादिसिद्ध है, अतः अपनेमें यह प्रतीत करना है कि मैं तो अनादिसिद्ध हूं मुझे किसीने बनाया नहीं है।

**द्रव्यकी दूसरी पहिचान**—द्रव्यकी दूसरी पहिचान यह है कि जो बने बिगड़े और बना रहे ये तीनों चीजें जिसमें पाई जावें, एक साथ जिसमें रहें वही द्रव्य है। इनसे रहित द्रव्य नहीं। जिसमें बनना बिगड़ना है और बना रहना नहीं है वह द्रव्य नहीं है। जिसमें बनना और बना रहना है किन्तु बिगड़ना नहीं है वह भी द्रव्य नहीं है। बात यह है कि इन तीनमें एक न हो तो तीनों भी नहीं होते। जिसमें अविनाभावपने से ये तीनों बातें पाई जावें जो बने बिगड़े और बना रहे वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय बनती बिगड़ती और बनी रहती है। कोई भी द्रव्य आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो ठाली रहे, उसका कोई समय नहीं होगा कि जिस समयमें उसकी कोई दशा न हो। देखो अरहंत सिद्ध हैं, इनकी भी प्रति समय नई नई अवस्थायें होती रहती हैं। प्रति समय उनकी अवस्थायें नई नई होती रहती हैं, कोई दशा ऐसी नहीं कि जो दो समय तक वैसी ही बनी रहे। सिद्धप्रभुके अन्दर प्रतिसमय प्रत्येक दशा नई उत्पन्न होती है और वह दशा जो उत्पन्न होती है वह पहलेकी दशाके सदृश ही उत्पन्न होती है। सूक्ष्म रूपसे ऐसा है, स्थूलरूपसे तो ध्रुव दशा कहलाती है।

**समान परिणमन भी यथार्थमें भिन्न-भिन्न है**—स्थूल दृष्टिसे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यह अवस्था दसों बीसों बरसोंसे एकसी है, उसमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नई नई अवस्थाओंमें जाता रहता है। संसारके प्राणियोंकी एक महान् गलती यह है कि वे पर्यायको ही अपना मानते हैं, पर्यायको ही द्रव्य मानते हैं। पर्यायको द्रव्य माननेसे मोक्षमार्ग नहीं बनता है। यहाँ

हमें विचार यह करना है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं परवार, खंडेलवाल, ओसवाल नहीं हूँ। मैं स्त्री, पुरुष, बालक नहीं हूँ। और तो क्या मैं यह शरीररूप भी नहीं हूँ। किन्तु मैं तो इन सभी दशाओंसे विलक्षण जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह आत्मा हूँ। जब इस तरहके विचार हो जावेंगे तब सारे लड़ाई झगड़े समाप्त हो जावेंगे। आपने कभी यह विचार किया है कि यह जो आपसमें लड़ाई आदि होती है सो क्यों ? इसका क्या कारण है ? इन झगड़ों का मुख्य कारण है पर्यायमें आत्मबुद्धि। इस पर्यायरूप अपनेको ही सब कुछ मान रखा है। परपदार्थोंमें अहंबुद्धि ही घरोंमें सास बहू देवरानी जिठानी आदिमें लड़ाई झगड़ेके कारण हैं। कोई लड़ता है गहने जेवरातोंपर——उसने गहनोंको ही अपना मान रखा है, उनसे ही उसे प्रेम है। कोई कहता है उसने मेरी बात नहीं मानी, मेरा अनादर किया आदि, इसी पर लड़ाई होती है। कहनेका तात्पर्य कि इस जीवने परवस्तुओंको अपना माना है। वस्तुतः देखा जावे तो एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

**स्वरूपविरुद्ध श्रद्धामें क्लेश**——वस्तु अपना स्वरूप कह रहा है कि मैं तो अनादिसे अपने स्वरूपमें हूँ। मैं अपना स्वरूप छोड़कर अन्य कहीं नहीं जा सकता हूं। मैं अखंड हूं, स्वतःसिद्ध हूं, मुझे किसीने नहीं बनाया है। पैदा तो वह किया जाता है जो कि कभी था ही नहीं सो ऐसा होता नहीं कि सत् ही न हो और नया सत् बन जावे। किन्तु मोही उल्टी श्रद्धा करता है। लोग बाग कहते हैं कि हमने पुत्र पैदा किया सो ऐसा कहना झूठ है। क्योंकि पुत्रके अन्दर जो आत्मा है, वह किसीके द्वारा बनाई नहीं जा सकती है। बनाई तो वही जाती है जो पहले न हो और उसका नया निर्माण किया जा रहा हो। पिताका पुत्रकी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं। पुत्रकी आत्मासे माताका कोई सम्बन्ध नहीं और न पतिकी आत्मासे पत्नीकी आत्माका कोई सम्बन्ध है किन्तु ये तो सब विपत्तियां लगी हैं। ये विपत्तियां तभी नष्ट होती हैं जबकि वस्तुका यथार्थ बोध होता है। यथार्थ ज्ञानके होने पर ये सारी विपत्तियां स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं।

**भ्रममें ही सारी आपत्तियाँ लगती हैं**——जैसे किसी रस्सीमें सर्पका भ्रम हो जानेपर अनेक विपत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं किन्तु उसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर कि यह तो रस्सी ही है सर्प नहीं सारी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी तरहसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होने पर सभी विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। ज्ञान आनंदका कारण है, वह ज्ञान होना चाहिए प्रतीतिपूर्वक। प्रतीतिपूर्वक वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही आनंदका देने वाला है। प्रतीति सहित ज्ञानमें आत्मा नम्र बन जाता है। उसके अंदर छल, कपट, माया आदि नहीं रहते हैं। वहां पर सर्वदा ऐसे भाव वस्तुस्वरूपके अनुरूप पैदा होते हैं कि मैं अपनेमें ही अपने असाधारण भावसे तन्मय हूँ। मैं खुदकी शक्तिसे खुदमें परिणमता हूं। परके विचार वहांपर

नहीं होते है । जहाँपर परवस्तुओंका विचार और स्वीकार होता है वहाँ आत्माका कल्याण नहीं होता है । मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव अनादि कालसे अपनेको परवस्तु रूप मानता चला आ रहा है । इसी कारणसे वह संसारसे पार होनेमें असमर्थ है ।

**सत्य एक होता है गलतियां अनेक होती हैं**—छहढालामें बताया है कि मिथ्यादृष्टि जीव किस तरहसे अपनेको ही मानता है । मिथ्यादृष्टि जीव मानता है कि 'मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव—मेरे धन गृह गोधन प्रभाव । मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ।' वह मानता है कि मैं सुखी हूँ, मेरा यह सुख है । मैं दुःखी हूँ, मेरा दुःख है । मैं रंक हूं, गरीब हूँ । मै राजा हूँ, राज्य मेरा है, मैं उसका स्वामी हूं । मेरे घर है । मेरे गाय भैंस आदि है । मेरा प्रभाव है । जनतामें मेरी मान प्रतिष्ठा है, मेरी इज्जत है । मेरे सुततिय—मेरे लड़के हैं, मैं उनका पिता हूं, स्त्री मेरी है । मैं बलवान हूं, मै दीन हूं, कमजोर हूँ । मेरा रूप बहुत सुन्दर है, मैं बहुत रूपवान् हूँ । मैं बहुत कुरूप हूं । मैं बहुत ही मूरख हूँ, मुझमें बुद्धि विवेक नहीं है । मैं बहुत ही चतुर हूं आदि—इस तरहके भिन्न-भिन्न विचार मिथ्यादृष्टि करता है और उनमें ही सुख दुःखका अनुभव करता रहता है । अर्थात् अवस्थावों में व पर-अवस्थावोंमें निजकी बुद्धिके भ्रमसे बोझ उठाये उठाये फिरता है ।

आप विचार करो—यह मै नहीं हूं । मैं का तो कोई लिंग ही नहीं है । मैं का पर्यायवाची अंग्रेजीमें 'आई' है सो आप देख लो कि उस 'आई' का कोई लिंग नहीं है । स्त्री-लिंगमें भी 'आई' का प्रयोग होता है । नपुंसक लिंगमें भी आईका प्रयोग होता है । यानी तीनों लिंगोंमें आई आती है । मनुष्य कहता है मै जाता हूं—आई गो । स्त्री कहती है मैं जाती हूँ—आई गो । इसी तरहसे हिन्दीमें भी मै का कोई लिंग नहीं है । इसलिये विचार करो कि मै न पुरुष हूं, न मैं स्त्री हूं । मैं किसी लिंगरूप नहीं हूं । मै गोलालारे, परवार, खण्डेल-वाल आदि कोई नहीं हूं किन्तु मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप एक आत्मा हूं । यहाँ हमें यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है कि हमें तोता रटन्त ज्ञान प्राप्त नही करना है । उस तोता रटन्त ज्ञानसे कोई लाभ नही होता है ।

**निष्पक्षतामें ज्ञानकी सहज समृद्धि होती है**—ज्ञान तो आत्माका है । उस ओर प्रतीति होनेपर क्षण मात्रमें ज्ञान हो जाता है । आचार्य विद्यानन्दि स्वामी जो कि महान् ग्रन्थोंके रचयिता हैं वे पहले वैष्णव धर्मके मानने वाले थे, कहीपर जैन मंदिर रास्ते में पड़ जाता तो वहाँसे निकलना नहीं होता था, निकलते तो मुंह फेरकर । ऐसे उन आचार्यजीके मनमें एक विचार पैदा हुआ कि मैं जिस मंदिरसे मजहबसे इतना द्वेष करता हूं सो क्या है, आखिर उसे देखना भी तो चाहिए ऐसा विचार करके वे मंदिरके अन्दर गये—वहांपर एक मुनिराज बैठे हुए श्री पूज्य आचार्य समंतभद्र स्वामी रचित देवागमस्तोत्रका

पाठ कर रहे थे, उसे सुन करके विद्यानन्दि आचार्य बोले कि आप इसे समझाइये क्या कह रहे हैं ? मुनिराजने कहा कि मैं इसका अर्थ नहीं जानता हूँ, मैं तो इसे पढ़ रहा हूं। उन्होंने कहा कि फिर इसे एक बार कहें—मुनिराजने फिरसे देवागमस्तोत्र पढ़ा। इस तरहसे उसका अर्थ विद्यानन्दि स्वामीके हृदयपर उतर गया और उन्होंने उसे समझा और दिगम्बर जैन दीक्षा धारण की। बादमें न्यायशास्त्रके बड़े-बड़े गम्भीर ग्रन्थ अष्ट सहस्त्री श्लोकवार्तिक आप्तपरीक्षा आदि आपने रचे। तो कहनेका अर्थ यह है कि ज्ञान तो एक अन्तर्मुहूर्तमें प्राप्त हो सकता है यदि कदाचित् प्रतीति भी अभी न हो तो भी श्रद्धापूर्वक पढ़ते जावो कि इससे हित होगा। इसलिए अध्ययन करना व्यर्थ मत समझो। अध्ययन करो श्रद्धापूर्वक। अभी समझमें नहीं आता तो समय आनेपर सब समझमें आ जावेगा।

**तोता रटन्तसे कोई लाभ नहीं है**—एक पठानने एक तोता पाल रखा था। उसे इतना सिखला रखा था कि "इसमें क्या शक"। एक ब्राह्मण आया और पठानसे बोला कि यह तोता कितनेका है ? पठान बोला तोताकी कीमत सौ रुपया है। ब्राह्मण बोला—बाजार में तोते ।।) आठ आठ आनेको मिलते है और तुम सौ रुपया मांगते हो, यह क्यों ? तब पठानने कहा कि अच्छा आप तोतेसे ही उसकी कीमत पूछ लो कि तुम्हारी कीमत सौ रुपया है क्या ? तब ब्राह्मणने पूछा कि हे तोते क्या तुम्हारी कीमत सौ रुपया है ? तोता बोला—इसमें क्या शक। ब्राह्मण बोला, तोता तो गुणवान प्रतीत होता है, तो वह सौ रुपया दे करके तोता ले गया। घर जाकरके ब्राह्मणने सुबह तोतेसे राम राम कहनेको कहा। तोता बोला इसमें क्या शक—तब ब्राह्मणने सोचा कि तोता इससे भी गहरे विचार रामके प्रति रखता है उनके बारेमें जानता है सो वेदान्तके रहस्योंको पूछने लगा, तोता वही जवाब देवे किन्तु इस तरहसे जब बात होते ब्राह्मणको तोतेपर शक हुआ तो उसने पूछा कि क्या मेरे सौ रुपये व्यर्थमें गये तो तोता बोला कि इसमें क्या शक ? तब ब्राह्मणकी समझमें पूरी बात आई। कहनेका अर्थ है कि जब तक आत्माकी प्रतीति नहीं होती है तब तक प्रतीतिसे रहित ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए भैया ! आत्माकी प्रतीति करो। प्रतीति वर्क ज्ञान ही कल्याण का करने वाला है। जो भाई यहांपर ऐसे हैं जिनकी समझमें विषय नहीं आता है उन्हें एक दो बार उसे दुहरा लेना चाहिए तब सब ठीक होगा उससे समझनेमें सहायता मिलेगी।

**शुद्ध चैतन्यका बोध सर्वोच्च वैभव है**—शुद्ध चैतन्यके बोध बिना प्राणीकी विपदायें, भवभ्रमणायें कदापि टल नहीं सकतीं। अतः भैया जिस एकत्वविभक्त आत्माको श्रीकुन्द-कुन्ददेवने बड़ी करुणा करके दिखाया है, बताया है उसको सर्वप्रयत्न करके अवधारण कर लेनेका निश्चय कर लो।

वहां श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य यह बताते हैं कि शुद्ध आत्मा क्या है:—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।।६।।

आत्मा वास्तवमें न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, क्योंकि प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों परिणमन हैं, दशायें हैं; अनादि अनन्तभाव नहीं है । केवल आत्मा तो एक ज्ञायकभाव मात्र है । इस शब्द द्वारा भी यह अर्थ ध्वनित न कर लेना कि ज्ञेयका जानने वाला, किन्तु ज्ञायकसे तात्पर्य चैतन्यस्वच्छतामात्र । इस प्रकार अध्यात्ममर्मज्ञ संतजन स्वभावमात्र आत्मा को शुद्ध कहते हैं । वस्तुतः वह तो किसी शब्द द्वारा कहा ही नहीं जा सकता । शब्दका अर्थ होता है, वह अर्थ किसी न किसी संयोगका प्रतिपादन करता है । आत्मातो जो परमशुद्ध निश्चयनयसे ज्ञात हुआ, वह तो वही है । वह किसी अन्य द्रव्यकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता । शुद्ध आत्माका स्वरूप सर्व प्रकारके परिणमनोंसे परे है ।

**शुद्ध आत्मा स्वतःसिद्ध पारिणामिक भावमय है**—इस प्रकरणमें शुद्ध आत्मा किसे कहा है ? केवल आत्माको । केवल आत्माका वर्णन करनेकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि यहाँ तो दृष्टिसे सृष्टि होती है । जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि होती है । दृष्टि वीतरागता की ओर रहती है तो उसी तरहकी सृष्टि भी होती है । जो आत्माको हमेशा शुद्ध देखता है उसकी दशा शुद्ध हो जाती है । लोकमें देखो । जो जैसा होता है, दूसरोंके प्रति भी वैसे ही भाव रखता है । जो चोर होता है वह हर एकको ही चोर समझता रहता है । कोई भी उसके पास आवे वह ऐसे ही विचार करता कि यह कहीं चोर तो नहीं है ? जो क्रोधी मानी होता है वह दूसरोंके प्रति भी ऐसे ही विचार बनाये रखता है कि यह बहुत क्रोधी है, मानी है आदि । यह बात प्रायः देखी जाती है । कहनेका तात्पर्य कि जिसके जैसे परिणाम होते हैं वह दूसरोंको प्रायः वैसा ही जानता है । दोषोंके देखने वाले का प्रायः करके दोषोंको ही देखनेका अभिप्राय रहता है, गुणीजनोंका अभिप्राय, गुणीजनोंकी दृष्टि, गुणोंकी ओर रहती है । गुणी जन गुणोंसे वे प्रेम करते हैं, गुणोंका आदर करते हैं और हमेशा ही गुणको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं । दोषदृष्टि बहुत ही बुरी चीज है । हम दूसरे के दोषों को देख करके क्या बनेंगे ? दूसरोंके दोष देखनेसे हम अपनेको निर्दोष नहीं बना सकते । अपनेको निर्दोष तो तभी बना सकते हैं जब कि हम स्वयंके दोषोंको देखेंगे और जो हमारे अन्दर दोष हैं हम उन्हें दूर कर देंगे तभी हम निर्दोष बन सकते हैं । मनुष्यको हमेशा गुणग्राही बनना चाहिए ।

**वस्तु अपना ही परिणमन करता है**—परमार्थ दृष्टिसे जीव अपनेको ही जानता है । अपनेको छोड़कर वह अन्यको नहीं जानता है । जीव निर्विकल्प दशामें अपनेको भी विकल्प नहीं कराता है । निर्विकल्प दशामें शुद्ध ज्ञायक भाव रहता है इसलिये वहाँपर यह

परको नहीं जानता है। जब जीव परको नहीं जानता है तब उसके गुणोंका परिणमन उसमें ही होता है, बाहर नहीं। सर्वत्र यही जानना। जैसे यह कपड़ा है इसके रूप, रस, गंध स्पर्श आदि कपड़ेमें ही हैं अथवा कपड़ेके बाहर भी हैं? उसमें ही हैं। उसके बाहर उसके गुण नहीं रहते हैं। अच्छा बताओ यह काठ है, इसके ऊपर पीला रंग है। सो रंगने किसे पीला किया? काठको अथवा अपनेको? पीले रंगने अपने रंगको ही पीला किया, काठको नहीं। काठ अन्दर वैसा ही है जैसा कि वह था। ऊपरसे रंग खुरचकर देखनेसे मालूम होवेगा काठ ज्यों का त्यों है। कहनेका अर्थ है कि जिसकी जैसी परिणति होती है वह उसीमें रहती है। एक प्रत्येकके परिणमनसे दूसरा द्रव्य नहीं परिणमता। आत्माकी जो परिणति है वह आत्मामें ही रहती है, आत्मासे बाहर नहीं। जैसे लोग कहते हैं कि हमारा प्रेम तुमसे बहुत है, मैं अमुकको बहुत प्रेम करता हूँ–यह सही है अथवा गलत? यह कहना असत्य ही है। क्योंकि राग द्वेष आत्मासे बाहर तो जा नहीं सकते हैं, क्योंकि सभीकी परिणतियाँ उसीमें रहती हैं उससे बाहर नहीं, इसी कारण राग, द्वेष, आत्माकी परिणतियाँ हैं सो वे आत्मामें ही रहेंगी, सो वह अपने पर ही प्रेम करता है और अपने ऊपर ही द्वेष। किन्तु उपचारसे व्यवहारमें ऐसा कह देते हैं कि मैं अमुकके ऊपर प्रेम कर रहा हूं।

**आत्मा जो करता है, अपना ही करता है**—आत्माकी एक परिणति जानना भी है सो आत्मा अपनेको ही जानता है, दूसरोंको नहीं। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव अपनेको ही देखता है—अपनेको ही जानता है; चाहे वह जीव मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो। अब यहाँपर निर्णय यह करना है कि यह संसारी जीव अपनेको किस अवस्था रूप मानता है? छहढालामें बताया है कि यह जीव अनादिसे अपनेको मानता आ रहा है कि मैं सुखी दुखी मैं रंक राव आदि—मैं सुखी हूं, मैं दु:खी हूं, मैं गरीब हूं, मैं धनवाला हूं आदि। क्रोधके समय जीव अपनेमें यह मानता है कि मैं यह हूं। लोभके समय मानता कि यह लोभ मैं हूं। मोटें रूपसे तो कोई कोई यह भी मानते हैं कि मैं नेता हूं, हिन्दुस्तानका मैं सबसे बड़ा लीडर हूं, लोग मेरी आज्ञामें चलते हैं—किन्तु यह उनका मोह है। यह जीव अनादिकालसे इसी मोह ममतामें रुलता आ रहा है। अगर तुम्हें संसारसे ऊपर जाना है तो अपनी आत्माको निर्मल बनाओ। आत्माकी दो दृष्टियाँ हैं—शुद्ध तत्त्वकी और अशुद्ध अवस्था की। जो जीव अपनेको अशुद्ध ही मानता है, अपनेको अशुद्ध ही देखता है सो वह अशुद्ध ही बन जाता है। और जो अपनेमें शुद्ध द्रव्यकी भावना रखता है, अपनेको द्रव्यत: शुद्ध मानता है वह शुद्ध बनता है। शुद्धपर्यायरूपसे यदि यह जीव परको शुद्ध देखता है अथवा जानता है तो भी वह विकारी बनता है, किन्तु वह शुभ है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।।६।।

आत्मा वास्तवमें न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, क्योंकि प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों परिणमन हैं, दशायें हैं; अनादि अनन्तभाव नहीं है। केवल आत्मा तो एक ज्ञायकभाव मात्र है। इस शब्द द्वारा भी यह अर्थ ध्वनित न कर लेना कि ज्ञेयका जानने वाला, किन्तु ज्ञायकसे तात्पर्य चैतन्यस्वच्छतामात्र। इस प्रकार अध्यात्ममर्मज्ञ संतजन स्वभावमात्र आत्मा को शुद्ध कहते हैं। वस्तुत: वह तो किसी शब्द द्वारा कहा ही नहीं जा सकता। शब्दका अर्थ होता है, वह अर्थ किसी न किसी संयोगका प्रतिपादन करता है। आत्मातो जो परमशुद्ध निश्चयनयसे ज्ञात हुआ, वह तो वही है। वह किसी अन्य द्रव्यकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता। शुद्ध आत्माका स्वरूप सर्व प्रकारके परिणमनोंसे परे है।

**शुद्ध आत्मा स्वतःसिद्ध पारिणामिक भावमय है**—इस प्रकरणमें शुद्ध आत्मा किसे कहा है ? केवल आत्माको। केवल आत्माका वर्णन करनेकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि यहाँ तो दृष्टिसे सृष्टि होती है। जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि होती है। दृष्टि वीतरागता की ओर रहती है तो उसी तरहकी सृष्टि भी होती है। जो आत्माको हमेशा शुद्ध देखता है उसकी दशा शुद्ध हो जाती है। लोकमें देखो। जो जैसा होता है, दूसरोंके प्रति भी वैसे ही भाव रखता है। जो चोर होता है वह हर एकको ही चोर समझता रहता है। कोई भी उसके पास आवे वह ऐसे ही विचार करता कि यह कहीं चोर तो नहीं है ? जो क्रोधी मानी होता है वह दूसरोंके प्रति भी ऐसे ही विचार बनाये रखता है कि यह बहुत क्रोधी है, मानी है आदि। यह बात प्राय: देखी जाती है। कहनेका तात्पर्य कि जिसके जैसे परिणाम होते हैं वह दूसरोंको प्राय: वैसा ही जानता है। दोषोंके देखने वाले का प्राय: करके दोषोंको ही देखनेका अभिप्राय रहता है, गुणीजनोंका अभिप्राय, गुणीजनोंकी दृष्टि, गुणोंकी ओर रहती है। गुणी जन गुणोंसे वे प्रेम करते हैं, गुणोंका आदर करते हैं और हमेशा ही गुणको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। दोषदृष्टि बहुत ही बुरी चीज है। हम दूसरे के दोषों को देख करके क्या बनेंगे ? दूसरोंके दोष देखनेसे हम अपनेको निर्दोष नहीं बना सकते। अपनेको निर्दोष तो तभी बना सकते हैं जब कि हम स्वयंके दोषोंको देखेंगे और जो हमारे अन्दर दोष हैं हम उन्हें दूर कर देंगे तभी हम निर्दोष बन सकते है। मनुष्यको हमेशा गुणग्राही बनना चाहिए।

**वस्तु अपना ही परिणमन करता है**—परिमार्थ दृष्टिसे जीव अपनेको ही जानता है। अपनेको छोडकर वह अन्यको नहीं जानता है। जीव निर्विकल्प दशामें अपनेको भी विकल्प नहीं कराता है। निर्विकल्प दशामें शुद्ध ज्ञायक भाव रहता है इसलिये वहांपर यह

परको नहीं जानता है। जब जीव परको नहीं जानता है तब उसके गुणोंका परिणमन उसमें ही होता है, बाहर नहीं। सर्वत्र यही जानना। जैसे यह कपड़ा है इसके रूप, रस, गंध स्पर्श आदि कपड़ेमें ही हैं अथवा कपड़ेके बाहर भी हैं? उसमें ही हैं। उसके बाहर उसके गुण नहीं रहते हैं। अच्छा बताओ यह काठ है, इसके ऊपर पीला रंग है। सो रंगने किसे पीला किया? काठको अथवा अपनेको? पीले रंगने अपने रंगको ही पीला किया, काठको नहीं। काठ अन्दर वैसा ही है जैसा कि वह था। ऊपरसे रंग खुरचकर देखनेसे मालूम होवेगा काठ ज्यों का त्यों है। कहनेका अर्थ है कि जिसकी जैसी परिणति होती है वह उसीमें रहती है। एक प्रत्येकके परिणमनसे दूसरा द्रव्य नहीं परिणमता। आत्माकी जो परिणति है वह आत्मामें ही रहती है, आत्मासे बाहर नहीं। जैसे लोग कहते हैं कि हमारा प्रेम तुमसे बहुत है, मैं अमुकको बहुत प्रेम करता हूँ–यह सही है अथवा गलत? यह कहना असत्य ही है। क्योंकि राग द्वेष आत्मासे बाहर तो जा नहीं सकते हैं, क्योंकि सभीकी परिणतियाँ उसीमें रहती हैं उससे बाहर नहीं, इसी कारण राग, द्वेष, आत्माकी परिणतियाँ हैं सो वे आत्मामें ही रहेंगी, सो वह अपने पर ही प्रेम करता है और अपने ऊपर ही द्वेष। किन्तु उपचारसे व्यवहारमें ऐसा कह देते हैं कि मैं अमुकके ऊपर प्रेम कर रहा हूं।

**आत्मा जो करता है, अपना ही करता है**—आत्माकी एक परिणति जानना भी है सो आत्मा अपनेको ही जानता है, दूसरोंको नहीं। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव अपनेको ही देखता है—अपनेको ही जानता है; चाहे वह जीव मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो। अब यहाँपर निर्णय यह करना है कि यह संसारी जीव अपनेको किस अवस्था रूप मानता है? छहढालामें बताया है कि यह जीव अनादिसे अपनेको मानता आ रहा है कि मैं सुखी दुखी मैं रंक राव आदि—मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं गरीब हूं, मैं धनवाला हूं आदि। क्रोधके समय जीव अपनेमें यह मानता है कि मैं यह हूं। लोभके समय मानता कि यह लोभ मैं हूं। मोटे रूपसे तो कोई कोई यह भी मानते हैं कि मैं नेता हूं, हिन्दुस्तानका मैं सबसे बड़ा लीडर हूं, लोग मेरी आज्ञामें चलते हैं—किन्तु यह उनका मोह है। यह जीव अनादिकालसे इसी मोह ममतामें रुलता आ रहा है। अगर तुम्हें संसारसे ऊपर जाना है तो अपनी आत्माको निर्मल बनाओ। आत्माकी दो दृष्टियाँ हैं—शुद्ध तत्त्वकी और अशुद्ध अवस्था की। जो जीव अपनेको अशुद्ध ही मानता है, अपनेको अशुद्ध ही देखता है सो वह अशुद्ध ही बन जाता है। और जो अपनेमें शुद्ध द्रव्यकी भावना रखता है, अपनेको द्रव्यतः शुद्ध मानता है वह शुद्ध बनता है। शुद्धपर्यायरूपसे यदि यह जीव परको शुद्ध देखता है अथवा जानता है तो भी वह विकारी बनता है, किन्तु वह शुभ है।

**आत्मा कल्पवृक्ष है, उससे जो चाहोगे सो आपको मिलेगा**—आप शुद्ध बनना चाहें तो आत्मारूपी कल्पवृक्षसे आप शुद्ध बन सकते हैं और उसीसे आप अशुद्ध भी बन सकते हैं। कहनेका तात्पर्य है कि आप जैसा भी होना चाहें, जो भी प्राप्त करना चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं। अपनी भलाई—अपनी बुराई सब इसी आत्मारूपी कल्पवृक्षसे प्राप्त कर सकते हो। अब यहाँपर निर्णय यह करना है कि आपको क्या पसन्द है? सुख अथवा दुःख, जो आपकी इच्छा हो सो माँग लीजिए।

एक व्यक्ति मार्गमें जा रहा था, गर्मीके दिन थे सो प्यास और भूखसे व्याकुल हो करके वह एक पेड़की छायामें पेड़के नीचे बैठ गया। जिस पेड़के नीचे वह बैठा था वह कल्पवृक्ष था, किन्तु उस रास्तागीरको कुछ भी पता नहीं था कि यह कल्पवृक्ष है। छायामें बैठनेसे बहुत आनन्द मिला, तब वह व्यक्ति कहता है कि हवा तो ठन्डी मिली किन्तु कहीं थोड़ा ठंडा पानी मिलता तो उत्तम होता। विचारनेकी देर थी कि बढ़िया लोटेमें ठंडा पानी उपस्थित हो गया। पानीको देखकर उस पन्थीका विचार हुआ कि कहीं थोड़ा-सा नास्ता मिल जाता तो अधिक उत्तम होता, क्योंकि बिना कुछ खाये पानी पीना हानिकारक होगा। इतना विचारते ही बढ़ियासे बढ़िया भोजन थालीमें लगा हुआ सामने आ गया। इन सभी आश्चर्यकारी बातोंको देखकर वहां आदमी कोई मौजूद नहीं, फिर ये सारी वस्तुयें कहांसे आईं, कहीं भूत तो नहीं है; ऐसा विचार उस रास्तागीरका हुआ क्योंकि वहाँपर कोई आदमी तो दिखता नहीं था और पानी भोजन आदि सभी चीजें उपस्थित होती गईं। सो कहीं भूत तो नहीं है ऐसा विचार आते ही भूत सामने आ गया। भूतको देख करके वह व्यक्ति डरा और बोला कि अब तो यह मुझे मार डालेगा। तब भूतने उसे मार डाला। इसी तरहसे यह आत्मारूपी कल्पवृक्ष है, आप इससे जो भी चाहेंगे, जैसा बनना चाहोगे यह आपको देगा किन्तु यह आपके हाथ है कि प्रिय क्या है, आप कैसे बनना चाहते हो?

**हम किस शुद्धका सहारा लें**—हम इस समय तो शुद्ध हैं नहीं, अभी तो हम अशुद्ध हैं। शुद्ध कैसे हों? यहाँ इसका निर्णय किया है कि जीव पर्यायसे अशुद्ध है किन्तु द्रव्यसे शुद्ध है। जो शुद्ध तत्त्वको नहीं जानता उसकी कभी भी शुद्ध दृष्टि नहीं बन सकती है। क्योंकि जैसी दृष्टि हो वैसी सृष्टि होती है। आपकी दृष्टि जैसी होगी वैसी ही आपकी सृष्टि होगी। प्रत्यक्षमें हम आप देखते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं जैसा होता है उसी तरहसे वह सारे व्यक्तियोंको जानता है, समझता है। हम परको जानते हैं ऐसा तो हम उपचारसे कह देते हैं किन्तु निश्चयसे हम किसीको नहीं जानते हैं। हम सिर्फ अपनेको ही जानते हैं। अपनेमें ही हम क्रोध करते हैं, अपने ऊपर ही हम प्रेम करते हैं, अपने ऊपर ही हम द्वेष करते हैं और अपनेमें ही हम लोभ करते हैं, अन्यमें नहीं। व्यवहारसे, उपचारसे हम ऐसा कह देते हैं

कि अमुकपर हमारा प्रेम है, अमुकपर हम क्रोध करते हैं। वस्तुतः हम अपनेमें ही सब कुछ करते हैं।

**स्वचतुष्टयमय स्वकी प्रतीति ही श्रेष्ठ विभूति है**— मैं अपने चतुष्टयमय हूँ, यह वास्तविकता समझमें आनेपर जीवके क्रोधादि भाव स्वयं ही नष्ट होने लगते है। क्रोधादि भावोंके नष्ट होनेपर आत्मामें किसी तरहकी विह्वलता, अशांति अथवा कोई परवस्तुसे रागद्वेषकी चर्चा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसने स्वरूपको पहिचान लिया है, आत्माका असली ज्ञान उसे हो गया है, उसे सम्यग्दर्शन हो गया है। वह विचारता है कि आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, न कषाय सहित है और न कषाय रहित है, किन्तु वह एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप जो एक है सो वह आत्मा मैं हूं। और अन्य मायारूप मैं नहीं हूं। सम्यग्दृष्टि जीव मानता है कि यह जो आत्मा है सो इसका कोई नाम नहीं है किन्तु व्यवहारमें आत्मा किस नामसे पुकारी जावे इसके लिए हमारे पूज्य दयालु ऋषियोंने महर्षियोंने उसका नाम ज्ञायक भाव रख दिया है। वस्तुतः किसी पदार्थका कोई नाम नहीं है। किन्तु बिना नाम मात्रके कैसे ज्ञान हो कि कौन क्या है? इसलिए नामनिक्षेपसे सबके नाम रख दिए हैं, बिना नामके निक्षेप नहीं चलता है।

**वस्तुका नाम तो समझनेके लिए ही बताया जाता है**—हमें न तो नामकी ही आवश्यकता है, न हमें शब्दाडंबरोंकी आवश्यकता है किन्तु हमें तो उसका ज्ञान करना है उसे जानना है समझना है जिसका यहाँ वर्णन हो रहा है एतदर्थ निक्षेपका सहारा लिया जा रहा है। यहाँ बताया जा रहा है आत्मा। सो वह आत्मा न तो बहिरात्मा है, और न अन्तरात्मा है और न परमात्मा है किन्तु वह सर्व अवस्थायोंमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव है वह मैं आत्मा हूं। आत्माको पहिचाननेके लिए योग्यता चाहिए। एतदर्थ मौलिक सदाचारकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

**मौलिक सदाचारका संक्षेप**—मौलिक सदाचारमें इन तीन बातोंपर ही विशेष गौर दिया गया है—१. मिथ्यात्व त्याग, २. अन्याय त्याग, और ३. अभक्ष्य त्याग। सबसे बड़ी आपत्ति दुनियामें है तो मिथ्यात्व। मोक्षमार्गमें भी यह मिथ्यात्व बाधक है। मिथ्यात्वसे बचनेके लिए, कुगुरु, (खोटे गुरु) की सेवा भक्ति विनय नहीं करना। खोटे देवोंको नहीं मानना, जैसे—भवानी, सीतलामाता, पद्मावती, क्षेत्रपालका आदि। जितने भी मोही देवता हैं ये सब मिथ्यादेव हैं अतः इनमें किसी भी प्रकारसे श्रद्धाभक्ति, नमस्कार आदि नहीं करना चाहिए। खोटे शास्त्रोंका सुनना, पढ़ना यह भी मिथ्यात्व है, अतः इन तीनों बातोंकी भयसे स्नेहसे अथवा किसी तरहके प्रलोभनके द्वारा भी सेवा नहीं करना चाहिए। दूसरी बात है मिथ्यात्वके बारेमें यह कि परवस्तुओंको अपना नहीं मानना, जो अपना है उसे ही अपना

मानना चाहिए। क्योंकि जो अपना नहीं है वह त्रिकालमें भी आपका नहीं बन सकता है। और जो वस्तु आपकी है वह आपसे कहीं बाहर नहीं जा सकती है। दूसरा पातक है अन्याय। अन्याय बहुत बड़ा पाप है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिको न्यायपूर्वक ही धनोपार्जन करना चाहिए। न्यायसे कमाया हुआ धन ही सत्पात्रको दान देनेके योग्य है। गृहस्थका यह मुख्य कर्म है। सागार धर्मामृतमें पंडितप्रवर आशाधर जीने बताया है कि न्यायोपत्तधनो यजन गुणगुरून् आदिमानी गृहस्थको सबसे पहले चाहिए कि न्यायपूर्वक धन कमावे; यही सर्वप्रथम उसका कर्त्तव्य है।

**तीसरा पातक है अभक्ष्य भक्षण**— न खाने योग्यको अभक्ष्य कहते हैं। अभक्ष्य खाने से मन प्रसन्न नहीं रहता है। लोकमें कहते हैं कि जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। यानी आप शुद्ध पवित्र भोजन करोगे तो आपकी आत्मा पवित्र रहेगी, आपका मन हमेशा प्रसन्न रहेगा। बीड़ी सिगरेट, भाँग, गाँजा आदि जितनी भी मादक वस्तुयें हैं ये सभी अभक्ष्य हैं अतः प्रत्येक व्यक्तिको इनका त्याग करना चाहिये। बिना इनके त्यागे मौलिक सदाचार नहीं बनता। बीड़ी सिगरेट आदिका पीना लोकमें भी अच्छा प्रतीत नहीं होता है। मौलिक सदा-चार ही सम्यग्दृष्टि जीवकी बाह्य पहिचान है। हम आपको इस अवस्थामें धन पैदा करनेको नहीं रोकते, व्यापार करनेको नहीं रोकते, धन पैदा करो किन्तु न्यायपूर्वक, छल कपट, झूठ, चोरी आदिसे पैसेका संग्रह मत करो। न्यायपूर्वक ही धनोपार्जन होना चाहिए। शास्त्रोंमें बताया है— आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् यानी जो कार्य हमें स्वयं अच्छे नहीं लगते हैं, या यों कहिये कि जिन कार्योंसे हमारी आत्माको दुःख होता है वे कार्य हमें भी दूसरोंके प्रति नहीं करने चाहिएँ। यही सबसे बड़ा आदर्श है। गृहस्थावस्थामें मौलिक सदाचार प्रत्येक गृहस्थको पालन करने चाहिएँ। गृहस्थ अवस्थामें तीन बातें ही हैं— खाना, पीना और धर्म करना तथा पैसा कमाना। सो इन तीनों बातोंको आदर्शताके साथ पालन करना सद्गृहस्थका कर्तव्य है। जब तक खाना पीना निर्दोष अच्छा नहीं होगा तब तक धर्म का पालन भी ठीक रूपसे नहीं होता है, इसलिये इन तीनों कामोंको दृढ़ताके साथ पालन करते हुये खूब ज्ञानाभ्यास करना चाहिए क्योंकि ज्ञानके द्वारा ही आत्मकल्याण होगा।

**मैं स्वयं कैसा हूं**— मैं स्वतः सिद्ध हूं, क्योंकि हूं। जो भी है वह स्वतः सिद्ध ही है। परतः सिद्ध तो कुछ है ही नहीं, असत् तो न स्वतः सिद्ध है और न परतः सिद्ध है। स्वतः सिद्ध हूं इसी कारण अनादिसे हूँ। सब द्रव्य भी स्वतः सिद्ध हैं, वे भी अनादिसे हैं। स्वतः सिद्ध हूं इसी कारण अनन्त हूं, सदा काल तक रहनेवाला हूं, अन्तरहित हूं, विनाश रहित हूं। नित्य उद्योत हूँ हूं ना, हूं और परिणमता रहता हूं। इसमें ढके मुंदेकी क्या बात है? कोई प्रकट खुदको ही समझना न चाहे तो खुद वस्तु अप्रकट तो न हो जावेगी, दिखनेवालों

को तो प्रकट है। मैं विशद ज्योतिर्मय हूँ। स्वभावमें मल नहीं और स्वभाव भी मेरा चैतन्य है अतः मैं विशद ज्योतिस्वरूप हूं। जो औपाधिक है वह मैं स्वयं नहीं हूँ। केवल निजकी बात है, यहां दूसरेपर जाना ही नहीं है। मैं विशद ज्योतिस्वरूप हूँ। मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ। ज्ञायकसे तात्पर्य जाननवृत्ति परिणत नहीं लेना किन्तु जिस स्वभावके कारण जाननवृत्ति उठती है उस परमस्वभावको ग्रहण करना। मैं स्वभावसे शुभ अशुभ रूप नहीं परिणमता हूं। मेरी स्वच्छता है वहाँ उपाधिवश शुभ अशुभ भाव होते हैं। मैं शुभ अशुभ भाव नहीं हूं। इसी प्रकार समस्त परपदार्थोंसे अत्यन्त विविक्त और समस्त परभावोंसे विभक्त एक चैतन्यमात्र हूँ।

इस स्वतः सिद्ध निज तत्वकी प्रतीति व आश्रयसे इस अनाकुल स्वच्छ स्वभावके अनुरूप ही अर्थात् अनाकुल स्वच्छ परिणमन हो जाता है। यही परमोत्कृष्ट अवस्था परमेश्वरकी है।

**परम आनन्दमय अवस्था परमेश्वरकी है**—संसारमें देखा जावे तो सबसे अच्छी सुख और आनंदको प्राप्त करने वाली कोई अवस्था है तो वह सर्वज्ञदेवकी है। भगवान सिद्धकी अवस्था शान्त और सुखमय है। भगवान् सिद्ध अचल गतिको, ध्रुव गतिको प्राप्त हैं। उन्होंने अपनेसे अष्टकर्मोंको दूर कर दिया है यानि अष्टकर्मोंका क्षय किया है। द्रव्यदृष्टिसे देखो तो आत्मा अनादिसे सिद्ध है, वह किसीके द्वारा रचा नहीं गया है, किन्तु वह स्वतः सिद्ध है। जो स्वतः सिद्ध होता है वह अनंत होता है इसलिये वह आत्मा अनंत (अविनाशी) भी है। स्वभावके अनुरूप भगवानकी ही अवस्था है, अतः यह सब अवस्थाओंसे श्रेष्ठ और उत्तम है। हमें उन जैसी अवस्था पानेकी चेष्टा करनी चाहिए। सुख और आनन्द प्राप्त कर लेनेके पूर्व यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है कि दुःख क्या वस्तु है और उससे अलग होनेके क्या उपाय हैं?

**भिन्नको स्वयं निज समझ लेना दुःख है**—परपदार्थोंको अपना मानना, ममता मोह रखना ही दुःखके कारण हैं। जब तक मोह ममता रहेगी तब तक जीव कभी भी सुखी नहीं बन सकता है। सुखी बननेके लिये आवश्यक है कि पहले मोह, ममताका त्याग करे। जब तक ममत्व बुद्धि रहती है, इच्छाओंका आगमन रहता है, तब तक सुखकी कल्पना करना उसी तरहसे व्यर्थ है जैसे आकाशमें फूलोंकी कल्पना करना है। तो करना क्या है? इच्छाओंका अभाव। क्योंकि आचार्योंने विकल्पोंको ही दुःख कहा है। विकल्प होते हैं इच्छासे। सो देखो भैया! यदि सुखी बननेकी अभिलाषा है तो सबसे पहले मोह ममताको त्यागो।

**सुख विकल्पके अभावमें ही होता है**—एक मनुष्यके पास उसके मित्रकी चिट्ठी आई,

उसमें लिखा था कि मित्रवर्य मैं अमुक गाड़ीसे अमुक समयपर आ रहा हूँ, सो तुम स्टेशन पर मिलनेके लिये आना। पत्रको पाते ही उसे आकुलता पैदा हुई, मित्र-मिलनके तरह-२ के विकल्प उठने लगे। सुबह जल्दी उठकर अपनी दैनिक क्रियाओंसे निबट करके रोटी बनवाई और खा पी करके जल्दीसे स्टेशन पहुँचा। वहाँ जानेपर ज्ञात हुआ कि गाड़ी आधा घन्टा लेट है, आकुलता और भी अधिक बढ़ी—जैसे तैसे समय व्यतीत हुआ, गाड़ी आई और मित्रसे मिलन हुआ, प्रसन्नता हुई। किन्तु क्या आप बता सकते हैं कि वह प्रसन्नता क्यों हुई? क्या मित्रके मिलनेसे? नहीं! वह प्रसन्नता—वह सुख तो पूर्वके जो विकल्प थे उन विकल्पोंके नाश होनेपर सुख हुआ है। मित्रके मिलनेसे सुख नहीं हुआ। इसलिये हमें आपको चाहिए कि हम इस मोह ममताको अपनेसे दूर करें। ममत्वबुद्धि जब तक रहती है तब तक वस्तुका यथार्थ स्वरूप (यथार्थज्ञान) नहीं होता है, बिना यथार्थ ज्ञानके सुखकी प्राप्ति कठिन है।

वस्तुका यथार्थज्ञान हमें चार तरहसे होता है। या यों कहो कि वस्तुका ज्ञान इन चारकी दृष्टिसे, अपेक्षासे होता है। वे चार ये हैं—

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—द्रव्यसे मतलब वस्तुका पिण्ड है, क्योंकि जो पिण्डरूप है वह द्रव्य है। क्षेत्र—जितने स्थानमें वह रहे, उतना है उसका क्षेत्र। काल—वस्तुका परिणमन—नई पुरानी अच्छी, खराब आदि जो वे अवस्थायें हैं सो काल है और भाव—रूप रस गंध स्पर्श आदि या ज्ञानदर्शन आदि हैं भाव। जिस तरहसे अन्य सब वस्तुओंका ज्ञान इन चारके द्वारा होता है उसी तरहसे आत्माका ज्ञान भी चारकी दृष्टिसे होता है। आत्मा क्या है, दुनियाका सृष्टिकर्ता कौन है? इसीकी खोज करनेमें संसारके बड़े-बड़े जैन और जैनेतर ऋषि, महर्षियोंने अपने जीवनके बहुभागको व्यतीत किया। सभीने यही जानने विचारने की कोशिश की कि आत्मा क्या है? सभीने सोचा समझा इसका पूर्ण रहस्य। जैन ऋषियों ने स्याद्वादपद्धतिसे अपने अनुभवपूर्वक यहां दर्शाया है। किसीने आत्माको अधिक ऊपर शिखरपर चढ़ा दिया किन्तु दूसरेने उसे नीचे गिरा दिया। जैसे कुछ लोगोंने कहा है—ब्रह्म एक है और सर्वव्यापी है तथा यही जगतका सृष्टिकर्ता है।

तो कुछ भाइयोंने कहा कि आत्मा कोई नहीं, समय समयपर होने वाले चित्तक्षणों की सन्तानमें लोगोंने आत्माकी कल्पना की।

**किसी भी गृहत्यागी ऋषिने छलसे धर्मकी रचना नहीं की**—सांख्यके मतमें एकांत भाव आ गया, किन्तु उन्होंने जानकर अथवा द्वेष, ईर्ष्या आदिसे अपने मतमें एकांत पक्ष लानेकी कोशिश नहीं की। वे तो जिज्ञासु भावसे तत्त्वोंको जाननेका प्रयत्न कर रहे थे। हाँ वहाँ यानी तत्त्वको जाननेमें उन्हें समझनेमें वे कुछ थोड़ासा चूक गये और उस चूकका

परिणाम है एकांत दृष्टि। दुनियामें-जगतमें जितने भी दर्शन प्रचलित हुये हैं इनका क्या कारण है ? आप लोग वता सकते हो ? ये जितने भी दर्शनशास्त्र प्रचलित हुये हैं इनका मुख्य कारण है द्रव्य क्षेत्र काल भाव---इन चारोंको समझनेकी गल्ती। द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारोंकी चूकके कारण ही इन इतने दर्शनशास्त्रोंका आरम्भ हुआ। यदि द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारोंका यथार्थ ज्ञान हो जावे तो सत्य शासन आ जावे।

**आत्माका परिणमन कबसे और कैसा है**—जैन शासन यह मानता है कि यह जो जीव है वह अनादिसे है और देह ही बनता चला आ रहा है। वह पहले कुछ था और फिर नए भवमें भी निमित्त पा करके उसके शरीर परमाणुओंका संचय हुआ, वह बढ़ा।

अनादिकालसे यह जीव साधारण वनस्पतिकायिक याने निगोद रहा। किसी प्रकार वहाँसे निकला तो पृथ्वीकायिक आदि स्थावर हुआ। फिर सुयोग मिला तो बढ़ते-बढ़ते दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय। इस तरहसे क्रमशः अपनेमें उन्नति की और आज बढ़ते बढ़ते इसने उत्कृष्ट मन पाया, कुल पाया, धर्म पाया---फिर भी अपना कल्याणमार्ग नहीं देख पाया तो इससे अधिक दुःखकी बात और क्या होगी ? इसलिए ऐसा सुन्दर अवसर हाथसे नहीं खोना चाहिए। अतः जो श्रीमत्पूज्य आचार्य अमृतचन्द्र जी सूरि जी ने समयसार नामक महान् ग्रंथमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव--इन चारोंका वर्णन किया है सो उसे समझकर आत्मतत्त्वके रहस्यको जान करके अपनी आत्माका कल्याण करना चाहिए।

द्रव्यसे आत्मा पिण्डरूप जो हम और आप हैं वह है। क्षेत्रसे याने निज क्षेत्रसे देखो जितनेमें याने निज प्रदेशमें वह आत्मा रहे सो क्षेत्र है। कालसे आत्माकी नई पुरानी परिणतियां काल हैं। आत्माके जो औपशमिकादि भाव हैं वो भी काल हैं। भावसे यह आत्मा चैतन्यभाव या ज्ञान दर्शन आदि पारिणामिक भावरूप है। इस तरहसे हमें देखना है कि आत्मा अखंड है, स्वतः सिद्ध है, सहज स्वरूप वाला है तथा अनन्त है। अनेक भावोंका अभेद समूह यह एक आत्मा अखंड है।

**आत्मा अनन्त शक्त्यात्मक एक द्रव्य है**—आत्मामें दो तरहके गुण पाये जाते हैं। एक तो साधारण गुण और दूसरे असाधारण गुण। साधारण और असाधारण ऐसे उन अनन्त गुणोंके समूह पिण्डरूप यह अखण्ड आत्मा है। आत्मामें अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुण मौजूद है जैसे ज्ञानगुण है। उस ज्ञानगुणमें क्या और गुणोंकी जरूरत नहीं है या उसमें कोई अन्य गुण नहीं है ? है। ज्ञानगुणमें सभी गुण मौजूद हैं परन्तु उन गुणोंका आश्रय ज्ञान नहीं है। ज्ञानगुणमें सूक्ष्मता है वह सूक्ष्म है, अगुरु लघुत्व आदि सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। इस तरह एक एक ज्ञान अनन्त विशेषता वाला हो रहा है। एक एक गुणकी अनन्त पर्यायें हैं। एक एक पर्यायमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। एक एक प्रति-

च्छेदमें अनेक रस हैं। इस तरहसे अनेकात्मक एक इस आत्मतत्त्वको जान करके पश्चात् अपनी निर्विकल्पदृष्टि बनाकर कल्याण करना चाहिए।

**भगवानके समान अपनी आत्माको बनाओ**—प्रत्येक मनुष्यमें, प्रत्येक आत्मामें परमात्मा बननेकी शक्ति है। उस ओर लक्ष्य देनेकी आवश्यकता है। बिना आत्मतत्त्वको जाने कुछ भी नहीं हो सकता है। मनुष्य परवस्तुओंको ही अपना मानता है। वह अपनेमें धारणा बनाये है कि ये भगवान हैं सो इनका काम तो पुजनेका ही है और मेरा काम पूजने का--इस तरहके विचारोंसे आत्माका उद्धार होना कठिन है, इसलिये आत्मज्ञान करो। आत्म-ज्ञान होने पर यह आभास हो जाता है कि जैसा आत्मा मेरा है वैसा भगवान तू है। मेरे और भगवानके आत्मामें इतना ही अन्तर है कि उनका आत्मा कर्ममलसे दूर हो गया है और मेरे आत्मापर कर्ममलका आवरण पड़ा हुआ है, इतना ही अन्तर है। बाह्यरूप तो सब परिणमन मात्र हैं, उनमें आत्मद्रव्यकी प्रतीति मत करो। अपनेको मत मानो कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, गरीब हूँ, धन वाला हूँ।

**पर वस्तुओंसे मोह छोड़ करके स्वानुभवको प्राप्त करो**—वह स्वानुभव न तो द्रव्य दृष्टिसे होता है और न पर्यायदृष्टिसे होता है और न गुणदृष्टिसे ही स्वानुभव है। स्वानुभव सब कुछ जानकर फिर निर्विकल्प ज्ञानमें होता है। हम आत्माको नामसे नहीं कह सकते हैं। जब आत्माका कोई नाम नहीं तब उसे किस तरहसे कहा जायगा, ऐसा विचार कर दयालु आचार्योंने उस आत्माका नाम ज्ञायक भाव रखा। ऐसे उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप, चिदानन्द आत्मा स्वरूपको जाने बिना यह जीव चारों गतियोंमें रुलता फिरा। आत्मा अनुभवके बिना नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, इन चारों गतियोंमें भटकता रहा, समय समयपर उत्तमगति भी प्राप्त की, किन्तु आत्म-अनुभवके बिना कोई लाभ न ले सका। अब हमने आपने बड़े पुण्योदयसे यह मनुष्यभव, जैन कुल प्राप्त किया, उत्कृष्ट मन प्राप्त किया, हम अपने हित अहितको विचार सकते हैं, हम ऊंचे सा ऊंचा व्रत पाल सकते हैं, अब तो हम सावधान हों।

**मनुष्यगतिको देवता तक तरसते हैं**— जिस समय दीक्षा कल्याणमें भगवान तीर्थंकर प्रभुकी पालकी उठाई जाती है उस समय देव और मनुष्योंमें लड़ाई होती है कि डोली हम उठावेंगे, देव कहते हम उठावेंगे। अन्तमें फैसला होता है कि भगवानकी मूर्ति वही उठा सकेगा, वही उठानेका अधिकारी होगा जो भगवानके साथ दीक्षा धारण करेगा बस, देवता लोग यहीं संकुचा जाते हैं। तब देव देवेन्द्र मनुष्योंसे भीखें माँगते है कि हे मनुष्यो! हमारा सारा वैभव ले लो। किन्तु हमें मनुष्यत्व दे दो। किन्तु भीख माँगेसे भी किसीको कुछ मिला है। यह तो सब उदयकी बात है तो कहनेका मतलब कि इतना [illegible] भव प्राप्त किया

काहेके द्वारा ? आत्मदेवकी प्रसन्नता द्वारा। सो उस आत्मदेवको हमेशा प्रसन्न रखना चाहिए, जिस आत्मदेवके प्रसाद द्वारा हमने यह मनुष्यपर्याय प्राप्त की। यदि हमने उसका आदर सत्कार नहीं किया और उसपर हमला करनेका विचार किया तो मालूम है कि आत्मदेव हमसे रुष्ट होकर हमें क्या शाप देंगे ?

**आत्मदेवपर हमला क्या ?**—आत्मदेवपर पांच इन्द्रियोंके विषयका हमला हमेशा उन्हींमें रत रहना है। एक इन्द्रियका विषय अभी समाप्त किया कि थोड़ी-सी देरमें दूसरी इन्द्रियका विषय आया। अगर इस तरहसे हमने आत्मदेवपर हमला करनेका प्रयास किया तो हमें ये शाप देंगे कि पुनः निगोदो भव, यानी फिरसे निगोदमें जा। तब फिर हमें अनन्त समय तक निगोदमें रहना पड़ेगा। एक कथानक है उसे हम पहले कह चुके हैं किन्तु दुबारा यहाँ थोड़ीसा कह रहे हैं। एक साधु जी थे। उनके पास एक चूहा रहता था, चूहेपर बिल्ली झपटी, साधु जीको दया आई और उन्होंने उसे वरदान दिया कि मार्जारो भव। इसके बाद बिल्लीपर कुत्ता झपटा, तब साधुने उससे कह दिया कि—श्वा भव तू भी कुत्ता हो जा। कुत्ता हो गया। कुत्तेपर चीता झपटा-सो कहा व्याघ्रो भव, कुत्तेको चीता बना दिया। चीतेपर शेरने हमला करना चाहा सो कहा सिंहो भव, उसे भी शेर बना दिया। अब उस शेरको भूख लगी, खानेको कुछ मिला नहीं, तब शेरने सोचा कि चल इस साधुको ही खा लेना चाहिए ऐसा विचारकर जैसे ही शेर साधुपर हमला करनेको तैयार हुआ कि साधुने कहा—पुनः मूषको भव। यानी फिरसे चूहा हो जा। इसी तरह जिस आत्मदेवके आशीर्वादसे निगोदसे प्रत्येकशरीरी स्थावर फिर विकलत्रय, पञ्चेन्द्रिय आदि प्रकारसे आज मनुष्य श्रेष्ठ मन वाले पञ्चेन्द्रिय हुए। यदि उसी आत्मदेवपर विषयकषायका हमला किया तो उसका यह आशीर्वाद होगा कि "पुनर्निगोदो भव"। तो हमें इस तरहसे अपने इस अमूल्य जीवनको नष्ट नहीं करना है। इसलिए जिस आत्मदेवकी कृपासे हमने आपने यह उत्तम भव प्राप्त किया है उस आत्मदेवको प्रसन्न रखें, जिससे आगे हमें शिवसृष्टि मिले। आत्माकी पहिचान ज्ञानसे होती है, अतः एकाग्र चित्त हो करके ज्ञानोपार्जनमें जुट जावो। ज्ञान ही कल्याणके मार्ग का पथदर्शक है।

ज्ञान ही कल्याणके मार्गका पथदर्शक है। संसारमें भटकते हुवे जीवोंको यदि सुख का कोई कारण है उपादान रूपसे तो कारण-भगवानकी भक्ति, जिसका कि प्रसिद्ध नाम है समयसार और निमित्तरूपसे है कार्य-भगवानकी भक्ति। आजकल कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि हम दुनियाँमें इस लिये पैदा हुये हैं कि अच्छे-अच्छे पदार्थ खायें, मौज उड़ायें, यही हमारे जीवनका आनन्द और सुख है। यही उनकी मूर्खता है। इसका आगे फल क्या होगा ? इसपर विचार करना बहुत आवश्यक है। आप शांत चित्तसे अपनेमें यदि विचारपूर्वक देखें

तब आपको यह भान होगा कि जगतमें जितने भी पदार्थ है वे कभी भी नष्ट नहीं होते हैं। वे अनादि कालसे है और अनन्त तक रहेंगे।

**आप भी एक पदार्थ हैं**—आप विचार करो कि हम पदार्थ हैं और पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता है। तब हमें भी कभी इस मनुष्य रूप ढांचेको छोड़कर फिर कोई ढांचा पकड़ना होगा, क्या पता इस मनुष्य भवको छोड़नेके बाद कौनसा शरीर मिलता है? कीड़े मकोड़े २–३–४ इन्द्रियका शरीर मिला तो नाना तरहके दुःखोंको भोगना पड़ेगा। और फिर न जाने कब यह मनुष्य भव मिले। इसलिये इसी भवमें ऐसा कार्य करो कि इस भवके पश्चात् हमें उत्तम भव ही मिले। उस उत्तम भवको पानेके लिये सबसे उत्कृष्ट वस्तु है कारणभगवान व कार्यभगवानकी भक्ति। भगवानमें हमसे कुछ विशेषता होगी तभी हम भगवानको पूजते हैं, उनकी भक्ति करते हैं। भगवानकी आत्मा हमारे आत्मासे अनुपम उत्कृष्ट है। वैसे भगवान हमारी जातिके हैं किन्तु उनके आत्मासे कर्ममल रूपी मैल अलग हो चुका है, वे अचल गतिको प्राप्त हो गये हैं—उनकी आत्मा परम विशुद्ध हो चुकी है। इसी लिये हम उनकी भक्ति, उनकी पूजा, उनकी आराधना एवं उनकी उपासना करते हैं। भगवानमें राग, द्वेष, मान, क्रोध आदि रंच मात्र भी नहीं हैं और न है उनमें रंच मात्र आकुलता। आकुलतासे जो रहित है वही वास्तविक सुखी है और उसी ने यथार्थ आनन्द प्राप्त किया।

**भगवानका कोई नाम नहीं है, स्वरूप अवश्य है**—कोई कहते हैं कि भगवानके अनेक नाम हैं। रामचंद्र कृष्ण महावीर आदि। किन्तु भाइयों आप विचार करो कि क्या भगवानका कोई नाम हो सकता है? नहीं। भगवान तो उस शुद्ध आत्माका नाम है, जहाँ न क्रोध मान माया लोभ है और न जहाँ पर राग द्वेष है। जो सर्वज्ञ, हितोपदेशी हैं ऐसी वह परम विशुद्ध आत्मा ही भगवान है। किन्तु उस आत्माको हम उपचार रूपके नामसे पुकारते हैं। भगवानके नाम राम, कृष्ण, महावीर नहीं हैं। जैसे श्री रामचंद्रने या महावीरने मुनि दीक्षा धारण करके तपस्या करके अष्टकर्मोंका नाश किया और परमपद मोक्ष प्राप्त किया। जिस समय मोक्ष प्राप्त किया उसके बाद वह राम या वीर नहीं और भगवान राम या वीर नहीं किन्तु राम, वीर तो हम उपचार मात्रसे कह देते है, वस्तुतः भगवानका कोई नाम नहीं है। जगतमें आत्मा शब्दके अनेक नाम प्रचलित हैं। जैसे परमात्मा जगन्नाथ आदि। परमात्माको भगवानको सभी मानते हैं। किन्तु परमात्माका अर्थ क्या है? किसे कहते हैं? क्या इसपर भी विचार किया है?

**परम आत्मा परमात्मा है**—परमात्मा कहते हैं जिसकी आत्मा परम उत्कृष्ट है परमश्चासौ आत्मा परमात्मा। यानी जिसकी आत्मामें उत्कृष्ट ज्ञान है वही आत्मा

है। दूसरा अर्थ कहते हैं भगवानका–भग याने उत्कृष्ट ऐश्वर्य वान–यानी जिसके पास उत्कृष्ट ऐश्वर्य है उसे कहते हैं भगवान। तो अब यहां विचार करना है कि ऐश्वर्य किसे कहते हैं? ऐश्वर्य उसे कहते हैं जिसे अपने कामके लिये दूसरोंकी आधीनता न हो। लोकमें भी आप देख लो जो सब ओरसे स्वतंत्र होता है, जिसे अपने भोगविषयोंके सेवन करनेके लिये दूसरे की पराधीनता नहीं हो, उसे हम ऐश्वर्य वाला कहते हैं। जैसे आप और हम देखते हैं कि हमारे यहां जो बड़े-बड़े राजा महाराजा होते थे, बड़े बड़े जागीरदार होते थे उन्हें हम लोग लोकव्यवहारमें ऐश्वर्य वाले कहते हैं क्योंकि उनके यहां सैकड़ों पुरुष नौकर चाकर रहते थे। उनकी पृथ्वीमें प्रत्येक आवश्यक वस्तु सहज हो जाती थी, उन्हें किसी तरहकी पराधीनता नहीं रहती थी। तो जो उत्कृष्ट ऐश्वर्य वाला है उसे कहते हैं भगवान। गांवपति जमींदार अपनी आवश्यक चीजोंको अपने खेतोंसे निकाल लेता है, वह गांवका ईश्वर है। भगवानका काम है देखना जानना। उन्हें किसी इन्द्रिय आदिकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। वे तो अपने आत्मज्ञानसे त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जानते हैं–उन्हें आंख आदि किसी भी इन्द्रियका सहारा नहीं लेना पड़ता है।

**गोरखनाथ (गोरक्षनाथ)**—एक और क्या नाम हमें गिरनारजी में ज्ञात हुआ था। वह नाम है गोरखनाथ। हमने जब इसपर विचार किया तब हमें पता चला कि गो नाम है वाणीका और उसकी रक्षा करनेवाले गणधर देव गोरख–यानी गणधर देव और उनके भी नाथ यानी नेमिनाथ भगवान–गोरखनाथ भी उस पवित्र शुद्ध आत्माका नाम है। इसी तरहसे जगन्नाथ आदि नाम हैं।

जगन्नाथ कहते हैं जगतके नाथ ईश्वर। जगन्नाथ नाम है शान्तिनाथ भगवानका। शास्त्रोंका अध्ययन मनन करनेपर ज्ञात होता है कि भगवान शान्तिनाथ अनेक बार चक्रवर्ती हुये–चक्रवर्ती होते हैं जगतके नाथ स्वामी। इस तरहसे जितने भी नाम प्रचलित हैं वे सब उसी परम विशुद्ध आत्माके हैं। हमारी आत्मामें भी परमात्मा बननेकी शक्ति मौजूद है। किन्तु हमारा लक्ष्य उस ओर नहीं है। यदि हम उस ओर अपना लक्ष्य बना लें तो हमारी आत्माका कल्याण हो जावे।

**कल्याणमार्गको सब क्यों नहीं अपनाते**—एक बार भगवान समंतभद्र स्वामी भगवान्की स्तुति करने बैठे। उस समय किसीने उनसे प्रश्न किया कि हे समंतभद्र स्वामी, अभी अभी तो तुम देवागम स्तोत्र बना चुके हो। अब भगवान्की स्तुति करनेकी क्या आवश्यकता है? तब पूज्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि अभी तक मैं भगवानकी परीक्षा कर रहा था और उस परीक्षामें यह स्तोत्र बन गया, किन्तु अब मैं उन जगतवंद्य सर्वज्ञदेवकी स्तुति करता हूं। भगवानको छोड़कर अन्य कोई दूसरा विशिष्ट पुरुष या विशिष्ट आत्मा नहीं है।

विविधनयकल्लोलविमला। विविध नयरूपी कल्लोलोंसे सहित है पवित्र है, वाणी ऐसी उस पवित्र वाणीको सुन करके हमें और आपको आत्ममर्म तक पहुंचकर अपनी आत्माका कल्याण करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणीके अन्दर भगवान् बसता है। लेकिन जो सबके अन्दर भगवान है, वह कौनसा है? अनेक लोगोंने इस प्रश्नपर विचार किया है। किन्तु कोई सफल हुए और कोई नहीं। वह भगवान 'समयसार' है। परमात्मा दो रूपोंमें समझा जाता है:—

१. कारणपरमात्मा और २. कार्यपरमात्मा। कारणपरमात्माको अनेक नामोंसे पुकारते हैं— कारणपरमात्मा, चैतन्यस्वभाव, पारिणामिक भाव आदि। वह सामान्य चैतन्य-भाव समग्र अवस्थाओंमें रहता है। प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक होती है। सामान्यदृष्टि की मुख्यतासे समझमें आनेवाला परमात्मा ही कारणपरमात्मा है। कारणपरमात्माको जानना प्रत्येक प्राणी लिये अति आवश्यक है।

**शुद्ध आत्मा क्या है**—शिष्य आचार्यसे प्रश्न करता है कि भगवान शुद्ध आत्मा कौनसा है? तब आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सामान्य आत्मा तीनोंको ठीक समझो। सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि तो अवस्था है। सामान्य आत्मा दोनों अवस्थाओंमें है। खालिस आत्मा सब पर्यायरूप बना, लेकिन वह किसी पर्यायरूपमें नहीं रहता है, फिर भी वह सभी प्राणियोंमें है। इस ही विषयका आचार्यने गाथा द्वारा इस प्रकार उत्तर दिया है:—

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सोउ सो चेव॥

जैसे—बाल्य, यौवन और वृद्धावस्थामें मनुष्य रहता है। केवल मनुष्यकी उक्त तीन अवस्थायें ही वहाँ हम देख सकते हैं, मनुष्यको हम नहीं देख सकते हैं तथा जैसे-बच्चेका बचपन समाप्त होनेपर उसमें यौवनावस्था आ जाती है, लेकिन उसके मनुष्यपनेका नाश नहीं होता है। क्योंकि मनुष्य सभी अवस्थाओंमें व्यापक है और उसकी सब अवस्थायें मनुष्य में व्याप्य हैं, इसी प्रकार नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव व गतिरहित संक्षिप्तमें ये पांच प्रकारकी अवस्थायें आत्माकी हैं। इन अवस्थाओंका परिचय तो सुगम है किन्तु मोक्षमार्गका प्रवर्तक इन सब अवस्थाओंमें रहने वाला एक आत्मतत्त्व है, उसका परिचय सम्यग्ज्ञान-साध्य है।

**जैसेका आश्रय लो, वैसा ही परिणमन होता है**—शुद्धता दो प्रकारकी होती है—१. द्रव्यशुद्धि और २. पर्यायशुद्धि। जो प्राणी जैसी अवस्थाका आश्रय करता है, वैसे ही उसके परिणाम बन जाते हैं। मनुष्य एवं अन्य भी संसारी अभी तक अशुद्ध पर्यायोंका

आश्रय करता आया है। मनुष्य, बाह्य व तुर्य, स्कन्ध, पाँचों इन्द्रियाँ आदि—ये सब अशुद्ध
हैं। अपने स्वभावके विरुद्ध अवस्थाओंमें रहना भी अशुद्ध है, अशुद्धका आश्रय करनेसे अशुद्ध
पर्याय ही बनती हैं। अशुद्ध द्रव्यका आश्रय करनेसे अशुद्ध पर्याय होती है। पर्यायशुद्धि भी
द्रव्यशुद्धिकी अपेक्षा अशुद्ध तत्त्व है। अपनी निज शुद्धि व निज अशुद्धिका आश्रय करके
आत्माकी करतूत अपने प्रदेशोंमें ही चल सकती है। सिद्ध भगवानका भी आश्रय मुमुक्षुको
नहीं हो सकता है, क्योंकि सिद्ध भगवानकी अवस्थायें भी इस उपासक आत्मासे भिन्न हैं।
यह मनुष्यकी आत्मा पुत्र मनुष्यकी आत्मासे भी भिन्न है। प्रतिपल मनुष्य अपना
ही आश्रय करता है अर्थात् जो भाव उसके हृदयमें बनते हैं, उसीका मनुष्य आश्रय करता
है। जिस समय आत्मा या मनुष्य सिद्ध भगवान्का आश्रय करता है, वह पुण्यभावका आश्रय
करता है, वह अशुद्ध अवस्था है। जब निज शुद्ध स्वभावका आश्रय करता है तब वह सहज
तत्त्वका आश्रय करता है, वह मोक्षमार्ग है।

**शुद्ध आत्माकी पहिचान**—प्रश्न—शुद्ध आत्मा किसे कहते हैं? उत्तर—खालिस अथवा
एकरूप रहने वालेको शुद्ध कहते हैं। पर्यायकी मुख्यतासे न देखनेसे ही आत्माका ज्ञान हो
जाता है। पर्याय दशा दो हैं—१ शुद्ध, २ मलिन। आत्मा प्रमादसे युक्त नहीं है और प्रमाद
से रहित भी नहीं है। जीव याने आत्मा मुक्त नहीं है तथा संसारी भी नहीं है। जीवमें
कषाय सहितपना और कषाय रहितपना—दोनों ही नहीं हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे देखा
गया आत्मा ही शुद्ध स्वरूप आत्मा है, शुद्ध आत्मा स्वतः सिद्ध है, आत्माका न आदि है और
न अन्त है। आत्मा हमेशा रहने वाला है, अतः नित्य प्रकट है। पर्यायें किसी समय नष्ट
होकर उसके दूसरे समय नष्ट हो जाती हैं। मोहवश जीवको कुछ भी सुहित दिखाई नहीं देता
है। मनुष्य अपने आपको दूसरेके आधीन समझता है। आत्माका स्वरूप सिंहकी तरहसे है।
जब तक आत्माको निजशौर्यका भान नहीं होता है, पराश्रित रहता है। आत्मज्ञान होते ही
वह मोह बन्धन छोड़कर पराश्रितताको छोड़ देता है। इस आत्माको अज्ञानभावमें ही परकी
गुलामी करनी पड़ती है। आत्माकी पर्याय प्रतिपल बदलती रहती है, लेकिन आत्मा निर्मल
ज्योतिसे युक्त है। स्वभावसे देखनेसे आत्मामें बन्धन नहीं लगा है। यद्यपि आत्मा और कर्म-
वर्गणा दूध पानीकी तरहसे मिले हुए हैं, फिर भी वे हमेशा भिन्न-भिन्न हैं। हां कर्मका उदय
होनेपर आत्मामें विभावपरिणमन हो सकता है। वस्तुतः शुभ और अशुभ भाव ही पुण्यरूप
और पापरूप आत्माको बनाते हैं। यदि मनुष्य पुण्यरूप शुभभावात्मक कार्य करेगा तो उसकी
आत्मा भी पुण्यरूपमें बदल जायेगी, यदि पापाचरण करेगा तो आत्मा पापरूप हो जायेगी।
शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारके भाव अनेक तरहके होते हैं। कषाय और अकषाय दोनों
पर्यायसे विलक्षण आत्माका ही हमेशा ध्यान करना चाहिए।

**मोह आत्माका शत्रु है**---यह आत्मा ज्ञानके लिए कुछ भी नहीं करता है। इसका कारण यह है कि आत्मा मोह और अज्ञानमें उलझा पड़ा है। मनुष्य प्रकृत्या ही ज्ञानसे दूर भागता है। वह ज्ञानको शत्रु समझता है तथा मोहको मित्र समझता है। लेकिन सुरसु मुनिदुर्लभ इस मनुष्यपर्यायको प्राप्त करके अज्ञानमें पड़े रहकर ही नहीं खो देनी चाहिए। इस पर्यायको प्राप्तकर अधिकसे अधिक ज्ञानप्राप्ति करनी चाहिए।

**ज्ञानदानका फल केवलज्ञान है**----साधुका उत्तम त्याग ज्ञानदान ही है। साधुओंको हमेशासे ज्ञानका उपदेश देते रहना चाहिए। ज्ञानदान नाम यश लोभसे किया जाता है तो वह सफल नहीं होता है। इसी प्रकार आहारदानका फल भोगभूमिया बनना, अभयदानका फल--- नेता आदि बनना और औषधदानका फल पहलवानादि बनना है। इस इच्छासे किया वह दान सब निष्फल है।

सर्व दानोंमें प्रधान ज्ञानदान है। ज्ञानदान व ज्ञानलाभ दोनों सत्पथ है। उनमें भी ज्ञानलाभ विशेष उत्तम है। आत्माका स्वभाव चैतन्यमय है। उसको मुक्त अथवा संसारी कहना उसके स्वरूपका घात करना है।

**ज्ञान-प्राप्तिके लिए चित्तको शुद्ध आवश्यक**---खालिस या शुद्ध आत्माको देखो तो वह अब भी मुक्त है। शरीर-आत्माको युगपत् देखने से आत्मा बन्धयुक्त प्रतीत होता है, जिस प्रकार गायके गलेकी रस्सीसे बंधी हुई रस्सीके एक साथ देखनेसे गाय बंधी हुई प्रतीत होती है। अपनी शक्तिके अनुसार सब कुछ न्यौछावर करके भी शुद्धात्माकी पहिचानके लिए प्रयास करना चाहिए। आत्मज्ञानकी प्राप्तिका गृहस्थोंके लिये सुगम साधन, वर्षमें दो माह अन्यत्र योग्य स्थानपर रहकर आत्मतत्वका अध्ययन करना है। कमाईकी चिन्ता न करो, वह सर्व अल्प श्रमसे होगा। कम खर्च करना गृहस्थोंकी तपस्या है। जो गृहस्थ कम खर्च करके शेष द्रव्यको ज्ञानदानमें व ज्ञानलाभमें लगाता है, वह तपस्वी है। गृहस्थोंको अपने चित्तकी शुद्धि करनेके लिए जुट जाना चाहिए। क्योंकि चित्तकी शुद्धि गृहस्थोंका प्रथम तप है। चित्तकी शुद्धिके बिना कोई भी कार्य सफल होना सम्भव नहीं है। चित्तशुद्धिके बिना धर्मकार्य होना असम्भव है। मनुष्य यदि बड़ा बनने और यशकी इच्छाको छोड़कर ज्ञान-मार्गमें तत्पर होता है तो उसका कल्याण अवश्यम्भावी है। ज्ञानका अलौकिक चमत्कार है। मोह और अज्ञानके बिना ही धर्म कार्य सम्भव है। ज्ञान देना और ज्ञान प्राप्त करना ये दोनों केवलज्ञानके मूल हैं। चित्स्वरूपका बोध सच्चा ज्ञान है। चिन्मात्र चैतन्यका विचार करने पर उसके सब दुःख भाग जाते हैं।

अरहंत और सिद्ध भगवान्का ध्यान करनेसे प्राणीकी लौकिक विपत्तियाँ दूर हो सकती है, लेकिन अरहन्त भगवान् या सिद्ध भगवान् स्वयं प्राणीकी विपत्तियोंको दूर करनेमें

समर्थ नहीं हैं। स्वसमय परसमयमें रहने वाले समयसार, शुद्ध आत्माका ध्यान सर्वविपत्तियों को दूर कर देता है। आत्मा (मैं) में कोई लिंग नहीं होता है। जैसे—मैं जाता हूँ, मैं जाती हूँ। अहं गच्छामि। इस प्रकार 'मैं' स्त्रीलिंग और पुल्लिंगमें समान ही रहता है। संस्कृत और अंग्रेजीमें तो दोनों ही लिंगोंमें क्रिया भी एक रूप होती है।

**ज्ञानतत्त्वकी सब तत्त्वोंमें श्रेष्ठता—** संसारमें ज्ञानतत्त्व सब तत्त्वोंमें उत्कृष्ट है। झूठ अभिमान, झूठ बड़प्पन एवं झूठ यशको मिटाने वाला वस्तुज्ञान ही है। सभी प्रकारसे अपने लौकिक कार्योंसे समय निकालकर ज्ञानकी प्राप्तिमें लग जाना चाहिए। अपने ज्ञानविकासके लिए वर्षमें कमसे कम दो मास ज्ञान प्राप्त करनेके लिए शुद्ध एकान्त शान्त सत्संगमें व्यतीत करने चाहियें। निजज्ञान होनेपर वह ज्ञानी बाह्यके प्रतिकूल नहीं समझता, वरन केवल बाह्यकी परिणति समझता है। लौकिक जीवोंको जो बुरा मालूम देता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है।

**गाली प्रशंसावाचक शब्द है—**'गालीका व्युत्पत्यर्थ 'प्रशंसा' है। क्योंकि प्रशंसा अर्थ में ही 'गाली' (गा + ली) शब्दका प्रयोग होता है, दूसरे कोई भी गाली अपमानसूचक नहीं है, सभी गालियोंका अर्थ अच्छा ही होता है।

**सुख-प्राप्ति ज्ञानसाधनामें है—** शुद्ध चैतन्य आत्माकी बात समझनी चाहिए। विषय, कषाय, मोह और अज्ञानादिको आत्मासे दूर करना चाहिए। स्वजीव-विकासके लिए तन-मन-धनसे लग जाना चाहिए तभी सुखकी प्राप्ति सम्भव है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है। यहाँ विशेष नाम है पर्यायका और 'सामान्य' नाम है द्रव्यका। जो सभी पर्यायोंमें एकरूप रहे उसे सामान्य कहते हैं। उसकी पर्यायोंमें प्रतिसमय कुछ न कुछ परिवर्तन आता रहे, उसे विशेष कहते हैं। सामान्यके बोधसे घमण्ड दूर हो सकता है। विशेषसे अहंवृत्तिका नाश नहीं होता है। सामान्यके ज्ञानवाला जीव इस संसारको नाटक समझता है। जिस प्रकार नाटकमें पात्र भिन्न-भिन्न रूप बदलकर आते हैं, लेकिन वे पात्र तद्रूप तो नहीं हो जाते। विशेष नाटक है, सामान्य नाटककार। सम्यग्दृष्टिको यह ज्ञान होता है कि यह आत्मा ही नाटक करने वाला है। आत्मस्वरूपको जाननेवाले व्यक्तिके लिए वे नाटक व्यर्थ हैं।

भगवानकी भक्ति करना बिना ज्ञानके निष्फल है। ज्ञानके बिना भगवान्की भक्तिसे कोई कार्य सफल नहीं हो सकता है। शुद्ध आत्मज्ञानसे ही संवर निर्जरा होती है। बिना आत्मज्ञानके संवर निर्जरा कैसे हो ? केवल भक्तिमार्ग रह जानेपर भक्तिके नामपर कुभक्ति भी हो सकती है। देखो; लोग देवी देवता तक पूजने लग गये। अष्टभुजा, चतुर्भुजा और पद्मावती आदिकी मूर्ति बनाकर पूजना धर्मविरुद्ध कार्य है। लोग देवीके ऊपर भगवानको

बिठाये ऐसी मूर्ति बनाने लग गये हैं। जीवके परमात्मा होनेपर भगवानको देवी-देवता आदि कोई छू नहीं सकता है। फिर पद्मावतीकी मूर्तिके ऊपर छोटेसे पारसनाथ विराजमान करने का क्या प्रयोजन? यह प्रथा अपने देशमें ३०० वर्षोंसे नहीं है। फिर इस प्रथामें थोड़ेसे चांदीके टुकड़ोंके लोभसे यह अनर्थ क्यों किया जा रहा है? इस प्रथाको मिटाना प्रत्येक जैनी भाईका कर्तव्य है। दुनियावी इच्छावोंके कारण इस पंचम कालमें धर्मकी हानि होती जा रही है।

सामान्य आत्माकी अनुभूति करना सम्यग्दर्शन है। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं, ऐसा विचार करनेसे पर्यायबुद्धि छूट जायगी। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्माके विषयमें स्वस्थ चित्त होकर विचार करना चाहिए। तभी सच्चे आनन्दकी प्राप्ति होगी।

**प्रारम्भमें सुख प्राप्ति कैसे हो?**—उत्तम सुख प्राप्त करनेके लिए शान्तिपूर्वक रहना और विनयपूर्ण वचनोंका कहना आवश्यक है। जो व्यक्ति इन दोनोंका पालन करता है, उसके पास सांसारिक दुःख-बाधाएं आकर भटकती भी नहीं हैं। विनयपूर्वक हितपूर्ण वचनों के बोलनेसे परम्परया अक्षय और अनन्त सुखकी उपलब्धि होती है। बिना विनय वचनोंके बोले धूपमें छायाकी तरह शान्ति दूर ही भागती जायगी। अविनयी शान्तिको त्रिकालमें भी नहीं पकड़ सकते हैं। घरोंके पारस्परिक विरोधका कारण अविनय भरे वचनोंका बोलना ही है। जब कोई कुटुम्बका सदस्य अन्य सदस्योंके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करेगा, तो उसी समय आपसमें झगड़ा हो जाता है। झगड़ेमें कारण धनकी विषमता भी है, लेकिन उतना नहीं। प्रत्येक कुटुम्बके सदस्योंसे क्या, प्राणीमात्रसे अच्छा व्यवहार करना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति हमारेसे अच्छा व्यवहार नहीं करता है, इसमें हमारी ही अयोग्यता है। क्योंकि जब हम किसीसे अच्छा व्यवहार नहीं करेंगे, दूसरा हमारेसे सद्व्यवहार क्यों करने लगा? अयोग्य व्यक्ति मत्सरी और असदाचारी होता है। अपनेको (आत्माको) योग्य बनाना अपने ही ऊपर निर्भर है। भूल होना कोई भारी पाप नहीं है। लेकिन भूल करके उसे न सुधारना या पुनः करना बड़ी भारी भूल है। रागद्वेषादि सभी भूल हैं। अज्ञानी व्यक्ति भूल करता है और वह समझता है कि मैने अच्छा ही किया। इस प्रकार समझना बड़ा भारी मिथ्यात्व है।

**लौकिक सुख किस प्रकार प्राप्त किया जाय?**—इसके लिए सबसे पहिले अपनी जबानको संभालना चाहिए। कभी भूलकर भी अपने मुखसे कटु, अप्रिय वचन तथा गाली गलोज आदि गन्दे वचन नहीं निकालने चाहिएँ। इसी जबानसे मीठा बोलकर शत्रुको मित्र, और कडुआ बोलकर मित्रको शत्रु बनाया जा सकता है। इसी जिह्वामें वह शक्ति है कि रूखा-सूखा परोस दो-चार प्रेमकी बातें करके दूसरेका थोड़े ही भोजनमें अच्छी तरहसे पेट

भर सकते हैं। सबसे पहली कला वचन बोलनेकी है। जो व्यक्ति मीठे वचन नहीं बोलना जानता वह बिना पूंछके पशुके समान है। बुरा वचन बोलने वाला पशु ही है। मनुष्य इस वाक् रूपी औषधिसे प्रत्येक मनुष्यको अपने वशमें कर सकता है। वचनको सुधारनेके लिए कम बोलना आवश्यक है। अधिक बोलने वाला व्यक्ति वावदूक-प्रलापी कहलाता है। हित-परिमित-प्रिय वचन बोलने वाले व्यक्तिके सभी अनुकूल हो जाते हैं। रूठा हुआ व्यक्ति प्रिय वचन बोलनेसे मनाया जा सकता है।

**सद् वचन उत्तम आभूषण है इससे सच्ची शोभा है**—सभी व्यक्तियोंको मन और वचन शुद्धिके लिए सात्विक रहन-सहन करना चाहिए। रहनसहनका मनपर प्रभाव पड़ता है। आभूषण पहननेसे शरीरकी शोभा नहीं बढ़ती है। अतः आभूषण न पहननेसे सुन्दरता का कोई क्षति नहीं पहुंचती है। धर्म और सदाचरणकी हानि होनेपर मनुष्यका सर्वस्व चला जाता है। गहनोंसे शरीरकी शोभा नहीं है, धर्म और सदाचरणसे युक्त आत्मा सहित शरीर की शोभा है। यदि रूपवती स्त्री भी मीठा नहीं बोलती है, उसकी सुन्दरता नहीं जंचती है। सुन्दरताको बढ़ानेके लिए मीठे वचन और शान्तिकी आवश्यकता है। जिस व्यक्तिसे प्रिय बोला जाए, वह व्यक्ति तुम्हारे सुखके लिए सदा प्रयत्न करता रहेगा।

मीठे बोले बिना तो व्यापारी भी अपना व्यापार अच्छा नहीं कर सकता है। प्रिय वचन बोले बिना तो जीवन ही निरर्थक है। कटु भाषणसे २४ घन्टे कलह बनी रहती है। पक्षियोंको ही देख लो, मीठा बोलनेके कारण ही तोता, मैना, और कोयल आदि पक्षियोंको सारा संसार प्रेमपूर्वक पालता है। उनकी भाषा सभीको मीठी लगती है। कौवा सदा कांव-कांव करता रहता है। उसका वचन मधुर नहीं होता है। अतः कौवेको कोई भी नहीं पालता है। सबको प्रिय लगने वाले मीठे वचनोंको बोलकर जीवन सुधारना चाहिए।

**विनय वशीकरण मंत्र भी है**—विनयसे सभी प्राणी वशमें हो जाते है। विनयपूर्वक वचन बोलना, प्रेमसे और शान्तिसे रहना—इन दोनोंको कमसे कम एक सप्ताह तक परीक्षा करके देख लो, यदि इनसे लाभ हुआ तो ग्रहण कर लेना, अन्यथा हानि होनेपर छोड़ देना। निश्चित है कि इस प्रकार जीवनयापन करनेसे लाभ होगा। प्रेमपूर्वक उचित सभी कार्योंमें सबको हाथ बटाना चाहिए। दूसरेके कार्योंमें हाथ बटाकर धर्म-कार्योंमें सहायता करना हमारी अनायास प्रवृत्ति होनी चाहिए। यदि कोई बुरा वचन उच्चारण करता है, इसमें जीवकी कमी नहीं है, इसमें उसके पर्यायका दोष है। अपने स्वभावको निरख अपनेको सदा निर्मल बनाना चाहिए।

विनम्रता व शिष्टाचारके पालनके लिये प्रातःकाल उठकर अपनेसे बड़ोंको जय-जिनेन्द्र करना चाहिए। प्रायः सभी घरोंमें छोटे बड़े बच्चे माता-पिताका अभिवादन नहीं

करते हैं। इस ओर माता-पिता व बच्चोंको ध्यान देना चाहिये। बड़ोंका अभिवादन करते समय दोनोंको लौकिक विशुद्ध आनन्दकी प्राप्ति होती है। प्रातः सब कुटुम्बियोंको एक बड़े कमरेमें सम्मिलित होकर बड़ी लयके साथ तथा गंभीर स्वरसे आत्मकीर्तनको या अन्य आत्म-शोधक भजनको बोलना चाहिए। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण दिन बड़े आनन्दके साथ व्यतीत होगा।

इसके साथ-साथ सभी परिवारके सदस्योंका पूरा नाम उच्चरित करके 'जी' का प्रयोग करना चाहिए। जैसे निर्मल कुमार जी आदि। सबको योग्यतानुसार भैया जी, बहन जी, माता जी आदि आदरसूचक सम्बोधनोंसे पुकारना चाहिए। अपनेसे बड़ोंके साथ हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोलना चाहिए। इस समय सभी घरोंमें बच्चे प्रायः माता-पिताको कुछ नहीं समझते हैं। इस कारण उससे पहलेसे चला आया गन्दा वातावरण है, जिसकी ओर उनके माता-पिताने कुछ भी ध्यान नहीं दिया है।

**शील शान्तिका सद्बीज है**—विनयके साथ प्रत्येक गृहस्थका दूसरा कर्तव्य शील पालन है। हमेशा अपने शीलकी रक्षा करना आवश्यक है। वर्षमें दो माह, तीन माह इस प्रकार अवधि अनुसार ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करना चाहिये। कुमार, कुमारी, विधुर, विधवावोंको पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये। अपने आत्मिक गुणोंसे ही मनुष्यकी पूजा होती है। आज तक कहीं भी शरीरकी पूजा नहीं देखी गई है। शरीरकी पूजा होती नहीं देखी गई है। शरीर बिल्कुल अपवित्र है। इसके उपर जो भी वस्तु लादी या पहनी जाती है, वह भी अपवित्र हो जाती है। जैसे एक मनुष्यके द्वारा पहना गया एक बारका कमीज दूसरा मनुष्य धारण नहीं करता है, उसे उस वस्त्रसे घृणा होती है।

स्त्री-पुरुषकी शृङ्गारसे शोभा नहीं। ज्ञान और शीलसे ही उनकी शोभा है। आभूषणादि तो नाशवान पदार्थ हैं। ये वस्तुएं आत्माके साथ नहीं हैं। आत्माके साथ तो गुण ही जाते हैं। उपरोक्त विद्या, विनय और ब्रह्मचर्य—इन तीनोंका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। तथा अपने जीवनका आठवाँ भाग धर्मसाधनामें अवश्य ही लगाना चाहिये। धर्मसाधनके लिए उपयुक्त स्थान अनेक हैं जहाँ जाकर ज्ञानाभ्यास किया जावे। यहाँ श्री मढ़िया जी का स्थान उत्तम है। सो भैया! वहांपर जाकर भी धर्मसाधन करना चाहिए, ज्ञानाभ्यास व सत्सङ्ग, अधिकसे अधिक उत्तम करके धर्मसाधना करना चाहिए, ऐसा करनेसे आत्माका कल्याण भविष्यमें हो जायगा, वर्तमानमें भी उपयोग होता ही है।

**यह आत्मा क्या कर सकता है?**—'करना' का अर्थ है उस परिणमनरूप बनना। आत्मामें जो बात बने, वह आत्मा करता है। अच्छे, बुरे और धार्मिक विचार आत्मा कर सकता है। आत्मा केवल विचार ही कर सकता है, अन्य कार्य नही कर सकता है। धन

बढ़ा लूं, कमा लूं, नष्ट कर दूं आदि विचार आत्मा कर सकता है, लेकिन आत्मा धन बढ़ाने, कमाने और नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। यह आत्मा केवल किसी रूप अपने विचार बना सकता है। अन्य कुछ भी कार्य करना आत्माके वशका कार्य नहीं है। कोई जीव किसीका कुछ नहीं कर सकता है। किसीका उपकार अथवा अनुपकार करना आत्माके वशका काम नहीं है।

सर्वप्रथम वस्तुका स्वरूप जानना आवश्यक है। एक परिणमन जितनेमें बने, जितने में बाहर न हो, उतने परिमाणको एक वस्तु या चीज कहते हैं। होल्डरका एक भाग हिलाने से पूरा होल्डर हिल जाता है; अतः होल्डर एक चीज कहलाई। यह स्थूल दृष्टांत है। शरीर अनन्त परमाणुओंका ढेर है। शरीरका एक परमाणु एक चीज है। एक परमाणु अपनी ही हालत बना सकता है, दूसरे परमाणुकी हालत बनानेमें वह समर्थ नहीं है। संसारमें अन-न्तानन्त आत्मा हैं, और उनसे अनन्तानन्त गुणे परमाणु हैं। प्रत्येक परमाणुका निजक्षेत्र होता है उसे प्रदेश कहते हैं। आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। आत्माका काम आत्माके प्रदेशोंमें ही हो सकता है। अपने प्रदेशोंसे बाहर आत्मा काम नहीं कर सकता है। आत्माके प्रदेशों का हलन-चलन आत्माकी इच्छासे होता है। आत्मा केवल इच्छा कर सकता है अन्य कोई बात आत्मा नहीं कर सकता है। प्रत्येक पदार्थ इतना स्वतन्त्र है कि वह पदार्थ अपना ही काम कर सकता है अन्यका नहीं।

**वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानो**—इस मनका उपयोग सम्यग्ज्ञानमें करना चाहिए। अन्य बातोंमें मन लगानेसे जीवन निरर्थक है। सम्यग्ज्ञान होनेपर मोह नष्ट हो जाता है। अतः सम्यग्ज्ञानके लिए कृतप्रयत्न होना चाहिए। मन-वचन-कायको अनुकूल बनाना चाहिये जिससे दूसरेको लाभ हो। आत्माकी जानकारी सभी जीवोंको किसी न किसी रूपमें अवश्य होती है। यदि जीवोंको आत्माकी जानकारी न हो तो उनको सुख दुःखादिका अनुभव नहीं हो सकता है। मैं अमुकका पिता, अमुकका पुत्र अथवा अमुक जातिका हूं—इस प्रकार अवि-वेकी आत्मा अपने आपको जानता है, (इसीका नाम मिथ्यात्व है)। जबकि विवेकी आत्मा अपने आपको सामान्य रूपसे जानता है। मैं अमुकका पिता या अमुकका पुत्र अथवा अमुक जातिका नहीं हूं किन्तु मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं, ऐसी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। त्यागी भी यदि ऐसी प्रतीति कर जाने कि मैं त्यागी हूं, ऐसी प्रतीतिको मिथ्यात्व कहते हैं। क्योंकि आत्मा हमेशासे त्यागी नहीं हो सकता है। यदि हमेशासे त्यागी रहे तो अगले भवमें भी उसे त्यागी ही होना चाहिए, लेकिन ऐसा होता नहीं देखा गया है।

हमेशा आत्मामें यही भाव होना चाहिए कि मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ज्ञाता द्रष्टा हूं। पिता एक पर्याय है, पर्यायमें ही अमुककी कल्पना कर लेना, मिथ्यात्व है। त्यागीके कष्ट मिलनेपर यदि समताभाव भी बना रहे और अपने आपको वह त्यागी व अमुक पदवाला

मानता रहे, वह भी मिथ्यात्व है। किसी भी पर्यायमें गुजरो, अपनेको उनसे विलक्षण ध्रुव चैतन्यस्वरूप समझो। यही शुद्धात्माका स्वरूप है।

**आत्मा द्रव्यतः शुद्ध सर्वदा है**—आत्मा शुद्धताकी अपेक्षासे दो प्रकारका है—१ पर्यायशुद्ध, २ द्रव्यशुद्ध। पर्यायशुद्धात्मा भगवान् अरहन्त सिद्ध है। प्राणीमात्रकी आत्मा द्रव्यशुद्धात्मा है। परद्रव्यसे भिन्न आत्माको द्रव्यशुद्धात्मा कहते हैं। निगोदसे लेकर सिद्ध पर्यन्त सभी द्रव्यशुद्धात्मा हैं। समयसारमें द्रव्यशुद्धात्माका ही कथन है। जो एक स्वरूपसे सभी अवस्थाओंमें एकसा रहे, वह शुद्धात्मा कहलाता है। सामान्यदृष्टिसे देखा गया आत्मा शुद्धात्मा कहलाता है। सामान्य दो प्रकारका है--१–जातिसामान्य, २–एकसामान्य। जाति-सामान्य उसे कहते है जिसमें एक समयमें अभिन्न कल्पना की जाये। बाल, युवा और वृद्धा-वस्थामें रहने वाला मनुष्य एकसामान्य कहलाता है। आत्माको भी दो दृष्टियोंसे देखना चाहिए—१--जातिसामान्यात्मा, २--व्यक्तिसामान्यात्मा। एकके प्रति नारकी, निगोदिया, मनुष्य, तिर्यंच, आदि देखना व्यक्तिविशेषात्मा है, उनमें एकको देखना व्यक्तिसामान्यात्मा है। जातिसामान्यात्मा चैतन्यकी दृष्टिमें एक समान है। अपने आपकी आत्माको व्यक्ति-सामान्यात्मामें देखना चाहिए। व्यक्तिसामान्यात्माको ऊर्ध्वतासामान्य और जातिसामान्यात्माको तिर्यक सामान्य कहते हैं।

**कषायका आविर्भाव पर्यायबुद्धिसे है**—जीवोंको क्रोध पर्यायको आत्मा माननेसे ही आता है। जैसे पिताको पुत्रपर गुस्सा अपनेको उसका पिता समझनेके कारण ही आता है। त्यागियोंको गृहस्थोंपर क्रोध इसलिए आता है कि अरे, मैं तो त्यागी हूं, यह गृहस्थ है। मेरा गृहस्थसे पद ऊंचा है। अमुकने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया है? इतने सामान्य आत्माको न जाना जाये, तब तक सुख प्राप्ति नहीं हो सकती है। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर कर्मोंकी निर्जरा होती है। पुण्यकार्य करनेसे पुण्यका बन्ध तो अवश्य होता है, लेकिन कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है। आत्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव प्राप्त करनेपर तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर ही मोक्षप्राप्ति होना सम्भव है। सम्यग्दर्शन आत्माके कल्याणकी जड़ है। अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर आत्माका कल्याण करना चाहिए।

**सत्य दृष्टि पानेके लिये वस्तुका स्वरूप अवश्य जानो**—प्रत्येक पदार्थमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–ये चारों बातें पाई जाती हैं। इन चारोंको एक शब्दमें कहनेको पदार्थ कहते हैं। गुणांशका अर्थ है शक्तिका अविभागी प्रतिच्छेद। देश, देशांश, गुण, गुणांश—इन चारोंको—एक शब्दमें कहा जाये, उसे द्रव्य कहते हैं। प्रश्न––समुदाय और समुदायी क्या एक ही चीज है? यदि समूह और समूह वाला एक ही चीज है तो उनको दो क्यों कहा, एक ही कह लेते? देशांश, गुण, गुणांश कहो अथवा देश कह लो या द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव कह लो, एक ही बात है, अतः समुदाय कहनेसे ही काम चल जायेगा, समुदायी कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिन जिनका समुदाय कहा जाये, उसे समुदायी कहते हैं। समुदायका तो अर्थ समूह है ही।

**कारकोंकी भिन्नता और अभिन्नता**—भिन्नकारक और अभिन्नकारक दो प्रकारके कारक होते हैं। द्रव्यमें गुण या शक्ति है, यह अभिन्नकारक है। शरीरमें आत्मा है, इसमें भिन्नकारक है। यह समुदाय समुदायी तो अभिन्नकारक है, अतः समुदाय और समुदायी इनमेंसे एक ही को कहना चाहिए। समुदायको कह दो, समुदायी कहनेकी आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा प्रश्न उठे। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि समुदायी न माना जाए तो समुदाय चीज ही क्या रहेगी ? जब वृक्षके शाखा, कोपल और पत्तोंका ज्ञान ही न हुआ तो वृक्ष ही क्या रहा ? इसी प्रकार तुम प्रदेश, गुण पर्याय न मानो तो द्रव्य कैसे सिद्ध होगा ? जब गुण और गुणांश समझमें आ रहे हैं तो उनका अभेदरूप द्रव्य समझ जावोगे। समुदाय समुदायीके बिना नहीं हो सकता है। गुण और पर्यायके बोध बिना द्रव्यकी प्रतीति नहीं हो सकती है।

**द्रव्यका सर्वांग सुन्दर लक्षण**—"समगुणपर्यायो द्रव्यम्" यह द्रव्यका महत्त्वपूर्ण लक्षण है। गुणपर्याय हो तो एक शब्दसे द्रव्य कही जाती है। समुदायी यदि न माना तो समुदाय चीज ही क्या रहेगी ? जैसे आममें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण हैं, ये चारों चीजें पाई जाती है, इन चारोंमय आम है किन्तु स्वरूप अलग-अलग है। गुणमयी द्रव्य हैं, इन चारों का ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप होता है। जैसे आममें एक एक इन्द्रियसे एक-एक गुणका पर्याय जाना जाता है। फिर भी अखण्डदेशी होनेके कारण ये चारों अलग नहीं किये जा सकते हैं। जहाँ एक गुण पाया जाये, वहाँ पुद्गलके चारों ही गुण पाये जायेंगे। इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांश भी अखण्ड एक द्रव्य हैं फिर भी स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपसे ज्ञान होता है, अतः समुदाय और समुदायी दोनोंका कथन होना आवश्यक है।

जैसे पत्ता, फल, फूल ये सब न्यारे न्यारे समझमें आते हैं इसी प्रकार द्रव्य गुण, गुणांश सभी भिन्न-भिन्न समझमें आते हैं। प्रत्येक द्रव्योंमें विशेषकी अपेक्षासे देश, देशांश, गुण, गुणांशकी कल्पना बनेगी। अभेद और भेद दोनों मानो तो बात सत्य है। वस्तु न अखण्डरूप है और न खण्डरूप। समुदायकी प्रतीति समुदायीकी अपेक्षा रखता है। यद्यपि द्रव्यको खण्ड-खण्ड करके समझाया है लेकिन वह है अखण्ड।

**द्रव्यका दूसरे प्रकारसे लक्षण**—'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्तं सत्' यह द्रव्यका समीचीन लक्षण है। द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों अवस्थाएं पाई जाती हैं। इन तीनोंसे एक साथ अभिन्नरूपसे मिला हुआ द्रव्य कहलाता है। भेदविवक्षासे दृष्टि डालनेसे आत्मा

और अस्तित्वगुण ये भिन्न-भिन्न हैं। अभेदविवक्षासे दोनों एक ही हैं। भेदविवक्षासे 'सत्' द्रव्यका गुण है। अभेदविवक्षासे 'सत्' द्रव्य ही है। जैसे वस्तु स्वत:सिद्ध है और वह स्वतः परिणमनशील भी है। अतः यह सत् यहाँपर नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप ही है। वस्तु प्रति समय परिणमती रहती है। जो परिणमनशील है, वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। वस्तु स्वत:सिद्ध है, अतः ध्रौव्यसे युक्त है। वस्तु स्वतः परिणामी है अतः उत्पाद व्यय युक्त है। अतः वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों अवस्थाएं पाई जाती हैं। वस्तु सत् स्वरूप है। वस्तुकी सत्तामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं हैं, उसकी अवस्थामें ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं। यदि वस्तुकी सत्तामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मान लिये जाएं तो असत्की उत्पत्तिका व सत्के विनाशका प्रसंग आ जाता है या द्रव्य अर्थक्रियाशून्य बन जाता है। आत्माके देश, देशांश, गुण, गुणांशरूप आत्मतत्त्वका अभेदानुभव सम्यक्त्वका हेतु है।

**अज्ञानी न आपको आप मानता है और न परको पर**—अज्ञानी जीव आत्माको भिन्न-भिन्न रूपमें समझता है। कोई इस दिखने वाले शरीरको ही आत्मा समझता है। कोई रागद्वेषरूप परिणामोंको आत्मा समझता है। कोई सुखदु:खादिकी अवस्थाओंको भी आत्मा मान बैठता है। इस प्रकार इस आत्माको कोई किसी रूपमें देखता है, कोई किसी रूपमें। जो भी अवस्था इस जीवको प्राप्त हुई, उसीको आत्मा समझ लेता है। पर्यायको आत्मा मान बैठना दु:खका कारण है। जैसे शरीरको आत्मा समझ लेनेसे दु:ख ही प्राप्त होता है, क्योंकि शरीर नाश होने वाला है। अतः उसको शरीरके वियोगमें दु:ख ही तो उठाना पड़ेगा। यदि जीवको यह ज्ञान हो जावे कि शरीरादि पर्याय मैं नहीं हूं, सब भिन्न-भिन्न हैं, तो उसको दु:खका सामना न करना पड़ेगा। ये राग-द्वेष क्लेश शरीरादि मैं नहीं हूं। अन्यकी बात जाने दो। यदि हम वर्तमान ज्ञानको ही आत्मस्वरूप मान बैठें, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसा हम इस समय जान रहे हैं, ज्योंका त्यों सदा तो नहीं बना रहेगा, ज्ञानका परिणमन अन्य अन्य होगा। इस कारण ज्ञान भी मैं नहीं हूं। मैं इन सबसे भिन्न स्वरूपको रखने वाला चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। हम जिस रूप पर्यायको प्राप्त हुए हैं, वह मैं नहीं हूँ। क्योंकि पर्याय नष्ट होती है व उसके नष्ट होनेपर दु:ख होता है। अतः जो हम विचारते हैं, वह मैं नहीं हूँ।

जिसको हम लोग मेरी बात कहते हैं कि मेरी बात रख ली। यह बात भी नष्ट होने वाली है; अतः यह बात भी मैं नहीं हूँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो चीज या पर्याय नष्ट होती है, वह मैं नहीं हूं। ज्ञान, शरीर, सुख दु:ख, रागद्वेष, क्लेशादि मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये नष्ट हो जाते हैं। जो हमेशा एकसा बना रहता है, वही मैं हूँ। मैं इन ज्ञान

शरीरादिसे परे एक चैतन्य आत्मा हूँ ।

**मैं चैतन्यमात्र हूँ**—यद्यपि मैं इन सबमें वर्तता हूँ और ये सब मेरी ही पर्याय है । इन सभी दिखाई देने वाले रूपोंमें रहने वाला मैं एक आत्मा हूँ, तथापि स्वभावतः वह आत्मा नित्य, निरञ्जन, ज्ञाता-द्रष्टा है । उसका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान विविध दृष्टियोंसे हो पाता । उन सर्वदृष्टियोंका नाम नय है । जैसे यह चौकी एक फुट ऊंची है, हमें इस चौकी का ज्ञान हो गया कि यह यह एक फुट ऊंची है । लेकिन उसकी दूसरी अवस्था पर्याय लम्बी चौड़ी रूपमें भी तो है । उससे भी तो हमें उसी चौकीका ज्ञान होगा । इसी प्रकार यह आत्मा प्रदेशमुखेन अमुक आकारमें है, सूक्ष्मत्वकी अपेक्षा सूक्ष्म है, द्रव्यत्वकी अपेक्षा परिणम-नशील है इत्यादि नाना प्रकारोंसे हमें आत्माका बोध होता है । परमशुद्धनिश्चय नयसे देखो तो वह नित्य, निरञ्जन ज्ञायकस्वरूप है । जैसे एक लम्बा मोटा चौड़ा ठूंठ है । माना उसके पूरे भागमें अग्नि लग गई । उसमें अग्निका आकार ठूंठ जितना नहीं है । अग्नि तो निराकार है । वह तो उष्णता स्वरूप है लेकिन लोग ईंधनमें लगी हुई अग्निका आकार मानते हैं । यह मानना ठीक नहीं है । वैसे शरीरमें आत्मा बसता है । उसीरूप अपने लोग जानते हैं कि इस रूप मैं हूँ । किन्तु आत्मा इन सभीसे विलक्षण है । वही द्रव्यसे शुद्ध आत्मा है, निरपेक्ष आत्मा है । यह आत्मा यदि पदार्थोंको जानता है तो यह बात नहीं कि यह आत्मा पदार्थमय है । आत्मा जो नाना पर्याय धारण करता है, यह सब मोहनीय कर्मके उदयका परिणाम है । आत्मा तो निर्विकार चैतन्यात्मा है । आत्माका किसी भी पदार्थसे सम्बन्ध नहीं है । यदि कोई ज्ञानी महात्मा रास्तेसे जा रहा है, और वह किसी दुःखी जीव को देखता है तो उसमें आत्मदया उत्पन्न होगी । साधुवोंकी दया आत्मदयारूप होती है । साधु आत्मदयाको बताता जाता है ।

**साधुका उत्तम त्याग ज्ञान दान स्वरूप है**—दान चार प्रकारका होता है—आहार-दान, औषधज्ञान, ज्ञानदान और अभयदान । आहारदानका फल भोगभूमिया होना अर्थात् उसे आहार न मिलने का दुःख नहीं रहना है । औषधदानका फल है, पुष्ट पहलवान बनना या नीरोग रहना । अभयदानका फल है, नेता या कोई बड़ा ओफिसर बनना । ज्ञानदानका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति है । ज्ञानदानी प्राणिमात्रका उपकार करता है, ज्ञानदानका काम पंडितोंका है । पंडितसे तात्पर्य ज्ञानीसे है चाहे वह त्यागी, मुनि, व्रती या सद्ग्रहस्थ हो, केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर किसी प्रकारका दुःख नहीं है । केवलज्ञानी यदि सशरीर हो तो क्यों भैया ! अच्छा है ना, क्योंकि इस अवस्थामें वह जनताको धर्मका सच्चा उपदेश देकर लोकोपकार भी कर सकता है । अरहन्त भगवान जब तक शरीरसहित होते हैं, जीवोंको धर्मका उपदेश देते हैं । सिद्धावस्था प्राप्त होनेपर उपदेश मिलता नहीं है । लेकिन वे

अरहन्त भगवान भी अघातिया कर्मोंका क्षय करके सिद्ध हो जाते हैं, अतः उनकी भी सदा अरहन्तावस्था नहीं बनी रहती है। आज प्रभु अरहन्त नहीं हैं। ज्ञानी दूसरोंको सिखाये और खुद सीखे। वास्तवमें ज्ञानी दूसरोंको उपदेश देकर खुद ही सीखता है। अतः ज्ञानदान देकर सभी ज्ञानी दूसरोंको सुखी बनाते ही हैं, स्वयं भी सुखी होते हैं।

**उत्तम ध्यान ही शरण है**—संसारमें सर्वोत्कृष्ट चीज है शुद्ध ध्यान। ध्यानमें बैठकर बाह्य पदार्थोंके विषयमें सब कुछ भूल जाते हैं। केवल ध्यानी अपने ही स्वरूपमें मग्न रहता है। एतदर्थ—सबसे अधिक सम्हाल रखने योग्य चीज है, श्रद्धा, ज्ञान, चरित्र। जिसका श्रद्धान, ज्ञान, चरित्र बिगड़ गया, उसका क्या नहीं बिगड़ा, सभी कुछ बिगड़ गया। चाहे वह त्यागी, धनी अथवा विद्वान् क्यों न हो? यदि धनी धन प्राप्त करके अधर्म कार्य करे, तो उसको अधर्मका फल अवश्य मिलेगा। अगर कोई पंडिताई प्राप्त करके पाप करे, उसको भी कर्म नहीं छोड़ता है। यदि हमारे अन्दरसे कलुषित परिणाम हैं, बाहर कितना ही साफ क्यों न हो, कर्म उसको भी नहीं छोड़ता है। यदि हमारे अन्दर विशुद्ध परिणाम है तो कर्म हमारा बाल भी बांका नहीं कर सकते। यद्यपि इसमें न्याय करने वाला कोई नहीं है तथापि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे सच्चा न्याय स्वयं हो जाता है। आत्मामें भेद नहीं है, वह अखंड है इसके उपयोग बिना मोहका साम्राज्य छा जाता है। पुत्र स्त्री आदिके मोहमें आत्मा कुछ भी कल्याण नहीं कर सकता है। जैसे जैसे मोह घटता है, वैसे वैसे ज्ञान बढ़ता जाता है। मोह दूर करना मनुष्यका काम नहीं है। मोहको तो ज्ञान ही हटाता है। मनुष्य राग न करे इसका उपाय तत्त्व समझ लेना है। अपना कर्तव्य है सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करना। यथार्थज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्माका कल्याण करो, सुख प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। रागद्वेष मोहादिको हटानेका उपाय ज्ञानप्राप्ति ही है। जहां द्रव्यका सच्चा ज्ञान हो गया कि वह अपनी अवस्थामें परिणमता है वही सच्चा ज्ञान है।

ज्ञानके विषयमें अपनी अपूर्णता ही सोचते हैं। इस प्रकार वे सर्वदा ही विद्यार्थीकी तरह ज्ञानसाधनामें लीन रहते हैं लेकिन बिना पढ़े लिखे सोचते हैं, हम तो अपनेमें पूर्ण हैं, वे भ्रम में हैं। उनको इस भ्रमको दूरकर ज्ञानसाधनामें लगना चाहिये।

**अवशिष्ट जीवनका सदुपयोग करो**—भैया ! आप लोगोंको ऐसा करना चाहिए, जिनको जीविकाका साधन है, उनको ज्ञानप्राप्तिके लिए धर्म क्षेत्रपर रहना चाहिए। आप लोग यदि धर्मसाधना करना चाहें तो अनेक स्थान व अनेक सत्सङ्ग मिल सकते हैं, वहाँ धर्मसाधन कर सकते हैं। आप सबको तन–मन–धनसे ज्ञानकार्यमें जुट जाना चाहिए। कम से कम ज्ञानक्षेत्रपर लगाए गए अपने धनका ज्ञानप्राप्तिरूपमें उपयोग तो करना चाहिए। जिन्दगी भर कमा कमा करके करोगे क्या ? यहाँसे जब भी जाओगे, हाथ पसारे जाओगे। कुछ भी साथ नहीं ले जा सकते। साथ जाता है, ज्ञान। अतः कुछ तो ज्ञानप्राप्ति करना चाहिए। जबलपुर जैन समाजको इसके लिए पहले आगे बढ़ना चाहिए। क्योंकि मढ़ियाजी उनके स्थानके पास है। यदि जबलपुर वाले आगे नहीं बढ़ेंगे तो इस स्थानसे लाभ क्या लिया ?

**निज स्वभावके आश्रयसे सहज आनन्द होता है**—आत्मा सब पदार्थोंसे भिन्न शुद्ध चैतन्यद्रव्य है। वह शुद्ध आत्मा समयसार है। स्वभाव कहो या कारणपरमात्मा कहो, एक ही बात है। भगवानके आश्रयसे कर्म नहीं कटते। उनका आश्रय (भक्ति) तो इसलिए है कि हमें यथार्थताका बोध हो जाये। आत्माके ज्ञानसे संवर निर्जरा होती है। भगवानकी भक्तिसे संवर, निर्जरा नहीं होती है। भक्तिसे पुण्य बन्ध अवश्य होता है। लेकिन भगवान की भक्ति स्वरूपको जाननेमें सहायक होती है। जिस पथपर चलकर भगवान सुखी हुए उस पथपर चलनेके लिए उत्साह लानेको हम भगवानका ध्यान करते हैं। भगवान सिद्ध या अरहंतके स्वभावका ध्यान करनेसे अपना स्वरूप जल्दी जाना जा सकता है। भगवान अथवा महासत्ताके बोधमें आत्माका बोध हो जाता है। महासत्तामें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन नहीं हो सकता है। महासत्ताके ध्यान करनेसे हम अपने स्वभावपर आ जायेंगे। जब तक विशेषका सहारा है, तभी तक परद्रव्यपर हमारा टिकाव है। अपनी भलाई अपने ही आश्रयपर हो सकती है। अतः आत्माका स्वरूप जानकर स्वकल्याण करो।

**यथार्थ बोध मोह बिना दूर नहीं हो सकता**—पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान किए बिना मोह दूर नहीं हो सकता है। जाप देनेसे व भगवानकी भक्तिसे भी मोह दूर नहीं हो सकता है। पदार्थ स्वतः सिद्ध है, उसको किसीने नहीं बनाया है। जैसे मृत्पिडसे घड़ा बना, मिट्टी से मृत्पिड बना। इस प्रकार मृत्पिडका व्यय हुआ, तो घड़ा बना, घड़ेका उत्पाद हुआ। लेकिन मूल चीज वही मिट्टी है। मिट्टी सभी अवस्थाओंमें रही, अतः वह ध्रौव्य है। इस

प्रकार मिट्टी स्वतः सिद्ध है। लेकिन घड़ेका अन्य कोई बनाने वाला नहीं है। वह तो मिट्टी से स्वयं बना, इसमें निमित्त कारण कुम्हार है। जैसे कोरीने कपड़ा बनाया। लेकिन उसने अपनेमें से कुछ मिलाया तो नहीं, वह तो कपड़ेके बननेमें निमित्त कारण है। कपड़ा तो वास्तवमें कपाससे बना, कपाससे तन्तु बनाकर कपड़ा बुना गया। तन्तुके व्ययसे कपड़ेका उत्पाद होनेपर भी कपासकी ध्रुवता है ही।

**जो चीज है वह खुदमें बदलती हुई चली आई है**—वस्तु स्वतः सिद्ध है। वस्तुकी सत्ताका कोई निमित्त नहीं है। वस्तुके परिणमन बननेमें कारण निमित्त हो सकता है, लेकिन वस्तुकी सत्तामें कोई निमित्त नहीं है। जैसे लड़केने हाथसे पीसकर घड़ेका चूर्ण बना दिया। उसमें लड़केके केवल हाथ ही चले, लड़का निमित्तकारण हो सकता है। वैसे तो चूर्ण रूपमें घड़ेकी पर्याय ही बदली है। पर्यायमें निमित्त हो सकता है, वस्तुकी सत्तामें स्वतः सिद्ध होनेसे निमित्त नहीं हो सकता है। वस्तुका नाश नहीं होता, वह आदिसे अन्त तक रहा करता है। वस्तु स्वतः सिद्ध है, अतः स्वतः परिणमनशील भी है। उसकी कोई न कोई हालत अवश्य होती रहेगी। उसकी अवस्थाओंका परिणमन स्वतः ही होता है। वस्तु की पर्याय बनती है।

**पर्याय भी किसी अन्यके द्वारा नहीं बनती**—जैसे तिनकेको हमने तोड़ दिया, उसके हजारों टुकड़े (परमाणु) खिन्न हो गये। तृणमें अपने हाथने कुछ नहीं किया। तिनकेकी अवस्था स्वतः ही हुई। हाथ तो तृणके टूटनेमें निमित्त है। एक और उदाहरण लो:—दो लड़के २० हाथकी दूरीपर खड़े हैं। उनमें से पहला अपने हाथकी अंगुली मटकाकर दूसरे को चिढ़ा रहा है। पहले लड़केके चिढ़ानेमें कारण लड़का नहीं है। पहला लड़का तो अपने परिणामोंके परिणमनसे स्वतः ही चिढ़ता है। परिणमनका अर्थ है, नई पर्यायका बनना। नई पर्यायके बननेका नाम उत्पाद है। पुरानी अवस्थाका उसमें व्यय हुआ। वस्तु वही रही। उसकी अवस्था ही बदली है, अतः वस्तु ध्रुव है। वस्तु परिणमनशील का अर्थ है, उत्पाद-व्यय। स्वतः सिद्धका अर्थ ध्रुव। अतः वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त हुई। यह द्रव्यका पाँचवा लक्षण है। यह स्वतन्त्र लक्षण नहीं है, 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' पर ही आश्रित है। द्रव्यकी पर्याय उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं। वस्तुमें कोई उत्पत्ति-विनाश नहीं होता है। जैसे अंगुली सीधी थी, अब टेढ़ी हो गई। अर्थात् सीधी रूपसे व्यय हो गई। टेढ़ी रूपमें उसका उत्पाद हुआ। लेकिन अंगुली वही अंगुली रही। जैसे घड़ा मिट्टीसे बना, वहाँ मृत्पिण्डका नाश हुआ, घड़ेका उत्पाद हुआ। वैसे मिट्टी मिट्टी ही बनी रही। जैसे पुस्तक पुरानी हो गई। क्या वह इसी समय पुरानी हो गई? नहीं, वह प्रति-समय परिणमती रही, तभी धीरे-धीरे पुरानी हो पाई। वस्तुका धर्म स्वतः सिद्ध एवं स्वतः

परिणामी है।

**हमारा सुख दुःख हमसे ही बनता है**—हम दुःखी होते हैं, अपने परिणमनसे ही होते हैं, दूसरे से दुःखी नहीं बनते। धर्मात्मा भगवान्‌का ध्यान करता है, इसमें भगवान् अरहंत सिद्ध कारण नहीं हैं। हम स्वयं भगवान्‌का ध्यान करते हैं, लेकिन भगवान् स्वयं ध्यान नहीं कराता। भगवान्‌को भगवान् बनाने वाले भी हम ही हैं। भगवान् शुद्ध द्रव्य है। भगवान् को 'भगवान्' संज्ञा तो हमी लोगोंने दी है। जिसके गुण पूर्ण विकासको प्राप्त हो गये हों, उसीका नाम शुद्ध द्रव्य है, उसको हम लोग भगवान् कहते हैं। जैसे शुद्ध दर्पणके सामने मोर बैठा है। दर्पणमें जो मोरका प्रतिविम्ब है, उसको करने वाला मोर नहीं है। मोर तो बैठा है। मोरको देखकर दर्पणने अपना रंग बदल लिया। उसमें मोर तो नैमित्तिक है। दर्पणकी स्वच्छता अनैमित्तिक है। अशुद्ध परिणमन नैमित्तिकको कहते हैं और अनैमित्तिकको शुद्ध परिणमन कहते हैं।

**अशुद्धता निमित्तकी उपाधिसे होती है**—अब यहां पर शंका हो सकती है कि सिद्ध भगवान् तीनों लोकोंके पदार्थोंको एक साथ जान जाते हैं और उसमें ज्ञेय पदार्थ निमित्त हैं तो उनका परिणमन भी अशुद्ध परिणमन कहलायेगा। उत्तर—इसमें यद्यपि ज्ञेयाकार रूप अशुद्धता है, लेकिन उसको अशुद्धता नहीं कह सकते हैं। कारण सब पदार्थोंके झलकनेसे उनको विचार व दुःख नहीं होता है। उनकी पर्याय अनैमित्तिक और सदृश होती है एवं त्रितयात्मक है। मृत्पिण्डसे घड़ा बना। मिट्टी घड़ेके रूपमें उत्पन्न हुई, पिण्डके रूपसे नष्ट हुई, वैसे मिट्टी मिट्टी ही बनी रही। उनका उत्पाद-व्यय युगपत् होती है उंगलीके सीधेपनसे टेढ़ी होते ही सीधेका व्यय और टेढ़ीका उत्पाद युगपत् हुआ। वस्तुकी तीनों पर्यायें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य एक साथ होती हैं। एक ही चीजका नाम उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। सीधी अंगुलीसे टेढ़ी हो गई, इसीका नाम सीधीका विनाश टेढ़ीका उत्पाद और अंगुलीकी ध्रुवता है। इस प्रकार तीनों पर्यायें एक ही चीज हैं। जैसे घड़ेके फूटनेपर घड़ेका व्यय, खपरियों का उत्पाद और मिट्टीका ध्रुवपना एक ही समय हुआ। सत् सत् भी है, सत् असत् भी है। सत् एक रूप भी है, नाना रूप भी है। सत् त्रिलक्षण भी है और सत् अत्रिलक्षण भी है। सत् सर्व पर्यायरूप भी है, और सत् एक पर्यायरूप भी है। सभी पदार्थोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों होते हैं। वस्तु स्वतः सिद्ध है, यह ध्रौव्यको सूचित करता है तथा स्वतःपरिणामी है यह उत्पाद व्ययको सूचित करता है।

**उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य कपोल कल्पना नहीं**—यहाँ पर शंकाकारका कहना है। यह आपकी कपोल कल्पना है, तीनों माननेकी क्या आवश्यकता है, उनमें से एक ही को मान लेते, अब इसका समाधान करते हैं—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। द्रव्य उत्पाद, व्यय

और ध्रौव्यात्मक है। यदि आप तीनोंको न मानो तो पदार्थका अस्तित्व नहीं रहेगा और वह नष्ट हो जायेगा। फिर पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे घड़ा बना। घड़ा बननेमें कारण मृत्पिण्ड है। यदि मृत्पिण्ड न हो तो घड़ा कैसे बने? जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसके उत्पादमें पूर्व पर्याय कारण होती है। पर्याय अलगसे कोई वस्तु नहीं है। पूर्वपर्याय-संयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान कारण होता है। घड़ा बननेमें उपादान कारण मृत्पिण्ड पर्यायके साथ मिट्टी है। उसके बननेमें निमित्त कुम्भकार, चक्र दण्डादि अवश्य हैं। कुम्भकार चक्र दण्डादि मिट्टीमें नहीं गये हैं। पृथक् सत्ता वाले सभी द्रव्य निमित्त कहलाते हैं। यदि आप तीनों चीजें नहीं मानते हो तो वस्तुका अभाव हो जायेगा। परिणमन न माननेसे कार्यकारण भाव नहीं रहेगा। नई अवस्थाके उत्पाद बिना पुरानी अवस्थाका व्यय नहीं होता है। उसी प्रकार पुरानी वस्तुके व्यय बिना नई वस्तुका उत्पाद नहीं। वस्तु बदलनेका मतलब वस्तुका परिणमना है। जो वस्तु परिणमेगी उसमें उत्पाद व्यय अवश्य ही होंगे। व्ययके बिना उत्पाद नहीं होता है और उत्पादके बिना व्यय नहीं होता है। वस्तु स्वयं ही किसी पर्यायरूप परिणमती है। वस्तुका परिणमन वस्तुसे ही होता है, उसमें हम मनुष्य कारण नहीं हैं। अतः हम वस्तुको बनाते हैं--इस अहंकारको छोड़ दो। मैं के सिवाय बाकी द्रव्य 'मैं' द्रव्यसे भिन्न हैं। मैं द्रव्य न्यारा हूँ तथा अन्य द्रव्य मैं से न्यारे हैं। इस प्रकार विचार एवं प्रतीति करने से ही मोह दूर हो सकता है। वस्तु नित्य भी है, परिणमनशील भी है, अतः वह त्रितयात्मक है। यह सब स्वतः है किसी अन्य की कृपासे नहीं।

**प्रत्येक आत्मा पूर्ण एक एक है**—आत्मा एक एक ही है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा पूरा है। दूसरे शब्दोंमें आत्मा अखण्ड है, उसके कभी खण्ड नहीं किये जा सकते। कभी आधा रह जाये, पौन या चौथाई रह जाए ऐसा नहीं हो सकता। पूरा आत्मा जैसा है, वैसा ही जब समझमें आता है, तब उसमें कोई अंश नहीं दिखाई देते हैं। अंशोंकी तीन प्रकारसे कल्पनाकी गई है—१. तिर्यगंश, २. स्वभावांश और ३. पर्यायांश। देशांश, गुण और गुणांश इस प्रकार तीन अंशोंसे कल्पना होती है। जैसे एक सेर ८० तोलेका होता है। यदि उसमें ८० तोले ही न होंगे तो सेर कैसे समझमें आयेगा? जैसे एक लाठी पांच फुटकी है, यदि उसमें इञ्चोंकी कोई बात नहीं तो हम कैसे जानेंगे कि लाठी पाँच फुटकी है। जैसे एक-एक पैसा जोड़नेसे लाखों रुपये जुड़ते हैं। जब पैसे ही नहीं जुड़ेंगे तो लाख रुपये कैसे जुड़ेंगे? यह आत्मा जितने बड़े शरीरमें रहता है, उतना ही बड़ा हो जाता है। यह एक आत्मा हाथीके शरीरमें हाथी जितना, चींटीके शरीरमें चींटी जितना और उल्लू, गाय, भैंसादिके शरीरमें उनके देह परिमाण रहता है। एक-एक प्रदेश करके उसके असंख्यात

प्रदेश होते हैं किन्तु वह है एक ही वस्तु। आत्माका कभी हिस्सा नहीं हो सकता है, वह अखण्ड है। जैसे इस पूरे कमरेमें आकाश है, उसके यहाँ अनेक प्रदेश हैं। लेकिन इस आकाशके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे ही आत्मा बहुप्रदेशी होनेपर भी उसके खण्ड नहीं किये जा सकते, अतः आत्मा अखण्ड द्रव्य है। जितनेमें एक परिणमन होता है, उतने भागको अखण्ड कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी अखण्ड है, उसमें एक-एक प्रदेशकी कल्पना करके उसमें असंख्यात प्रदेश होते हैं। इसे देशांश कहते है।

**अखण्ड आत्माको जाननेका उपाय खण्ड बुद्धि भी है**—प्रत्येक पदार्थका एक ही स्वभाव है। लेकिन उसके अंश किये बिना वह समझमें नहीं आ सकता है। उसके जो अंश कर दिये जाते हैं, उसे गुण कहते है। स्वभावको समझनेके लिए उसके हिस्से किये जायेंगे। जैसे आत्मामें ज्ञान गुण, दर्शनगुण, शक्तिगुण आदि गुण हैं। लेकिन आत्मा एक स्वभाव है। सब गुणोंको एक साथ समझो, उसे स्वभाव कहते हैं।

**शुद्ध परिणमन भी एक एक समय रहता है**—द्रव्य प्रत्येक समयमें अपनी नवीन पर्याय रखता है, दूसरे समयमें दूसरी, उसी प्रकार तीसरे समयमें तीसरी, चौथेमें चौथी, पांचवेमें पांचवी जानना चाहिए। जैसे इस हालमें यह बल्ब दो घन्टेसे जल रहा है। यद्यपि, इसने एक ही काम किया है, एक ही चीज है, ऐसा इसे देखनेसे मालूम पड़ता है; मगर ऐसा नही है। प्रत्येक समयमें यह नया नया जल रहा है और प्रत्येक समयमें नया नया काम कर रहा है। इसी प्रकार सिद्धोंके विषयमें भी यही बात है, पहले समयके केवलज्ञानसे पहले समयमें पदार्थोको जाना, दूसरे समयके केवलज्ञानसे दूसरे समयमें पदार्थोको जाना। यह परिणमन अनैमित्तिक परिणमन है। उसी प्रकार लट्टू (बल्ब) वैसा ही जल रहा है ऐसा मालूम पड़ता है। लेकिन ऐसी बात नहीं है, वह प्रतिसमय नया जलता है, और नया काम करता है। इसी प्रकार सिद्ध प्रभुका परिणमन सदृश होनेसे परिणमन समझमें न आवे यह दूसरी बात है किन्तु परिणमन प्रति समय होता ही रहता है, यह युक्ति और ज्ञान द्वारा गम्य है। उन सब परिणमनोंमें जो एक स्वभाववान है वह अखण्ड ज्ञायक स्वरूप आत्मा है।

अब यहाँ शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है—आत्मामें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चरित्रगुण हैं, अनेक शक्तियाँ भी हैं। आत्मा यदि एक होती तो शुद्ध कहलाती किन्तु आत्मामें तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण तथा अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मामें अनेक बातोंके आ जानेके कारण आत्मा अशुद्ध कहलाई। क्योंकि यदि एक चीज रहती तो शुद्ध कहलाती, यहाँ तो अनेक चीजें हैं, तो कैसे शुद्ध हो सकती है? जैसे कपड़ेको हम शरीरपर पहन लेते हैं तो कपड़ा अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि शरीरके अशुद्ध होनेसे कपड़ा भी अशुद्ध कहलाया। शरीरपर लगनेसे पूर्व कपड़ा शुद्ध कहलाता है। एक रहनेको शुद्ध और अनेक रहनेको अशुद्ध कहते है,

यह द्रव्यानुयोगकी परिभाषा है। मस्तकपर लगा हुआ चन्दन भी अशुद्ध हो जाता है। कारण चन्दन और माथा, इन दोका संयोग हो जानेसे। अतः अनेकका संयोग होनेसे आत्मा भी अशुद्ध कहलाई। अब आचार्य कुन्दकुन्ददेव समाधान करते हैं:—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, यह व्यवहारसे उपदेश किया जाता है। निश्चयसे तो न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक शुद्ध ज्ञायकमात्र है। आत्मा तो एक ज्ञायक शुद्ध है, परन्तु व्यवहारनयसे ऐसा कहा गया है कि आत्माके ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणोंकी सब कल्पनाएँ हैं। जैसे चौकी तीन हाथ लम्बी चौड़ी है। इसमें इसकी लम्बाई चौड़ाई लिखी तो नहीं है। चौकी तो चौकी ही है। लम्बाई, चौड़ाईकी तुम्हारी कल्पना ही है। चौकी जैसे तुम्हारी समझमें आये वैसे समझ लो। आत्मा तो एक अखण्ड द्रव्य है; उसमें ज्ञानदर्शन चारित्रादिकी कल्पना व्यवहार नयसे की गई है। वह तो एक ज्ञायक शुद्ध है। द्रव्य अखण्डित ही सदा होता है। बहुप्रदेशी एक प्रदेशी आदि सभी अखण्डित ही होते हैं। आत्माके खण्ड हम समझनेके लिये इस तरह करते हैं—आत्माके स्वभावके अंश कर दिये कि इसमें ज्ञानदर्शन चारित्रादि गुण मौजूद हैं। आत्माके देशके अंश कर दिये कि आत्मामें असंख्यात प्रदेश होते हैं। आत्मामें यह सब व्यवहारनयकी अपेक्षासे है।

**मकान मेरा है, धन मेरा है, यह कौनसा नय है**—अब यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है—वर्तमानमें हम लोग जो कार्य कर रहे हैं और कह रहे है कि मकान मेरा, धन मेरा, उसको कौनसा नय कहेंगे जब कि आत्माके गुणोंको बताना भी व्यवहारनय कहा जाता है? हम जो कार्य कर रहे हैं, उसे हम 'उपचरित असद्भूतव्यवहारनय' कहेंगे। जैसे भंगी कहते हैं कि हमारे १० मकान हैं। अपन लोग कहते हैं टट्टीका लोटा आदि इन सबको असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। मकान मेरा है यह किसी भी नयकी बात नहीं है, किन्तु मूढ़ता की बात है, आत्मासे अत्यन्त स्पष्ट भिन्न पदार्थोंमें सम्बन्धकी हठ करना है। हठीको कौन समझा सकता है, हठी हठ छोड़े तो समझ सके। एक कथा है— एक जाट था, उससे एक बनियेने पूछा—३० और ३० कितने होते है? जाटने कहा, ३० + ३० = ५० होते हैं। बनियेने कहा, नहीं ३०×३० = ६० होते हैं। जाट बोला, वाह, ३० + ३० = ५० तो होते हैं, यदि साठ हों तो शर्त रखलो। यदि हम हार जायें तो पौने दो मन दूध देने वाली चारों भैंसे हम दे देंगे। अब हो गया निश्चय, यदि जाट हार जाये तो उसकी चारों भैंसे लेली जायेंगी। जाट महोदय अब घर पहुंचे। जाटने सारी बातें अपनी स्त्रीसे बता दीं।

स्त्री बोली, तुम तो बड़े भोंदू निकले, ३० + ३० = ६० होते हैं। तुम्हारी तो चारों भैंसें गई। तुम ३० + ३० = ५० ही कह लेते, भैंसें देने को तो न कहते। अब तो बनिया पंचायत कराके चारों भैंसे ले ही लेगा। जाट बोला, वाह, तुम्हारे और उनके कहनेसे क्या होता है? जब अपने राम ३० + ३० = ६० कहेंगे, तभी तो ६० होंगे और हमारी भैंसें जावेंगी। हम तो ३० + ३० = ५० ही मानते हैं। यह सब जबर्दस्तीका मामला है। इसी को असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

**आत्मामें और जड़ पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है**—आचार्य, ऋषि सभी कहते हैं कि यह मकान तुम्हारा नहीं है। लेकिन मोही कहता है, यह मकान हमारा ही है। सबको कहने भी दो, उनके कहनेसे यह मकान मेरा नहीं रहेगा, ऐसा नहीं है और जब हमारा ही है तो कैसे कहदें, यह मकान हमारा नहीं है। हम तो मानेंगे नहीं, इसी मकानमें मरेंगे। जिनकी ऐसी सुविधा है कि अपनी आजीविका बिना कमाये हो ही जायेगी, तो उनको निश्चित होकर धर्मध्यान करना चाहिए। ऐसा कोई ही होगा, जिनकी धर्मध्यान में रुचि है और आजीविका नहीं हो। अतः मोह छोड़ो। धन दौलत, मकान, स्त्री, पुत्रादिसे तादात्म्य प्रतीति बनाये रखना ही तो मोह है। जिस प्रकार बच्चा अपनी मां के पास अपनी फरियाद लेकर जाता है कि अमुकने मुझे मारा है। इसी प्रकार यह जिनवाणी माता भी तुम्हारी मां ही है। यह भी तुम्हारी फरियाद अवश्य सुनेगी। यदि तुम नित्य एक घण्टा शास्त्र सुनने आओ तो शास्त्र श्रवणसे कभी न कभी जागृति अवश्य आ जायेगी। जिनको विवेक अन्तर नहीं आता वे जिनवाणीकी भक्ति करते ही नहीं। मकान मेरा है, इसमें कोई नय नहीं है। यह ज्ञानकी कोटिमें नहीं आता है, अतः यह उपचारनय है। इसी को दूसरे नामसे जबर्दस्ती कहते हैं। आचार्यने बार-बार समझाया कि मकान तुम्हारा नहीं है। मोही जीव कहता है कि आपके शास्त्रमें लिखनेसे क्या यह मकान मेरा नहीं रहेगा? इन गपोड़पंथोंसे तो पहिले ही हट लेना। देखो जब आत्मामें ज्ञान दर्शन चारित्रकी बात भी व्यवहार है तो धनकी ममता गपोड़पंथ ही तो हुआ। यह आत्मा ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणोंसे अशुद्ध नहीं है। यह तो दूसरोंको समझानेके लिये बताया गया है।

**खुद ही खुदकी दृष्टिमें बस जावे**—परमात्मा यदि अपनी दृष्टिमें बसा लिया तो समझो बड़ी कमाई की। यदि स्वभावदृष्टि पा ली तो समझो, सभी कुछ पा लिया। यदि स्वभावदृष्टि न पाई तो सब कुछ पा करके भी कुछ नहीं पाया। ऐसे बहुत ही कम बिरले धनी होते हैं, जिनको सुख प्राप्त होते हुए भी धर्मसाधनकी बुद्धि जगे। कहा भी है—दुःखमें सुमिरन सब करें, सुखमें करे न कोय। जो सुखमें सुमिरन करे, दुःख काहेको होय॥ हां, यदि पुण्यानुबंधी पुण्य हो तो किसी की ताकत नहीं जो उसको धर्मसे छुड़ा देवे। संसारसे

ज्ञान ही छुड़ाता है, पुण्य और पाप संसारमें घुमाते हैं। पुण्य ज्ञानके रहते कमजोरीसे बनता है। अज्ञानके रहते कमजोरीसे पाप बनता है। संसारसे छुटकारा ज्ञान ही दिला सकता है, पुण्य-पाप नहीं। यदि ज्ञानी चाहे कि हमारे पुण्य-पापरूप परिणाम न बंधे तो उसके पुण्य बंधेगा, इससे पुण्य ही की तो प्राप्ति होगी। जैसे आप जब जीमने जाते हैं, वहाँ इन्कार करने पर भी जबरदस्ती पर विशिष्ट विशिष्ट भोजन परोस ही देते हैं। यह न माँगनेका फल है। यदि माँगते रहें तो शायद न भी मिले। ज्ञानी जीव यद्यपि पुण्य-बन्ध नहीं चाहता है, लेकिन कमजोरीके कारण पुण्यका बन्ध होता ही है। पुण्य बंधे या पुण्य न बधे--इस प्रकार की इच्छा या रुचि नहीं करनी चाहिए। यदि सभी चीजका यथार्थ ज्ञान हो जाये तो मोह अज्ञान अपने आप ही दूर भाग जायेंगे। यथार्थ वस्तुका ज्ञान होनेपर ही हमें अपना कर्तव्य मालूम पड़ेगा।

**संसारमें सार कर्तव्य क्या है, इसका विवेक करो**—यह संसार है, इसमें कोई किसी का संगी साथी नहीं है। सबके परिणाम अपने आपमें है। जीव जैसे परिणाम बनायेगा, उसको वैसी गति मिलेगी। मनुष्यके सामने धन और ज्ञान दो ही समस्यायें हैं। ज्ञानमें धनार्जनकी अपेक्षा ज्यादह समय लगाना चाहिए। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनके होने पर ही वास्तविक धर्म होता है। कमाईमें २४ घण्टे लगे रहनेपर भी सीमित धनकी प्राप्ति होगी। जितना पुण्योदयमें, उतना ही धन मिलेगा, चाहे ६ घंटा प्रयत्न करो या २४ घण्टे। मनुष्य अपनी इज्जतको रखनेके लिए ही धनार्जनमें प्रयत्न करता है। सात्विक भोजन करने वाले शुद्ध वेशभूषा वाले परोपकारी और लोकोपकारी जीवकी धनीसे कम इज्जत नहीं होती है, बल्कि अधिक ही होती है। धनार्जनमें इज्जत मिलेगी, यह सोचना व्यर्थ है। ज्ञानकी ओर अधिक और धन उपार्जनकी ओर कम ध्यान देना चाहिये, इसीसे ज्ञान प्राप्ति होनेपर स्वयमेव इज्जत बढ़ जायेगी।

**आत्माका विस्तृत वर्णन**--आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है। वह क्षेत्र परिमाणमें बहु-प्रदेशी है। इस बड़प्पनको समझनेके लिये प्रदेशकल्पना अनिवार्य होती है। कहीं एक एक प्रदेशमात्र आत्मा नहीं हो जाता और न प्रदेशकी सत्ता पृथक् पृथक् है। बहुप्रदेशी होकर भी अखण्ड एक सत् आत्मा है। आत्माके प्रदेशमें अनन्त गुण हैं और वे ही अनन्त गुण आत्मा के सर्वप्रदेशोंमें हैं। प्रदेश आत्मासे भिन्न नहीं और गुण प्रदेशोसे पृथक् नहीं। यद्यपि प्रत्येक गुणोंका स्वरूप जुदा जुदा है अन्यथा सर्वगुण एक ही होते तब अनन्तगुणकी कल्पना असं-भव थी, फिर भी गुण पृथक् पृथक् वहीं रहते। वहाँ तो ऐसा भी है कि एक गुणका प्रभाव समस्त अनन्त गुणोंमें है। जैसे ज्ञान सूक्ष्म भी है, अस्तित्वमय है आदि। इस प्रकार एक गुण अनेक प्रकारसे देखा जाता है। वह त्रिकालकी समस्त पर्यायरूप गुणांशोंमें वर्तता है।

ऐसे अनन्त विलासोंमय यह आत्मा पर्यायार्थिकनयसे जाना जाता है। किन्तु द्रव्यार्थिकनयसे तो वह एक अखण्ड है।

**द्रव्यके तीन मुख्य लक्षण**—द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है "समगुणपर्यायोद्रव्यम्" है और अभिव्यञ्जक लक्षण है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्"। द्रव्य गुणोंसे भिन्न नहीं है। समस्त गुण ही एक शब्दमें द्रव्य कहलाते हैं और एक द्रव्य ही विवक्षावश अनेक गुण कहलाते हैं। जिससे यह ध्वनित होता है कि आत्मा गुणके बराबर है और ये समस्त गुण आत्माके बराबर हैं। द्रव्य गुणोंके बराबर है और ये समस्त गुण आत्माके बराबर है। जैसे वृक्षके शाखा, फल—फूल पत्र आदि सबके नाम लेकर पूछो कि ये सब किसके बराबर हैं? उत्तर—वृक्षके बराबर। वृक्ष किसके बराबर है? उत्तर—इन सबके बराबर। द्रव्य किसके बराबर? उत्तर—समस्त गुणोंके बराबर। समस्त गुण किसके बराबर? उत्तर—द्रव्यके बराबर।

बन्धुवो! समस्त प्रयास आचार्योंका समझानेमें इसीलिये रहा कि जीव अपने स्वरूप से परिचित हो जावें। एक अखण्ड द्रव्यमें गुणोंका विचार व्यवहारनयसे है। द्रव्यानुयोगकी पद्धतिमें शुद्ध केवल एकको कहते है और अशुद्ध दो या अनेकके सम्बन्धको कहते हैं। निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा गया केवल अखण्ड आत्मा शुद्ध आत्मा है और उस अखण्ड आत्मामें गुणोंकी तर्कणा करके इस तरहसे देखा गया "आत्माके ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है" आत्मा अशुद्ध आत्मा है। परन्तु यह अशुद्धता याने अंश द्रव्यमें नहीं है। द्रव्य अखण्ड है, आत्मा अखण्ड है। इसका समझना अंश कल्पनाके बिना नहीं हो सकता। यह व्यवहारनय द्वारा साध्य है। व्यवहारनयसे आत्मामें भेद किया जाता है।

**द्रव्यके दो लक्षणोंमें साध्य-साधकता**—आत्मा गुणपर्यायवान् है। गुणमें ध्रौव्य है, पर्यायमें उत्पाद व्यय है, अतः आत्मा उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है। उत्पादव्ययसे पर्याय समझमें आती हैं। अतः द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंमें एक लक्षणको लक्ष्यरूपसे देखा जावे और दूसरे लक्षणको उस लक्षणके लक्षणरूपसे देख लिया जावे तथा जैसे गुण लक्ष्य है तो ध्रौव्य गुणका लक्षण है, पर्याय लक्ष्य है तो उत्पादव्यय पर्यायका लक्षण है। इसी तरह इनमें साध्यसाधकभाव व्यञ्ज्यव्यञ्जक भाव भी समझना।

गुण साध्य है तो ध्रौव्य साधन है। गुण व्यञ्ज्य है तो ध्रौव्य व्यञ्जक है। इतनी ही बातें पर्याय व उत्पादव्ययमें भी समझना। पर्याय साध्य है तो उत्पादव्यय साधन है। पर्याय व्यञ्ज्य है तो उत्पादव्यय व्यञ्जक है। अब पूरे लक्षणमें यह बात समझना—गुणपर्ययवत् लक्ष्य है तो उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं लक्षण है। गुणपर्ययवत् साध्य है तो उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं साधन है। गुणपर्ययवत् व्यञ्ज्य है तो उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं व्यञ्जक है।

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे लक्षित निज गुण पर्यायमय आत्मा है। यह सब एक ही समयमें है। गुण किसे कहते हैं ? द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः—जो द्रव्यके आश्रय है और स्वयं गुण रहित हैं उन विशेषोंको गुण कहते हैं, ये सदाकाल रहते हैं। पर्याय किसे कहते है ? गुणोंकी हालतको पर्याय कहते हैं। गुणका कोई न कोई विकास रहता ही है। वह विकास पर्याय है। त्रिकालवर्ती पर्याय यद्यपि एक समयमें नहीं है तथापि पर्याय वर्तमान की रहती ही है और प्रत्येक वर्तमानमें पर्याय रहती ही है।

**द्रव्यमें गुण कितने होते हैं ?**—जितनी प्रकारकी हालतें हैं उतने ही गुण मानना चाहिये। जैसे एक आममें रस समझमें आया वह तो रस बिशेष है, पर्याय है। उसकी कारणभूत शक्ति रस गुण है। इसी प्रकार सब हालतोंकी शक्तियां समझ लेना चाहिये। जब शक्तियोंका भेद करने बैठो तो जरा भी विशेषताकी बात मालूम पड़े और उसकी वह शक्ति मान लो। वैसे तो द्रव्य एक अखण्ड स्वभावी है किन्तु भेद करके समझना है तो माने प्रकार भेद करते जावो। संकोच न करो, शक्तिमें शक्ति गर्भित भी मत करो। जैसे श्रद्धा किसे कहते हैं, अच्छी तरह जाननेको और ज्ञान किसे कहते हैं, जाननेको व चारित्र किसे कहते हैं ? जाननहार ही बने रहनेको। यद्यपि यहां सब एकसा मालूम होता है, तथापि कुछ तो अन्तर समझमें आता है सो तीन शक्तियां मान लो। जब अभेदरूपसे समझना है तब द्रव्यमें गुण है इतना भी भेदपरक बात मत कहो।

**गुण नित्यानित्यात्मक है**—गुण तो आत्मामें सिद्ध हो गये। अब विवाद रहा, गुण नित्य हैं या अनित्य—इसका लोगोंने पर्यायको ही गुण मान रखा है, इसी कारणसे इसमें अमुक गुण था, अमुक गुण नष्ट हो गया, अमुक गुण आ गया, ऐसा लोग कह देते हैं। गुण नित्य है या अनित्य, इसीको यहांपर स्पष्ट करते हैं। द्रव्यमें और गुणमें अन्तर बहुत थोड़ा ही है। द्रव्यमें जो शक्तियां हैं, उसीको गुण कहते हैं। द्रव्य और गुणमें भेद और अभेद विवक्षासे अन्तर है। प्रत्येक समयमें द्रव्य हालतें बदलता रहता है। अर्थात् द्रव्यमें प्रतिसमय कुछ न कुछ परिवर्तन आता ही रहता है। द्रव्य हालतकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी अपेक्षा से नित्य है। इसी प्रकार आत्मामें प्रतिसमय हालतें बदलती रहनेसे आत्मा अनित्य है। द्रव्य दृष्टिसे अर्थात् परिणमन होनेपर भी वही बना रहनेसे आत्मा नित्य कहलाया। आत्माको ही यदि अभेद दृष्टिसे देखा जाये तो द्रव्य है और भेददृष्टिसे देखनेसे आत्मामें गुण हैं। द्रव्य नित्य और अनित्यात्मक हुए। गुण भी नित्यात्मक और अनित्यात्मक। द्रव्यके मुकाबलेमें पर्यायको देखे तो द्रव्य एक है और पर्याय एक है। गुणोंकी ओरसे देखो पर्याय अनेक हैं। जितने गुण होते हैं, उतनी ही परिणतियां होती हैं। भेद दृष्टिसे एक समयमें एक पर्याय होती है। गुण एक समयमें अनेक होते हैं, भेददृष्टिसे पर्याय भी अनेक ही होती हैं।

**द्रव्यमें विरुद्ध धर्मोंका अविरोध**—गुणमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही हैं। गुणका गुणपना और गुणकी शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, अतः गुण नित्य कहलाए। तंदेवेदं यह वही है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होनेसे गुण नित्य कहलाते हैं। वही गुण आत्माके अनादिकाल से चले आ रहे हैं अतः आत्माके गुण नित्य हैं। जैसे एक मनुष्य मरकर देव हुआ। उस देवकी आत्माको यही कहेंगे, यह वही आत्मा है, जो पहले मनुष्य शरीरका आत्मा था। इसी प्रकारका प्रत्यभिज्ञान द्रव्य और गुणमें भी चलता है। 'तद् एव इदम्' यह वही है, इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसा पहले देखा था, अब तब वैसा ही बना हुआ है, बीचमें बदला नहीं, इस रहस्यको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे आमका फल है, उसका रंग हरेसे पीला हो गया। तो इसमें आममें रंग ही बदला है किन्तु आममें प्रारम्भसे ही रूपत्व शक्ति विद्यमान है। जैसे ज्ञान घटके आकाररूप ज्ञानसे पटके ज्ञानरूप बदल गया। घटरूप जो हमारा ज्ञान था वह नष्ट होकर पटके ज्ञानरूप बदल गया। लेकिन ज्ञान तो ज्ञान ही बना रहा। इसी प्रकार चौकीमें जैसा हमारा ज्ञान है इसके पश्चात् वही ज्ञान पुस्तकमें चला गया। अब पुस्तकरूप ज्ञानका विकास हो गया और चौकीरूप ज्ञानका विनाश हो गया। ज्ञानका सामान्यपना तो बना रहा। ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। वही ज्ञान है, ऐसी प्रतीति होनेसे ज्ञान नित्य बना रहा और वह दूसरी पर्यायोंके ज्ञानमें बदलता रहा, इससे वह अनित्य है। वैसे तो ज्ञानका नित्यानित्यपना व्यवहारनयसे बना है, निश्चयनयसे नहीं। चीजोंके ज्ञानमें आत्मज्ञान सामान्य हुआ।

**ध्रौव्य व उत्पाद व्ययमें परस्पर साध्य साधकता**—जैसे बच्चे चीजोंको देखते हैं। उनको ज्ञान होता है, लेकिन उसमें विकल्प नहीं उठते, यह चीज अमुक है। जो वास्तविक चीज है, वह आत्मामें निश्चयनयसे आती है। खंड-खंड करके आत्मामें व्यवहारनयसे आती है। जैसे अभी एक बच्चा है, बच्चेसे जवान हो गया, जवानसे वृद्ध हो गया। उसकी अवस्था अवश्य बदलती रही है। उसका मनुष्यपना ज्यों-का-त्यों बन रहा। मनुष्यपना उसकी तीनों ही अवस्थाओंमें समान है। अतः उसका मनुष्यपना नित्य रहा। मनुष्यकी अवस्थाएं अनित्य कहलाईं। जैसे आम हरे रंगसे पीला हो गया। अर्थात् हरे रंग रूप पर्याय बदलकर पीले रंग रूप हो गई। लेकिन उसमें रूपपना दोनों ही अवस्थाओंमें विद्यमान रहा। उसकी पर्याय बदल गई। एक चीज माननी ही पड़ेगी। एक माने बिना बदलना नहीं बन सकता। जो एकपना है, उसीको नित्य कहते हैं। उसीको द्रव्य कहते हैं। भेददृष्टिसे उसीको गुण कहते हैं। आममें रूपत्व नित्य है और परिणमन अनित्य है। वस्तु स्वतः सिद्ध है और स्वतः परिणमनशील भी है। द्रव्य स्वतः सिद्ध होनेसे नित्य है, स्वतः परिणामी होनेसे अनित्य है। द्रव्य और गुणमें इतना ही अन्तर है कि भेददृष्टिसे देखनेसे गुण

है और अभेददृष्टिसे देखनेसे द्रव्य है। भेददृष्टिसे द्रव्यमें जो जो चीजें ज्ञात होंगी उसीको गुण कहते हैं। गुणोंकी भी पर्याय होती है। गुणका बदलना गुणस्वरूपसे नहीं, पर्याय स्वरूपसे है। आत्मामें जो ज्ञानशक्ति है वह नित्य है। जैसे चौकीको छोड़कर पुस्तक को जानने वाले ज्ञानमें उत्पत्ति-विनाश तो है परन्तु दोनोंमें जो ज्ञान सामान्य है वह उत्पत्ति विनाश रहित ध्रुव है।

**द्रव्य और गुण नित्यात्मक और अनित्यात्मक हैं**—शंका—गुण निश्चयसे नित्य होते हैं, पर्याय निश्चयसे अनित्य होते हैं। क्योंकि गुणका सम्बन्ध ध्रुवसे है। पर्यायका सम्बंध उत्पादव्ययसे है। अतः द्रव्य और गुणको नित्यात्मक नहीं कहना चाहिए।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन गुणकी दशाका नाम पर्याय है। गुणको दशाकी दृष्टिसे देखनेसे गुण अनित्य हैं। गुणको शक्तिकी दृष्टिसे देखनेसे गुण नित्य हैं। इसी प्रकार द्रव्यको दशाकी दृष्टिमें देखनेसे द्रव्य अनित्य है। द्रव्यको शक्तिकी अपेक्षासे देखनेसे द्रव्य नित्य है। अतः द्रव्य और गुण नित्यानित्यात्मक हैं। गुणका गुणपना नित्य है। गुण की दशा अनित्य है। इससे अपनेको शिक्षा लेनी चाहिए कि हम आत्मा सदा रहेंगे। हमारी पर्याय बदलती रहेंगी। अपनी दशाको मैं ही बदलूंगा, अन्यकी शक्तिमें पर्याय नहीं बदल सकती। अपनी दशाको दुनियामें अन्य कोई नहीं कर सकता है, स्वयं ही अपनी दशाको कर सकते हैं।

**शक्तियोंका कार्य है स्वयं परिणमते रहना**—गुण नित्य है, लेकिन वह स्वभावसे ही अपने आप परिणमन कर सकते हैं। जैसे यह पिछी एक कमरेमें रखी हुई है। कमरेमें रखी रखी पुरानी पड़ जाती है। पदार्थोंका ऐसा ही स्वभाव है। उसके स्वभावको कोई नहीं बदल सकता है, वह स्वयं ही बदल जाता है। द्रव्य बिना परिणमनके हो ही नहीं सकता है। मनमें प्रत्येक समय कल्पन आती रहती है। जैसे शरीर पड़ा है। शरीरमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादिके बदलते रहनेसे वह भी काम करता रहता है। बिना परिणमनके कोई द्रव्य नहीं रह सकता है। परिणमनको पर्याय, दशा, हालत कहते हैं। गुणोंकी प्रति समय होने वाली सत्ताको पर्याय कहते हैं। गुणोंकी दशा का नाम ही पर्याय है। गुण नित्यानित्यात्मक है। कोई कहता है नित्य, कोई कहता है गुण अनित्य है। नित्य और अनित्यके बीच में ही गुण है। वस्तः नो वस्तुको कोई नित्य या अनित्य या नित्यानित्मक समझे, वह भी वस्तुको पूर्ण नहीं समझ पाता है।

**हमारे वैभवका सहज प्रचलन**—हम आत्मा है, एक द्रव्य है। हममें (आत्मद्रव्यमें) असंख्यात प्रदेश हैं। एक प्रदेशमें अनंत शक्तियाँ हैं। एक शक्तिमें असंख्यात अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। द्रव्य अखण्ड नित्य है। गुण कल्पनाभेदक है और गुणांश कल्पना अनित्य है। पर्यायका उत्पाद व्ययसे सम्बन्ध है। गुणका ध्रुवसे सम्बन्ध है। लेकिन इनको, गुण

और पर्यायको अलग अलग मत समझें । क्योंकि जब हम गुणको गुणत्वकी दृष्टिसे देखें तो गुण नित्य है । गुणको पर्यायकी दृष्टिसे देखते हैं तो गुण अनित्य है । जैसे आममें रूपके बदलनेसे रूप अनित्य कहलाया और रूपमें रूपत्व रहनेसे रूप नित्य कहलाया । इसी प्रकार द्रव्य और गुण नित्यानित्यात्मक हैं ।

ऐसा जानकर अपनेमें आत्मकल्याणकी भावना जागृत करना चाहिए । यह निश्चय रखना चाहिए कि हम कभी नष्ट नहीं होंगे, हमारी पर्याय अवश्य बदल सकती है । हमें अपनी हालत सुधारनेके लिये ध्यान देना चाहिए । हम कभी भी बुरी हालतोंमें न जायें, अच्छी हालतोंमें जायें ऐसी कोशिश करनी चाहिए । अच्छी हालतमें जानेका उपाय मोह नाश करना है । मोहनाश करनेसे ही अच्छी पर्याय मिल सकती है । मोह करनेसे बुरी हालतकी प्राप्ति होती है । अतः सबसे पहले मोह त्याग करना चाहिए । मोह दूर करनेके लिए सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करना है । सम्यग्ज्ञान होनेसे ही मोह दूर हो सकता है । सम्यग्ज्ञान धर्म ग्रन्थ पढ़नेसे आता है । अतः अच्छी गति प्राप्त करनेके लिये धर्मगुरुओंसे धर्मग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिए । तभी आत्मकल्याणकी संभावना है ।

छठी गाथामें जो अखण्ड आत्माका स्वरूप कहा था उसपर शिष्यने तर्क किया कि आत्मामें ज्ञान दर्शन चारित्र है इससे आत्मा अशुद्ध हो गई उसके उत्तरमें बताया कि प्रदेश गुण गुणांश इन सबकी कल्पना व्यवहारनयसे है ।

**परमार्थको समझनेका उपाय व्यवहार**— वस्तु जो अखण्ड है, वह एक पदार्थ है । उस पदार्थको समझनेके लिए गुण और पर्यायका सहारा लेना पड़ता है । पदार्थको समझनेके लिये सहारा व्यवहारनयसे लिया जाता है । धर्म और धर्मी एक है, लेकिन उसको अलग अलग समझानेसे ही लोग समझते है । इसी कारण पदार्थ, पदार्थका स्वभाव और पदार्थके गुणोंको अलग-अलग समझना पड़ता है । व्यवहारदृष्टिसे वे सब गुण समझमें आते हैं । ऐसी रीतिके बाद अभेद अनुभव करने वाले जीवको पश्चात् इस मर्मका पता लग ही जाता है ।

**निश्चय और व्यवहारका विषय**——एकको देखना निश्चय है और दो या अनेकको देखना व्यवहारनय है । जैसे हमारे हाथकी दो अंगुली जुड़ी हैं । इन दो अंगुलियोंका संयोग है । संयोग किस उंगलीकी चीज है ? संयोग गुण न पहली उंगलीमें, न दूसरीमें । यदि इनमें अलग अलग संयोग गुण नहीं है तो दोनों उंगलियोंमें भी संयोग नहीं होना चाहिये । यदि संयोगके गुण अमुक उंगलीमें है तो उसके अविभागी प्रतिच्छेद या प्रदेश उस एक उंगलीके साथ रहने चाहिए । यह तो हमारी कल्पना मात्र है । द्रव्यकी महिमा एक अखण्ड है । द्रव्यकी एक समयमें एक ही पर्याय रहती है । समझनेके लिये वस्तुके अनेक गुण बताये जाते हैं । गुणकी अनेक पर्यायें बताई जाती हैं । ये सब पर्यायें द्रव्यमें ही हुई हैं अर्थात्

निमग्न हैं। जैसे व्यवहारमें चलता है, ये सगे भैया हैं, ये लगतके भैया हैं। सगे माने स्वके है, सगाई माने स्वकीयत्व होता है। हम व्यवहारमें ही ऐसी कल्पना करते है। वस्तुतः अपना कोई नहीं है। व्यवहारमें वस्तुत्व नहीं है। निश्चयमें वास्तविकता है, सच्चाई है। जैसे यह पूरा पिण्ड दिखाई देता है। बता सकते हो इस पिण्डमें कितने द्रव्य है? इसमें अनन्त द्रव्य हैं। शास्त्र सभामें इतने मनुष्य बैठे हैं, उनमेसे किसी एक मनुष्यके शरीरमें एक ही द्रव्य है क्या? ऐसा नहीं है। सारा शरीर अनन्त परमाणुओंका समूह है। इस शरीरमें अनन्त द्रव्य हैं। शरीरमें रहने वाला आत्मा एक अवश्य है। देखा जाये तो इस शरीरमें अनन्त आत्माएं भी हैं। जैसे इस शरीरमें छोटे-छोटे अनेक कीटाणु जर्म्स हैं। अनेक निगोदिया जीव भरे पड़े है, इनकी आत्माएं भी इस मनुष्य शरीरपर ही अवलम्बित है। आत्माके साथ अनन्त कार्माण वर्गणाएं हैं, तैजसवर्गणाएं भी अनन्त है। यह मनुष्य इस प्रकारसे अनन्तानन्त द्रव्य परमाणुओंका पुञ्ज है। जो एक प्रधान आत्मासे युक्त है।

**बेजोड़, बेतोड़ एवं जोड़ और तोड़**—जोड़ और तोड़को व्यवहार कहते हैं। द्रव्यको जोड तोड़ विना समझा जाये तो यह निश्चय हुआ। आत्मामें गुणोंका भेद करना याने आत्मामें तोड़ करना तथा रागादिका जोड़ करना व्यवहार है। अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त चारित्र व अनन्त शक्तियां है, यह भी व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही है। आत्मामें कर्म लगे हुए हैं, यह भी व्यवहारकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। यह जोड़का व्यवहार है। जो द्रव्यकी मुख्य चीज न हो उसे द्रव्यमें बताना, उसे जोड़ कहते हैं। आत्मामें रागद्वेषादि भाव हैं, यह जोड़ है। आत्मामें ज्ञान है, यह तोड़ कहलाता है। आत्मा तो एक अखण्ड द्रव्य है, उसमें ज्ञानकी कल्पना करना तोड़ कहलाता है। आत्मामें केवलज्ञान है यह जोड़ कहलाता है। आत्मामें श्रद्धा अगुरुलघुत्वादि गुण हैं, यह तोड़का व्यवहार कहलाया। द्रव्यके गुणोंको बताना तोड़ कहलाता है। द्रव्यमें पर्यायको बताना, यह जोड़ कहा जाता है। आत्मामें त्रैकालिक रहने वाली चीजको बताना भी तोड़ कहलाता है। क्योंकि आत्मा एक अखण्ड स्वभावमय है उसका भेद निश्चयको सहन नहीं। आत्मा शुद्ध है, एक है, अवक्तव्य (न कही जा सकने योग्य) है। वह जो है, सो है। यहाँ पर शंका नहीं करना आत्मामें ज्ञान, दर्शन चारित्र और शक्ति है, इनके होनेसे आत्मामें अशुद्धता आ गई। यह चीज निश्चयसे नहीं आई है। वह अखण्ड आत्माको समझानेका एक प्रकार है। आत्माके साथ शरीर संलग्न है, अतः आत्मा अशुद्ध है व आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा अनन्त शक्ति है, यह अशुद्धता भी कारण स्वरूप आत्मामें नहीं होनी चाहिए। आत्मा तो एक अखण्ड द्रव्य है।

**लोक व्यवहारमें भी निश्चयकी उमंग**—जैसे कहा जाये यह चद्दर किसकी है?

कोई कहने लगता है कि हमारी है तो यह व्यवहार है। अमुक (कोई) कह देता है, यह तो कपड़ेकी है, यह निश्चयनय है। यह समझानेके लिये मोटा दृष्टान्त दिया है। जैसे यह पुस्तक कागजकी है। यह पुस्तक पदार्थ है क्या ? नहीं, पुस्तकमें अनन्त द्रव्य हैं। अनेक चीजोंका यह (पुस्तक) समूह है। तुमने द्रव्यके बारेमें प्रश्न नहीं किया। प्रश्न ऐसा पूछना चाहिये था, इसमें कितने द्रव्य हैं ? तीन कालमें भी एक परमाणु दूसरे परमाणुका नहीं हो सकता। यह सब माया याने पर्याय हैं। ब्रह्म कहते हैं आत्माको। जो खालिस आत्मा इन सब पर्यायोंमें से गुजरता है, वह ब्रह्म है। एक परमाणु तो त्रैकालिक द्रव्य कहलाया। द्रव्य की पर्याय माया है। जैसे, लोग कहते हैं, यह सब ईश्वरकी लीला है। यह सब आत्माकी लीला है। इस सब नाटकको करने वाला मैं ब्रह्म हूँ जो सभी पर्यायोंमें रहता है। उस द्रव्यको जानने वाला सम्यग्दृष्टि इस भवको पार कर जाता है। जब तक कोई जीव माया को ही ब्रह्म मानता रहेगा, तब तक उसे इस संसारशालासे छुट्टी नहीं मिलेगी। जब तक ब्रह्मके मर्मको नहीं जाना, तब तक पर्याय ही अच्छी लगती रहती है। पर्याय अच्छी लगने का फल संसार-परिभ्रमण है। जो पर्यायको पर्याय रूपसे जानता है, द्रव्य रूपसे द्रव्यको जानता वह मोक्षको प्राप्त हो सकता है। जिसने रागको जीत लिया है, वही कल्याण मार्ग पर अग्रसर है। मैं जो काम कर रहा हूं, वही मैं हूं, यह प्रत्यय मिथ्यात्व है। राग मैं नहीं, द्वेष मैं नहीं, कषाय मैं नहीं, मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा माने तो राग होनेपर भी सम्यग्दृष्टि रागसे काफी दूर है।

**जलतैं भिन्न कमल है**—यद्यपि कमलका पोषण जलसे होता है, फिर भी कमल जलसे बिल्कुल भिन्न है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी घरमें पैदा होता है। घरमें उसकी आजीविका होती है, किन्तु घरसे विरक्त (भिन्न) रहता है। शरीरका एक भी परमाणु तुम्हारे साथ नहीं जायेगा, अतः इस शरीरको दूसरोंकी सेवामें लगाओ। इसी प्रकार मन को भी सन्मार्गपर लगावो। किसीको अपना विरोधी मत समझो। जो दूसरोंको अपना विरोधी समझता है, वह अपना विरोधी स्वयं है। जो तुम्हारा विरोधी है, लज्जा छोड़कर उससे मिलो। यह शरीर, मन, नश्वर धन वैभव और वचन सभी मिट जाते हैं। सभी जीवोंकी अपेक्षा तुम्हें ऐसी सुविधा है कि द्वादशांग वाणीको अन्तर्मुहूर्तमें बोल सकते हो, यद्यपि यह बात आज नहीं, किन्तु होती तो मनुष्यमें ही है ना। इस सुर-मुनि दुर्लभ मनुष्य-भवको प्राप्त करके हित-मित-प्रिय वचन बोलो। क्रोधको आत्मासे दूर कर अपने स्वभाव की परख करो। क्योंकि क्रोध ही विनाशकी जड़ है। वचन-तीरको अविवेकसे ही छोड़नेके बाद कई घंटों तक अपनी आत्माको रंज रहेगा। एक सैकिण्डके लिये यदि वचन वशमें नहीं किया तो दूसरेके हृदयमें उपद्रव मच जायेगा, इसके साथ तुम भी स्वयं दुःखी हो जावोगे।

माया, मोह, मानादि तो सब पर्याय हैं जो इन सब पर्याय जंजालसे जो दूर है, वह संसार-सोपानसे भी दूर है। अपनेको पर्यायोंसे भिन्न समझकर इन सबसे दूर जो आत्मतत्त्व है उसकी पहिचान करने वाला सम्यग्दृष्टि ही कल्याणमार्गको प्राप्त कर सकता है।

**सम्यग्ज्ञान ही संसारके क्लेशोंको मिटानेमें समर्थ है**—सम्यग्ज्ञान ही समस्त कर्मोंको ईंधनकी तरह जला देता है। धनार्जन करते समय थोड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। लो, वहीं संवर निर्जरा हो लेगी, ठीक समझ आने पर भी जो ठीक मार्गमें नहीं लगते हैं, वे ठीक मार्गपर नहीं हैं। यथार्थता रहे तो धन कमाते हुए भी धर्मकी यथासम्भव रक्षा की जा सकती है। द्रव्यदृष्टि और स्वभावदृष्टिको जाननेपर सब कुछ मिल जाता है। जिसको वह भाव प्राप्त है, उसका कल्याणमार्ग निश्चित है। अपने स्वभावकी यदि परख है, तो धन अपनेसे न्यारा तो था ही, जरा कुछ और दूर हो जाता है। सम्यग्दृष्टिको किसी भी हानिपर क्षोभ नहीं होता। स्वभावदृष्टि प्राप्त कर लेने पर विकल्पदृष्टि स्वयमेव कल्लरमें पड़ी हुई अग्निके समान शान्त हो जाती है। सम्यग्दृष्टिका कलेवा स्वभावदृष्टि है। स्वभावदृष्टि पा लेनेपर सदाका क्लेश मिट जाता है। स्वभाव अखण्ड है—आत्मामें ज्ञान दर्शनादि गुणों की व्यवहारनयकी अपेक्षा कहा है।

शंका—आत्मामें ज्ञानादि गुणोंके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। एक ही परमार्थ कहना चाहिये। इसके उत्तर स्वरूप गाथा कही जाती है।

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

जैसे अनार्य पुरुषको अनार्यभाषाके बिना समझाना शक्य नहीं है, उसी प्रकारसे व्यवहारनयके बिना परमार्थका उपदेश करना शक्य नहीं है।

समाधान—जैसे म्लेच्छ भाषामें (अंग्रेजीमें) समझने वालेको अंग्रेजीमें समझाया जाता है इसे उस भाषा बिना समझाया जा नहीं सकता, उसी प्रकार इन सांसारिक मोही जीवोंको भी व्यवहारकी भाषामें वस्तुस्वरूपका बोध करानेके लिये समझाया है। क्योंकि पर्यायपरिचित प्राणी भी व्यवहारके बिना परमार्थकी बात समझ नहीं सकते। जो जोड़ और तोड़में लगे हुए हैं, वे अज्ञानी हैं। तोड़में लगा हुआ तो अपेक्षाकृत अच्छा है, किन्तु जोड़में लगा हुआ प्राणी महा अज्ञानी है। जो वास्तवमें है, उसीको रखा ज्ञानमें तो ज्ञानियों ने आत्मा जोड़ और तोड़से ही समझाई जायेगी। इसका सर्वप्रकारका रूप समझने पर यह पूर्ण समझमें आता है। यह समझावट सब व्यवहारनयमें है। वस्तु यथार्थमें कैसी है? यह तो जाननेका काम है। जाननेमें जो बात आती है बतानेमें वह नहीं आ पाती, क्योंकि बताना जोड़ तोड़ बिना नहीं हो पाता। द्रव्यमें गुण पर्यायें भी बता जाओ, अन्तमें तो यही

कहना पड़ेगा कि जो कुछ कहा उससे जो समझमें आया उन सबके बराबर यह आत्मद्रव्य है। विश्लेषणमें क्या समझमें आया उसे अब कहते हैं।

**आत्मद्रव्य गुण और पर्यायके बराबर हैं**—जितने गुण पर्याय हैं, उतने बराबर आत्मद्रव्य है। आत्माके गुण ज्ञान, दर्शन चारित्र और अनन्त शक्तियाँ हैं। इन गुणोंकी अवस्थाओंको पर्याय कहते हैं। गुण नित्य माने गये हैं और पर्याय अनित्य मानी गई हैं। यदि शंका हो कि इससे विषय स्पष्ट नहीं होता है, एक कहो। तो सुनो भेददृष्टिसे गुण नित्यानित्यात्मक हैं। अभेद दृष्टिसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। भेदाभेद दृष्टिसे गुण नित्य है, पर्याय अनित्य हैं। गुण तो नित्य ही है, द्रव्यकी जो अन्य अवस्थाएं है, वे पर्याय हैं, वे अनित्य है। गुण और पर्यायके बीचमें जो कुछ है, सो द्रव्य है। वस्तु स्वचतुष्टयसे है, पर-चतुष्टयसे नहीं है। वस्तु व गुण एकरूप भी है नानारूप भी है। कोई गुणको नित्य कहते हैं। कोई गुणको अनित्य कहते हैं। नित्य और अनित्यके बीचमें गुण है, ऐसा कहना चाहिये जैसे पूछा जाये, कपड़ा क्या है? जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शाली है। इन सफेद, तीखा, कोमल इनके बीचमें जो है, उसे कपड़ा कहते हैं। गुण और पर्याय इन दोनोंको एक शब्दसे द्रव्य कहा जायेगा। जैसे आत्मा क्या है? इस तत्त्वको विचारो, भोला शिष्य कहता है—आत्माकी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनन्त शक्तियां तथा मतिश्रुतज्ञानादि पर्यायें जो कि अनित्य हैं, इसके बीचमें जो कुछ है, सो द्रव्य है। यह बात तो व्यवस्थित है ना। इसका समाधान—यह भी व्यवहारनयकी भाषा है। आत्माके गुण और उनकी पर्यायोंके बीचमें जो कुछ है, वही द्रव्य है—यह समझनेको तो ठीक है किन्तु सर्वथा यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। गुण और पर्यायको एक शब्दसे कहा जाये, उसे द्रव्य कहते हैं, ऐसा कहना चाहिये। प्रत्येक पदार्थमें अनन्त शक्तियाँ हैं, आत्मामें जैसे ज्ञानादि शक्तियाँ हैं। प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थकी प्रत्येक शक्तियोंकी अवस्थाएं बदलती रहती है। जैसे बालक बढ़ता है। वह प्रतिसमय बढ़ता रहता है, ऐसा नहीं कि बालक एक दिनमें १ वर्षका या एक इञ्च बढ़ जाये, वह प्रति समय बढ़ रहा है। वस्तुका परिणमन स्वभाव है। कोई पापी, यदि धर्मरूप परिणाम बदलना चाहे तो बदल सकता है। अतः पापीसे घृणा मत करो, पापसे करो। जो आज पापी है, वह कल धर्मात्मा भी बन सकता है।

**द्रव्य वर्तमान पर्यायका भोग करता है**—पहले या बादके परिणामोंको द्रव्य अब नहीं भोगता है। वर्तमान परिणामोंका ठीक कर लेना पूर्व पर्यायों (परिणामों) का प्रायश्चित है। पाप और पुण्य, कषाय और अकषाय, राग और द्वेष—इनसे परे चैतन्यस्वरूप दृष्टि बनाना चाहिये। वह तभी हो सकता है, जब द्रव्यस्वरूपका बोध हो। इस ग्रन्थका, इस यथार्थ अभिप्रायका यह महत्त्व है कि बड़ेसे बड़े पापको अन्तमुहूर्तमें ध्वस्त कर सकता

है। लेकिन इसके लिये पर्याप्त परिश्रम करना होगा, सामान्य प्रयत्नसे कर्मोका क्षय नहीं हो सकता है। वह प्रयत्न भाविक है अतः इसे मुफ्ती समझो या अमूल्य। आचार्य कहते हैं कि आत्माकी नित्यशक्ति और पर्याय अलग अलग है, उनके बीचमें जो रहता है, सो द्रव्य है—ऐसा मत मानो। स्वभाव टङ्कोत्कीर्णवत्, निश्चल है। उसका विकास पर्यायरूप है, अतः विकास ही नव्य नव्य है।

आत्मा टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल और स्वयं प्रकाशमान है—एक बड़ा पत्थर है। उस पत्थरमेंसे भगवान आदिनाथकी मूर्ति निकालना है। उसी आकारकी मूर्ति कारीगरको पहले दिखाई है, उसी आकारकी मूर्ति कारीगरको उस पत्थरमें दिखाई दे गई, जिस पत्थरमें से मूर्ति निकालना है। वैसे यह आत्मा अरहन्त बनेगा, क्या बनेगा, अरहन्त, यह सम्यग्दृष्टि जीव को अभीसे दिखाई दे जायेगा। कारीगर उस मूर्तिको नहीं बना रहा है, वह मूर्तिरूप पत्थर परसे उन पत्थरोंको हटा रहा है, जो उस मूर्तिको ढकने वाले हैं। इसी प्रकार आत्मासे इस जीवको रागद्वेषादि रूप कूड़ा करकट दूर करना है। ज्ञानरूप हथौड़ीकी चोटसे ज्ञान ही की छैनीसे यह ज्ञानी रागद्वेषादि रूप पत्थर प्रस्तरोंको हटाया जाए तो उस आत्माका विकास होता जाता है। पर्याय और गुण भिन्न-भिन्न चीजें नहीं है। गुणको जब हम शक्तिकी अपेक्षा से देखते हैं, तो गुण हैं। गुणको जब पर्यायदृष्टिसे देखते हैं तो वे ही गुण पर्याय हो जाती हैं। और ये गुण पर्याय भी दोनों आत्मासे भिन्न नहीं हैं।

सहजज्ञान और सहजज्ञानका परिणमन एक शब्दसे यहो, वही आत्मा है। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य नित्य है व गुण नये नये होते और गुणको अलग कर देनेपर ऐसी कुछ झलक सी आ जाती है कि पहला गुण नष्ट हुआ और दूसरे गुणका प्रादुर्भाव हुआ। एकके समाप्त होनेका ही मतलब है कि दूसरा गुण प्रकट हो गया, दूसरे गुण प्रकट होनेका मतलब है कि पहिला गुण नष्ट है, हो गया। एक अवस्था परिणमने ही दूसरी अवस्था बन जाती है, पहली उसीमें निमग्न हो जाती है। नई अवस्थाके पैदा होनेका ही मतलब पूर्व अवस्थाका व्यय होना। जो वर्तमान पर्याय है, उसे पूर्व पर्यायकी दृष्टिसे देखना एक ही बात है, इन सबका आधारभूत गुण नित्य है। गुणकी ये अवस्थायें अनित्य हैं। यह आत्मा स्वतः सिद्ध है, नित्य है, परिणामी है। आत्मा अनित्य भी है। जो आत्मा नित्य है, वह निश्चय दृष्टिका ऐसा सत्य आत्मा है, यदि यह जीव अपनी अवस्थाओंपर उपयोग न दे।

यदि पूरे आत्माका ज्ञान हो जावे, तो जीवको दुःखका कारण कुछ नहीं है। क्योंकि दुःखका कारण तो अज्ञानावस्थामें ही सर्वस्वको स्वयं मान लेना है। मैं मैं हूं। मैं अपने साथ अपनेमें ही परिणमता रहता हूं। जीव अपने आप परिणामोंमें आप रहता है। ऐसा ज्ञानकर आपको छोड़कर ज्ञानमंदिर बनें तथा स्वतंत्र आत्माको परिणमता रहे, [illegible]

है। करनेमें ही बुद्धिमानी है। राग करके इस मनुष्य-भवको मत खोग्रो।

**द्रव्यकी पहिचान**—द्रव्यकी पहली पहिचान यह है कि एक परिणमन जितनेमें हो, उतनेमें पूरेमें होवे, उतनेसे बाहर न हो, उसे एक चीज कहते हैं। द्रव्यकी दूसरी पहिचान यह है कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो, कोई अन्तर न पड़े, उसे एक चीज कहते हैं। इस प्रकार एक एक आत्मा करके अनेकानेक आत्मा और एक एक पुद्गल करके अनेकानेक पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं।

जितने भी द्रव्य हैं, उनका क्षेत्र व आकार अवश्य है। जिस द्रव्यका जितना आकार है, वही उसका क्षेत्र कहलाया। यदि आत्माके छोटे-छोटे हिस्से कल्पित किये जाएं तो उसके असंख्यात प्रदेश हो जायेंगे। धर्म, अधर्म व एक एक जीवोंके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। आकाशद्रव्यके अनंतानंत प्रदेश होते हैं। कालद्रव्यका एक प्रदेश होता है। प्रत्येक वस्तुमें द्रव्य, गुण, प्रदेश और पर्याय—ये चारों चीजें पाई जाती हैं। यह सब हमने अपने आपके समझनेके लिये देखी है। द्रव्य निश्चयनयसे अवक्तव्य है, कुछ कहा नहीं जा सकता है। द्रव्यका वर्णन करने वाला कोई शब्द ही नहीं है। द्रव्य जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, परन्तु उसका शब्दोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता है।

**द्रव्यकी शुद्धताका परिचय परमार्थ दृष्टिसे होता है**—निश्चयनयसे द्रव्य अवक्तव्य है, पुनरपि कुछ कहा जाये तो अखण्ड और एक स्वरूप है। जितना भी द्रव्यके विषयमें हम लोग कहते हैं, वह सब व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहते हैं। द्रव्यका पूर्ण ज्ञान प्रमाणसे होता है। निश्चयसे द्रव्य अभेद जाना जा सकता है। उसके अंश अंशका ज्ञान व्यवहारनयसे होता है। द्रव्यमें अमुक गुण है, यह सब व्यवहारकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो कुछ बताया ही नहीं जा सकता है। जो द्रव्यके विषयमें बताया जाता है। वह सब व्यवहारनयसे है। निश्चयनयके शब्दोंमें कथनको भी व्यवहार कहते है। द्रव्यके विषयमें कथन करना व्यवहारका विषय है। वस्तु अखंड है, इसीका नाम अध्यात्मभाषामें शुद्ध है। शुद्ध आत्मा को जानो, इसका यह मतलब नहीं कि अरहंत, सिद्धभगवानको जानो। शुद्धको जाननेका अभिप्राय अपने शुद्धस्वरूपको एकत्वस्वरूपको जाननेसे है। आत्माके अंश करना, अशुद्धता है। आत्माको अखण्ड देखना शुद्धता है। अशुद्धता व्यवहारसे है, शुद्धता निश्चयनयसे है। अथवा निश्चयनय न कहकर परमार्थसे कहना चाहिए।

आत्माके विषयमें ऊंचीसे ऊंची फिलासफी जिसने बताई है, वह सब प्रमाण और सुनयका प्रताप है।

प्रश्न:—तो निश्चयनयका ही कथन करना चाहिए, व्यवहारनयका कथन क्यों किया?

समाधान--आचार्य कुन्दकुन्द आठवीं गाथामें कहते हैं—

जैसे अंग्रेज राजाकी सभामें कोई संस्कृतको जानने वाला विप्र जाय और राजाके लिये "स्वस्ति" आशीर्वाद देवे तो क्या अंग्रेज नृप उस आशीर्वादात्मक शब्दको समझ जायेगा ? नहीं समझेगा। तो उसको समझनेके लिए एक ही उपाय हो सकता है। कोई या स्वयं (विप्र) अंग्रेजी और संस्कृत जानता हो और उसे अंग्रेजीमें एक्सप्लेन करके समझाए, तभी वह राजा समझ सकेगा। आत्मा चित्स्वरूप है, अखण्ड है, यह भी कहना व्यवहार ही है। केवल "आत्मा आत्मा आत्मा" कहते रहो, यह निश्चयकी भाषा है। तो क्या यह अज्ञ संसारीजीव 'आत्मा' कहनेसे आत्मस्वरूपको समझ जायेगा ? नहीं समझेगा। उसको उसीकी व्यवहारकी भाषामें समझना पड़ेगा। ऐसा कहें जो जाने, जो देखे, जो कषाय या अकषायरूप प्रवृत्ति करे, वह आत्मा है, तभी वह समझेगा। वैसे ध्यान तो निश्चयका करना। लेकिन प्रारम्भमें आत्मतत्त्वको समझनेके लिये व्यवहारसे ही काम लेना पड़ेगा।

**व्यवहार परमार्थका कैसे साधक है**--जैसे रात्रिमें माता उंगलीके संकेतसे अबोध शिशुको चन्दा मामा कहकर चन्द्रदर्शन कराती है। इसका मतलब यह है कि शिशु अंगुलीके संकेतसे चन्द्रमाको देखले। जब शिशु चन्द्रमाका दर्शन कर लेता है तो उसे उंगलीके संकेत की आवश्यकता नहीं रहती है। इसी प्रकार जब कोई निश्चयनयको समझ जाये, तब व्यवहारनयकी आवश्यकता नहीं रहती है। यदि कोई निश्चयको नहीं समझ पाया, उसे व्यवहार नयसे ही समझाया जायेगा, तभी वह पश्चात् निश्चयनयको समझ सकेगा। जब सब पदार्थों का व्यवहारसे बोध हो जाता है, तभी जीव निश्चयनयको समझ सकता है। मैं अज्ञानी नहीं हूँ, मैं धनी नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ--ये सब पर्यायभाव हैं। मैं इन सबसे पृथक् हूँ। ऐसा पर्यायोंमें जीवका निषेध करते-करते वह स्वानुभव कर लेता है। आत्मानुभव होनेके पश्चात् उसे क्रोध कषाय, विषयेच्छादिक विकार नहीं सताते हैं। आत्मानुभव होनेमें ही सुख है। बिना आत्मानुभवके सुख कोशों दूर है। परन्तु इस बातको समझनेके लिये हमें व्यवहारनयका आश्रय लेना पड़ेगा। उसके बिना निश्चयनयको नहीं समझ सकते। निश्चयके समझे बिना उद्धारका अन्य कोई साधन नहीं। इसको समझनेके लिये अनेक प्रकारके उद्यम करने पड़ते हैं। तत्त्व एक ही है, मैं अपने आत्मस्वरूपको समझूं, यही तत्त्व है।

**रमण किसमें किया जाता है**—'राम' किसे कहते हैं, 'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स इति रामः'। अर्थात् जिसमें योगिजन रमण करें, उसे राम कहते हैं। योगिजन आत्मस्वरूपमें रमण करते हैं, भगवान्में नहीं। भगवान्के ध्यानमें रमण कर सकते हैं। जैसे यह चौकी किसीको अच्छी लगी, तो वह व्यक्ति चौकीमें तो नहीं रमेगा। वह तो उसके

अच्छेपनके अनुभवमें रम सकता है।

शंका— जैसे जलते दीपकसे बुझे हुए दीपकको जला दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान्के ध्यानसे अपनेमें ज्योति आ जायेगी।

**वस्तु स्वयं परिणमती हैं—**

समाधान—यहाँ पर जलते हुए चिरागने बुझे हुए दीपकको नहीं जलाया। बुझा हुआ दीपक जलते दीपकको निमित्त पाकर स्वयं देदीप्यमान हो गया। प्रज्वलित दीपक तो उसी प्रकार जलता रहा। जैसे—हम लोग अग्निपर पानी गर्म करते हैं। लोग कहते हैं, अग्निने पानी गर्म कर दिया। लेकिन ऐसा नहीं है। जल अग्निको निमित्त पाकर स्वयं उष्ण हो गया। अग्निने तो अपना स्वरूप जलाया, जल उस स्वरूपमें आकर उष्ण हो गया। स्वयं द्रव्य, गुण, प्रदेश, पर्यायमें ही वस्तुका कार्य हो सकता है, उसके बाहर नहीं। जैसे—कहते हैं, सूर्यने इतनी चीजें प्रकाशित करदीं। किन्तु ऐसा नहीं है। सूर्यकी किरणोंको निमित्त पाकर अन्धकारकी अवस्थामें पड़े हुए पदार्थ अपनी प्रकाशकी अवस्थामें आ गये। जैसे—एक लड़का दूर खड़े हुए दूसरे लड़केको अपनी उंगली मटकाकर चिढ़ा रहा है। इसमें उस लड़केको चिढ़ानेमें पहला लड़का कारण नही है। वह तो दूर खड़ा हुआ केवल अपनी उंगली मटका रहा है, लेकिन उसको निमित्त पाकर दूसरा लड़का अपने परिणामों को वदल कर अपने आप चिढ़ रहा है। जैसे पुत्रने पिताको सुखी किया। ऐसा नहीं है। पुत्रकी आत्माने पिताके सुखके लिये कुछ नहीं किया। पिताके पुण्यका उदय था, पिताके पुण्यरूप सुखमें पुत्र निमित्त बन गया। जैसे उंगलीने होल्डरको सरकाया। होल्डरके सरकने में उंगलीने कुछ नहीं किया। उंगली तो स्वयं चल रही थी। उसके चलते हुएके बीचमें होल्डर भी था, तो होल्डर भी उंगलीके हिलानेको निमित्त पाकर चल पड़ा।

**पदार्थ जितना है उसी सत्‌में उसे देखो—** कुम्हारने घट बनाया। कुम्हारने तो अपने हाथ ही चलाये। उसके बीचमें मिट्टी थी तो वह घड़े रूप बन गई। घड़ेमें कुम्हारके हाथ का या अंगुलीका कोई हिस्सा थोड़े ही पहुँचा। घड़ा तो मृन्मय है। पर्याय सारी एक होती है। ३४३ घन राजू यह लोक है, उसको कोई कहाँ तक परिणमाएगा? वस्तुका स्वभाव स्वतः परिणमनेका है। अतः वस्तुओंके परिणमनमें कभी भूल नहीं होती। वे प्रतिसमय परिणमती रहती हैं। चाहे कोई वस्तु कहीं भी पड़ी रहे, यह वहीं पड़ी-पड़ी स्वयं परिणमती रहेगी। जैसे हम सदा परिणमते रहते हैं, तो किसी न किसी चीजको निमित्त पाकर परिणम जाते हैं। सिद्धकी आत्मा भी सदा परिणमती रहती है, लेकिन उसे हम यहाँ जैसा प्रकट नहीं जान सकते। सिद्धका परिणमन शुद्ध परिणमन है। सिद्धकी आत्मा शुद्ध है। उसकी आत्माकी पर्याय भी वैसी ही शुद्ध है। जैसे आत्मामें पहले समयमें ज्ञानका परिणमन

हुआ--वैसा ही प्रतिसमय होता है। सिद्ध भगवान पदार्थोंको जानते भर हैं। उनके ज्ञानमें परिणमन आनेसे आत्मामें रागद्वेषका भाव नहीं आता है, अतः सिद्ध भगवानका विशुद्ध परिणमन कहलाया। इन सब आत्माके मर्मोंको व्यवहारनय बिना नहीं बताया जा सकता।

**परमार्थके अज्ञान और ज्ञानका प्रभाव**—जैसे म्लेच्छ (अंग्रेज) को "स्वस्तिके" वाच्यवाचक सम्बन्धका ज्ञान नहीं रहता है, वह उसके (विप्रके द्वारा उच्चार्यमाण स्वस्तिके) अर्थको नहीं समझ पाता है। अब वह अंग्रेज मेष (मेढ़े) की तरह विप्रकी ओर आँख निकालकर देख रहा है, परन्तु जब कोई द्विभाषिया (अंग्रेजी व संस्कृतको जानने वाला) उसे अंग्रेजीका (म्लेच्छ भाषाका) आश्रय लेकर समझाये कि यह विप्र आपके लिये कल्याणका आशीर्वाद दे रहा है, तब अंग्रेज उसके (विप्रके स्वस्तिके) अर्थको समझ जायेगा। जब वह उसके अर्थको समझेगा तो बहुत जल्दी आनन्दकी वर्षा करेगा। उसकी आंखोंसे हर्षके अश्रु निकल पड़ेंगे। वह जान जाता है कि यह बात हमारे कल्याण-कामनासे कही गई थी। उसी प्रकार विषय-वासना नदीमें डूबा यह सम्पूर्ण विश्व "आत्मा" कहने मात्रसे आत्माका ज्ञान नहीं कर पाता है। वह मनुष्य यह सोचेगा कि यह आत्मा क्या बक रहा है? फिर ज्ञानी आचार्य जो कि निश्चय और व्यवहारको जानते हैं उस मोहीको ऐसी व्यवहार भाषा में समझाते हैं कि जो जानता है, जो देखता है, जो श्रद्धा करता है—वह आत्मा है। ऐसा कहनेपर वह समझ जायेगा कि आत्मा क्या है? ऐसा जानकर उसे महान् आनन्दकी उपलब्धि होगी। दृष्टान्तकी अपेक्षासे, यह सारा मोही विश्व म्लेच्छ है और व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा है। उस विश्व-म्लेच्छको व्यवहार-म्लेच्छ भाषासे समझाया जाये, तभी वह "आत्मा" को समझेगा। जैसे नट रस्सीपर आने जानेके अभ्यास लिये बांसका आश्रय लेता है। जब वह सीख जाता है, लोगोंको दिखाते समय तो उसे बांसके आश्रयकी आवश्यकता नहीं होती है। उसी प्रकार शीर्षासन करने वाला भी सीखते समय पहले भीतका सहारा लेता है। अभ्यस्त हो जानेपर सहाराकी आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जो निश्चयनयको नहीं समझते हैं, पहले उन्हें व्यवहारनयकी भाषासे समझाया जाता है।

**शान्त परिणामी बनो**—ज्ञानी जीव प्रत्येक समय यही सोचता है कि मैं चिदानन्द चैतन्य आत्मा हूँ उसकी दृष्टिमें भेद अभूतार्थ है। वह किसी बातका बुरा नहीं मानता, पर कैसा ही परिणमो वह शान्तिसे चलित नहीं होता। यदि एक शान्त रहता है, दूसरा अपने आप ही शान्त हो जायेगा। कहावत है, एक चुप सौ को हरावे—अर्थात् यदि एक शान्त रहता है, सौ आदमी भी उसको गाली दे दें, बादमें अपने आप थककर शान्त हो जायेंगे। ज्ञानी बाह्य परिणतिको देख प्रवाहमें नहीं बह जाता।

अशान्त रहनेसे कभी लाभ नहीं होता है। क्रोध करके सदा मनुष्य दुःख पाता है,

बर्बाद हो जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ— कषायोंका फल बर्बाद होना ही है। कषाय से आत्माका पतन होता है। कषाय करके आत्माका आज तक कल्याण होता नहीं देखा गया है। कषायके अभावके लिये निज स्वभावका परिचय प्रथम आवश्यक है।

एक परमाणु द्रव्य है। प्रत्येक परमाणु अपनेमें स्वत: परिणमता है, एक परमाणु दूसरे परमाणुमें परिणमन नहीं कर सकता है; दूसरे परमाणुके परिणमनमें निमित्त बन सकता है। इसी प्रकार यह संसार प्रारम्भसे परिणमता आया है और आगे भी परिणमता रहेगा। इस परिवर्तनशील संसारमें कोई भव्य आत्मा होता है, जो अपनी आत्माका कल्याण कर लेता है। आत्मामें आत्मा द्वारा आत्माको उपयुक्त रखना कल्याण है। एक बार ऐसी पूर्ण शुद्धि होनेपर यह शुद्धि अनन्तानन्तकाल तक बनी रहती है।

**व्यवहारनय भी कदाचित कार्यकारी है**—वास्तवमें कार्यकारी तो परमार्थ है। परन्तु व्यवहारसे ही मोक्षका बोध होता है। स्वभावकी परखसे ही जीवका कल्याण होता है। जिसको जीवकी परख हो गई, वह सम्यग्दृष्टि है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि संसारके सभी भोगोंसे दूर रहता है, फिर भी उसको जो भोग भोगने पड़ते हैं उनमें वह उपयोग नहीं लगाता है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिकी तरह भोग नहीं भोगता है, यदि भोगता भी है, उनसे बहुत दूर रहता है। सम्यग्दृष्टिके किसी चीजका स्वाद भी होता है, उससे भी विरक्त रहता है। सम्यग्दृष्टिके जो इन्द्रिय विषय भोग रहता है, उसमें राग नहीं है, लेकिन विरक्त भाव है। यह सब उसके सम्यक्त्वका फल है। जितना उसमें राग भाव पाया जाता है, वह चारित्र मोहनीयका फल है। उसमें राग भाव है, अत: कर्मबन्ध हो रहा है। विरक्त भाव हैं, अत: कर्म झड़ भी रहे हैं। जैसे यदि कोई सम्यग्दृष्टिपर आक्रमण करे, सम्यक्त्वी शस्त्र लेकर भी प्रत्याक्रमण करे और शत्रु शस्त्रसे मर भी जाये तो भी सम्यक्त्वीमें विरक्तभाव रहता है। फिर भी वह अविरक्त सम्यक्त्वी विरोधी हिंसाका त्यागी नहीं है। संकल्पीहिंसाका तो वह त्यागी होता है। सम्यग्दृष्टि, जिनेन्द्र भगवानने जैसा कहा है, उसपर वैसा ही श्रद्धान करता है। इसके विपरीत जिनेन्द्र भगवान् की बातको झूठी कहना मिथ्यात्व है। जिनेन्द्रने जितनी बातें युक्ति वाली कहीं वे सब सत्य हैं तो जिनमें युक्ति नहीं चल सकती, ऐसी परोक्ष बातें भी सभी सत्य हैं ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रद्धान करता है।

**युक्ति श्रद्धाके बलसे ज्ञानी निःशङ्क रहता है**—भगवान्की दिव्यध्वनिको खिरे आजसे २॥ हजार वर्ष हो गये। आचार्योंकी परम्परामें किन्हीं-किन्हीं विषयमें दो प्रकारकी बातें आ गईं, दोनों मानों तो कोई हर्ज नहीं। किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वमें ऐसा नहीं है, जिनेन्द्रने ऐसा कहा है सो इस कारण मानलो ऐसा मानना कमजोरी है। तत्त्वको युक्तिसे सिद्ध करके मानना चाहिये, क्योंकि वे युक्तियुक्त हैं। लेकिन जिनमें युक्तिकी गति नहीं है उनमें

श्रद्धा करना ही भक्ति है। रामने रावणसे युद्ध प्रसंगमें यह तक कहा कि हम तुम्हें नहीं मारेंगे, यदि तुम हमारी सीता वापिस कर दो। सम्यग्दृष्टिके मारते समय भी मारनेके भाव नहीं रहते। गृहस्थ भी यदि बनता है तो "गेही पै गृहमें न रचै ज्यों जलतैं भिन्न कमल है" ऐसे बनो, परन्तु यह बात सम्यक्त्वके बिना संभव नहीं नहीं है, अतः सज्जनो, सम्यक्त्वकी प्राप्ति प्रथम तथा प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। यह सब ज्ञान द्वारा साध्य है। पदार्थोंके यथार्थज्ञानको बतलानेके लिये कि वह कैसा है, व्यवहारनयका अवलम्बन प्रयोजनवान् है, किन्तु वहाँ इतना प्रयोजन लेना कि यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है। व्यवहारनय परमार्थका कैसे प्रतिपादक है, इस बातको एक उच्च दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। प्रत्येक पदार्थ खुदकी शक्तिका प्रयोग खुदपर ही कर पाता है। इस वस्तुस्थितिके कारण आत्माके आनन्द का प्रयोग होता है तो उसी आत्मापर और ज्ञानका प्रयोग होता है तो उसी आत्मापर। इस प्रकार ज्ञानसे आत्मा आत्माको ही जानता है इसको बतानेके लिये व्यवहारका आश्रय करके समझाया जाता है। जैसे पूछा जावे कि श्रुतकेवली वास्तवमें किसे जानता है तो उत्तर इस प्रकार होगा।

जो हि सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥१०॥

जो श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञेयाकारमय आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है ऐसा निश्चयसे जाना जाता है। जो समस्त श्रुतकेवली है यह व्यवहारनयसे जाना जाता है।

**नयोंके भेद**—नय दो प्रकारका होता है—१-परमार्थ नय जो वास्तविक बातको कहता है, और २ व्यवहारनय जो पारमार्थिकनयके विषयको भेदरूप करके समझाता है।

जो सर्व श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है, वह निश्चयनयसे श्रुतकेवली है। वास्तवमें परपदार्थको आत्मा नहीं जानता है। आत्मा आत्मासे आत्माको स्वयं जानता है। जितने भी द्रव्य हैं, वे सब अपने ही क्षेत्रमें परिणमन करते हैं। द्रव्यका द्रव्यमें ही परिणमन होता है, उसके बाहर नहीं। जैसे फूलमें से सुगन्ध आती है, तो वहाँ वास्तवमें हुआ क्या ? फूलके पासके स्कन्ध फूलको निमित्त पाकर सुगन्धित हो जाते हैं, उनके पासके स्कंध उनके निमित्तसे। समीपके स्कन्धोंकी सुगन्ध हमें आती है। मालूम ऐसा पड़ता है, जैसे फूल में से ही सीधी सुगन्ध हमारे पास आ रही हो। आत्मा आत्माको ही जानता है, आत्मासे भिन्न परपदार्थोंको आत्मा नहीं जानता है। प्रत्येक जीव अपने आपको ही जान सकता है, पर-पदार्थोंको जाना ही नहीं जा सकता। आत्माका काम आत्माके प्रदेशोंके अन्दर ही होता है,

अपने प्रदेशोंसे बाहर आत्माका काम नहीं होता है। आत्माके गुणोंका फल आत्मप्रदेशों में ही बनेगा, आत्मप्रदेशोंसे बाहर नहीं। इसी प्रकार आत्माके ज्ञान गुणने जो जाना, वह आत्माके प्रदेशोंके अन्दर ही जाना, आत्माके प्रदेशोंके बाहर वह नहीं जान सकता। जैसे दर्पणमें सामनेके सभी पदार्थ समझमें आते हैं। हम दर्पणको देख रहे हैं, लेकिन उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ समझमें आते हैं। इसी प्रकार हम आत्माको जानते हैं। जब हम किसी पदार्थको जानते हैं, उसको हम इस प्रकार कहेंगे—इन पदार्थोंके आकार रूप जानने वाले आत्माको हमने जाना। व्यवहारसे कहते हैं हम अमुकको जानते हैं, परमार्थसे हम आत्माको ही जानते हैं। आत्माकी समझ इतनी विशाल है कि वह सब पदार्थोंको जान जाता है। यह व्यवहार भाषा है। व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है। जैसे हम कहते है कि हमने घड़ी जानी तो इसे परमार्थ भाषामें इस प्रकार कहेंगे—हमने घड़ीके आकार रूप जानने वाले आत्माको जाना।

**श्रुतकेवलीका निश्चय और व्यवहारसे निरूपण**—जो समस्त श्रुत द्वादशांगको जाने उसे श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुतकेवली वास्तवमें बाह्य श्रुतको नहीं जानता है, वह द्वादशांग रूप जानने वाले आत्माको ही जानता है। एक ही व्यक्तिमें निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों घटाये जा सकते हैं। वास्तविक बातको लोगोंको समझानेके लिये व्यवहारभाषाका प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक पदार्थको समझनेकी ये ही दो दृष्टियाँ हैं—१. निश्चयदृष्टि, और २. व्यवहारदृष्टि। वास्तवमें आत्मा आत्माको ही जानता है, किस रूप आत्माको आत्मा जानता है, यह समझनेके लिये व्यवहारभाषाका प्रयोग किया जाता है। क्योंकि यह नियम है कि द्रव्यका परिणमन निज क्षेत्रमें ही होता है, बाहर नहीं।

आत्माका क्षेत्र दो प्रकारसे देखा जाता है। १—सामान्य क्षेत्र, जो अखण्ड प्रदेशकी अपेक्षासे देखा जाये उसे सामान्य क्षेत्र कहते हैं। २—अशुद्धदृष्टिसे देखा गया क्षेत्र विशेष क्षेत्र कहलाता है। आत्मा अखण्डप्रदेशी है, इस दृष्टिसे देखो तो आत्मा सामान्य क्षेत्रकी दृष्टिसे है, विशेष-क्षेत्रकी अपेक्षासे नहीं है। असंख्यात प्रदेशकी दृष्टिसे देखो तो यह क्षेत्र विशेष दृष्टि से है सामान्य क्षेत्रकी दृष्टिसे नहीं। यह एक ही आत्मा अखण्ड प्रदेशकी अपेक्षासे है और असंख्यात प्रदेशकी अपेक्षासे नहीं हैं। तो जब असंख्यात देशकी अपेक्षासे है तो अखण्ड प्रदेशकी अपेक्षासे नहीं है। इस तरह जाना गया आत्मक्षेत्र है। वास्तवमें आत्मा आत्माको ही जानता है, बाहरके परमाणुओंको किसीको नहीं जानता है। जैसे दर्पणको देखते हुए हम दर्पणके सामने पड़ने वाले समस्त पदार्थोंको जान सकते हैं, उसी प्रकार आत्माको जाननेसे दुनियाके समस्त पदार्थोंको जान सकते हैं। व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है। अर्थात् निश्चयनयसे जो बात जानी जाये, उसे समझानेके लिये व्यवहारकी भाषाका प्रयोग किया

जाता है।

वस्तुत: आत्मा एक अखण्ड सत् है। उसे समझानेके लिये नाना दृष्टियाँ सोचकर नाना प्रकारसे देखना होता है। जिस आत्माका परिणमन आत्मा करता है वह आत्मतत्त्व कैसा है एतदर्थ अभी आप इन चार युगलोंपर ध्यान दीजिये जो कि अभी कहे जावेंगे। यहाँ तो अभी इतना निर्णय रखिये कि जिस महात्माका इतना विशाल क्षयोपशम है कि सर्व कुछ परोक्षरूपमें जानता है ऐसे जीवकी चर्चा व्यवहारभाषामें ऐसी होती है कि यह समस्त द्वादशाङ्गको जानता है और निश्चयसे देखो ऐसे ज्ञानसे परिणत निज आत्माको ही वह जानता है इसमें पहिली पद्धति व्यवहारसे श्रुतकेवलीको बतानेकी है व द्वितीय पद्धति निश्चय से श्रुतकेवलीको बतानेकी है।

**चार युगलोंके निर्णयसे पदार्थका स्पष्ट अवबोध**—आत्मा ही क्या समस्त वस्तु चार युगलोंसे गुम्फित है। १—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। २—स्यादेक, स्यादनेक। ३—स्यान्नित्य, स्यादनित्य। ४—स्यात्तत्, स्यादतत्। वस्तु अभेदरूप, अखण्ड, अवक्तव्य, पूर्ण है। यही वस्तु द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर द्रव्य मालूम पड़ती है, पर्यायदृष्टिसे देखनेपर पर्याय, गुणदृष्टिसे देखनेपर गुण, उत्पाददृष्टिसे देखनेपर उत्पादरूप, ध्रुव दृष्टिसे देखनेपर ध्रुव रूप मालूम पड़ती है। ऐसा वस्तुको भेदरूपसे देखनेपर होता है। अभेद विवक्षित होनेपर वस्तु अभेदरूप प्रतीत होती है।

वस्तु किसी भी दर्शनके बन्धनमें नहीं बंधती, वस्तु बन्धनसे रहित है। लेकिन वस्तुका समीचीन प्रतिपादक स्याद्वाद है:—आत्माके प्रदेशोंपर दृष्टि डालो तो आत्मा असंख्यात-प्रदेशी मालूम पड़ेगी, अभेद क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तु असंख्यातप्रदेशी नहीं है। यदि आत्माको अखण्ड रूपसे देखो तो आत्मा अखण्डप्रदेशी है। अब यहाँ जब अभेद क्षेत्रकी अपेक्षासे आत्मा है, भेद क्षेत्रकी अपेक्षासे वह आत्मा नहीं है। अभेद क्षेत्रकी अपेक्षासे जब हमने पट देखा तो कपड़ा पूरा एक अभेदरूप है। जब कपड़ेको जुदे-जुदे तन्तुरूप देखा तो कपड़ा नाना तन्तु रूप है।

अब पर्यायको कालकी अपेक्षासे घटाते हैं—

काल माने समय। समय माने वस्तुका परिणमन। पर्याय दो प्रकारकी है—१. सामान्य पर्याय, २. विशेष पर्याय। सामान्य पर्याय विधि रूप है। विशेष पर्याय निषेध रूप है। सब पर्याय है, इसीको सामान्यकाल कहते हैं। विशेष पर्यायमें निषेध चलता है। सामान्य परिणमनका नाम सामान्यकाल है। विशेष परिणमनका नाम विशेषकाल है। मतलब यह है पर्यायोंमें विशिष्ट कल्पना न करो यह विधि कहलाता है। विशिष्ट पर्यायोंका नाम लेते रहो उसे प्रतिषेध कहते हैं। द्रव्य भेदाभेदात्मक है। द्रव्य यह तो पूर्ण सत् है।

द्रव्यमें अभेदविवक्षासे एक परिणमन होता है। अभेदविवक्षासे असंख्यात परिणमन हो जाते है। जब विशेष पर्यायका कथन है, विशेषकी अपेक्षासे है, सामान्यकालकी अपेक्षासे नहीं है। जब सामान्यकी अपेक्षासे कथन है, तब सामान्यकाल है, विशेषकाल नहीं है। इस प्रकार कालकी अपेक्षामें वस्तुमें अस्ति नास्ति घटाया।

उदाहरण:—पटका परिणमन सामान्य परिणमनकी अपेक्षासे है तो विशेषकी विवक्षासे नहीं है। जब विशेषकी अपेक्षा करें तो विशेष परिणमनसे पट है, सामान्य परिणमनसे पट नहीं है। तात्पर्य यह है कि कालकी अपेक्षासे अस्तिनास्ति २ प्रकारसे है—१. सामान्य परिणमन और विशेष परिणमनकी अपेक्षासे, २. अभेद परिणमन और भेद परिणमनकी अपेक्षासे।

१. आत्माकी तीनों कालोंकी अनन्त पर्यायें जाति अपेक्षा पर्यायें ही हैं। सो पर्याय है यह सामान्य परिणमन है। भिन्न-भिन्न समयके परिणमन विशेष परिणमन है। जो काल सामान्यकाल (सामान्य परिणमन) की अपेक्षासे है वह विशेषकालकी अपेक्षासे काल नहीं है। जो काल विशेषकालकी अपेक्षासे है वह सामान्यकालकी अपेक्षासे नहीं है।

२. आत्मा एक वस्तु है। इसका एक स्वभाव है और एक समयमें एक परिणमन है। वह एक परिणमन अभेद परिणमन है। वस्तुके इस एक स्वभावको समझानेके लिये जो भेद किये जाते है वे अनेक शक्तियाँ (स्वभाव) गुण कहलाते है। इस दृष्टिसे समझे गये गुण अनेक हैं। जितने गुण है उतनी ही उन गुणोंकी परिणतियाँ हैं। तब एक समयमें अनन्त गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त पर्यायें हुईं। अब अभेद परिणमनकी दृष्टिसे देखा गया जो काल है वह भेद परिणमनकी दृष्टिसे नहीं है। भेद परिणमनकी दृष्टिसे देखा गया जो काल है वह अभेद परिणमनकी दृष्टिसे नहीं है।

आत्माका ज्ञान गुण आत्माके स्वक्षेत्रमें परिणमता है। ज्ञान ज्ञानको ज्ञानसे ज्ञानके लिये जानता है। निश्चयनयसे आत्मा आत्माको ही जानता है, लेकिन मालूम पड़ता है कि बाह्य पदार्थोंको जान रहे है। आत्माका ज्ञान आत्मासे बाहरके पदार्थोंको नहीं जानता है। आत्मा जो कुछ करता है, वह सब अपने आपके लिये करता है, दूसरेके लिये हमारा आत्मा कुछ नहीं कर सकता है। प्रत्येक पदार्थका काम परिणमना है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सत् है। जो सत् होगा, वह अवश्य परिणमेगा। जो जैसा परिणमे, वह सब उसकी निजी योग्यतापर निर्भर है। हमने घड़ी जानी, यह व्यवहारकी भाषा हैं। परमार्थकी भाषामें हम घड़ीके आकार रूप जानने वाले आत्माको ही जानते है। समयसारमें शंका की गई है कि व्यवहारनयको मत कहो, केवल परमार्थके कहने से काम चल जायेगा, क्योंकि वही तो प्रयोजनीभूत है। इस शंकाके उत्तरमें यह समाधान दिया कि परमार्थको कहनेका उपाय ही

व्यवहार है। जैसे श्रुतकेवली उसे कहते हैं जो द्वादशांग श्रुतको जाने, लेकिन क्या आज तक किसी ने बाह्य द्वादशांग श्रुतको जाना ? नहीं, यह तो व्यवहारकी भाषा है। परमार्थ की भाषामें उसने द्वादशांगश्रुतके आकार रूप जानने वाले ज्ञेयाकार परिणमनमें आत्माको ही जाना। द्वादशांगश्रुतके जाननेका ही अर्थ है, आत्माको जानना। व्यवहारके बिना परमार्थके समझनेका काम नहीं चल सकता। व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है। द्वादशांग श्रुतकी ही बात क्या ? किसी भी पदार्थको जाननेका ही अर्थ है आत्माको जानना। इसका कारण है कि द्रव्यके गुणका परिणमन उस ही द्रव्यमें है, उसका प्रयोग भी उसी द्रव्यमें है। अब आपने जान लिया होगा कि आत्मा निश्चयसे किसको जानता है ? इस तत्त्वको बताना यथार्थमें कठिन है, सो जिस ज्ञेय पदार्थके ग्रहणरूप निज ज्ञानवृत्ति रूप आत्मा परिणमता है उस ज्ञेय पदार्थका नाम लेकर बताया जाता है। यह व्यवहार है और वह उस परमार्थ तत्त्व का प्रतिपादक है।

**वास्तविक बातको बतानेका साधन व्यवहार है**—यदि व्यवहार न हो तो हम वास्तविक बातको प्रकट नहीं कर सकते। जैसे घड़ेको जानने वालेका निश्चयनयसे अर्थ यह है कि जो घटके आकाररूप परिणमे हुए आत्माको जाने, इसीको व्यवहारमें, जो घड़ेको जाने, कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें स्थित है, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें कुछ भी नहीं कर सकता। अतः आत्मा परपदार्थको कैसे जान सकता है ? अपनी आत्माको ही तो जानेगा। आत्मा अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे है परके द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे नहीं है, यह परसापेक्ष स्याद्वाद है। अब स्वसापेक्षस्याद्वादसे वस्तुका स्वरूप परखिये। अभेद-दृष्टिसे आत्मा अखण्ड एक रूपवत् है और भेददृष्टिसे गुण सत् पर्यायसत् आदि भेदरूप है। सो जो आत्मतत्त्व अभेददृष्टिसे है वह भेददृष्टिसे नहीं, जो भेददृष्टिसे आत्मतत्त्व है वह अभेद-दृष्टिसे नहीं। अभेद क्षेत्र एक अखण्ड क्षेत्र है, उसका कोई प्रदेश भेद नहीं है। तो जो अभेद क्षेत्रकी दृष्टिसे है, वह भेद क्षेत्रकी दृष्टिसे नहीं है। जीव असंख्यातप्रदेशी है तो भेद क्षेत्रकी दृष्टिसे। भेददृष्टिमें जाना गया जो असंख्यातप्रदेशी जीव है वह अभेदक्षेत्रकी दृष्टिसे नहीं है।

विशेष पर्यायकी अपेक्षासे जो पर्याय है, वह सामान्य पदार्थकी अपेक्षासे नहीं है। सामान्य पर्यायकी अपेक्षासे जो पर्याय है, वह विशेष पर्यायकी दृष्टिसे नहीं है। एक समयकी हालतको एक पर्याय-अभेद पर्याय कहते हैं। उनमें गुणोंकी अपेक्षासे भेद करना भेद पर्याय है। अभेद पर्यायकी दृष्टिमें जो पर्याय है, वह भेद पर्यायकी अपेक्षासे नहीं है। भेद पर्यायकी दृष्टिसे जो पर्याय है, वह अभेददृष्टिसे नहीं है। इस प्रकार कालकी अपेक्षासे अस्तिनास्ति है। भावकी अपेक्षासे जीवमें अस्तिनास्ति इस प्रकार है—भावको गुण शब्दसे कहते हैं। गुण माने वस्तुका स्वभाव। वह भाव दो प्रकारसे देखा जाता है—१. सामान्यभाव २. विशेष-

भाव। आत्मामें अभेदरूपसे एक गुण है। उसका नाम चैतन्य गुण है। भेद विवक्षासे ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण एवं अनन्त शक्तियाँ हैं। सामान्यभावकी अपेक्षासे जो वस्तु है, वह विशेषभावकी अपेक्षासे नहीं है। विशेष भावकी विवक्षासे जो वस्तु है, वह सामान्यभावकी अपेक्षासे नहीं है।

**द्रव्य सामान्यविशेषात्मक है, अतः द्रव्यका चतुष्टय भी सामान्यविशेषात्मक है—** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—ये चारों सामान्य रूप हैं और विशेषरूप। सामान्य विवक्षासे जो वस्तु है, वह विशेष विवक्षासे नहीं है। जो वस्तु विशेषकी अपेक्षासे है, वह सामान्यकी अपेक्षासे नहीं है। जैसे पीला कपड़ा है, उसे दो दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। १–पीला कपड़ा, २–सामान्य कपड़ा। जिस समय कपड़ेको सामान्य दृष्टिसे देखा, तब पीला कपड़ा नहीं है और जब विशेष कपड़ेको (पीले कपड़ेकी) दृष्टिसे देखा तो पीला कपड़ा है, सामान्य कपड़ा नहीं है।

शंका:—अस्ति नास्तिमें से एकके कहनेसे काम चल जायेगा, फिर इतने वाग्विलास की क्या जरूरत है?

समाधान:—प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षासे है, परद्रव्यकी अपेक्षासे नहीं है, ऐसा जब है तब उस ही तत्त्वको बताया है। वस्तुको भली प्रकार समझानेके वास्ते अस्तिनास्ति कहना आवश्यक है। अस्ति नास्तिमें से यदि एक न मानो तो वस्तु ही मिट जायेगी। दोनोंकी श्रद्धापर ही परपदार्थकी पहिचान है—यह यही है, यह अन्य नहीं है। वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, अतएव वस्तुओंकी व्यवस्था है। यदि अनेकान्त सिद्धान्त न हो तो वस्तुकी व्यवस्था बैठ ही नहीं सकती। दुनियामें जो वस्तु परिणमन करती है, वही वस्तु है। जो परिणमन ही नहीं करती, वह हो ही नहीं सकती। व्यवहारनयसे ही पदार्थका विशेष रूपसे ज्ञान होता है। अस्ति न माने तो नास्ति नहीं, नास्ति न माने तो अस्तिका कोई अस्तित्व नहीं है। दोनों एक दूसरेके अभावमें मिट जायेंगे। वस्तु परमार्थतः जैसी है उसे क्या शब्दोंमें कहा जा सकता है? उसको बतानेका व्यवहार है। जैसे आत्मा है और परिणमन करता है। यदि पूछा जाये कि बतावो आत्मा परमार्थतः क्या करता है? उत्तर मिलेगा जनता है। फिर प्रश्न होगा—क्या जानता है? अब उत्तर परमार्थसे दीजिये। बहुत ज्यादह गहरे उतरोगे तो बोलेंगे जो ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञानका होता है, उसे जानते हैं तो लो, ज्ञेयका (परका) नाम लेकर व्यवहार तो बनाना ही पड़ा। अब सीधा कह दो ना व्यवहारसे कि आत्मा अमुक पदार्थको जानता है। परमार्थसे तो वह आत्माको जानता है। कैसे परिणत आत्माको जानता है यह बात भी वहाँ अवश्य है, यहाँ तक भी निश्चयकी बात रह गई मगर इसका प्रकटीकरण व्यवहारके बिना कैसे होगा? अतः व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है।

**प्रत्येक एक एक है और स्वतन्त्र है**—दुनियामें जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरेसे बिल्कुल अलग हैं। हम जो विचार करते हैं, वह विचार भी हम नहीं हैं, वह विचार मेरा ध्रुव निरपेक्ष स्वभाव नहीं है। जो जितना परिणमन करता है, वह अपनेमें ही कर सकता है, अपनेसे बाहर बिल्कुल परिणमन ही नहीं कर सकता। एक परमाणुका कोई दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता। परमाणु ही उसे कहते हैं, जिसका दूसरा टुकड़ा न हो। अनेक परमाणुओं (स्कन्ध) के टुकड़े हो सकते हैं। वस्तु अखण्ड वही है, जिसका दूसरा हिस्सा न बन सके। एक हालत या परिणमन जितनेमें होवे उसे एक कहते हैं। जैसे पूरे आत्मामें एक साथ दुःख होता है। क्योंकि वह एक है। जैसे हमारे हाथकी उंगली जल गई, लेकिन पूरा शरीर नहीं जला, अतः शरीरको अनेक परमाणुओंका पिण्ड समझना चाहिये। अंगुली भी एक वस्तु नहीं है। हर एकके आत्मा न्यारा-न्यारा है, कोई आत्मा किसी दूसरे आत्मासे मिला हुआ नहीं है।

जिसने दूसरेको देखकर मोह बना लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पिता है वह अज्ञानी है। किसीके घरमें कोई बीमार है, उसको देखकर यदि उसे दया आती है वह दया नहीं है, वह मोह है। यदि अन्य दूसरोंपर भी दया आती हो तो वहाँ भी दयाकी संभावना है। जो जीव संबंधियोंसे न्यारा हो जाता है, उस समय यदि सुमति उत्पन्न हो जाये तो समझो, उसने अपने दुःखोंको दूर करनेका रास्ता साफ कर लिया है और सत्पथपर आरूढ़ है। यह "संसार तो चार दिनकी चाँदनी फिर अंधेरी रात है।" कोई इस पर्यायको पाकर सदा नहीं रह सकता। सभी जीव अलग-अलग पर्यायोंसे आये हैं, और आयु पूर्ण होनेपर सबको पर्याय बदलनी ही पड़ेगी। फिर भी यह जीव इन पर्यायोंको अपना मानकर दुःख प्राप्त कर रहा है। इन पर्यायोंको अपना माननेसे बड़ा कोई दूसरा दुःख नहीं है।

**भिन्न पदार्थोंमें एकत्वकी कल्पना करना हा क्लेशका मूल है**:—जगत्के जितने भी पदार्थ हैं वे सब न्यारे-न्यारे हैं। नाम चाहनेसे नाम नहीं मिलता और नामकी इच्छा करनेसे जिन्दगी भर उलझनें नहीं मिट सकतीं। नाम साथमें भी तो नहीं जाता है। फिर यह मोही इस नामके पीछे इतना क्यों पड़ा रहता है? नाम चाहना, परपदार्थको अपना मानना, शरीरकी रात दिन सेवा करना, शरीरको सुन्दर बनानेमें ही अधिक समय गंवाना—इन्हींका नाम तो विपत्तियाँ हैं। कोई विपत्ति इनसे अलग चीज नहीं है। जब शरीर दुःखका खजाना है, तो यह मोही अज्ञानी इस क्षण नश्वर शरीरकी इतनी क्यों सेवा करता है? एक दिन वह आना है, जिस दिन यह दिखनेमात्रका सुन्दर चमन मिट्टी बन जाना है। इसकी व्यर्थमें इतनी सेवा क्यों की जाये? जो शरीरका होना होगा, वह होगा। मुझे अपने

आपको शान्त विनयशील, लोभरहित, क्षमाशील और ज्ञानोपयोगी बनाना है। इसके लिये आपमें सर्वप्रथम प्रत्येक बातको सहनेकी शक्ति होनी चाहिये। यदि कोई आपके प्रति गलती करता है, वह आपकी दृष्टिमें पहलेसे ही क्षम्य होनी चाहिये। यदि कोई आपसे छोटा गलती करता है, उसे छोटा अबोध समझकर माफ कर देना चाहिये। यदि आपसे बड़ा कोई गलती करता है तो वस्तुस्वरूप विचार कर उसे क्षम्य समझो। इस संसारमें कोई जीव किसी जीवका उपकार नहीं कर सकता है, न बुराई कर सकता। सब अपने आपमें परिणमन करते हैं, मैं अपने आपमें परिणमन करता हूँ। फिर मैं क्रोध करके क्यों अपनी आत्माको दूषित करूं? इस प्रकारके विचार करके सदा अपनी आत्माके उत्थानमें लगना चाहिये। अपमानको मान मानकर उसे समतापूर्वक सहन कर लेना चाहिये, यही तो तप है। सहधर्मी बन्धुओंके अपमानजनक वचनोंको सहन कर लेना चाहिये। जब तुम्हें अपनी आत्माका कल्याण करना है, फिर दूसरेकी चिन्ता या मोह क्यों करते हो? तो क्या मोहसे कभी आत्मकल्याण हुआ है या होगा? नहीं, कदापि नहीं, हे आत्मन्! दुखियोंमें बसकर और उनकी सेवा करके भी एक धर्मोत्साह बनाया जा सकता है। मरने वालेके पास बैठना, उसकी यथाशक्ति सेवा करना, समाधिभावका उपदेश करना यही वहाँ धर्म है। जब लोगों का अपने सहधर्मी भाइयोंकी दुखियोंकी सेवाकी ओर ध्यान नहीं रहा, और भगवान्की मूर्ति की भक्तिमें ही कल्याण समझने लगे तभी तो अन्य लोगोंने देवपूजा (मूर्तिपूजा) का खण्डन किया है।

सदा सुखी रहना ही धर्म है। देवपूजा, स्वाध्याय, संयम, गुरुओंकी सेवा, तप व गरीबोंकी सेवा—ये गृहस्थोंके लिये षड् आवश्यक हैं। आचार्योंने इन कृत्योंको आवश्यक (करणीय) की संज्ञा दी है।

**ज्ञान ही सुखका मूल है**—ज्ञान है तो सब है, ज्ञान यदि नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया, अतः ज्ञान करो। विद्यार्थियोंकी तरहसे अध्ययन करो तभी अच्छी तरह ज्ञानकी प्राप्ति होती है। आप लोग अध्ययन करना केवल लड़कोंका काम समझते हैं। अरे, जो जो नहीं जानता, वह उसी विषयमें बालक (अज्ञानी) है। अतः लड़कोंकी तरह अध्ययन करतेमें क्या शर्म? सिंह, सज्जन, हाथी—ये सब अपना स्थान छोड़कर, दूसरे स्थानपर जाकर मरते है। कौआ, कायर पुरुष, मृग—ये दूसरे स्थानपर भी हों तो भी अपने स्थानपर ही आकर मरते हैं। इनमें इतना शौर्य नहीं कि अपना स्थान छोड़कर मरें। इन्हें अन्त तक कुटुम्बियोंका मोह सताता रहता है। जिसे मरते समय निरपेक्ष सद्गृहस्थोंकी लकड़ी मिले वह अच्छा है। कुटुम्बियोंके सामने मरनेमें मोह आ ही जाता है। यह मनुष्यभव इसलिये प्राप्त हुआ कि दिलका या विवेकका फक्कड़ न बन जाओ। मैं तीनों लोकों और तीनों

कालोंमें मैं अकेला स्वयं हूँ, मेरा कोई साथ देने वाला नहीं है — ऐसा विचार करके ज्ञान-साधनामें जुटना चाहिये। आत्मा ज्ञानसाधनासे पुष्ट होता है। सुन्दर भोज्य पदार्थोंसे तो शरीर पुष्ट होता है। 'शरीर' माने दुष्ट 'शरारती'। अर्थात् जो सदा शरारत करता रहे, उसे शरीर कहते हैं। इस शरीरको अहितकर जानकर आत्मसाधनामें जुटाना चाहिये। ज्ञान-प्राप्तिके साथ आत्मपरिणामोंकी निर्मलता होना जरूरी है। जितनी अपने परिणामोंकी निर्मलता बनाली, समझलो उतनी विभूति प्राप्त करली। आत्मपरिणामोंकी निर्मलता उत्कृष्ट विभूति है। जितनी परिणामोंमें मलिनता आई, समझो उतने गरीब हो गये। गरीब धनवान् होना आत्मपरिणामोंपर निर्भर है। परिणामोंकी निर्मलताके विषयमें चर्चा करना भी तो अच्छा है। विवेकसे उसकी कषायोंमें शिथिलता तो आ जाती है। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त है, वह कषायोंको जीत ही लेता है। जैसे सम्मेदशिखर जी की यात्रा करनेके लिये जवान और लड़के जल्दी पहुंच जाते हैं और बड़े बूढ़े देरमें पहुँच पाते हैं—लेकिन पहुँच सभी जाते हैं। प्रयोजन यह है कि ज्ञानोपयोगमें अधिकसे अधिक समय व्यतीत होना चाहिये।

शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेके लिये प्रयत्न यह करना पड़ता कि सबसे भिन्न आत्मा समझे। सबसे भिन्न तब समझे जब सबका भी तो ज्ञान हो। सब पदार्थ चूंकि द्रव्य ही तो हैं अतः सब एक लक्षणसे लक्षित हो सकते हैं। ऐसा जाननेके पश्चात् असाधारण गुणोंको जानकर भेदविज्ञान करे।

**द्रव्य छह गुण संयुक्त हैं**—द्रव्य अनन्तानन्त हैं। उन सबमें छह गुण पाये जाते हैं। जो द्रव्य हैं, उनके लिये छह गुण आवश्यक हैं। जिसमें छह गुण नहीं, वह द्रव्य नहीं। १–अस्तित्व, २– वस्तुत्व, ३–द्रव्यत्व, ४–अगुरुलघुत्व, ५–प्रदेशवत्त्व ६–प्रमेयत्व, ये द्रव्यके छह आवश्यक गुण हैं।

**अस्तित्व**—सभी द्रव्योंमें अस्तित्व गुण पाया जाता है। जो अस्ति होना है, उसमें वस्तुत्व भी होता है। इसके कारण वह वही है और कोई चीज नहीं है। वस्तुत्व गुणके प्रतापसे वस्तु अपने चतुष्टयसे है, परके द्रव्य, क्षेत्र काल भावसे नहीं है। तीसरा गुण द्रव्यत्व यह बताता है कि चीज परिणामी थी, आगे भी परिणमेगी, और निरन्तर परिणाम रही है। परिणमनशून्य वस्तु कभी रह ही नहीं सकती। चौथा गुण अगुरुलघुत्व—जब एक पर्यायसे दूसरी पर्यायरूप बदलती है—वहाँ यह बदल सीमारहित नहीं हो जावे, आत्मासे पुद्गल नहीं बने यह अगुरुलघुत्व गुण ही तो है। इससे एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, यह भी व्यवस्था है। पाँचवां गुण प्रदेशवत्त्व—यह गुण बताता है कि सब द्रव्योंमें प्रदेश हैं। छठा गुण प्रमेयत्व—यह गुण बताता है कि तुम हो तो जाननेमें आ सकते हो या तुम जाननेमें आ सकते हो तो तुम हो। चीज तो भगवान्के केवलज्ञानमें अवश्य आयेगी। ऊपर

कही गई ये छह चीजें सभी द्रव्योंमें पाई जाती है। पदार्थमें इन छह गुणोंके बिना काम नहीं चलता। इनके बिना द्रव्य टिक ही नहीं सकता, इनके बिना द्रव्य है ही नहीं। यहाँ शंका हो सकती है कि इन छह गुणोंकी अपेक्षासे सब द्रव्य समान कहलाने लगेंगे ? समाधान—इन गुणोंकी अपेक्षासे सब द्रव्य समान हैं यह सही है फिर भी केवल साधारण ही गुण तो द्रव्यमें नहीं हैं, असाधारण गुण भी होते हैं।

समाधान—पहले द्रव्यके दो भेद करो—१. चेतन, २. अचेतन। जो समझे याने जो जान सकता है, वह चेतन है। चेतनकी दृष्टिसे सब द्रव्य समान हैं। चेतन द्रव्यके दो भेद हैं—१. भव्य और २ अभव्य। भव्यके तो धर्मपरिणाम हो सकते हैं, धर्मके यदि परिणाम हो जायें तो कल्याण हो जाये। अभव्यके धर्मपरिणाम कभी नहीं हो सकते तो उसे अच्छी बात बताई जाये, वह बुरी लगती है। अभव्यको कभी मुक्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। 'अभव्य' कहनेसे मनुष्यको गालीसी प्रतीत होती है।

कोई किसीके भाग्यको बना बिगाड़ नहीं सकता है। जिसका भाग्य अच्छा है, उसको यत्न करनेपर फल प्राप्त होनेसे नहीं रोका जा सकता है। दो पुरुष थे। उनमें विवाद था—एक कहता भाग्य अच्छा हो तो फलप्राप्ति अपने आप ही हो जाये। एक कहता बिना पुरुषार्थके भाग्य कुछ कर ही नहीं सकता। इस प्रकार उनमें झगड़ा हो गया। उनको जेलखानेमें कैद कर दिया गया। दोनोंको लगी भूख। जो पुरुषार्थ पक्षका था, उसने कुछ भोजन खोजना प्रारम्भ किया। उसे दो लड्डू मिले, वह बड़ा प्रसन्न हुआ और भाग्य वालेको चिढ़ाने लगा। बादमें उसने एक लड्डू स्वयं खाया, दूसरा दूसरेको दे दिया। भाग्य वाला बोला, देखो तुमने परिश्रम करके पाया तो क्या पाया, हमने तो बिना परिश्रम किये ही पा लिया। अतः है न भाग्य बड़ा ? इस प्रकार यदि किसीका भाग्य अच्छा है, उसे फल प्राप्त करनेसे कोई नहीं रोक सकता। यदि किसीका भाग्य खराब है, उसे कोई अच्छा नहीं बना सकता।

**हम जिन्दा क्यों हैं ?**—जिन्दा हम इसलिये हैं कि हम ऐसी करतूत कर लें कि फिर हमें दूसरा जन्म न लेना पड़े। मोह छोड़नेसे हमें जन्म नहीं लेना पड़ेगा। मोहको दूर करनेके लिये खूब ज्ञान प्राप्त करो। जितना तुम जानते हो, उससे अधिक सदा सीखते रहो, इस प्रकार सीखनेसे ही ज्ञानवृद्धि होगी। ज्ञान विद्यार्थियोंकी तरह पढ़नेसे सुगमतासे प्राप्त हो जाता है। विद्यार्थियोंकी तरह पढ़नेके भाव मात्रसे कितने ही गुण अपने आप आ जाते है। उसके सभी अवगुण समाप्त हो जाते है। प्रतिदिन ज्ञानकी धीरे-धीरे वृद्धि करते जाओ। क्योंकि—

"शनैर्वित्तं शनैर्विद्या, शनैः पर्वतमस्तके।
शनैः पन्थाः शनैः कन्था, पञ्चैतानि शनैः शनैः।"

इस प्रकार ये पांचों चीजें धीरे करनी चाहियें। विद्या भी धीरे-धीरे ही आती है। एक साथ सम्पूर्ण विद्या नहीं आ जाती है। प्रत्येक द्रव्यमें वस्तुत्व गुण है। सब द्रव्य परस्पर समस्त पदार्थोंसे न्यारे हैं। वस्तुके निज वस्तुत्वका परिज्ञान परमविद्या है। इस विद्याके आनेपर विद्याकी प्रयोजकता हल हो जाती है।

**पर्यायबुद्धिमें कृत सुकृत भी हितकर नहीं**—जैसे करोड़पतिको करोड़ोंकी सम्पत्ति नहीं सुहाती है। यदि उसे ज्ञानका अनुभव हो गया हो, तब कोटीशको करोड़ोंकी सम्पत्ति न सुहाये, वही न सुहाना श्रेष्ठ है। बिना ज्ञानके सम्पत्ति न सुहाना व्यर्थ हैं। सम्यक्त्वकी परीक्षा करनेके लिये ये सम्पत्तियां प्राप्त हों, ऐसा हम नहीं चाहते। हम निरन्तर भगवानका ध्यान करते रहे हों, हमने कर्मोंको हटानेका प्रयत्न किया हो, क्रोधादि कषाय करके अपने परिणाम न खराब किये हों—फिर भी आत्मामें सुख नहीं मिला, क्योंकि मैं वह पर्यायोंमें अटकता रहा। पर्यायबुद्धिसे ध्यान किया भी निष्फल है। मैं मुनि हूँ, मुझे कर्मोंसे दूर रहना चाहिये, जहां यह भाव लाया, मुनिपना गया। भेद (पर्याय) में अटकना ही तो अटकना हैं। पर्याय ऐसी अटक है कि हम लोग अपने स्वरूपमें लीन नहीं हो पाते। हमारी शुद्ध पारिणामिक भावों तक दृष्टि इसलिये नहीं पहुंच पाती कि पर्यायकी अटक है। पर्यायदृष्टि होनेके कारण ही नेताओंमें स्वाभिमान आ जाता है। इन्हीं पर्यायोंके कारण इतनी ऊंची साधना बन जाती है इन सबमें पर्यायदृष्टि ही कारण है।

यदि साधुमें पर्यायदृष्टि न रही और यथार्थ समता आगई तो समझो उसका कल्याण हो गया, अब वह भावलिंगी है। सिद्ध भगवानके कोई चारित्र नहीं माना है। चारित्रमें स्थान अनेक हैं। सिद्धोंमें अनेक प्रकारके परिणामोंकी कल्पना करना, हमारी जबर्दस्ती है। सिद्ध भगवानको एक स्वभाव व एक निगाहसे देखना चाहिये। सिद्धमें सर्व लब्धियां वीर्यान्तर्गत हैं। अन्तराय कर्मकी ५ प्रकृतियाँ हैं—दानान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय और लाभान्तराय। वीर्यगुणमें ही भगवानके सब गुण शामिल हो जाते हैं। अरहन्तोंमें ५ लब्धियोंकी कल्पना करना ही कल्पना है। उनके ५ लब्धियां थीं, सो जब क्षायिक-भाव हो गया तब भी लब्धियोंका उपचार रहा। वस्तुतः किसी भी पदार्थमें अनेक गुण नहीं हैं। अन्तरायकर्मका काम अपने गुणोंको घातना है। दानान्तरायके कारण दान देनेका भाव ही नहीं बन सकता आदि सब बातें भेदकी अपेक्षासे कही गई हैं। अतीतगुणस्थानसे पहले संयममार्गणाके नाना भेद हो जाते हैं। संयम, असंयम और संयमासंयम। समझमें भी सर्वत्र संयमकी समानता नहीं जाती। देखो तो इस चैतन्य प्रभुकी लीला =

परिणति। यह आत्मा एक अद्भुत शक्तिका धारी है। यह शरीर कैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चला जाता है? कहते हैं कि सर्वत्र ईश्वरका अंश है। आत्माका जो क्षेत्र है, उस क्षेत्रमें ऐसी अद्भुत बातें हो जाती हैं कि मालूम पड़ता है कि किसी दिव्य शक्तिका यह काम हो रहा है।

**संसार जाल व मुक्ति निज ईश्वरकी लीलायें हैं**—दो ही प्रकारसे कारण होता है—निमित्तकारण और उपादानकारण। क्या ईश्वरकी ही ये दो परिणतियां बन गई हैं? जैसे हाथ चला। इसमें आत्माकी इच्छा निमित्त है, हाथ चला यह पुद्गल उपादान है। ईश्वरकी यदि यह चेष्टा है, तो यह निमित्त कारण रूपसे है या उपादान कारण रूपसे? यदि ईश्वर निमित्त कारण है तो इससे यह सिद्ध हुआ कि संसारकी सारी सामग्रियां पहले ही से थीं और ईश्वर तो निमित्तमात्र है। यदि ईश्वर संसारका उपादानकर्ता है तो वह अनादिसे ही सबका कर्ता है। क्योंकि उपादानसदृशं कार्यं भवति। इसके अनुसार सृष्टि ईश्वर की तरहसे होनी चाहिये। जैसे—घड़ा बना। मिट्टीका रूप घड़ेमें भी है, अर्थात् घड़ेमें सामान्य मिट्टी वर्तमान है। उसी प्रकार जो गुण ईश्वरमें हैं, वे गुण पदार्थोंमें भी होने चाहियें, जैसे घड़ेसे ठीकरे बन गये, लेकिन सबमें सामान्य मिट्टी वर्तमान है। यदि यह सृष्टि उपादानतया ईश्वरकृत है तो सारा संसार ईश्वरके आकारके समान होना चाहिये। यदि जीव सुखी या दुखी होता है तो ईश्वर भी प्रसन्न या दुःखी होता दिखाई देना चाहिये। भैया! बात तो यह है कि ये सब निजके ईश्वरकी लीलायें हैं:—संयम, असंयम और संयमासंयम।

तीन तरहके भोग होते हैं—अतीत भोग, अनागत भोग और वर्तमान भोग। द्रव्य में प्रत्येक समय एक पर्याय होती है। जो गुजर गया वह अब है ही नहीं। किये गये कार्यका शोक नहीं करना चाहिये। अनागत भोगोंकी सम्यग्दृष्टि इच्छा ही नहीं करता है। कषाय तो कभी दूर नहीं होती है। जब तक कषाय नहीं होती, तब तक कषाय रहती ही नहीं है। कषायके उदय होनेपर चारित्र गुणमें विकार आते हैं। चौथे गुणस्थानका सम्यग्दृष्टि स्वानुभवी भी असंयमी है। वहाँ कषायें होती हैं किन्तु उन्हें उपयोग पकड़ता नहीं है। इस उपयोग-मालिकका उन कषाय कुत्तोंपर इशारा नहीं हो रहा है। स्वानुभवके कालमें भी कषाय रहती है। जब ज्ञानी मनुष्य प्रकट रूपमें भी कषाय करता है तो उसके सम्यक्त्व तो रहता ही है। सम्यक्त्व दो प्रकारका नहीं है, स्वानुभूति ही दो प्रकार की है। जितनी देर सम्यक्त्व रहता है, वह निरन्तर रहता है। जो काम करता है, वह उपयोगसे करता है। स्वानुभूति हमेशा नहीं रहती है। स्वानुभूति और सम्यक्त्व दोनों एक साथ होते हैं। स्वानुभूति पाये विना सम्यक्त्व नहीं होता है, चाहे सम्यक्त्व होनेके बादमें स्वानुभूति न रहे।

जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही आवरण होते हैं, जो पूर्ण विकास है वह सिद्धोंमें

प्रकट है। निमित्तनैमित्तिक भावसे भगवान्‌की लीला होती है। जैसे लोग कहते हैं कि यह सब भगवान्‌की लीला है। इसी प्रकार आत्माकी लीलाको भी कोई पर्याय नहीं जान सकता है। यह सब आत्म-प्रभुकी ही लीला है। ब्रह्ममें लीन होनेमें आनन्द आता है। परन्तु यह वास्तविक-आनन्द सम्यग्ज्ञानके पाये बिना नहीं हो सकता है। द्रव्य-गुण-पर्यायका क्या स्वरूप है, यही जानना उस अलौकिक आनन्दकी नींव है। भूतार्थसे तत्त्वको जानकर उस का शुद्ध आश्रय करके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है——

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो हु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारनयको तो अभूतार्थ व शुद्धनयको भूतार्थ उपदिष्ट किया गया है। भूतार्थका आश्रय कर लेने वाला जीव नियमसे सम्यग्दृष्टि होता है (है)। जो ढंग पहिलेसे चला आ रहा है उसमें ही रहनेका स्वभाव संसारी जीवका हो गया है। उससे विलक्षण कुछ भी कथन सामने आ जाय तो वह कठिनसा प्रतीत होता है। लेकिन १ दिन तो उस कठिनको सरल बनाना ही पड़ेगा। व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है। भूतार्थनयका आश्रय जो लेता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। व्यवहार खण्डको या संयोगदृष्टिको कहते हैं। निश्चय अखण्ड या असंयोग दृष्टिको कहते हैं। जैसे आत्माको ज्ञान दर्शन सहित कहना अथवा एकेन्द्रियादि जाति, गुणस्थान मार्गणा रूप कहना सब व्यवहार है। द्रव्यमें कुछ जोड़ना अथवा उसमेंसे कुछ तोड़ना यह सब व्यवहार है। पदार्थ सत् स्वरूप है, उससे हट कर संयोगरूप देखना व्यवहार है। फिर बाह्य संयोगको तो अपना मानना उपचरितोपचरितनय है। क्षेत्र अथवा कालसे टुकड़े करना व्यवहार है। आत्माको मतिज्ञान रूप आदि बताना व्यवहार ही तो है। जीव और कर्ममें एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध चल रहा है, फिर भी उसमें से शुद्ध आत्मद्रव्यको जानना निश्चय है। क्योंकि आत्मा विभागहीन है उसमें अनेक दृष्टिसे अनेक रूप बताना क्या निश्चय कहला सकता है? अभूतार्थका सहारा लेकर क्या कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। सिर्फ पूजन भक्ति करना ही व्यवहार नहीं है। मन वचन कायके अतिरिक्त और कुछ विलक्षण, अलौकिक तत्त्व समझमें न आये तो समझो पर्याय दृष्टि है। वस्तु, वह तो वह है, उसमें भेद क्या? इसलिये उस एकाकी दृष्टि भूतार्थ (सत्य) है, और दो पर दृष्टि अभूतार्थ है।

**शान्ति चाहो तो भूतार्थ समझना ही पड़ेगा**—ऐसा सुन्दर मनुष्यभव और सन्त समागम पाकर भी यदि कल्याण नहीं किया तो फिर क्या यह मनुष्यभव बार बार मिल सकेगा? गंदे दिमागसे क्या कभी कल्याण हो सकता है? इन अत्यंताभाव वाले दूरवर्ती

पदार्थोंसे क्या कभी आनंद हो सकता है? भगवान कुन्दकुन्द अध्यात्मके प्रकाण्ड विद्वान थे, अध्यात्म विषयका इतना स्पष्ट कथन हमारे देखनेमें अभी और कहीं नहीं है। यह आत्मा केन्द्रमें पहुँच गया, फिर उसे कभी दुःखका नाम भी नहीं छू सकता। इन अध्रुव पदार्थोंमें श्रद्धा करनेसे क्या मिल जायगा, ये पदार्थ तो नाश होंगे ही, किन्तु तुम्हारी आत्माको भी बरबाद कर जायेंगे। इस अपवित्र शरीरसे अपना बड़प्पन मानना संसारके दुःखका बीज बोना है। यदि निर्णय करना है तो उस एक आत्माका करो, देखना और जानना है तो उसी आत्माको जानो। ऊपरसे संयुक्त दिखनेपर भी असंयुक्त उस एक आत्मद्रव्यको जानना आत्मकल्याणकी प्रथम सीढ़ी है।

बरसातमें कुछ देहाती दूसरे गांवको जा रहे थे, रास्तेमें उन्हें प्यास लगी तो पोखरे का भरा हुआ मैला जल ही पी लिया। किन्तु विवेकी तो छानकर अथवा फिटकरीसे साफ करके ही पीते हैं। इसी तरह मोही राग द्वेष मोहको देखकर आनंद मानता है, इसी रूप अपनेको अनुभव करता है किन्तु ज्ञानी इनसे भिन्न अपनेको स्वच्छ निजाकार मानता है। एतदर्थ वह भेदविज्ञानका प्रयोग करता है। समयसारमें बताया है और वास्तविक बात है कि अन्य पदार्थका आश्रय किसी अन्य द्रव्यको नहीं, प्रत्येक द्रव्यको अपना ही आश्रय है। अपना आश्रय लिया यही निश्चय है, किन्तु आश्रय लेना व्यवहार है। व्यवहारनय सभी अभूतार्थ है, परन्तु समझनेका उपाय यही है। जिस प्रकार बच्चेसे कहा जाय कि घीका घड़ा उठा लाओ तो वह मिट्टीका घड़ा जिसमें घी भरा है शीघ्र उठा लायगा, क्योंकि उसके इस प्रकारका प्रारम्भसे संस्कार चल रहा है। यदि उसे समझाया जाय कि जिसे घीका घड़ा कहते हैं वह घड़ा तो मिट्टीका है, तो उसे समझमें आ जाता है। इसी प्रकार अनादिकालसे यह जीव व्यवहारसे परिचित है। जीवके २ भेद संसारीके २ भेद त्रस और स्थावर आदि का उसे चिरकालसे परिचय है पर उसे ये पता नहीं कि त्रस भी जीव नहीं, स्थावर भी जीव नहीं, पर जीव मिलेगा उन्हींमें। जिस प्रकार सुनारकी राखमें सोना मिलता है, पर राख सोना नहीं, किन्तु सोना मिलेगा उसी राखमें। इस जीवको यह पता अभी तक नहीं कि शुद्ध जीव कहाँ है, मैं कौन हूं? वह घर गृहस्थी धन पैसाको ही मानता है यह 'मैं' हूँ, यह मेरा है।

अपने अखंड ध्रुव स्वभावका परिचय न होनेसे यह जीव निरंतर व्यवहारमें ही उलझा रहता है। लोग कहते होंगे यह चर्चा बहुत गहरी है हमारी समझमें नहीं आती, किन्तु तुम्हारा क्षयोपशम इतना है कि चाहो तो सब कुछ जान सकते हो। कितना लक्ष्य दुकानदारी, घर गृहस्थीके लगाते हो जो कितना पराश्रित काम है और अत्यंत कठिन है। अपना स्वभाव समझनेके लिये किसी भी पराश्रयकी आवश्यकता नहीं, कोई कठिनाई भी नहीं है।

**भूतार्थ और अभूतार्थ दृष्टि—** संयुक्त दृष्टि अभूतार्थ है; असंयुक्त दृष्टि भूतार्थ है। यह आचार्योंका कथन है। पर्यायको छोड़कर द्रव्यको जानो, विशेषको छोड़कर सामान्यको जानो, परको छोड़कर केवलको जानो यही असंयुक्त दृष्टि कहलाती है। छोड़नेका अर्थ गौण करना है। पर्याय हमेशा बदलती रहती है किन्तु उन सब पर्यायोंमें जो रहता है वह द्रव्य है। जैसे सीधी टेढ़ी आदि अंगुलीकी पर्यायमें जो १ अंगुली है, वही अंगुली दृष्टान्तमें सामान्य वस्तु है। पर्यायके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन नहीं होता किन्तु भूतार्थके विषयके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन होता है। जैसे गंदला पानी पीनेवाला अविवेकी ही कहलायेगा। विवेकी तो उस पानीको छानकर ही पीते हैं, वैसे ही ज्ञेय मिश्रित स्वाद अविवेकी करते हैं, ज्ञानी स्वका ज्ञानरूप अनुभव करता है। ज्ञानके ८ भेद ज्ञानकी ८ पर्याय ही तो हैं, वे सब शुद्ध ज्ञान नहीं। जिसने रागादि पर्यायको ही अपना माना, वह कभी भी संसारसे नहीं छूट सकता है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव यदि सामायिकमें बैठ गया, पूजा भक्ति कर ली, बस समझो उसने, धर्म कर लिया। किन्तु सब कुछ करता हुआ भी वह कभी अपनेको नहीं समझ सकता है। ज्ञानकी चेष्टा तो प्रतिभास मात्र है।

अरे भाई! अज्ञान चेष्टामें तो अनन्तकाल बिता दिया किन्तु एक भव यह अपनी ज्ञान चेष्टामें ही लगा दो। एक बार यह अपना स्वभाव जानकर ही अपने आनंदको देख लो। प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेषात्मक है, किन्तु जिनकी सुदृष्टि है, उनकी दृष्टिमें सामान्य है। उस सामान्य दृष्टिमें ऐसा समता भाव आता है कि फिर वह सोचता है किसपर बिगड़ें, किससे बुराई करें, किसके लिये मोह करें? कौन वस्तु मेरी है? कौन पराई है? आदि स्वपर विवेक उसका जाग उठता है। वह सब संबंधको अपनेसे न्यारा समझता है। अभी तक अपनेको नाना रूपमें अनुभव करते रहे है और यही गलती आगे भी करते रहे तो इस पर्याय पानेकी क्या सार्थकता होगी? सम्यग्दृष्टि क्या करता है? जीव और कर्मको समझनेके लिये बीचमें एक लकीर खींच देता है और अपनी बुद्धिका प्रयोग करके स्वपरका ज्ञान कर लेता है। जितना प्रतिभास मात्र है वह मैं हूँ, बाकी राग, विचार, शरीर, कीर्ति, बड़प्पन सब पर हैं, पराये हैं, वह इनमें कभी फंसता नहीं है, कभी सुख दु:खमें हर्ष विषाद नहीं मानता हैं। वह तो सोचता है मैं प्रभु हूं और ये पर्याय तो बिल्कुल अध्रुव है। इनसे मेरा मेल तो खाता ही नहीं है।

**शुद्ध होनेका उपाय शुद्ध तत्त्वको विषय करने वाली दृष्टि है—** व्यवहारनय किसी अन्यकी अपेक्षा रखकर होता है। निश्चयनय किसी अन्यकी अपेक्षाके बिना द्रव्यगुणपर्यायरूप पदार्थोंको जाननेसे होता है। मनुष्य किसी बढ़िया चीजमें घटिया चीज मिलानेको अच्छा नहीं समझता है। इसलिये जो श्रद्धामें व्यवहारको उपादेय मानकर ग्रहण करता है वह

क्या विवेकी कहलायेगा ? कभी नहीं। विवेकी तो वह है जो श्रद्धामें निरपेक्ष रहकर, ठीक ठीकसे दोनों नयोंको जानता है। कोई सबको तो छोड़ देवे किन्तु वह कहे कि अन्य सबको तो छोड़ता हूं किन्तु मैं बच्चेका प्यार नहीं छोड़ सकता तो क्या वह निर्मोही कहला सकता, वह तो आत्महानिमें है इसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञानके बारेमें रंचमात्र भी कम, स्वरूपसे रंच भी विपरीत श्रद्धा, ज्ञान हानिकर है। कोई पदार्थ आधा नहीं है, सभी पूर्ण हैं और वे सभी अपने स्वभावसे स्वतंत्र परिणमन करते रहते है। एक पदार्थकी परिणति दूसरेमें नहीं होती है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थमें कुछ असर भी पैदा नहीं करता है। जैसे हाथने कुछ धक्का लगा दिया, दूसरी वस्तु गिर गई, किन्तु हाथका असर हाथमें रहता है और वस्तुका असर वस्तुमें रहता है।

परपदार्थमें कर्तृत्वबुद्धिसे झगड़े होते हैं; क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय उत्पन्न होते हैं। यदि श्रद्धा सच्ची हो तो इन विवादोंसे कुछ आकुलता नहीं होती। सम्यग्दृष्टिके सब व्यवहार होता रहेगा किन्तु उसके आकुलता नहीं होती है। पदार्थोंकी स्वतन्त्रताका मर्म जानना सम्यग्दर्शनकी मुख्य सीढ़ी है। किन्हीं जीवोंको किसी समय व्यवहारनय प्रयोजनवाला है। किन्तु आगे चलकर तो उससे हटेगा तभी हित होगा। जो कर्मभावको जानते तो हैं किन्तु उसके कर्ता–भोक्ता नहीं, ऐसा परमार्थी जीव शुद्धनय हो जाता है। सच पूछो तो व्यवहारनय प्रयोजनवाला नहीं है, क्योंकि वह आखिर छोड़ना पड़ेगा। ऊपर चढ़नेके लिये जितनी भी सीढ़ियाँ है वे सब छोड़नेको हैं, कोई मूर्ख उन्हीं सीढ़ियोंको पकड़कर रह जाय तो वह मूर्ख ही है। तथापि जो व्यक्ति विकल्पोंमें स्थित है उसे ही व्यवहारका उपदेश दिया जाता है। जिन्होंने वस्तुका पूर्ण परिचय नहीं किया, उन्हें उसका कुछ अनुभव भी नहीं होता है। जैसे गन्ना कहनेसे ही उसका स्वाद नहीं मिल जाता किन्तु चूसनेसे ही उसका अनुभव होता है और जिस प्रकार गन्नाके ऊपरका भाग छीलते जाओ उतना ही गन्ना मीठा होता जायगा। इस प्रकार अनुभव करो, जिसका अनुभव करना है वह भी तुम्हीं हो, जो अनुभव करता वह भी तुम्हीं हो और जिससे अनुभव होता है वह भी तुम्हीं हो।

शुद्ध सोनेकी परखवाला अशुद्ध सोनेमें भी वह उसी शुद्ध सोनेको देखता है। जितना और जो सोना उसमें शुद्ध रूपमें है। जिनको शुद्धात्माका परिचय हो जाता है वे ही नाना पर्यायोंमें रहने वाले इस शुद्ध आत्माका परिचय कर पाते हैं। नाना पर्यायें प्रयोजनवान नहीं हैं। उन पर्यायोंमें रहने वाला अखण्ड आत्मा प्रयोजनवान है। श्रद्धालुसे ऊपरी नाना प्रकारका असत् वातावरण रहने पर भी वह उनमें रंजायमान नहीं होता है। जिसने परमपारिणामिक भावको जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया है। जो पर्याय को देखता रहता है वह अपने आपको कभी नहीं देख सकता है और जो अपने आपको

देखता है उसे पर्यायसे मोह नहीं रह जाता है। जैसे बच्चोंको चन्द्रमा बतानेके लिये माँ अंगुलीके इशारेसे बताती है किन्तु अगुली चन्द्रमा नहीं है, मात्र ज्ञान करानेमें सहायकमात्र है, इसी प्रकार व्यवहारमात्र अपने जाननेमें जो उपयोगी है वह तो व्यवहार है बाकी सब व्यवहाराभास है। व्यवहारमें जो भटक जाता है वह मोक्षमार्ग पर कभी नहीं चल सकता है। व्यवहारनय परमार्थविषयका निर्देशन करता है तो भी साक्षात् तो यों ही समझना कि व्यवहारनयसे जैसा है वह परमार्थसे नहीं। व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ होनेसे अभूत अर्थ को द्योतित करता है किन्तु शुद्धनय ही एक भूतार्थ है, अतः वह भूत अर्थको द्योतित करता है। स्वयं सहजस्वरूपको भूतार्थ कहते हैं उससे अन्यको भूतार्थ कहते हैं।

जैसे गाढे कीचड़के मिश्रणसे जिसकी स्वच्छता तिरोहित हो गई है ऐसे जलका अनुभव प्रयोग) करने वाले पुरुष कीचड़ और जलके विवेकको न करते हुए बहुतसे लोग उस अनच्छ (मलीमस) जलको ही अनुभवते हैं, यह मब जल ही है ऐसा जानते हुए पीते हैं। परन्तु कोई विवेकी पुरुष अपने हाथसे डाले गये कतकफलीके गिरनेमात्रसे पंक व पय का विवेक (भेद) हो जानेसे अपने पुरुषाकारके प्रकट झलकनेसे लक्षित सहज एक अच्छता हो जानेसे उस अच्छ (निर्मल) जलको ही अनुभवते हैं।

इसी प्रकार प्रबल कर्मके संक्लनसे तिरोहित हो गया है सहज एक ज्ञायक भाव जिसका, ऐसे मलीमस आत्माका अनुभव करने वाले पुरुष आत्मा व कर्मके विवेकको न करते हुए पुरुष (जीव) व्यवहार विमूढ़ होकर जिसमें अनेक विधता प्रद्योतमान है इस रूपसे आत्माको अनुभवते हैं। परन्तु भूतार्थदर्शी पुरुष अपने ज्ञान द्वारा पाड़े गये शुद्धनयके अनुबोधमात्रसे, आत्मा व कर्मका विवेक उत्पन्न हो जानेसे, स्वपुरुषाकारमें प्रकट सहज एक ज्ञायकस्वभाव होने से प्रकट है एक ज्ञायकभाव जहाँ ऐसे शुद्ध आत्माको अनुभवते हैं।

**आनन्दमयनिजकी दृष्टिसे आनन्द प्रकट होता है**—व्यवहार और निश्चय क्या है? सबसे पहले इसे समझलें तभी उनका सही उपयोग हम कर सकते हैं। इनके स्थूलरूप लो शरीरको बताना कि 'शरीर मैं हूँ' यह व्यवहार है। किन्तु 'शरीर मैं नहीं हूँ इस निषेधके साथ जो स्वकी उन्मुखता है' ये हुआ निश्चय। मैं ज्ञानदर्शन रूप हूँ—ये व्यवहार हुआ। मैं चैतन्यमात्र हूं, ये निश्चय हुआ। मैं क्रोधमान रूप हूँ, यह व्यवहार हुआ। मैं इन रूप नहीं हूँ इस निषेधके साथ जो स्वकी उन्मुखता है, ये निश्चय हुआ। किसी भी पदार्थमें कुछ जोड़ना या तोड़ना व्यवहार है और अभेद या अखण्ड रूप वस्तुका ज्ञान निश्चय है। पर्याय सब व्यवहार है और अखण्ड द्रव्य निश्चयका विषय है। जब तक व्यवहारका अवलम्बन रहता है तब तक आत्मामें क्षोभ और आकुलता रहती है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी जाने कुछ भी कम बढ़ न जाने तो आकुलताका नाम शेष भी न रहे। निश्चयके अवलम्बन

से सुख और शान्तिका अनुभव होता है। पर्यायमें अहंबुद्धि होनेसे ही तो निरन्तर सुखी दुखी होता रहता है। किसीके ८ बच्चे हों और यदि उनमें से १ बच्चा न रहे तो उसमें अपनापन होनेसे दुखी होता है। उन ७ के होनेका सुख नहीं मनाता है। उसकी दृष्टि उस नष्टपर जाती है। शरीरमें 'अहं' भाव होनेसे शरीरके सुख दुःखमें अपना सुख दुःख मानता है।

पर्यायबुद्धि होनेसे ही यह मेरे अनुकूल नहीं, मैं इसे पालता हूँ, मैं इसे मारता हूं, मैं दूसरेका कुछ अच्छा बुरा कर सकता हूं, पर मेरा कुछ कर सकता है आदि भाव होते हैं। जिनसे यह जीव निरन्तर दुःखानुभव करता रहता है जब यह दृढ़ श्रद्धा हो जाती है, ये शरीर मेरा नहीं, ये विचार मैं नहीं, यह पर्याय मैं नहीं हूं. जो कुछ भी दिखता यह मैं नहीं हूं, किन्तु इन पर्यायोंमें रहने वाला मैं ही ध्रुव चैतन्य हूं। मैं हूं और निरन्तर रहूँगा। कषाय भाव भी मैं नहीं हूं, रागद्वेष आदि भी मैं नहीं हूँ। पर्याय तो आती और चली जाती है, जब कि मैं एक ध्रुव चैतन्यमात्र हूँ। मैं परका कुछ नहीं करता, परद्रव्य भी मेरा कुछ नहीं करता, ऐसी श्रद्धा होनेपर फिर कृत-कृत्यसा हो जाता है। उसे कुछ करनेको बाकी नहीं रहता है। फिर यह पश्यन्नपि न पश्यति अर्थात् देखता हुआ भी नहीं देखता है। ब्रुवन्नपि न ब्रूते अर्थात् बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। गच्छन्नपि न गच्छति अर्थात् चलता हुआ भी नहीं चलता। खादन्नपि न खादति = खाता हुआ भी नहीं खाता है।

चिन्मूरत दृगधारीकी मोहि रति लगत है अटापटी, एक बार भी यह अपूर्वदृष्टि आने पर द्रष्टा सब संकटोंसे दूर हो जाता है। उसकी आत्मामें अपूर्व आनन्दका प्रादुर्भाव होतार है। फिर उसे यह संसार स्वप्नवत् दीखने लगता है। इसीलिये प्रबुद्ध पुरुषोंने कहा है—'जबलों न रोग जरा गहे तबलो झटिति निज हित करो।' जिसने भेदविज्ञानका व्यवहा जीवनमें नहीं किया वह रोग और बुढ़ापा आनेपर जब शिथिल हो जाता है तब अपना कल्याण कैसे कर सकता है? अपने बलका प्रयोग अपने उत्थान और कल्याणमें लगाओ, अपने अनुभव और अपनी खोजमें लगाओ। तभी मानवजीवनकी सार्थकता है। अन्यथा अभी तक जैसे अनन्तभव व्यर्थ चले गये उसी प्रकार यह अवसर भी हाथसे निकल जायगा। यहाँसे यदि अन्य पर्याय अथवा नीचगतिमें चले गये तो वहाँ कल्याणका मार्ग मिल सकना असम्भव है। जिस परमार्थका आश्रय करनेसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है उस परमार्थका (भूतार्थका) जो आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं, अन्य और कोई नहीं। अतः प्रत्यक् आत्मतत्त्वके द्रष्टा जीवोंको व्यवहारनयका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

**सुख शान्तिका पथ—परमभाव**—जो अपने परमभावको देखना है वह निश्चयका आश्रय है। अपरमभावको देखने वाला व्यवहारका आश्रय लेकर चलता है। जो निश्चयका

ज्ञान करे उसे तो व्यवहारका ज्ञान हो ही जायगा किन्तु जो व्यवहार मार्गको पकड़ता है उसे निश्चय पथका ज्ञान हो और नहीं भी हो। चूंकि निश्चय तक पहुंचनेमें उसे व्यवहार मार्गसे तो गुजरना ही पड़ेगा। इसीलिये दोनों दृष्टियोंको जान लेना आवश्यक है तभी मोक्ष-मार्ग चलेगा, सुख और शान्तिका अनुभव करेगा अन्यथा मोक्षमार्ग चलना असम्भव है।

जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही समझकर उसकी वैसी श्रद्धा करो बस यही परमभाव है। उस केवल १ निजभावको जान लिया तो वही परमभाव और वही ज्ञेयभाव है, बाकी सबका ज्ञान तो यह जीव अनादिकालसे करता चला आ रहा है। दो अंगुली को देखकर यों तो जाना जा सकता है कि ये छोटी अंगुली है और ये बड़ी अंगुली हैं, किन्तु उनमेंसे १ को जाना जाय, क्या ऐसा नहीं हो सकता है? यह तो हो जायगा कि वह छोटी बड़ीका भेद नहीं कर सकता, इसी प्रकार जीव और कर्मकी मिश्र अवस्थाको तो जाना जा सकता है किन्तु क्या ऐसा नही जाना जा सकता कि इन दोनोंमें जीव ये है? जीवमें इस प्रकारकी शक्ति है कि वह चाहे तो उस एक को जान सकता है। यही निश्चयका पथ है।

**एक भावको जानना परमभाव**—दो की मिश्र अवस्थाओंको जानना ये व्यवहार है, सो ये तो हम सब निरन्तर जानते ही रहे हैं। हम मनुष्य हैं, हम पंचेन्द्रिय हैं आदि पर्याय ज्ञान सब व्यवहार है। हम चाहे तो स्वकी दृष्टिसे अपने एक पदार्थको जान सकते हैं, चाहे तो दो की दृष्टिसे भी देख सकते हैं।

**शुद्धभावमें बंध नहीं है**—बंध किसका स्वभाव है? ये दोनों हाथ हैं, इकट्ठे कर लिये, अब बताओ इन दोनों हाथोंमें किस हाथका स्वभाव जुड़ावरूप है, जुड़ना किसका लक्षण है? पदार्थको देखो पर दोके संबंधसे मत देखो क्योंकि दो एक पदार्थ नहीं, उनमें से एक-एक पदार्थको जानो क्योंकि दो पदार्थ मिलकर भी एक तो हो नहीं जाते हैं। देखो—दाहिना हाथ जुड़नेपर भी बायें हाथ रूप नहीं हो गया और बायाँ हाथ दाहिने हाथ रूप नहीं हो गया। यदि हमारी दृष्टि निरन्तर संयोगपर रहती है तो उनमें से एक को जान लेना कठिन मालूम होता है। किन्तु जो २ को समझ सकता है वह १ को जान सकती है। ऐसी दृष्टिमें न पुण्य है, न पाप है केवल संवर और निर्जरा है। पुण्य कितना भी बाँध लो पर उसमेंक भी संवर और निर्जरा नहीं हो सकती है। किन्तु जिनके अपरमभाव हैं वे व्यवहारसे ही समझते हैं।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे हु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

शुद्ध निरपेक्ष परम भावके द्रष्टाओं द्वारा तो शुद्ध और शुद्धादेश जानना चाहिये अथवा शुद्ध तत्त्वका आदेश करनेवाला शुद्धनय जानना चाहिये, परन्तु जो जीव अपरम भाव

में स्थित हैं वे व्यवहारनयसे देशित होना चाहिये।

परम भावके दर्शकोंका प्रयोजन शुद्ध व शुद्धादेशसे है। इस प्रसंगमें नय ३ जानना-(१) शुद्धनय, (२) शुद्धादेशनय, (३) अशुद्ध नय (व्यवहारनय), परमशुद्ध निश्चयनय तो शुद्धनयके विषयभूत तत्त्वको शुद्ध शैलीसे कहना सो शुद्धादेशनय है। बाकी सब आशय व कथन अशुद्धनय अथवा व्यवहारनय है।

जिन जीवोंने आखिरी तावसे निकला हुआ शुद्ध सोना जान लिया है, उनकी दृष्टि हमेशा शुद्ध सोनेपर ही रहती है। उन्हें फिर उसमें कितना सोना और कितना कचरा है ये भी भेदभाव नहीं रहता है, वह तो उसमें सोना कितना है, यही बात देखता रहता है। इसी प्रकार जिन्होंने अपने आत्मतत्त्वको जान लिया है उन्हें फिर कर्म संबंधसे मतलब नहीं है। वे अनात्माको आत्मा मान नहीं सकते। जिसने जान लिया कि राखमें इतना सोना है, वो राखको सोना नहीं मान सकते, वे न्यारिया उतना ही पैसा चुकाते हैं। क्यों? उतने सब ढेरसे राखमें प्रयोजनवान उतना सोना ही है। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषको प्रयोजनवान वह अपना आत्मद्रव्य ही है। शुद्ध सोना १० तरहके पिण्डमें भी होगा तो सब एकसा होगा, उसमें कोई अन्तर नहीं होगा। इसी प्रकार जितनी शुद्ध आत्मायें होंगी वे सब एकसी होंगी। त्रिकालवर्ती शुद्ध चैतन्यभाव भी स्वभावसे शुद्ध ही है। निश्चयनयका विषय अनेक पदार्थ या अनेक प्रकारके पदार्थ नहीं, उसका विषय १ तरहका और १ ही पदार्थ है सो प्रयोजनवान है।

**सम्यग्दृष्टिका विवेक**—जिसे सोनेकी परख है तो वह किसी १ तोले सोनेमें दो आना भर मैल और १४ आना भर सोना है तो पारखी तो उसमें सोना १४ आना भर ही बतायेगा। कोई मूर्ख भले ही उसे १ तोला सोना कहता रहे। इसी प्रकार जिसे आत्मस्वभाव की पहिचान है उसकी दृष्टिमें तो वही शुद्ध स्वभाव है। निश्चयनयकी दृष्टि कर लेने वालों के २ कला होती हैं क्योंकि वह आत्माके शुद्ध स्वभावको जानता है, किन्तु उसे व्यवहारका भी ज्ञान रहता है। जबकि व्यवहारदृष्टि वाला सिर्फ व्यवहारको जान पाता है। हाँ, यह बात अलग है कि तुम निश्चयको समझो नहीं और निश्चयके अनुरूप बननेका उपक्रम करने लगो तो बात ही अलग है। ज्ञानी भी पर्यायको जानता अवश्य है किन्तु उस पर्यायको पर्यायरूपसे जानता है, पर्यायमें आत्मबुद्धि करना घातक है किन्तु पर्यायको पर्यायरूपसे जानना कुछ भी हानिप्रद नहीं है। पर्याय बुद्धि करोगे तो मोह अवश्य बढ़ेगा। उसके बाद अपमान सन्मान सुख दु.ख आदिकी अनेक विपत्तियां बढ़ जायेंगी। इसलिये यदि अनाकुल बनना है तो केन्द्रमें उपयोग स्थिर करो, सब आकुलताएं दूर भाग जायेंगी। जिस तरह १ तिजोड़ीमें १ बड़ा खंड हो, उसमें फिर १ छोटा खंड हो, उसमें १ बड़ा डिब्बा रखा हो

उसमें १ डिब्बी रखी हो, फिर १ थैली रखी हो, उसमें छोटी थैली रखी हो, उसमें सोना रखा हो तो उसके धनीको यह पूरा ख्याल रहता है कि उस थैलीके भीतर मेरा कितना सोना रखा है ? इसी प्रकार ज्ञानीको इन सब पर्यायोंमें उस शुद्ध चैतन्य स्वभावका पूरा-पूरा ध्यान रहता है । किसी भी परिस्थितिमें वह अपने स्वभावको नहीं भूल सकता है ।

**स्याद्वादकी उपादेयता**—व्यवहारनय उनको प्रयोजनवान है जो अपरमभावमें हैं । परन्तु लक्ष्यके बिना मनुष्य चलेगा कहां, वह लक्ष्य शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति है । इसलिये जो परम भावमें हैं उन्हें निश्चयनय प्रयोजनवान है । जिनवचन ही इसका सच्चा निपटारा करते हैं । जगतके जो जीव जो कुछ कर रहे हैं वह सब स्याद्वादके बलपर कर रहे हैं । यदि जीवनके हर कदमपर स्याद्वादका उपयोग न किया जाय तो जीवन दूभर हो जाय, कुछ भी काम मानव बिना स्याद्वादके नहीं कर सकता है । व्यावहारिक जीवनमें जितना भी काम चलता है सब स्याद्वादके बलपर चलता है । स्याद्वाद सहित जो जिनवचन है वही प्रयोजनवान है । जिसका मोह वमन हो गया, वह फिर कैसे मोहको पी सकता है ? जब मोह मंद हो जाता है तभी वह समयसारको जान सकेगा । क्योंकि "वह कारणपरमात्मा अनादिकालसे अन्त प्रकाशमान हो रहा है" इस निज स्वरूपका बोध जिनवचनसे ही होता है । जिनेन्द्रके वचन ही अज्ञानको नष्ट कर देते हैं । बिना आगम अभ्यासके और बिना स्याद्वादको समझे आत्म-स्वरूपका निश्चय ही नहीं हो पाता है । उदाहरणमें देखिये कि रागद्वेष किसकी परिणति है ? क्या कर्मकी है ? यदि कर्मकी परिणति है तो कर्मको मरने दो, फिर यहां ये भ्रम क्यों लगा रखा है कि मुझे रागद्वेष होता है । किन्तु रागद्वेष होता है अपने आत्मामें ही, आत्मा को छोड़ किसी अन्य द्रव्यमें नहीं होता है । इसलिये वह रागद्वेष आत्माका विकारी परिणाम है, किसी निमित्तसे होता है । इसलिये आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धा करके व्यवहार और निश्चयका ज्ञान करो । दोनोंके ज्ञान बिना कभी भी वस्तु स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता है । दोनों नयोंको समझकर व्यवहारको व्यवहारकी तरह जानो और निश्चयको निश्चयकी तरह जानो, फिर कभी भी वस्तुके स्वरूपके ज्ञानमें संशय नहीं रह जाता है । व्यवहारको तो निश्चयमें साधक होना चाहिए अन्यथा वह व्यवहार नहीं है । कोई मनुष्य समुद्रमें नाव चला रहा है, किन्तु कहीं जानेका उद्देश्य सुनिश्चित तो अवश्य बनायेगा; अन्यथा वह बिना दिशा ज्ञानके कहाँ भटकता फिरेगा ? और जिसका अपना पहुंचनेके स्थानका उद्देश्य निश्चित हैं वह एक दिन अवश्य अपने अभीष्ट स्थानको पहुंच जायेगा । इसी प्रकार निश्चय लक्ष्य बांधता है जो चीज उसे प्राप्त करता है किन्तु व्यवहारमें वह चलनेका पूर्ण प्रयत्न करेगा तो अवश्य, किसी दिन सफल हो सकेगा ।

**दोनों नयोंका परिज्ञान आवश्यक है**—बिना लक्ष्य बनाने वालोंकी दशा देखो—कहते हैं मुझे इतने दिन पूजन भजन करते हो गये किन्तु सुख अभी तक नहीं मिला । मैं लखपति

नहीं बन सका अथवा मेरे सन्तान नहीं हुई। जब उनका लक्ष्य ही गलत है तब सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसी वस्तुतत्त्वके ज्ञान बिना अथवा शुद्ध लक्ष्यके बिना क्रोध, मान, माया और लोभ आ जाता है, विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं घटती है। किन्तु जिनके निश्चयका ज्ञान है उनके व्यवहार तो होता ही है। १ मनुष्य शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता है, लोक और अलोकमें बड़ी ऊंची और बारीक कथनी करता है किन्तु अपने को नहीं जानता तो उसका वह ज्ञान सब व्यर्थ है। लोककी बारीकी जान ली पर अपनेपर घटित नहीं किया, सात तत्त्वोंकी कथनी समझली पर उसमें से अपने एकको नहीं समझा तो वह सारा विज्ञान आत्महितकारी नहीं। इसलिये निश्चयके ज्ञान बिना व्यवहारका ज्ञान व्यर्थ है, जैसे कि बिना मक्खनके दूध अथवा बिना धानके उसका भूसा हमारेको उतना उपयोगी नहीं। इस लिये दोनों नयोंका यथार्थ ज्ञान करो। व्यवहारका ज्ञान न करो तो तीर्थ नष्ट हो जायेगा, धर्मकी प्रवृत्ति कैसे चलेगी और निश्चयको छोड़ दोगे तो सारा व्यवहार ही व्यर्थ है। व्यवहार तो बच्चेको जिस प्रकार उंगली पकड़ कर चलना सिखाता है उसी तरह है, किन्तु वयस्क हो जानेपर फिर वह आवश्यक नहीं रह जाता है। यही हाल व्यवहारका है कि जब तक अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई तब तक तो वह उपयोगी है फिर उसकी आवश्यकता नहीं, अन्तमें उसे छोड़ना ही पड़ेगा।

**प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है**——प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप है। विवक्षित आत्मा अन्य सब आत्मावोंसे व समस्त विजातीय द्रव्योंसे न्यारा है। आत्माका स्वभाव समस्त परभावोंसे भिन्न है। जब तक उपयोगमें विविधता रहती है, तब तक उपयोग एक केन्द्रपर कभी नहीं ठहर सकता है। किन्तु जब उपयोगमें ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयमें कुछ भी भेद नहीं रहता है, वहाँ पर उपयोग स्थिर हो सकता है। जहाँ दो वस्तुकी संयुक्तदृष्टि है वहाँ उपयोगका केन्द्रीकरण कभी भी हो ही नहीं सकता है। मेरा स्वभाव कैसा है, परभावोंसे याने परपदार्थोंसे भिन्न है, उनकी सत्ता अलग और अपनी सत्ता अलग। एक पदार्थकी सत्ता दूसरेमें नहीं हो सकती है। सभी पदार्थ अपने चतुष्टयसे हैं परके चतुष्टय से नहीं हैं। परपदार्थका भाव और परपदार्थके निमित्तसे होने वाले भाव, मैं इन सभी भावोंसे अलग हूँ। यद्यपि ये रागादिभाव होते हैं आत्मामें किन्तु आत्मस्वभावसे भिन्न हैं। चैतन्य स्वभाव ही मेरा निज स्वभाव है, रागादिसे मेरा ज्ञान जुदा है। रागादि विकारी परिणाम हैं। अतएव मैं राग नहीं, मैं द्वेष नहीं हूं। इस प्रकार भी परभावोंसे भिन्न हूं। परभावसे भिन्न तो क्षायोपशमिक ज्ञान भी है, मैं उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंके स्वभावरूप भी नहीं हूँ। क्योंकि मैं अधूरा नहीं किन्तु आपूर्ण हूँ, अपूर्ण नहीं हूँ। ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण हूँ। आपूर्ण अधूरेको कहते हैं और अपूर्ण, जिसमें अधूरापन नहीं हो उसे कहते हैं। मति

ज्ञानादि आपूर्ण नहीं हैं. किन्तु अपूर्ण या अधूरे हैं। तो क्या केवलज्ञान मेरा स्वभाव है ? नहीं, वह भी स्वभाव नहीं, क्योंकि वह सापेक्ष है, अनादिसे नहीं किन्तु सादि है। वह स्वभाव नहीं है। केवलज्ञान पर्याय है और पर्याय प्रतिसमय बदलती रहती हैं। यद्यपि केवलज्ञानमें निरन्तर सदृश पर्याय होती हैं। प्रतिसमय वही ज्ञान जैसा मालूमहोता है परंतु वैसा ही प्रतिसमय होता रहता है, वही एक पर्याय प्रतिसमय नहीं है। सदृश पर्यायें है इस-लिये ऐसा मालूम पड़ता है-१ केवलज्ञान ही निरन्तर चलता रहता है। जिस प्रकार बिजली का प्रकाश निरन्तर एकसा चलता रहता है किन्तु उसमें भी प्रतिसमय नया नया प्रकाश रहता और काम प्रतिसमय नया-नया करता है जो कि हमारी स्थूलदृष्टिमें नहीं आता है।

आत्माका स्वभाव वह है जो बहिरात्मा, अन्तरात्मा व कार्यपरमात्मा सबमें पाया जावे। केवलज्ञान ज्ञानका अन्तिम विशुद्ध फल है। अब देखो—अपने स्वभावको जानने के लिये कितने पदार्थोंको दूर करना पड़ा-- सबसे पहिले जड़ पदार्थोंको श्रद्धासे दूर किया, रागादिको दूर किया, फिर गुण भेदको भी छोड़कर उस अखण्ड आत्मतत्त्वको पाया तभी आत्मस्वभावको जान सके। तिसपर भी ऐसे संकल्प-विकल्पके समय वह यथार्थतया ज्ञान न हो पाया, सो स्वभाव संकल्प विकल्पसे दूर है। यह आत्मा द्रव्यसे अपने चैतन्यरूप है, क्षेत्रसे अपने ही आत्मप्रदेशोंमें रहता है उससे बाहर कहीं नहीं। कालसे भी उसका कोई टुकड़ा नहीं होता है। स्वभावसे अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, शान्तिरूप रहता है कभी भी परभावरूप नहीं होता है और चैतन्यस्वभावको भी कभी नहीं छोड़ता है। इस प्रकार जो अपने चतुष्टयको जानता है और परचतुष्टयको जानता है, वही निजस्वरूपको जान सकता है। जब तक वह १ आत्मतत्त्व दृष्टिमें नहीं तब तक अनेक संकल्प विकल्प होते रहते हैं और जब तक संकल्प विकल्प रहेंगे तभी तब यह निरन्तर आकुलतासे दुखी रहेगा। भूतार्थ-नयसे उस १ को जानो तो समझो सबको जान लिया, अन्यथा संसार भरका सारा ज्ञान भी आत्माका कल्याण नहीं कर सकता है। वह सब ज्ञान अज्ञानकी कोटिमें ही सम्मिलित किया जाता है, इसलिये द्रव्य, गुण, पर्यावको यथार्थ जानकर ही आत्मानुभवन किया जा सकता है।

जिन्हें परमार्थका दर्शन नहीं वे व्यवहारसे समझाये जाते हैं। जैसी निरपेक्ष वस्तु है उसका वैसा श्रद्धान करना निश्चयनय है। इसलिये निश्चयनयका ज्ञान कर लेना आव-श्यक है। वैसे दोनों नयोंको प्रयोजनवान बताया है। तब शंकाकार कहता है कि जैन शासन की कैसी ढुलमुल नीति है कि व्यवहारको भी उपादेय बतलाता है और निश्चयको भी उपादेय बताया गया है। सो भैया ! ढुलमुल नीति नहीं है। स्याद्वादमें संदेहको स्थान नहीं। स्याद्वाद पूरा निर्णय कर देता है। वस्तु जिस दृष्टिसे जैसी है उस दृष्टिसे वैसी ही है।

यह जैन शासन ही स्याद्वादके द्वारा झगड़ेको निपटाता है। संयुक्त दृष्टिको व्यवहार और असंयुक्तदृष्टिको निश्चय कहते हैं, इसमें झगड़ा कहां रहा ? अरे जो कुछ दुनियामें भी हम करते हैं वह सब स्याद्वादके आधारसे ही करते हैं। प्रत्येक स्थानपर स्याद्वादका उपयोग हो रहा है। व्यावहारिक जीवनमें भी विना स्याद्वादके काम ही नहीं चल सकता है। विरोध मिटानेके लिए ही स्याद्वाद है।

**अनेकांतकी उपादेयता**—जहाँ अलग-अलग दृष्टिसे वस्तुस्वरूपका कथन किया जाता है वहाँ विरोध कैसा ? एक ही आदमी पिताकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है। ससुरकी अपेक्षा दामाद है और अपने दामादकी अपेक्षा ससुर है। इसमें क्या विरोध आ रहा है ? हाँ, यदि विना अपेक्षाके कथन किया जाता तो अवश्य विरोध आ सकता था। उसी प्रकार आचार्य समझाते हैं कि जहाँ समझनेके लिये व्यवहार उपयोगी, तो समझनेपर वही अनुपयोगी होकर निश्चयनय वहाँ उपयोगी हो जाता है। जैसे नाचने वाला जहाँ नेत्रहीनको अनुपयोगी है तो आँखवालेको वही उपयोगी हो जाता है। व्यवहारनय तो एक संकेत है उसके बलपर चलना पड़ता है, पर उसी संकेतको पकड़कर नहीं रह जाना चाहिये। एक बालकको रत्नका स्वरूप समझानेके लिये काँच दिखाकर समझाया जाता है कि रत्न इस प्रकार होता है, किन्तु कोई मूर्ख उसी कांचको रत्न समझ बैठे तो वह मूर्ख ठगाया ही जायगा। जिस प्रकार बच्चोंको चवन्नी लेनेकी आदत पड़ जाय और उसे चवन्नी से कम दो तो नहीं ले सकता, उसी प्रकार जिसने परमतत्त्वको जान लिया वह फिर व्यवहारमें फंसकर नहीं रह जाता है।

**जीवकी कक्षायें**—जीवकी ५ कक्षायें होती हैं—१–तीव्र मिथ्यादृष्टि, २–भद्र-मिथ्यादृष्टि, ३–सविकल्प अन्तरात्मा, ४–निर्विकल्प अंतरात्मा, ५–परमात्मा। इनमेंसे तीव्र मिथ्यादृष्टि उपदेशका पात्र नहीं है। निर्विकल्प अन्तरात्मा और परमात्मा इनको कुछ समझानेकी आवश्यकता नहीं है। अब रहे भद्रमिथ्यादृष्टि और सविकल्प अंतरात्मा। इनमें से भद्र मिथ्यादृष्टिको व्यवहारसे समझाना चाहिए और सविकल्प अंतरात्माको निश्चयसे समझाना चाहिए। पात्र भेदसे उपदेश भेद है। जिनेन्द्रवचन सब विरोध मिटाने वाले हैं। जिनशासनमें सभी दृष्टियोंसे वर्णन है। दृष्टिवाद अंगसे कुछ बचा नहीं है। ये स्याद्वाद अथवा अपेक्षावाद सभी दृष्टियोंको संभालता है। स्याद्वादसे सब विरोध मिट जाता है, इस स्याद्वाद की कृपासे २ विरोधी तत्त्व भी एक साथ बैठ सकते हैं। जैसे किसी मकानका, सामनेसे, पीछेसे और अगल बगलसे फोटो लिया जाय तो चारों फोटों अलग अलग जंचेगें, पर वे हैं एक ही मकानके। स्याद्वाद उनका निपटारा कर देता है कि यह भी मकानका फोटो, यह भी मकानका फोटो, उसमें किसी प्रकारका कोई विरोध नहीं। जितना समझना, समझाना

है वह सब व्यवहार है। जिनको भी अपने स्वभावकी दृष्टि नहीं जो अपरमभावमें स्थित हैं, वे सब व्यवहारमें स्थित हैं।

कोई कहे कि सम्यग्दृष्टिको बोलना या चर्चा वार्ता नहीं करना चाहिए ? क्योंकि निश्चयका विषय कथन करनेका नहीं। जो जो भी कथन किया जाता है वह तो सब व्यवहार है। यदि सम्यग्दृष्टि चर्चा नहीं करेंगे और मिथ्यादृष्टि वस्तुस्वरूपको जानता नहीं है तब तो मोक्षमार्ग ही रुक जायगा। आचार्य कहते हैं कि भद्र मिथ्यादृष्टिको व्यवहारका उपदेश देकर उसे सन्मार्गपर लाना चाहिए, यदि उसे उपदेश ही बंद कर दिया जाय तो वह परमभावमें कैसे आ सकता है ? क्योंकि अपरम भावमें तो वे ठहरे हुए हैं, उन्हें सन्मार्ग में लानेके लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान है। और भी देखो जितने भी जीव परमभावमें आये थे व आये हैं वे सब भी तो पहिले अपरम भावमें थे उनको भी व्यवहार प्रयोजनवान रहा।

जैन शासनका स्याद्वाद इस विषयमें सुन्दर निर्णय देता है कि शंकाकी कोई गुञ्जाइश ही वहाँ नहीं रह जाती है। इस स्याद्वादपर कोई भी विशेष आक्षेप नहीं उठा सका। कुछ ब्रह्मसूत्रने लिखा है। ब्रह्मसूत्रकर्ताने लिखा है कि १ में अनेक कैसे रह सकते हैं ? पर वे स्याद्वादको समझ ही नहीं सके इसलिये उन्होंने ऐसा लिखा है। यदि एक अपेक्षासे अनेक माने गये होते तो विरोध हो सकता था पर अनेक अपेक्षाओंसे अनेक रहनेमें क्या बाधा है ? इस गोल चौकीके प्रति पूछो कि यह कैसी है तो कोई कहेगा गोल है, कोई कहेगा इतनी ऊंची, कोई कहेगा इतनी मोटी हैं, कुछ व्यासवाली बतलायेगा, देखो एक चौकीमें ये सब गुण मौजूद हैं। वह लम्बी भी है, चौड़ी भी है, काली भी है, ऊंची भी है आदि। १ चौकीमें अनेक अपेक्षाओंसे अनेक धर्म बतलानेसे कोई बाधा नहीं आती है। आत्मामें भी द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य, द्रव्यकी अपेक्षा एक और गुण तथा पर्यायकी अपेक्षा अनेकके कहनेमें कोई बाधा नहीं आती है। स्यात् शब्दका अर्थ ही अपेक्षा है। द्रव्य सत् है तो गुण सत् नहीं, गुण सदृश हैं, सत्के अंश है, एक समयकी पर्यायका दूसरे समयमें सद्भाव नहीं है। मनुष्य पर्याय मिटी, देव हो गया। देव मिटा मनुष्य हो गया, इसलिये पर्याय भी सत् नहीं है सत् अंश है। यह स्याद्वाद जैनशासनका ट्रेड मार्क है, यह ट्रेडमार्क जहां लगा हो समझो वह सत्य कथन है। वह सच्ची दुकान है वहाँसे सौदा खरीद सकते हो। जिस प्रकार किसी विश्वस्त कंपनीका ट्रेडमार्क ही विश्वासके लिये काफी होता है, उसी प्रकार यह जैनशासनका ट्रेडमार्का है। इसके रहते हुए कहीं कभी कोई विरोध नहीं आ सकता है। ये सब विरोधोंको समाप्त कर देने वाला अमोघ शस्त्र है। जैन धर्मका कोई भी शास्त्र उठालो उसमें यह ट्रेडमार्क लगा हुआ मिलेगा। इसलिए कोई

विरोध नहीं आता है ।

**द्रव्य अहेतुक है**—सम्यग्दृष्टि मोहका वमन कर देता है तभी वह सुखी रहता है । देखो आचार्योंने परम कृपा करके हमें मिथ्यात्वके नाशका उपाय बतलाया है । बाकी अन्य क्रियाएँ तो अन्य धर्मोंमें भी मिल जायेंगी । दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य वगैरहका उपदेश सभी धर्मोंमें दिया है । एक मिथ्यात्वके नाशका जैनधर्ममें ही प्रधानतया उपदेश दिया है, यही इस धर्मकी विशेषता है । प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परके द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टयसे नहीं है । सिद्धान्त ग्रंथमें बताया है कि १ परमाणु २ अंश अधिक वाले परमाणुसे बंध जाता है, वे दोनों स्कंध और पर्यायकी दृष्टिसे बंध गये, पर द्रव्य की दृष्टिसे नहीं बंधे । संयोगकी दृष्टिसे दो द्रव्य बद्ध कहला सकते है, पर द्रव्यदृष्टिसे दोनों अबद्ध हैं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी भी होता ही नहीं है । स्निग्धका रुक्षके साथ बंध हो गया, किन्तु एकने दूसरेको नहीं परिणमाया । शरीर भी कई परमाणुओंका पिण्ड है, उसमें १-१ परमाणुका अपना अलग परिणमन है । एक परमाणु भी कभी दूसरे परमाणु रूप नहीं होता है । यह स्वतंत्रताकी दृष्टि जैन शासनकी देन है । जिस भोजनको हम खाते हैं वह सत् नहीं है, उसमें १-१ परमाणु सत् है । इस प्रकार व्यवहारमें व्यवहार सत् है और निश्चय सत् है । इन दोनोंमें उपयोगी कौन है ? यह आपका अनुभव बतायेगा । इन दोनों नयोंका ठीक ठीक ज्ञान होने पर आप असली तत्त्वको जान सकेंगे ।

**चैतन्य सामान्यात्मक समयसार**—मुमुक्षु जल्दी ही ज्योंका त्यों समयके सारको अर्थात् आत्माके स्वभावको जान लेते हैं । वह समयसार ही उत्कृष्ट ज्योति है । सब पर्यायों में रहने वाला, निरपेक्ष, शुद्ध, निगोद और सिद्धोंमें सदा रहने वाला वह समयसार नया नहीं है । जितने पुराने आप है उतना ही पुराना वह आपमें चला आ रहा है । लोग कहते होंगे कि ये कुछ नई सी बात है पर ये बात कैसी नई हो सकती है । उस उत्कृष्ट समयसार के शुद्धपरिणमनमें सिद्ध भगवान क्रीडा कर रहे हैं । मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वमें खेल रहे हैं. सम्यग्दृष्टि जिनवचन और आत्मश्रद्धामें खेल रहे हैं । कोई धर्मचर्चामें खेल रहा है, कोई विषय कषायोंमें खेल रहा है, इस प्रकार खेल तो सभी रहे है और आनंद मना रहे हैं । किन्तु इन खेलोंमें बडा अन्तर है । जब तक अपनी गोकुलसे मथुरा न्यारी नहीं बसती तब तक मनुष्य पर्यायकी कोई भी सार्थकता नहीं है । अपने उस चैतन्य स्वभावको देखो तो सब अवगुण और विकार अपने आप नष्ट हो जायेंगे । जिस प्रकार भक्तामरमें कहा है—'दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितासि ।" हे भगवन् ! दोषों को जगह जगह स्थान मिल जानेसे वे आपकी तरफ देख भी न सके । और गुणोंको कहीं स्थान न मिल सकने के कारण वे सब आपके पास आकर इकट्ठे हो गये । इसमें कोई

आश्चर्यकी बात नहीं है। इसी प्रकार अन्तर्ज्ञानका गुण आ जानेके कारण सब गुण अपने आप आ जाते हैं।

**स्याद्वादके दर्शन**—जब आत्मानुभव होता है तब वहाँ अनुमान, प्रमाण, नयनिक्षेप का प्रदेश नहीं। किन्तु जब तक किसी निर्णयपर नहीं पहुंच जाते तब तक यद्यपि ये इस प्रकार हैं, तथापि इस प्रकार भी है कहना ही पड़ेगा। इस यद्यपि और तथापिके बिना कभी भी किसी पदार्थको पूरा समझ नहीं सकते हो। कोई पूछने लगे कि ये आत्मा कैसा है? तो कहना पड़ेगा कि यद्यपि सदा रहने वाला है, अजर अमर है, तथापि पर्यायसे प्रतिसमय नाशवान है। कोई पूछे इसका स्वभाव कैसा है तो कहना पड़ेगा कि ये ध्रुव चैतन्य स्वभाव रूप है, यद्यपि इस समय क्रोध मान माया रूप विकारी बन रहा है। वस्तुका स्वभाव अवक्तव्य है क्योंकि उसे कहकर नहीं बताया जा सकता है, किन्तु फिर भी यदि समझाना ही पड़ता है तो उस समय उसे दोनों नयोंका ज्ञान आवश्यक है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि परमभाव और अपरमभाव दोनोंको जानता है परन्तु लक्ष्य बनाता है वह परम भावका। सम्यग्दृष्टि खोटे भावोंमें रहता नहीं है किन्तु उसे गुजरना पड़ता है। वह शुभ भावोंमें भी नहीं ठहरता किन्तु गुजरना उन्हींमें से पड़ता है।

**व्यवहारकी कृपा**—पहली अवस्थामें व्यवहारनय हस्तावलम्बनकी तरह है। देखो ना! तुम सबको जन्मसे ही ये सब ज्ञान थोड़े ही था। माता पिताकी कृपासे पहिले स्कूलमें पढ़ा, फिर और आगे पढ़े. सभी तरहकी तुम्हें सुविधायें दीं, सिखाया, समझाया तभी तो अब आकर इस योग्य हुए कि अब सब कुछ समझ सकते हो। अपने लक्ष्मपर जानेको जहाँ पहिला कदम रखा, वह छोड़ना पड़ेगा, व्यवहारकी कृपासे ही पहिली अवस्थामें प्रवेश मिलता है। देखो मुझे भी कुछ थोड़ी ज्ञानकी दृष्टि मिली वह यदि चिरोंजाबाई सावसे सम्बन्ध न होता तो बड़े वर्णी जी से कैसे सम्पर्क बढ़ता? देखो १ बार छुट्टियोंमें घर-पहुंचा तो वहाँ विचार हुआ कि अब पढ़नेको नहीं जाना है, माताजी ने भी सम्मति दे दी, किन्तु सागर विद्यालयकी तरफसे एक नोटिस पहुंच गया कि यदि पढ़नेको नहीं आना है तो अब तक जितने दिन पाठशालामें रहे, उतने दिन तकका पूरा मय पढ़ाईके खर्चा वसूल किया जायेगा, तो पाठशालामें पढ़नेको जाना पड़ा, क्योंकि जानेमें खास हानि नहीं दिखाई दी, खर्चा ही क्यों सारा दिया जावे। एक बार फिर नहीं जा रहे थे तो फिर वही नोटिस आ गया, फिर भी जाना पड़ा और कुछ पढ़ लिख सका। इसके आगे भी मेरे संस्कार प्रारम्भसे ही एकान्त में रहनेके बने हैं। एक २५-२६ वर्षकी उम्रमें समयसार पढ़ा तो बड़ा प्रिय लगा! इसी संस्कारवश आगे विवाह न करनेका नियम ले लिया। इस प्रकार अनेक व्यवहारोंकी कृपा से यहां तक आया हूँ। अपना लक्ष्य शुद्ध रखे तो व्यवहार हेय नहीं है! यदि ये दृढ़ श्रद्धा हो

कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता, यह श्रद्धा बनाकर चलो। व्यवहारमें सब कुछ करते जाओ तो भला ही भला है। देखो व्यवहार सरीखा परोपकारी कोई नहीं कि खुद तो मर जाता है और दूसरोंका भला करता है। अर्थात् निश्चय पर पहुंचनेपर व्यवहार तो अपने आप छूट ही जाता है। पर आजकल कोई व्यवहारको सर्वथा हेय समझते हैं। पर भला होता है व्यवहारसे, व्यवहार न हो तो तीर्थ नष्ट हो जाय, जिन्होंने व्यवहारको साधन और निश्चयको साध्य बनाया वही व्यक्ति कल्याण कर सकता है।

मानव जन्मकी सार्थकता—मुमुक्षुमें ज्ञान सीखनेके लिये सबसे पहिले विनय होना चाहिये। बिना विनयके कभी विद्या नहीं आ सकती है। संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियोंका और हमारा बड़ा सौभाग्य रहा है कि प्रारम्भसे ही विनयकी शिक्षा और संस्कार डाले गये हैं। आज भी जो कुछ बड़े वर्णीजी कहें मुझे शिरोधार्य करना पड़ता है। कभी कुछ कठिनाई भी हो तो वर्णीजी स्वयं उसे सम्हाल लेते हैं। आज तक कभी उत्तर देनेका अवसर नहीं आया। सबकी यही भावना रहना चाहिये कि अपनेसे बड़ोंके प्रति मेरी विनय बनी रहे। आजकी प्रचलित अन्य भाषाओंके पढ़ने वाले विद्यार्थियोंमें विनय नहीं देखा जाता है। विनयमें कल्याणभावना प्रकट होती है। लक्ष्मी आवे या जावे, जीवन रहे या जावे, पर मुझे अपने स्वभावकी दृष्टि प्राप्त हो जाये, इस प्रकारकी भावना जागृत होगी तभी एक दिन अवश्य उस स्वानुभवकी दृष्टि प्राप्त हो सकती है।

अपनेको कभी छोटा मत समझो, तुम भी तो वही हो जो सिद्ध परमात्मा है, अखंड अनंत गुणोंके भण्डार। फिर क्यों अपनेको इतना तुच्छ समझते हो ? राजा हो या रंक, विद्वान हो या मूर्ख एक दिन आखिर सबको मरना तो पड़ता ही है, फिर नया जन्म भी लेना पड़ेगा, इस जीवनमें भी अन्य जन्मोंकी तरह विषय कषायमें फंसे रहे तो उसका प्रतिफल अगले जन्ममें क्या होगा ? वही फल होगा जो प्रत्यक्षमें अन्य दुखी जीवोंको देख रहे हो अथवा जो अभी तक शास्त्रोंमें नरक निगोदका कथानक सुनते रहे हो जिनके दुःख श्रवणमात्रसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं वह दुःख और किनको सुरक्षित रखा गया है। उमास्वामिने लिखा है—बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। अर्थात् बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहका फल नरकायु है। पापके फलमें देर हो सकती है पर अंधेर नहीं हो सकता है। हां, जैनधर्ममें निमित्तमात्रकी दृष्टिमें कर्म फल देता है, इसलिये यहां जो कुछ किया तत्काल उसका कर्मबंध रूप फल मिल गया। यदि कहीं ईश्वर फल देता होता तो देर फिर भी हो सकती थी पर यहाँ कर्मका ऐसा निमित्तनैमित्तिक संबंध है कि यहां कषाय की और वहां कर्मबंध हुआ। इसलिये जब मरना ही है तब ऐसी भावना करो कि वीर मरण हो, कहीं साधु सन्तोंके समागममें पवित्र स्थानपर सल्लेखनापूर्वक मरण हो। आजकल तो लोग कहते

हैं कि अरे उसे घरवालोंकी लकड़ी नहीं मिली, यहां आचार्य कहते हैं कि जहां जन्म होता है उसी समय संस्कार कराते समय उपदेश दिया जाता है कि 'समाधिमरणं भवतु' अर्थात् तुम्हारा समाधिमरण हो, आजके कुछ लोग उसे भले अपशकुन समझते हों पर मानव-जीवनकी सफलता उसी पर निर्भर है। अन्यथा इस तरह कुमौत मरते हुए तो अनंत भव बीत गये। मोह ममता कर करके तो अनेक चल बसे और अपनी हंसीको करतूत भी बता गये। कई व्यक्ति तो अपने मरण भोजका भी प्रबन्ध कर जाते हैं। इस मरणभोजकी प्रथा इसलिये चली थी कि प्रतिदिन दान देने वाला श्रावक १२ दिन तक पात्रदान नहीं कर सकता, इसलिये १३ वें दिन पात्रको दान देकर अपना अहोभाग्य मानता था और कुछ साधर्मी बन्धुओंको भी इसी खुशीमें भोजन करा देते थे। इसलिये तेरहवींका अधिकार उसी व्यक्तिको है जिसका चौका रोज लगता है, रोज पात्रदान जो करता है, पर आज तो वह रूढ़ि बन गई। इसलिये मरण समय कोई कुबुद्धि न हो, हमेशा ऐसी भावना हो कि मरण घरमें न होकर किसी शुभ स्थान किसी सन्तसमागममें हो, तभी भविष्य सुधर सकता है।

**आचार्योंकी कृपा**—इस तरह व्यवहारनय प्रथम अवस्थामें हस्तावलम्बनकी तरह है। आचार्योंको यद्यपि इस बातका खेद होता है कि मुझे स्वभाव दृष्टिको छोड़कर क्यों व्यवहारमें फंसना पड़ता है। क्योंकि किसीको समझाना आदि कार्य सब पागलपनकी चेष्टा है। वे तो चाहते हैं कि मैं उत्कृष्ट तत्त्व निजानुभवको देखता रहूं। समस्त बाह्य पदार्थोंसे मुख मोड़कर अपने आपको जानता रहूँ। उन्हें ये व्यवहारनय कुछ भी उपयोगी नहीं है। नीचेसे ऊपर आनेको सीढ़ी उपयोगी होती है किन्तु ऊपर आ जाने पर फिर क्यों सीढ़ीका उपयोग है ? दूसरी मंजिलपर आनेको सीढ़ियाँ उपयोगी अवश्य हैं किन्तु वह ऊपर जाने वाला व्यक्ति ये श्रद्धान पहिलेसे ही रखता है कि सीढ़ियाँ छोड़नेपर ही चढ़ी जायगी। वह सीढ़ियोंपर चढ़कर यदि वे सुन्दर संगमर्मरकी हैं तो उन्हींको पकड़कर नहीं रह जाता है। पैर रखा और छोड़ा, एक सीढ़ीके बाद दूसरी, तीसरी सीढ़ी चढ़ता जाता है और छोड़ता जाता है। इसी प्रकार व्यवहारनय आगे निश्चयनयकी प्राप्तिके लिये ग्रहण किया जाता है। निश्चयकी दृष्टि आनेपर फिर व्यवहारकी कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा बनाने पर ही अपनेको शांतिका अनुभव होता है, शांतिका दूसरा उपाय कुछ भी नहीं है। यह व्यवहार साधन रूपकी चर्चाका है।

**वास्तवमें व्यवहार तो सदा ही रहता**—व्यवहार परिणमन है। परिणमन वस्तुमें सदा रहता है। जो विवेकी आत्मा स्वभावदृष्टिके अवलम्बनके प्रसादसे जो निश्चयनयके विषयभूत आत्मस्वभावका लक्ष्य करते हैं वह लक्ष्य करना भी तो व्यवहार है। हां, इस व्यवहारमें विषय निश्चयका है। तो देखो निश्चय तो विषय रूपसे है और व्यवहारसे काम

हो रहा है। परन्तु इस व्यवहारका यहाँ विवेक नहीं किया जा रहा है। भिन्न समयवर्ती व्यवहार और निश्चयकी पद्धतिकी चर्चा है।

**अनेकमें एकके दर्शन**—एकत्वमें नियत और व्याप्त पूर्ण ज्ञानघन आत्माका दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। वस्तुकी परीक्षा ४ प्रकारसे होती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टयसे। यदि प्रत्येक वस्तुका चतुष्टय समझमें आ जावे तो शीघ्र ही वस्तुका स्वरूप समझमें आ जाये। सम्पूर्ण पदार्थोंमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव मौजूद है। किन्तु प्रत्येक द्रव्यका चतुष्टय उसी द्रव्यमें है, एक द्रव्यका चतुष्टय अन्य द्रव्यमें नहीं है। जैसे आत्माका द्रव्य क्षेत्र काल भाव आत्मामें ही है। आत्मासे बाहर किसी अन्य पदार्थमें नहीं है। इसी तरह अन्य द्रव्यका चतुष्टय उसमें ही है उस द्रव्यसे बाहर नहीं है। एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका अत्यंताभाव है, एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका लगाव नहीं है। उस अखंड १ द्रव्यको देखना सम्यग्दर्शन का कारण है। जीवोंको अनादिकालसे अनेकका परिचय है, अनेकमें उस १ का परिचय नहीं है। सामने जो भी सब स्कंध दिख रहा है वह १ द्रव्य नहीं वह नाना द्रव्योंका समुदाय है। एक एक अणु ऐसे अनेक अणु मिलकर स्कंध बना है। जिस प्रकार एक एक तोला मिलकर १ मन हो जाता है इसी प्रकार एक एक परमाणु द्रव्य है। इस प्रकार जो १ को नहीं जानता वह सबको भी नहीं जान सकता है। अनेकके संयोगको जो १ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, मोही है।

**परमें स्वत्वकी मान्यता ही विषपान है**—यह धन कुटुम्ब परिवार मेरा है यह मानना तो और भी महामिथ्यात्व है। इससे ही सारे दुःख होते हैं। यही मान्यता विपत्तिका घर है। यह मिथ्यादृष्टि इन्द्रियोंसे देखकर ही जो सामने दिखता है उसीको पदार्थ मान लेता है, पदार्थका निर्णय करता है। उसीमें संबंधकी बुद्धि कर लेता है। परपदार्थोंसे अपनेमें सुख दुःख मानता है। वह नहीं समझता कि मेरा सुख दुःख मुझपर निर्भर है। मेरा परिणमन कोई भी दूसरा नहीं कर सकता है।

**प्रत्येक द्रव्य स्वाश्रित है**—देखो तो क्या एक पदार्थका कुछ भी दूसरेमें मिला है। एक द्रव्यसे बाहर उसका कुछ भी अंश नहीं है। सिद्ध जीव अनंतानंत एकत्र रहते हैं, किन्तु क्या एक सिद्ध दूसरे सिद्धरूप हो सकता है? कभी नहीं। अपनी आत्मामें भी अनंत आत्माएं दूसरी निगोदिया जीवोंकी हैं पर उन सबकी अपनी अपनी आत्माएं अलग अलग हैं। कभी भी एक रूप नहीं हो सकती है। इस लोकमें कार्माणवर्गणाएं, आहारवर्गणाएं, तैजस वर्गणाएं, भाषावर्गणा आदि कितनी तरहकी वर्गणायें भरी पड़ी हैं किन्तु वे भी अभी एक दूसरे रूपमें बदलकर नहीं हो सकती हैं। देखो परखो सभी द्रव्य अपने अपने द्रव्य क्षेत्रमें रहते हैं। लोग कहते हैं मैं आकाशमें रहता हूँ या जबलपुरमें रहता हूँ, किन्तु ये सब व्यव-

हार कथन है। प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें रहता है, कोई किसीके आधारसे नहीं रहता है। आत्मा आत्माके आधारसे, पुद्गल अपने आधारसे रहता है। अंतर्दृष्टिसे देखो तो सब द्रव्य स्वतंत्र दिखेंगे, इन चर्मचक्षुओंसे सब मिले हुए दिखते हैं।

**पर्यायदृष्टि वाला भी पर्यायमात्र नहीं**—अरे जब एक क्षेत्रावगाही शरीर भी इस आत्मासे पृथक् है तब इन बाह्य पदार्थोंमें कैसे एकता हो सकती है? इससे यह निश्चित हुआ कि सभी सत् अपनी अपनी सत्ता रखते हैं, कोई किसीसे मिलकर एक नहीं हो सकता है। जिनको हम अपना परम आराध्य मानते हैं वह भगवान भी हमसे पृथक् सत् है। इसलिये इन अनेकमें से एकको दृष्टि सम्यग्दर्शन है। वस्तु तो सब १-१ हैं उनको हर दृष्टिसे समझना है। द्रव्यमें कालकृत क्षेत्रकृत भावकृत कोई भेद नहीं है। जिन जीवोंको स्वभावका बोध नहीं वे विशेषकी दृष्टिसे समझते हैं। फिर पर्यायदृष्टिसे अपनेको देखनेवाला कहां तक कल्याण पथपर पर जा सकता है, यह सोचनेकी बात है। हमारे लिये बड़ा भारी ये कलंक है कि मैं मनुष्य हूं, अमुक जातिका हूँ इत्यादि सब पर्यायदृष्टियां होती हैं। ज्ञानी इन सब पर्यायोंमें उस अपने १ तत्त्वको देख लेता है, जो व्यक्ति इन इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त न होकर उनके आधीन बना रहता है, वह तो विषयकषायोंकी गलियोंमें ही दौड़ता रहेगा, उसे पथ मिलना मुश्किल है। वह इन्द्रियोंकी विषयोंकी पूर्तिमें जो धन वगैरह सहायक होता है, उसीमें गहरा ममत्व करने लगता है। उनका वियोग हुआ तो दुःखी हो जाता है। पहिले इन्द्रिय विषयोंकी पूर्तिमें आकुलित रहता है, बादके वियोगमें दुखी होता है। इस तरह इस विषय कषायके पथमें कभी सुख या निराकुलताका अनुभव नहीं कर पाता है। निरन्तर दुखी बना रहता है। इन इन्द्रिय विषयोंसे एक बार हटकर सत्याग्रह तो करो, सब इन्द्रियोंकी गुलामी नष्ट हो जायगी। फिर आँख, नाक, कानका उपयोग ही नही रहेगा। फिर अपना उपयोग आत्मामें ही रहेगा, अन्यत्र कहीं नहीं। इस तरह अपने आधारसे अपनेको जानना यही सम्यग्दर्शन है।

**आत्माके एकत्वकी दृष्टि**—यह आत्मा व्यापक बतलाया है पर कितनेमें व्यापक है, जितना आत्माका आकार प्रकार है। आत्मासे बाहर आत्माकी व्यापकता नहीं है। किन्तु जहाँ आत्माकी सीमाका भी ध्यान नहीं, वह परिस्थिति उत्पन्न करो। जहाँपर नय, निक्षेप प्रमाण और गुणभेदका भी प्रवेश नहीं वहीं सम्यग्दर्शनका अनुभव होता है। यहांपर अरहन्त भगवान और सिद्धभगवान भी परद्रव्य हो जाते हैं। वहां पर यह कारण परमात्मा कार्यपरमात्मा बननेके पथ पर चल देता है। वहां ज्ञानमें ज्ञान स्थिर हो जाता है, तब सारा अज्ञान ज्ञान होकर पूर्ण ज्ञानरूप हो जाता है।

जो हम भेददृष्टिसे देखेंगे तो आत्मामें सिर्फ १ चैतन्यमात्र अपना स्वरूप दिखेगा।

गुणोंमें भेद सिर्फ समझने के लिये है आत्मा तो १ अभेद रूप एवं अखण्ड है। गुणोंमें भेद करनेसे तो आत्माके भी खंड करना पड़ेंगे। अनुभव करने पर आत्मा तो प्रतिभास मात्र है। वह अनुभवगम्य है। इन्द्रियों या मनके द्वारा उसका प्रतिभास नहीं हो सकता है। वहाँ पर जानने वाला और जानने योग्य अथवा जिससे जानते हैं--इन तीनोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है, तीनों कर्ता कर्म क्रिया एक हो जाते हैं। अपनेको, अपने द्वारा स्वयं आप जानने लगता है, वहीं पर स्वानुभूति प्रगट होती है।

इतना अनुभव सभीको है कि उपयोग जितना जब तक घूमेगा तब तक विकल्प होंगे। जितने विकल्प बुद्धिमें आते उतना क्षोभ करना व सुखका घात करना है। विकल्प करनेमें न आवे, उसका उपाय आध्यात्मका मनन है। विकल्प न आयें ऐसा प्रयत्न अध्यात्म है। भूतार्थनयसे तत्त्व क्या सारी दुनियां जाननेमें आवे तो ऐसा ज्ञाता विकल्पोंसे परे हो जाता है। शान्तिको क्या करना ? उपयोयमें जो परिवर्तित विचार आते वे स्वस्थ्य हो जावें उपयोग स्वमें स्थिर जम जाय तो उपयोग न बदले। कुछ पर्यायोंपर ही दृष्टि जाती, वे हैं विनाशीक सो वे बदलें तो दुखी हो जाते। जाननेका विषय भी अध्रुव, अध्रुवका विषय भी अध्रुव। खराब पदार्थको भी जानो पर उसमें भी उपयोग स्थिर रह जाय, सो नहीं होता। जो जैसा उपयोग करता उसीसे वह वैसा सुखी दुखी है। भूतार्थसे कैसा जाना जाय पदार्थ कि सम्यग्दर्शन हो जाय, इसे जानो।

अब द्रव्य गुण पर्याय तीनोंसे देखो। पर्याय विनाशीक है। अध्रुव दशा यदि है तो कह दो कि पर्याय है, किन्तु जिस शक्तिका पर्याय है वह शक्ति त्रिकाल है। दशाका आधार कोई ध्रुव शक्ति है। जैसे क्रोध मान माया लोभ आदि पर्यायें है उनका आधारभूत कोई शक्ति है। चौकीमें रूप है रस है गंध है स्पर्श है चार चीजें हैं। क्या ये रस आदि रहेंगे निरन्तर ? नहीं। निरन्तर बदलते हैं जैसे काला पीला आदि पर्यायें हैं इनका आधार भी एक शक्ति है वह है गुण। रूप गुण त्रिकाल है। खट्टा मीठा पर्याय रस गुणकी पर्याय है। इसी तरह गंधकी पर्याय दो हैं उनका आधारभूत गंध गुण है। ये गुण नहीं बदलते ये पर्यायें बदलती रहो। गुण हमेशा रहते। पर्याय बदलती रहती है। दुर्गन्ध पर्याय किनकी ? गंध गुणकी, इसी तरह अन्य गुणकी पर्यायें जानें। आत्माके ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियां हैं। ज्ञानकी पर्यायें कुमति कुश्रुत ज्ञान आदि हैं। दर्शनकी पर्याय है चक्षुदर्शनादि। मिथ्या दर्शन श्रद्धा गुणकी पर्याय है। राग चरित्र गुणकी पर्याय है। ये पर्याय जानना और उनका आधारभूत गुण जानना। ये मनुष्य क्या है ? पर्याय है। असमानजातीय द्रव्यपर्याय, अनेक द्रव्योंका मिलकर १ पिण्ड पर्याय है। आश्रव दो प्रकारके है—जीवाश्रव, अजीवाश्रव। जीवाश्रवके अनेक भेद हैं—मिथ्यात्व कषाय योग आदि। राग चारित्रकी पर्याय है सम्यग-

दर्शन श्रद्धा गुणकी पर्याय है।

**भूतार्थनयसे क्या ज्ञान करना**—पुद्गलका काला रूप है, काला किसकी पर्याय है ? रूप गुणकी पर्याय है। जिसकी पर्याय है उस गुणको जाननेमें मुख्यतया लग जाय। रूपगुण किसका अभिन्नगुण है ? पुद्गलका अभिन्न गुण है। अब लो, द्रव्यपर दृष्टि गई। द्रव्यदृष्टि होनेपर विकल्प कहाँ रहा, आत्मामें जीवास्रव रागादि हैं। प्रश्न करो राग किसकी पर्याय ? चारित्र गुणकी, चारित्र गुण किसका अभिन्न गुण है ? उत्तर—आत्माकी शक्ति है। गुणभेद मिटा दो तो उपयोग ध्रुवपर पहुंचेगा। विकल्प ऐसी जगह नष्ट हुये। भूतार्थनय ऐसी जगह नेताको पहुंचाता है जहाँ उपयोग स्थिर हो जाय। शांतिके अर्थ उपयोग स्थिर करो। दशा से लगाव न रखकर अपनेपर दृष्टि करो। पर्यायपर दृष्टि गई, सब विकल्पमें अनुकूल व प्रतिकूल। स्वभाव दर्शन, कारणपरमात्माका विश्वास ज्ञान उपयोग इस जीवका भला कर सकता है। कुछ भी गुजरो पर उसके ज्ञाता ही रहो, शान्ति, निश्चयस्वभाव, परिणाम व्यवहार। स्वभावका अवलोकन लक्ष्य निश्चय हो तो कहीं भी रहो स्वभावका उपयोग हो जाय तो निराकुलता मिलती है। ये पर्याय मैं नहीं, पर्याय गुजरनेको आते हैं, मैं बाह्यमें कुछ नहीं कर सकता हूँ, एक मैं हूं परिणमता रहता हूँ, बाह्यमें बुद्धि होनेसे पर्यायबुद्धि रहती है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, अखण्ड है, एक दूसरेमें कुछ नहीं कर सकता। मैं कुछ भी बाहर नहीं कर पाता, परको जानता भी नहीं, आपको अपने परिणमनसे जानता हूँ। ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता तो मालूम पड़ता कि मैं ज्ञेयको जानता हूँ। दर्पणमें क्या आप अपनी आँख देख रहे ? अपनी आँखका प्रतिबिम्ब देख रहे। इसी प्रकार अपने ज्ञानके परिणमनको जानते हो उसमें ऐसा ज्ञेयाकार बना, तब कहते हैं फलानेको जानते हैं। जाननेका सम्बन्ध भी वस्तुतः परपदार्थमें नहीं है। एकका किसी भी अन्य एकसे सम्बंध नहीं हो सकता सो निज ध्रुवको जानो। सब जगह एकत्वको जान लेना। ज्ञेयाकार वह भी मैं नहीं हूं वह भी पर्याय है। पर्यायसे दृष्टि हटावो तो कुछ भी हो एकत्व स्वभावपर आत्मा जा सकता है।

राग किया वह राग मैं नहीं, जिससे राग हुआ वह मैं नहीं। जाननेको भी देख लेना कि मैं ये कुछ नहीं। राग किसकी पर्याय है ? चरित्र गुणकी। यह गुण किसका ? आत्माका। देखो अभूतार्थसे हटा भूतार्थपर आया। श्रुतज्ञान किसकी पर्याय ? ज्ञान गुणकी। ज्ञानगुण किसका ? आत्माका। भेदसे हटना अभेदमें पहुंचना। सुख किसकी पर्याय ? आनंद गुणकी। आनन्द गुण किसका है ? आत्माका।

**अभेदकी ओर ढलना सो भूतार्थसरणी है**—जितने भी स्कन्ध हैं वे अभेद वस्तु नहीं हैं, अभेद अनेक वस्तुओंके पिण्ड हैं। उनमें पहिले तो भेद करके भिन्न-भिन्न एक वस्तुको (परमाणुको) देखना, फिर अभेद वस्तुका उपभोग करना। इतनेपर भी शुद्ध अभेद न आवे

तो उसमें भी जो गुणपर्यायभेद व गुणभेद हैं उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। इसी प्रकार जो आत्मा भी आज किसी गति इन्द्रियादि दशामें है व परिवार मित्र आदिके स्नेह आदिकी अवस्थामें है उस आत्माको अन्य आत्माओंसे व देहादिकसे भिन्न ग्रहण करना। इतनेपर भी शुद्ध अभेद न आवे तो एक उस आत्मामें या निज आत्मामें जो गुणपर्यायभेद हैं व गुणभेद हैं उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूं, एक चित्स्वभावमात्र हूं—इस प्रकार पर्यायभेद व गुणभेदसे परे चैतन्यशक्तिमात्र अपने आपकी ओर ढलना सो भूतार्थसरणी है।

कल द्रव्य क्षेत्र कालादिकी अपेक्षा आत्माके सहज शुद्ध स्वभावका वर्णन किया था। उस त्रिकालवर्ती सहज शुद्ध स्वभावकी दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। वह स्वानुभव क्या है? यह कहा नहीं जा सकता है। गुण पृथक् पृथक् नहीं हैं, समझनेके लिये उनमें भेद कर लिये जाते हैं। जिज्ञासुकी जिज्ञासाके अनुरूप जिस तरह समझता है समझा दिया जाता है। आत्मा तो १ अखंड द्रव्य है। उसमें कुछ टुकड़े मत समझना। यह स्वभावकी दृष्टि इतनी सरल और सहज है कि उसे पानेको किसी भी पराश्रयकी आवश्यकता नहीं है।

**अपनी ओर दृष्टि देना है और उसमें से अपनेको ही पाना है**—मनुष्य ज्ञान विज्ञान कितना पढ़ जाय, किन्तु आत्मज्ञानके बिना वह सब व्यर्थ है। उसी स्वभावका परिचय कराने के लिये ये ७ तत्त्व बतलाये गये है। इन ७ तत्त्वोंका ज्ञान तो सभीको हो जाता है, उसकी बारीकसे बारीक भी चर्चा मनुष्य कर सकता है किन्तु उन ७ तत्त्वोंके द्वारा अपने उस निज नाथको नहीं ढूंढ़ सकता है। ये चर्चा वार्ता तो बन्दरोंकी छलांग हैं। जितनी चाहे ऊँची भरते रहो। जिस प्रकार किसी किसी रामायणमें कथानक आता है कि बन्दरोंने सीताको लाने के लिये समुद्र पार कर लिया था। पर समुद्र तो पार कर लिया था किन्तु उन बंदरोंको उस समुद्रमें भरे हुए रत्नोंका क्या पता? इसी प्रकार सब शास्त्रोंका ज्ञान पाया किन्तु आत्मज्ञानके बिना वह सब व्यर्थ है। धर्म कार्य करते हुए भी जो क्रोधादि कषाय रहता है वह उस धर्मके मर्म न समझनेका फल है। धर्म कर रहे है और क्रोध आ जाता है। मान और दिखावटीपन अधिक रहता है वह सब इसी मर्मको न समझनेका परिणाम है। ये दिखने वाले पदार्थ ध्रुव तत्त्व नहीं, सबका एक दिन नाश होनेका है। जो भी समागम मिला एक दिन सबका वियोग होगा। यह इस विनाशशील पर्यायमें आत्मबुद्धि करके अपने गुणों को नष्ट कर देता है।

**आजके मानवका लक्ष्य**—जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्यः जीव पृथक् और पुद्गल पृथक् है। ये कथन बहुत स्थूल है, इसके मर्मको समझनेमें लिये द्रव्य गुण पर्यायको समझना पड़ेगा और उसमें भी भूतार्थ दृष्टिसे समझेंगे तभी उसमें से निज तत्त्वकी खोज कर सकेंगे। आज

का मनुष्य अपना कुछ ध्येय ही नहीं बना पाता है कि उसे क्या करना है ? कहाँ जाना है ? उसका अपना अंतिम लक्ष्य क्या है ? उसका तो अपना लक्ष्य है कि घर गृहस्थी बढ़ जाय, दुकानदारी बढ़ जाय, कीर्ति और बड़प्पन फैल जाय, किन्तु ये सभी काम पराश्रित हैं, पुण्य कर्मके आधीन हैं। अपने वशका काम नहीं है, पराधीन है। उसके पीछे हम लोग पड़े हुए हैं। धनका अधिकसे अधिक संग्रह ही हमारा लक्ष्य है, जो कि आत्मासे अत्यंताभाव वाली वस्तु है। इससे आत्माका क्या भला हो सकता है ?

**स्वरूप दर्शन बिना सब दुखी**—अपना स्वभाव ज्ञानमात्र है, स्वभावका दर्शन सम्यग्दर्शन है। अनेक संयोगी चीजोंको एक मानना अज्ञान है, अनेकको अनेक रूप मानना और उस अनेकमें से अपनी एककी खोज कर लेना सम्यग्ज्ञान है। इस अपने स्वभावकी खोजके बिना जीव बस पुण्य पापमें उलझा रहता है और इनको ही अपना रूप समझकर अनंत संसारमें घूमता रहता है। इस मनुष्यके मनमें भी अपनी समझ नहीं आई तो यह पर्याय भी व्यर्थ चली जायगी। आगे दूसरी पर्यायें देखो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवोंको देखो, क्या कीमत है ? जूतेके नालसे भी उनकी कम कीमत है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें पशुओंको देखो कितने दुखी हैं, इन सबके बाद मनुष्योंको भी देखो—क्रोध मान आदि कषायके वशमें निरंतर खुद दुखी और दूसरोंको भी दुखी करते हैं, किसीसे विरोध हो गया तो छुरी मारकर दम निकाल देते हैं आदि अनेक दुःख लगे हुए हैं। बिना अपने एक स्वभावके जाने कभी भी यह जीव सुखी नहीं हो सकता है। सोचो आज तुम कुछ धनी बन गये तो मान क्यों करते हो ? क्या कभी तुम ऐसे न थे और यदि अपनी संभाल न की तो क्या आगे इस प्रकार न बनोगे, फिर मान किसका ? इस संसारमें तुम्हारा कुछ भी तो नहीं है, एक तुम्हारी आत्मा है और उसके गुण ही सिर्फ तुम्हारे हैं, फिर किस पदार्थको अपना मानकर घमंड करता है। आज अपने पुराण आचार्य महाराजके उपदेशपर चलनेमें कठिनाई अनुभव कर रहे हैं क्योंकि लोभ कषायमें फंसे हुए हैं। इसीसे त्याग करनेमें उत्साह नहीं जगता। विवेकी वही है कि जिसे मौका पड़े तो देर न लगे और सब छोड़कर सन्मार्ग पर कल्याण करनेको चल पड़े, वही गृहस्थ धन्य है।

**सब भेद विकल्प छोड़कर अपना अभेद अनुभव करो**—नवतत्त्वकी संतति छोड़कर, अनेक भेदभावको भी छोड़कर उस अपने एक स्वरूपकी पहिचान करो, जो सहज ही पहिचाना जा सकता है। अभी तक हमने अपनेको बालक, जवान और वृद्ध देखा, मनुष्य देखा, अमुक जातिका देखा; पर इन सबमें रहने वाला उस तत्त्वको नहीं देखा, जो कुछ देखा अपने इन चर्म चक्षुओंसे देखा, विवेककी आंखोंसे कभी नहीं देखा, भीतरकी दृष्टिसे कभी नहीं देखा। वह शुद्ध अखंड द्रव्य इन आंखोंसे नहीं दिख सकता है। उसे किसीने नहीं देखा। उसे देखे

बिना कभी कोई सुखी नहीं हो सकता है।

जो अनेक पर्यायोंमें, तत्त्वोंमें रहकर भी अपनी एकताको नहीं छोड़ता ऐसा वह सामान्य आत्मा किस प्रकारसे ज्ञात होता है ? उस उपायको और उस उपायके परिणामको अनुभवनेके लिये एवं बतानेके लिये पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य गाथा द्वारा अपूर्वतत्त्व बताते है—

भूयत्थेणाभिगया जीवजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थनयसे जाने गये जीव, अजीव, आस्रव, बंध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। यहाँ कार्यमें कारणका उपचार करके ऐसा कहा गया है। उपचार भी किसी सच्चाईके कारण है। भूतार्थनयसे तत्त्व जाना जाय तो सम्यग्दर्शन होता ही है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक अथवा उपादान-उपादेय सम्बन्ध है, अतः इस प्रकार जाने गये नव तत्त्वोंको सम्यग्दर्शन कहा है।

भूतार्थनय है एकत्व दृष्टि, एकको देखना, एककी बातको एकमें देखना भूतार्थनय है। भूतार्थनय तत्त्वोंको स्रोतकी ओर ले जाता है। यही कारण है भूतार्थनयसे तत्त्वोंको जानना आत्माकी ओर ले जाता है और वह स्थिति आत्मानुभूति उत्पन्न करती है।

**जिसकी जो पर्याय है उससे उसका नाता देखो**—कर्म आना आस्रव है, पर हमने उस आस्रवको अभी तक समझा ही नहीं है। हम समझते हैं कर्मके उदयसे राग होता है, आस्रव होता है, किन्तु कर्मका आस्रव कर्मसे, जीवका आस्रव जीवसे होता है। कर्म जीवका आस्रव नहीं करता और जीव कर्मका आस्रव नहीं करता है। समयसारकी यह तेरहवीं गाथा समयसारका प्राण है। इसी कारण समयसारके विस्तृत विवरणकी यह अधिकार गाथा है, इसमें बतलाया है कि इन ७ तत्त्वोंको किस दृष्टिसे देखनेपर और जाननेपर सम्यग्दर्शन होता है। जिस प्रकार न्यारिया राखको धोकर उसमेंसे एक स्वर्णकणको भी निकाल लेता है उसे राखका संग्रह इसलिये करना पड़ा क्योंकि उसकी दृष्टि उसमें के सोनेपर है, उस राखके ढेरपर उसकी दृष्टि नहीं है। इसी प्रकार ऊपरसे व्रत क्रिया करता हुआ भी ज्ञानी अपना एक लक्ष्य बनाता है कि मेरी एक आत्मा प्रकट हो। उस आत्मज्योतिको प्रगट करने के लिये इन नौ तत्त्वोंका सहारा लेना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको जब तक भूतार्थ दृष्टि से नहीं समझेगा तब तक उसके सम्यग्दर्शन ही असंभव है। जैसे आजकल एक समझदार मनुष्यको खोटे भावोंसे बचकर अच्छे भाव करनेका प्रयत्न करना पड़ता है और उसकी दृष्टि में पुण्य कार्य ही अच्छा समझा जाता है। उसे यह ज्ञान नहीं कि यह भी आस्रव है। इससे तो आत्मा फंसता ही चला जाता है। जितना वह संसारसे छूटना चाहता है वह उतना ही मकड़ीके जालकी तरह संसारमें उलझता जाता है।

**अधिक फंसा सुलझे कैसे, बेफंसेको सुलझाना क्या**——जिस प्रकार चिड़िया जालमें फंसकर फड़फड़ाती है जो कि चारों ओरसे पूरी तरह फंस जाती है——वह तो फड़फड़ा भी नहीं सकती और जो बिल्कुल खुली, बंधन मुक्त है, वह भी क्या फड़फड़ायेगी ? किन्तु जो बंधनमें तो पड़ी है किन्तु उसे फड़फड़ानेकी गुञ्जाइश है वही फड़ाती है——उस बंधनसे छूटने के लिये। इसी तरह निगोदादि गतियोंमें रहनेवाले जीव तो धर्मके लिये फड़फड़ा नहीं सकते——प्रयत्न नहीं कर सकते। सिद्ध जीव जो कि मुक्त है उन्हें फड़फड़ानेकी आवश्यकता ही नहीं। एक मनुष्य पर्याय ही ऐसी है जिसमें यह जीव धर्मके लिये कुछ प्रयत्न करना चाहता है किन्तु अनादि कालके खोटे संस्कारोंसे वह अपने धर्मकी पहचान नहीं कर पाता है। ये ९ तत्त्व जानकर भी उनकी बारीकियोंका ज्ञान उसे भले ही हो जाय——ऊंचीसे ऊंची चर्चा इस विषयकी की जा सके। किन्तु उन नौ तत्त्वोंमें से अपने आत्मतत्त्वकी खोज नहीं कर पाता। ज्ञानी इन नौ तत्त्वोंमें से अपनी ही खोज करता है। वह परपदार्थको जानकर भी वहाँ निजकी खोज कर लेता है। इन ९ तत्त्वोंके जाननेका भी प्रयोजन यही है कि उनके द्वारा अपनी खोज की जाय। इन नौ अवस्थाओंमें रहता हुआ भी यह आत्मा क्या है ? उसे यह ज्ञान नहीं रहता।

**जिसके दृश्य रूप हैं उस अदृश्यको तो जानो**—जिस प्रकार इस अंगुलीकी टेढ़ी सीधी आदि अनेक अवस्थाओंमें वह एक अंगुली शुद्ध तत्त्व क्यों है ? यह हमें जानना चाहिये। क्योंकि यह अंगुली उन अनेक अवस्थाओंमें रहते हुए भी अपने एकपनेको नहीं छोड़ती। यह आत्मा भी अनेक पर्यायोंमें रहता हुआ अपने एकपनेको नहीं छोड़ता। अपने निज चैतन्य प्रभुकी हमने अपनी ही गलतीसे दुर्दशा बना रखी है। उसे विभावोंमें बुरी तरह जकड़ रखा है, विकारोंसे उसे मलिन कर रखा है—एक आसनपर प्रभु और शैतान नहीं बैठ सकते। विषय कषायके स्वप्न और शुद्ध आत्माके दर्शन—ये दोनों कार्य एक साथ कैसे हो सकते हैं ? इसीलिये अपनी कुशलता चाहो तो पर्यायसे दृष्टि हटाकर उपयोगको अपनी ओर ले जावो, तभी कल्याण संभव है।

भूतार्थनयसे जाने गये ये सात तत्व सम्यक्त्व हैं अर्थात् सम्यक्त्वके उत्पादके समर्थ कारण हैं। भूतार्थका मतलब है——जो पदार्थ दूसरे किसीकी अपेक्षा बिना हो——अपने आपसे हो, परके निमित्तसे नहीं हो। कभी हो, कभी न हो—जो ऐसा न हो। भूतार्थनय, परम शुद्ध निश्चयनय, सत्यार्थ दृष्टि, कारणपरमात्मा, परम शुद्ध पारिणामिक भाव—ये सब एकार्थवाची शब्द है—अर्थात् भूतार्थनयके ही दूसरे नाम हैं।

**पदार्थोंके मूलस्वरूपको जानो जो पर्यायोंका स्रोत बन रहा है**——पदार्थका ज्ञान करने के लिये उसे हमें दो तरहसे समझना होगा। एक उसके भीतरी मर्मको जानना, दूसरा

उसका ऊपरी ज्ञान। देखो ना ! जिस प्रकार मनुष्यकी भी पहिचान दो तरहसे हो सकती है—(१) उसके भीतरी भावनाओंका पता लगाकर और (२) ऊपरसे उसके आचार विचार देखकर। किसी भी वस्तुका बाहिरी ज्ञान सरल है। किन्तु उसके आन्तरिक ज्ञान कठिन है। वस्तुके एक रूपका ज्ञान सरल है किन्तु अनेकका ज्ञान जो कि कठिन होना चाहिये था सरल बना हुआ है। यह उल्टा हो रहा है। मनुष्य बाहरी अनेक दशाओंका ज्ञान तो सरलतासे कर लेता है, पर जिस वस्तुकी वे दशाएं हो रही हैं उनका ज्ञान नहीं कर पाता है जो कि सदा स्वयं अन्त:प्रकाशमान है। देखो तो आचार्यदेवने कितना अलौकिक वैभव हमारा हमें प्रदान कर दिया है—क्या ? भूयत्थेणाभिगया जीवाजीवाय पुण्णपावं च। आसवसंवरणिज्जवंरधो मोक्खो य सम्मत्त। भूतार्थसे जाने गये ९ तत्त्व सम्यक्त्व हैं याने सम्यक्त्वके अमोघ कारण हैं। भूतार्थनयसे इन नौ तत्त्वोंको जाननेपर सम्यग्दर्शनको होना ही पड़ेगा। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि संसारका सारा झगड़ा खतम। उन नौ तत्त्वोंको जाननेवाला वह एक आत्मतत्त्व है, उसका तो ज्ञान कठिन लग रहा है और इन नौ तत्त्वोंका ज्ञान सरल लग रहा है, तीर्थकी प्रवृत्ति चलानेके लिये अभूतार्थका प्रयोग होता है। जिसे शुद्ध सोनेका परिचय नहीं उसे अशुद्ध सोनेमें उसकी शुद्धताका परिचय कराया जाता है। देखो, उनमें इतना शुद्ध सोना है। बाकी सब सोना नहीं उसका अशुद्ध (कूड़ा करकट) रूप है। देखो जैसे मनुष्यको कोई नहीं जानता, मनुष्यकी दशाओंका ज्ञान सबको है, मनुष्य सामान्यका पता नहीं। जो जानेगा वह या तो बालक मनुष्यको या युवकको या वृद्धको जानेगा। परन्तु इन तीन अवस्थाओंमें रहने वाला जो एक मनुष्य है उसे कौन जानता है ? इसी प्रकार त्रिकालवर्ती उस चैतन्यस्वभावको समझनेके लिये इन नौ तत्त्वोंका जानना अभूतार्थ है। पर उनके स्वरूपविज्ञान द्वारा एक आत्मत्त्वकी खोज कर लेना भूतार्थ है।

**स्वभावद्रष्टा रहो, यही धर्मपालन है**—धर्मके नामपर हाथ पैर चलाना अथवा शरीर की कोई भी क्रिया करना धर्म नहीं—क्योंकि यह तो जड़की क्रिया है। किन्तु उसमें जितना लक्ष्य ज्ञान रूप है—वही धर्म है। भगवानके सामने सर नवाया—यह तो एक जड़की क्रिया हुई, उसमें जो लक्ष्य चल रहा है वह धर्म है। भीतरसे जब प्रेरणा चलती है तब ये क्रियाएं तो होती जाती हैं उन्हें करना नहीं पड़ता। व्यवहारको धर्म इसलिये कहा गया है—पर व्यवहार वही है जो निश्चयका पूरक हो। पर्यायकी चर्चा करना, आत्माके गुणोंमें भेद डालकर आत्मतत्त्वको समझना यह व्यवहार धर्म है। ज्ञान दर्शन चारित्र रूप जो परिणमन चलते हैं—वह सब व्यवहार धर्म हैं। जिनकी श्रद्धा जड़में पक्की बस चुकी हो, जो पुण्य पापको ही धर्म समझते हैं, उन्हें ये बातें कुछ अटपटी-सी लगेंगी। जिस पदार्थका जो धर्म होता है वह उसके पास रहता है। आत्माका धर्म भी चैतन्यस्वभाव है, वह उसकी (आत्मा

की) प्रत्येक अवस्थामें आत्माके साथ रहता है। उस चैतन्यभावको ही हमें समझना है और उसीको समझनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्य नौ तत्त्वोंका वर्णन कर रहे हैं। ये नौ तत्त्व अभूतार्थ हैं। उनमें एक निरपेक्ष जीव तत्त्व ही भूतार्थ है, बाकी जीव और अजीवके संयोगसे बनी हुई विविध दशाएं हैं। परन्तु जहाँ केन्द्रकी बात है—लक्ष्यकी बात है, उन ८ तत्त्वोंसे हटकर अपने चैतन्य तत्त्वपर ही आना पड़ता है। यहाँ प्रश्न हुआ कि - फिर ६ तत्त्वोंको भूतार्थसे जाननेका क्यों उपदेश है ? भैया बात यह है कि जीवको परिचय अनादिसे पर्यायका ही होता चला आया है। उससे हटनेका उपाय भूतार्थसे उनको जानना है। जब भूतार्थसे किसीको भी जानोगे तो सब विकल्प छूटकर निज सहज स्वभावकी उन्मुखता हो पड़ेगी। अतः निरपेक्ष जीवतत्त्व वस्तुतः भूतार्थ रह गया।

**जो जिस पदार्थमें स्वभाव नहीं वह धर्म नहीं हो सकता**—धर्म तो पदार्थके स्वभाव का नाम है। जैसे आत्माका स्वभाव चैतन्यरूप है। जो दिखता है वह भी धर्म नहीं—धर्म किसी दूसरेको नहीं दिखता। जो धर्मको दिखानेका प्रयत्न करते हैं वह भी धर्म नहीं है। ये बाह्य त्याग करना नहीं पड़ता, ये तो भीतरसे जब प्रेरणा उठती है तो हो जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य भी वैसे हो घर बार नहीं छोड़ सके, पर जब आत्मासे प्रेरणा उठी तो वह अपने आप छूट गया। पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदिमें भी उनकी स्वभावरूप श्रद्धा नहीं थी परन्तु करना वही पड़ता था। हम इन सब क्रियाओंके अन्दर हम उस तत्त्व को समझें जिसके बलपर सब परिणमन चल रहा है।

**खुदकी ही ठीक समझसे काम पूरा पड़ेगा**—शुद्धताकी दृष्टिसे एक तोलामें एक रत्ती खोटा सोना भी शुद्ध सोना नहीं कहलाता है। इसी प्रकार आत्माके सहज सिद्ध स्वरूपमें रंचमात्र भी विकारकी दृष्टि उसमें शुद्धता नहीं ला सकती। जहाँ थोड़ी-सी भी अशुद्धता शुद्ध मान ली जाय तो फिर शुद्ध वस्तु भी अशुद्ध है। आचार्योंने सात तत्त्वके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया है—ये सिर्फ समझानेके लिये ही लिखा है। संसारी जीवोंके ऊपर उनकी दया उमड़ी इसलिये वह इस तरह समझा गये परन्तु समझना तो हमें ही पड़ेगा। उनको असली दृष्टिसे समझना हमारा काम है। इन सात तत्त्वोंमें से उनके भीतरी मर्मको समझकर अपना कल्याण कर लेना चाहिये। आचार्योंने इसीलिये ये ग्रन्थ लिखे हैं। कोई सुनने मात्रसे कल्याण नहीं, उन्हें जीवनमें उतारना होगा।

अर्हद्दास सेठ था उसकी यह कथा है—एक वार राजाने अष्टान्हिका व्रतमें वनक्रीड़ाके लिये सब नगर-निवासियोंको आमन्त्रित किया परन्तु अरहद्दास सेठने कहा कि महाराज मेरे अष्टान्हिका व्रतोंमें घरसे बाहर जानेका त्याग है। सेठको घरकी इजाजत दी। राजा नगर-निवासियोंके साथ वन चल दिये। यहाँ पूरा नगर सूना हो गया—सारे नगर-

वासी वन चले गये थे और राजा वन-क्रीड़ामें मग्न हो रहे थे——उसी समय मन्त्रीने राजासे कहा कि स्वामिन् इस समय नगरमें कोई नहीं——देखना तो चाहिये कि नगरकी क्या हालत है ? राजा और मन्त्री घोड़ेपर बैठकर नगरको चल दिये। सूने नगरमें घूमते-घामते अरहद्दास सेठके महलके पास पहुंचे। उस समय सेठ अरहद्दास सेठानियोंसे पूछ रहा था कि बताओ तुम्हें सम्यक्त्व किस कारणसे हुआ है ? सबसे पहिले सेठको ही सेठानियोंने अनुरोध किया। सेठने कथा सुनाई। बड़ी सेठानीने भी एक कहानी सुनाई, इन दोनों कथाओंमें कुछ राजाका भी सम्बंध था। सबने तो कहा बिल्कुल ठीक है, परन्तु छोटी सेठानीने कहा बिल्कुल झूठ है। राजा सुनकर सोचने लगा कि सेठकी सेठानी बिल्कुल सही कह रही है किन्तु छोटी सेठानी कह रही है कि यह सब झूठ है। इसी तरह सातों सेठानियोंने अपनी अपनी कथा सुनाई पर हर सेठानीकी कथा सुनकर वह छोटी सेठानी बता देती कि यह सब झूठ है। राजा जो छिपा छिपा सुन रहा था——उसे बड़ा गुस्सा आया कि ये छोटी सेठानी कितनी दुष्ट है——जो कि सभी सेठानियोंकी कथाओंको झूठा बता रही है। इसका कल मैं राजसभा में न्याय करूंगा। दूसरे दिन छोटी सेठानीको राजसभामें सादर बुलाया गया। छोटी सेठानी की सात्त्विक वृत्ति थी, सफेद साड़ी पहनकर राजाके सामने पहुंची। राजाने कहा कि तुमने रातको सेठानियोंकी सच्ची कथाओंको झूठ क्यों बताया ? तब रानीने कहा कि यह सब कहने सुननेकी कथाएं थीं, इसलिये वह सब झूठ हैं—(देखिये तो मुझे) इतना कहकर अन्य वस्त्राभूषणका त्याग कर केवल एक सफेद साड़ी ओढ़े ही बनकी ओर चल दी। सेठानी जंगल चली गई और आर्यिकाके व्रत लेकर अपना आत्मकल्याण करने लगी।

इस प्रकार कहना और उस रूप आचरण करनेमें बड़ा अन्तर है। मुमुक्षु तो परपदार्थ का ज्ञान करके भी उसमें से अपना कल्याण कर लेता है।

**एकत्वपर पहुंचा देना भूतार्थनयकी बात है**——भूतार्थनयसे एकत्व पर कैसे पहुंचते हैं, एतदर्थ मुमुक्षुको द्रव्य गुण पर्यायका बोध होना चाहिये। सत्‌को द्रव्य कहते हैं। अखंड सत्‌की विशेषताओंको गुण कहते हैं, अथवा स्वभावके भेद करनेको भी गुण कहते हैं। उन गुणोंके और द्रव्यके परिणमनसे द्रव्यकी और गुणकी जो दशा या हालत बनती है उसे पर्याय कहते हैं। एक समयमें गुणोंका तो भेद किया जा सकता है किन्तु पर्यायके भेद नहीं किये जा सकते हैं। हाँ गुणोंके भेदभावसे पर्यायके भी भेद किये जा सकते हैं। पर्याय प्रति समय बदलती रहती है। किसी भी हालतमें रहे पर वस्तु रहेगी अवश्य, उसका अस्तित्व कभी नहीं मिट सकता है और पर्याय प्रति समय पलटती रहती है। १ पर्याय कभी भी २ समय तक नहीं रहती है। यदि पर्याय दो समय तक ठहर सके तो फिर ३-४ समयसे लेकर अनंत काल तक भी ठहर सकती है और फिर वह कूटस्थ नित्य हो जायगी। प्रत्येक वस्तु अखंड

है, उसका गुण भी अखंड है और पर्याय एक समय तक अखंड है। उस अखंडको समझनेके लिये खंड करना पड़ते है। यही व्यवहार है। तीर्थ प्रवृत्ति चलानेको व्यवहारका आश्रय लेना ही पड़ता है। जितने अनंत जीव, अनंत पुद्गल आदि हैं उन सब द्रव्यका अपना अपना एक एक ही स्वभाव है। समझनेको ही उसमें स्वभावभेद करने पड़ते हैं। व्यवहारका आश्रय करके जब समझते हैं तब नाना परिणमन दीखते हैं। उन परिणमनोंमें कुछ परिणमन तो ऐसे हैं जिसे विशेष ज्ञानी ही जानते हैं। इस परिणमनका नाम ही पर्याय है। पर्याय निराधार नहीं, किसी द्रव्यके आधारसे ही पर्याय होती है। पर्याय विलीन होती है और प्रगट होती है। गुणके आधारसे भी पर्याय होती है, वह गुणकी पर्याय कहलाती है। गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, अर्थ सबका एक होता है। पर्याय जो नाना दिखती है वह सब व्यवहार है। तिर्यग रूपसे और ऊर्ध्व रूपसे पर्यायें अनन्त होती हैं।

**भूतार्थ पद्धतिके लिये आन्तरिक व्यायाम**—अनन्त पर्यायोंके आधारभूत गुणपर आयें और पश्चात् उन अनन्त गुणोंके आधारभूत द्रव्यपर आवें या समझें तो उसे द्रव्यके एकत्वका निश्चय हो जाय। गुणभेदको देखकर उससे दृष्टि हटाकर अभेद रूप द्रव्यपर दृष्टि देनेसे ही पदार्थका सच्चा अनुभव होता है। वास्तविक रूपसे द्रव्यमें कोई भेद नहीं—क्षेत्र की अपेक्षा, कालकी अपेक्षा और भावकी अपेक्षा भी उसमें भेद नहीं किये जा सकते क्योंकि वह द्रव्य अखंड है, गुण सत् नहीं है। सत्के अंश हैं इसीलिये उन्हें सदंश कहते हैं। उन गुणोंका अभेद पिंड द्रव्य है। तिर्यग् अंश रूप गुणोंकी दृष्टिसे हटकर द्रव्यपर आना भूतार्थ है। पर्यायसे दृष्टि हटाकर गुणोंपर आना और गुण भेदसे हटकर अभेद द्रव्यपर आनेसे ही निरपेक्ष वस्तुस्वरूपका निश्चय होता है। यही बात आत्मापर घटित की जाय तो आत्मस्वरूपका भी दर्शन हो सकता है। परवस्तुओंमें भी यही बात है। जो दूसरेकी चर्चामें लगा रहता—दूसरेकी चिन्तामें लगा रहता है उसे अपनी चर्चा नहीं सुहाती किन्तु जो यथार्थ दृष्टिसे अपने आपको जानने देखनेका प्रयत्न करता है—यही द्रव्यदृष्टि कहलाती है। वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर फिर चाहे वह परवस्तुका चिन्तवन करे—चाहे आत्मा का चिन्तवन करे उसके सम्यग्दर्शनमें कोई अन्तर नहीं आता।

**शुक्लध्यानमें सिर्फ आत्माका ही ध्यान नहीं होता**—किसी भी वस्तुका ध्यान रहे पर वह यथार्थ हो तो वह भूतार्थ श्रद्धान है और भूतार्थनयसे जाने गये सात तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अभूतार्थसे आत्माका श्रद्धान् भी सम्यग्दर्शन नहीं। कर्मको जानकर भी सम्यग्दृष्टी कर्म परमाणुओंके यथार्थ ज्ञान श्रद्धाके कारणसे विचलित नहीं होता। इसी प्रकार भूतार्थ दृष्टिसे नौ तत्त्वोंमें से किसी भी तत्त्वको जाने तो उसकी वह श्रद्धा सत्यार्थ ही है।

**अपनेमें नित्य अन्तःप्रकाशमान निज प्रभुको देखो**—यह १३ वीं गाथा समयसार

की अधिकार गाथा है और संक्षिप्त पूर्ण समयसार है। यदि उसके मर्मको न समझें तो समझो इसके समझे बिना भैया! मानो हमने अपनी आन्तरिक जान ही खो दी। उसका मर्म प्रत्येक जिज्ञासुको अवश्य आ जाना चाहिये। परिणमनशीलताके कारण निरन्तर परिणाम रहे निजमें अन्तः प्रकाशमान अचल निजप्रभुको जानना चाहिये। यह सर्व अन्य द्रव्योंसे विविक्त तथा पर्यायसे परे स्वसंवेदन द्वारसे सुगम्य है। यह सर्व मर्म जाननेके लिये स्व परका प्रायोजनिक ज्ञान होना ही चाहिये। पदार्थ कितना? पूरा पदार्थ, पूरा एक, अखंड, परसे सम्बन्ध रहित अपने आपमें पूर्ण स्वतन्त्र, आश्रयविहीन एवं स्वाश्रित है। उस एक पदार्थको समझ जाना, प्रत्येक जिज्ञासुको आवश्यक है। उसके उस मर्म को जाने विना पदार्थका ऊपरी ज्ञान सत्य होते हुए भी झूठ है। हमारी सारी साधना उस एक तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही होनी चाहिये। विवेकपूर्वक की हुई साधना ही अन्तमें सफल होती है। विवेकी की साधना व्यवहारमें असफल दिखने पर भी निरन्तर सफलता प्राप्त कर रही है। विवेक वही यथार्थ है जिसमें वस्तुके सत्य स्वरूपका ज्ञान हो जावे। बाह्यमें शरीराश्रित जितनी भी क्रियायें हैं वे सब अभूतार्थ हैं। एक निजकी दृष्टिके बिना समाधि भी अभूतार्थ है। एक अपना निश्चल ध्रुव स्वभाव ही भूतार्थ है। पदार्थ पूरा? कितना? उतना जिस का कि टुकड़ा न हो सके। जो दूसरेसे न बने—किसी दूसरेको न बनावे, ऐसे सभी द्रव्य एक-एक हैं। किसी भी द्रव्यका टुकड़ा नहीं हो सकता। परमाणु भी कभी छिन्न भिन्न नहीं हो सकता। इसी लिये पदार्थको अपनी सत्ता रखनेके लिए किसी परपदार्थके आश्रय की आवश्यकता नहीं, कोई भी एक द्रव्य दूसरेका परिणमन नहीं करा सकता। न किसी दूसरेसे वह स्वयं परिणमता है, यह हमारा शरीर कोई एक पदार्थ नहीं, कई तरहके अनेक परमाणुओंसे बना हुआ जड़ पदार्थ है। इसमें जितने प्रकारके जितने परमाणु हैं उसकी उतनी क्रियाएं और उतने ही तरहके परिणमन चलते रहते हैं। तभी शरीरमें कई तरहके परिवर्तन हो जाने पर हम और आप आश्चर्य करते हैं कि यह इस तरह कैसे हो गया? प्रत्येक परमाणु प्रति समय अपनी अवस्थाएं बदलता रहता है। इस परिवर्तनशीलताको ही पर्याय कहते हैं।

कर्मोंको भी देखो यह अनेक वर्गणाओंका पिण्ड है। यह शरीर भी जीवको नहीं परिणमा सकता है और न कर्मकी वर्गणा ही जीवको कुछ परिणमन करा सकती है। जीव का परिणमन जीवसे होता है, इसी तरह शरीरका भी यदि। किसी वस्तुको ठोकर मार दी और वह नीचे गिर पड़ी तो लोग समझते है कि हमारी ठोकरसे वह वस्तु नीचे गिरी, पर वह अपने आधारसे ही उस तरह परिणत हुई है। हर द्रव्यका परिणमन अपने आपमें होता है। इस तरह आत्मामें भी ऐसी योग्यता है कि वह परिणमता है और उस समय उसे

कोई निमित्तका साधन मिल जाता है उसके अनुकूल परिणाम जाता है। प्रत्येक वस्तुका परिणमन निश्चित है और सर्वज्ञ भगवान इसे अपने ज्ञानसे जानते हैं और इस कारण जानते हैं कि उनका वैसा परिणमन होना है। पर ऐसा नहीं है कि पदार्थ सर्वज्ञने जाना इसलिए वैसा परिणाम रहा है। पदार्थ तो जिस विधानसे परिणत होना है, उस विधानसे ही वह परिणत होता है। रूप, रस, गंधका बदलना भावका परिणमन है। भू का अर्थ होना--होनेका नाम भाव है।

जीव अपनेको करता है, कर्म अपनेको करता है, शरीर भी अपनेको करता है। प्रत्येक वस्तुका स्वभाव स्वतन्त्र और स्वाश्रित है। इसलिए जीवका आस्रव जीवसे होता है···जीवमें जो रागादिक ठहरते हैं वह जीवका कार्य है और जीवका शुद्धोपयोग भी जीव का काम है, ये दोनों उंगली भिड़ीं और दोनों टेढ़ी हुई इन दोनोंकी अपने अपनेमें क्रियायें हुई हैं। अपने ही आश्रयसे ही वे टेढ़ी हुई हैं उनमें टेढ़े होनेकी शक्ति थी जो निमित्त मिलने पर वे टेढ़ी हो गईं। इस डंडेमें ऐसी योग्यता नहीं है कि वह टेढ़ा हो सके।

**कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यको परिणमता नहीं**--कर्मोंने जीवको क्रोधी बनाया, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जीव अपनेमें ही विकार करके क्रोधरूप परिणत हो जाता है। जीवने रागादि किया और कर्मोंमें ऐसी योग्यता है कि वह ऐसा निमित्त पाकर अपनी कर्म-रूप शक्ल बना लेते हैं। हर वस्तुको उसी दृष्टिसे देखना है। एकको देखना निश्चय है। अनेकको देखना व्यवहार है। आत्मा कर्मोंसे बंधी है, यह व्यवहार दृष्टि है। यह जीव शरीर बंधा है---यह भी व्यवहार दृष्टि है। लोग कहने लगते हैं कि कर्मोंने मुझे कैसा नाच नचाया यह सब व्यावहारिक कथन है। जीवने रागादि किया---जीवने निर्मल परिणाम किये, यह निश्चय है। निश्चयनय एक सत्को दिखलाता है और जो अशुद्ध पर्यायको बिना दूसरे सम्बन्धकी निगाह किये बतावे वह अशुद्ध निश्चयनय है। द्रव्यकी शुद्ध पर्याय बताने वाला शुद्ध निश्चयनय है, जिस प्रकार केवल ज्ञानको जीवका निजभाव कहना। अशुद्ध पर्याय को बताने वाला अशुद्ध निश्चयनय है जिस प्रकार मति ज्ञान आदिको आत्माका कहना और केवल सतको देखे तो वह परम-शुद्ध निश्चयनय है। ये नय सब जाननेकी वस्तुएं हैं उनको जानकर ही अध्यात्मशास्त्रमें प्रवेश हो सकता है।

**हमारा मुख्य लक्ष्य शुद्ध होना चाहिये**---लक्ष्य एक होता है और उसकी पूर्तिमें बीचमें अनेक उपलक्ष्य चलते रहते हैं। जैसे मकान बनाने वालेका प्रमुख लक्ष्य मकान बनाना है--उसमें आज ईंट पत्थर इकट्ठा करना है, आग लकड़ी आदि इकट्ठा करना है--ये बीचमें अनेक उपलक्ष्य चलते रहते हैं। लक्ष्यकी पूर्ति हो जाने पर ये उपलक्ष्य समाप्त हो जाते है। लक्ष्य कभी नहीं बदलना चाहिये--हाँ, उपलक्ष्य बदले जा सकते हैं, इसी तरह इस

प्राणीका एक लक्ष्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति है। उसकी प्राप्तिमें बीचमें कितने साधन जुटाने पड़ते हैं ? वह सब साधन उपलक्ष्य हैं और उसे ही व्यवहार कहते हैं। अपना अवलम्बन ही मुक्ति करा सकता है और स्थायी सुख दे सकता है। व्रत लिया, नियम लिया, मुनि बने—ये सब लक्ष्य नहीं—लक्ष्य तो परम शुद्ध निश्चयनयका विषयभूत चैतन्यस्वरूप की ही प्राप्ति है। ये बीचमें उपलक्ष्य तो बन ही जाते हैं। अपनी दृष्टि आनेपर संयमको आना पड़ेगा। क्योंकि विषय भोग करते करते किसीको मुक्ति नहीं मिलती है। मुमुक्षुको व्रत, जप, तप, संयमसे गुजरना पड़ता है-स्वकी दृष्टि आई कि उसे ऐसा बनना पड़ता है। नीचेसे दूसरी मंजिल आनेके लिये ऊपर आना उसका प्रमुख लक्ष्य है। किन्तु ऊपर आनेके लिये उसे बीचकी सीढ़ियोंसे गुजरना ही पड़ेगा। पहली सीढ़ी चढ़नेके बाद दूसरी सीढ़ी चढ़ना उसका उपलक्ष्य है किन्तु वह उस उपलक्ष्यको ही पकड़कर नहीं बैठ जाता है। क्या कहीं सोनेकी सीढ़ी हो तो ऊपर आने वाला उसको ही पकड़कर बैठ जाय तो क्या ऊपर आ सकता है ? मुमुक्षुको लक्ष्यसे जरा भी नहीं चूकना चाहिये। लक्ष्य एक बार स्थिर हो जाय फिर ये बीचके परिणमन अपने आप चलते रहते हैं। शुभ भाव और अशुभ भावकी अटक उसे उलझा नहीं सकती है। क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों ही आश्रव हैं। दोनों ही बंधके कारण हैं, मुक्तिके नहीं।

**निज पर्यायका आश्रय निज द्रव्य ही हो सकता है**—जीवका रागादि जीवका आश्रव है—कर्मका नहीं। कर्मोंका आना कर्मका आश्रव है वह जीवका नहीं हो सकता। जिसका जो परिणमन है वह उसकी उस द्रव्यके क्षेत्रमें ही होता। लोग कहते हैं सूर्यने संसारको प्रकाशित किया पर सूर्य कितना है ? जितने में सूर्य है उतनेमें उसका प्रकाश है। दिखने वाली प्रत्येक वस्तुमें ऐसी योग्यता है कि वे इस तरहके निमित्त पाकर चमकने लगती हैं। जिसमें जैसी योग्यता होती है-कोई कम, कोई अधिक-कोई बहुत अधिक, अपने स्वभावसे ही चमकते हैं। किसी भी द्रव्यका स्वभाव उसी द्रव्यमें देखना चाहिये, अन्यत्र नहीं। दर्पणमें हाथ दिखा तो क्या दर्पणमें हाथ चला गया ? दर्पणमें दर्पण है और हाथमें हाथ है। व्यायामका मानीटर जैसा प्रदर्शन करता वैसा सभी लड़के करते हैं पर वह सब अपनी-अपनी क्रिया कर रहे हैं। उस लड़केने सबकी क्रिया नहीं की। वह अपनेमें इस तरह का परिणमन कर रहा है, सब लड़के अपनेमें अपना परिणमन कर रहे हैं। इस तरह सबसे पहले हमें यह निश्चय होना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्यका परिणमन उसके अपने आपमें होता है उससे बाहर कहीं नहीं।

**सदाभाग सातिशय मिथ्यादृष्टिके करणलब्धिके उत्तम परिणाम**—लोकमें निमित्त-नैमित्तिक भावकी बात सही है, किन्तु परिणमन जिसका होता है उसका परिणमन उसीमें

उसीमें उसीसे होता है। जब वह आत्मा विशुद्ध परिणाम करता है तब कर्मोंका बन्धापसरण, संवर व निर्जरण स्वयं होता है। क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि पाकर यह जीव जब प्रायोग्यलब्धि करता है तब कर्मोंकी स्थिति अन्त:कोटाकोटिमात्र रहती है तथा बन्धापसरण होने लगते हैं जिसमें कुछ और कम स्थिति हो जाती है। दोनों यहाँ तककी बातें तो अभव्य तकके हो जाती हैं। अब आगेके उत्थानकी बात भव्य जीवके ही होगी। प्रायोग्यलब्धिके अनन्तर करणलब्धि होती है। यह भव्य आत्माके ही हो सकती है। इसमें सातिशय विशुद्ध परिणाम होते हैं। ये परिणाम तीन प्रकारके हैं—अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। अध:करण परिणाममें उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती है। पश्चात् अपूर्वकरण परिणाम होते हैं। इस अपूर्वकरण परिणाममें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और इस विशुद्धिका निमित्तमात्र पाकर कर्ममें स्वयं ५ प्रकारकी ये विशेषतायें हो जाती हैं—(१) पूर्वबद्ध कर्मोंकी असंख्यातगुणी स्थितिका घात, (२) असंख्यातगुणी हीन हीन स्थिति के नवीन कर्म बंधना, (३) पूर्वबद्ध कर्मोंका असंख्यातगुणा अनुभागका घात, (४) असंख्यात असंख्यातगुणी कर्म वर्गणाओंकी निर्जरा, (५) पाप-प्रकृतियोंका पुण्य-प्रकृतिके रूपमें बदलना। इसके पश्चात् इस सातिशय मिथ्यादृष्टि महाभागके अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें समान-समयवर्ती अनिवृत्तिकरण वालोंके परिणाम बिल्कुल समान होते, उनके हीनाधिक विशुद्धि नहीं होती। अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग बीतने तक अपूर्वकरणकी भांति छहों प्रगतियां होती रहती हैं। पश्चात् दर्शन मोहका अन्तरकरण करके, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके अनिवृत्तिकरणका काल समाप्त होते ही यह भव्यात्मा उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है। पश्चात् क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व आत्मानुभवपूर्वक ही होता है।

**खुदके उपयोगमें खुदकी ख्याति होना आत्मानुभव है**—आत्माकी अनुभूति कहो या ख्याति कहो। दोनोंका एक ही अर्थ है। आत्माका जैसा स्वभाव है—सबसे अलग अपने आपमें स्वतन्त्र, चैतन्यमात्र उसकी वैसी अनुभूति होना स्वानुभूति है। अनुभूतिमें लक्ष्यकी विशेषता है। लक्ष्य तक पहुँचनेमें हमें अपना स्वयंका आश्रय लेना पड़ता है। भूतार्थनयसे जाने गये नौ तत्त्व सम्यग्दर्शनके कारण हैं। जिन पर्यायोंसे गुजरकर वह देखना है वे पर्याय सात तरहकी हैं—उनमें जीव, अजीव मूलभूत पदार्थ हैं। इनकी अवस्थायें पर्याय हैं। अब इन सात तत्त्वोंका पर्यायसे विश्लेषण करते हैं। सात तत्त्व व पुण्य और पाप—ये ९ तत्त्व या ९ पदार्थ कहलाते हैं।

**पुण्य व पाप तत्त्व**—शुभ भाव पुण्य है, अशुभ भाव पाप। कर्म भी पुण्य और पाप होता है और आत्मा भी पुण्य पाप रूप होती है। पुण्यके उदयमें जो परिणाम होता है वह

पुण्यभाव या शुभभाव है। इस तरह पापमें भी। आत्माके पुण्य पाप आत्माके ही हैं, कर्मके नहीं। इसी प्रकार कर्मके पुण्य पाप भी आत्माके हो सकते। आत्मामें पुण्य और पापके परिणामोंका नियमित सम्बन्ध नहीं है। पुण्यके उदय होनेपर भी पापरूप भाव हो सकते हैं और पापके उदयमें पुण्यरूप भाव हो सकते हैं। देखो—साता वेदनीयका उदय भी चलता रहता है और भाव पापके भी चल सकते हैं। कर्ममें शुभ पुण्य कहलाता है और अशुभ पाप। शुभभाव चलता है उस समय पुण्यभाव समझना चाहिए और विकल्प अशुभ भाव है। पुण्य दो तरहके होते हैं—जीवका पुण्य और कर्मका पुण्य। इसी तरह पाप भी। यह व्यवस्था अनादिकालसे चल रही है। वह निमित्त और नैमित्तिक व्यवस्थाके बिना नहीं आई है। ऐसा नियम है कि जीवमें जब पुण्य भाव बनता है तभी कर्म भी पुण्य प्रकृति बांधता है। जब जीवका पापभाव होता है तब कर्मकी पाप प्रकृति बंधती है। इन दोनोंमें ऐसा ही निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध है। तत्त्वज्ञ जीवमें शुद्धभाव आकर भी कर्मका पुण्यभाव नहीं हो सकता—ऐसा भी संभव है। पापकी तो चर्चा ही वहां न करो। कर्म यहां आकर भी अपने घुटने टेक देता है। कर्मका जीवका ऐसा निमित्तपना प्रबन्ध है। जीवका जब विकारी भाव होगा उसी प्रकारमें निमित्तको पाकर होगा। तथा कर्म बंधेंगे तो जीवके उस जातिके विकार भावोंको निमित्त पाकर बंधेंगे, किन्तु सभी जीवके लिये यह नियम नहीं। कर्म उदयमें रहें और जीव उस रूप उपयोगका परिणमन न करे, जैसे उच्च गुणस्थानोंमें होता है। कर्म तो जड़ है और जीव चेतन है। जीव सावधान होकर अपने शुद्धोपयोगमें स्थिर हो जाये तो कर्म उदयमें आकर भी जीवका कुछ नहीं बिगाड़ सकते किन्तु साथ ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध प्राकृतिक है कि जीवके उन विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर व आत्माके उपयोगकी स्थिति पाकर स्तिबुक संक्रमण हो जाता है जो कि उदयके एक समय पहिले हो लेता है। इसे उदय कहो, उदयक्षय कहो या स्तिबुक संक्रमण कहो, कुछ कुछ अन्तरके साथ प्रायः एकसी बात है। देखो, चेतन चेत सकता है यह स्थिति अत्युच्च साधुके होती। जो निमित्त हो वह विकारक कहलाता है और नैमित्तिकको विकार्य कहते है। जीव विकारी हुआ वह विकार्य है और कर्म उसमें निमित्त है उसे विकारक कहते हैं। इसी तरह जब कर्म विकार्य देखा जाय तब जीवभाव विकारक है। तथा इन पुण्य पापमें दो दो तरहके भेद हैं। एक जीव पुण्य विकार्य और दूसरा जीव पुण्य विकारक। आत्माके पुण्य रूप भाव होना जीव पुण्य विकार्य है और उस पुण्य भावके बढ़नेमें जो निमित्त बना वह जीवभाव पुण्य विकारक है। इसी तरह पाप भी दो तरहका होता है। अजीव पुण्य-कर्म बनता है तब वह कर्म-पुण्य विकार्य है और जिस निमित्त या स्थितिसे वे कर्म परमाणु पुण्य रूप हुए वे कर्म पुण्य विकारक हैं। इसी तरह जीव व कर्म पाप भी हैं। इस तरह

विकार्यविकारक भाव सजातीय सजातीय परिणामोंमें अथवा विजातीय विजातीय पदार्थोंमें लगाना। कर्मसे पुण्य कर्म परमाणु बनते हैं और जीवसे पुण्यभाव परिणाम बनते हैं। ऐसी दृष्टि भूतार्थकी पद्धति है।

**आस्राव्य व आस्रावक भाव**—आने को आस्रव कहते हैं। कर्मोंका आना कर्मोंका आस्रव है और जीवमें रागादिक भावोंका आना जीवका आस्रव है। जो कर्म परमाणु आये वे पौद्गलिक कर्म आस्रव्य है और जिस निमित्तसे कर्म आये उसे जीव आस्रावक कहते हैं। इसी तरह जीवमें विकारका आना जीव आस्राव्य है। जिस निमित्तसे विकार आया वह अजीव आस्रावक है। उस तरह आस्रवके चार भेद हो गये। एक जीव आस्राव्य, दूसरा जीव आस्रावक तीसरा कर्म आस्राव्य और चौथा कर्म आस्रावक। जब जीव भाव आस्राव्य है तब पूर्व जीवभाव आस्रावक है अथवा उदित पौद्गलिक आस्रावक है। जब पौद्गलिक कर्म आस्राव्य देखते हैं तब स्थित पौद्गलिक कर्म आस्रावक अथवा जीवविभाव आस्रावक है। आस्राव्य व आस्रावक भाव पर्याय है। पर्यायको उपादानभूत द्रव्यसे प्रकट होना देखना व भेददृष्टि गौण करके मूलद्रव्यके एकत्वको ही ग्रहण करना सो भूतार्थनयका आस्रव तत्त्व का देखना है।

**बन्ध्यबन्धक भाव**—बंधके भी चार भेद हैं। बंध जाना सो बंध है। एक समयसे अधिक ठहरने वाले कर्मकी स्थितिको बंध कहते हैं। एक समयका आस्रव होता है। आया, ठहरा, चला गया। इस तरह आस्रवसे बंध होता है पर आस्रव हो और बंध भी हो ऐसा कोई नियम नहीं। जब बंध होगा तब आस्रवपूर्वक ही होगा यह तो नियम है, पर आस्रव हो और बंध अवश्य हो ऐसा नियम नहीं। कर्मोंका बंध जाना, कर्म बन्ध्य है, जिस जीव परिणामके निमित्तसे कर्म बंधा वह जीवभाव बंधक है। इसी तरह जीवके बंधरूप परिणाम होना जीव बन्ध्य और जिस निमित्तसे वह परिणाम हुए वह अजीव बन्धक है। यहाँ पर भी यह जानना कि जब जीवभाव बन्ध्य है तब पूर्ण जीवभाव बन्धक है अथवा उदित विशिष्ट अजीवकर्म बन्धक है। जब पौद्गलिक कर्म बन्ध्य देखना है तब स्थित विशिष्ट कर्म बन्धक है अथवा जीवविभाग बन्धक है। पर्यायके मूलको मुख्यतया ग्रहण करके उसके एकत्वको प्राप्त किया तो वह भूतार्थनयसे बन्ध्यका अवबोध सही हुआ मानना। इसी तरह संवर और निर्जराके चार चार भेद समझ लेना चाहिए।

**संवार्य संवारक भाव**—आने योग्य कर्मोंका रुक जाना संवर है। कर्म रुक गये यह कर्म संवार्य है और जिस भावसे कर्म रुके वह भाव जीव संवारक है। कर्म आ रहे हों और उन्हें कोई रोक सके ऐसा कभी नहीं हो सकता। आने वाले कर्मोको रोकनेकी शक्ति किसी में नहीं है। जहाँ कहीं कर्म आ सकते और वे यहाँ नहीं आये—यह संवर है। संवर सिद्धों

में भी होता है, क्योंकि वहां पर आस्रव नहीं। सिद्धोंमें आस्रव बंध और मोक्षकी कल्पना नहीं उठ सकती।

शंका—सिद्धोंमें जब कर्मोंका आस्रव नहीं होता तब वहां संवरकी कल्पना क्यों की जाती है ?

समाधान—कर्मोको नहीं आने देनेमें कारण उनका शुद्धोपयोग निरन्तर चल रहा है—इसलिए कभी कर्म नहीं आ सकते: अतः उनमें संवरकी कल्पना ठीक की जाती है। यहां पर भी चार भेद जानना— (१) जीवभाव संवार्य, (२) जीवभाव संवारक, (३) अजीव संवार्य, (४) अजीव संवारक। जीव विभाव रुका वह जीव संवार्य है, उस स्थितिके पूर्व क्षणकी शुद्धता जीव संवारक है अथवा उस प्रकारके कर्मादिकके अभावादिरूप स्थिति अजीव संवारक है। पौद्गलिक कर्म न आ सके वह अजीव संवार्य है और उस प्रकारके कर्मादिकके अभावादिरूप स्थिति अजीव संवार्य है अथवा जीवका शुद्ध उपयोग जीव संवारक है। यहां भी भूतार्थ विधिसे द्रव्यके एकत्वमें पहुँचना चाहिए।

**निर्जर्य निर्जरक भाव**—निर्जरा भी चार तरहकी है। झरनेको निर्जरा कहते हैं। कर्मोंका झरना कर्मनिर्जरा है और जिस जीवभावके निमित्तसे कर्म झरे वह जीव निर्जरक है। आत्माके वे भाव जो विकार झरने रूप होते हैं जीव निर्जर्य है और कर्मोकी वह परिस्थिति जिससे वह भाव होते हैं वह अजीव निर्जरक हैं। यहां भी चारों प्रकार और उनका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जानना चाहिए। पश्चात् उनका स्वतन्त्र अस्तित्व देखकर मूल पदार्थके एकत्वपर पहुँचना चाहिए।

**मोच्य मोचक भाव**—आत्मासे कर्मोका छूट जाना ही मोक्ष है। कर्मोका छूटना कर्म मोच्य और जिस जीवभावके निमित्तसे कर्म छूटे वह जीव मोचक है। उसी तरह आत्मा से विकारोंका छूटना जीव मोच्य, और जिन कर्मोके क्षयके निमित्तसे जीव विकारोंसे छूटा वह कर्म मोचक है। मोक्ष एक समयका होता है—उसके बाद मोक्ष नहीं कहलाता। जैसे किसी मनुष्यको जेलसे छूटनेपर उसे बन्धनमुक्त कहते है पर उसे तो जीवन भर यह नही कहा जाता कि तुम जेलसे छूटे। कहे तो भूतनैगमकी अपेक्षा है। इस तरह इन नौ तत्त्वोंका भूतार्थनयसे जानना सम्यग्दर्शन काकारण है।

**भूतार्थके आश्रयी सम्यग्दृष्टि**—अथवा आस्रव तो आस्राव्य आस्रावकका उभय है वह द्विनिष्ठ है, परन्तु जहां असम्बद्ध एक अस्तित्वपर दृष्टि हो वहां आस्रव तत्त्व न ठहरकर उपयोगमें द्रव्यका शुद्ध एकत्व रहता है। यह एकत्वोपयोग सम्यक्त्वका अमोघ कारण है। इसी पद्धतिसे विचारो तो संवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष भी द्विनिष्ठ है, सो शुद्ध पदार्थके उपयोगी के उपयोगमें यह सब भी न टहरकर शुद्ध एकत्व ठहरता है। इस भूतार्थका आश्रय करने

वाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

ये सातों प्रकारके पर्यायात्मक तत्त्व दो दो प्रकारके होते हैं जीवके और कर्मके। क्या आवश्यकता थी कि जीवमें भी सात तत्त्व माने। किसी एकमें मानते, परन्तु भाई! प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय उसी द्रव्यमें से प्रकट होती है, जीवमें नहीं होती। कर्ममें आस्रव बंध होनेपर जीवमें भी आस्रव बन्ध होता है। इस प्रकार इन दोनोंमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। स्याद्वाद, उसका भली भांति निपटारा कर देता है। ये तत्त्व एकमें नहीं होते दोनोंमें ही होते हैं। दो के ही मेलसे ये सात तत्त्व बने हैं फिर भी सातों जीवमें जीवके हैं, अजीवमें अजीवके हैं। जीव और अजीव उनमें ये दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं बाकी ये सब उनकी ये सब पर्यायें हैं। यहां वस्तुतः तो दो ये भी पर्यायमुखेन हैं, इस प्रकार सात पर्यायें और दो द्रव्य हुए अथवा ७ विशेष, दो आधार हुए। इनको पर्यायकी दृष्टिसे न देखना, नहीं तो भूतार्थ न जान सकोगे, यही जिनको भूतार्थ है वह आगे क्या बढ़ें, इन नौ को पर्याय समझना। हर पदार्थको समझनेकी दो प्रकारकी दृष्टि होती है। एक बाह्य और एक अन्तर। ऊपरी हालत समझना--बाह्य दृष्टि है और आन्तरिक (भीतरी) परिणमनको समझना आन्तरिक दृष्टि है।

**बाह्य दृष्टिसे नौ तत्त्व सही हैं**—पर्याय दृष्टिसे जीव और पुद्गलके अनादि सम्बन्धसे यह आस्रव आदि पर्यायें बनती हैं। इन नौ तत्त्वोंके विषयमें सही दृष्टि आनेपर ही वस्तु तत्त्वका यथार्थ निर्णय होता है। यथार्थ निर्णय न हो तो बताओ ये प्राण जीवके है या शरीरके? यदि जीवके मानो तो जीव तो अविनाशी है, फिर प्राणके घात करनेपर भी न तो कुछ आपका बिगड़ा और न जीवका बिगड़ा। क्योंकि जीव व प्राण अभिन्न हैं, एक हैं सो प्राणघात करना। लोक कहते हैं, वास्तवमें तो नहीं हुआ। दूसरी बात यह है कि यदि प्राण जीवसे अभिन्न माने जावें तो प्राणका घात ही क्या? जीव तो अविनाशी है, प्राण भी जीवसे अभिन्न होनेके हेतु अविनाशी हो गया। देख लो, महा उपद्रव। इसका समाधान क्या है? देखो, व्यवहारनयसे तो जीव और प्राण अभिन्न हैं क्योंकि उस कालमें जीवसे पृथक् कहीं अन्यत्र प्राण नहीं हैं और निश्चयनयसे जीव और प्राण भिन्न भिन्न हैं। यदि व्यवहारनयका लोप करो तो वृत्ति दूषित हो जायगी और निश्चयनयका लोप करो तो ये प्राण आत्माका स्वभाव कहलाने लगेंगे। तो वह सिद्ध भगवानमें भी पाये जाना चाहिये। किन्तु मुक्त जीवमें तो प्राण नहीं होते, इसलिये पता चलता है कि ये जीवके नहीं हैं और यदि अजीवके कह दिये जायें तो प्राणोंके घात कर देनेपर हिंसा नहीं लगनी चाहिये क्योंकि प्राण जीवसे न्यारे हैं। परन्तु प्राणोंका घात करनेपर हिंसा बताई है। यहाँ पर अनेकान्त निर्णय देता है कि पर्यायकी अपेक्षा प्राण जीवसे अभिन्न हैं और स्वभाव दृष्टिकी अपेक्षा आत्माके नहीं। जब व्यवहारसे आत्माके हैं तो प्राणोंके घात कर देनेपर व्यवहारसे हिंसा

हुई और उस हिंसाका फल भी व्यवहारसे नरक और निगोद भोगना पड़ता है। बनाना मिटाना यह काम व्यवहारका ही है। निश्चय दृष्टिसे कोई वस्तु बनती मिटती नहीं है।

निश्चयसे वस्तुके स्वभावको धर्म कहते है। जिस प्रकार जीवका स्वभाव चैतन्य है। स्वभाव निगोदोंमें पाया जाता है और सिद्ध जीवोंमें भी। स्वभाव वह कहलाता है जो कभी द्रव्यसे दूर न हो सके। लक्ष्य निर्धारित करना और उसमें द्रव्यपर दृष्टि रखना निश्चय है और उस लक्ष्यकी पूर्तिमें जितने बीचके साधन हैं वे सब व्यवहारधर्म है। भक्ति, दान, जप, तप आदि करना शुभ परिणाम है और ये उपचार धर्म हैं। इनके करते हुये भी जितने अच्छे परिणाम होते हैं जो लक्ष्य तक ले जानेमें पूरक होते हैं वह व्यवहार धर्म है। इस पूजन भक्ति वगैरहमें हाथ पैर चलाना उपचरितोपचरित धर्म कहलाता है।

**जीव और पुद्गलका अनादि सम्बन्ध**—आज तक हमने इस जीवका परिचय इसी रूपमें किया है, इस विकारी आत्माको ही अपना रूप समझा है। इन सम्बन्धोंको अपना समझा है। आज तक उसमें स्वरूपका निर्णय नहीं किया है। इस जीवको जीव कहना भी व्यवहार है, संसारी कहना भी व्यवहार है। शब्द सभी व्यवहार—चैतन्यमें जीव नाम नहीं खुदा है। ये तो व्यवहार चलानेके लिये हमने नाम रख लिये है। किसी द्रव्यमें कोई नाम खुदा नहीं है। व्यवहार, व्यवहारमें भी बड़ा अन्तर है। असली वस्तुमें कुछ जोड़ना या तोड़ना व्यवहार है। एक वस्तुका अनुभव निश्चय है। रागादिक की व्यवस्था बिना सम्बन्धके नहीं बन सकती है। इसीलिये जहां रागादिकका कथन आता है वह सब व्यवहार कथन ही है। यह तो स्थूल बात है, अनेक गुणोंको बताना यह भी व्यवहार है। जिन अरहन्त भगवानने हमें धर्मका अमृत रस पिलाया उन्हीकी चर्चा करना व्यवहार है। ये जैन शासन भी ऐसी मधुर मिश्री है कि जिस तरफसे खाओ मीठी ही लगती है। भगवानने अपने लिये भी यह पक्षपात नहीं रखा कि हमारी चर्चा तो निश्चय बताओ। उन्होंने कहा जब तक तुम हमारी चर्चा करते रहोगे तुम मुक्त नहीं हो सकते, हमारी चर्चा भी छोड़कर जिस दिन अपने आप ही में मग्न हो जाओगे तभी वह अखण्ड आनन्द मिलेगा जो कभी नही छूट सकता। जो स्वच्छन्दताको निश्चय समझते हैं—वह तो अपनी हानि ही करते है, पर जो यथार्थ दृष्टिसे निश्चयको समझ लेते है उनका यह सब व्यवहार भी होता रहता है। वे सब कुछ करते हुये भी कुछ नहीं करते, वे चलते हुये भी नहीं चलते—देखते हुये भी नहीं देखते। क्योंकि उनकी दृष्टि एक निश्चयपर लगी रहती है। और जिनकी दृष्टि संयोगपर रहती है उन्हें कभी शुद्धता प्राप्त नहीं हो सकती। जो खोटे सोनेको शुद्ध सोना समझते रहे वे शुद्ध अशुद्धकी परख कैसे कर सकते है? अशुद्ध सोनेको वे शुद्ध भी नहीं कर सकेंगे।

**पर्यायमें आत्मद्रव्यकी बुद्धि होना अज्ञान है**—पर्यायमें द्रव्य बुद्धि होनेसे कोल्हूमें पिरने वाला मुनि जो तेरह प्रकारके चारित्रको यथाविधि पालन करता है इन सब परिग्रह एवं उपसर्गोंको शान्तिपूर्वक सहन करता है फिर भी मिथ्यादृष्टि रहता है। क्योंकि वह सोचता है मैं मुनि हूं मुझे कषाय नहीं करना चाहिये—यह सब दुःख शान्तिपूर्वक सहन कर लेना चाहिये, इस प्रकार पर्यायको आत्मस्वरूप समझता है, परिणमनको आत्मस्वरूप मानता है। मिथ्यात्वकी दृष्टिसे एक घोर हिंसा करनेवाले कसाईके और उस मुनिके परिणामोंमें बिल्कुल साम्य है कोई अन्तर नहीं। हाँ तीव्र मंद विषयकका अन्तर भले ही कह लो। स्वरूपसे तो मिथ्यात्व उभयत्र है। पर्यायपर दृष्टि पर्यायके लिये रहना मिथ्यात्व है।

ज्ञानी सोचता है "मैं मुनि नहीं—ये व्रत संयम मैं नहीं—ज्ञान ध्यान भी मैं नहीं—मैं तो स्थिर एक चैतन्य तत्त्व हूं"। जिसके ये कुछ भी नाम नहीं हैं उसकी दृष्टि अपनेमें जाकर टिकती है; वह ज्ञानी पर्यायको पर्यायरूपसे जानता है और द्रव्यको द्रव्यरूपसे समझता है। पुण्य पाप ये सब आस्रव हैं, मैं कर रहा हूं—यह सब पर्याय दृष्टि है। क्योंकि आत्मा अपनेको ही कर सकता है बाह्य कार्य करना आत्माके वशका कार्य नहीं। जहाँ स्वमें टुकड़े किये जाते है—मैं ज्ञान दर्शनमय हूं, आनन्द और शक्तिरूप हूं यह दृष्टि भी अभूतार्थ है। इस अभूतार्थसे हमें भूतार्थको देखना है। इन नौ तत्त्वोंमें जीवके आठ तत्त्व होते हैं। दोनों को अलग अलग रखो। जीवके आस्रवको जीवकी दृष्टिसे देखो—अजीवके आस्रवको अजीव की दृष्टिसे देखो। यही भूतार्थ दृष्टि है। भूतार्थसे अपने जीवकी खबर लो—अजीवकी वहाँ खबर नहीं—ये जीवद्रव्य अनन्त शक्ति, गुण, वीर्यका धारी है। जीवके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप जीवसे प्रकट हुए हैं। इससे दो द्रव्यके भिन्न भिन्न परिणमन नजरमें आये—द्रव्य और पर्यायका ज्ञान हुआ। निमित्तको भूल गये इसलिए आस्रव बंध कम हुआ। पर्याय द्रव्यसे ही प्रकट हुई है इस प्रकार जाननेमें यहाँ द्रव्यकी मुख्यता हो जाती है। पत्ता वृक्षसे गिरा, इसमें वृक्षकी मुख्यता आती है। जहाँसे गिरा वह ध्रुव है—पत्ता अध्रुव है। एक द्रव्य है, दूसरा पर्याय है। इस प्रकार द्रव्यको मुख्य करके स्वभावका अवलम्बन होनेसे ही सम्यग्दर्शन होता हैं। अशुभ उपयोग और शुभोपयोगसे भी हटकर जहां स्वमें दृष्टि आती है—वहीं स्वका अवलम्बन है।

**भूतार्थनय ही जीवनमें स्थिर लक्ष्य निर्धारित कर सकता है**—शांति पानेका भी यही उपाय है। भूतार्थ नयसे कैसा देखना ? हमें जो कुछ दिखता है उसे कोई कहता है कि यह सब ईश्वरकी महिमा है, कोई कहता है ये कुछ नहीं, माया है आदि मनुष्य जितना सोच सकता था, वह उसने बता दिया। जैनशासन कहता है कि यह सब पुद्गलकी पर्यायें हैं, जो निरंतर नाशशील हैं। इसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह मकान, सोना, चांदी आदि

जो दिखता है वह सब पुद्गलकी पर्याय है और नाश हो जानेवाली है। मैं हूं और हमेशा रहूंगा---ये विचार, ये भावनाएं, ये क्रोध और रागादिक सब नाश हो जाना है। ये पर्यायें आईं और उनके प्रभावमें अपनेको संभाला नहीं और उनके प्रभावमें बह गये तो आत्माका पतन निश्चित है। जो सदा रहेगा उसका अनुसरण करो। जो रहना नहीं है उसका क्या अनुसरण करते हो ? संसारके ये पदार्थ आते जाते रहेंगे और सदैव रहेंगे और बदलते रहेंगे। इनमेंसे अपनेको पहिचानकर अनुभव करे तो शान्ति और आनंदका भागी बन जाय।

परपदार्थोंमें अपनेको मानना और पर्यायमें भी अहंबुद्धि करना दुःखका कारण है। आत्महित तो यथार्थ ज्ञानमें है। अन्तर दृष्टिसे देखो तो पता चलता है कि मैं ज्ञायक भाव हूं, मैं ही ज्ञाता हूं और मैं ही ज्ञेय हूं। इन निरंतर पर्यायोंमें चलने वाला भी मैं ही हूं। विकार और विकारके कारण मैं नहीं हूं, कर्मके आस्रव भी मेरे आस्रव नहीं। इन द्रव्योंकी पर्यायोंको अगल बगल और ऊपर देखकर उन्हें यथार्थ जान लिया जाय तो वह भी भूतार्थ है। अगल बगल याने निमित्त, और ऊपर याने पर्याय। पर इन पर्यायोंको ही कोई देखता रहे तो कभी पवित्रता नहीं आ सकती। जब अपनी आत्मापर दृष्टि जायगी तो उस समय जो स्वानुभव होता है उसके उस समय आत्मामें शुद्धता आती है। यह माता पिता स्त्री पुरुष, कुटुम्ब परिवारका रिश्ता, सम्पत्ति, आदिकादिकका संयोग सब अभूतार्थ हैं। एक दिन यह छूटनेको है। इन सबको देखकर किस दिन सबमें समता-भाव जागृत होगा, द्रव्योंकी स्वतंत्रता का अनुभव होगा और विशेषताको छोड़कर सबमें सामान्य दृष्टि आवेगी।

**सामान्यदृष्टिकी महती कृपा**—ये जीवमात्र सब एक जातिके हैं, अलग-अलग स्वतंत्र सत् हैं—यह दृष्टि ही शक्ति विकासका कारण है। ये मेरा भाई है, पुत्र है, मित्र है, इन विशेष दृष्टियोंको छोड़ो ये दुःख और पतनके कारण हैं। देखो ना ! जहां ये भाव उठा मैं मनुष्य हूं, पंडित हूं, त्यागी व्रती हूँ, धनवान हूँ, गरीब हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ---ये विकल्प ही इस जीवको दुःखके सागरमें डुबो देते हैं। 'तो ज्ञानी होने पर जब यह अनुभव करने लगता है—मैं चैतन्मात्र जीव हूँ---अन्तरसे शरीरका ममत्व भी छोड़कर कर्म और कर्मसे भी हट कर चैतन्यमात्र आत्माको देखने लगता है तब उस आत्माको जिसका कोई नाम नहीं, कोई अन्य स्थान नहीं, जिसमें कोई भेदभाव नहीं एक निर्नाम, अखंड, अविनाशी, चैतन्यमात्र है, उसके अनुभव आने पर सामान्य बुद्धि जाग्रत होती है और विशेष सामान्य ही में विलीन हो जाता है। फिर यह मेरा लड़का और पराया लड़का—सारा अपमान और क्लेश दूर होकर आनन्दके सागरमें डुबकी लेने लगता है। जिसे देखकर आपने समझा है सो वह मैं नहीं, आप वह हैं जिसे देखकर समझा नहीं—आप अमुक लाल या अमुकचन्द नहीं।

**आत्मा ही क्या सभी पदार्थ वस्तुतः निर्नाम हैं**—यदि उस आत्माका नाम होता तो

कहीं भी जाकर उस नामसे उसका पता चलना चाहिये था, पर दूसरे शहरमें जाकर पूछो तो वहां आपको कौन जानता है। पर आप निर्नाम चैतन्य हैं इसे कहीं भी जाकर पूछा जाय तो हर ज्ञानी व्यक्ति बता देगा कि आप निर्नाम चैतन्य हैं। ये जो कुछ दिख रहा है वह तो एक खेल है, मिटता बनता रहता है। वस्तुके भेद करके व्यवहार कर रहे हैं। यह सब माया है स्वप्न है, इनमें सार कुछ नहीं। भूतार्थ दृष्टिसे अपनेको समझा जाय तो इस आत्माका महोपकार हो। वे कारण जिनसे अंतर्दृष्टि हो, वे सब अपने गुरु हैं। जिनके निमित्तमे आत्माका भान हो वे सब गुरु समझना चाहिए। निर्नाम चैतन्य भूतार्थ दृष्टिसे मिलता है। निर्नाम चैतन्यको मोक्षकी भी चर्चा स्वरूपका अपवाद है। उसे संयोग और संयोगपूर्वक वियोग भी सहन नहीं। इससे मोक्षको भी ज्ञानी सापेक्ष दृष्टिसे देखता है। उसे ९ तत्त्व दिखते हैं किन्तु उनमें उसकी भूतार्थ दृष्टि होनेसे वह अपना काम निकालता है। जहां एक बार वह चैतन्य रूप स्वभाव प्रगट हो वहाँ उसे फिर यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा परसे कोई संबंध नहीं है। वह फिर सिद्धकी जातिका अनुभवमें बन गया। वह मोहीकी जातिसे हट जाता है। मोक्षमार्गी बनकर रागादिसे हटते जायें और अपनी ओर बढ़ते जायें तो आत्माका महान् उपकार हो। ९ तत्त्वोंमें से अपने एक जीवद्रव्यको पहिचानना यही भूतार्थ दृष्टिका फल है। द्रोणाचार्यने कौरव और पाण्डवकी परीक्षा लेते समय कहा कि तुम्हें उस मिट्टीकी चिड़ियाकी आँखमें निशाना मारना है जो उस पेड़ पर रखी है। कौरवोंसे पूछा—बोलो तुम्हें क्या दिख रही है? तब कौरवोंने बताया कि उस पेड़पर जो बड़ी डाली है उसमें उस पत्तेके बगलमें चिड़िया है उसकी आँखमें निशाना मारना है। इस प्रकार अन्य सभी कौरव और पाण्डव शिक्षार्थियोंने उत्तर दिये किन्तु अन्तमें अर्जुनसे पूछा गया तो वह कहने लगा कि गुरुजी मुझे तो आंख ही आंख दिख रही है और कुछ नहीं, तब द्रोणाचार्यने अर्जुनको पास करके बाकी सबको अनुत्तीर्ण कर दिया। क्योंकि अर्जुन अपने लक्ष्यपर एकाग्रतासे स्थिर था। जो एकाग्र होकर स्थिर होता है वह एक दिन पर्यायमें भी पूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेगा। जिस प्रकार सिंह अपने ऊपर गट्ठी लादकर अपनेको गधाकी जातिका समझने लगता है, उसी प्रकार आज हम भी अपने चैतन्यकी दृष्टि बिना गधेकी तरह कर्मोका और संसारका बोझा लादकर दुखी होते रहते हैं।

**जो जाना जाता उसकी खबर करो**—गुण और पर्याय जाननेमें नहीं आता क्योंकि वे सत् नहीं हैं। सब लोग गुणकी दृष्टिसे द्रव्यको ही पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्यको ही देखते हैं, क्योंकि गुण, पर्याय जाने नहीं जा सकते हैं। और जो जाने नहीं जा सकते उनका उपयोग करना यही अभूतार्थ दृष्टि है। यह जीव एकत्वसे सदा प्रकाशमान है, इस प्रकार गुण और पर्याय प्रकाशमान नहीं हैं। जाननेमें अर्थ आता है। कहा भी है "अर्थस्य"। तत्त्व ४ प्रकार

से जाने जाते हैं, १ अर्थ, २ द्रव्य, ३ गुण, ४ पर्याय। पर्यायकी दृष्टिसे अर्थ जाना जावे तो अभूतार्थ, गुणकी दृष्टिसे भी अभूतार्थ। द्रव्यकी दृष्टिसे अर्थ जाना जा सकता है। पर्याय आदिकी नीचेकी दृष्टिसे छूटकर जब अनुभवमें आवे तब भूतार्थ कहा जाता है। यही अर्थका अनुभव कहलाता है। गुणोंसे भी जाने तो अभूतार्थ और द्रव्यसे जाने तो भूतार्थ है। इन द्रव्य गुण पर्यायोंकी दृष्टि छोड़कर जिस वस्तुका अनुभव होता है वही अर्थ है। जो द्रव्यगुण पर्यायमें भी व्यवस्थित है वह अर्थ है। सबसे पहिले गुण पर्यायको भूतार्थसे समझकर निश्चित किया जाय। जैसे आत्माकी मनुष्य या देव पर्याय है और दर्शन अथवा ज्ञान आदि गुण कहलाते हैं। उनको नाना अपेक्षावोंसे जाने।

जिस समय स्वानुभव होता है उस समय द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, और गुणदृष्टि—इन का–किन्हींका उपयोग नहीं रहता। कोई पदार्थ ध्रुव नहीं, अध्रुव नहीं और ध्रुवाध्रुव भी नहीं। अर्थ तो केवल न द्रव्यरूप है, न गुणरूप और न पर्यायरूप। एकत्वरूपसे अभेद आत्माका अनुभव ही स्वानुभवका कारण है। यह कारण स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है। द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीनोंसे अलग प्रतिभासमात्र हो वहां सम्यग्दर्शनका अनुभव है। प्रतिभास कहो, आत्माकी प्रसिद्धि, ख्याति, अनुभव, अनुभूति ये सब उसीके नामान्तर हैं। शुद्धनयसे अनुभव हुआ, पर जो अनुभव है वह शुद्धनय नहीं। शक्ति, ज्ञान, दर्शन आदि भेदरूपसे भी सामान्य अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि वहां गुणभेद हुआ। पर्यायको देखनेसे भी अभेद नहीं बन सकता।

जैसे एक आम है उसका रूप कोई नहीं जानता किन्तु जो जानता है वह रूपपर्यायमुखेन आमको जानता है। आमकी गन्धको कोई नहीं जानता है; जो जानता है वह गन्धमुखेन आमको जानता है। आमके रसको कोई नहीं जाता है, जो जानता है वह रसमुखेन आमको जानता है। आमके स्पर्शको कोई नहीं जानता किन्तु जो जानता है वह स्पर्शमुखेन आमको जानता है। आमके रूप रस गन्ध स्पर्श अलग सत् नहीं हैं। उस ही प्रकार ज्ञान दर्शन आनन्द आदि गुणोंको कोई नहीं जानता किन्तु जो जानता है वह ज्ञानमुखेन आत्माको, दर्शनमुखेन आत्माको व आनन्दमुखेन आत्माको जानता है। पर्यायको भी कोई नहीं जानता है; जो जानता है वह पर्यायमुखेन आत्माको जानता है। आत्मा एक सत् वस्तु है। गुण और पर्याय वस्तुकी विशेषतायें हैं। विशेषतामुखेन वस्तु ही ज्ञात हुआ करती है। लोग कहते हैं हमने रूप जाना, रस जाना—इसमें मर्म तो जरूर है किन्तु ऐसा ही कथन भूतार्थ ही तो न हो जायगा। लोक कहे कि पर्याय जाना, गुण जाना इसमें मर्म तो जरूर है किन्तु ऐसा ही कथन भूतार्थ तो न हो जावेगा।

**अशुद्धका उपयोग न करके शुद्धका उपयोग करो**—जैसे नाना प्रकारके स्वर्णमें, पीले

सोलह आना शुद्ध सोने वाले एक पिण्डमें पूर्ण शुद्धता नहीं। उस एक तोले सोनेमें पारखी तो उसमें पौने सोलह आना भर ही सोना देखता है। वह उस सबको सोना मानता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण या पर्यायसे देखनेपर पूर्ण अर्थका प्रतिभास नहीं, क्योंकि वे सब पूर्ण सत् नहीं हैं, सत्के अंश है। उन संदेशोंके अनुभवोंसे पूर्ण आत्माका अनुभव कैसे हो सकता है? पारखी सोनेको कसकर, तपाकर, जैसे शुद्धता अशुद्धताका निर्णय करता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी द्रव्य, गुण, पर्यायसे अर्थ का निर्णय करके उसकी पूर्णताका ज्ञान कर लेता है।

९ तत्त्वोंमें जीवतत्त्व ही अपना प्रयोजनवान है। उसी जीवतत्त्वको जाननेके लिये विवेकी इन नौ तत्त्वोंका सहारा लेते हैं। द्रव्य, गुण, पर्यायमें यह जीवतत्त्व ढका हुआ है। जैसे नाना वर्णोंमें शुद्ध स्वर्ण ढका हुआ है। जब नयोंकी व्यवस्थासे अर्थको ज्ञानमें लाते हैं तो नौ तत्त्वोंमें ढकी आत्मज्योति प्रकट हो जाती है—अंधकार विदा माँग लेता है. समस्त विकल्प, अशान्ति नष्ट हो जाती है।

**स्थिर तत्त्वका उपयोग करके अस्थिरताका क्लेश मेटो**—इतना अनुभव तो सभीको है कि जितना उपयोग घूमेगा उतना ही विकल्प उठेगा, जितने विचार बुद्धिमें आते उतना ही क्षोभ प्रगट होता है। सुख भी उससे उतना ही दूर भागता जाता है। सुखका एक मात्र उपाय है उपयोगको स्थिर करके एक पदार्थपर लगाना। वह उपयोग स्थिर तभी कर सकते हैं जब हम अध्यात्म शास्त्रोंका मनन करके वस्तुस्वरूपका निर्णय करें तभी उपयोग किसी १ केन्द्रपर स्थिर हो सकेगा। भूतार्थनयसे ९ तत्त्व क्या सारी दुनिया उपयोगमें आवे फिर भी उसके विकल्प घटते जाते हैं। उपयोगमें जितने भी परिवर्तनशील विषय आते हैं वे सब समाप्त हो जावें और उपयोग स्थिर हो जावे, शांतिके लिये मानव जीवनमें यही करना शेष है। आज तक जिन पदार्थोंपर बुद्धि गई है वे सब विनाशीक हैं, पर हैं, अध्रुव हैं। अध्रुव और पर्यायको भी जाने किन्तु उन्हें पर्यायके रूपसे ही जाने तो कोई हानि नहीं, पर उन्हें मोही अपना रूप जानता है। खराब पदार्थको भी जाने, किन्तु उनपर भी उपयोग स्थिर हो जाय सो तो होता नहीं है। संसारी जीव जो जिस उपयोगमें रहता है वह अपने को उसीमें सुखी मानता है। कल द्रव्यपर्यायका वर्णन था, आज पदार्थको द्रव्य, गुण, पर्यायसे देखो—पर्याय वह है जो अध्रुव, विनाशी और परिणमन है। जो परिणमन है वह एक समयको रहता है, वही परिणमन दूसरे समय नहीं चलेगा। ये दशायें हमेशा बदलती रहती हैं किन्तु उसका जो आधार है वह कभी नहीं बदलता है। ये गुण और पर्यायें द्रव्यके आश्रयसे रहती है। जैसे क्रोध मान माया लोभ आया और दूसरे समयमें दूसरा आयगा। परिणमन एक समयका रहता है।

इस चौकीमें रूप है, रस है गंध है किन्तु ये निरन्तर बदलते रहेंगे। देखो छोटा आम काला जैसा होता है वही बढ़कर हरा हो जाता है, पकनेपर पीला हो जाता है—ये सब रूप-गुणकी पर्यायें हैं। परिणमन हमेशा एक समयका होता है। इनके आधारभूत एक शक्ति है—वह गुण है—खट्टा, मीठा ये गुण नहीं, रसगुणकी पर्याय हैं। इसी प्रकार सुगंध दुर्गन्ध भी गंध गुणकी पर्याय हैं। ये पर्याय बदलते हैं पर द्रव्य और गुण नहीं बदलता। इसी प्रकार आत्माकी ज्ञान-दर्शन शक्ति गुण हैं, उनमें ज्ञान गुणकी पर्याय कुमति, कुश्रुत, कुअवधि मति श्रुत वगैरह है। दर्शन गुणकी पर्याय, चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन आदि हैं। आनन्द गुणकी पर्याय निराकुलता और आकुलता, श्रद्धा गुणकी पर्याय मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन है। राग चारित्र गुणकी पर्याय है। वीतरागता चारित्र गुणकी पर्याय है। इन पर्यायोंको जानना और उनके आधारभूत गुणोंको जानना और उन गुणोंके आधारभूत द्रव्य को और उस द्रव्यके भी आधारभूत अर्थ सामान्यको जानना। उसके अनुभव करनेपर ही सच्चा स्वानुभव होता है।

**हम और यह क्या हैं**—यह मनुष्य क्या है? नाना प्रकारके पुद्गल परमाणुओंके पिंडकी व आत्मद्रव्यकी एक पर्याय है। यह असमान-जातीय द्रव्यपर्याय कहलाती है। क्यों कि अनेक द्रव्योंसे मिलकर यह एक पर्याय बनी है। वस्तुतः यहां भी परिणमन भिन्न हैं। स्थूल दृष्टिसे अथवा निमित्तनैमित्तिकके न्यायके अनिवार्य परिणमनकी दृष्टिसे हम एक पर्याय कहते हैं। मृतशरीर भी एक द्रव्यकी पर्याय नहीं। उसमें अनन्त परमाणु हैं, उनकी पृथक् पृथक् पर्याय हैं उनका एक पुञ्ज यह शरीर है। द्रव्य अभेद है उसके तिर्यगंश गुण हैं। गुणोंके अर्द्धवांश पर्यायें हैं। गुणांश गुणोंसे प्रकट होते हैं। गुण द्रव्यसे प्रकट है। इस तरह द्रव्य गुण पर्यायका निश्चय करना वस्तुतः स्वरूपको जाननेमें अत्यन्त आवश्यक है। आस्रव दो तरहका है। एक जीवास्रव, दूसरा अजीवास्रव। जीवास्रवके अनेक भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग (ये सब जीवास्रव हैं) इनसे ही जीवमें विकार का आस्रव होता है। जिसको निमित्त पाकर ही कर्मवर्गणाएं आती हैं वह कर्मवर्गणाओं का आना अजीवास्रव है। इन दोनों आस्रवोंको समझकर कि जीवास्रव जीवसे होता है—अजीव आस्रव अजीव कर्मसे होता है—इस प्रकार निश्चय करो। ये जीवास्रव रागका परिणमन है—रागादिक चारित्रका परिणमन हैं और चारित्रगुण आत्माका अभिन्न गुण हैं। गुण भेद मिटा देने पर ही उपयोग ध्रुवपर पहुँचेगा। विकल्प ऐसी जगह नष्ट हों जहां वे फिर उठें ही नहीं। भूतार्थनय ऐसी जगह पहुंचाता है जहां उपयोग स्थिर होता है—शान्ति प्राप्त करनेके लिये उपयोग स्थिर करना अत्यावश्यक है। सामने दिखने वाली हर दशासे लगाव न रखकर एक अपने पर दृष्टि करो।

**तुम ध्रुव हो, अतः निज ध्रुवको आप जानो**—पर्यायपर दृष्टि आई कि अनेक विकल्प सामने आकर खड़े हो गये। ये मेरे अनुकूल हैं—ये मेरे प्रतिकूल हैं। मान अपमान आदि अनेक झंझट साथ लग जाते हैं। इसलिये स्वभावका दर्शन, कारणपरमात्माका विश्वास, ज्ञानका स्थिर उपयोग ही इस जीवका भला कर सकता है। इन तक जानेमें बीचमें कुछ भी गुजरो, पर शान्ति तो स्वभाव तक पहुँचनेपर ही मिलती है। स्वभाव निश्चय है, परिणमन व्यवहार है। स्वभावके आलम्बनका लक्ष्य व्यवहार है। स्वभावकी श्रद्धा व्यवहार है, स्वभाव निश्चय है। कहीं भी रहो, कुछ भी करो, निराकुलता तो तभी मिलेगी जब स्वभावमें उपयोग जायगा। ये परिणमन मैं नहीं, परिणमन जानेके लिये आते हैं। मैं बाह्य में कुछ नहीं कर सकता। बाह्य पदार्थ मेरा भी कुछ नहीं कर सकते। इस बाह्यमें बुद्धि होने से ही पर्यायमें अहंबुद्धि रहती है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अखंड सत् है। मैं परको जानता भी नहीं, अपना ही परिणमन जानता हूँ। इस निज ज्ञेयाकारको जाना। हाँ! मालूम पड़ता है कि मैंने बाह्य ज्ञेयको जाना। पर ज्ञेयको कोई नहीं जानता। अपने ज्ञान परिणमन को ही जानता है। ज्ञानका तो एक स्वभाव है कि सभी पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। जिस प्रकार दर्पणमें दूसरे पदार्थ प्रतिबिम्बित होनेपर लोग देखते तो हैं दर्पणको ही और कहने लगते कि मैं इतने पदार्थों को देखता हूं तो यह कहना व्यर्थ ही है। उस ज्ञानमें जो ज्ञेयाकार बन जाता है तब कहा जाता है कि मैं अमुकको जानता हूं। जानने का सम्बन्ध परपदार्थसे नहीं—अपने ज्ञान परिणमनसे ही है। एक द्रव्यका दूसरेसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। भैया अभी तक क्षणिक परिणमनोंको ही जानते रहे—एक बार उस ध्रुव को तो जानो। प्रवचनसारमें लिखा है कि ज्ञानी किसी भी पदार्थको जानकर अपने एकत्व को जान लेता है। वह तो सोचता है कि जो ज्ञेयाकार बना है—वह मैं नहीं हूं। ज्ञेयाकार पर्याय है, अध्रुव है। यह ज्ञानशक्ति भी कुछ रूप परिणमे, कुछ भी करे परन्तु मुझे तो एकत्वपर आना है। राग किया, वह राग मैं नहीं—जिससे राग हुआ वह भी मैं नहीं, जिस को देखा वह भी मैं नहीं। यह राग चारित्र गुणकी पर्याय है—यह चारित्रगुण आत्माका गुण है। इस प्रकार अभूतार्थसे हटकर—भूतार्थपर आना है। यह जानने रूप श्रुत ज्ञान किसकी पर्याय है? ज्ञानगुण की पर्याय और ज्ञान आत्माका गुण है। इस तरह भेदसे हटना और अभेदमें पहुंचना। इसी प्रकार अनन्त सुख गुणकी पर्याय है, सुख आत्माका गुण है। इस प्रकार ज्ञानी हर जगह अपने एकत्वको देखकर अपना काम निकाल लेता है।

**करने योग्य काम शीघ्र करो**—विकल्प छोड़कर निर्विकल्प अवस्थापर आओ, शान्ति तभी मिलेगी। जीवनमें करना यही है। मनुष्य चाहे इसे कहीं भी कर सकता है। मन्दिरमें

करो, दूकानपर करो, जंगलमें करो या घर पर करो। मनका विकल्प दूर करना है—यही एक मात्र उद्देश्य होना चाहिये। साथ ही वह स्वानुभव प्रकट करना है। स्वानुभवके समय भावमन भी ज्ञान रूप हो जाता है। वह भावमन अतीन्द्रिय हो जाता है क्योंकि मनका काम विकल्प करना है। वह कभी निर्विकल्प पर नहीं ठहर सकता। मन चंचल है, निर्विकल्प अवस्था स्थिर है। तब मन उस अवस्थाको कैसे अनुभव कर सकता है?

अजीवास्रव-कर्मोका आना है। विस्रसोपचयमें पड़ी वर्गणाएं, समान शक्तिकी धारक वर्गोके समूह आत्माके रागद्वेषादि करनेपर कर्म रूप होकर आती हैं। जैसे सौ शक्तिवाले परमाणु मिलकर पहला वर्ग बन गया इसी प्रकार सौ सौ शक्तिके धारी अनेक वर्गोके समूह को एक वर्गणा कहते है। जो वर्गणाओंका समूह है उसे स्पर्द्धक कहते हैं। प्रथम स्पर्द्धककी आदि वर्गणासे दुगुना समूह शक्ति होनेपर द्वितीय स्पर्द्धक होता आदि समझ लो जैसा कि आगममें उल्लिखित है।

**कर्मजालसे भिन्न अपने आपको देखो**—कर्मोके बनते समय विस्रसोपचयमें पड़ी वर्गणाएं, कुछ यहां वहांकी पड़ी कार्माणवर्गणाएं भी विस्रसोपच्चय बनकर कर्म रूप होकर आती हैं। एक मोटा दृष्टान्त है जिस तरह जंगलमें घूमनेको जाते समय सिरपर जो मक्खियाँ भिनभिनाती हैं—जहाँ तक मनुष्य जाता है प्रायः वहीं तक वे साथ चली जाती हैं। उन्हींमें से कुछ यहां वहां की भी इकट्ठी हो जाती हैं। इसी तरह कार्माणवर्गणाएं भी हैं। कर्मरूप होकर वे यथायोग्य आठों कर्मरूप बन जाते हैं। जिस प्रकार भोजन करनेपर एक-प्रकारका भोजन सात धातु और अनेक उपधातुओं रूप अपने आप परिणाम जाता है उसी प्रकार ये कर्म मूल आठ प्रकृति रूप और विशेष भेद करनेपर असंख्यात रूप परिणमन कर जाते हैं। इनमें प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध रूप भाग बंटवारा हो जाता है। इस तरह इन कर्मोको अपनी आत्मासे अलग समझकर अपने आत्मस्वरूपको देखना शान्तिका मूल कारण है।

**शान्तिके लिये अपनी स्वयंकी प्रद्योतमान आत्मज्योतिको देखो**—वर्तमानमें जो संयुक्त आत्मा दिख रही है उस दृष्टिको गौण करके स्वभावसे जो तीनों कालमें विशुद्ध रहता है—उस चैतन्य प्रकाशमान स्व-स्वरूपका दर्शन करना ही धर्म है। किसी भी अवस्थामें वह आत्मज्योति हमेशा हमारे पास रहती है, निरन्तर जल रही है। अनन्त परिणामोंके बलपर जीवोंके भाव भी अनन्त होते हैं इसीलिए गुणस्थान भी अनन्त हो सकते हैं। लेकिन यह समान स्वभाव वाले जीवोंकी श्रेणी बनाकर १४ गुण स्थान बनाये हैं। उनमें बताया है कि आत्माके गुणोंकी पर्यायें कितनी हो सकती हैं? संयमासंयमके, संयमके असंख्यात गुणस्थान हो सकते हैं। जैसे जीवोंके भावोंकी शुद्धता बढ़ती जाती है उसी प्रकार गुणस्थान बढ़ते

जाते हैं। उस एक आत्मज्योतिको देखो—स्वतन्त्र प्रतिभासमात्र जो न राग सहित है, और न रागरहित है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है। वह स्वभाव एकरूप है, उसके देख लेनेपर ही स्थाई आनन्दके दर्शन होते हैं। अपने विकारोंसे हमने उसे ढक दिया है। जिसके ये सब परिणमन चलते हैं, जिसका आविर्भाव तिरोभाव चलता है वह एक है। पचासों गांवोंसे गुजरनेवाला पुरुष तो एक ही है इस तरह प्रत्येक सत् इकहरा—एक और अखंड है। अन्तः प्रकाशमान, बाहरसे ढकी हुई उस अन्तरज्योतिको एक बार भी देख सके तो ये संसारके सब झगड़े समाप्त हो जायें। देखो! एक वही तो ढका है, वही पूरा विकसित है, मौजूद भी है और नहीं दिखनेसे नहीं जैसा भी है, सामान्य रूप भी है और विशेष रूप भी है।

**पदार्थ सामान्यविशेषात्मक अवगत होता है**—'सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः' याने पदार्थ सामान्य और विशेषरूप होता है। जितने ये विशेष दिख रहे हैं उन्हींमें सामान्य मौजूद है। विशेषको छोड़कर सामान्य कहीं भी नहीं होता। पर जो सामान्य है वह विशेष नहीं, जो विशेष है वह सामान्य नहीं। मनुष्य, बालक, जवान, बूढ़ा—ये विशेष हैं—और इन तीन अवस्थाओंमें रहने वाला एकमात्र मनुष्य सामान्य है। किन्तु पर्याय-रहित मनुष्य नहीं होता है। जो बालक था वही जवान बना है और जो जवान था वही बूढ़ा हुआ है। इन तीनों अवस्थाओंसे जो मनुष्य गुजरता है वह सामान्य है। विशेष अनन्त होते हैं उनमें सामान्य एक होता है। उन्हीं अनन्त भावोंमें से जीवको आठ तत्त्वोंमें बांध दिया है। अजीव मिलाकर ये नौ तत्त्व होते हैं। विकल्पोंसे छूटनेके लिए विशेषको छोड़कर सामान्यपर आओ। गुण और पर्यायको छोड़ द्रव्यपर आओ। भूतार्थका विषय वही एक आत्मा है। आत्माका वर्णन करने वाले अब उपाय बताते हैं। केवल पर्यायको कोई नहीं जानता है, जो जानता है वह पदार्थको ही जानता है। किसीने गंध ली उसे भी पदार्थका ज्ञान हुआ ऐसी इन्द्रियोंकी मुख्यतासे (निमित्ततासे) पदार्थको ही जानते हैं। यही कला इन नयोंमें है। कोई नय भेदसे पदार्थको जानता है, कोई अभेदसे, कोई पर्यायसे। नय और प्रमाणका काम जानना है। उसका व्यवहार करना काम निक्षेपका है। प्रमाण सर्वांश और नय एक अंशको जानता है। इनका व्यवहार चलानेके लिए निक्षेपका सहारा लिया जाता है। जैसे एक बूंद समुद्र है कि नहीं? यदि समुद्र है तो उसमें जहाज चलाकर बताओ और यदि बूंद समुद्र नहीं—तो समुद्रकी एक एक बूंद मिलाकर भी समुद्र नहीं बन सकता, तो वह सब बूंदें भी समुद्र नहीं। इसका समाधान यह है कि बूंदें समुद्र नहीं और न असमुद्र है किन्तु समुद्रांश (समुद्रका अंश) है। इसी प्रकार नय ज्ञान नहीं और अज्ञान भी नहीं किन्तु ज्ञानांश है। ज्ञानांशका समूह ही प्रमाण है।

निक्षेपका व्यवहार चार प्रकारसे होता है, किसी वस्तुका नाम रख देना नाम-

निक्षेप है। वस्तुका नाम रखे बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता। वस्तुकी जानकारीके आद्य निर्णयको नाम निक्षेप कहते हैं। ज्ञानसे किसे जाना? पर्यायको। उसमें किसी वस्तु विशेषकी स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। जैसे यह घट है उसमें घटत्वकी स्थापनाका व्यवहार है। ज्ञानमय जैसा ज्ञेयाकार वना वह ये है ऐसा बोध स्थापना निक्षेप है। जैसे शतरंजमें हाथी घोड़ाका व्यवहार करते हैं यह स्थूल दृष्टि है, भावी होनेवाली पर्यायको वर्तमानमें बताना—जैसे राजाके लड़केको राजा कह देना द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप उसकी योग्यताका वर्णन करता है और उसकी वर्तमान अवस्थाको बताना भावनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप—किसी वस्तुकी स्थापनाके बाद बतानेका यत्न करना है और भावनिक्षेप वर्तमानमें जो वर्तमान कहा गया यह है।

**शृङ्गार निराधार नहीं होता है**—पहले बताया था कि भूतार्थका विषय एकत्वरूप आता है। उस प्रद्योतमान आत्माको जाननेका उपाय, नय और प्रमाण है। जैसे रूप पर्याय को चक्षुइन्द्रियसे जैसा समझा उससे जो वस्तुज्ञान हुआ वह प्रमाण है। यद्यपि ये उपाय भी अभूतार्थ है। ये नय और प्रमाण जिसे जानते हैं वह भूतार्थ है। जैसे माता बच्चेको अंगुलीसे चन्द्रमा दिखाती है वह चन्द्रमा भूतार्थ है और उसमें अंगुली खुद चन्द्रमा नहीं, अतः अंगुली अभूतार्थ है। यदि कोई अंगुलीको ही चन्द्रमा समझने लगे तो वह मोही ही है। इसी प्रकार प्रमाण नय निक्षेपसे समझो पर अटको मत। उस एकत्वको ढूंढ़ना है। नदीमें बैठकर चारों तरफ नावको चलाओ और खूब घूमो, लक्ष्यके बिना कोई एक किनारा तो नहीं मिल सकता। भूतार्थसे जाना यह द्रव्य है यही प्रमाण है। प्रमाण दो तरहका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। परके अवलम्बनके बिना केवल आत्मशक्तिसे जानना प्रत्यक्ष है। इन्द्रियादिक परके अवलम्बनसे जानना परोक्ष ज्ञान है।

पहले ज्ञान स्वभाव एक था। उसका यह भेद परिणमन हुआ। फिर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष ये भेद किये। उसके भी अनेक रूपक बनाये। पर स्वभावमें स्थिर होनेके लिये परिमन करना है तो इतने भेद भी मत करो। भेद तो समझने और समझानेको करना पड़ते हैं। स्वभाव तो एक प्रतिमास मात्र है। उसको समझनेके लिये सब भेद-प्रभेद चलते है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प है और परोक्ष सविकल्प। मतिज्ञान निर्विकल्प है और परोक्ष सविकल्प। मतिज्ञान निर्विकल्प है, श्रुतज्ञान सविकल्प है। जो अपने आलम्बनसे पदार्थोंको एक देश जाने उसे विकलप्रत्यक्ष कहते हैं। सकलदेश जानना सकल प्रत्यक्ष है। उनमेंसे मूर्तको पुद्गलको जानने वाला अवधिज्ञान है। उससे आगे मनके भावोंको जानने वाला मनःपर्ययज्ञान है। सब पदार्थोंकी सब दशाओंका जान सकनेका सामर्थ्य केवलज्ञानमें है।

व्यवहार और अभूतार्थकी दृष्टि असत्य है। क्योंकि यह दृष्टि सत्में होने वाले निरपेक्ष परिणामिक भावको नहीं देखती। अंगुली तो सब अवस्थाओंमें अंगुली सामान्य

और एक ही है। उसीकी अवस्थायें पचासों होती हैं। यहाँ पर जानने वाला और जानने योग्य और जाननेका साधन एक ही हो जाता है ऐसा उपाय चले वही भूतार्थ है। जैसे देखो यहाँ मन्दिरमें बैठे हैं तो इस धर्मचर्चाके आगे दुकानदारी अभूतार्थ जंचती है। दुकान पर बैठने पर मन्दिर अभूतार्थ है (व्यापारकी दृष्टिमें) इसी प्रकार व्यवहारकी दृष्टिमें निश्चय अभूतार्थ है और निश्चयकी दृष्टिमें व्यवहार अभूतार्थ है। यहाँ इतना विवेक जरूर करो, हितकी स्थितिसे पहिले निश्चय आता, सो निश्चय भूतार्थ है। पूरा पदार्थ नयसे नहीं जाना जा सकता। जिसका एक बार अनुभव कर लिया उसका जरासा संकेत करनेपर अनुभव होने लगता है। जिसने मिश्रीका स्वाद ले लिया उसे मिश्रीका नाम ले देनेपर ही मिश्रीके स्वादका अनुभव सा हो जाता है।

**अज्ञानचक्रका खण्डन करने वाला नयचक्र है**—नयोंकी कृपासे पदार्थका ज्ञान होता है। पर वह ज्ञान अपूर्ण रहता है। द्रव्यकी मुख्यतासे अनुभव करें वह द्रव्यार्थिक नय है। पर्यायकी दृष्टिसे अनुभव करना पर्यायार्थिकनय हैं। ये दोनों नय भूतार्थ दृष्टिकी पद्धतिसे जानने लग जांय तो यथार्थ ज्ञान कर सकते हैं। द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यको देखें, पर्यायदृष्टिसे पर्यायको जाने और उस पर्यायमें रहने वाले द्रव्यका अनुभव करें तो वही भूतार्थ हो जाता है। जहां द्रव्य, पदार्थ और गुणका कुछ भी भेद नहीं रहता—केवल स्वभावका अनुभव है वह अर्थज्ञान है। जब तक उत्सव पूरा नहीं होता तब तक हल्ला गुल्ला होता है—उत्सव पूरा हुआ कि हल्ला गुल्ला समाप्त। इसी प्रकार जब तक लक्ष्य पूरा नहीं होता तब तक प्रमाण नय निक्षेपका सहारा लेना पड़ता है। स्वानुभव हो जानेपर इन तीनोंकी कोई आवश्यकता वह स्थिति स्वयं प्रमाण है। ज्ञानाभ्यास और मननका उद्यम किया जावे, कभी न कभी लक्ष्य सिद्धि हो लेगी। एक कुम्हारको एक बाबू ने पायजामा दे दिया। भैया! उसे पहननेका कुछ भी ज्ञान नहीं था, इस कारण उसे कभी सिर पर डालता है, हाथ पर डालता, कभी कमर पर। एक बार पैरोंमें भी डाल दिया। ठीक हो जानेके बाद वह उस का पहिनना अब कभी नहीं भूलता है। देखो बार-बारके प्रयोगमें वह कुम्हार स्वयं सब जान गया। इसी प्रकार एक बार स्वभाव जान लेने पर फिर आपत्तियां नहीं सताती। बार बारके मननमें वह निज अलौकिक तत्त्व, जिसके लिये योगी सतत उपासना करते हैं, ज्ञान द्वारा सुज्ञात मिलता है।

**अनुभवका पूर्वरूप निश्चय व निश्चयका पूर्वरूप व्यवहार**—व्यवहार चलानेके लिए वस्तुका नाम रख लेना नामनिक्षेप है। स्थापना करना स्थापनानिक्षेप है। शक्तिका भान द्रव्यनिक्षेप है। भविष्यमें होने वाली पर्यायका वर्तमानमें व्यवहार करना द्रव्यनिक्षेप है। वर्तमान पर्यायको वर्तमानमें कहना भावनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेपमें पहले और पीछे दोनों

व्यवहार होते हैं। देखो व्यवहारमें विशेषकी महत्ता है। जैसे यह विशेष ज्ञानी है पहलवान है। पर अध्यात्म मार्गमें सामान्यकी महत्ता है। अभेदरूप सामान्य है उसका अनुभव करने पर विशेष उसीमें विलीन हो जाता है। इसी प्रकार जीवका स्वभाव जान लेनेपर इन प्रमाणनय निक्षेपोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जैसे सारी बरात एक दूल्हाके ऊपर निर्भर है और सब बरात न हो एक दूल्हा ही हो तो काम बन सकता है पर बरात हो और दूल्हा न हो तो क्या कामकी बरात है? अहा, देखो, देखो तो इस निजस्वभावके अनुभव होने पर, नयलक्ष्मीका उदय नहीं, प्रमाण अस्त हो जाता है, निक्षेप तो कहाँ चले जाते हैं? इस निर्विकल्प स्थितिमें कोई द्वैत ही प्रतिभास नहीं होता है।

अभी भूतार्थका वर्णन था—एक स्वभाव है इसके जाननेपर कोई विकल्प नहीं रहता। जिसमें न भेद द्रव्यका है, न क्षेत्रका और न कालका ही है। जब अनुभवमें सामान्य आत्मा रहता है। वहां नय-निक्षेपका कुछ भी लक्ष्य नहीं रहता। वहां न निश्चय है और न व्यवहारनय है। सब दशाएं गौण हो जाती हैं। जैसे सज्जनके समागमसे सज्जनता आती। उसी प्रकार द्रव्य सामान्यके आश्रयसे द्रव्य सामान्यकी प्राप्ति होती है।

स्वानुभवके यत्नमें लगो—स्वानुभूतिका तरीका यह है कि मोहके प्रसंगोंसे बचकर मौलिक सदाचारोंका पालन किया जाय। आचरण शुद्ध करना होगा, सम्यग्ज्ञानको समझना होगा। सबसे विभक्त इस आत्मस्वरूपको समझना होगा। एतदर्थ शुद्धनयका आश्रय प्रयोजनवान है। शुद्धनयकी बात जाननेके लिए व्यवहार प्रयोजनवान है। अपनी पूर्व अवस्था से ही अन्दाज लगा लो कि व्यवहारकी बातमें अटके रहे और माना उसीको सर्वस्व। यह द्रव्यस्वभावकी बातकी समझ "नियमसे मोक्ष होगा" इसकी सूचक है, शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रकट करता हुआ प्रकट होता है। शरीरसे जुदा, कर्मसे जुदा, औदायिक भावोंसे अलग, परभावोंसे अलग, विकारी परिणमनोंसे भी अलग, अत्यन्त अभाव वाले पदार्थोंसे अलग कर शुद्धनय आत्मस्वभावको प्रकट कराता है। शुद्धनय खालिस एक शुद्ध स्वभावको प्रकट करता है। परसे जुदा किया। फुटकर ज्ञानोंसे भी अपनेको जुदा किया क्योंकि वह ज्ञान अपूर्ण है। आत्मस्वभाव आपूर्ण हैं। ये फुटकर ज्ञान अध्रुव हैं। आत्मस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है। अब यहाँ शंका होती है कि जब मैं फुटकर ज्ञानसे जुदा हूँ तो केवलज्ञान तो मेरा स्वभाव होगा।

स्वभाव आदि-अन्त रहित होता है। केवलज्ञान आदि रहित नहीं है वह भी ज्ञान गुणकी पर्याय है—प्रतिसमय समान रूपसे प्रकट होता रहता है अतः अन्यपना ज्ञात नहीं होता है। वह केवलज्ञान सापेक्ष भी है। पहले नहीं था अब प्रकट हुआ। जीव मलिन था, दुखी था, सम्यग्ज्ञान पाया, स्वतन्त्रता समझी, अपने स्वभावमें रहा, शुभ अशुभसे दूर हुआ

तब मुक्ति मिली, पूर्ण ज्ञानी बना। वह केवलज्ञान भी स्वभाव नहीं। क्योंकि जबसे आत्मा है तबसे स्वभाव है। जब आत्मा अनादिसे है तो स्वभाव उसका अनादिसे होना चाहिए। केवलज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं। केवलज्ञानमें यह विशेषता है कि प्रतिसमय उसका नया परिणमन होता रहता है पर एक समान रूपसे परिणमन होनेके कारण उसमें अन्तर नहीं मालूम पड़ता। जिस प्रकार यह जलती हुई बिजली प्रतिसमय नई प्रकट होती है पर देखनेवालोंको ऐसा पता चलता है कि घन्टों एक ही बिजली जला करती है। आत्माका स्वभाव अभेद, अखंड एक चैतन्यरूप है। वहाँ भेद-भावकी कोई गुँजाइश नहीं।

**आत्मस्वभाव अनात्मतत्वसे भिन्न है**—आत्माका स्वभाव परभावोंसे भिन्न है, औदारिक शरीरसे भिन्न, रागादिकसे भिन्न, औदायिक भावोंसे भिन्न, क्षायोपशमिक भावोंसे भिन्न और केवलज्ञानसे भी भिन्न है। ये चार बातें कल आ चुकी थी। जिसके ये सब परिणमन हैं उसे लक्ष्य कहा जाता है। पर्याय स्वभावमय नहीं। स्वभाव तो अनादि अनन्त है जब कि पर्याय प्रतिसमय परिवर्तनशील है। स्वभाव, सहजशक्ति, सहजज्ञान और सहजदर्शन आदि इनको तो कहते होंगे? उत्तर--स्वभाव एक होता है और अखंड होता है, उसके दर्शन ज्ञान शक्ति रूप कैसे भेद हो सकते है। स्वभाव अनेक नही हो सकते। प्रश्न—अनेक नहीं ऐसा तो स्वभाव है—इससे तो अपनेको पहचान लेंगे। उत्तर—"विलीनसंकल्पविकल्पजालम्:" अनेकका खंडन करनेपर भी उनका विकल्प आ ही जाता है। जिस प्रकार किसीसे कह दिया कि तुम जंगलमें चले जावो, वहाँ अमुक पेड़के नीचे कोई भूत वगैरह नहीं है डरना मत, इस निषेधमें भी उस मनुष्यको भूतका भय भर ही गया। उसे संकल्प विकल्प तो उठेंगे ही। स्वभाव निषेधके विकल्पपूर्वक नहीं होता। संकल्प वह है जो मिथ्यात्वके उदयसे हो- --विकल्प वह है जो रागद्वेष विकार हो याने दर्शन मोहसे संकल्प होता है और चारित्र मोहसे विकल्प—इन दोनोंके जालसे रहित और एक अनेककी कल्पनासे परे अनुभवगम्य चैतन्यमात्र आत्माका स्वभाव है।

परसे भिन्न सोचनेपर विभावोंसे भिन्न हो चुका, फुटकर ज्ञानसे भिन्न हो चुका, स्वभावसे भी भिन्न हो चुका, स्वभावका लक्षण स्वभावपर्यायसे भी भिन्न है---जब अपनेको देख लिया वहाँ कोई संकल्प विकल्प नहीं। संकल्प विकल्पके बिना आकुलता और दुःख भी नहीं रह जाता। एकमें ज्ञान होनेपर तो आनन्द और शान्ति ही रह जाती है।

**सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिमें विशेषता**----स्वानुभूति, ज्ञान गुणकी पर्याय है, वह लब्धिरूप और उपयोगरूप होती है। लब्धि उसे कहते हैं जिसके कि जाननेका क्षयोपशम हो और उस समय उसका उपयोग हो या न हो। जैसे किसीको चार भाषाओंका ज्ञान है

और उसके सामने किसी एक भाषाका पत्र आया तो वह उसे ही पढ़ता है। तो भी लब्धिमें तीन भाषाएं हैं और उस समय उपयोगमें एक भाषा ही आ रही है।

सम्यग्दर्शनके होनेपर जो स्वानुभूति होती है वह लब्धिरूपसे हमेशा रहती है किन्तु उपयोगरूपसे जब कभी सम्यग्दर्शन लब्धिरूप और उपयोगरूप नहीं रहता। जो तत्काल देखा वह उपयोग कहलाता है और जिसे जाननेकी शक्ति है वह लब्धि कहलाती है। इस प्रकार आत्मस्वभावका प्रकाश करता हुआ स्वानुभव प्रकट होता है। उस स्वभावको बताने के लिए 'भगवान कुन्दकुन्द' १४ वीं गाथामें शुद्धनयकी कलाका प्रायोगिक रूप कहेंगे।

卐 卐 卐 卐

इस प्रकार सन् १९५६ में जबलपुर आदि स्थानोंमें हुए अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "श्रीमत्सहजानन्द" महाराजके समयसारपीठिकाके १३ गाथावों के प्रवचन समाप्त हुए।

॥ ॐ तत् सत् परमात्मने नमः ॥

॥ इति समयसार प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ॥

# समयसार-प्रवचन द्वितीय पुस्तक

ओ३म् नमः परमशुद्धाय

अखण्ड, अविकार आत्मस्वभावकी उपासनासे, आत्मीय सहजानन्दके अनुभवसे तृप्त अध्यात्मयोगीश्वर श्रीमत्कुन्दकुन्द आचार्य अब यह बताते हैं कि वह शुद्धनय क्या है, जो केवल, शुद्ध, विभक्त, एकत्वगत आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ उदित होता है:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो आशय आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष व असंयुक्त देखता है उसे शुद्ध नय जानो । यहाँ शुद्धनयसे तात्पर्य परमशुद्धनिश्चयनयसे है । परमशुद्धनिश्चयनय अर्थके परमस्वभावकी ओर दृष्टि दिलाता है । वस्तुका परमस्वभाव तो वस्तुतः अवक्तव्य है और इसीपर दृष्टि दिलानेका प्रयोजन अध्यात्मशास्त्रका होता है । इसके वर्णन करने वाले नयको शुद्धादेश नय कहते हैं । इस दृष्टिसे नयके तीन प्रकार हैं:—(१) शुद्धनय, (२) शुद्धादेशनय, (३) व्यवहारनय अथवा अशुद्धनय । परमस्वभावको जानने वाले ज्ञानको शुद्धनय कहते हैं । शुद्धनयके विषयका प्रतिपादन करनेमें समर्थ ज्ञानको शुद्धादेश नय कहते हैं । इसके अतिरिक्त अवशिष्ट सब दृष्टियोंको व उनके प्रतिपादन करनेमें समर्थ अवबोधोंको व्यवहारनय कहते हैं । इस प्रकरणमें इस पद्धतिका अनुसरण किया गया है । इसीका दिग्दर्शन पूर्वोक्त यह गाथा करती है "शुद्धो शुद्धा देशो णायव्वो परमभावदरसीहिं । ववहारदेसिदा पुण जो दु अपरमेट्ठिदा भावे" । प्रयोजन भी इतना है:—(१) उपादेय अवगम, (२) उपादेय कथन, (३) उपेक्ष्य । उपादेय-अवगम व उपादेयकथन तो आवश्यक है ही, किन्तु उपेक्ष्य-अवबोध भी उपेक्ष्य बताकर उपेक्षा करानेके प्रयोजनमें आवश्यक है । इस प्रकार इन तीनोंके परिज्ञानसे मुमुक्षुका मार्ग विशद होता है ।

जब हम और आप किसी वस्तुको संयुक्त देख सकते हैं तो उसे असंयुक्त भी देख सकते हैं । संयुक्त-असंयुक्त भी देख सकते हैं । मिली हुई चीजोंमें से एकको देखना असंयुक्त दृष्टि है । जब यह जीव असंयुक्त दृष्टि द्वारा परमशुद्ध निश्चयनयका प्रयोग करता है तब उसे आत्माका अबद्धस्पृष्ट रूप दिखने लगता है । अर्थात् वह कर्मोंसे नहीं बंधा, शरीर और कर्मों से नहीं छुआ गया । रागादिकमें कर्म तो फिर भी निमित्त कहा जा सकता है, पर शरीर निमित्त नहीं है । जहां एकको निरखा वह बंधा नहीं है । यह डंडा बंधा हुआ है पर उसमें एक एक परमाणु स्वतंत्र है । आत्मा एक अखंड है । जिसमें एक परिणमन हो वह अखण्ड

है। एक प्रदेशपर जो एक परिणमन होता है सम्पूर्ण वस्तुमें ही वह परिणमन हो—उसे अखण्ड कहते हैं। लोग कहते हैं कि बुद्धि मस्तिष्कमें रहती है बाकी और कहीं नहीं, किन्तु बुद्धिका क्षयोपशम समस्त आत्मामें है। पर हम इतने कमजोर हैं कि हमें ज्ञान मानो इन्द्रियोंकी सहायतासे होता है, परन्तु अनुभव पूरी आत्मासे ही होता है। ज्ञान सब आत्मप्रदेशोंमें एक होता है। इसी तरह दर्शन आदि शक्तियां भी हैं। कोई भी गुण ले लो वह आत्माके समस्त प्रदेशोंमें है। एक अखंड स्वभाव अबद्ध है। जैसे कमलिनीका पत्र पानीमें रहकर भी उससे अलिप्त रहता है; पानी उसको छुआ भी नहीं है—जब भी बाहर निकालो वह सूखा ही है, पानीके संयोगमें भी वह अलिप्त है। इसी प्रकार कहते हैं कोई कि आत्मा आकाशमें रहती है किन्तु आत्मा, आत्मामें ही रहती है; किसी परपदार्थमें नहीं।

जो अभिप्राय आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानता है वही शुद्धनय है।

*आत्मा—अबद्ध, अस्पृष्ट, एक नियत, सामान्य, स्वभावमें तन्मय, परसे भिन्न, अनुभव* में आवे वही शुद्धनयका कार्य है। यद्यपि स्वानुभवके समय नय भी विलीन हो जाता है किन्तु जब उस एकको जानते है—शुद्ध नयकी सहायतासे ही। ऐसी अनुभूति वस्तुके एकत्व पर जब प्रयोज्यमान होती है तब अपूर्व आनन्द प्रकट होता है। एकका विशेष महत्त्व है। जहाँ विशेषपर दृष्टि गई वहाँ आपत्ति आई। तेरहवीं चौदहवीं ऐसी गाथा हैं कि इनका मर्म समझ जाओ तो समझो सब समझ गये। इस पुस्तक पर पुट्ठा चढ़ा है, पर पुस्तकमें पुट्ठा नहीं और पुट्ठेमें पुस्तक नहीं है। पुस्तकमें पुस्तक और पुट्ठेमें पुट्ठा है। दीवाल पर चूना पोता गया। लोग कहते हैं दीवाल सफेद हो गई पर सफेद दीवाल नहीं हुई—सफेद चूना ही हुआ है। दीवाल तो वैसी ही है। अभी उस चूनेको खुरेद कर देखो तो दीवार अपने रूपमें और चूना अपने रूपमें। ऐसे ही वस्तुस्वरूपको देखनेसे वह शुद्ध ही दिखता है। यदि पानीमें डूबा हुआ कमलका पत्ता देखोगे तो वहाँ कमल और पानी दोनों दिखेंगे और यदि वहाँ एककी दृष्टिसे देखो तो वहां शुद्ध पत्ता ही दिखेगा।

**वस्तुको उसके निज निज** अस्तित्वमें देखो—जहां भी संयोग दृष्टि जाती है, वस्तु बद्ध दिखने लगती है। रस्सीसे बंधी गाय—दोनोंके संयोगके दृष्टिसे बंधी है। जहाँ एककी दृष्टि दो, गायमें गाय और रस्सीमें रस्सी है। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि हम घर गृहस्थीसे बंधे हैं, पर यथार्थदृष्टिसे कोई किसीसे बंधा नहीं है। आपत्ति मेटनेकी यही एक सर्वोत्तम दवा है—एककी दृष्टिसे देखो। वह न बंधा है और न दूसरोसे छुआ है। सब विपत्तियां अपने आप दूर हो जावेंगी। इसके अतिरिक्त सुखके लिये तीन लोकोंका कोना-कोना खोज डालो—उसके कहीं दर्शन भी नहीं होंगे।

संसारमें कोई किसी का मददगार नहीं है। अपनी आत्मा ही अपनी स्वयंकी मददगार है। दुनियांको सही दृष्टिका पता हो तो दुनिया ही मिट जाय और वस्तु स्वच्छ हो जाय। चूंकि यह होना संभव नहीं। विषय कषायकी तरह यदि स्वभावका परिचय हो जाय तो यह संसार ही मिट जाय। ये विकार ही तो संसार है। फिर भी जिन जीवोंका हित-समय आ गया वे संसारसे मुक्त होंगे ही।

लोग कहते हैं कि भारतको धर्मने बर्बाद कर दिया। धर्म किसीको बर्बाद या दुःखी नहीं करता। धर्मकी ओटमें जो पाप होते हैं और उस पर धर्मका मुलम्मा चढ़ाकर उसे धर्मकी संज्ञा दी जाती है—वह ही बर्बाद करने वाला है। सच्चे धर्मसे तो तत्काल सुख होता है।

**धर्मकी ओटमें किये जाने वाले पाप बरबादीकी जड़ है**--पाप मनुष्य दो तरहसे करता है--एक तो सरलतामें हो जाता है, दूसरा कपट-पूर्वक पाप करता है। मैं पाप करता रहूँ और दुनियां न जान पावे यह कपट-पूर्वक पाप है। पापसे भली भांति परिचित है फिर भी पाप करे वह भी यही है। शरीरसे या बाह्य किसी साधनसे धर्म नहीं होता। अपने स्वभावको जानकर ही धर्म होता है। लोग कहते हैं वह साधु बन गया—पर साधु कोई बनता नहीं–भीतरसे जब वीतरागता प्रकट होती है तब उसके सब क्षणिक त्याग करनेके भावके अनर्थान्तिर रूप स्वभाव भावना प्रकट हो जाती है। उस समय यह साधुरूप अपने आप बन जाता है। पैसेसे भी धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं धर्म करो--याने पैसेका त्याग करो, परन्तु त्याग किया नहीं जाता है। स्वतः आत्मासे अनुभव होने पर, स्वभावदृष्टि आनेपर यह संसारी पदार्थ जब कोई अपनाने योग्य नहीं रहते उस समय अपने आप उदारता आ ही जाती है। धर्म तो सम्यग्दर्शन, रत्नत्रय आदि रूप है।

**आत्मीय समृद्धि ही सच्चा वैभव है**--स्वयंमें तो उन अनन्त गुणोंका भंडार भरा पड़ा है, जिसके मुकाबलेमें संसारका समस्त धन कौड़ीकी भी कीमत नहीं रखता। परन्तु इस आत्मधर्मका जिसे पता नहीं वह ही उस भौतिक धर्मको धन मानता है। लोग कहते हैं कि अपने पूर्वजोंकी नीति निबाहो, अपने पूर्वजोंसे यह कार्य चला आ रहा है पर अपने पूर्वजों की ओर ध्यान तो दो उन्होंने क्या-क्या किया ? बड़ोंने कैसा काम किया--धन-वैभव जोड़ा, पर अन्तमें सब छोड़ दिया और स्वभावको खोजने जंगलमें चल दिये। एक चक्रवर्तीकी पुत्री अनन्तश्री थी। उसे विद्याधर हर ले गया और उसे जंगलमें छोड़ दिया। वहाँ कोई था तो नहीं, भयानकता थी। जीव जंतुओंकी चीत्कार, वृक्ष पत्थर ही उसके साथी थे। कुछ दिनों में कपड़े भी फट गये। वह सोचने लगी क्या किया जाय ? वहीं वह आत्मध्यान करने लगी। हजारों वर्ष तपस्या की। एक समय एक अजगर सांपने उसे आधा निगल लिया। इतनेमें

उसका पिता चक्रवर्ती अकस्मात वहींसे निकल पड़ा। उसने अपनी लड़कीको इस तरह देखकर हथियारसे सर्पको मारना चाहा। परन्तु लड़कीने पितासे प्रार्थना की कि आप हिंसाका कृत्य क्यों करते हैं, यह तो हिंसक है ही, आप क्यों हिंसक बनते हैं? इसे अभयदान दो। सर्प उसे निगल गया और वह अनन्तश्री अगले भवमें देवी हुई। वहाँसे चयकर विशल्या हुई जिसके शरीरके छुये हुये एक बूंद पानीसे ही भयंकरसे भयंकर विष दूर हो जाते थे।

अपने शुद्ध भाव रखो उसमें भले ही तुम्हें गरीबी भोगना पड़े। पर हिम्मत करो तभी स्वभाव प्रकट होगा। कुछ भी हो हम इसी प्रकार अपने जीवनमें अहिंसा और सत्यका प्रयोग करें। जब आपत्ति आ जाय तो अपने स्वभावका अनुभव करो। सब आपत्ति विलीन हो जायगी। उसी समय सुख शांति प्राप्त हो जावेगी।

**पदार्थको परखनेके चार उपायभूत आशय**---कोई भी चीज हो, चार प्रकारसे जानी जा सकती है--१. परम शुद्ध निश्चयनय, २. शुद्ध निश्चयनय, ३. अशुद्ध निश्चयनय, ४. व्यवहारनय। उनमें मूल मुद्रा निश्चयनय है। एकको ही जानना निश्चयनय है। निश्चयनय ३ प्रकारका है:---परम शुद्ध निश्चय, शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय। जो एक को जाने उसे निश्चयनय कहते है। और जो दो या दो से अधिकका सम्बन्ध जाने उसे व्यवहारनय कहते है। किसी भी चीजको दो ही प्रकारसे जाना जा सकता है। जैसे तन्तु समूहसे व कोली आदिसे कपड़ा बना, यह व्यवहारनय है। परमाणुओंसे कपड़ा बना--यह निश्चयनय है। खालिस जाननेको निश्चय और सम्बन्धसे जाननेकी व्यवहार कहते हैं। परम शुद्ध निश्चयनय वस्तुके स्वभावको जानता है। शुद्ध निश्चयनय वस्तुकी शुद्धपर्यायको जानता है और अशुद्ध निश्चयनय वस्तुकी अशुद्ध पर्यायको जानता है।

जैसे एक दर्पण है। दर्पणके शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे भी दर्पणकी देख सकते हैं। मान लिया हमारे पीछे कोई चीज रखी है, दर्पणके सामने होनेसे दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब आजावे। यद्यपि प्रतिबिम्ब निमित्त पाकरके आता है तो भी केवल दर्पणको भी देखकर प्रतिबिम्ब जाना जाता है। माना दर्पणमें वृक्षका प्रतिबिम्ब है। तो क्या दर्पण और वृक्षके देखने से ही वृक्ष दिख सकेगा? नहीं, दर्पणमें प्रतिबिम्बमात्र अशुद्ध पर्याय देखने से भी वृक्ष दिखाई दे सकता है। स्वभाव, परमशुद्ध, शुद्ध और अशुद्ध पर्याय अद्वैतसे निश्चयनयसे जाना जाता है। वस्तुका सम्बन्ध व्यवहारनयसे जाना जाता है। शुद्ध पर्यायकी मुख्यतासे जाने तो शुद्ध निश्चयनयसे जाना जाता है। स्वभावकी मुख्यतासे जाने तो परमविशुद्ध निश्चयनयसे जाना जाता है। अशुद्ध पर्यायकी मुख्यतासे जाने तो अशुद्ध निश्चयनय कहलाता है। जीव रागी है, द्वेषी है, क्रोधी है, मानी है—यह अशुद्धनिश्चयनयका विषय है। परमशुद्धके मुकाबिलेमें अशुद्ध निश्चयनय व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनयका विषय

अखण्ड एक होता है। शुद्ध निश्चयनयका दृष्टान्त—आत्मा निष्कषाय है, शुद्ध है तथा सिद्ध पर्याय तीन काल रहने वाले स्वभावको देखना परमशुद्ध निश्चयनय है। जैसे मतिज्ञान पर्याय है, वैसे ही केवलज्ञान भी पर्याय है। अध्यात्म तपस्या करने पर ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। फिर भी वह पर्याय है, ज्ञान गुण है, केवलज्ञान पर्याय है। परमशुद्ध निश्चयमें आत्मा चैतन्यमात्र है, ऐसा जानना। केवलज्ञान पर्याय है तो वह प्रति समय नये परिणमन में होता है। जैसे बिजली दो घंटेसे जल रही है। ऐसा नहीं कि वह दो घंटेसे एक ही जल रही है और एक ही काम कर रही है। वह प्रतिसमय नई-नई जल रही है और नया नया काम कर रही है। केवलज्ञान भी इसीके सदृश है। केवलज्ञानकी पर्याय भी प्रतिसमय बदलती रहती है। लेकिन वह मालूम नहीं पड़ता है। क्योंकि वे ज्ञानपरिणमन सब सदृश हैं व्यवहारनय सम्बन्धको जानता है। आत्मा कर्मके उदयसे क्रोधी है, यह व्यवहारनय है।

मैं धनी हूं, गरीब हूं स्त्री हूं, पुरुष हूं—इन सब पर्यायोंको देखना भी व्यवहारनय है। क्योंकि इनमें भी एकद्रव्य नहीं देखा गया।

**सम्बन्धकी दृष्टि रखनेमें आकुलता है**—अशुद्ध निश्चयनयसे देखने वाले जीवके आकुलता बनी रहती है। केवलज्ञान पर्यायको तुमने जाना, पर्याय क्षणिक है। इस उपयोगका विषय तुमने क्षणिक बनाया, जिस उपयोगका विषय तुमने क्षणिक बनाया, वह अधिक समय तक रह ही नहीं सकता है। जिस उपयोगने परपदार्थको विषय किया वह अधिक समय तक रह ही नहीं सकता है। उपयोग बदलना ही दु:खका कारण है। लौकिक मामलेमें भी देखो, जिस समय खा रहे हैं उस समयके उपयोगका बदलना ही तो दु:खका कारण हो रहा है। जिसका उपयोग न बदले, समझो उसको मोक्ष होने ही वाला है। यह एकत्ववितर्कध्यानमें होता है। परपदार्थको मानते समय उपयोग बदलता ही है। ईश्वर-भक्तिसे भी मोक्ष नहीं मिलता है, क्योंकि ईश्वर-भक्ति परपदार्थ है। जो परपदार्थ है, उससे उपयोग अवश्य बदलेगा। जहां मोक्षकी प्राप्तिकी बात है, वहां ईश्वर-भक्तिसे मोक्ष नहीं मिलता है। भगवान का ध्यान आत्मस्वभावकी परखमें साधक बन सकता है। अत: उसपर दृष्टि डालना चाहिये।

**निजके सत्त्वका मर्म अवश्य समझो**—निज स्वभावके उपयोगसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। परमशुद्धके उपयोगसे स्वानुभव व स्वानुभवसे ही सम्यक्त्व पैदा होता है। स्वानुभव होनेके बाद चाहे उस समय स्वानुभव न भी हो, सम्यग्दर्शन प्रत्येक समय रहता है। सम्यक्त्व तो एक बार उत्पन्न होकर सदा ही बना रहता है, जब तक कि घात न हो। स्वानुभव उत्पन्न होनेके बाद रहता भी है, नहीं भी रहता। क्योंकि स्वानुभव उपयोग है। आत्माके स्वरूपको ढकने वाली ७ प्रकृतियोंके उदयसे सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। इस बोधका मर्म अभेद दृष्टिसे जाना जाता है। उसे समझनेके लिये व्यवहार पहिले उपयोगी है।

चार नयोंसे हम वस्तुका परिज्ञान करते हैं। परमशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय उनमें मुख्य हैं। अब हम आत्माको किस दृष्टिसे देखें कि परमशुद्ध निश्चयनय बना रहे और सम्यग्दर्शन भी पैदा हो जाए। ज्ञानी आत्माको अबद्ध देखता है। यह निश्चयनयका विषय है। और आत्माको सम्बद्ध देखना व्यवहारनयका काम है। बंधी हुई अवस्थामें भी वस्तुको अबद्ध देख लेना ज्ञानवलाका काम है। जैसे कहीं गाय बंधी है। लोग कहते हैं कि गाय गिरमासे बंधी है। कभी भी कोई भी गिरमासे गायको नहीं बाँध सकता है। गिरमा गिरमासे ही बाँधा जा सकता है। लेकिन सभी उस गायको गिरवासे बंधा कहते हैं। यदि केवल गायको देखें तो गाय गिरमासे भिन्न है और गाय स्वतन्त्र है। यदि गाय व गिरमा को एक साथ दृष्टिमें लाओ तो गाय बंधी मालूम पड़ती है। आत्माको अबद्ध निरखना, नियत एक रूप देखना, चैतन्यका पिण्ड रूप देखना--इस तरहसे आत्माको असंयुक्त देखना शुद्ध निश्चयनयका विषय है।

**स्वभावके आश्रयसे अपूर्व आनन्द आता है**—इस आत्माको चैतन्य स्वभावकी दृष्टि से जिसने अभी तक नहीं देखा वे इस संसारमें अभी तक भटक रहे है। बड़े बड़े चक्रवर्तियों ने इस स्वभावको देखनेके लिये छह खण्डोंके राज्यको भी छोड़ दिया। अत: स्वभावदृष्टि षट् खण्डके राज्यसे भी बड़ी विभूति है। स्वभावका आश्रय करने पर उनको अपूर्व आनन्द आता है, इसीलिये तो वे उसे नहीं छोड़ते हैं। अन्यथा वे नि:संग अवस्थाको छोड़कर छः खण्डोंका राज्य फिरसे प्राप्त कर लेते। वे समझते हैं, यदि यह स्वभावदृष्टि प्राप्त हो गई तो हमारा कल्याण निश्चित है।

अनियत, चल विचल, नाना शक्तियों वाली दृष्टि अपरमार्थ दृष्टि है। लोकमें आदर विशेषका है। मोक्षमार्गमें सामान्यका आदर होता है। विशेषके आदरसे हमें संसारमें भटकना पड़ता है। दुनिया विशेषका आदर करती है। ज्ञानी सामान्यका आदर करते हैं। जैसे कमलिनि पत्र होता है, उस पर पानी चिपटता नहीं है। वह पानी पत्रपर मोतीकी नाईं ढलकता रहता है। वह कमल-पत्र खूब नीचे पानीमें रख दो, उसके ऊपर नीचे पानी है। फिर भी कमल-पत्र जलसे बिल्कुल भिन्न है। कमल-पत्रके स्वभावको देखो, कमलपत्र जलसे भिन्न है, बिल्कुल भी छुआ हुआ ही नहीं है। जब तुम कमल-पत्र और पानी को एक साथ संयोगदृष्टिसे देखो तो तुम्हें कमल-पत्र जलसे सम्बद्ध जान पड़ेगा। यह सब बात व्यवहारनयकी अपेक्षासे मालूम पड़ती है, स्वभाव मात्र देखना निश्चयनय है। आत्मा

मात्र वस्तुत्वकी दृष्टिसे देखो तो आत्मत्व पुद्गलसे बंधा है यह अभूतार्थ है। इसी तरह स्पृष्टत्व पर्यायसे अनुभव करो तो जीव शरीरसे स्पष्ट है, यह सत्य है परन्तु वस्तुत्व दृष्टिसे केवल आत्मस्वभावको उपयोगमें लेकर अनुभव करो तो आत्मा आत्मा ही है, आत्मा आत्मा में है, यह प्रतिभात है। वहाँ यह बताना कि आत्मा शरीरसे स्पृष्ट है तो यह अभूतार्थ है।

वास्तवमें भूतार्थता तो यही है कि पदार्थ अपने आप स्वभावसे जैसा है वैसा ही जानना। यदि आत्माको स्वभावदृष्टिसे देखो तो आत्मा अबद्ध अस्पृष्ट अब भी दिखाई देता है। आत्माके चैतन्यस्वभावके अनुभवका नाम ही वेदान्त है, जहां ज्ञानका अन्त है। स्वभाव के अनुरूप ही पर्यायका बन जाना ही भगवान् कहलाता है। ज्ञानका आनन्द तत्काल प्राप्त होता है। जिस कालमें ज्ञान प्राप्त किया उसी समय ज्ञानका आनन्द प्राप्त होता है।

**भ्रम महती मलीमसता है**—शरीरको और आत्माको एकमेक मानना गन्दी अवस्था है। शरीर व आत्मा भिन्न भिन्न हैं, यह भी सोचना कोई ऊंची अवस्था नहीं है। केवल आत्माके विषयमें ही विचार करना चाहिए, शरीरके विषयमें उस समय कुछ भी नहीं सोचना चाहिये। आत्मस्वरूपपर दृष्टि डालना ऊंची चीज है। और अब आत्मस्वभावका अनुभव सर्वोच्च चीज है।

जो कार्य करो, उसे अध्ययनकी दृष्टिसे करना चाहिए। जो विद्यार्थी समझकर अध्ययन या स्वाध्याय करता है, वह ज्ञान जल्दी प्राप्त कर लेता है। आत्माकी अनुभूतिके अर्थ ज्ञानका प्रयत्न करना चाहिये, यही सबसे बड़ी विभूति है। योगीजन सदा स्वभावदृष्टि पर ही निगाह रखते हैं। दृष्टि विशुद्ध नहीं तो प्राणायाम भी क्या करे ? एक योगी ६ घण्टे तक प्राणायाम करते थे। यह समाचार राजाके पास पहुँचा। राजाने योगीसे कहा, यदि आप ऐसा कर देंगे तो हम आपको मुँह माँगी दौलत देंगे। योगीराजने सोचा—हम तो काला घोड़ा माँगेंगे। प्राणायाम समाप्त करते ही योगीराज बोले, लाओ काला घोड़ा। वे प्राणायाम करते हुए भी सोच रहे होंगे, हम तो काला घोड़ा लेंगे। इस प्रकार उनका उपयोग काले घोड़ेकी ओर ही था। ज्ञानदृष्टिमें केवल आत्मस्वभाव ही रहता है। तपस्या करना आत्मस्वभावको जाननेमें बाधक नहीं, साधक है। ज्ञान बिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती।

सम्यक्त्वके होनेपर अहं-भाव नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व यह भी स्वीकार नहीं कराता कि मैं मुनि हूं, त्यागी हूं आदि। मुनि तो पर्याय हैं। पर्यायबुद्धिके कारण ही क्रोध आता है। मुनिको जब यह ख्याल आता है, अरे मैं तो मुनि हूँ, अमुक गृहस्थ है, अमुकने मेरे प्रति ऐसा क्यों किया ? इस पर्यायबुद्धिमें वह गुस्सा करने लगता है। मोक्षमार्गके लायक हमारी योग्यता है, अतः सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्ष मार्गमें अग्रसर होना चाहिए। घर

गृहस्थीके झंझटोंको छोड़कर यदि वाहर किसी शान्त आश्रममें रहा जाये तो सभी चिता-समान चिंताओंसे छुटकारा मिल सकता है। वर्षमें कमसे कम एक माह ऐसा अवश्य करना चाहिये कि घर गृहस्थीके झगड़ोंसे दूर रहकर ज्ञानप्राप्ति करना चाहिये। जो अपनेको गति प्राप्त हुई है, ये सब पर्याय हैं। इन पर्यायोंमें जो व्यक्ति "मैं" मानकर चलता है, वह पतित है। जैन दर्शनमें उद्धारका मार्ग वर्णित है। जैनदर्शन वस्तुके वास्तविक स्वरूपको बतलाता है। घरसे दूर आश्रमोंमें रहने वाला श्रावक ज्ञान प्राप्त कर स्वपर-कल्याण-साधक बन सकता है। यह सुगम उपाय है। स्वभावदृष्टिसे अपनेको निर्मल बनावो। परपदार्थ चाहे अनुकूल परिणमे या प्रतिकूल, आकुलित न हो।

एक किसान दम्पति थे। किसान बहुत अशांत था। वह प्रतिदिन अपनी पत्नीको पीटनेका उपाय विचारता रहता था, लेकिन उसे पीटनेका कोई अवसर प्राप्त न होता। किसान इससे और भी हैरान रहने लगा। एक दिन वह अपने खेतमें हलमें बैलोंको उल्टा जोतकर खेत जोतने लगा। और सोचा, अब किसाननी आवेगी, इस विषयमें मेरेसे विवाद अवश्य करेगी। फिर क्या, फिर तो मैं किसाननीकी खाल उधेड़ दूंगा। किसाननी रोटी देनेके लिये आई। बैल उल्टे जुते देखकर वह सब बात ताड़ गई कि इसने मुझे पीटनेके लिये स्वांग बनाया है। उसने सोचा, खैर कोई परवाह नहीं। वह किसानसे बोली कि आप उल्टा जोतें या सीधा हम तो अपना काम करके (रोटी देकर) लो यह चले। इस घटनासे किसान के हृदयमें परिवर्तन हो गया और वह शान्त रहने लगा। शान्तिकी बात समझ जावे तब शान्ति आना कुछ कठिन नहीं। चैतन्य दृष्टि आनेपर तो सभी बातें अपने आप आ जाती हैं।

**पदार्थको जाननेके प्रकार**—पदार्थ दो प्रकारसे जाना जाताहै—(१) पदार्थको स्वभावकी दृष्टिसे जानना, (२) अनेक पदार्थोंको सम्बन्धकी दृष्टिसे जानना। वस्तुका स्वभाव सत्यार्थ है। सम्बन्ध सत्यार्थ नहीं। स्वभावकी दृष्टिसे यदि जानो तो आद्योपांत वस्तु एक ही दिखाई देती है। आत्मस्वभाव भूतार्थ है, अतः स्वभावकी दृष्टिमें आनन्द आता है। अभूतार्थका सम्बन्ध करनेसे क्लेश होता है। मोह दूर करनेका उपाय स्वभावदृष्टि है। किसी परमाणुको मिला हुआ ही मत देखो। जब कोई स्कन्ध ही दिखेगा तो कैसे मद होगा कि अमुक वस्तु मेरी है? पदार्थको चैतन्यस्वभावकी निगाहसे देखो तो मोह पैदा हो ही नहीं सकता है। पर्याय को पर्यायकी दृष्टिसे देखना चाहिये। यदि मनुष्यको यह विश्वास हो जाये कि जैसे सबके शरीर जलाये गये, उसी प्रकार मेरा भी शरीर जलाया जाता है, तो शरीरसे मोह हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तुको स्वभाव दृष्टिसे देखते जाओ, सभीसे मोह हट जायेगा। जितने जड़ पदार्थ हैं। उन्हें भिन्न दृष्टिसे देखो, उनसे भी मोह हट जायेगा। स्वभाव सदा स्वभाव बना रहता है, और पर्याय नष्ट होती रहती है। मनुष्य होना वस्तुका स्वभाव नहीं, अपितु

पर्याय है।

**सम्बन्ध हौव्वा मात्र है**—अपनेको इन्सान न समझो, चैतन्य स्वरूपात्मा समझो तो सब क्लेश मिट जायेंगे। अन्य सम्बन्ध आदि रूप न देखो सम्बन्ध अवस्तु है। जैसे इस चौकीपर यह पुस्तक रखी है। हम लोग कहते हैं कि पुस्तक और चौकीका सम्बन्ध है। लेकिन यथार्थमें पुस्तक और चौकीमें सम्बन्धपना है ही नहीं। सम्बन्ध न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। सम्बन्ध नित्य वस्तु नहीं, अतः न द्रव्य है, न गुण है। सम्बन्ध यदि पर्याय है तो बतावो कि वह संबंध चौकीकी पर्याय है या पुस्तककी पर्याय ! यदि चौकीकी पर्याय है तो वहाँसे पुस्तक हटानेपर चौकीमें संबंध परिणमन होता रहना चाहिये। यदि सम्बन्ध पुस्तककी पर्याय है तो वहाँसे पुस्तक हटा लेनेपर पुस्तकमें वह सम्बन्ध परिणमना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यदि उसमें सम्बन्धपना होता तो चौकीपरसे पुस्तक हटा लेनेपर पुस्तकमें या चौकीमें सम्बन्धपना बना रहना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता है। अतः सम्बन्धको अवस्तु समझो।

**हमने इसे हौव्वा बना रक्खा है**—हौव्वा–कल्पनाकी वस्तुको कहते हैं। अर्थात् पदार्थोंमें सम्बन्धकी अपनी कल्पना मात्र है। चौकी और पुस्तकका सम्बन्ध वास्तवमें नहीं है। मस्तिष्कमें जैसा विचार लिया, उसीका सम्बन्ध मान बैठे। आत्मा और शरीरको मोही प्राणियोंने उल्टी कल्पना और दिमागके बल पर ऐसा चिपका लिया कि वह अब अलग नहीं हो सकता है। शरीर और आत्मा की जैसी कल्पना की है, उससे आत्मा शरीर-परम्परासे निकल नहीं पाता है।

**अब पर्यायका दूसरा दृष्टान्त लेते हैं**—नैमित्तिक जितनी भी पर्याय हैं, सभी अभूतार्थ हैं। जैसे मिट्टी है। कुम्हार व्यवस्थासे ही उस मिट्टीको घड़े रूपमें परिवर्तित कर देता है। पहले वह मिट्टीसे लौंदा बनाता है, लौंदेसे पिण्ड निर्माण करता है। पिण्डसे थेप थेपकर कुठिया जैसा बनाता है। कुठियासे वह घड़ा बनाता है। घड़ेके फूटनेके पश्चात् कपालादि बनते हैं लेकिन मिट्टी उसकी प्रत्येक अवस्थामें विद्यमान है। स्वभाव दृष्टिसे देखनेसे प्रत्येक अवस्थामें मिट्टी है। पर्याय देखनेसे वहाँ विभिन्न पर्याय बनती हैं। सभी पर्याय न्यारी न्यारी हैं। न्यारी न्यारी चीजोंसे न्यारा न्यारा काम चलता है। अतः पर्याय दृष्टिसे सभी पदार्थ न्यारे न्यारे दिखाई देते हैं। स्वभावकी दृष्टिसे देखनेसे मिट्टी ही मिट्टी दिखाई देती है। आत्माको पर्याय दृष्टिसे देखो, सभी न्यारी हैं। लेकिन स्वभावकी दृष्टिसे देखो आत्मा सभी पर्यायोंमें रहता हुआ भी एक है। पर्यायदृष्टिसे जानना व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। स्वभावदृष्टिसे देखना निश्चयनयकी अपेक्षासे है। उस मिट्टीको पिण्ड, कुटिया, घड़ा, कपाल आदि पर्याय रूपसे अनुभव किया, उपयोग लगाकर जाना तो वहाँ पिण्ड, कुट आदि पर्याय

उस मिट्टीके स्वभावको तो उपयोगगत करो जो कि पिण्ड, कुटिया
... रहता है, उनमें से किसी भी पर्यायसे स्खलित नहीं होता है, इस स्वभाव-
... आदि सब अभूतार्थ हैं, क्योंकि वहाँ तो वस्तुका वस्तुत्व ही देखा जाता है।
... भी स्थूल है। कारण कि मिट्टी द्रव्य नहीं, किन्तु पर्याय है। किन्तु दृष्टांतमें मिट्टी
...स्थानीय करलो, प्रायोजनिक हलके लिये दृष्टान्त सुयुक्त बैठता है। इसी प्रकार नर
नारकादि पर्याय रूपसे अनुभव करने पर, जानने पर वे पर्यायें भूतार्थ हैं। हैं नहीं, ऐसी बात
नहीं है, परन्तु उस आत्मस्वभावका तो अनुभव करो जो कि नर नारिकादि सब पर्यायोंमें
रहता है, उनमेंसे किसी भी पर्यायमें स्वभाव स्खलित नहीं होता, इस स्वभावदृष्टिमें नर नार-
कादि पर्यायें अभूतार्थ हैं, वहाँ तो आत्मवस्तुका आत्मवस्तुत्व अनुभवमें है। स्वभावदृष्टिका
अपूर्व चमत्कार है। स्वाभावावलम्बन करनेपर आत्मा अन्तरात्मा हो ही जाता है। कहीं यहां
पर्यायको मना नहीं किया। पर्याय भी है।

पर्यायोंसे भिन्न-भिन्न काम निकलता है। जैसे, मनुष्य पर्यायसे मरकर देव बना।
उसमें पर्याय एकसे दूसरी हो गई। लेकिन आत्मा दोनों पर्यायोंमें वही है। फिर भी उनके
कार्य न्यारे-न्यारे होते हैं। देवोंके कण्ठसे अमृत झरता है, तो उनकी भूख दूर हो जाती है,
मनुष्यको भूखपूर्तिके लिये भोजन करना पड़ता है। यदि मनुष्योंकी भूख देवोंकी तरह बिना
परिश्रमके दूर होने लगे तो एक दूसरेको कत्ल करने लगें। मनुष्य पर्यायमें तपस्या कर
मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। देव लोग तपस्या कर ही नहीं सकते। यदि देवोंमें तपस्या हो
सके तो वे ६–६ माह के उपवास करके जल्दीसे मोक्षपर अधिकार कर लेंवे। आत्माको
निरपेक्ष सत्यकी दृष्टिसे देखा तो उसका स्वभाव दीखा, इस निश्चयनयकी दृष्टिकी अवस्थामें
क्लेशका नामोनिशां भी नहीं है। पर्यायपर निगाह डाली तो व्यवहारनयसे देखा, जिसमें
आसक्ति है तो क्लेश ही क्लेश है। पर्यायकी निगाहसे आत्माको मत देखो, स्वभावदृष्टिसे
आत्माको पहिचानो। मनुष्य शुरूसे नामके लिये मरता है, लेकिन उसका फल घृणा, द्वेष,
ईर्षा होता है। मृत्युके पश्चात् उसके साथ मकानके पत्थरपर लिखा हुआ नाम नहीं जाता,
उसके साथ मिथ्यात्व, पाप, कलुषता जाते हैं। पर्यायपर दृष्टि डालनेके कारण ही मनुष्य
को अपनी इज्जतकी फिक्र पड़ती है। पर्यायपर दृष्टि न डालकर मैं चैतन्य स्वरूपात्मा हूं,
ऐसी दृष्टि डालो। इसमें अनन्त इज्जतकी संभाल होती है।

आत्माका स्वभाव अनादिकालसे एक चला आ रहा है और अन्त तक भी वही
स्वाभव रहेगा। आत्माके स्वभावमें कोई परिणमन नहीं होता। स्वभाव नियत है। पर्यायों
में ही परिणमन होता है, अतः पर्यायें डगमग है। जैसे जलके ढेरका नाम समुद्र है तो समुद्र
... अस्थिर) नहीं दिखाई देगा। यदि समुद्रकी चल तरंगों पर दृष्टि दो तो डगमग
...खा देगा। यदि समुद्रको वृद्धि हानिकी दृष्टिसे देखोगे तो अनियत मालूम

पड़ेगा। यदि समुद्रको एकरूप देखो तो नियत मालूम पड़ेगा। उसी प्रकार आत्माका स्वभाव भी नित्य व्यवस्थित है। उस दृष्टिसे देखनेसे आत्मा नियत है। आत्माको वृद्धिहानिकी दृष्टिसे देखो तो अनियत मालूम पड़ता है। इस दृष्टिमें समुद्रका अनियत होना भूतार्थ है। परन्तु, नित्य व्यवस्थित समुद्रके स्वभावको सन्निकट उपयुक्त होकर देखो तो यह अनियतपना अभूतार्थ है। वास्तवमें भूतार्थ दृष्टिसे तो समुद्र समुद्रमें नियत है। इसी प्रकार आत्मामें जो गुणांशोंकी वृद्धि हानिकी पर्यायें चल रही हैं उनकी दृष्टिसे आत्माका परिचय करें तो वृद्धि हानि भूतार्थ है। परन्तु नित्य व्यवस्थित चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभावके अनुभव किये जानेपर वृद्धि; हानि सब अभूतार्थ हैं। वास्तवमें भूतार्थ दृष्टिसे तो आत्मा आत्मस्वभावमें नित्य अचल व्यवस्थित है। निश्चयनयके ३ भेद हैं—१. परमशुद्ध निश्चयनय, २. शुद्ध निश्चयनय, ३. अशुद्ध निश्चयनय। परमशुद्ध निश्चयनयका विषय यहाँ बताया जा रहा है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध पर्यायको एक अर्थमें बताता। अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध पर्यायको एक अर्थमें जनाता। निश्चयनय वह बताता है कि कषाय हमीसे उत्पन्न होती है और कषायें हमींमें नष्ट होंगी।

कारक छः होते हैं—कारक आध्यात्मिक दृष्टिसे ६ ही होते हैं। सात कारक हिन्दी और संस्कृत वालोंने ही माने हैं। अध्यात्म संस्कृतिमें सम्बन्ध कारक नहीं होता है। सम्बन्ध किसीका नहीं बनता क्योंकि यह कल्पना मात्र है। कल्पनाके कारण ही हम लोग सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करते हैं—अतः लड़ाई झगड़े होते हैं। यह कल्पनासे होता है। सम्यग्दृष्टि निर्धनतामें और धनी अवस्थामें भी आनन्द मानता है। सम्यग्दृष्टि लौकिक सुखसे सुखी होता हुआ भी क्लेश अनुभव करना चाहता है। जैसे धनी व्यक्ति हलुआ खाते-खाते अघा जाते हैं, तो उन्हें भुने चने खानेकी इच्छा हो जाती है। इन इन्द्रियोंके व्यापारको ज्यादा मत बनाओ। यदि इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण न किया तो आनन्द ही आनन्द है। आत्माके स्वभावकी दृष्टिमें आकुलता नहीं है। आत्मामें आनन्द स्वयं है, किन्तु परकी ओर दृष्टि बननेसे प्राप्त साधनका आनन्द नहीं ले पाता यह आत्मा। एक वृद्धा थी, उसके सात लड़के थे। उनमें से एक मर गया, तो बुढ़िया उसके मरनेपर रोने लगी। उसे बार-बार उसका ख्याल आने लगा। उसके ६ लड़कोंने बहुत समझाया कि मां मत रो, हम छः तो हैं। यदि तू ज्यादह रोवेगी तो हममेंसे भी एक मर जायेगा। बुढ़िया बोली क्या करूं बेटे, मरेकी याद ज्यादह आती है। छः मेंसे भी एक मर गया, बुढ़िया उसीको रोने लगी। उसके अवशेष ५ लड़कोंने कहा, माँ हम तो हैं, तू क्यों रोती है? वह फिर कहती है कि बेटा मुझे उसीकी याद आती है। इस तरहसे उनमें एक और मर जाता है। इस प्रकार ६ बच्चे मर जाते हैं। अब अन्तमें एक बचता है। वह कहता है, अम्मां तू मत रो। मैं तो हूं। तू मुझे देखकर ही सन्तोष धारण कर। लेकिन बुढ़िया रोती रहती। वह वर्तमानपर संतोष नहीं

रखती । सातवां पुत्र भी मर जाता है । इस मोहवशा वृद्धाकी तरह मनुष्य हजारपति होकर लखपति होनेकी इच्छा रखता है । वह लखपति नहीं बन पाता है, यह तो दुःख उसे रहता ही है, लेकिन वह हजार रुपयोंकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता है, अतः वह हजार रुपयोंके सुखको भी नहीं भोग पाता है । लखपतिसे करोड़पति बननेकी, करोड़पतिसे अरबपति बनने की इच्छा रखता है, लेकिन अधिक चाहनेके कारण दुःख ही दुःख भोगता है । अथवा यदि लखपतिको हजारका टोटा पड़ गया तो उसकी दृष्टि हानिपर तो हैं किन्तु वर्तमान समागमपर नहीं, अतः भैय्या, वर्तमानपर सन्तोष रखना चाहिए । मैं तो सदा अपनी विभूतिको अपनाऊंगा, इसीसे मनुष्य सुखी हो सकता है ।

**स्वभावदृष्टि दृढ़ करो**—स्वभावदृष्टिको मजबूत बनानेके लिए ३ प्रकारोंका वर्णन आया । १. परवस्तुके संसर्गको न देखो- अन्य पदार्थके संसर्गके देखे जानेपर वस्तुका स्वभाव नहीं देखा जा सकता है । आत्माको जानना है तो केवल आत्माको जानो । २. आत्माको जानना है तो परिणमनको मत देखो । पर्यायादि आत्माका बगीचा है । पर्यायको मत देखो। नहीं तो उस पर्यायरूपी बगीचेमें सदा भटकना पड़ेगा । भेद विकल्प संकल्प छोड़कर अनुपम विश्राम करो । इस निष्पक्षता और सुविश्रामके परिणाममें आत्माके शुद्ध स्वरूपके अर्थात् परमात्मतत्त्वके दर्शन होंगे । यद्यपि स्वभाव व परिणमन ऐसा नहीं कि दोनों अलग रहते हों; वस्तुका परिणमन अवश्य होता है । चीजकी प्रति समय हालत अवश्य बदलती रहती है । किन्हींने आत्माको हालत बिना माना है किन्तु वह युक्तियुक्त है ही नहीं । प्रत्येक समय वस्तु कुछ न कुछ रूपक अवश्य रखती है । प्रति समय वस्तु का परिणमन होता रहता है । जो सत् है, वह अवश्य बदलता है । पर्याय एक समय होती है, दूसरे समयमें नष्ट हो जाती है । स्वभाव सदा वही रहता है । परिणमन होता रहता है । स्वभाव व पर्याय बराबरकी चीज नहीं है । पर्याय एक समय रहती है । स्वभाव त्रिकाल बना रहता है । परिणमन एक नहीं रहता । दूसरे समयमें दूसरा परिणमन, तीसरे समयमें तीसरा और इसी प्रकार चौथे समयमें चौथा आदि । अपने स्वभावको दृढ़ बनानेके लिये पर्यायोंको मत देखो । ऐसा नहीं कि पर्याय न हों, पर्याय तो अवश्य होती है । आत्माका स्वभाव चैतन्यगुणमय है । आत्मा ज्ञानदर्शनमय है । और भेद करने पर चरित्रमय भी है । चैतन्यका अर्थ है, जो प्रतिभास करे, जाने, देखे । प्रतिभास करना, यह तो पर्याय है । प्रतिसमय नया नया प्रतिभास होता है । एक स्वभाव जो नाना पर्यायोंको धारण करके भी विचलित न हो वह स्वभाव कहलाता है । उसने जो काम किये वह पर्याय हैं । जो स्वभाव है, उसका कार्य है, जिसका कार्य है उसका परिणमन अवश्य होता है । आत्मस्वभावके परिणमनका नाम ही चैतन्यका परिणमन है । यदि हम चैतन्य स्वभावको जानना चाहें तो हमें पर्यायोंपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए ।

पर्याय तो हमेशा रहती है, लेकिन उसको उपयोगमें न लावे तभी स्वभावको जाना जा सकता है। सहभावी गुण अथवा पर्यायोंके भेद भी निश्चयनयसे सह्य नहीं हैं। सुवर्णमें स्निग्धत्व, पतीत्व, गुरुत्व आदि अनेक धर्म हैं, ऐसे ही उन धर्मोंके रूपसे अनुभव किये जानेपर ये सब धर्म भूतार्थ हैं, सत्य हैं तो भी केवल सुवर्णत्वके स्वभावको जहां समस्त गुणधर्मभेद अस्त हो जाते हैं, अनुभव करने पर वे सब धर्म अभूतार्थ हैं। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन आदि गुण धर्म (पर्याय) के रूपमें आत्माके अनुभूयमान होनेपर यह विशेषपना भूतार्थ है, सत्य है, तो भी उस आत्मस्वभावके अनुभूयमान होनेपर जिसमें कि समस्त गुणधर्म (विशेष) अस्त हो गये हैं, ऐसे अखण्ड व निर्विकल्प आत्म-स्वभावके अनुभूयमान होनेपर ये सब विशेष अभूतार्थ हैं।

**परमपारिणामिक भावको देखो**—जब पर्यायकी ओर तथा गुणभेदकी ओर उपयोग न हो, तभी हम स्वभावकी ओर उपयोग लगा सकते है। जब हमें वस्तुका स्वभाव जानना है तो वस्तुकी पर्यायोंकी ओर दृष्टि न डालें। हम पर्यायोंपर ध्यान न दें और स्वभावपर ध्यान दें—यह भी एक पर्याय है। इस पर भी ध्यान न दें, किन्तु स्वभावके परिचयका आनन्द पावें। हमें अपनी ऐसी हालत बनाना चाहिए कि हम अपने स्वभावको जान देख सकें। स्वभावदृष्टिको मजबूत बनानेके लिए तीसरा प्रकार यह है कि हम आत्माकी हीना-धिकता पर ध्यान न दें।

प्रश्न—पर्यायपर ध्यान न दें, इसीका अर्थ है वृद्धि हानि पर ध्यान न दें अर्थात् अनन्य व नियत इनको अलग अलग क्यों कहा ?

समाधान—क्रोध, मान, माया, लोभ—ये आत्माके परिणमन समझमें आते हैं किन्तु इनकी वृद्धि हानि सूक्ष्म विषय है। मनुष्य आत्माका परिणमन है। यह जल्दी समझ में नहीं आता। क्योंकि मनुष्य पुद्गल और आत्मा—इन दो द्रव्योंके संयोगमें बना है। यह असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है। शरीरमें अनंत परमाणु हैं। कर्म भी एक एक करके अनंत परमाणुओंका ढेर है। औदारिक परमाणु अनंत हैं, कर्मपरमाणु अनंत हैं। और तैजस परमाणु अनन्त हैं, आत्मा सिर्फ एक है। वह व्यञ्जन पर्याय है, वहां हानि वृद्धि पृथक् पृथक् द्रव्योंमें है। यह अन्तर है पर्याय और वृद्धि हानिमें। पर्यायदृष्टि बिना अनन्य व वृद्धि हानि बिना नियत होता है।

**दृश्यमान सभी चीजोंमें जीव था या है**—दृश्य एक भी चीज ऐसी नहीं कि जिसमें जीव न था। जो चीजें आँखोंसे दिखाई देती हैं उनमें कोई अवश्य था। कोई भी स्कन्ध नहीं कि जिसमें जीव न आया हो और वह बन गया हो। प्रायः ये चीजें पृथ्वीकायिक जीव होती है—लोहा, चूना, सीमेन्ट आदि सब खानमें थे बादमें इनमेंसे जीव निकल गया और

इनकी यह पर्याय हो गई। मिट्टीका तेलादि पृथ्वीकायिक जीव थे। जीवत्व ग्रहण किये बिना कोई चीज नहीं बनी। स्वभावको परखनेके लिये इन सब हानि वृद्धिको गौण कर दो। नियत स्वभावका आश्रय करनेसे स्वभावकी परख हो जायेगी।

अब चौथा प्रकार कहते हैं—जैसें एक सुवर्ण है। 'सुवर्ण' समझना है तो 'सुवर्ण' इतना कहनेसे ही समझा जा सकता हैं। उस समय इसमें स्निग्धत्व, गुरुत्व, पीतत्वादि विशेषताएँ अभूतार्थ हो जाती हैं। आत्माको समझनेके लिये आत्माके विशेषणोंको गौण करना पड़ेगा। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि पर्याय हैं। स्वभावको जाननेके लिये ये सब अभूतार्थ हो जायेंगी। ज्ञानके बलपर ही सम्यग्दर्शन पैदा होगा। धर्मके नामपर भी उत्सव कर लो, बिना ज्ञानके सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। जिन चीजोंको अपनेसे दूर करना है, उनका भी तो ज्ञान करना पड़ेगा।

**"ओ३म्" से मोक्षमार्गका प्रदर्शन**—"ॐ" इसके बुद्धिमें ५ टुकड़े करो:—उ;–, ०, ँ, ०। 'उ' यह व्यवहारनयका प्रतीक है, क्योंकि इसमें याने बहुत गुड़ेरी हैं। इसमें विकल्प होते हैं। जो 'उ' के 'डंडे' पर शून्य लगा है, यह निश्चयनयका प्रतीक हैं। शून्य जैसे आदि मध्य अन्त करि रहित है, निश्चयनयका विषय भी आदि मध्य अन्तसे रहित हैं। 'डंडा' प्रमाणका प्रतीक है। प्रमाण निश्चयनय और व्यवहारनयको भी सम्बद्ध किये रखता है। देखो, यह डंडा भी उ व ० इन दो प्रतीकोंको सम्बद्ध किये रखता है। दोनों सापेक्ष हैं। व्यवहारनय और निश्चयनय यदि निरपेक्ष हैं तो अप्रमाण हैं। व्यवहारनय और निश्चयनयका मिलना प्रमाण है। चीज वही है, जो व्यवहारनिश्चयात्मक है। प्रमाणसे वस्तुको जाननेके बाद चन्द्रकला (ँ) स्वानुभवको कहती है। प्रमाण और नयके विकल्पोंसे रहित अनुभव स्वानुभव है। स्वानुभव स्वयं प्रमाणरूप है। लेकिन प्रमाण और नयोंके विकल्पोंसे रहित है। जब स्वानुभव प्राप्त कर लोगे तो शून्य (०)–रागद्वेषादिसे रहित बन जाओगे। निश्चयनयका आश्रय करना चाहिये। प्रमाणसे वस्तुको ठीक-ठीक जान लेना चाहिये। शास्त्र इसलिये पढ़े जाते हैं कि हम शास्त्रोंको पढ़कर भूल जायें। भूलना—विकल्पोंको छोड़ना। इस भूलनेका महत्त्व बिना शास्त्रोंके पढ़े नहीं आता। अतः शास्त्रोंको भी पढ़ना ही पड़ेगा। आत्मा, गुण शक्तिके भेदोंको मत करो—यही चौथा प्रकार है। तभी अखण्ड स्वभाव अनुभवमें आयेगा। एकेन्द्रियादि सभीके विकल्प चलते हैं। निर्विकल्प अवस्था किसी जीव की यहां नहीं है। किन्तु निर्विकल्प स्वरूपका उपयोग तो किया जा सकता है।

**शान्ति मार्गमें सामान्य दृष्टिका महत्त्व**—सामान्यविशेषात्मक पदार्थको सामान्यकी मुख्यतासे जानो। विशेषकी मुख्यतासे जाननेमें बहुविकल्प हैं, सामान्यकी दृष्टिसे जाननेमें भी

एक विकल्प है। एक और बहु दोनों विकल्प दूर हों, तभी निर्विकल्पक अवस्था होगी। विशेष दो रूप होता है—

१. तिर्यगंशरूप (एक ही समयमें रहने वाले विशेष), २. ऊर्ध्वांशरूप (भिन्न-भिन्न समयोंमें होने वाले विशेष), गुण और पर्यायका नाम विशेष है। सारांश यह है कि सब प्रकारके विशेष विकल्पोंको छोड़ दो। स्वानुभव एक भी कहा नहीं जा सकता। ज्ञानीको स्वानुभव होनेपर संसारकी समस्त बातें नीरस जान पड़ती है। उस उपयोगमें जो वृत्ति है वही पहिचान है। निर्विकल्पक ज्ञानको स्वानुभव कहते हैं। स्वानुभव प्राप्ति होनेपर कर्मो की निर्जरा होने लगती है। स्वानुभव एक उपयोगकी दशा है। ऐसी दशामें भी कषायचक्र चलता रहता है। स्वानुभवमें उपयोगसे ही शुद्ध रहता है। वह द्रव्यकी दृष्टिसे शुद्ध होने जा रहा है।

**आत्म-स्वभावकी पहिचानसे बढ़कर कुछ व्यवसाय नहीं**—आत्माके स्वभावकी पहिचान ही सबसे बड़ी विभूति है। बड़े बड़े राज्य भी उसके सामने कुछ नहीं हैं। उसको पहिचाननेका पांचवां उपाय—जैसे जल उष्ण हो जाता है। नैमित्तिकको यदि न देखें तो जलका स्वभाव स्वयं देखा जा सकता है। कषायसे भिन्न जब अपनेको देखें, तभी आत्माकी परख हो सकती है। जीवका साथी ज्ञानके अतिरिक्त अन्य नहीं है। जब तक पुण्यका उदय है, तभी तक लोग पूछते हैं। पुण्यका उदय समाप्त होनेपर कोई नहीं पूछता।

**कमानेका घमण्ड मत करो**—हम लोग व्यर्थ घमण्ड करते है, कि मैं कमाता हू तथा अन्य मेरी कमाई खाते है। यह पता नहीं कि जो शुभोपयोग करते है उनका पुण्य कमाई करता है। एक सेठ था। उसके ४ लड़के थे। उनमें एक कमाऊ था, दूसरा जुआरी था, तीसरा अन्धा था और चौथा पुजारी था। कमाऊ पुत्र कमाता और सब खाते। कमाऊ पुत्र की स्त्री प्रतिदिन कहती, तुम न्यारे क्यों नहीं हो जाते ? जब प्रतिदिन स्त्री यही कहती तो कमाऊ पुत्रने पितासे जाकर कहा—पिताजी, हम न्यारे होना चाहते है, क्योंकि कमाने वाला तो मैं अकेला हूं और खाने वाले सब है। पिताने कहा, बेटा, तुम अलग तो हो जाना, पहले सब मिलकर एक तीर्थयात्रा कर लो फिर अलग हो जाना। पुत्रने भी हां कर ली। शुभ मुहूर्तमें सब यात्रा करने निकले। वे रास्तेमें एक जगह ठहरे। उनको लगी भूख। कमाऊ पुत्रको सर्वप्रथम भोजन लानेके लिये १०) दस रुपये दिये गये। वह व्यापार कुशल था, अतः उसने उसमें किसी प्रकारसे दो रुपये पैदा कर लिये। १०+२=१२) बारह रुपयेका वह भोजन लेकर रवाना हुआ और सबको खिला दिया। दूसरे दिन जुआरीको भोजन लेने के लिये भेजा गया। जुआरी १०) भोजनसे लिए लेकर चला। रास्तेमें उसे लोग जुआ खेलते हुए मिले। उसने सोचा १०) का क्या आयेगा, चलो एक बाजी ही लगा लेवें। भाग्य

से वह जीत गया। तो वह १०+१०=२०) बीस रुपयेका सामान लेकर घरपर पहुंचा। तीसरे दिन अन्धे पुत्रको १०) रुपये देकर भोजन लानेके लिये भेजा गया। बीचमें ठोकर लग गई, तो अन्धा पुत्र जमीनपर गिर पड़ा। उसने सोचा, इस पत्थरको रास्तेमें से हटा दें, जिससे दूसरेको चोट न लगे। पत्थरके नीचेसे उसे हजारों रुपये हन्डेमें मिले, तो वह बहुतसा सामान लेकर पहुंचा और वे रुपये भी भेंट किये। चौथे दिन उस पुजारी पुत्रको १०) रुपये देकर भेजा गया। उसे रास्तेमें एक देवालय मिला। उसने सोचा, पेट तो हम रोज भर लेते हैं। आज चलो, भगवद् भजन करें। यह सोचकर वह बाजारमें जाकर पूजा के लिये चांदीका कटोरा, माचिस, रुई और घृत खरीद लाया। मंदिर जाकर तन मनसे भगवान्की आरती करने लगा। उसे आरती करते करते शाम हो गई। मन्दिरके रक्षक देवताको फिक्र हुई। उसने सोचा, यह तो भगवान्की भक्तिमें लीन है, इसके माता-पिता भूखे बैठे होंगे। यह सोचकर उसने उसी पुत्रका वेष धारण करके गाड़ियों, मोटरों, ऊंटों और घोड़ों आदिपर नैवेद्य लादा और उसके माता पिताके पास जाकर अर्पित कर दिया। माता-पिता बन्धु उसके भाग्यपर बड़े प्रसन्न हुए। इसके बाद पुजारीको माता पिताकी याद आई और वह चांदीके लोटेको भी मन्दिरमें चढ़ाकर पिताजीके पास आया और कहने लगा, पिताजी आपको भूख लगी होगी। पिता बोला, बेटा तू क्या कह रहा है? अभी तो तू गाड़ी भर करके नैवेद्य लाया था।

अब सेठने चारों लड़कोंको बुलाया और कमाऊसे कहा—अब देखो तुम कुछ भी नहीं कर रहे हो, सब अपने भाग्यसे खाते पीते है। क्या अब तुम अलग होना चाहोगे? पुत्र बोला, नहीं पिताजी, अभी तक मैं भूलमें था।

**स्वभावदर्शनसे सर्वत्र भलाई**—आत्माके स्वभावको देखनेपर जो राग रहता है उससे तीव्र पुण्यका बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन होनेपर इस भवमें तो गरीब हो सकता है, लेकिन अगले भवमें दरिद्र नहीं हो सकता। भावोंकी दरिद्रता तो भवमें भी नही रह सकती। स्व-भावदृष्टिकी बड़ी महत्ता है। पानीमें गर्मीका संयोग है। अग्नि उपाधिका निमित्त पाकर यह बात तब सही है, जब उनके मिश्रणपर दृष्टि हो। यदि पानीके शीत स्वभावपर दृष्टि है तो पानीका उष्णत्व अभूतार्थ है। इसी प्रकार कर्म उपाधिका निमित्त पाकर होने वाले मोहसे समवेत है यह आत्मा, यह बात पर्याय रूपसे अनुभव किये जानेपर भूतार्थ है, सत्य है, किन्तु स्वत:सिद्ध आत्मस्वभावमें अनुभव किये जानेपर मोहादि संयुक्तता अभूतार्थ है। गुस्सा करना आत्माका स्वभाव नहीं। किसीसे कहा जाये, तुम दो मिनट तक एकसा गुस्सा करो, कोई एकसा गुस्सा कर ही नहीं सकता। क्योंकि अस्वभाव देर तक नहीं रहता। क्रोध, मान, माया, लोभ करना आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि आत्माका स्वभाव होता तो गुस्सा उसमें

सदा बना रहना चाहिए। आत्माका स्वभाव ज्ञान है। यदि किसीसे कहा जाये तुम एक घंटा तक शांत बैठे रहो तो वह शांत बैठ सकता है। क्योंकि शांति आत्माका स्वभाव है। लेकिन कोई निरंतर क्रोध नहीं कर सकता है। शास्त्र स्वाध्यायसे यही लाभ है कि परवस्तुसे राग छूट जाये। उसीका जीवन सफल है जो रागसे दूर है।

साथ-साथ कोई नहीं जाता है। पति मरता है, पत्नी मरती है—लेकिन साथ कोई किसीके साथ नहीं जाता। दुःखका कारण संयोग है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव–सब इसीमें तन्मय है। मौलिक ज्ञान बिना यदि कोई जीव चाहे कि हमारा मोह दूर हो जाये तो बिना ज्ञानके मोह दूर नहीं हो सकता है।

सम्यग्दर्शन स्वभावके आश्रयसे होता है। निमित्त हरेक चीजमें होता है। उसपर द्रव्यकी दृष्टिसे कल्याण नहीं। सदा स्वभावकी दृष्टि रखना चाहिए, तभी कल्याण हो सकता है। जरासी देरमें बिगड़ जाना, यह अपनेको दुःख देने वाली चीज है। ऐसा मानकर अपने स्वभावको सत्पथपर लाओ। अपना कल्याण अपने हाथमें है, यह सोचकर दुःखका मार्ग छोड़कर सुखका मार्ग ग्रहण करो। भैया ! निमित्त उपादानादिका विचारकर स्वभावपर दृष्टि लानी चाहिए। यही विचारें कि यह शरीर हमारेसे अलग है, तभी स्वभावपर दृष्टि जा सकती है और अपना कल्याण हो सकता है।

इस गाथामें जो यह बताया है कि आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष व असंयुक्त देखो, इसका तात्पर्य है कि संयोगसम्बन्धसे रहित, व्यञ्जन पर्यायसे परे, गुणपर्यायसे परे, गुणभेदसे परे एवं औपाधिकतासे परे अखण्ड आत्मस्वभावको देखो।

नयोंके द्वारा विभिन्न प्रकारसे वस्तुका ज्ञान करें––व्यवहारनय और निश्चयनयका उसमे निरपेक्ष विचार न करें। पदार्थोंका विज्ञान, नयोंका ज्ञान सब ही दृष्टिसे करें। प्रमाण से पदार्थको जानकर निश्चयनयकी मुख्यतासे देखना है, वह सापेक्ष ज्ञान है। प्रमाणका ज्ञान करके निश्चयकी मुख्यतासे वस्तुको निरखो। एक बार भी निश्चयकी मुख्यतासे परख लिया जावे तत्त्व, तो उस तत्त्वकी स्मृति इसके बाद रहती है। सब विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदनकी अवस्था जब होती है, तब जिसको स्वसंवेदन हो जाता है, उसके कोई विकल्प नहीं होता है। पश्चात् तो उसका स्मरण होता है।

आत्मा पर्यायरूप है, आत्मामें नाना गुण हैं। यह पर्याय उसकी वहीं होती है। इस शैलीसे ज्ञात करके एक शुद्धनयका कार्य, स्वानुभवके होनेपर बद्ध, स्पृष्टादि भाव नहीं आते, अतः स्वानुभव ही प्राप्त करना योग्य है। आत्माको देखने वाले उसका स्वाद लेने जाते है। आत्मानुभव न करने वाले आत्मस्वरूपसे बहुत दूर चले जाते हैं। उस आत्माको समयसार, कारणपरमात्मा आदि कई नामोंसे पुकारते है। संज्ञी जीवोंमें ही यह योग्यता

है कि वे उस आत्माका ज्ञान कर सकें। 'विद्यते बालक: कक्षे नगरे भवति घोषणा" अर्थात् जो वस्तु अपने पासमें है, उसे अपन लोग ढूंढ़ते फिरते हैं—ऐसा कितनी ही बार हो जाता है। जो चीज हमारे हाथमें या पासमें होती है, उसे हम सर्वत्र ढूंढ़ते फिरते हैं। संज्ञी जीव बनकर तथा इतनी योग्यता (आत्मस्वरूपको जाननेकी शक्ति) प्राप्त करके यदि उस बातको न समझे तो कब समझेंगे? भैया वह तो यही है, केवल दृष्टिकी आवश्यकता है। यहाँ आचार्य देव कहते हैं—

हे संसारके मोही प्राणियों! उस स्वात्माका अनुभव करो। आत्मा हर समय ज्ञान का काम तो करता है, लेकिन धनको आत्मा (स्वयं) नहीं कमाता है। आत्माका काम विचार या भाव करना मात्र है। विशेषपर दृष्टि मत डालो, सामान्यको देखो। जहां विशेष पर दृष्टि गई, वहीं समझिये आपत्ति-जंजाल है। दुनियाके लोग विशेषके लिए तरसते हैं, योगी सामान्यके लिये लालायित बने रहते हैं। सामान्यका आश्रय ही कल्याणकारी है, उसको प्राप्त करनेमें आकुलता नहीं है। अतः सामान्य पर ही दृष्टि रखना चाहिये।

**सामान्यावलोकन एक रस है उसकी उपासना करो**—कोई भी व्यक्ति एक रसतामें नहीं रह सकता है। सभी दुःखी हैं। कोई किसी चीजको प्राप्त करना चाहता है, कोई कुछ प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहता है। उच्च पदस्थ व्यक्ति तथा उच्च पदोंपर रहने वाले या बैठने वाले व्यक्ति कुछ समयके लिये इधर उधर जन-साधारणके पास बैठकर आनन्द लेते हैं। वे ५ मिनटके लिये जन-साधारणोंमें बैठनेके लिये लालायित रहते हैं। नेताओंको संसदकी चहार दीवारी बुरी लगने लगती है। जैसे नेहरू जी कभी थककर देहातियोंके पास बैठकर श्रमको दूर करके आनन्दकी प्राप्ति करते थे। सामान्य भोजनमें भी आनन्द है, विशेष भोजन तो अपच व हानिकर होता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि एकान्ततः विशेष कभी हित नहीं करता। जब लाभ हुआ तो सामान्यसे लाभ होता देखा गया है। यहाँ विशेष पद्धति शरीर और आत्माके सम्बन्धकी बताई गई है। जैसे पुस्तक और चौकीका सम्बन्ध है या पुस्तक चौकी पर रखी है। लेकिन यह कहना कल्पना मात्र है। क्योंकि चौकी और पुस्तकमें कोई सम्बन्ध गुण नहीं है, वह तो कल्पना मात्र है। सम्बन्ध किसीका कुछ नहीं। द्रव्य सभी न्यारे-न्यारे हैं। जो समान कषाय करता है। वे परस्परमें मित्र हो जाते हैं। जैसी इच्छा या विचार हमारे हैं, यदि उसी इच्छा या विचारोंका अन्य व्यक्ति मिल जाये तो वे आपसमें मित्र हो जाते हैं। लेकिन सम्बन्ध कारक होता ही नहीं है। सो एक वस्तु कभी भी दूसरेकी नहीं बन सकती। विशेष (पर्याय) भी क्षणिक है। एक सामान्यात्माका अनुभव करो, जिसके अनुभव करनेसे सब विपत्तियोंसे मुक्ति हो जाती है। बुद्धिमान् लोग वर्तमान, भूत और आगतके बन्धनको बहुत ही जल्दी भेद करके तथा मोहका क्षय करके

अपने आत्माका अनुभव कर लेते हैं।

**भूत, भविष्यत् और वर्तमानके बन्धनको काटने वाला सम्यग्दृष्टि होता है**—जो चीज गुजर गई, उसका क्या खेद करना—भूतकालका बन्धन भी दुःखकारी होता है। जो कल रईस बना गुलछर्रे उड़ाता था, वह आज यदि निर्धन हो जाता है तो दुखी होता है। जो सम्बन्ध था, वह तो चला गया तो फिर उसको बन्धन बनानेसे क्या लाभ है? भूतकालकी बातें बीत जानेपर भी डींग मारना, पूर्वका जिक्र करना यह आकुलताका कारण है। ज्ञानी भूतकालका बन्धन नहीं बनाते। भविष्यत्कालका बन्धन भी प्राय: प्रत्येक व्यक्ति बनाता है। आगामी समागमके लिये जो हमारे मनमें कल्पना उठती है, यह भविष्यत्कालका बन्धन है। शादी हुई नहीं सगाई होनेपर ही निदान बांध लेते हैं। फलाना अमुक होगा, यही भविष्य-कालका बन्धन है। ज्ञानी भविष्यकालका बन्धन कभी नहीं बनाता है। वर्तमानका बन्धन भी ज्ञानीके लिये बन्धन नहीं होता है। क्योंकि वह वर्तमानमें मिले हुए समागमके बारेमें सोचता है कि यह कब टले? फलानी चीज नहीं चाहिए। भोगोंमें स्वत: वियोगबुद्धि है। यहाँ भी तो पकवानादि खाओ, पेट भर गया तो उससे भी वियोग बुद्धि हो जाती है। ज्ञानी की इससे भी विशेष बात है—वे सोचते हैं कि यह परवस्तु है, कौन दिन आये कि इसका विकल्प छूट जावे? उसमें उसकी वियोग-बुद्धि रहती है, क्योंकि उसमें इच्छा नहीं होती है। भूत भविष्यत् वर्तमानके बन्धनोंको भेदकर यह सुधी आत्माका अनुभव करता है। आत्माकी महिमा आत्मानुभवसे ही जानी जा सकती है। हमारे पास हमारी तो वस्तु नहीं है, परवस्तु (खिलौनोंको) देखकर रोते हैं। परन्तु ये खिलौने मिल नहीं सकते हैं। जो खिलौना अपना है, जिसमें योगीजन रमण करते हैं, वह मिल जाये तो फिर दूसरेके खिलौने की आवश्यकता नहीं हो सकती है। वह खिलौना आत्माका स्वभाव है। वह स्वभाव कर्म-कलंकसे रहित है। गायको रस्सीसे कोई नहीं बांधता। जो बांधता है वह रस्सीसे रस्सी ही बांधता है। गायको रस्सीसे बांधना सम्भव नहीं है। जो ऐसा प्रयास करेगा वह गायकी गर्दन तोड़ डालेगा। जब शरीर और आत्माको एक साथ देखते हैं, तब आत्मा शरीरसे अभिन्न मालूम पड़ता है। जिसने इस चैतन्यस्वभावको देखा है वही सिद्ध है। ज्ञानी अपनी आत्माको नित्य कर्मकलंक पंकसे विकल देखता है। ऐसा आत्मा ज्ञानी जीवके अनुभवमें आता है।

**ज्ञानमय खुद खुदके जाननेमें न आये**—खुदकी बात जब खुदके समझमें नहीं आई, यही कारण है कि ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं। धन, मकान, सम्पत्तिसे भी मोह हट जाये, तब भी सम्यग्दृष्टि दरिद्र नहीं हो सकता है। क्योंकि— 'भवतु स दरिद्रो, यस्य तृष्णा विशाला। मनसि च परितुष्टे, कोऽर्थवान् को दरिद्र:॥"

एक साधु था। उसने सेठसे कहा कि हे राजन्, आप अर्थके (धनके) स्वामी हैं तो

हम भी अर्थके (शब्दार्थ) के स्वामी हैं। दरिद्र वह है, जो असन्तुष्ट है। "किं दारिद्रयम् ? असन्तोषः, सन्तोषी प्राणी ही धनवान् है। मन उसीका सन्तुष्ट होता है, जिसके पास सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय, अध्ययन, मनन करो। उन्नति तभी हो सकती है जबकि विद्यार्थियोंके ढंगसे अध्ययन किया जाये। यदि स्वाध्याय भी करते हो तो इस ढंगसे करो कि कुछ पल्ले भी पड़े। शास्त्र भी यदि विद्यार्थियोंके ढंगसे पढ़े व सुने जायें तो भी अच्छा है। विद्यार्थियोंके ढंगसे पढ़नेसे शीघ्र ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शुद्ध नयात्मक जो आत्माकी अनुभूति है, उसीका नाम ज्ञानकी अनुभूति है।

**अनुभव करने वाला ज्ञान है**—यदि ज्ञान ही अनुभवमें आये तो ज्ञान ही ज्ञेय है व ज्ञाता भी है। भगवानके ध्यानमें अपना एकपना नहीं बन पाया। ध्यान करने वाला ज्ञान है, ध्येय भगवान् है, भगवान ज्ञानसे परवस्तु है, अतः वह ध्यान उत्कृष्ट ध्यान नहीं कहलाया। ज्ञानका ही ध्यान करना चाहिए इसमें अशक्त होनेपर इस ही तत्त्वके प्रसादके ध्येयसे ज्ञानीके भगवानका ध्यान होता है। निज ध्यान है वही ऊंची वस्तु है। ज्ञान धर्म है, धर्मी आत्मा है। धर्म वाले आत्माका धर्म ज्ञान है। आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान गुण है। गुणका ज्ञान तभी किया जा सकता है, जब गुणीका ध्यान किया जा सके। ज्ञानका ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि आत्माको पहचाना जाये। आत्मा दो प्रकारसे देखा जाता है, एक जातिकी आत्मा, दूसरी व्यक्तिगत आत्मा। आत्मा 'सत्' भी है और असत् भी है। आत्मा यदि जाति आत्माकी अपेक्षासे सत् है तो व्यक्ति आत्माकी अपेक्षासे असत् है। जाति आत्माकी अपेक्षासे आत्मा एक रूप है, व्यक्ति आत्मा की अपेक्षासे आत्मा नाना रूप है। आत्मा सर्वव्यापक भी है अव्यापक भी है। आत्मा व्यक्ति आत्माका अपेक्षासे थोड़ेसे क्षेत्रमें है, जाति आत्मा सर्वव्यापक है। पूरे आत्माको एक साथ देखो तो आत्मा त्रिलक्षण है। आत्माको अंशकी अपेक्षासे देखो तो अत्रिलक्षण है। इस प्रकार आत्मा त्रिलक्षण भी है और अत्रिलक्षण भी।

शंका—आत्माके अखण्ड होते हुए इतने भेद क्यों किये ? समाधान—आत्माके इतने भेद किये बिना वह समझमें नहीं आ सकता है। युक्तिसे आत्माको समझता है। अतः भेद करना ही इसका उपाय है।

**विराग संतोंकी युक्तियां सत्य और परम्पराकी अविरोधनी हैं**—आत्माको हम दो क्रमोंसे फैलाते हैः—१. तिर्यक (विष्कम्भ) क्रम, और २. ऊर्ध्वक्रम। एक ही समयके फैलाव को विष्कम्भ क्रम कहते हैं और भिन्न-भिन्न समयके फैलावको ऊर्ध्वक्रम कहते हैं। विष्कम्भ क्रमसे आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, असंख्यात प्रदेश एक ही समयमें होते हैं। दूसरी चीज गुणोंको बताना भी विष्कम्भ क्रम है। क्योंकि एक ही समयमें वे सब गुण हैं। आत्माको

**ज्ञानकी ओर ही सदा चित्त लगाओ, विषय कषायमें नहीं**—जिस ओर जीवका उपयोग लग जाता है, उसी रूप उसकी उसमें श्रद्धा बन जाती है। अतः विषय-कषायका उपयोग कभी शुरू मत होने दो। विषय-कषायमें उपयोग देनेके कारण लोग सदा विपत्ति-जंजालमें जकड़े रहते हैं। उससे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानस्वरूपकी ओर ही अपना उपयोग लगाओ। ऐसा वह आत्मा जो स्वानुभवसे ही समझमें आता है, स्वानुभवसे ही उसे पहिचाननेका प्रयत्न करो। जैसे हम कहते हैं—यह घड़ी हमारी है। लेकिन घड़ी स्वतन्त्र द्रव्य है। भिन्न द्रव्य होनेसे घड़ी हमारी कैसे कहलाई ? घड़ी हमारी नहीं। हमारा घड़ी का कोई सम्बन्ध नहीं। यह शरीर अपना कुछ नहीं लगता, यह भी अपना नहीं है। हमारे साथ रहने वालेका और हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह आत्मा इस शरीर पंजरसे निकलेगा तो ऐसा निकलेगा, जैसा तिलोंसे तेल निकल जाता है। जब जीवनभर साथी रहने वाला यह शरीर ही अपना नहीं तो फिर ये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तुएं अपनी कैसे हो सकती हैं ? पहले सब वस्तुओंके स्वरूपको समझो, फिर सबके प्रति माध्यस्थ्य भाव धारण करो। आत्माके स्वरूपको परखनेके लिए ममत्व बुद्धिको छोड़कर एक बार तो लग जाओ, फिर इस आनन्दको छोड़नेकी अपने आप ही इच्छा नहीं होगी।

**न्यायसे अपनी वृत्ति रखना चाहिये**—जो न्यायवृत्ति रखता है उसमें इतनी योग्यता है कि वह आत्माके ध्यानके योग्य है। अन्यायमें जिसकी बुद्धि लगी है; वह ध्यानके योग्य नहीं है। न्यायोपार्जित धन ही व्यय करना चाहिए। अन्यायसे जो धन कमाये, व्यवहार करे, वार्तालाप करे—उसका उपयोग आत्मामें नहीं लग सकता है। दूसरेका दिल दुखाकर कभी भी आत्माका ध्यान नहीं कर सकते। ध्यानमें मन लगानेके लिये उस समयसे पूर्वके परिणाम भी निर्मल होने चाहियें। बात करो तो न्यायकी करो। यदि न्यायपूर्ण बात करने में लौकिक हानि भी होती हो तो होने दो। धर्मध्यानके लिये चाहे थोड़ा ही समय लगाओ, न्यायपूरण व्यवहार रहा तो उतने समयका ध्यान ही फलदायी है। [बुद्धिपूर्वक शास्त्रमें नींद नहीं लेनी चाहिए। बुद्धि पूर्वक शास्त्रमें सोनेसे बहुत दोष है।]

ज्ञेय पदार्थोंकी ओर जिस समय जीव अपना मन लगाता है, उस समय उसे बड़ा आनन्द आता है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रशस्त आत्मा है।

वही व्यक्ति ज्यादह समय धर्मध्यानमें लगा सकता है, जिसे धनकी कमाई नहीं करनी है। क्योंकि धनार्जन करते समय वियोग बुद्धि बहुत कम रहती है। घरमें हों चाहे दूकानपर, बच्चोंको खिला रहे हों, चाहे रोटी बना रहे हों, कपड़े धो रहे हों, चाहे बर्तन मांज रहे हों, उस समय भी यह सोचना सुगम है कि अब हमारा उपयोग इस मोह-बलासे कब हटे ? धन कमाते समय वियोग बुद्धि होना कठिन बात है। स्त्रियोंके विशुद्ध परिणाम

हों तो आज उनका भी धर्म पुरुषोंसे कम नहीं है। पुरुषोंका धनार्जन करते समय वियोग बुद्धि बनाना कठिन है। लेकिन घरमें रहकर वियोग बुद्धि करना सरल है। दूसरे रसोई बनाते समय भी यदि शुद्धताका ध्यान रखा जाये तो पुण्य बन्ध भी होता है। विशुद्ध परिणामोंसे कर्मोंकी संवर-निर्जरा भी होती रहती है। भावोंकी निर्मलता आवश्यक है। पंच परमेष्ठीके ध्यानसे आत्माका विकास होता है। शरीरपर मत जाओ, शरीर तो सबका मलिन है। शरीरके ध्यान करनेसे क्या मिलेगा ? आचार्य उपाध्यायका शरीर आप लोगों जैसा ही है। यद्यपि उपवासादि करनेसे उनका शरीर कुछ व्यवहारिक शुद्ध हो जाता है।

**आत्माके विकासका नाम सिद्ध भगवान है**--दरिद्र (मिथ्या दृष्टि), गृहस्थ, साधु, आचार्य, उपाध्याय, अरहन्त व सिद्ध—इस प्रकार क्रमसे सात अवस्थाओंमें आत्माका विकास होता गया है। सम्यग्दृष्टि कभी भी भावोंसे दरिद्र नहीं हो सकता। जो यह अनुभव करे कि मैं दरिद्र हूं वही दरिद्र है। ऊपर कहे गये ये सातों क्रमशः बड़े हैं। आचार्य उपाध्यायकी आत्मामें छोटे बड़ेका अन्दाज नहीं लगा सकते। साधुमें भी आत्माके विषयमें कहा नहीं जा सकता है। आत्माके विकासकी दृष्टिसे साधु, उपाध्याय और आचार्योंमें निर्मल परिणाम घट बढ़ भी हो सकते हैं फिर भी आत्महितमें समान हैं। भगवान इतने बड़े हैं कि हम उनसे वार्तालाप नहीं कर सकते। अशुभसे बचनेका पचपरमेष्ठीका नित्य ध्यान करना चाहिये। ४ आदिके (साधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहन्त) शरीर सहित भी ध्येय है। शरीर रहित सिद्ध भगवान् तो ध्येय है ही।

पंचपरमेष्ठीके ध्यानसे परिणामोंमें निर्मलता आती है। मोहके कपाट इतने दृढ़ हैं, उनको खोलनेके लिये भगवद्भक्तिकी कुञ्जी चाहिए। जो भगवद् भक्ति कर लेते हैं, उन्हें लाभ है, और सब कुछ प्राप्य है। जिसने अपना ध्यान शुद्ध बना लिया, उसका आत्मा तो कृतकृत्य हो गया।

जैसे नमककी एक पुतली बनाकर पानीमें डाली जाये। ५–७ मिनट डुबकी लगाकर हमें बताना कि वहां क्या देखा ? भैया ! वह तो घुल जाती है हमें वह क्या सुनाये ? स्वानुभवकी चीज आत्मानुभवसे ही जानी जा सकती है। लोकमें भी तो ऐसा ही चलता है--घड़ीको वही जान पायेगा, जिसका घड़ीसे परिचय है। जहांपर "घड़ी" नहीं बोला जाता, वहां "घड़ी" कहनेसे घड़ीको कोई नहीं समझ सकेगा। शक्करका सबने स्वाद लिया, तो शक्कर मीठी होती है ऐसा कहते ही उसे हर एक समझ जायेगा, क्योंकि उसका अनुभव सभीने किया है। जिस प्रकार नमककी डली पानीमें मिलकर पानी ही बन जाती है, इसी प्रकार साधु लोग ध्यानमें लगकर आत्मामें लीन हो जाते हैं।

**तेरे सामने दो मार्ग हैं, बता किस पर चलना है**--मार्ग दो ही हैं:—१. पाप कमा-

प्रदेश और गुण बताकर ही समझाया जायेगा। नारकी, क्रोधी, देव, मनुष्य पर्यायों वाला आत्मा ऊर्ध्वक्रममें आता है, क्योंकि ये पर्यायें एक समयमें नहीं हो सकतीं, क्रम-क्रमसे होंगी। प्रदेश और गुण विष्कम्भक्रममें जायेंगे, और गुणांश ऊर्ध्वक्रममें जायेंगे। द्रव्य, प्रदेश, गुण और पर्याय— इन्हीं चारोंसे आत्मा समझाया जाता है। मगर यह नहीं समझता कि ये गुण और पर्याय मिलकर आत्मा बनी हो। ऐसा नहीं है, समझनेके लिये भेद किये गये हैं। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं सुखादि है–ऐसा भान होता है, लेकिन ऐसा नहीं है। हां, आत्माको समझनेका यही उपाय है और कोई नहीं। आत्माको समगुण पर्याय समझो। पर्याय द्रव्यमें एक समयमें एक होती है। एक ही पर्यायके नाना फल हैं आस्रव, बंध, संवर निर्जरा। देखो तो इन सबकी कारण एक पर्याय बन रही है। वही पर्याय मोक्षमार्ग और संसार मार्ग का भी कारण है। शुद्ध दशा निर्विकल्प है सिद्ध भगवान्के ज्ञानमें जम्बू द्वीप आ रहा है, लेकिन वे यह नहीं विकल्प कर रहे कि जम्बू द्वीप एक लाख योजनका है। भगवानका ज्ञान निर्विकल्पक है, अपन लोगोंके ज्ञानमें विकल्प उठते रहते हैं।

**निश्चयनय प्रभुके ज्ञानकी पद्धतिका अनुसरण करता है**—संयोग न जीवका गुण है, न द्रव्यका। 'सम्बन्ध' नामकी कोई चीज है ही नहीं। हम लोग जो चीज नहीं है उसको (सम्बन्धको) भी जान लेते हैं। नैगमनय सत् व असत् रूप है, इस प्रकार दोनों प्रकारसे जान सकते हैं। हम लोग तो असम्भव बात (गधाके सींग) भी जान सकते हैं, यह कल्पना मात्र है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो भगवानके ज्ञानमें आता है, वही सही है। हमारे ज्ञानमें जो हम कल्पना करते हैं, सब असत्य है। जिसे भगवान नहीं जानते और तुम जानते हो वह सब गलत है। शरीर मेरा है, ऐसा सोचो, किन्तु शरीर इसका है, ऐसा भगवान् नहीं जानते हैं। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजनका है, ऐसी भगवान्के कल्पना नहीं हैं। जो हम जानने हैं वह सब भगवान्के ज्ञानमें झलक जाता है, वह ज्ञेय हमारी परिणति है। जम्बूद्वीपमें एक लाख योजन जैसा कुछ अगुरुलघुका परिणमन नहीं चल रहा है। चौकी एक हाथ लम्बी चौड़ी है, यह ज्ञानका विषय नहीं है। यह सब हमारी कल्पनाकी बात है। जो वस्तु भगवानके ज्ञानमें आती हैं, वे भूतार्थ हैं और जिन वस्तुओंको भगवान् नहीं जानते हैं, वे अभूतार्थ हैं। निश्चयनयसे जो अपने ज्ञानमें आता है, वही भगवान्के ज्ञानमें भी है। व्यवहारनयसे जैसा हम जानते है, यह कल्पना ही संसारमें भटकाने वाली है। यही कल्पना ही दुःखदायी है। भगवान्के ज्ञानमें तीनों लोकोंके पदार्थ एक साथ स्पष्ट झलकते हैं। अर्थात् भगवान् ऐसा जानते हैं जैसा कि हम निश्चयनयसे जानते हैं, व्यवहारनयके विषयके ढंगसे नहीं। जो शुद्ध नयात्मक ज्ञानकी अनुभूति है, वही आत्माकी अनुभूति है। अनुभव करने वाला ज्ञान है।

ज्ञानका ध्यान करने लग जाओ तो ज्ञान ही ज्ञेय और ज्ञाता बन जाये—ज्ञान वह है ही-वही स्वरूपाचरण हो गया। ज्ञानसे ज्ञानकी चीजें जानी जा सकती हैं। आत्माको आत्मामें ही निवेश करके; ज्ञानके द्वारा ही आत्मामें रखना। निश्चल रूपसे रखकर आत्मा को ज्ञानका घन बनाओ। यदि शुद्ध स्वभाव देखना है तो दो पदार्थोंका संयोग मत देखो।

शंका:—ज्ञान तो आत्माका गुण है, तो उस ज्ञानसे आत्माका ज्ञान कैसे हो जाता है ?

समाधान:—एक पर्यायके द्वारा पूरे पदार्थका अनुभव हुआ करता है। द्रव्यको गुणसे जाना जाता है। अखण्डपर पहुँचनेके लिये यदि गुणका भी अनुभव करते है, तो हम सही रास्तेपर है। ज्ञानके द्वारा पूरे आत्माको समझा जाये तो ज्ञान भी सही रहेगा और आत्मा भी। यदि तुम ज्ञानगुणका अनुभव करते हो तो स्वानुभव हो जायेगा।

समस्त जैन शासनका प्रयोजन यह ही है कि "आत्माका परम स्वभावरूपसे अनुभव कर लेना"। जो महाभाग उक्त रूपसे आत्मतत्त्वको देखता है—वह सर्व जिनशासनको अर्थात् जिनेन्द्रदेवके हुकुमको मान लेता है, यही भाव इस १५ वीं गाथामें कहते हैं:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष और आदि मध्य अन्तरहित देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है। जिनेन्द्र भगवानके समस्त अनुशासनोंमें प्रयोजनभूत शासन इतना ही है याने हुक्म इतना ही है कि परमस्वभाव रूप आत्माको देखो। अंग पूर्वोंका पाठी होकर भी यदि इस प्रकार निज तत्त्वको देखता है तो वह ज्ञानी है, नहीं देखता तो वह अज्ञानी है।

शुद्ध निश्चयनयसे जो ज्ञानकी अनुभूति हो, उसे ही ज्ञानकी अनुभूति कहते हैं। जीव को इस प्रकार श्रद्धा लानी चाहिये कि ज्ञानमय परिणमनमें ही मेरा हित है। विषय-कषाय की ओर गया उपयोग हमारा बैरी है। जिस ओर जीवकी बुद्धि लगी रहती है उसी ओर उसकी श्रद्धा बन जाती है। विषय और कषायका उपयोग एक बहुत बड़ी विपदा है। आत्मा निर्मल और चैतन्यस्वरूप है। वह किसीसे सम्बन्धित नहीं है। विषय-कषायकी ओर उपयोग मत लगाओ। रोगजनित पीड़ा होनेपर भी कषायको जागृत मत करो। रोगजनित पीड़ा न हो, रोग हो जाये तो कोई बात नहीं। मरते समय प्रायः कुछ न कुछ रोग होता ही है। प्रायः आदमी मरते समय रोगके शिकार रहते हैं। रोगमें कलुषित परिणाम न हों। किसी भी समय विषय कषायरूप दावानलकी ओर उपयोग मत लाओ। प्रति समय आयु घटती रहती है अर्थात् प्रति समय मरण होता है। क्योंकि आयुका छूटना भी मरण ही के अन्तर्गत है। आयुमें भी भेद प्रभेद होते हैं। प्रतिक्षण समाधिभाव रखो।

कर संसार मार्ग, २. कर्मोका भेदन कर मोक्षमार्ग। कोई भी प्राणी परिणाम ही खराब कर सकता है, इसके अलावा कुछ नहीं। कर्ता वह उसको कहता है, जिसके प्रति उसका कथन होता है। 'भू' सत्तार्थक धातुका प्रयोग करो तो अभिमान नहीं हो सकता है। 'भू' धातुसे उत्पाद व्ययको बताया जाता है। और भू का अर्थ है भू सत्तायां सो अस्ति ध्रौव्यता को बताती है। दूसरी क्रियाकी आवश्यकता ही नहीं। अस्ति-भवतिके सिवाय न बोलो तो समझो प्रायः कि आध्यात्मिक भाषा बोल रहे हो। वस्तुतः कोई किसीका ध्यान भी नहीं करता है। जो जिस भावसे परिणमता है, वह उसी रूप कहलाने लगता है। ज्ञान अपेक्षासे अरहंतका जो ध्यान करता है, वह भावसे वही (अरहन्त) बन जाता है। अर्थात् ज्ञाननयसे वह भक्त अरहन्त है।

द्रव्य गुणमय है। जैसे द्रव्य नित्य है, वैसे ही गुण भी नित्य है। जैसे द्रव्यमें परिणमन होते हैं, वैसे ही गुणमें भी परिणमन होते हैं।

शंका:—यहाँ शंकाकारका कहना है कि गुण नष्ट हो जाता है, फिर दूसरा नया उत्पन्न होता है। हमें तो ऐसा ही मालूम होता है।

समाधान—किन्हीं गुणोंका नाश हो और किन्हीं गुणोंकी उत्पत्ति हो, ऐसा नहीं है। जैसे कागज बादामी रंगका था, अब काला हो गया, लेकिन रूपत्व दोनों ही अवस्थाओंमें रहा। जैसे आम पैदा होते ही काले रंगका होता है। फिर कुछ परिपक्त्वावस्था आने पर नीला और हरा क्रमशः पड़ जाता है। पूर्णतः पकनेपर लाल हो जाता है। रंग की व्यक्त हालतका नाम पर्याय है। जो सब रंगोंमें जाता है, उसीका नाम गुण है। सामान्य रंग याने रूप गुण सर्वपर्यायोंमें रहता ही है पुद्गलकी। आमके पैदा होते ही काला था। बादमें नीला या हरा या पीला हो गया। रंगकी पर्याय ही बदली, रूपत्व आमकी सभी पर्यायोंमें विद्यमान है। गुण किसीको दिखाई नहीं देता, पर्याय सबको दिखाई देती है। रूपकी पर्याय नई उत्पन्न होती है, पुरानी नष्ट होती है। ऐसा नहीं कि गुण बिल्कुल नष्ट या उत्पन्न हो जाते हों। द्रव्यसे गुण न्यारा नहीं है, ऐसा जानना चाहिये। गुणका नाम जैसे ज्ञानका सहजज्ञान रखो। मतिश्रुतादिक ज्ञान सहजज्ञानकी पर्याय हैं। सहजज्ञान की पर्याय नई उत्पन्न होती है। ज्ञान वही है, परन्तु उपयोग बदल गया। ज्ञान नई नई हालत रखता है, वह हालत ज्ञानकी पर्याय है। जिसकी हालत है वह ज्ञान गुण है।

**हालत तो पर्याय है, जिसकी हालत है वह पदार्थ है**—जैसे मिट्टीसे घर बना। लेकिन मिट्टी रूप तो रहा ही है। रूप सामान्यका नाम रूप गुण है और विशेष रूप गुण की है पर्याय है। ज्ञानकी हालतका नाम पर्याय है। ज्ञान सामान्यका नाम ज्ञान है। ज्ञान

सामान्य गुण कहलाया। यह सब उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकताका विलास है। इसीको कुछ लोग
सत्त्व, रज, तमोगुण ये तीनों पदार्थमें रहते हैं—ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार जैन सिद्धान्त भी कहता है। जैन सिद्धान्त और ये सिद्धान्त एक समान
हो गये। किन्तु अन्य अभिप्राय कहते हैं कि ये तीनों एक साथ नहीं आते हैं। जैसे मिट्टीका
घड़ा बना—इसमें घड़ेका उत्पाद मिट्टीके लौंदेका व्यय और मिट्टीकी ध्रुवता हरेक हालतमें
रही। अतः उत्पाद व्यय व ध्रौव्य तीनों एक साथ रहते हैं वैसी बात सत्त्व रजोतमका
सिद्धान्त नहीं कहता। वस्तुकी स्थिति है, वस्तु परिणामी होनेसे प्रति समय बदलती भी
रही। ध्यान रहे कि वस्तुकी पर्याय बदली, वस्तु दूसरी पर्यायके रूपमें न्रही रही। सत्त्व,
रज और तमोगुण ये सब उनकी क्रमभावी पर्याय हैं। अतः ये तीनों एक साथ रह ही नहीं
सकते। कुछ लोग पर्यायको भी गुण मानते हैं। जो वस्तु नष्ट हो जाती हैं वे सब पर्याय
हैं। यदि आप सत्त्व, रज और तमोगुणको भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जैसा स्वरूप मान लो
तो इन सब पदार्थोंको सत्त्व-रज-तमोगुणसे युक्त मान सकते हैं। यदि उनकी दृष्टिसे मानें
तो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये सब पर्याय हैं, वे व्यतिरेकी हैं। सब पदार्थ उत्पाद,
व्यय ध्रौव्यात्मक हैं।

**समस्त पदार्थ त्रिदेवतामय** हैं—उत्पाद = ब्रह्मा, व्यय = महादेव एवं ध्रौव्य = विष्णु
होता है। ये त्रिदेवता अलग नहीं। स्वयं पदार्थ सत्त्व, रज व तमोगुणमय है। चीज है,
स्वयं परिणमती है। वस्तुका निमित्त मिलनेपर भी वह अपने आपमें परिणमा। प्रत्येक
पदार्थ अपनेमें ही काम करता है। संयोगमें आकर चीज भी चल जाती है। हाथने हाथको
चलाया। उसका निमित्त पाकर पदार्थमें क्रिया हुई। पिताने पुत्रका कुछ नहीं किया। पुत्रके
पुण्यका उदय था, पिताके धनका निमित्त पाकर पुत्र स्वयं पढ़ा। पिताकी आत्मामें परिण-
मन हुआ पिताके अन्वयसे। वहाँ उसी प्रकारकी क्रिया हुई केवल वह निमित्त बना तो पुत्र
को उसने पढ़ाया ऐसा उपचारसे कहते हैं। हम किसीको समझा नहीं सकते। तुम स्वयं
समझते हो। हम तो तुम्हारे समझनेमें निमित्त मात्र बन जाते हैं। पदार्थोंका परिणमन
स्वयं अपनेमें ही होता है। पदार्थ चाहे कहीं भी पड़ा हो वहीं निमित्तनैमित्तिक भावसे परि-
णमता रहता है। जब यह आत्मा अपने आपमें दृष्टि लगाए, तो अपने आप यह कर्मबन्धसे
मुक्त हो जाता है। ईश्वरका ध्यान करनेसे लाभ यह है कि हमारा चित्त शुद्ध हो जाता है।
हम लोग भगवानका ध्यान करके अपना उद्धार कर लेते हैं। भगवान स्वयं किसीके लिये
कुछ नहीं करते। भगवानका ध्यान हमारे कल्याणमें निमित्त मात्र है। जैसे—मिट्टीका घड़ा
बना तो घड़ेमें मिट्टी सत्तारूपसे नष्ट नहीं हो जाती। घड़ेमें मिट्टीका सद्भाव सभी पर्यायोंमें
रहता है। अतः मिट्टी नित्य कहलाई। जो ज्ञान हमारा इष्ट रूप था, वह यदि बुरे रूप हो

गया तो उसकी पर्याय ही बदली, ज्ञान वहीका वही रहा। पर्यायके समय ज्ञान है, किन्तु सदा उस पर्यायरूप नहीं रहता। जैसी पर्याय होती है, उसी रूप गुण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा सामान्य पर्याय बदलनेपर भी वहीका वही रहता है। जैसे हम क्रोधमें थे, अब घमण्डमें आ गये तो ऐसा नहीं कि हमारी आत्मा बदल गई हो, आत्मा वहीकी वही है, पर्याय क्रोधसे घमण्डरूप हो गई। द्रव्यदृष्टिसे यदि आत्माको देखो तो आत्मा नित्य, निर्लेप, अविकारी जान पड़ता है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनित्य है।

मन दो प्रकारका होता है—द्रव्यमन और भावमन। मनके ऐसे दो भेद हैं। जो भी मनमें हम संकल्प विकल्प करते हैं, वह भावमन है। द्रव्यमन आत्मासे भिन्न है। भावमन आत्माकी एक पर्याय है। दु:खी होनेवाला भावमन है। गंधका ज्ञान करने वाला आत्मा है नासिका तो गन्धज्ञान करनेका निमित्त मात्र है। आत्मा वहीका वही रहता है। उसकी पर्यायें बदलती जाती हैं। भावमन आत्माकी एक अवस्था है। भावमन बदलता रहता है, आत्मा नहीं बदलती। जैसे अब हमें भूखकी पीड़ा हुई तो अब हमारा भावमन भूखकी पीडारूप हो जाता है। आत्माको भावमन नहीं कह सकते। आत्माकी पर्यायको भावमन कह सकते हैं। केवलज्ञान होनेपर केवलीके द्रव्यमन रहता है, भावमन नहीं रहता। क्योंकि केवली भगवान् सचराचरको जानते हैं। भावमन तभी तक रहता है, जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है। छद्मावस्थामें भी आत्मामें लीन रहो, तो भावमन उस समय नहीं रहता है, तब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है। जिस समय आत्मा परके विषयमें संकल्प-विकल्प करता है, उस समय कह देते हैं आत्मा परमें लीन है। जिस समय आत्मा परपदार्थोंसे मन हटा लेता है, तब कह देते हैं कि आत्मा आत्मामें लीन है। स्वानुभाव तो आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है।

शंका:–गुण तो आधेय है, द्रव्य आधार है–क्या ऐसा है? समाधान–नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा कहना चाहिये कि गुण, पर्याय इन सबका एक क्रम ही द्रव्य है।

शंका–आत्माके जितने प्रदेश है उन प्रदेशोंका नाम ही गुण है। अर्थात् द्रव्य न्यारी चीज है, गुण न्यारी चीज है— ऐसा है क्या? समाधान–गुणोंसे पृथक् प्रदेश नहीं है। गुणोंमय द्रव्यकी स्थितिमें प्रदेशका देखना होता है। द्रव्य एक स्वभाव है उस स्वभावके समझनेके अर्थ जो यत्न है भेद है वहाँ गुण कहलाते हैं। गुण नित्य रहता है। जैसे–रूप सामान्य नित्य रहता है। रूप सामान्यकी पर्यायें मिट जाती हैं। रूप सामान्य जल्दी इस लिये समझमें नहीं आता कि वह आँखोंसे नहीं दिखाई देता है। रूप सामान्यकी पर्याय ही आँखोंसे दिखाई देती है। पर्यायोंकी सन्तानके सहारे जो समझमें आवे, उसे द्रव्य कहते हैं।

सम.गुणपर्यायः द्रव्यम्—जो गुण और पर्यायके बराबर हों, उसे द्रव्य क.ते हैं।

शंका—हम तो ऐसा मानेंगे कि द्रव्यके जो प्रदेश हैं, वे द्रव्यके आश्रय रहने वाला अप्रकट गुण है। ऐसा माननेसे तुम्हारे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी बात ठीक घटती है।

समाधान—ऐसा माननेसे गुण क्षणिक हो जायेंगे। गुणोंके क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञान भी नहीं बन सकेगा। प्रत्यभिज्ञानसे अन्वयी बनता है। प्रत्यभिज्ञानका अभाव होने से अन्वयी कैसे बने? गुणकी पर्याय ही नष्टोत्पन्न होती है, गुण नष्ट नहीं होते। शंकाकारके कथनानुसार एक साथ नाना गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। यह तभी हो सकेगा, जब कि गुणोंके समूहका नाम द्रव्य रखोगे। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। आममें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आत्मामें भी अनन्त गुण हैं। गुणोंके समूहका नाम ही द्रव्य है। द्रव्य-गुण अलग अलग नहीं है।

दिखाई देने वाला द्रव्य एक द्रव्य नही। परन्तु इनके जो परमाणु हैं, वे ही द्रव्य है। दिखने वाले स्कंध अनन्त द्रव्योंकी पर्याय हैं।

यदि कहो कि गुण नित्य है, परिणामी है, ऐसा तो हम कहलाना चाहते हैं। चीज हमेशासे है और हमेशा रहेगी। वस्तु नित्य है, स्वतः परिणमनशील भी है। आत्मा परमाणु आदि सभी परिणामी हैं। यदि तुम कहो कि पदार्थ नित्य नहीं है, किसीने बनाया है तो बताओ, वह किसके द्वारा बनाई गई है? यदि वह किसी चीजके द्वारा बनाई गई है तो वह किस चीजके द्वारा बनाई गई है? अंतमें मानना ही पड़ेगा कि चीज स्वतः सिद्ध अनादि अवश्य है। असत्‌की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वस्तु स्वतः सिद्ध है, अतः वह अनादि अनंत तक रहेगी और सदा स्वतः परिणमती रहेगी। शुद्ध पर्याय कभी परिणमती नहीं है। क्योंकि उसमें विकार आनेका कोई कारण नहीं है। भगवान् कभी अवतार नहीं लेते। भगवानका अवतार मानना कल्पना या मिथ्यात्व है। अवतार कहते हैं उतरनेको (अवनतिको)। किसी आत्माका उतार हो जाता है, यह बात तो ठीक है।

आत्मद्रव्य क्या है—शंकाकार कहता है, जो आत्माकी लम्बाई चौड़ाई है, वह तो द्रव्य है, उसके आश्रित रहने वाले जो गुण हैं, उनको गुण मान रखा है, जो नष्ट-उत्पन्न होते रहते हैं।

ऐसा कहना ठीक नहीं। इसमें दो आपत्ति हैं—ऐसा मानने से गुणोंमें नष्टपना आ गया, तथा गुण अन्वयी भी नहीं रहे। फिर गुण एक ही रहेगा, नाना नहीं हो सकता। किन्तु गुण अनेक हैं। जैसे आममें रूप, रस, गंध, स्पर्श—चारों गुण एक साथ हैं। उसी प्रकार आत्मामें भी अनेक गुण साथ हैं।

शंका:—हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि गुण नित्य हैं और पर्याय अनित्य हैं। दोनों

समुदाय द्रव्य है । उत्तर--परिणाम नित्य है याने गुण नित्य हैं और परिणमते रहते हैं । गुण हालतें बदलनेमें कारण बन सकते हैं । इनके बदलनेमें भगवान् कारण नहीं हैं । हम लोग उसके बदलनेमें बाह्य कारण बन सकते हैं यदि बाह्य दृष्टिसे देखा जावे । भगवान तो ज्ञाता द्रष्टा हैं । वस्तुका स्वभाव ही बदलनेका है । वस्तु अपने आपमें स्वतः परिणमती रहती है, उसे कोई परिणमा नहीं सकता । वह प्रति क्षण बदलती रहती है । इसके अतिरिक्त यदि कहो, प्रदेशका नाम द्रव्य है, उसमें रहने वाला गुण है । चलो, तुम्हारे कहनेसे यह भी हम ठीक मान लेते हैं परन्तु प्रदेश और गुणोंको भिन्न भिन्न मत निरखो । प्रदेश अलगसे कुछ चीज नहीं है । गुणोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है । द्रव्यके देशांश प्रदेश कहलाते हैं ।

शंका:— गुणोंका समुदाय द्रव्य है, ऐसा तुमने माना तो आत्मामें जो पर्याय है, वह गुणोंकी ही दशा होनी चाहिए, द्रव्योंकी दशा नहीं होनी चाहिये । समाधान:—प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यपर्याय और गुण ये दो पर्याय अवश्य होना चाहिये । क्योंकि गुणोंमें गुणपना होनेपर भी गुणोंके क्रियावती और भाववती शक्ति--इस प्रकार दो शक्तियां होती हैं; जिसमें किसीकी हलन-चलन क्रिया हो, उसे क्रियावती शक्ति कहते हैं । गुणोंके परिणमनको भाववती शक्ति कहते हैं । क्रियावती शक्तिका सामञ्जस्य प्रदेशवत्त्व गुणके साथ है ।

गुणोंके समुदायका नाम ही द्रव्य है । गुण अनंत हैं । एक प्रदेशवत्त्व गुण भी है, प्रदेशवत्त्व गुणमें आकार क्रियावती शक्तिके कारण बनता है ।

**भेद और भेदक, अभेद और अभेदक**—इसी आत्माको सामान्यदृष्टिसे समझो तो कोई भेद नहीं आयेगा । यदि विशेषकी दृष्टिसे देखो तो आत्माके अनेक भेद समझमें आयेंगे । सारांश यह है कि द्रव्य गुणोंका समूह है । यह भी उपचार है । वस्तु अखण्ड है उसमें भेद बताया है । प्रदेशवत्त्व गुणकी पर्यायको द्रव्यपर्याय कहते हैं और अन्य गुणोंके परिणमनको गुण पर्याय कहते है ।

जितने प्रदेश रूप अंश हैं, उतने द्रव्य पर्याय हैं । जितने उस द्रव्यमें गुण है, उतने गुणपर्याय हैं । प्रदेशोंकी संख्या आकार बताना द्रव्यपर्याय कहलाती है । जैसे यह चौकी है । इतनी लम्बी-चौड़ी है, यह द्रव्यपर्याय रूपसे देखा । और यह काला है, भद्दा है यह गुण पर्यायरूपसे देखा । ऐसा नहीं कि द्रव्य कोई अलग चीज हो । वह तो सर्व गुणमय है । अतः सिद्ध हुआ कि भेददृष्टिसे देखो तो गुण है । अभेददृष्टिसे देखो तो वही द्रव्य है । जैसे वृक्षको अभेददृष्टिसे देखो तो वह वृक्ष दिखेगा और उसी वृक्षको भेददृष्टिसे जानो तो शाखा, कोंपल, फूल, फल रूप दिखेगा ।

आत्मा अभेददृष्टिसे देखे जानेपर वह परमार्थ परमस्वभाव है । जिन-शासनके मनन, अध्ययन ज्ञानका यहां परमफल है कि अबद्धस्पष्ट अनन्य, अविशेष, आदिमध्यान्त-

रहित आत्माका अनुभव हो। यदि यह अनुभव हो गया तो मानो समस्त जिनशासनका अनुभव हो गया। जिनशासन श्रुतज्ञानरूप है, श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा है। अतः जिनशासन का अनुभव कहो, ज्ञानका अनुभव कहो या आत्माका अनुभव कहो, यहाँ वह सब एकार्थक है। ज्ञानका अनुभव सामान्यके आविर्भाव व विशेषके तिरोभावसे अनुभूयमान होता है। परन्तु अज्ञानी और लोभी आत्माओंकी दृष्टि परकी ओर व परभावकी ओर रहती है, उनके सामान्यका तो तिरोभाव रहता और विशेषका आविर्भाव रहता, अतः ज्ञानका अनुभव नहीं होता। जैसे कि नाना प्रकारके नमकीन व्यञ्जन पकवानको अबुद्ध व व्यञ्जनलुब्ध खाये तो उसकी दृष्टि व्यंजनपर रहती, नमकपर दृष्टि नहीं रहती किन्तु स्वाद तो नमक ही बना रहा है, परन्तु वह लोभी यही समझता है कि व्यंजनका उत्तम स्वाद है। वहाँ नमक सामान्यका तो तिरोभाव है और व्यंजन विशेषका आविर्भाव है। व्यंजन संयोग न होने पर नमक सामान्यका जो स्वाद जाना जाता है वह वहाँ तब ज्ञात होवे जब सामान्यके आविर्भाव व विशेषके तिरोभाव व रूपसे स्वादा जावे। और देखा, नमक जो विशेषाविर्भाव से अनुभव किया है वही सामान्याविर्भावसे भी किया जा सकता, किन्तु इसके अर्थ ज्ञान और अलोभ होना चाहिये।

इसी प्रकार नाना ज्ञेयाकारोंके मिश्रणमें है तो ज्ञान उपादान और ज्ञेय निमित्त है, किन्तु अज्ञानी और ज्ञेयलोभी आत्माकी दृष्टि ज्ञेयपर तो होती है; ज्ञानसामान्यपर नहीं होती भैया! सामान्यके तिरोभाव व विशेषके आविर्भाव रूपसे अनुभव होता है, सामान्यके आविर्भाव व विशेषके तिरोभावरूपसे नहीं। जो ज्ञान विशेषके आविर्भाव रूपसे अनुभवा जा रहा है, वही तो सामान्यके आविर्भावरूपसे अनुभवा जा सकता है किन्तु इसके लिये चाहिये ज्ञान और अनासक्ति। जैसे अन्य द्रव्यके संयोगसे रहित केवल नमककी डली ही स्वादी जावे तो नमक रूपसे ही स्वाद आता है इसी प्रकार अन्य द्रव्य व अन्य भावके संयोगसे रहित केवल ज्ञानस्वभाव ही अनुभवा जावे तो ज्ञानसे यह विज्ञानघन आत्मा अनुभवमें आता ही है।

इस ज्ञानघन आत्माका परिचय करो। यह बहुत कुछ तो आत्माके वाचक शब्दोंके अर्थसे ही जाना जा सकता है।

**नाम तो पदार्थके विशेषण हैं**—जैसे कि आत्माके ये ३ नाम हैं—आत्मा, ज्ञानात्मा, चिदात्मा। आत्मा माने आत्मा। अततीति आत्मा—जो ज्ञानसे दुनिया भरमें निरंतर चले उसे आत्मा कहते हैं। ज्ञान ही जिसका स्वरूप है उसे ज्ञानात्मा कहते हैं। चैतन्य जिसका स्वरूप है, उसे चिदात्मा कहते हैं। चेतन उसे कहते हैं, जो जाने, चेते, देखे। ज्ञाता माने जानने वाला। दृष्टा माने जो प्रतिभास करे। इस प्रकार आत्माके कई नाम हैं।

इसी प्रकार गुणके चार नाम हैं--गुण, सहभू, अन्वयी और अर्थ। आत्मा तो द्रव्य है। आत्मामें जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र व शक्तियां हैं, वे गुण कहलाते है। मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी आदि होना ये आत्माकी पर्याय हैं।

एक साथ जो रहे उसे 'सहभू' कहते हैं। जो क्रम-क्रमसे होवे उसे 'क्रमभू' कहते है। आत्मामें गुण सहभू हैं, क्योंकि गुण आत्मामें एक साथ बने रहते है। समस्त पर्यायें क्रमभू हैं। आत्मा कभी देव बनता है, कभी मनुष्य, कभी नारकी। एक साथ ही आत्मा देव नारकी आदि नहीं बन सकता है। अतः पर्यायें क्रमभू कहलाती हैं। जितनी भी अनन्त शक्तियां है वे जीवमें एक साथ रह सकती हैं। सहभू कहते हैं एक साथ एक कालमें रहनेको या जो आत्माके साथ-साथ रहें। गुण अनन्त गुणोंके साथ रहते हैं, परस्परमें उनमें कोई विरोध नहीं। द्रव्यमें प्रति समय अनन्त गुण रहते हैं। द्रव्य अनन्तकाल तक रहेगा सो गुण भी तन्मय होकर अनन्त काल रहेगा। पर्याय माने परिणमन अर्थात् जो बदले चूंकि पर्याय भिन्न-भिन्न समयमें होती हैं, अतः पर्यायें क्रमभावी हैं। एक गुणकी पर्यायें एक साथ दो नहीं हो सकतीं। ऐसा कोई समय नहीं आयेगा जिस समय आत्मामें गुण न रहे। गुण तीनों कालोंमें आत्मा विद्यमान रहते हैं। भिन्नसमयवर्ती होनेसे पर्याय क्रमभावी होती हैं।

शंका:— एक साथ मिलकर रहने वाले गुणोंको सहभू कहना चाहिये। द्रव्यके साथ मिलकर ये गुण सहभू कहलायेगे।

समाधान:—यदि ऐसा कहोगे तो द्रव्य व गुण अलग-अलग हो जायेंगे। हम पहले कह आये हैं, गुणमय द्रव्य है। जैसे हाथमय शरीर है। ऐसा नहीं कि शरीरमें हाथ हो। कोंपल, पत्ते, शाखा, फूल, फलमय वृक्ष है। ऐसा नहीं कि वृक्षमें फूल-फल पत्ते हों। ऐसा कहें कि हमारे साथ जो रहे, वह हमारा मित्र है। मित्र और हम तो अलग-अलग हो जायेंगे ऐसा सहभूका अर्थ नहीं है। सहभूका सही अर्थ है कि जो प्रतिसमय साथ रहे। ऐसे आत्मामें रहनेवाले गुण हैं। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है। आत्मा ज्ञानदर्शनमय है। आत्मासे द्रव्यगुण कभी अलग नहीं हो सकते हैं। अलग होनेपर गुण मिट जायेंगे, उनकी सत्ता ही नहीं रहेगी। और गुण मिट जावेंगे तो द्रव्य ही न रहेगा।

शंका:--जो द्रव्योंके साथ मिलकर रहे, उसे गुण कहते हैं तो पर्यायमें भी गुणका लक्षण चला जायेगा। अर्थात् गुण ही पर्याय कहलायेंगी। इस कारण उसमें अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा और द्रव्यसे गुण अलग कहलाएंगे। जिस समय आत्मा मनुष्यपर्यायमें है तो क्या उसमें आत्मा नहीं ?

समाधान:—पर्याय द्रव्यसे न्यारी नहीं है। यदि हमारा ज्ञान हमसे अलग हो जाये तो क्या वह तुम्हारा नहीं कहलाने लग जायेगा ? जिस समय पर्याय है, उस समय पर्याय

द्रव्यमें तन्मय है, किन्तु द्रव्यमें त्रिकाल तन्मय नहीं।

**अन्वयीका अर्थ**---'अनु' शब्द प्रवाहरूपसे चलनेके अर्थमें आता है। अयति माने चलना। अनु + अय् माने जो अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे चले, उसे अन्वय याने द्रव्य कहते है। जो अन्वयमें क्रमवर्ती रूपसे रहे उसे पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा अभी मनुष्यमें था, अब वही आत्मा देव हो गया, लेकिन आत्मा अविच्छिन्न रूपसे बनी रही। अतः आत्माकी सब पर्यायोंमें आत्मा अविच्छिन्न रूपसे बनी रहती है। द्रवति = गच्छति तान् तान् पर्यायान् इति द्रव्यन्। अर्थात् जो भिन्न-भिन्न पर्यायोंमें साथ जाये उसे द्रव्य कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ द्रव्य परिणामी है। ठण्डी वस्तुका निमित्त मिलनेसे पानी स्वयं ठण्डा हो जाता है। द्रव्यका स्वभाव ही स्वयं परिणमनका है। जैसे हम तुम लोगोंको समझा रहे हैं ऐसा किसीको दिखे। लेकिन तुम हमारे समझनेसे नहीं समझ रहे हो, अपितु तुम स्वयं समझ रहे हो। तुम्हारे समझानेमें हम निमित्त अवश्य हैं। इसे इस प्रकारसे कहें, हमें निमित्त पाकर तुम अपने आप समझ रहे हो। जैसे पानी गर्म हुआ, वह स्वयं गर्म हुआ। उसमें अग्निने कुछ नहीं किया। पानीके गर्म होनेमें अग्नि निमित्त मात्र है। इसे इस तरहसे कह सकते हैं, अग्निको निमित्त पाकर जल स्वयं उष्ण हो गया।

कई वस्तुएं ऐसी हैं कि निमित्तके हट जानेपर नैमित्तिक स्वयं हट जाता है, जैसे दर्पणमें आया हुआ प्रतिबिम्ब। दर्पणमें मोरका प्रतिबिम्ब पड़ा। इसमें मोर निमित्त है। मोरके अन्तर्हित होनेपर उसका नैमित्तिक (प्रतिबिम्ब) भी हट जायेगा। पानी गर्म हो रहा है। अग्नि पानी गर्म होनेमें निमित्त है। तो निमित्तके (अग्निसे) हटनेपर नैमित्तिक (जल का उष्णत्व) क्रम क्रमसे हटेगा। लेकिन निमित्तके अभाव होनेपर नैमित्तिकका अभाव हो जाता है।

**द्रव्यके पर्यायवाची शब्द**--(१) सत्ता माने है-पना, यह जो प्रत्यय है, बोधरूप है वही द्रव्य है। आत्मा द्रव्य है, वह समझी जा सकती है। आत्मा देखी नहीं जा सकती, आत्मा पकड़ी नहीं जा सकती है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये भी ज्ञानमें ही आते हैं, देखे नहीं जा सकते हैं। जो सत् है यह प्रत्यय है वही द्रव्य है। द्रव्यका विकास तो ज्ञातासे शुरू हुआ। (२) सत्त्वम्-सदिति प्रत्ययविषयत्वं सत्त्वम्। जो सत् इस प्रत्ययका विषय है वह सत्त्व है वह द्रव्य है। (३) सत्-जो अर्थक्रियाकारी हो वह सत् है, द्रव्य है। अर्थक्रिया उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तमें होती है। सो सत् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। (४) सामान्य माने विशेषोंमें जो रहे उसे सामान्य कहते हैं अथवा विशेषोंका जो आधार है उसे सामान्य कहते है। जैसे देव मनुष्य पर्यायमें आत्मा। बालक जवान बूढ़ेमें मनुष्यत्व देखते हैं लोकमें, यहां मनुष्य सामान्य

मान लिया। और बालक जवान बूढ़ा विशेष मान लिया। दृष्टान्तमें आत्मा सामान्य हैं, देव, मनुष्य, ये सब विशेष हैं। (५) द्रव्य जो पर्यायोंको ग्रहण करता है, या करेगा या की, उसे द्रव्य कहते हैं। जब द्रव्य है तो वह स्वयं अपना जिम्मेवार है। (६) अन्वय–जो अविच्छिन्न प्रवाह रूपसे पर्यायोंमें चले। (७) वस्तु जो अपने गुणोंको ग्रहण करे, परके गुणों को ग्रहण न करे, अपने चतुष्टयसे रहे, परके चतुष्टयसे न रहे उसे वस्तु कहते हैं। (८) अर्थ–जो निश्चय किया जाये उसे अर्थ कहते हैं। (९) विधि–जो अस्तित्वस्वरूप है; उसे विधि कहते हैं। अथवा जो विधाता है स्वयंकी परिणतियोंका, उसे विधि कहते हैं। ये सब द्रव्यके पर्यायवाची शब्द हैं। "है और परिणमा" इसीका नाम द्रव्य है। यदि निमित्त न हो तो स्वभावके अनुकूल परिणमन चलेगा। निमित्त हो तो विभावशक्ति वाले द्रव्योंमें विभाव-परिणमन चलेगा।

**स्थिरताके लिये उपयोग स्थिरतत्त्वका करो**—अन्वय माने द्रव्य और अन्वयी माने गुण। ये दोनों त्रैकालिक हैं। पर्यायें त्रैकालिक नहीं। पर्यायें एक समयकी होती हैं, दूसरे समयमें पर्याय नष्ट हो जाती हैं और नवीन होती हैं। गुणोंके समूहका नाम द्रव्य है। एक द्रव्यमें अनन्त गुण है। द्रव्य और गुणोंमें सापेक्षता है। पर्यायमें विपक्षता है। जब एक पर्याय रहती है, उसी समयमें दूसरी पर्याय नहीं रह सकती। एक पर्यायके बाद ही दूसरी पर्याय होगी। जो एक समयमें पर्याय है, वह दूसरे समयमें नहीं रहती। सपक्ष गुणोंके पिण्डका नाम द्रव्य है। भेद दृष्टि करनेसे द्रव्य अनन्त है। अभेददृष्टि करनेसे द्रव्य एक है। यथार्थज्ञान हो वहाँ सुख है। अज्ञानमें होने वाला सुख क्षणिक है। यों तो कुछ भी मान लो और मानकर धर्म कर लिया, ऐसे संतोषकी सास ले लो। कोई एक ही व्यापक चीज है। दिखाई देने वाली उनकी भिन्न-भिन्न तरंगे हैं। यह कल्पना ज्ञानके विरुद्ध है। इस प्रकारका ब्रह्मका ध्यान सदा बनाये भी नहीं बना रह सकता। आनन्द मानना तो किसी भी जगह बनाया जा सकता है। आनन्द तो नींदमें भी आता है। परन्तु इससे स्व-भावकी परख नहीं हो सकती। जितनी चीजें दिखाई देती हैं, वह सब माया (पर्याय) हैं। ज्ञानस्वरूप चैतन्यका ध्यान करना चाहिये। ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान करने से ज्ञाता ज्ञेय एक हो जाता है। अतः यह ध्यान सर्वोत्तम है। महासत्ताकी दृष्टिसे सारा जगत् एक सत् है, उसी को लोग ब्रह्म कहते हैं।

जैसे ५० गायोंका नाम गाय सामान्य रख देते हैं। परन्तु गाय सामान्यका दूध नहीं दुह सकते। दूध पीनेके लिये गाय विशेषका ही मिलेगा। माहसत्तासे काम नहीं बन सकता याने महासत्ताकी अर्थक्रिया नहीं होती। किसी चीज विशेषसे ही काम बनेगा। वस्तु तो जैसी है तैसी है। ५० गायोंके सामान्यमें हाथ पैर पूंछ आदि नहीं हैं। गाय विशेषके हाथ

पैर आदि होते हैं। अतः महासत्से कोई काम नहीं चलेगा।

**जो है वह सनातन व अविनाशी है**—जो है, वह किसी विशेष दिन पैदा हुआ हो, पहले नहीं था, ऐसा है। जो है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। मैं–आत्मा भी कभी पैदा नहीं होता, न कभी पैदा हुआ और न कभी पैदा होगा। इसी प्रकार आत्मा कभी नष्ट भी नहीं होता, कभी नष्ट भी नहीं हुआ और कभी नष्ट भी नहीं होगा। पर्याय नष्ट होनेके बाद दूसरी पर्याय उसी समय मिल जाती है। सत्को बताया नहीं जा सकता, वह अवक्तव्य है। वस्तुके स्वरूपको कोई कह नहीं सकता। अतः वस्तुको समझानेके लिये उसके टुकड़े कर करके बता दिये जाते हैं। वस्तुके विषयमें कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, क्योंकि वस्तुस्वरूप अवक्तव्य है।

वस्तुके स्वरूपको स्याद्वाद अच्छी तरहसे बता सकता है। स्याद्वाद कहता है कि जितनी चीज जिस अपेक्षासे हम बता रहे हैं उतनी सत्य है। जितनी वस्तुको जितने प्रकारसे बताया जा सके, उतने प्रकारसे बताना, यही स्याद्वादका सिद्धान्त है। सब प्रकारसे वस्तुओंका परिज्ञान करके प्रकार छोड़ दो, जैसी वस्तु समझमें आई, बस वही वस्तुस्वरूप है। वस्तुके स्वरूपको बतानेके लिये स्याद्वाद" समर्थ है। अभेददृष्टिसे आत्मामें एक स्वभाव है और भेददृष्टिसे अनन्तस्वभाव है। अभेददृष्टिसे आत्माका चैतन्य स्वभाव है। वास्तवमें आत्माका एक भी नाम नहीं है। जहाँ नाम ले दिया, वहां नानात्व आ गया। जो आत्माकी जानकारीसे परिचित है, उसे आत्माकी एक बात भी बताएँ, वह समग्र आत्मस्वरूपको समझ जाता है।

**हमारे जाननेमें द्रव्य ही नाना दृष्टियोंसे आता है**—हम कभी किसी वस्तुके स्वभावको या गुण या पर्यायको नहीं देख सकते, उनकी मुख्यतासे द्रव्यको जान सकते हैं। जैसे हमने घड़ी देखी तो हम घड़ीको रूपसे नहीं देख रहे हैं। घड़ीको देख रहे हैं, रूप तो देखा ही नहीं जा सकता है, सफेदके रूपसे घड़ी दिख रही है। घड़ी हमें सफेद दिखाई दे रही है। अच्छा, आप सफेद-सफेदको देखते रहिये, देखें; कैसे आपको सफेदी दिखाई देती है। क्यों भैया! देख ली, अच्छा अब सफेदी वहीं धरी रहने दो, घड़ी यहां ले आवो—ऐसा नहीं हो सकता ना। छूना, सूंघना, चखना, देखना, सुनना—हमने ये सब नाम रख लिये है, वैसे सभीका अर्थ 'जानना' होता है। जब हम रस द्वारा आमको जानते है, तो क्या हम अंशरूप आमको जान रहे हैं? नहीं, थोड़ा चखकर पूरे आमको जान रहे हैं। एक अंशके द्वारा पूरे पदार्थका परिचय हो जाता है। आत्माका जो ज्ञान रखता है, आत्माका एक गुण जाननेपर भी पूरे आत्माको जान लेता है। किसी गुणका मुख्यतासे कथन होता है, शेष गुणोंका गौण रूपसे कथन होता है। जैसे आत्मा ज्ञानमय है—यह कहनेसे आत्मामें जितने भी ज्ञान हैं,

सभीका बोध हो जाता है। एक गुणके कहनेसे अनन्त गुण समझमें आते हैं। अमूर्तत्त्व; सूक्ष्मत्व, अस्तित्वादि—ये आत्माके गुण कहे गये हैं। तो ज्ञानके कहनेसे सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, प्रमेयत्व, अस्तित्वादि सभीका ज्ञान अपने आप हो जाता है। गुणोंमें सपक्षता है। आत्मामें अनेक गुण एकमेक होकर रहते हैं। एक पर्यायका नाम लेनेसे समस्त पर्यायोंका बोध नहीं हो सकता है। क्योंकि हालतोंमें सपक्षता नहीं, विपक्षता है। अतः गुण सपक्ष और पर्यायें विपक्ष कहलाती हैं।

**पहिले ज्ञान लो फिर भूल जावो**—वस्तुको सब प्रकारसे जानकर सब प्रकारका जानना भूल जाओ, तभी वस्तुस्वरूप समझमें आयेगा। निर्विकल्पक अवस्था जैसा ही वस्तुस्वरूप है। अर्थात् वस्तुस्वरूपको समझानेके बाद उसमें कोई विकल्प नहीं उठता है। वस्तुका स्वरूप जब नाना प्रकारसे बता रहे हो तो उसको ग्रहण करनेके लिये नहीं बता रहे हैं, बल्कि नानात्वको छोड़नेके लिये वस्तुका स्वरूप नाना प्रकारसे बताया जाता है। उस वस्तुस्वरूप या अनात्मतत्त्वका परिज्ञान करनेके लिये प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक प्रकारका परिश्रम करता है। पर्याय क्रमवर्ती और गुण सहभावी होते हैं। सहभावियोमें (गुणोंमें) यह विशेषता है कि किसी एक गुणका नाम लो तो सभी गुणोंका परिज्ञान हो जाता है। परन्तु जिस गुणका नाम लिया जायेगा, उसका मुख्य रूपसे बोध होगा, शेषका गौण रूपसे ज्ञान होगा। पर्यायों में ऐसी सपक्षता नहीं। एक पर्याय कहनेसे एक पर्यायका ही ज्ञान होगा, अन्य पर्यायका नहीं। गुणका लक्षण यह है कि जिसमें अन्वय पाया जाये, वह गुण कहलाता है।

**समस्त पदार्थ परस्परमें भिन्न-भिन्न हैं**----हमारा आत्मा तुम्हारे आत्मासे भिन्न है, तुम्हारा आत्मा हमारे आत्मासे भिन्न है। शरीर आत्मासे भिन्न है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव ये चारों चीजें आत्मामें हैं। हम तुमसे जुदे हैं—इसका मतलब है कि हमारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तुम्हारे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जुदा है। एक परमाणुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे प्राणीके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जुदा है। पदार्थोमें परस्पर चारोंका व्यतिरेक है। द्रव्य व्यतिरेक एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे न्यारा है। दोनों मिलकर एक नहीं बन जाते है। क्षेत्र व्यतिरेक, एक द्रव्यका क्षेत्र दूसरे द्रव्यके क्षेत्रसे भिन्न है, दोनों द्रव्योंका क्षेत्र मिल एक नहीं बन जाता है। काल व्यतिरेक, एक द्रव्यका काल दूसरे द्रव्यके कालसे भिन्न है, दोनों द्रव्योंका काल मिलकर एकमेक नहीं हो जाता है। भाव व्यतिरेक, एक परमाणुका भाव दूसरे परमाणुके भावसे अलग है; दोनोंके भाव मिलकर एक नहीं बन जाते। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे अलग-अलग है। किसीका किसी अन्यपर शासन नहीं है। साधु संत महात्माओंमें आचार्य भी होते है वे ज्ञानी हैं, वे अन्यपर शासन नहीं चलाते। शासन चलता है। पहलेके साधु संघ बनाकर इसलिये साथ रह जाते

थे कि सभीको कल्याणकी अभिलाषा थी। वे सोचते थे कि हमें अपने कल्याणके लिए अपनी सद्वृत्ति बनानी है। किसीपर क्रोध नहीं करना, कषाय नहीं करनी, द्वेष नहीं करना। ये सब इन बातोंसे बहुत दूर रहनेका प्रयत्न करते थे। अतः सब साधु अपने कल्याण-पथमें लगे रहते थे। क्योंकि वे लोग सोचते थे कि आचार्यके तत्त्वाधानमें हमारा निःशल्य व्रत पालन होना है, अतः साधु विनयी बनकर स्वयं आचार्योंके पास रहते थे। यदि स्वयं कल्याणका भाव हो तो हजारों मुनियोंका संघ एक साथ चल सकता है। अपने कल्याणके स्वार्थसे वे लोग एक साथ रहते थे। बिना संक्लेशके सारा कार्य चलता था।

**द्रव्योंका स्वरूपचतुष्टय भी परस्पर भिन्न है**—एक द्रव्यका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे बिल्कुल भिन्न है। यदि ऐसा नहीं मानते हो तो सारा संसार एक द्रव्य रूप हो जायेगा। यदि सारा संसार एक द्रव्य रूप है, तो सारे विश्व की एकसी परिणति होनी चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है। आत्मा एक द्रव्य है, क्योंकि जो आत्मामें परिणमन होता है; वह पूरे आत्मामें उसी समय होता है। एक परिणमन जितनेमें होना ही पड़े उसे एक द्रव्य कहते हैं। यदि सारा संसार एक ब्रह्मरूप होता तो सारे विश्वकी एक ही पर्याय (परिणति) होनी चाहिये। मगर ऐसा नहीं होता है। जो लोग कहते हैं कि यह सारा संसार कल्पना मात्र है। यदि ऐसा है तो सारे संसारका एकसा परिणमन होना चाहिये, नाना परिणमन नहीं होना चाहिये। अतः सारा जगत् एक ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है। सबका आत्मा न्यारा-न्यारा है। यदि उस चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालें, तो सारा संसार नाना रूप दिखेगा, एक रूप दिख ही नहीं सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे सभी द्रव्य न्यारे हैं।

**अपनी आत्माको सभी जानते हैं**—चाहे मिथ्यादृष्टि हो चाहे सम्यग्दृष्टि, जानते सभी अपनेको हैं। मिथ्यादृष्टि तो—मैं सुखी, दुःखी, मैं रंक राव, मेरे गृह गोधन प्रभाव—इस प्रकार जानता है। सम्यग्दृष्टि अपने को इन सबसे अलग जानता है। जो व्यक्ति संस्कृत या धर्मशास्त्र नहीं पढ़े हैं, उन्हें भी घबड़ानेकी कोई बात नहीं है। आत्माका ज्ञान आत्माके आश्रयसे प्रकट होता है। अपनी समझ रखनी चाहिये कि मेरी आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है, किसीसे बंधी हुई नहीं है। अपनी आत्माको जाने कि मैं अबद्ध हूँ। यह तभी हो सकता है जब आत्मा जितना है, उतना ही देखे, उससे अलग पदार्थोंको नहीं देखे। यह आत्मा अकेला, जितना इसका स्वरूप है, उतना ही समझमें आए तो आत्मा अबद्ध दिखेगा ही। नहीं तो आत्मा बंधा है। केवल आत्मस्वरूपको ही देखा जाये तो आत्मस्वरूप देखा जा सकता है। जो आत्माको अबद्ध रूपसे देख लेवे, तो जिसको बड़े-बड़े विद्वान ग्रन्थोंका मन्थन करके देखेंगे, उतना वह केवल आत्मापर दृष्टि डालनेसे दिखाई दे जायेगा।

शरीरमें सम्बद्ध आत्मामें शरीरके कारण नाना विपत्तियां आ रही हैं, ऐसी आत्मा को भी केवल आत्मापर दृष्टि डालनेपर अबद्ध देखा जा सकता है। इस शरीरमें रहने वाले आत्मामें जब खालिसपना दिखाई दे जाता है, तो शरीरसे ममत्व नहीं रहता है। आत्माको खालिस देखनेपर बड़े-बड़े ग्रन्थोंका फल प्राप्त कर लेते हैं। जो आत्माको खालिस नहीं देख पावे, उसका बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ना व्यर्थ है। शरीर और आत्मामें संयोग नहीं है। संयोग कल्पना मात्र है। संयोग नामकी चीज न कोई द्रव्य है, न कोई गुण और न कोई पर्याय ही है। संयोग नामकी कोई चीज है ही नहीं, निमित्तनैमित्तिक भाव तो हैं। दूर रहने वाली चीजका भी निमित्तनैमित्तिक हो सकता है और एक क्षेत्रमें रहने वाली चीजका भी निमित्तनैमित्तिक हो सकता है। निमित्त परद्रव्य है और नैमित्तिक पर्याय है। संयोग किसीकी भी पर्याय नहीं है। अशुद्धता तो आत्माकी नैमित्तिक पर्याय है।

**दो चीजोंकी कभी एक चीज हो ही नहीं सकती है**—आत्माकी पर्याय आत्मा है और शरीरकी पर्याय शरीरमें ही है। आत्माके स्वरूपको देखो तो आत्मा अबद्ध मालूम पड़ता है। यदि आत्माको शरीरादिकोंके साथ देखो तो आत्मा बद्ध है, ये मालूम पड़ेगा। आत्माके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें शरीरका कुछ नहीं जाता। शरीरके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें आत्माका कुछ नहीं जाता। जो आत्माको अबद्ध और अस्पृष्ट देख लेता है, वह समझो जिनागमको समझ गया। आत्मा चाहे जितनी भी नई पर्याय ग्रहण कर लेवे, समस्त पर्यायोंमें आत्मा वहीका वही है। वही हम एक आत्मा हैं, उस आत्मासे परका सम्बन्ध नहीं होता है। ऐसा जाननेपर जितने दुनियासे भिन्न हों, उतने ही घर वालोंसे भी भिन्न जान पड़ोगे। जितना न्यारा यह आत्मा दूसरेके शरीरोंसे है, उतना ही अपनेसे शरीर भिन्न जान पड़ेगा। क्योंकि आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है, अनन्य है—यदि आत्मा ऐसा देखनेमें आता है तो उसका कल्याण निश्चित है। आत्माको भिन्न-भिन्न रूप गुण रूप भी नहीं देखना चाहिये। आत्मा एक सत् है, एक ही द्रव्य है, एक ही गुण है, एक पर्याय है- ये सभी अवक्तव्य हैं। इनको वक्तव्य बनानेके लिये इन सबके भेद करने पड़ेंगे। शब्दसे जैसा समझना है, उसे समझाने वाला कोई शब्द नहीं। मैं चैतन्य स्वरूपात्मा अबद्ध हूं, अनन्त हूं-ऐसा एक ही स्वरूपको देखनेपर सोचा जा सकता है। इस प्रकारसे आत्माको देखने पर निजका कल्याण होना स्वाभाविक है। धर्म होनेमें (श्रद्धामें) १० वर्ष नहीं लगते। धर्म तो अन्तर्मुहूर्तमें ही हो सकता है। धर्म तो सौदा तोलते समय दुकान पर बैठे हुए, चलते हुए, सफर करते हुए, रोटी पकाते समय बच्चेको खिलाते समय आदि किसी भी समय हो सकता है। जिस स्थानपर जिस समय आत्माको अबद्ध देख लिया, समझो वहीं

पर धर्म हो जाता है।

**भैया ! धर्मका सम्बन्ध ज्ञानसे है। ज्ञानके लिये यत्न करो**—इस नगरमें भी अनेक विद्वान हैं, उनसे अपना लाभ उठाओ। हमें वचन बोलनेकी शक्ति उपलब्ध हुई है अतः उसको उचित प्रकारसे उपयोगमें लाना चाहिये। तनिकसी देरके लिये अच्छी वाणी बोल दो, थोड़ी सी गुरुओंकी विनय कर दो तो पण्डित लोग व गुरुजन धर्म पढ़ानेके लिये तुम्हारे ही हो जायेंगे। इन वचनोंको थोड़ा सुधारना पड़ेगा। यदि अच्छी वाणी बोल दो तो इस संसारके समस्त महापुरुष तुम्हारे ही उद्धारमें लग जायेंगे। वचन अच्छे बोलनेमें तुम्हारा कुछ खर्च नहीं होता। तन मन धन वचन–ये चार चीजें उचित स्थानपर व्यय करनेके लिये हमको मिली हैं।

मन यदि तुम्हारा मायाचारीका है, तो वचन कभी अच्छे निकल ही नहीं सकते। क्योंकि 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्'। संसारसे छूटनेका यदि इलाज मिलेगा तो उसमें आपका कोई खर्च नहीं होना है। क्योंकि यह दुःख भी फ्री फण्डसे ही प्राप्त हुआ है। जिसे हम बुरा मानते हैं। किसी प्राणीसे तुम्हें दुःख नहीं होगा। उससे तनिक अच्छी तरह बोल दो वह तुम्हारा ही हो जायेगा। सदा दूसरेके हितका ध्यान रखकर बोलना चाहिये। दुनियामें कोई किसीका बैरी नहीं है। जरा मनसे किसीकी शुभ कामना कर दो तो तुम्हारा किसीसे बैर नहीं रहेगा। यह शरीर तुम्हें दूसरे दीन दुखियोंकी सेवा करनेके लिये मिला है। दुखियोंकी सेवा करना लोकमें सबसे बड़ा धर्म है। आत्माका पतन सुख और सम्पत्तिमें ही हो सकता है। असमर्थोंकी सेवासे आत्माका उत्थान होता है। अतः तन-मन धन और वचनका उचित स्थानपर उचित प्रयोग करो, जिससे आत्माकी भलाई हो। जो अपनी आत्माको दूसरेकी सेवामें लगाता है, वही उसका फल पायेगा।

जो जीव आत्माको अबद्ध और अस्पृष्ट देखता है, समझो उसका कल्याण हो गया है। ज्ञानकी अनुभूति आत्माकी अनुभूति है। जिसको छोड़ना है, उसको भी जानना है। जिसमें प्रवृत्ति करना है, उसे भी जानना है, यह निश्चयनयका विषय है, वही समझायेगा। जानना सब कुछ पड़ेगा व्यवहार और निश्चयनयका जितना विषय है, वह सब ज्ञेय है। निश्चयनय अधिक कार्यकारी है। अशुभोपयोगके बाद ही शुद्धोपयोग नहीं हो जाता है। शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग होता है, इस दृष्टिसे व्यवहार निश्चयका कारण है। आत्मासे अबुद्धिको छोड़कर, ज्ञान प्राप्त करना है। परवस्तु मेरी है, इस बुद्धिको छोड़ना ही पड़ेगा। यही आत्मा कर सकता है। जो अपनी आत्माको ज्ञानरूप देखे, वही जिनशासनका मर्मज्ञ है। यह मनुष्यभव यों ही गंवा देनेकी वस्तु नहीं है। इस मनुष्यभवको ज्ञानमें प्रवृत्त करना चाहिये। वस्तुको जाननेकी कला है। वस्तुको यदि सामान्यके ढंगसे जाना तो हम वस्तुकी

वास्तविकताको जान सकते हैं।

**प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है**––जैसे लौकिक बात लो–मनुष्य है, उसमें मनुष्यपना सामान्य है। बाल, युवा, वृद्ध ये अवस्थाएं विशेष हैं। ऐसा नहीं कि मनुष्य तो हो जाएं, अवस्थाएं न हों। सामान्यविशेषात्मक पदार्थको कभी सामान्यकी मुख्यतासे जाने, कभी विशेषकी मुख्यतासे जाने। इसी प्रकार आत्मा भी सामान्यविशेषात्मक है। कभी हम सामान्यकी मुख्यतासे जानें तो जान सकते हैं, कभी विशेषकी मुख्यतासे जाने तो भी जान सकते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकारसे जाननेमें कोई विघ्न नहीं है। मोही जीवको विशेषका अर्थात् पर्यायका ही परिचय है तथा कोई अनेकान्तकी ओरसे ऐसे भागे कि सामान्यको एकान्त कर दिया––ऐसा करना भी मिथ्यात्व है। प्रमाण तो है नहीं, किसी नयको ही पकड़कर रह गये तो पदार्थका यथार्थ ज्ञान होना कठिन है। सामान्य तो नित्य प्रकट है। विशेष नित्य प्रकट नहीं है। जिस समय वर्तमानमें है तो प्रकट है, जब वर्तमान गया तो अप्रकट हो जाता है। सामान्यकी मुख्यतासे जाने तो निश्चयनय है; विशेषकी अपेक्षा से जानना व्यवहारनयकी अपेक्षासे है।

जैसे यहाँ पर इतने मनुष्य बैठे हैं। यहाँ पर उनको सामान्यकी दृष्टिसे देखनेमें कोई आकुलता नहीं है। यदि विशेषकी दृष्टिसे देखें तो बड़ी परेशानी रहेगी। इसी प्रकार आत्मा है। यदि विशेषपर दृष्टि डालते हैं तो मोह पैदा होता है। सामान्यदृष्टिसे आत्माको परखने में आकुलता नहीं होती है तथा विशेष दृष्टिसे आत्माको देखें तो आकुलता पैदा होती है। मैं किसीका क्या कर सकता हूं? मैं केवल अपने चैतन्यका परिणमन ही तो कर सकता हूं। जब तक इस स्वभावका परिणमन न हो, तब तक जीवको मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। पहले अपने चैतन्य सामान्यको पहिचानो। विशेषके प्रादुर्भावमें सामान्यका तिरस्कार हो गया।

**यह जीव अन्यमें कुछ नहीं कर सकता है, केवल विचार या परिणाम ही कर सकता है**––अतः यह आत्मा कुछ करता नहीं है, केवल भाव बनाता है, अतः आत्माको चाहिये कि विशुद्ध भाव बनावे, तभी कल्याण-मार्ग सम्मुख है। वस्तुमें सामान्य नित्य रहता है, विशेष बदलता रहता है। आत्माको यदि सामान्यकी दृष्टिसे जाना जाये तो आत्मा अखण्ड, अबद्ध, अस्पृष्ट तथा नित्य दिखाई देता है। जो आत्माको इस रूप देख लेता है, वह सारे जैनशासनको जानता है। यदि किसी जीवने विना शास्त्रोंका अध्ययन किये आत्मस्वरूपको समझ लिया तो समझो, मानो उसने सारे शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया है याने अध्ययनका फल पा लिया। यद्यपि उसे विना अध्ययन किये कितनी ही कठिनाइयां उठानी पड़ेंगी, लेकिन आत्मज्ञान प्राप्त होते ही सारी कठिनाइयां नौ-दो-ग्यारह

हो जायेंगी। विद्या व्यवस्थित रूपसे अध्ययन करनेसे आती है। अपने समयको यों ही नहीं बिता देना चाहिये। वेकार वैठे रहनेसे कुभावोंमें बुद्धि चली जाती है। खाली वैठनेसे तो अच्छा दीनोंकी सेवा करना है। जब ज्ञान, ध्यान, तप, सामायिकादिमें मन नहीं लगता तो उस समयको दीन, दु:खी गरीबोंकी सेवामें लगाओ। ऐसा करनेसे आत्मिक शक्तिका विकास होता है।

द्रव्य व्यतिरेक; पर्याय व्यतिरेक, भाव व्यतिरेक एक दूसरे पदार्थोंमें रहता है। सबका द्रव्य, भाव, पर्याय अपनेमें ही बना रहता है, परमें जा ही नही सकता। यहाँ अनेकान्त दृष्टिसे यह समझ लेना कि जो द्रव्यका लक्षण किया है वह पर्याय व गुणका नहीं, जो पर्यायका लक्षण किया वह द्रव्य व गुणका नहीं, जो गुणका लक्षण किया वह द्रव्य व पर्यायका नहीं। इस दृष्टिसे तीनोंका व्यतिरेक एक पदार्थमें है। पर्यायका तो पर्यायमें भी व्यतिरेक है। पूर्व पर्यायका उत्तर पर्यायमें व्यतिरेक है। उत्तर पर्यायका पूर्व पर्यायमें व्यतिरेक है। एक गुणका भी लक्षण दूसरे गुणका नहीं सो गुण गुणमें भी व्यतिरेक है। समस्त व्यतिरेकोंकी दृष्टि गौण करके परमशुद्ध निश्चयनयसे आत्मपदार्थका दर्शन करके अनुभव करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि मैंने परकी परिणतिमें कुछ नही किया और न मैं परपरिणतिमें कुछ कर सकता हूँ, चाहे मेरे निमित्तसे उसमें परिणमन हो जाये। लेकिन मैं परमें कुछ नहीं कर सकता हूं—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सदा यही विचारता रहता है और सदा अपनेमें सचेत रहता है, अतः वह कृतकृत्य हो जाता है। जिसे कुछ करना न हो उसे कृतकृत्य कहते हैं। जो कृतकृत्य है जिसका विशेषपर अनुभव चला जाता है, उसकी सामान्यको जाननेकी गति रुक जाती है।

**कैसा भी कोई जाने उसीसे आत्माकी सिद्धि हो जाती है**—जैसे मैं आत्मा नहीं हूं, ऐसा जो तुम समझ रहे हो वही आत्मा है। आत्मा नहीं है, ऐसा माना ही नहीं जा सकता। सामान्यको मना करे, वही सामान्य है। विशेषको तो यह जीव मना ही नहीं करता है कि मै मनुष्य या पशु नहीं हूं। विशेषकी ओर बुद्धि लगानेसे पर्याय बुद्धि हो जाती है और उसी पर्याय रूप कार्य करता है। विशेषका परिचय होनेपर सामान्यका बोध करना चाहिये। निश्चय एकान्त भी बुरा है और व्यवहारका एकान्त भी बुरा है। एक बार यथार्थ परिचय प्राप्त कर लेनेपर तुम्हारी इच्छा हो सामान्यकी दृष्टिसे देखो, तुम्हारी इच्छा हो विशेषकी दृष्टिसे देखो—तब भी कोई नहीं है।

सामान्य और विशेषमें जीव अनुभव तो विशेषका ही करता है। लेकिन विशेष सामान्यके आश्रित ही तो चलता है। जिनकी पर्यायमें (विशेषमें) ही आसक्ति है। सामान्यको खो बैठते है। जीवोंको अनेक प्रकारका परिचय हो रहा है। विशेषसे तो जीवका परि-

चय है, सामान्यसे उसका किसी प्रकारका परिचय नहीं है। जो जैसी करतूत करता है, उसको वैसा ही फल भोगना पड़ता है। अन्यको उसका फल नहीं भोगना पड़ता है। अज्ञानी मोही जीव जो कि विशेषकी ओर दृष्टि लगाए हुए है, वह सामान्यको नहीं जानता है। परमात्मा दो प्रकारसे दृष्ट होता है:--१. कार्यपरमात्मा, २. कारणपरमात्मा। कारणपरमात्मा दो प्रकारका है:- सामान्य कारणपरमात्मा, विशेष कारणपरमात्मा। कार्यपरमात्मा है-अरहन्त, सिद्ध भगवान्। सामान्य कारणपरमात्मा वह है जो कि अनादिकालसे भव्य जीवमें भी है, अभव्य जीवमें भी है। जो सामान्य कारणपरमात्माको समझते हैं, उनके कार्यपरमात्माका गुण प्रकट होने लगता है और वह कारणपरमात्मा बन जाता है। कार्यपरमात्मा भी दो प्रकारका है:- १. जो परमात्मा हो गया है, २. जो परमात्मा होने जा रहा है।

**स्वभावके आश्रय करनेमें ही आत्माकी सिद्धि है**—विभावका आश्रय करनेसे संसार ही बढ़ता है। स्वभावकी परख सर्वोत्कृष्ट चीज है। इसी स्वभाव शक्तिके परिणमन ही आत्मा कर पाता है। भगवानका सुख अनन्त होता है। मोहियोंका दुःख अनन्त होता है। भगवान केवल अपना ही परिणमन कर सकते हैं। हम लोग भी अपना ही परिणमन कर सकते हैं, कुछ हो रहा स्वभावका परिणमन। पकवानमें सामान्यको नमकका दृष्टान्त घटित होता है और विशेषमें बेसनादिका दृष्टान्त घटित होता है। व्यञ्जनके स्वादके लोभके कारण नमककी ओर किसीकी दृष्टि नहीं जाती है, केवल लोग बेसनके स्वादकी ओर दृष्टि रखते हैं। आत्मा और शरीरका सम्बन्ध है। सबकी दृष्टि शरीरपर ही जती है, आत्माकी ओर किसीकी दृष्टि नहीं जाती है।

आजकल धर्मके ध्येयसे कुछ भी तन, मन या धन नहीं खर्च होता है। प्रायः जगत में सभी स्वार्थकी ओर झुके हुये हैं। स्वयं धर्म नहीं पढ़े तो कमसे कम अपने बच्चोंको तो धर्म पढ़ाओ और उनसे पूछो---भैया आज क्या पढ़ आये ? आजकलके बच्चे णमोकार मंत्र भी ठीकसे उच्चारण नहीं कर पाते हैं। पहलेकी अपेक्षा धार्मिक क्रियाओंके विषयमें भी समाजका पतन ही होता जा रहा है। आयु पूर्णताको आ रही है, फिर भी मनमें विचार नहीं आता कि अब तो घरसे विराम लेवें। अन्तमें मरते समय तो घर, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति सभीको छोड़कर जाना पड़ेगा। जबलपुरमें धर्म विद्या पढ़ानेके हेतु अब एक भी साधन नहीं है, जबलपुर ही क्या प्रायः सर्वत्र ऐसा हाल है। धर्म बिना आत्माकी जिन्दगी नहीं है। बस बच्चोंके बाह्य साधनोंपर शरीरकी स्वच्छतापर ही दृष्टि जाती है, धर्मकी ओर, आत्माके सुधारकी ओर किसीकी दृष्टि नहीं जाती है। भैया! 'ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारण'', अतः ज्ञानके साधनोंको अवश्य जुटाना चाहिये।

प्रकरण चल रहा है कि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य नित्य रहने वाला है। विशेष सदा नहीं रहता है। मनुष्य सदासे ज्ञेयका लोभी रहा, ज्ञानकी ओर अज्ञानताके

कारण उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकते हो। आत्माको जो अबद्ध देखता है वह आत्माके स्वरूपको पहिचान लेता है। और समझो उसीने जिनशासनका ज्ञान पाया है।

**आत्मा सामान्यविशेषात्मक है**—आत्मा वहीका वही सब पर्यायोंमें रहता है। जो सब पर्यायोंमें रहता है, वह सामान्य है। और जो बार-बार अवस्थाएं बदलती हैं, वे पर्याय हैं। विशेषके परिचय वालोंको ही समझाना है। पर्याय बुद्धि वालोंको भेद करके समझाते हैं। जिन जीवोंने विशेष चीजोंका मोहवासित अध्ययन न करके सामान्य आत्माका अध्ययन कर लिया, समझ लो, उसने समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया। सामान्य कोई चीज नहीं है, सामान्य जो है सो है। जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्त है, वह चाहे मिनिस्टर क्यों न हो, वह भी दुःखी है। विशेषपर दृष्टि रखनेसे व्याकुलता है तथा सामान्यपर दृष्टि रखनेसे निराकुल सुखकी प्राप्ति होती है। मनुष्य-समाजमें धनका आदर होता है। आत्मा और किसी तरहसे उठता है। मूढ़ लोककी दृष्टिमें मनुष्य ही धनसे उठा करता है, आत्मा नहीं। आत्मा तो रत्नत्रय साधनसे ही उत्थान करता है। विशेष दृष्टिसे ही ऐसा होता है। सामान्य दृष्टिसे देखो मैं आत्मा हूं, ज्ञाता द्रष्टा हूं, शरीरसे बिल्कुल भिन्न हूं। अतः विशेषके लोभियोंको अब पुरानी वासनाका हठ छोड़कर सामान्यपर दृष्टि डालनी चाहिये। जातियां सब विशेषके आश्रित हैं।

जो पदार्थ जीवके ज्ञानमें आया, जो अच्छा लगा, वह उसीका स्वाद है। जैसे पकवान खाते हुए नमकके भावके स्वादको भूल जाते हैं। यह जीव उसी प्रकार धन मकानमें आनन्द मानता है अपने ज्ञानको भूल जाता है। जो आत्माको असंयत, स्पृष्ट अनियत प्रतीत होता है वही आत्मा है; उनके अभिप्रायमें। यदि अभिन्नकारकताका तथ्य समझमें आ जावे तो परकी उपेक्षा हो ही जावेगी।

**पदार्थ निजस्वरूप जातिके अप्रतिकूल परिणमता रहता है**--द्रव्यमें परिणमन तो नया नया होता है, किन्तु उसमें जातिसे विपरीत परिणमन नहीं होगा। जैसे पुद्गलमें परिणति होती है, उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्शकी ही परिणति होती है। जैसे—जीवके लोकके बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं वे कदाचित् संकुचित विस्तृत होते हैं। द्रव्यके प्रदेशोंके संकोच विस्तारसे द्रव्यकी हानि नहीं होती। अर्थात् द्रव्यका स्वभाव नहीं बदल जाता। इसी प्रकार उसके परिणमन भी अनेक हैं तो भी उसके परिणमनमें हानि वृद्धि होती है। पर्यायमें अन्तर आ सकता है, किन्तु द्रव्यमें नहीं। जैसे दीपककी शिखा परिणमती हुई भी अपने परिणमनमें अवस्थित है। जैसे समुद्र अपनेमें उतना ही है। द्रव्य वहीका वही है। परन्तु उसमें एक लहर आ गई। वह लहर समुद्रके स्वभावको छोड़कर लहर नहीं बनी। आत्माके

परिणमन आत्माके स्वभावको छोड़कर परिणाम नहीं सकते। शरीरमें रहता हुआ भी आत्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रूप नहीं परिणाम जाता घटको जानने वाला ज्ञान घटाकार है। लेकिन वही ज्ञान जब लोकालोकको जानने लगेगा तो वही ज्ञान लोकालोकके आकाररूप परिणाम जायेगा। वह नया ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, उसी ज्ञानका विकास हो गया। असत्प्रादुर्भाव कभी नहीं हो सकता। अगुरुलघु नामके गुणके द्वारा द्रव्यकी पर्याय बदलती रहती है। पर्यायें ३ प्रकारसे बताई गई हैं—क्रमवर्ती व्यतिरेकी और उत्पादव्यय ध्रौव्य वाली। क्रमवर्ती उसे कहते हैं जो क्रम क्रमसे होती है—यह सूक्ष्म चीज हुई। व्यतिरेकी—यह है तो यह नहीं, यह है तो यह नहीं— इस प्रत्ययके विषयभूत पर्यायको कहते हैं। यह मालूम पड़ती है।

प्रति समयका परिणमन क्रमवर्ती पर्यायका विषय है। यह परिणमता हुआ मालूम नहीं पड़ता। जैसे किसी लड़केको १ वर्ष बाद देखा, वह कुछ बड़ा हो गया। परन्तु वह वर्षके अन्तिम दिन नहीं बढ़ गया, वह तो प्रति मिनट बढ़ा। लेकिन बढ़ता हुआ मालूम नहीं पड़ा। यह तो स्थूल और लौकिक बात है। प्रति समयका परिणमन क्रमवर्ती कहलाया। कोई भी एक सैकिण्ड तक क्रोध नहीं कर सकता। क्रोध करते हुए बीचमें घमंड वगैरह आ जाता है। कषाय प्रति समय बदलती रहती है। क्रमवर्ती पर्याय क्रम क्रमसे आती है। व्यतिरेकी पर्याय भिन्न समयमें आती है। पर्यायमें प्रति समय उत्पाद व्यय होते रहते हैं, उसे उत्पाद व्यय वाली पर्याय कहते हैं। उत्पाद व्यय होनेसे ध्रौव्यत्व भी पर्यायमें प्रति समय रहता है।

**स्याद्वादके बिना कोई कार्य नहीं चल सकता है**—पदार्थ कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य। स्याद्वाद कहता है कि पदार्थोंको दृष्टियोंसे समझो। जो सर्वथा नित्य है, उसमें अर्थ क्रिया व परिणमन नहीं होता है। जो सर्वथा अनित्य है उसमें भी अर्थक्रिया व परिणमन नहीं होता। स्याद्वाद सिद्धान्तको छोड़कर कोई भी वाद पूर्ण नहीं है। जैन सिद्धान्त अभी तक अपनेमें पूर्ण बना हुआ है। अन्य सब बाद आपसमें घुल-मिल जानेसे खिचड़ी बन गये। अन्य वादका कोई भी विद्वान अपने धर्मपर व्याख्यान देता हुआ किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर नहीं बोल सकता। थोड़ी-थोड़ी सामग्री समग्र दर्शनोंकी लेकर बोल सकेगा अथवा बोलना पड़ता है। वह अपने व्याख्यानको सब वादोंकी खिचड़ी कर देता है। स्याद्वाद स्वयं खिचड़ी नहीं है, लेकिन वह सदा ही खिचड़ी बनाये रहेगा। जो दर्शन दूधका दूध, पानीका पानी अलग कर देवे तो वह खिचड़ी दर्शन नहीं कहलाता। यही गुण स्याद्वादमें है। स्याद्वाद हंस के समान नीर क्षीर अलग-अलग कर देता है। वस्तुका ठीक ठीक निर्णय करने वाला स्याद्वाद ही है। वस्तुस्वरूपको समझने वाला ही स्याद्वादी कहलाता है। वस्तु कथंचित नित्य

है कथंचित् अनित्य है ।

कुछने ऐसा किया कि जिस महापुरुषका जिस समय जोर रहा, उसको उन्होंने अव-
तार मान लिया, जिससे हमारे धर्मकी सदा प्रतिष्ठा बनी रहे । ऋषभदेव भगवानसे भव
महावीर तक जैन सिद्धान्तमें कोई अन्तर नहीं पड़ा । हम इन तीर्थंकरोंको व्यक्ति विशेषके
कारण नहीं मानते, मानते हैं तो परमात्मपद सिद्धपदके कारण मानते हैं । आत्माके विकास
के कारण मानते हैं ।

**आत्माका विकास करनेके लिये आत्मस्वरूपको पहिचाननेकी आवश्यकता है:—**
अपने स्वभावपर दृष्टि डालो तो अपने आप ही आत्माका कल्याण हो जायेगा । स्याद्वाद
विकासका सिद्धान्त है । जैन सिद्धान्तमें अन्ध विश्वासको स्थान नहीं है । जिन चीजोंमें तर्क
वितर्क चलते हैं, जब वे बातें ठीक उतरीं तो जिन बातोंमें युक्ति ही नहीं उतरती, जैसे नरक,
स्वर्गमें, तो उनको भी सत्य मानना चाहिये । आचार्योंने स्वर्ग, नरकके बारेमें इतना सूक्ष्म
लिखा, फिर भी सब आचार्योंका ज्योंका त्यों वर्णन मिलता है । अतः युक्ति अगम्य बातोंपर
भी स्वयं विश्वास हो जाता है । लोग कहते है पृथ्वी शेषनागपर टिकी हुई है, उसका अर्थ
है कि शेष हवा (नाग) पर टिकी हुई है । नाग = हवा:—ग = तीव्र गति वाला, अ + ग = न
जाने वाला-स्थिर, न + अ + ग = नाग = विशेष तीव्र गतिसे जाने वाला, हवा । पृथ्वीमें
भी हवा भरी है । उससे जो बची वह शेष हवा (शेषनाग) कहलाया । उसी शेष हवापर
यह पृथ्वी टिकी हुई है । उसीको हम लोग तीन वलय कहते है । इन बातोंपर विश्वास
करना अन्धविश्वास नहीं है । इन्हें युक्तिकी प्रधानतासे मान लो या आज्ञाकी प्रधानतासे ।
पदार्थमें नित्यानित्यात्मकका सिद्धान्त व्यवहारमें भी चलता है । जैसे आटेकी रोटी
बनाई, आटा तो रोटीमें भी वही है अतः आटा नित्य कहलाया । रोटी बन गई । पर्याय
परिणमन हो गया अतः अनित्य कहलाया । यह सब स्याद्वादकी कृपा है । आत्माको नित्य
मानो तभी तो लेनदेनका व्यवहार चलता है । यदि आत्माको क्षणिक मानो तो जो आज
आत्मा था, वह कल नहीं रहेगा तो लेन-देनका व्यवहार कैसे चलेगा ? समग्र व्यवहार स्या
द्वादसे होते हैं, फिर भी स्याद्वादको मानो, न मानो, तुम्हारी मर्जी । ब्रह्मसूत्रमें जैनदर्शनका
खण्डन करनेके लिये एक सूत्र आया है:—'नैकस्मिन्नसंभवात्" । जैन दर्शनमें पदार्थको नित्य
अनित्य केवल व्यवहार कुशल लोगोंको समझानेके लिये कहा है पदार्थका तो वर्णन ही नहीं
किया जा सकता । वह तो है और न के बीचमें जो कुछ है सो है ।

**पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है:—**इसीको चाहे सत्त्व, रज, तम कह लो । चाहे
ब्रह्मा, विष्णु, महेश कह दो । कुछ लोगोंने हर्ष विषाद और शान्तिका नाम सत्त्व, रज, तम
कहा है । यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यको मूल बनाता है । पदार्थके नित्यानित्यात्मक माननेपर ही

कार्य कारण भाव बनता है। क्योंकि पूर्व पर्याय प्रकट होनेपर ही उत्तर पर्याय होती है। सामान्यविशेषात्मक आत्माको सामान्यविशेषात्मक देखनेसे आत्मा अबद्ध अस्पृष्ट व अविनश्वर मालूम पड़ेगा तो कल्याण होगा। जो विशेष (पर्याय) पर ही दृष्टि देगा तो संसार बढ़ेगा। प्रमादमें दर्शन, स्वाध्याय, ध्यान करना हो पड़ता है। अतः छठे गुणस्थानवर्ती मुनि तक यह संभव है। श्रावकों और गृहस्थोंके लिये यह (दर्शन, स्वाध्याय) करना अति आवश्यक है।

ज्ञान ही एक सहाय है। आत्माका उद्धारक आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान भी आत्मा ही है। आत्मा ज्ञानघन है। इसकी उपासनासे ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति बनती है। कल्याणार्थियोंको यह परमात्मा परमोपास्य है। जिनको इसकी प्राप्ति करना है, उपासना करना है, उन्हें इस ज्ञानघनकी नित्य द्वैत और अद्वैत उपायसे उपासना करना चाहिये। प्रथम द्वैत उपासना होती है, पश्चात् अद्वैत उपासना बनती है। यह विज्ञानघन आत्मा एक स्वरूप है। यह आज मलिन पर्यायसे गुजर रहा है यही इसकी असिद्धि है, इससे मुक्त होना यह तो साध्य है और उससे मुक्त होनेका यत्न करने वाला भी यही है, अतः यही साधक भी है। अब आगे श्रीमत्कुन्दकुन्द देव इसी सिद्धिके अर्थ मुमुक्षुवोंको शिक्षा देते हैं:—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधुओंको, आत्मतत्त्वके साधकोंको दर्शन ज्ञान चारित्रकी नित्य सेवा करना चाहिये। ये यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे ३ हैं तथापि इन तीनों निश्चयसे एक आत्मा ही समझो।

जिस भावसे यह आत्मा साधक बन जावे और यही साध्य हो जावे, उस भावसे निजतत्त्वकी उपासना करना ही चाहिये। वह उपाय केवल एक है—ज्ञानमय भावना। भैया! प्रथम तो साध्यसाधकका भेद विकल्प चलता है, पश्चात् यह भेदबुद्धि विलीन हो जाती है और मात्र ज्ञाता द्रष्टा रह जाता है। यही तो रत्नत्रयकी सिद्धि है।

**आत्मा ज्ञानमय है**। ज्ञानघनकी सिद्धिका उपाय ज्ञान ही है—ज्ञानके द्वारा ज्ञान का अनुभव करना चाहिये। ज्ञान साध्य साधन दोनों ही है। जो आत्माकी सिद्धि करना चाहता है, उसे ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। जिस समय स्वानुभव करना हो उस समय ज्ञानकी ओर दृष्टि दो। जीवका मुख्य लक्षण ही ज्ञान है। ज्ञान माने जानना है। ज्ञान माने प्रतिभास करना है। अपना भगवान है, आत्मा ज्ञानमय है, ऐसा भाव प्रतीतिपूर्वक विचारो तो आत्मा ज्ञानमय है। जो आत्माको शुद्ध देखना चाहता है, उसका ही तो आत्मा शुद्ध हो सकता है। ज्ञानी पुरुषके लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रकी नित्य उपासना करनी चाहिये। साधु पुरुषोंको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी नित्य

उपासना करनी चाहिये। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र ऐसे गुण हैं और इनके ऐसे कार्य हैं कि
इनके बिना कोई जीव है ही नहीं। जैसे दुकानदारोंको दुकान करनेके लिये दुकानके योग्य
श्रद्धा, ज्ञान चारित्र चाहिये, तभी तो दुकान चलेगी। इसी प्रकार आत्माको मोक्ष ले
जाने वालोंके लिये आत्माका विश्वास ज्ञान चारित्र होना आवश्यक है, इस उपाय बिना
मोक्ष नहीं होगा। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रोंसे ही प्रत्येक कार्यमें सफलता मिलती है। बिना
श्रद्धाके दवाई भी असर नहीं करती है, मानो तो देव नहीं तो पत्थर, अर्थात् विश्वाससे ही
फल मिलता है।

**जैसे किसीको अन्धकारमें सर्पने काट खाया,** यदि उसको यह विश्वास हो कि मुझे
चूहे ने काट खाया, तो हो सकता है कि हृदयपर असर न पड़नेके कारण विषका देरमें
असर हो या थोड़ा हो। कहनेका सार यही है कि समग्र कार्य श्रद्धा, ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न
होते हैं। थोड़ा दिल कमजोर होने से ही मनुष्यका (हार्ट फेल) हो जाता है। श्रद्धाका
बड़ा महात्म्य है। साधुओंको दर्शन ज्ञान चारित्रकी नित्य उपासना करनी चाहिए। जिस
पद्धतिसे यह आत्म साध्य हो और साधन बने वैसा जानकर करना चाहिये। श्रद्धा, ज्ञान,
चारित्र तीनों ही आत्माके परिणमन हैं। सत्य श्रद्धा सहित ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।
इसी कारण व्यवहारमें ज्ञान शब्दके कहते ही उसमें श्रद्धाका भाव आ जाता है। और लोक
में ज्ञान व चारित्रका भाषण होता है। इसी पर यह कहा जाता है कि—

**ज्ञान और चारित्र दोनों हों तो सिद्धि होती है:**—एक बार एक जंगलमें दो मनुष्य
अन्धा और लङ्गड़ा थे। उस जङ्गलमें अग्नि लग गई तो दोनोंने बचनेका उपाय सोचा।
निश्चय हुआ कि अन्धा लंगड़ेको पीठपर चढ़ा लेवे और लंगड़ा अन्धेको रास्ता बताता जाये।
ऐसा करनेसे दोनों उस अग्निसे बचकर निकल आये। यदि वे ऐसा न करते तो दोनों तड़प-
कर जलते हुए मर जाते। इसी प्रकार ज्ञान चारित्रमें देखो यदि ज्ञान नहीं है तो चारित्र
अंधा है और बिना चारित्रके ज्ञान लंगड़ेके समान है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र—ये तीनों हों तो
प्रत्येक कार्यमें सफलता मिलती है। जैसे देवदत्त है, इसमें देवदत्तका श्रद्धान देवदत्त है।
ज्ञान भी देवदत्त है और चारित्र भी देवदत्त ही है। तीनों चीजें आत्मा ही हैं। आत्माकी
तीनों (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) पर्याय हैं, देवदत्तसे श्रद्धादिक जुदे नहीं। इसी तरह ये तीनों
भी आत्मासे जुदे नहीं। यदि मोक्षकी प्राप्ति करनी है तो इन तीनोंको प्राप्त करो, इन तीनों
में आत्माको देखो। बिना आत्माके यथार्थ ज्ञानके कुछ भी नहीं होना है। और बिना स्या-
द्वादके यथार्थताका पता नहीं चल सकता। जैन ग्रन्थोंमें सीधी सादी सरल भाषामें वस्तुका
वास्तविक स्वरूप बताया गया है। यद्यपि इन ग्रन्थोंके प्रणेता आचार्योंमें शब्दाडम्बरकी कला
थी, लेकिन उसका उन्होंने उपयोग नहीं किया।

धनञ्जय कवि द्वारा प्रणीत "द्विसंधान महाकाव्य" शब्द वैचित्र्यकी दृष्टिसे दर्शनीय है और उसको पढ़कर बड़े बड़े विद्वानोंके दांतों तले अंगुली आ जाती है और उनके दांत खट्टे हो जाते हैं। शब्दाडम्बरसे पूर्ण ग्रन्थको साहित्य नहीं कहते। अपितु साहित्यः—हितेन सहितम् सहितम् सहितस्य भावः साहित्यम्। अर्थात् जिसमें हितकारी बातोंका वर्णन हो, उसे साहित्य कहते हैं। आचार्योंने इसी बातका ध्यान रखा कि उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थोंसे जीवोंका कल्याण होना चाहिए, और उन ग्रन्थोंको सर्व साधारण जन समझ सकें, श्रद्धान कर सकें और आचरण कर सकें। अतः आचार्योंने प्रत्येक ग्रन्थ सरल भाषामें ही बनाया है।

**रत्नत्रयकी उपासना करो यही आत्माकी उपासना है**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उपासना करो; माने आत्माकी उपासना करो। विद्यानन्दि स्वामी बड़े प्रकाण्ड विद्वान थे। वे राजगुरु कहलाते थे। जैनधर्मके बड़े द्वेषी थे। जब वे राज दरबार में आते थे, रास्तेमें भगवान पार्श्वनाथ् स्वामीका मन्दिर पड़ता था। वे उसकी तरफ भूलकर भी मुंह नहीं करते थे। एक दिन उन्होंने सोचा, जिससे मैं द्वेष करता हूं, देखना चाहिये कि उसमें है क्या चीज ? यह विचार कर वे मन्दिरके अन्दर गये। वहाँ एक मुनिराज बैठे हुए देवागम स्तोत्रका पाठ कर रहे थे। विद्यानन्दिने उसे ध्यानपूर्वक सुना। सुनकर वे मुनिराजसे बोले कि इस स्तोत्रका क्या अर्थ है ? मुनिराज बोले कि हमें इसका अर्थ नहीं आता है, केवल इसका पाठ कर लेता हूं। विद्यानन्दि पर उनकी सत्यताका काफी असर पड़ा। उन्होंने कहा कि भगवन्, आप इसको दुबारा पढ़िये। मुनिराजने उसे पुनः पढ़ा। विद्यानन्दि विद्वान तो थे ही, वे उसका पूर्णरूपेण अर्थ समझ गये। उनको स्याद्वादपर पूर्ण श्रद्धा हो गई। स्वामी विद्यानन्दिपर तो स्याद्वादका रंग चढ़ चुका था। केवल अनुमानका क्या लक्षण है ? विद्यानन्दिने एक बार सोते-सोते विचारा। स्वामिन्, जाकर देखना तुम्हें जैन मन्दिरमें पार्श्वनाथ भगवानकी फणावलीपर अनुमानका लक्षण लिखा मिलेगा। ऐसा विद्यानन्दिजीको स्वप्न हुआ। स्वामी मन्दिरमें गये तो देखा, सचमुच फणावलीपर दो श्लोक लिखे हुए थे। उनका भाव यह था:—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥

"साध्यके बिना साधन न हो ऐसा साधन यदि मिल जाये तो साध्य अवश्य सिद्ध हो जाता है। अनुमानके निर्णयके लिये अन्ययथानुपपन्नत्वं ही यथार्थ बात है। उनको भी जैन धर्मपर इन श्लोकोंको पढ़कर पूर्ण श्रद्धा हो गई।

दूसरे दिन स्वामी दरबारमें पहुंचे। भाषणमें उन्होंने कहा:--कल्याणका मार्ग वस्तु-स्वरूपका ज्ञान है। वस्तुस्वरूपको बताने वाला स्याद्वाद दर्शन है। राजसभा यह सुनकर आश्चर्यमें पड़ गई कि आज स्वामी जी को क्या हो गया है? वे क्या कह रहे हैं? श्रीमद्विद्यानन्द स्वामी निर्बाध गतिसे बोलते ही गये। उन्होंने कहा:--आप लोगोंको यदि कोई आशङ्का है तो कहियेगा। जब विद्यानन्दि स्वामी चैतन्यभक्तिसे अधिक भीने हो गये तब कहने लगे, राजन्. हमें आपके राजपुरोहितत्वसे कोई प्रयोजन नहीं है, हमें तो अपना कल्याण करना है। विद्यानन्दि स्वामीने दिगम्बर दीक्षा ली। पश्चात् अनेक न्याय-शास्त्रों की रचना की। आत्मतत्त्वका भी सयुक्तिक वर्णन किया। आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। भेददृष्टिसे प्रायोजनिक इसमें ३ गुण है— श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र। इन तीनोंका मिलन ही मोक्षका मार्ग है।

**आत्माका प्रधान गुण चैतन्य है**—आत्माका चैतन्य गुण परपदार्थोंसे बिल्कुल भिन्न है। आत्माका स्वभाव केवल ज्ञानकी दृष्टिसे परखा जाता है। आत्माके मुक्त होनेका उपाय सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्रकी प्राप्ति है। अतः नित्य इन तीनोंकी उपासना करना चाहिये। आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय है। आत्मा एकात्मक है, रत्नत्रयात्मक है।

शंका:--आत्मा त्रितयात्मक है या एकात्मक ?

समाधान:--आत्मा एक रूप भी है, नाना रूप भी है। ये तीनों गुण आत्मामें एक ही कालमें हैं, यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। एककी दृष्टिसे देखो तो आत्मा एक रूप है। भेद की दृष्टिसे आत्माको देखो तो नानारूप है। दृष्टिभेदसे सब खुलासा हो जाता है। आत्मा एक है, आत्माकी पर्यायें अनेक हैं, उनके स्रोतरूप गुण अनेक है। वस्तु स्वतःसिद्ध है और परिणामी भी है। सत् पूर्ण होता है। गुण और पर्यायके एक रूपमें सत् (द्रव्य) माना है। जैसे वृक्ष माने--शाखा, कोंपल, फल, फूल, पत्ते है। एक शब्दमें इन सबको 'वृक्ष' कह सकते हैं। पर्याय दृष्टिसे उसे शाखा, पत्ते, फूलादि रूप मान सकते हैं। स्वभाव और स्वभाव की हालतका नाम ही द्रव्य है। जिस चीजको जिस दृष्टिसे देखो, वह उसी दृष्टिसे उसी रूप दिखाई देती है। वस्तुको जिस रूपसे देखो, वस्तु उसी रूप प्रतीत हो जाती है। वस्तु अखण्ड सत् है। प्रत्येक चीज अपनी अखण्ड सत् है। ऐसे अखण्ड सत्को जातिकी अपेक्षासे नहीं देखा जा सकता है। अभेददृष्टिसे आत्मा एकात्मक है और भेददृष्टिसे आत्मा नाना रूप है। भेदाभेदके चक्करमें न पड़कर श्रद्धापूर्वक आत्माका कल्याण करो। यही मोक्षका मार्ग है और सातों तत्त्वोंमें भूतार्थदृष्टिसे श्रद्धा करो। यही तत्त्व मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। प्रत्येक प्राणीको अपने इस स्वभावका आश्रय कर परिणामोंको सुधारना चाहिये। आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। ऐसा माने बिना अर्थ क्रिया नहीं हो सकती।

**ज्ञानका अभ्युदय होते ही उसी क्षण अज्ञानका विनाश है:—** धर्म पर्यायका कारण अधर्मका नाश है। धर्म पर्यायमें पूर्व पर्याय व्ययरूपसे कारण है। यदि आत्माको सर्वथा नित्य माने तो पापी सदा पापी ही बना रहेगा। सदा पापी होनेसे उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जीवके तो अनादिसे अधर्म पर्याय है, यदि पदार्थको नित्य मान लें तो सदा ही अधर्म पर्याय बनी रहेगी। फिर धर्म पर्याय भी नहीं बन सकती है। आत्माका यदि निरन्वय नाश नहीं मानते हो तो कार्यकारण भाव नहीं बन सकता है। ऐसी कोई चीज नहीं, जिसमें परिणमन न होवे। इस प्रकार आत्मा नित्यानित्यात्मक है। तभी तो उसमें कार्यकारण भाव घटित हो सकता है। आगामी पर्यायका कारण पूर्व पर्याय है। जिस प्रकार अगले कदम उठनेका कारण पिछला कदम है, उसी प्रकार बादकी पर्यायका कारण पूर्व पर्याय है। द्रव्य अथवा गुण नित्यानित्यात्मक है। असत्का कभी उत्पाद नहीं हो सकता तथा सत्का कभी विनाश नहीं हो सकता। संसारमें जितनी भी वस्तुएं वर्तमान हैं, उनमें से एक भी घट-बढ़ नहीं सकती। क्या कभी कोई चीज गुम सकती है? नहीं। फिर लोग क्यों रोते हैं? 'मोहवश'। क्या कभी कोई चीज मिलती है? कभी नहीं। फिर लोग क्यों हंसते हैं अज्ञानवश। (सह व डायरी २०-२-५७

सत्का विनाश नहीं, और असत्का कभी उत्पाद नहीं होता। ज्ञान गुणमें फर्क नहीं होता। ज्ञानगुणमें हानिवृद्धि भी नहीं होती। गुणोंकी हानिवृद्धिका नाम ही गुणांश है।

**भगवानका ज्ञान पूर्णताको प्राप्त है—** हमारा ६ अस्थोंका ज्ञान अधूरा है। लेकिन भगवानका ज्ञान मोटा नहीं है। अपना ज्ञान पतला या दुबला भी नहीं है। गुणस्थान, दर्शनमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, जीवस्थान—ये सभी गुणांश हैं। सत्का निरन्वय नाश और असत्का उत्पाद होता ही नहीं। ज्ञानमें हानि वृद्धि भी नहीं होती है। आचार्य अब उत्पाद व्यय ध्रौव्यको समझाते हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायमें ही होते हैं। द्रव्यत्वमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य नहीं होते हैं। द्रव्य कूटस्थ ध्रुव नहीं है, क्योंकि ध्रुव माननेसे द्रव्यमें नित्यपना आ जायेगा। पर्यायोंका सतत होते रहने रूप भी ध्रौव्य द्रव्यका नहीं वह धर्म है। द्रव्य मोक्ष-मार्गी नहीं है, पर्याय मोक्षमार्गी है। आठों कर्मोंका नाश करनेपर द्रव्यका नाश नहीं होता है, समस्त कर्मोंका नाश हो जानेपर पर्यायका मोक्ष हो जाता है अर्थात् द्रव्य स्वभावके अनु-रूप शुद्ध हो जाता है। जीव स्वभाव तो न मुक्त है और न अमुक्त। जीव द्रव्य तो नित्य अनित्य भी नहीं है। नित्य अनित्य द्वारा उसका स्वरूप समझाया जाता है। द्रव्य समझमें तो आता है, लेकिन कहा नहीं जा सकता, अतः जीव द्रव्य अवक्तव्य है। यदि द्रव्यको कहना है तो स्याद्वाद रूप सिद्धान्तको हाथमें रखो और उसको दृष्टियोंसे कहो, अन्यथा उसमें मिथ्या-पन आ जायेगा।

जो चीज तुम ज्ञानपूर्वक अनुभव करते हो, उसके बतानेमें कमी अवश्य आ जाती है। सम्मानका स्वाद नहीं आता। बोलनेसे तो लौकिक स्वादमें भी कमी आ जाती है। वस्तुका स्वरूप तो कहा कैसे जावे ? वचनव्यवहार कुछ परखनेके लिये है। परखकर वचन व्यवहार बन्द कर मनन करो। विवेक रखते हुए मौनपूर्वक तो व्यवहार साधन भी आनन्द बढ़ाता है। पूजा मौनपूर्वक करनी चाहिये। भोजन भी मौनपूर्वक करना चाहिये। मौन-पूर्वक पूजा करनेमें बड़ा आनन्द आता है। देखने वालोंको भी उसमें आकर्षण प्रतीत होगा। बहुतसे काम तो ऐसे होते हैं कि खुदका चित्त गवाह देता है कि यह करना योग्य नहीं है, फिर भी उस कार्यको हम लोग कर डालते हैं। आत्मोत्थान चाहने वालोंकी आन और विनय---ये २ सदाचार होना ही चाहिये।

**आन जब तब रहती है तब तब सुधारकी पात्रता है**—एक सेठ था, उसका बड़ा लड़का वेश्याके यहां जाता था। सेठसे एक आदमीने जाकर कहा कि आपका बड़ा लड़का बिगड़ गया है, क्योंकि वह वेश्यागामी हो गया है। सेठने तभी उत्तर दिया, ऐसा हो ही नहीं सकता कि मेरा पुत्र वेश्यागामी हो जाये। सेठ वेश्याके यहां जब देखने गया तो लड़केने आंखोंके आगे हाथ लगा लिया। पिता घरपर आकर बोला कि मेरा लड़का अभी तक नहीं बिगड़ा। क्योंकि उसने हमारी आब तो रखी कि मेरे जाते ही उसने लज्जासे आंखोंके हाथ लगा लिया। पिताने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की कुलकी। फलतः लड़का सुधर गया और वह सही मार्गपर लग गया। मेरे सुधरनेकी जिम्मेदारी मुझपर है, दूसरेपर नहीं है। कोई किसीकी सहायता भी नहीं कर सकता है। आत्माका सहायक आत्माके निर्मल परि-णाम हैं। दुनियाकी निगाहमें यदि हम निर्मल हैं। लेकिन हम हैं पापिष्ठ तो दुनियाके निर्मल माननेसे हमारा कल्याण नहीं होगा। यदि हम निर्मल हैं और दुनियामें कोई कहीं कैसा ही अपवाद करे उससे आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं होता। यह पर्यायमोह इस प्रतीतिको नहीं लाने देता।

ज्ञानके बिना मोह दूर हो ही नहीं सकता। संसारमें ज्ञानके समान लाभदायक चीज, स्त्री, धन, वैभव, पुत्रादि नहीं हैं। अतः अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये बड़े उत्साह और उमंगसे ज्ञान-साधन करो। ज्ञानसे सदा सुखी बने रहोगे। ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन करना चाहिये। ज्ञानके अर्थ द्रव्य गुण पर्यायका यथार्थ विवेक करना होगा। द्रव्य निर्विकल्प है फिर भी तीर्थ प्रवृत्तिके अर्थ द्रव्यका लक्षण किया है 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' वस्तुतः भेदविवक्षासे उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं वे पर्यायमें ही होते हैं।

**पदार्थका बनना, बिगड़ना, बना रहना, तीनों एक एक साथ हैं**:—बनना, बिगड़ना और बने रहनेका मतलब ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। ये सभी बातें उत्पाद व्यय ध्रौव्य

पर्यायमें ही घटित होती है। लेकिन पर्याय द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न है। अतः द्रव्यमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य कह दिये जाते हैं। अब उत्पादका स्वरूप कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें दो विकल्प रहते हैं:—१. वही है, २. वह नहीं रहा। जैसे आत्माके सम्बन्धमें इस प्रकार विकल्प उठता है। जैसे मनुष्य मर करके पुनः मनुष्य हुआ; तो कहेंगे कि यह वही आत्मा है जो पहले मनुष्य शरीरमें था, यह ध्रौव्य कहलायेगा। और दूसरी पर्याय बदलना उत्पाद व्ययका सूचक है। तद्भाव द्रव्यार्थिकनयसे होता है। तद्भाव पर्यायार्थिकनयसे होता है। प्रति समय नई अवस्थाके होनेको उत्पाद कहते हैं। आत्मामें प्रति समय नया-नया परिणमन चलता रहता है। हालत दो प्रकारकी होती है। १. आकाररूप हालत, २. गुणकी हालत। जैसे बच्चा बड़ा होता है। जब बच्चा छोटा था, तब आत्मा छोटे आकारमें था। अब बच्चा बड़ा हो गया तो आत्मा भी बड़े आकारमें हो गया। यह आकारकी हालत है और उसके गुण प्रति समय परिणमते रहते है, यह गुणोंका परिणमन हुआ। ऐसा कुछ भी नहीं है जो हो और परिणमता न हो। संसारकी सभी चीजें परिणमनशील हैं।

असत्के उत्पादकी तरह सत्का व्यय नहीं होता है। सत्की अवस्थाका व्यय होता है। जैसे पर्यायका उत्पाद होता है, वैसे ही व्यय भी पर्यायका ही होता है। सत्का उत्पाद व्यय नहीं होता है। जैसे ज्ञान घटाकार रूप था, अब लोकाकार रूप हो गया। इसे इस प्रकार कहेंगे कि घटाकाररूप ज्ञान नष्ट हो गया और लोकाकाररूप ज्ञान उत्पन्न हो गया। उत्पाद व्ययकी तरहसे ध्रौव्य भी पर्यायार्थिकनयसे होता है। पर्याय माने अंश। द्रव्य माने अंशी। समस्त अंशोंका एक पुञ्ज अंशी द्रव्य कहलाता है। वस्तुमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है— यह एक दृष्टिसे देखा गया। पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

**अंश अंशीसे पृथक् नहीं है**—जो अंशकी बात बताये उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। वस्तु उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वस्तुको उत्पादकी दृष्टिसे देखो तो उत्पादात्मक है। व्यय की दृष्टिसे देखो तो व्ययात्मक है और ध्रौव्यकी दृष्टिसे देखो तो ध्रौव्यात्मक है। "तद्भावाव्ययं नित्यम्" अर्थात् पर्यायोंका नाश न होना ही ध्रौव्य कहलाता है। अर्थात् द्रव्यके परिणमनोंका कभी नाश नहीं होता। और द्रव्यके परिणमन हमेशा ही होते रहेंगे। पर्यायोंके बनते रहनेका नाम ही नित्य पर्याय है। वस्तुको यदि नित्य न मानो तो वस्तुमें अनित्यत्व भी नहीं बन सकता है। पर्याय न हो, द्रव्य हो, ऐसा हो ही नहीं सकता है। द्रव्य न हो, पर्याय हो, यह भी नहीं हो सकता है। अब ध्रौव्यको उदाहरणपूर्वक समझाते हैं:—

जैसे पुष्पका गन्ध परिणामन है और गन्ध ही पुष्पका गुण है। उसका गन्ध गुण परिणमन रहा है। जो परिणमन है वह गंध पर्याय है और जो परिणमता वह गुण है। जैसे आत्मामें पहले मतिज्ञान था, अब श्रुतज्ञान हो गया। अर्थात् आत्माका ज्ञानगुण पहले

मतिज्ञान रूप था, अब वही ज्ञानगुण श्रुतज्ञान रूप हो गया। ज्ञानगुण वही रहा। पदार्थों के नित्य होनेके कारण उत्पाद व्ययका कभी नाश नहीं होता। पदार्थोंके अनित्य होनेके कारण उसमें उत्पाद व्यय होते रहते हैं।

शंका:—चीज दो ही हैं:—द्रव्य और पर्याय। गुण नामकी कोई चीज है ही नहीं। द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य है। अतः वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक हो गई। पर्याय भिन्न है और द्रव्य भिन्न है, शंकाकार ऐसी शंका करता है।

समाधान:—द्रव्य और पर्याय अलग नहीं है। यदि पर्याय और द्रव्य अलग-अलग हैं तो उनको अलग करके तो दिखाओ। यदि द्रव्य पर्याय अलग-अलग हैं, तो उनके प्रदेश भी अलग-अलग होने चाहियें। प्रदेशोंके अलग होनेपर सत् न द्रव्यरूप ही रहा, न पर्याय या गुणरूप ही रहा। सत्का कोई स्वरूप ही नहीं रहेगा। सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य कोई चीज नहीं है। सर्वथा अनित्यका अर्थ यह है कि चीज हुई और नष्ट हो गई। लेकिन ऐसी कोई चीज नहीं है। पर्यायोंके नित्य माननेपर उनका आश्रय कुछ भी नहीं रहेगा। पर्यायोंमें परिणमन भी नहीं हो सकता है। यदि आत्मद्रव्य सर्वथा अनित्य हो गया तो आत्मा बिल्कुल ही नष्ट हो जायेगा। इस तरह यह अखण्ड आत्मा परमार्थतः अनिर्वचनीय होकर भी व्यवहारसे इसे अनन्त धर्मात्मक देखा गया है ताकि आत्माका परिचय हो। परिचयसे भेदविज्ञान हो। भेदविज्ञानसे शुद्धात्मरुचि हो। शुद्धात्मरुचिसे सम्यक्त्व हो और फिर शुद्धात्मतत्त्वमें विश्राम हो। मोक्षमार्ग भी एक परिणमन स्वरूप होनेपर भी व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रात्मक देखा गया है। साधु पुरुषोंको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको सेवना चाहिये। परमार्थसे यह सब आत्मा ही है सो आत्माकी सेवा करना चाहिये।

शंका:—शंकाकार कहता है कि आत्मद्रव्य अलग है और पर्याय अलग है। आत्मा नित्य है और पर्याय अनित्य है तभी तो पदार्थ नित्यानित्यात्मक बनता है।

समाधान:—द्रव्य और पर्यायको यदि सर्वथा भिन्न मानोगे तो यह पर्याय इस द्रव्य की है, ऐसा सम्बन्ध नहीं बन सकता। द्रव्य न्यारे न्यारे हैं, अतः उनका सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार द्रव्य और पर्यायको पृथक्-पृथक् माननेमें उनका सम्बन्ध नहीं बनेगा। ऐसा कहना चाहिये कि गुण और द्रव्य नित्यानित्यात्मक हैं।

शंका:—वस्तु नित्य है और गुण भी नित्य है, इसमें हमें कोई विवाद नहीं। लेकिन द्रव्यको अनित्य मत मानो। पर्याय उत्पाद व्यय वाली है, अतः पर्याय नित्य नहीं है। पर्याय अनित्य है। द्रव्यको कैसे अनित्यरूप भी कहते हो?

समाधान:—यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। पर्याय माने द्रव्य हालत। द्रव्यकी हालतके सिवाय द्रव्य है ही नहीं। प्रतिसमयकी हालतोंका नाम ही तो द्रव्य है। जैसे माला

में मोतियोंके समूहका नाम ही तो माला है। अतः बिना मोतियोंके माला नहीं बन सकती। अतएव बिना पर्यायके द्रव्य ही कैसे बनेगा ? जैसे समुद्रमें लहरें हैं तो वहाँ लहरोंका नाम ही तो समुद्र है। जो समुद्र है, वही लहरें हैं। जो तरंगों रूप है, वही समुद्र है। क्योंकि समुद्र ही तो लहरों रूप परिणाम रहा है। पर्यायों रूप द्रव्य ही परिणाम रहा, ऐसा समझना चाहिये। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। द्रव्य और पर्याय पृथक् पृथक् नहीं हैं।

**विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न आत्मधर्म जाननेपर आत्मा समझा जाता है**—आत्मा परिणमता रहता है, अतः अध्रुव कहलाया। स्वभाव दृष्टिसे आत्मा व सभी पदार्थ नित्य हैं। और परिणमनकी दृष्टिसे आत्मा व सभी चीजें अनित्य हैं। निश्चयनयसे सत् अखण्ड है, सत् के भेद नहीं हैं। निश्चयनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी नहीं है। व्यवहारनयसे ही सत् व्यय ध्रौव्यात्मक है। पर्याय दृष्टिसे सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। शुद्ध उत्पाद निश्चयनयकी अपेक्षासे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें से कोई भी नहीं है। भेददृष्टिसे सब भेद प्रकट हो जाते हैं। यदि अभेद दृष्टिसे देखो तो सब भेद समाप्त हो जाते हैं। यदि तुम्हें सतके भेद करने ही हैं तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य ही नजर आयेंगे। यदि भेद नहीं करना है तो इन तीनोंमें से कोई भी नहीं आयेगा और आयेगा पूर्ण वस्तु।

शंका:——द्रव्यके उत्पाद व्यय तो अंश है। लेकिन ध्रौव्य कैसे अंश हो सकता है ? क्योंकि ध्रौव्य त्रिकाल रहता है।

समाधान:—भैया ! पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। ये तीनों ही तो अंश हैं। ये तीनों मिलकर एक सत् कहलाता है। अकेला ध्रुव सत् नहीं कहला सकता। यदि ध्रुव को अर्थ अपरिणामी करते हो तो ऐसा तो कुछ है नहीं, नित्य परिणामी कहो तो पर्याय आ गई। दूसरी बात यह है कि पदार्थ केवल ध्रुव तो नहीं, सो जैसे उत्पाद, व्यय द्रव्यके अंश हैं वैसे ध्रौव्य भी। अंशका अपर नाम पर्याय भी है। अतः भैया ध्रौव्यको भी द्रव्यका अंश ही समझना। पर्याय दृष्टिसे जैसे उत्पाद, व्यय ज्ञात होते हैं वैसे ध्रौव्य भी पर्यायदृष्टिसे ज्ञात होता है। द्रव्य तो अखण्ड है। द्रव्यको स्वभावदृष्टिसे देखो तो ध्रुव नजर आता है और उसी द्रव्यको परिणमनकी दृष्टिसे देखो तो अध्रुव नजर आता है।

आत्मामें किसी पर्यायकी उत्पत्ति हुई, किसी पर्यायका व्यय हुआ और अन्वय ध्रौव्य रहा, वहां वस्तुको उत्पाद दृष्टिसे देखें तो वस्तु उत्पाद मात्र जान पड़ेगा। व्यय दृष्टिसे यदि वस्तुको देखते हैं तो वस्तु व्ययमात्र जान पड़ेगी और वस्तुको ध्रुवत्वकी दृष्टिसे देखें तो वस्तु ध्रौव्यमात्र प्रतीत होगी। अतः वस्तु त्रिलक्षणात्मक है। वस्तु अखण्ड सत् है, उसे समझानेके लिये अलग अलग तरीके हैं। जैसे घट है, उसे मिट्टीकी दृष्टिसे देखो तो मिट्टी

मालूम पड़ेगी और उसीको घड़ेकी दृष्टिसे देखो तो वह घटमात्र मालूम पड़ेगा । घड़ेको मिट्टी की दृष्टिसे देखो तो ध्रुव रूप है । लोंदेकी दृष्टिसे घड़ेको देखो तो घड़ा व्यय मात्र है और घड़ेको घड़ेकी दृष्टिसे देखो तो उत्पाद मात्र जान पड़ेगा । समग्र वस्तुएं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं ।

मिथ्यादर्शनका व्यय हुआ, सम्यग्दर्शनका उत्पाद हुआ आत्मा वही एक है जिसमें यह व्यय न उत्पाद हुआ । अज्ञान पर्यायका व्यय हुआ सम्यग्ज्ञान पर्यायका उत्पाद हुआ, आत्मा वही एक है । अविरत पर्यायका व्यय हुआ सम्यक्चारित्र पर्यायका उत्पाद हुआ, आत्मा वही एक है । इस तरह मोक्षमार्गमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकता है । मुमुक्षुको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी सेवा करना चाहिये । इस रत्नत्रयलब्धिके बिना साध्यकी सिद्धि नहीं है ।

शंका—यह कहा गया है कि पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । जब इन तीनों चीजोंका स्वरूप न्यारा न्यारा है तो तीनों चीजें एक साथ कैसे रह सकती हैं ?

समाधान—तुम्हारा कहना ठीक है । परन्तु उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य पदार्थमें तीनों एक समयमें रहते है । अतः उनका आपसमें विरोध नहीं है । जब दृष्टियां न्यारी न्यारी हैं तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्यमें एक साथ रह सकते हैं । उनके एक साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं है । क्रोध होनेपर शान्तिका व्यय और क्रोधका उत्पाद होता है । अतः उत्पाद व्ययके साथ रहनेमें कोई अड़चन नहीं है । सत्का उत्पाद और व्यय नहीं है । सत्की पर्यायका उत्पाद व्यय होता है ।

**पदार्थ स्वतः सिद्ध है और स्वतः परिणामी है**—पदार्थ है और परिणमता है, ये दोनों बातें एक साथ रहती हैं । अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों एक साथ रहते हैं । एकांशसे वस्तुको नहीं समझ सकते । केवल बना रहना या केवल उत्पन्न होना या केवल नष्ट होना कोई तत्त्व नहीं है । द्रव्यदृष्टिसे ध्रौव्य और पर्याय दृष्टिसे उत्पाद व्यय है । सत् अखण्ड है, लेकिन वह परिणमता रहता है । भगवान् सिद्धका केवलज्ञान भी परिणमता रहता है । चीज वही रहती है, लेकिन परिणमती रहती है । हम जिस समय चीजके परिणमनपर विचार नहीं करते हैं स्वभावदृष्टिसे उसे देखते हैं तो वह वस्तु हमारी दृष्टिमें शुद्ध कहलायेगी ।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र—यह रत्नत्रय आत्मस्वभावसे अन्य नहीं है । आत्मस्वभावका अतिक्रमण करके रत्नत्रयका लाभ ही नहीं है । अतः रत्नत्रय एक आत्मा ही है । सर्वभावों व परभावोंको अस्वजानकर उनमें उपेक्षा करके जो आत्मस्वभावमें उपयोग होता है, वही श्रेष्ठ आनन्द है ।

मोक्षमार्गमें यह आत्मा व्यवहारसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक देखा जाता है, किन्तु परमार्थसे स्वयंमें एकत्व होने से वह एक स्वरूप है। इस कारण व्यवहारदृष्टिसे आत्मा मेचक है, नाना रूप है और परमार्थ दृष्टिसे आत्मा अमेचक है, एक रूप है। प्रमाणसे दोनों बातें सिद्ध हैं।

आत्मामें जो वर्तमान पर्याय है, उसही समयमें उसका उत्पाद है और पूर्व पर्याय का व्यय भी है तथा आत्मा वहीका वही है, अतः आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है।

शंका:—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों अलग अलग समयमें ही होना चाहिये, क्योंकि तीनोंके लक्षण जुदे जुदे हैं। फिर तो वे एक साथ कैसे हो सकते हैं? जैसे वृक्षमें बीजके समयमें बीज अंकुरके समयमें अंकुर और वृक्षके समयमें वृक्ष मालूम पड़ता है।

उत्तर:—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके एक साथ होनेमें जरा भी फर्क नहीं है। तीनों एक ही समयमें होते हैं। मृत्पिण्डके व्ययका समय और घटके उत्पादका समय एक ही है। बीज, पत्ते, कोंपल, शाखा, फूल, फल आदिके समूहका नाम ही वृक्ष है सो वृक्ष सामान्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य घटावो। जैसे मतिज्ञानके बाद श्रुतज्ञान होता है तो मतिज्ञानका व्यय और श्रुतज्ञानका उत्पाद तथा ज्ञानकी ध्रुवता एक समयमें होती है। दृष्टान्तमें जो अंकुरके उत्पादका समय वही बीजके व्ययका समय है। इनके होनेमें थोड़ासा भी अन्तर नहीं आता तथा वही समय वृक्षका है। क्योंकि वृक्ष दोनों अवस्थाओंमें रहता है। एक ही पर्यायका उत्पाद व्यय ध्रौव्य यदि एक ही समयमें होता तो हमारा कहना गलत हो सकता था, लेकिन हम तो भिन्न भिन्न पर्यायोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समयमें कह रहे हैं। एक ही पर्याय का एक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य नहीं हो सकता है। वस्तु तो सदा वही बनी रहती है, किसी अपेक्षासे उसका व्यय और किसी अपेक्षासे उसका उत्पाद होता है तथा बनी रहनेके कारण वस्तु ध्रुव है। एक परिणाममें बीजसे ही उत्पाद, बीजसे ही व्यय और बीजका बीज बना रहे ऐसा नहीं समझना।

पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे द्रव्यमें तीनों बातें हैं। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु न ध्रुवरूप है, न व्यय रूप है और न उत्पाद रूप ही है। क्योंकि वस्तु अवक्तव्य है। उसको किसी नामसे या भेदसे या अवस्थासे नहीं पुकार सकते।

इस परमार्थसे मोक्षमार्ग प्रकट होता है। आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। उन सबका उत्पाद व्यय ध्रौव्य है, किन्तु पृथक् सत्तारूपसे नहीं। उनमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी प्रकरण में प्रधानता है। यह आत्मा परमार्थसे एक है, व्यवहारसे त्रिस्वभाव है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान व चारित्ररूपसे परिणमता हुआ यह आत्मा अवगत होता है।

**पदार्थ त्रितयात्मक है**—पदार्थ त्रितयात्मक है अर्थात् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय

है । यहाँ शंकाकार कहता है कि क्या इन तीनोंमें से किसी एकके कहनेसे ही काम चल जायेगा ? जैसे मिट्टीका घड़ा बना । मिट्टीके घडेका उत्पाद हो गया, अब ये घड़ा है इतना कहनेसे काम चल गया तो व्यय और ध्रौव्यके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार व्यय कहो या ध्रौव्य कहो, एकके कहनेसे जब काम चल जाता है, फिर तीनोंको एक साथ क्यों कहते हैं ?

समाधान——उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों अविनाभावी हैं । यदि उत्पाद नहीं मानोगे तो वस्तुमें व्यय भी नहीं रहेगा ? जब उत्पाद व्यय नहीं रहेंगे, फिर तो वस्तु टिक ही नहीं सकती, क्योंकि वस्तु नित्य परिणामी है । यदि इनमें से एकको भी न मानो तो वस्तु ही नहीं रहेगी । यदि किसी पदार्थमें परिणमन न हो तो वह पदार्थ ही नहीं रहेगा । सब पदार्थोंको सामान्य दृष्टिसे देखनेका नाम ध्रौव्य है । वस्तु स्वभावसे नित्य है और परिणमन से अनित्य है । पदार्थ केवल एक अंशरूप नहीं है । वस्तु तो स्वतःसिद्ध है, और परिणमनात्मक है । अतः स्वतः सिद्ध होने से नित्य और परिणमनशील होनेसे अनित्य है । या वस्तुको कहा ही नहीं, केवल वस्तुको जानकर अनुभव करलो कि वस्तु कैसी है, क्योंकि वस्तु अवक्तव्य है । उत्पादके बिना व्यय और ध्रुव नहीं बन सकते, व्ययके बिना उत्पाद और ध्रुव नहीं रह सकते और ध्रुवके बिना उत्पाद व्यय नहीं रह सकते । जैसे घड़ा भी रहे और खपरियाँ भी रहें, ऐसा हो ही नहीं सकता । घड़ेके फूटनेपर ही खपरियाँ बनेंगी । घड़ेके व्यय बिना खपरियोंका उत्पाद नहीं । तीनोंके तीनों एक दूसरेमें गुम्फित हैं । कोई अलगसे रह नहीं सकता । अतः पदार्थमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनोंके पाये जानेसे पदार्थ त्रितयात्मक मानना ही पड़ेगा । जो बात युक्ति और अनुभवमें भी उतरती है वह तो ठीक ही है । युक्तियुक्त बातको माननेमें हानि नहीं——

यदि वस्तु तुम्हारी युक्तिमें ठीक उतरती है तो उसको मानो, यदि युक्तिमें नहीं उतरती है तो मत मानो । इस तत्त्वको भगवान्ने ऐसा कहा है, अतः उसपर विश्वास कर लो, ऐसा नहीं । वस्तुका स्वरूप यथार्थ समझो, वस्तुके स्वरूपकी यथार्थ समझ, प्रतीति धर्म है ।

**केवल उत्पादके माननेमें दोष**——पहले कोई चीज नहीं थी, और उसका अब उत्पाद हो गया, ऐसा माननेसे असत्प्रादुर्भाव अर्थात् जो नहीं था, उसके होनेका दोष आजायेगा जो कि ठीक नहीं । क्योंकि असदुत्पत्ति हो ही नहीं सकती । यदि असत् की उत्पत्ति मानते तो वस्तुके उत्पादका कोई न कोई कारण मानना ही पड़ेगा ।

वह कारण क्या है ? यदि कहो कोई ईश्वर है तो वह उपादान कारण है तो यह नियम है कि "उपादानसदृशं कार्यं भवति" उपादानके सदृश कार्य होता है, सो ईश्वर चेतन

है अतः सर्व चेतन ही पदार्थ रहना चाहिये ये अचेतन कैसे हो गये ?

ईश्वरको इस सृष्टिके बनाने वाला मानते हो तो ईश्वर चेतन है तो सारी वस्तुओं में चेतनता पाई जानी चाहिये। ईश्वर ज्ञानमय है, अतः उसके द्वारा बनाई हुई सारी वस्तुएं ज्ञानमय होनी चाहियें—लेकिन संसारके समग्र पदार्थ चेतनमय या ज्ञानमय नहीं हैं। अतः वस्तु ईश्वरकृत भी नहीं है। क्योंकि "उपादानसदृशं कार्यं भवति" अर्थात् उपादानके सदृश कार्य होता है। यदि कहो ईश्वर निमित्त कारण है तो जिस उपादानमें ईश्वरने सृष्टि की वह उपादान क्या है ? जो भी है वही तो द्रव्य है, फिर असदुत्पत्ति कैसे हुई ? यह सब कार्य परस्पर एक दूसरेके निमित्तसे होते रहते हैं। इनमें ईश्वर निमित्त भी नहीं है। ईश्वर तो सर्व ज्ञाता सर्वदर्शी अनंतानन्दमय है। यह विषय एक पृथक् है। इसके वर्णनका अभी प्रकरण नहीं है। संसारकी समस्त वस्तुएं अनादि हैं। संसार और मोक्ष भी अनादि है अर्थात् इनका कोई भी बनाने वाला नहीं है। जब संसार अनादि है तो मोक्ष भी अनादि है ही, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। जबसे संसारका प्रारम्भ होता है, उसके आठ वर्ष पश्चात् मोक्षका भी प्रारम्भ हुआ। लेकिन संसार अनादि है, अतः मोक्ष भी अनादि आठ वर्ष = अनादि ही है। जिसमें ८ वर्ष कम होना है जब उसकी आदि नहीं तो इस मोक्ष की भी नहीं है। केवल यदि उत्पाद ही उत्पाद मानो तो शेष दो—व्यय और ध्रौव्य भी नहीं रहेंगे। जो चीज पहले कभी थी ही नहीं, ऐसी असत् चीज कैसे उत्पन्न हो सकती है ? असत् का उत्पाद न होनेके कारण व्यय और ध्रौव्य न माननेसे उत्पादका भी अभाव हो जायेगा।

**केवल व्यय मानमें दोषः**—उत्पाद और ध्रुवके बिना केवल व्यय ही मानो तो आगे कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसी संसारमें कोई चीज नहीं है जो नष्ट होकर उत्पन्न न हुई हो। नष्ट हो जाये और आगे न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। सत् पदार्थका सर्वथा नाश ही हो नहीं सकता।

**केवल ध्रुव माननेमें हानिः**—केवल ध्रुव माननेका मतलब हुआ कि वस्तुमें कोई परिणमन ही नही हुआ। यदि परिणमन नहीं है तो वह चीज ही नहीं रहेगी। केवल ध्रुव मान लेनेसे वस्तु ही असत् हो जायेगी। द्रव्य परिणामी है, यदि उसमें परिणमन ही नहीं हुआ तो वस्तु ही नहीं रहेगी।

शंका:—केवल उत्पाद व्यय मानो तो ?

समाधान:—ध्रुव न माननेसे सब कुछ क्षणिक हो जायेगा। सब कुछ क्षणिक होने पर उत्पाद व्यय किसका होगा ? सब पर्यायोंमें कोई एक चीज सामान्य अवश्य है। सामान्य न माननेसे सब क्षणिक हो जायेगा। जैन न्यायमें ही सब मतोंका समावेश है। जैन न्यायके पढ़नेके पश्चात् सर्व मतोंका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। जैन न्यायके प्रणेता आचार्योंने पर-

पक्षकी बात भी बड़ी युक्तियोंसे रखी है। अन्य कोई होता तो वह तो इतने तक भी प्रस्तु न कर सकता।

ध्रुव (सत्) न होने पर उत्पाद व्यय किसका होगा ? यदि तुम आस्तिक बनन चाहते हो अर्थात् वस्तुकी सत्ताको मानने वाले हो तो पदार्थ त्रितयात्मक मानना ही पड़ेगा। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्म पदार्थ न मानो तो 'नास्तिक' (वस्तुकी सत्ता न मानने वाले) कहलाओगे। त्रितयात्मक पदार्थ है, ऐसा मानना ही आस्तिक्यकी जड़ है। आस्तिक रहना चाहने वालोंको पदार्थ त्रितयात्मक मानना ही पड़ेगा।

जो द्रव्य गुण पर्याय वाला है वही उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, ऐसा कहने पर वस्तुको अनेकान्तकी दृष्टिसे कहते है—वस्तु कथंचित् है, वस्तु कथंचित् नहीं है। वस्तु कथंचित् नित्य है, वस्तु कथंचित् अनित्य है। वस्तु कथंचित् एक है, वस्तु कथंचित् अनेक है। वस्तु तत् भी है, अतत् भी है। वस्तु स्वचतुष्टयसे है, परके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नहीं है। वस्तु स्वभावकी दृष्टिसे नित्य है, वस्तु पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है। वस्तुको द्रव्य की दृष्टिसे देखो तो एक है, वस्तुको पर्यायकी दृष्टिसे देखो तो अनेक है। वस्तु द्रव्य दृष्टिसे तत् है, वस्तु पर्याय दृष्टिसे अतत् है। इस प्रकार वस्तुका चार युगलों द्वारा वर्णन किया जाता है। इन सब प्रकारोंसे निज आत्मतत्त्वका परिज्ञान कर लेना चाहिये। परिज्ञान करके उसकी श्रद्धा, उसका उपयोग और उसमें ही रमण करना चाहिये। आत्माका साध्य शुद्ध आत्मा होना है। उस साध्यकी सिद्धि इस रत्नत्रय उपायसे ही है।

**वस्तु चार युगलोंसे गुम्फित है**— १—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। २—स्यान्नित्य; स्याद-नित्य। ३—स्यादेक, स्यादनेक। ४—और स्यात्तत्, स्यादतत्। इन चार युगलोंसे वस्तु गुम्फित है।

आत्मा अपनी सत्तासे है, परकी सत्तासे नहीं है या पुद्गल अचेतन पदार्थोंकी सत्तासे नहीं है। आत्मा एक दृष्टिसे (द्रव्यदृष्टिसे) नित्य ही है, किसी (पर्याय) दृष्टिसे आत्मा अनित्य ही है। सामान्य कथनमें "भी" लगकर स्याद्वाद होता है और विशेष दृष्टिकी अपेक्षासे कथनमें "ही" लगकर भी स्याद्वाद होता है। आत्मा द्रव्यदृष्टिमें एक ही है, आत्मा पर्यायदृष्टिसे अनेक ही है। आत्मा एक भी है, अनेक भी है।

दर्शनकी बात किसीकी गलत नहीं है, लेकिन उनमें दृष्टिभेद है। कोई दर्शन किसी अपेक्षासे वस्तुको बताता है, कोई किसी दृष्टिसे। लेकिन साथ ही यह भी समझना चाहिये कि वस्तु इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी है। जैसे जब जीवके चैतन्यस्वभावको देखो तो तिर्यक् सामान्यदृष्टिसे है। समस्त जीवोंके आत्मा न्यारे-न्यारे हैं। विशेष दृष्टिसे आत्माको देखो, यहाँ किसी अन्यकी अपेक्षासे कोई अन्य नहीं है। यह अनेक द्रव्योंमें अस्ति नास्ति

घटाया गया है। अनेकान्त तो यह करता है कि एक वस्तुमें ही विरुद्ध बातें अविरोधरूपसे रह सकती है। अतः अनेक द्रव्यमें अस्ति नास्ति अनेकान्तका विषय नहीं है। एक पदार्थ की दृष्टिसे आत्माको देखो तो यही आत्मा है, ऐसी प्रतीति होगी। यदि पर्यायपर दृष्टि डालो तो यह वह नहीं है, जो पहले थी। प्रत्येक वस्तु इन चार युगलोंसे गुम्फित है। सब दर्शनोंके आधार ये ही चार युगल हैं। उनमें से अस्ति नास्तिको चार प्रकारसे घटाते हैं—

जो द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे है, वह परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। यह भी अनेक द्रव्योंमें अस्ति नास्ति हुआ। अब एक अर्थकी दृष्टिसे अस्ति नास्तिको घटाते है। सत्ता दो प्रकारकी है:—१. सामान्य सत्ता, २. विशेष सत्ता। आत्मामें सत् उत्पाद, सत् व्यय, सत् ध्रुव, सत् गुण, सत् पर्याय, सत् द्रव्य, सत् ज्ञान, सद्दर्शन सब कुछ है। गुण, पर्याय, शक्तिका आधार आत्मा है। भेददृष्टिसे ये सत् गुण पर्याय अनेक समझमें आते है—इसे भेद रूप सत्ता कहते हैं। अभेददृष्टिसे देखे गये आत्माको अखण्ड सत् कहते हैं। जिस समय वस्तु अभेददृष्टिसे अभेद रूपसे निश्चित की जाती हैं, उस समय वस्तु अवान्तर सत्ता रूपसे असत् है। भेददृष्टि रूपसे देखते समय आत्मा भेद रूपसे है, अभेद रूप से नहीं है। इस प्रकार वस्तुमें अस्ति नास्ति समझना। इसी आत्माको जब भिन्न-भिन्न गुणोंकी दृष्टिसे देखें तो गुण सत् है। अभेददृष्टिसे आत्माको देखनेपर अभेदरूप अनुभूत होगा। जैसे कपड़ा है, अभेदरूपसे यह सब तन्तुओंका अभेद रूप कपड़ा है। इसके एक एक तन्तु और गुणपर दृष्टि डालो तो कपड़ा भेदरूप जान पड़ेगा। भेददृष्टिसे देखते समय दृष्ट कपड़ा अभेदरूप पर नहीं है। अभेददृष्टिसे देखते समय दृष्टपर भेदरूपपर नहीं होता है।

वैसे यह आत्मा अभेदरूपसे दृष्ट अभेदरूप है और भेदरूपसे दृष्ट आत्मा द्रव्य, गुण, पर्याय नाना रूप है। नाना रूपताकी दृष्टि गौण करके अभेदरूपसे निज चैतन्यस्वभावको ग्रहण करो। यह आत्मा पर्याय रूपमें आत्मसर्वस्वकी मान्यता करके पर्यायसे परिचित है। सो हे जिज्ञासु जनो! पर्यायका ही यथार्थ परिज्ञान कर लो। यह परिज्ञान गुणस्वरूपका यथार्थ ज्ञान बिना नहीं होगा। गुणका परिज्ञान द्रव्य स्वरूपके यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, सो द्रव्य, गुण, पर्यायका निर्णय करके पर्यायको गुणमें व गुणको द्रव्यमें लीन करके एक निर्विकल्प आत्मपदार्थका अनुभव करो।

**आत्मा निश्चयसे अभेदरूप है, व्यवहारसे भेद रूप है:**—आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र आदि शक्ति रूप है या एक भेद रूप है—इसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। तुम्हारा काम तो भेद रत्नत्रयसे अभेद रत्नत्रयमें पहुंचना है। आत्माका स्वभाव एक है, परन्तु उसकी पर्याय अनेक है। द्रव्यकी पर्यायको जब कहना होता है तो उसके भेद कर दिये जाते है। जब

पर्यायका कालकी अपेक्षा भेद देखा तो कालकी अपेक्षा भेद रूप है। दूसरे ऊर्ध्वक्रमकी अपेक्षा से जो एकपना है, वह नित्य अनित्यसे सम्बन्ध रखता है।

प्रश्न:—वस्तु नित्य है या अनित्य ?

उत्तर:—वस्तु नित्यानित्यात्मक है, न सर्वथा नित्य है, न सर्वथा अनित्य अथवा न नित्य है, अनित्य है—क्या वस्तुका कुछ हिस्सा नित्य और कुछ हिस्सा अनित्य है ? क्या वस्तु सर्वथा नित्य है अथवा वस्तु सर्वथा अनित्य है ?

उत्तर:—जब हम अपनी दृष्टिमें द्रव्यको देखते हैं तो वस्तु नित्य रूप है और जब पर्यायकी दृष्टिमें उसी वस्तुको देखते है, वह अनित्य रूप मालूम पड़ती है। पूरी वस्तु वही एक दृष्टिसे नित्य है तो दूसरी दृष्टिसे अनित्य है।

प्रश्न:—क्या पदार्थ क्रमसे नित्य और अनित्य है ?

उत्तर:—हां, दृष्टिकी अपेक्षा क्रमसे है, धर्मकी अपेक्षा एक साथ है। जब किसी विशेष पदार्थकी ओर दृष्टि रहेगी तो वस्तु अनित्य जान पड़ेगी। सामान्यकी ओर दृष्टि रहेगी तो नित्य जान पड़ेगी।

प्रश्न—क्या पदार्थ एक ही साथ नित्य-अनित्य है ?

उत्तर—हां, पदार्थ एक ही साथ नित्यानित्यात्मक है। जैसे एक मनुष्यका आत्मा उसी पर्यायमें एक साथ नित्य भी है और अनित्य भी है। जिस समय केवल वस्तु ही दृष्टिगत हो उस समय वह वस्तु नित्य है और जब पर्यायपर दृष्टि है तो यही वस्तु अनित्य जान पड़ती है। जैसे एक कमरेमें तिजौड़ी रखी है। तिजौड़ीमें डिब्बोंके अन्दर एक डिब्बेमें एक 'हीरा' रखा है। तो हमें उसे जानने में देर नहीं लगेगी। ज्ञान किसीसे अटका नहीं करता। हाँ, ज्ञान ही उसका न हो तो वह और बात है।

**वस्तु नित्यानित्यात्मक है**—जिस समय हमारी दृष्टि स्वभावपर है, स्वभाव तो अव्यय है। इस दृष्टिसे वस्तु नित्य ही है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तुमें द्रव्यत्वकी सत्ता रहनेसे सभी वस्तु नित्य है। जैसे कि हमने इस समय पुस्तकका ज्ञान किया, थोड़ी देर बाद हमने घड़ी जानी तो ज्ञान सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञान दोनोंमें विद्यमान है। जैसे टेढ़ी उंगली होने पर भी और अंगुलीके सीधी रहने पर भी अंगुली सामान्य दोनों अवस्थामें वर्तमान है। इसी प्रकार सामान्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है।

**क्या वस्तु अनित्य है**—हां, जिस समय पर्याय ही दृष्टिगत होती है, वस्तु उस समय अनित्य है। जिस समय द्रव्य दृष्टिगत नहीं होता है, उस समय पूर्व पूर्व पर्यायके नाश होनेसे, उत्तर पर्यायके आनेसे वस्तु अनित्य है। मनुष्योंकी दृष्टि प्रायः सदा विशेषपर रहती है। जब पर्याय ही दृष्टिगत होती है तब पूर्व-पूर्व पर्यायके नाश होनेसे वस्तु अनित्य है।

शंका—शंकाकारका कहना है कि वस्तुको नित्य कहो या अनित्य नित्य, नित्य और अनित्य दोनों एक समयमें कैसे हो सकते हैं? तुमने जो यह कहा कि तुम जिस समय स्वभावपर दृष्टि डाल रहे हो, तो वस्तु नित्य है। तो क्या 'क–ख' आदि वर्ण ये सब 'क–ख' उच्चारित होते है तो क्या वे इन वर्णोंकी तरहसे अलग हैं क्या?

समाधान—स्वभाव देखा तो वस्तु नित्य है। और उसी वस्तुको पर्याय दृष्टिसे देखा तो अनित्य है। इस क्रमसे देखनेसे उनमें नित्य और अनित्यपना है।

शंका:—तो क्या वे विंध्याचल और हिमालयकी तरहसे दो नाम वाले हैं?

समाधान:—नहीं, विन्ध्य और हिमालय दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। क्योंकि जब हम हिमालयपर दृष्टि डालते हैं तो विन्ध्याचल बिल्कुल ही गौण कहलायेगा अर्थात् हिमालय कहनेसे कोई विन्ध्यका ज्ञान नहीं कर सकता है। विन्ध्यपर दृष्टि डालते हैं तो हिमालय गौण हो जाता है। हिमाचल और विन्ध्य बिल्कुल भिन्न हैं। परन्तु पर्याय और गुण बिल्कुल भिन्न नहीं हैं।

शंका:—तो क्या गुण और पर्याय इस तरहसे भिन्न हैं, जैसे साधु तथा सिंह? अर्थात् गुण विशेषण हो और पर्याय विशेष्य हो तो क्या ऐसा है?

**सत् और पर्याय अथवा द्रव्य और क्रियामें प्रदेश भेद नहीं है:**—शंका:—सत् और पर्यायमें तो हमें द्वैत मालूम होता है कि सत् अलग एक चीज है और पर्याय एक अलग चीज है। इसका उत्तर:—सत् और पर्यायमें भेद माननेसे प्रमाणका अभाव हो जायेगा। तुम्हारा तो कहनेका मतलब है कि सत् और पर्याय दो पृथक् तत्त्व हैं। यहां ऐसा माननेपर दोनों एक साथ एकमें ज्ञान न हो सकनेके कारण प्रमाणका अभाव हो जायेगा। प्रमाण न मानने से नयपक्ष भी नहीं बन सकेगा। प्रमाणसे जाने हुएको एक देश जानना ही तो नयका काम है। जब प्रमाण नहीं है तो नय कैसे हो सकता है? सत् ध्रुव है इसका अर्थ है कि परिणमता हुआ सदा बना रहेगा। सदृश परिणमनको ध्रुव कहते हैं। परिणमनता हुआ चला जायेगा, कभी मिटेगा नहीं, उसे ध्रुव कहते हैं। जैसे पदार्थ है। उसे सब दृष्टियोंसे जानकर फिर एक दृष्टिसे बोलो उसे नय कहते हैं। पदार्थको पूराका पूरा जानकर एक दृष्टिसे बोलो तब वह नय है। स्याद्वादसे ही सर्व सिद्ध है। चैतन्यस्वभाव अविकारी है। यदि उसीमें विकार आ जाये तो मौका कैसे हो सकता है? ऐसा होते हुए भी पर्यायमें अभी विकारी है। आत्मा संसार पर्यायको छोड़कर मोक्ष पर्याय प्राप्त कर सकता है—ऐसी प्रतीति होना चाहिये। क्षण-क्षणमें नवीन पर्याय होती रहती हैं। पर्याय नष्ट होने वाली हैं यह द्रव्यके साथ नहीं जाता है। अत: पर्यायसे मोह छोड़ो। मोह छोड़नेसे ही तो मोक्षकी प्राप्ति सकेगी। देखो भैया वस्तुमें उत्पाद व्यय न हो, पर्याय न हो तो कैसे संसार मिटकर पर्याय

मोक्ष हो ? जब यह परिणमन सदृश-चलेगा, उसीका नाम मोक्ष है। द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता करो अथवा पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता करो तब भी मोक्षका मार्ग मिल सकता है, लेकिन एक बार पदार्थका समग्र दृष्टियोंसे ज्ञान हो जाना आवश्यक है। द्रव्य और पर्यायको 'जुदा-जुदा मत मानो। जैसे प्रातः मध्याह्न सायं और रात्रिमें एक-एक अंश बोला—गायक... रंग...काला...है। तो इनमेंसे किसीका भी अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। यदि एक साथ बोला जायेगा तो वाक्य बन जानेसे उसका अर्थ 'गायका रंग काला है' निकलेगा। प्रमाणपना न मानो तो नय भी कार्यकारी नहीं हो सकता है। अनेक अपेक्षाओंके विना कहे वस्तु, पदार्थ तो अवक्तव्य हैं। अनेक अपेक्षाओंके विना वस्तुको अवक्तव्य कहना भी व्यर्थ है।

शंका:—संस्कारके वश पदोंमें वाक्यकी प्रतीति हो ही जायगी। अतः वाक्य मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। इसी प्रकार सत् पर्याय जुदे जुदे हैं। संस्कारवश एककी प्रतीति हो जाती।

समाधान:—जब वाक्य ही नहीं मानोगे तो अर्थका संस्कार कैसे रहेगा ? इस दृष्टान्तके अनुसार प्रमाणके विना नयकी प्रतीति हो ही नहीं सकती। सदृश और विसदृश परिणमन अपेक्षासे ही तो होते हैं। यदि तुम ऐसा मानो कि क, ख, ग आदि वर्ण एक साथ हैं और भिन्न-भिन्न उच्चारण होता है और वे जाने भी क्रमसे जाते हैं। इसी प्रकार यदि तुम पर्याय और पदार्थको भिन्न समावर्ती मानो तो यह नहीं बन सकता। गुण और पर्याय हैं दो स्वरूप, लेकिन वे अलग-अलग नहीं हैं।

शंका:—क्या सत् और पर्याय ऐसे हैं कि जैसे विन्ध्याचल और हिमालय ? इसमेंसे जब विन्ध्याचलको मुख्य करोगे तो हिमाचल गौण हो जावेगा। जब हिमालयको मुख्य करोगे तब विन्ध्याचल गौण हो जावेगा।

समाधान:—ये दोनों अलग-अलग है तो इनमें मुख्य और गौण बन ही नहीं सकता। एक चीजके यदि कई परिणमन हों तो मुख्य और गौण दोनों बन सकते हैं। जैसे विन्ध्या कहनेसे विन्ध्यका ही ज्ञान होगा, हिमालयका बोध ही नहीं होगा। बोधक होनेसे कौन मुख्य और कौन गौण ? गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं। द्रव्य तो एक अखण्ड वस्तु है। यदि पर्याय दृष्टिसे देखते हैं तो पर्याय मुख्य हो जाती है। द्रव्यदृष्टिसे देखें तो पर्याय गौण बन जाती है।

शंका:—तो क्या सत् और परिणाम सिंह साधुकी तरह विशेषण विशेष्यकी तरह हैं ?

समाधान:—नहीं गलत है क्योंकि वह पुरुष न तो सिंह ही है और न साधु स्वभाव ही है। उसका सिंह साधु स्वरूप नहीं है। विशेषण कभी भी पदार्थका स्वरूप नहीं हो सकता है। जो विशेषण विशेष्यके साथ तीनों काल रहे, वह तो वही बन गया, विशेषण कहां

रहा ? यदि गुण और पर्यायको विशेषण विशेष बनाते हो तो किसी समयमें अन्यत्र भी पर्याय रहेगी और किसी समयमें पर्यायके बिना गुण रहेगा। लेकिन गुण और पर्याय भिन्न समयवर्ती या क्रमवर्ती नहीं हैं। चीज एक है, यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा तो गुण है, पर्याय दृष्टिसे देखा तो पर्याय है। पर्याय दृष्टिको तो छोड़ना ही पड़ेगा। द्रव्यदृष्टिसे और पर्यायदृष्टिसे आत्माको जान पावेंगे तभी पर्यायदृष्टिको छोड़ सकते हैं। भैया ! पहले दोनोंको जानना पड़ेगा, फिर दोनों दृष्टियाँ छूट जायेंगी, अनुभव मात्र रह जायेगा।

शंका:––तो क्या एक ही पदार्थके पर्यायवाची दो नाम हैं। जैसे अग्नि और वैश्वानर ?

समाधान:—ऐसा भी नहीं है। क्योंकि पर्यायवाची माननेमें एक ही रहा, तब सत् का भी अभाव हो जावेगा और परिणामका भी अभाव होगा। स्याद्वादके बिना तत्त्वज्ञान नहीं बन सकता है। तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। द्रव्यका यथार्थ स्वरूप समझे तब धर्मका प्रारम्भ हो। आनन्द धर्ममें ही है। धर्म अविकार परिणाम है। वह न शुभ परिणामसे होता है और न अशुभ परिणामसे। अशुभसे पापका और शुभसे पुण्यका बंध होता है। पुण्यका भी आखिरमें मेरे रूप परिणमन होता है। जो यहाँ वह एक है वह तो द्रव्य है और जो समय-समयका परिणमन है वह पर्याय है। स्वरूप दोनोंका अलग है किन्तु क्षेत्र अलग नहीं है। यदि एक तत्त्वके दो नाम यहां माने जावें तो प्रश्न हो सकता है। एक तो स्वतन्त्र नाम होता है, दूसरी अपेक्षा करके नाम होता है। तो इनमें से कौनसे नामको लक्ष्य करके उनके दो नाम है। यदि धर्म और धर्मीके सम्बन्ध रखकर नाम नहीं है तो परिणामका अभाव होनेसे सत्का भी अभाव हो जायेगा। सत्का अभाव होनेपर परिणामका अभाव हो जायेगा। यदि अपेक्षा करके नाम रखे हैं तो ये दोनों–सत् और परिणाम द्रव्यसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हैं तो वही (परिणामका अभाव होनेसे सत्का अभाव) दोष आ जायेगा। धर्मके अभावमें धर्मीका भी अभाव हो जायेगा और धर्मीके अभाव होनेसे धर्मका अभाव हो जायेगा।

**धर्म धर्मीसे पृथक् नहीं है**—यदि ऐसा कहो कि धर्म धर्मीसे भिन्न है, फिर भी उनमें युतसिद्ध सम्बन्ध मान लिया ? तो यदि धर्म धर्मी जुदे जुदे है तो जिस चाहे का जिस किसीसे सम्बन्ध हो जायेगा। अतः धर्म धर्मीको जुदे जुदे तो मान ही नहीं सकते। यदि वे द्रव्यसे अभिन्न हैं तो तीनोंके एक नाम हो जायेंगे। अर्थात् द्रव्य, गुण और सर्याय एक नाम वाले हो जायेंगे, तो फिर चर्चा ही क्यों करते हो ? जैसे कि नमक और खारा–ये अभिन्न हैं। चाहे इन्हें किसी भी नामसे पुकार लो। यदि गुण और पर्यायका भी उन्हींकी तरह एक नाम है तो उनमें उपादेयता नहीं आ सकती। वस्तुतः बात ऐसी है, आत्मा स्वयं सत् है और वह परिणमनशील भी है। सत् दृष्टिसे देखा तो उसे सत् मालूम पड़ा। परिणमन

करने वालेकी दृष्टिसे देखा तो वही पदार्थ परिणमनशील मालूम पड़ा।

शंका:—यदि सत् और पर्यायको ऐसा मानो जैसे एक गायके दो सीग, तो क्या हानि है?

समाधान:—यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि गायका एक सींग टूट जाता है तो दूसरा भी टूट जाना चाहिये। लेकिन एक सींगके टूटनेपर दूसरा सींग नहीं टूटता है। किन्तु पर्यायके नष्ट होनेपर गुण रहता ही नहीं है। अतः गायके दो सींगकी तरह भी गुण और पर्याय नहीं हैं।

शंका:—तो क्या सत् और पर्याय कच्चे और पक्के घड़ेकी दो अवस्थाके समान हैं?

समाधान:—नहीं। क्योंकि कच्चे और पक्के घड़ेमें क्रमपना पाया जाता है। किन्तु गुण और पर्यायमें क्रमपना नहीं है। वे एक समयवर्ती हैं। तुमने कच्चे और पक्के घड़ेका दृष्टान्त तो दिया, वस्तुमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यको दूर करनेके लिये, लेकिन तुमने उस दृष्टान्तसे जैन सिद्धांतके "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्" की सिद्धि कर दी।

शंका:—यदि ऐसा भी नही है तो क्या सत् व परिणाम ऐसा भिन्न है जैसे कि एक पुरुषकी दो सौतेली स्त्रियां?

समाधान:—इसमें सभी दोष आ गये। क्योंकि यदि सौतेली स्त्रियोंकी तरह सप्रतिपक्ष और स्वतन्त्र है सत् व परिणाम तो सत्व परिणामका सम्बन्ध न बननेसे तो फिर सत् के बिना परिणाम रहेगा ही नहीं और परिणामके बिना सत् ही नहीं रहेगा। अतः यह भी तुम्हारा कथन ठीक नहीं है।

शंका:—तो क्या छोटे बड़े दो भाइयोंके समान स्वतन्त्र गुण और पर्याय हैं?

समाधान:—छोटे बड़े भाई होनेमें माता आश्रय है। क्योंकि उनका कोई आश्रय है, तभी तो छोटे बड़े भाई कहलाये। यदि गुण और पर्यायको निराश्रय कहो तो गुण और पर्याय दोनोंका ही अभाव हो जायेगा। यदि भाई गुण और पर्यायके कारण छोटे बड़े है और उनका आश्रयभूत तीसरा कोई नहीं है तो स्वयं आश्रय होनेसे परस्पर आश्रयोंकी लड़ी (क्रम) न टूटने से अनवस्था दोष आ जायेगा।

**सत् है और परिणमता रहता है, दोनों एकको ही बात है**—सत् और परिणाम दीपक और प्रकाशकी तरहसे हैं। दीपकका परिणमन ही प्रकाश है अथवा गुण और पर्याय समुद्र और समुद्रकी लहरोंकी तरहसे हैं। समुद्रसे लहर अलग नहीं है। समुद्र है, उसका परिणमन लहर रूप होता है। इसी प्रकार आत्मा है, आत्मामें पर्याय उत्पन्न हो रही है। जब हम पर्यायपर दृष्टि डालते है तो पदार्थ पर्यायरूप नजर आयेगा। जब हम आत्मापर दृष्टि डालते है तो पदार्थ द्रव्यरूप ही नजर आता है। अथवा जैसे मिट्टी का घड़ा बना।

जब हम घड़ेपर दृष्टि डालते हैं तब पर्याय (घड़ा) नजर आता है। जब मिट्टी अर्थात् घड़ेके स्वभावपर दृष्टि डालो तो उसका स्वभाव ही नजर आता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सत् नित्यानित्यात्मक है। क्योंकि सत्में प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है। अर्थात् यह वही आत्मा है, जो मनुष्यपर्यायमें था। जैसे देव मरकर नारकी हो जाता है तो उसे (नारकीके आत्माको) कहा जाये कि यह वही आत्मा है जो देव पर्यायमें भी था। आत्मा सर्व बाह्यसे पृथक् है और अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें तन्मय है। आत्माके जीवित बने रहनेमें बाह्य पदार्थोंकी रुकावट नहीं है। तो फिर बाह्य पदार्थोंका विकल्प क्यों? जब कोई विकल्प न रहे तभी आनंद है।

**विकल्प करके क्यों व्यर्थ दुःखी होते** हो—जब स्त्री पुत्रादि तुम्हारा कोई हित नहीं कर सकते तो उनके विषयमें इतना विकल्प क्यों करते हो? स्त्री पुत्रादिक तुम्हारे कियेसे जीवित नहीं रहते, वे तो अपने परिणामोंसे ही सदा बर्तते रहेंगे। फिर उनके विषयमें इतना विकल्प! इतना मोह! अभी तक हमने इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक भव पाये, लेकिन सभी यों ही विकल्प करके बीत गये। यदि अब भी सचेत होकर एक भव निर्विकल्प होकर गुजार दिया तो निश्चित यथासंभव शीघ्र मोक्ष हो जायेगा। इन बाह्य पदार्थोंसे क्यों सम्बन्ध रखते हो, वे तुम्हें क्या लाभ पहुंचाते हैं?

शंका:—आत्मा नित्य है, यह कैसे जाना?

समाधान:—हमेशा आत्मामें प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता रहता है। यह वही आत्मा है—ऐसा आत्मामें प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता रहेगा। यदि वस्तुके विषयमें एक दृष्टि रखे तो नित्य व अनित्य कल्पनामें अलग अलग दिखाई देंगे? यदि प्रमाणरूप दृष्टि बनाई तो वस्तु नित्यानित्यात्मक एक रूप दीखेगी। भाइयो! वस्तुस्वरूपका भले प्रकार निर्णय कर लो, तब ही तो वहां श्रद्धा की जावेगी यथार्थ। जहां श्रद्धा यथार्थ हुई वहाँ रुचि भी हितकी होगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ही जीवकी शरण हैं और परमार्थतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकतामें परिणत निज आत्मा ही शरण है।

हमारा शत्रु हमारे विकल्प हैं, इसके सिवाय हमारा शत्रु कोई नहीं। विकल्प करने से कुछ भी नहीं बनता तथा विकल्प न करने से भी कुछ बिगड़ना नहीं होता है। फिर विकल्प क्यों करते हो? सब पदार्थोंका परिणमन होता स्वयं है। पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानलो फिर तत्त्व कौतुहली बनकर सर्वत्र सुगमतासे हितमय तत्त्व देख सकते हो। हम इस डेस्कमें ईश्वर देख सकते हैं। यह डेस्क समान जातीय द्रव्य पर्याय है। अर्थात् यह डेस्क अनन्तानन्त परमाणुओंके ढेरसे बना है। सबको न देखकर एक ही परमाणुमें दृष्टि लगाओ, तो पश्चात् वह परमाणु भी नहीं दिखेगा, ऐसी स्थितिमें केवल आत्मा ही आत्मा

दिखेगा। आत्माके दिखनेपर ईश्वरके दर्शन स्वयं हो जाते हैं। कंकड़ भी ईश्वरकी सत्तासे युक्त है। कंकड़के एक परमाणुको देखते रहो तो वह ज्ञान परसे हटकर आत्मामें आ जायेगा। आत्मामें ज्ञान आनेसे ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

**भगवान सर्वज्ञ एवं कर्ममुक्त होते हैं**—कोई कहते हैं कि जीवका मोक्ष ही नहीं होता है, सर्वज्ञ ही कोई नहीं है। यह आशय उनका ठीक नहीं है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं" में मोक्षकी सिद्धि हो जाती, मोक्षके मार्गकी सिद्धि हो जाती, मोक्षमार्गके नेताकी एवं जीव मोक्ष जाया करता है, इन बातोंकी सिद्धि हो जाती है। सुख दुःखादिक जीवके विकार हैं। जीव संसारमें क्यों रुलता है? उसके संसारमें परिभ्रमण करानेका कोई न कोई निमित्त अवश्य होना चाहिये। संसारमें परिभ्रमण करानेके कारण कर्म हैं–यह बात "कर्मभूभृतां भेत्तारम्" से सिद्ध हो गई। साथ ही यह भी बात सिद्ध हुई कि कर्म हैं, कर्म संसारमें घुमाने वाले है। कर्म नाश किये जा सकते हैं और कर्मोंको कोई व्यक्ति नाश भी कर चुका है। कर्मोंका नाश करना सन्मार्ग है–इत्यादि बातोंकी सिद्धि होती है। 'भगवान सर्वज्ञ समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोंके ज्ञाता हैं"–इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। बहुत से लोग कहते हैं कि ज्ञानादि गुणोंके नष्ट होनेपर ही मोक्ष होता है। लेकिन उनका यह कहना ठीक नहीं है। हां,, सविकल्पक ज्ञानके नष्ट होनेपर मोक्ष होता है–ऐसा कह सकते हो। *अपन लोगोंका ज्ञान सविकल्पक है। अर्थात् अपने ज्ञानमें संकल्प विकल्प उठते रहते* हैं। विकल्पोंके मिटनेके पश्चात् मोक्ष हो जाता है। ज्ञान और विकल्पमें अन्तर है। ज्ञान शुद्ध पर्यायका नाम है। विकल्प राग होनेसे उत्पन्न होते हैं।

"भगवान्के गुणोंकी प्राप्तिके लिये"–इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञता किसी न किसी जीवको प्राप्त होती है और किसी जीवको प्राप्त भी हुई है। सर्वज्ञता प्राप्त होने पर स्वयं भगवान् बन जाता हैं। भगवान्के ध्यानमें लगता है तो यथाविधि आत्मस्थित होकर स्वयं भगवान्रूप हो जाता है।

यदि कोई अपन लोगोंसे पूछे कि भैया, तुम्हारे धर्मका मुख्य ग्रन्थ कौनसा है? इसका उत्तर जैन लोग नहीं दे सकते, क्योंकि मुख्य कोई एक ग्रन्थ है ही नहीं। वैसे अन्य उनके प्रधान ग्रन्थ बताये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि कुछ सिद्धान्त एकांगको वर्णन करने वाले हैं। किन्तु जैन दर्शनका इतना विस्तार है कि जैन सिद्धान्तका कोई भी मुख्य ग्रन्थ बताया नहीं जा सकता है। उसका विस्तार किसी एक पुस्तकमें नहीं समा सकता। *उसका एकांश ही ग्रन्थोंमें वर्णन किया जा सकता है। केवल बतानेकी खानापूर्ति* करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्र और समयसार—इन दो ग्रन्थोंका नाम लिया जा सकता है। क्योंकि जो चीज विस्तारसे तत्त्वार्थ सूत्रमें नहीं है, वह प्रायः समयसारमें है। जो बात

विस्तारसे समयसारमें नहीं है वह प्रायः तत्त्वार्थसूत्रमें मिल जाती है। प्रायः ग्रन्थद्वयमें जैन सिद्धान्तके मुख्य सिद्धान्त आ जाते हैं।

'जिन' के द्वारा प्रवर्तित शासनको 'जैन शासन' कहते हैं। वे अरहन्त भगवान् हैं। उनका परिचय व उनके चले मार्गका परिचय जानना आवश्यक है। जैसे हमें जापान जाना है। जापान जानेसे पहले जापान जानेके लिये जापान जाने वालेको, जापानसे आये हुए व्यक्तिको पूछते हैं। इसी प्रकार मोक्ष जानेके लिये मोक्षमार्गमें गये हुएको ढूंढ़ता है। लेकिन इन्द्रियोंके यत्नसे वह मिलता है, वे अरहन्त भगवान् हैं। ज्ञानयत्नसे उनकी उपलब्धि होती है। अरहन्तके द्वारा प्रवर्तित धर्मको जैन धर्म कहते हैं। जापान जाने वाले मिल सकते हैं लेकिन मोक्षमार्ग गया हुआ नहीं मिल सकता। निज चैतन्य स्वभावका आलम्बन ही मोक्षमार्ग है। चैतन्यस्वभावके आलम्बनमें थिरता है। थिरताके विकल्प ही गुणस्थान रूप भेद हैं।

**विकल्प दुःखरूप है ऐसी प्रतीति आये बिना विकल्प कैसे छूटें:—**प्रत्येक मनुष्यको इतनी प्रतीति हो जाना चाहिये कि विकल्पमें दुःख है तथा विकल्पोंके अभाव होनेका नाम ही आनन्द है। आनन्दको दृढ़ करनेका मतलब है कि विकल्प हो ही न सकें। जिस प्रकार एक ईंधनमय पहाड़को जरासी चिनगारी भस्म कर देती है उसी प्रकार विकल्प एक चिनगारी है। यदि वह आत्माके साथ लग जाता है तो वह शरीरको शिथिल (पञ्जर) बना डालता है, आत्माको बरबाद कर देता है। विकल्प आत्माका शत्रु है। इस शत्रुके नाश करनेमें ही आनन्दकी प्राप्ति है। आत्मामें विकल्प करनेसे कोई लाभ नहीं है। फिर भी यह जीव पड़ा पड़ा विकल्प किया करता है। वह विकल्प करनेमें ही आनन्द मानता है। अतः उसके सामने विकल्प आते रहते हैं। क्योंकि जो जिसे अच्छा लगता है, उसी तरफ प्रवृत्ति करता है। निर्विकल्पतामें ही वास्तवमें आनंद है। निर्विकल्पताका मतलब यह है कि सम्यग्दर्शन; सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको जगाओ और उसके एकत्वमें स्थित रहो। यदि कोई अलग अलग देखकर रत्नत्रयका ध्यान करे तो वह चर्चाका विषय रह जायेगा। रत्नत्रयकी शुद्धि ही आत्माकी शुद्धि है। रत्नत्रयकी शुद्धि आत्मिक ज्ञानके ऊपर निर्भर है। निःशंकितादि आठ अंगों द्वारा सम्यग्दर्शन जाना जाता है। सम्यग्दर्शनमें जान लिया ही जान लिया रहता है। तब सम्यग्दृष्टिको संसारकी समस्त वस्तुएं हेय जान पड़ती है। कहनेका सारांश यह है– कि निर्विकल्प तत्त्वकी प्रतीति होना चाहिये। सम्यग्दर्शनसे पूर्व जो ज्ञान विद्यमान था वह भी ज्ञान था। लेकिन प्रतीति न होनेके कारण वह मिथ्याज्ञान था, प्रतीति होनेपर वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप हो जाता है। सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान गैर ठीक कहलाता है। सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञानमें सम्यक्पना आ जाता है। प्रतीति सहित ज्ञानमें निःशङ्कता रहती

है--इसी भित्तिपर चारित्रका निर्माण होना या वृत्ति करना। जैसा जाना, वैसा ही बनाये
रहने देना चारित्र है। ज्ञानकी स्थिरतामें रागद्वेष नहीं होते। ज्ञानकी अस्थिरतामें ही राग-
द्वेष उत्पन्न होते हैं। विकल्पोंके पूर्ण अभावका नाम ही सम्यक्चारित्र है या ऐसा कहिये
निर्विकल्प ज्ञानका सम्यक्चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता ही **मोक्षमार्ग है:**—तिर्यक भेद एवं ऊर्ध्व भेद
न रहे और अखण्ड तत्त्वके उपयोग रूप ही रह लिया जावे तभी वह सम्यक्चारित्र रहेगा,
वह सम्यक्त्व ज्ञान पूर्वक होता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही
मोक्षमार्गका कारण है। रत्नत्रयकी पूर्णता, एकता, केवलता सर्वोत्कृष्ट पूर्ण निर्मलता है।
इस स्थितिमें स्थिर आत्मा केवली भगवान हैं। संसारमें जो जो पदार्थ अवस्थित हैं, वे
केवली भगवान्के ज्ञानमें ज्योंके त्यों झलकते हैं। ऐसे सर्वज्ञ देवके गुणोंकी प्राप्तिके लिये
मेरा बारम्बार नमस्कार होओ। मांगनेसे मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्षप्राप्तिके लिये प्रयत्न
करो, एवं उस रूप कार्य करो तो मोक्ष मिल सकता है। मोक्ष मिलनेके योग्य काम करो
तो अपने आप मोक्ष मिल जायेगा। लेकिन मोक्ष इच्छा करने मात्रसे नहीं मिलता है।
विकल्प न करें व मोक्षके मार्गपर चलें, देखें कैसे नहीं मोक्ष मिलता है ? संसारका मार्ग मोह
है, मोक्षका मार्ग संसारसे उदासीन रहता है। बाह्य पदार्थोंके बिना आत्माकी कुछ अटक
नहीं है। बहुत बढ़िया कपड़े हों, बढ़िया खानेको मिले---यदि ऐसी इच्छाएं करने लगें तो
मोक्षके मार्गका संकेत भी नहीं मिल सकता है। बाह्य पदार्थोंका विकल्प करो तो दुःख
होता है, विकल्प न करो तो आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। बाह्य पदार्थोंका विकल्प करने
से, बाह्यसे कुछ नहीं मिलेगा। बाह्य पदार्थोंका विकल्प न करनेसे भी कुछ नहीं मिलता।
लेकिन विकल्प न करनेसे आत्मानुभव प्राप्त होता है। विकल्पका अभाव ही आनन्द है।
जिस दिन आत्मासे विकल्पका अभाव हुआ, उस दिन आत्माका कल्याण समझो। यदि
इच्छा ही करनी है, इच्छा मिटानेकी इच्छा करो। यदि विकल्प ही करने हैं तो निर्विकल्प
बननेके लिये विकल्प करो। ऐसा करनेसे आत्माको परमानन्दकी ओर जानेका सन्मार्ग
सूझेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी साधुको सेवा करनी चाहिये, यह १६ वीं
गाथामें बताया गया था। अब १७ वीं व १८ वीं गाथामें कहते हैं कि आत्माकी सेवा किस
प्रकार करनी चाहिये ?

जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवंहि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

जैसे कि कोई धनका इच्छुक पुरुष राजाको जानकर उसका श्रद्धान करता और फिर वह प्रयत्नके साथ उसका अनुचरण करता है अर्थात् जैसी कोशिश करनेमें राजा राजी हो वैसी प्रवृत्ति करता है। इसी प्रकार मोक्षके इच्छुक भव्यात्माओंके द्वारा यह आत्मा राजा ज्ञात कर लेना चाहिये तथा उसीका श्रद्धान कर लिया जाना चाहिये और फिर वही अनुचरितव्य होना चाहिये। अर्थात् जिस पुरुषार्थमें आत्मा निर्विकल्प, निराकुल हो वैसा आचरण करना चाहिये।

जैसे कोई धनका इच्छुक पुरुष धन चाहता है, उसे बड़े प्रयत्नसे यह जानना पड़ता है कि यह राजा है। जिसके कानूनसे व योजनासे धन मिल सके वही राजा कहलाता है। जब यह जान जाये कि अमुक व्यक्ति राजा है, फिर उसपर श्रद्धान करे कि इससे मुझे लाभ होगा। यदि ऐसी प्रतीति न हो तो धनका इच्छुक पुरुष डरेगा, शंका करेगा कि यह व्यक्ति मुझे धन शायद न देवे अथवा यदि मैंने इससे मांगा तो यह इन्कार कर देवे। जो व्यक्ति शंकाशील है, वह राजासे लाभ नहीं उठा सकता। यदि वह व्यक्ति राजाके अनुकूल आचरण करे अर्थात् राजाके प्रतिकूल बात न करे तो उसे धनप्राप्तिका मार्ग मिल जायेगा। धनका मार्ग उसे राजा बता देगा, लेकिन धन मिलेगा, जब मिलेगा तब। उसे धनप्राप्तिका ढंग मालूम हो जायेगा। यह सब राजाकी प्रसन्नता पर निर्भर है। इसी प्रकार जिस आत्माको मोक्ष चाहना है, पहले तो वह अपनी आत्माको जाने। जाननेके बाद आत्माकी श्रद्धा करे कि मैं आत्माकी जानकारीसे अवश्य दु:खसे छूट जाऊंगा। फिर आत्मा का आचरण करे, मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, ध्रुव हूँ, एक हूँ—आदि उपयोग करे। पहले आत्मा को जाने, फिर उसकी प्रतीति करे कि मेरे (आत्माके) जाननेसे सब दु:ख कर्म जाल छूट जायेंगे। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है। आत्माकी परिणति मोक्ष है। पर्याय द्रव्यकी सेवा करे। आत्माका परिणमन आत्माको जाने और उसकी श्रद्धा करे, आत्मापर विश्वास रखे। यह उपाय ऐसा उत्तम है कि मोक्षकी सिद्धि अवश्य होगी। आत्माको जाननेके बाद आत्माके कल्याणमें शंका नहीं है। पर वस्तुमें शंकाको स्थान है।

**निजके व्यवसायमें हानि है ही नहीं**—जैसे हम लोग प्रतिदिन व्यवसाय करते हैं, उसमें टोटा हो सकता है। लेकिन निजके व्यवसायमें कभी टोटा नहीं होता। और देखो—व्यवसायमें कई वर्ष टोटा पड़नेपर भी व्यवसायको कोई छोड़ता तो नहीं है, क्योंकि व्यापारियोंको यह श्रद्धा है कि धनसंचयका उपाय तो व्यवसाय ही है, कभी तो इसमें सफलता होगी। इस प्रकार मोक्षमार्गमें चलते हुए भी कभी अथवा प्राय: आन्तरिक विघ्न आने लगे, वह कभी च्युत भी हो जावे तो भी यह भव्य मोक्षमार्गके पुरुषार्थको छोड़ता नहीं है, क्योंकि उसे यह अटल श्रद्धा है कि समस्त क्लेशोंसे छूटनेका मार्ग तो यही है। यदि अपने आत्माके

स्वरूपको जाने देखें तो अवश्य सिद्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं। निजकी सेवा ऐसी बड़ी चीज है कि सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रह सकता। धन मिलनेमें राजा और धनेच्छुकका काम था। परन्तु अपने आपको मोक्षके लिये अपनेसे भिन्न किसी औरकी सेवा नहीं करनी है।

पर्याय ही तो मोक्षकी चाह करती है। द्रव्यमें चाहका अभाव है। अगर इसे (पर्याय को) मोक्षकी चाह है तो द्रव्यकी सेवा करे, द्रव्यको जाने और द्रव्यकी श्रद्धा करे। जिसकी परिणतिका नाम ही मोक्ष है, उसको जानना तो पहला कार्य है।

जिसका आर्डर मिलेगा उसको तो जानना ही होगा। जैसे किसी बातकी स्वीकृति के लिये आजकल लिखित देना पड़ता है, वह एक तरहका जानना ही कहलाता है। मोक्ष-प्राप्तिके लिये पहले आत्माको जानो, फिर उसपर श्रद्धा करो। आत्माकी श्रद्धा करनेपर विकल्प, मोह, राग, द्वेष, शल्य तथा दुःखादिक नहीं रहते। जिसे हमने आज तक नहीं पाया उसकी छत्रछायामें पहुँच जाते हैं। ऐसे काम करो कि आत्मा ज्ञाता दृष्टा हो जाये। आत्मा का आचरण करना—माने आत्माकी दृष्टि बनाये रखना। राजाको प्रसन्न करनेके लिये राजा को भेंट देवे, विनयके वचन बोले, स्नेहकी आंखोंसे उसे कभी कभी देखता रहे। यदि मोक्ष चाहता है तो आत्मा राजापर भी पर्यायको समर्पण कर देवे। यह पर्याय तो अभी नष्ट होने वाली है, उस समय उस पर्यायको द्रव्यके सन्मुख करे यही पर्यायका समर्पण है, यही हुआ आत्मा राजाको अपने आपको समर्पण कर देना।

**हे उपयोग! आत्माकी सेवामें लगो**— विनय वचन अथवा उसीमें लीन हो जाना— यही उसके अनुकूल आचरण है। उस चैतन्यस्वरूप आत्माको देखना आत्माकी सेवा है। स्वभावका अवलम्बन करनेसे साध्यकी अर्थात् मोक्षकी सिद्धि होती है। ऐसा किये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टाका है और आत्माको विकल्पोंमें फांस रखा है यही आत्माको गाली देना है। आत्माकी सेवामें ही मोक्ष मिल सकता है। संसारमें किसी की कोई रक्षा नहीं करता। कुछ तो संसारमें ठोकरें खा खाकर अन्दाज हो ही गया कि किसीका कोई रक्षक नहीं। सब कल्पना की चीज है, कुछ युक्ति विज्ञानसे विचार लो। सीता जन्मसे ही दुःखी रही, उसे किसी प्रकारका भी सुख नहीं प्राप्त हुआ। पुण्यका उदय भी दुःखका कारण बन जाता है। पापका उदय भी दुःखका कारण है। जैसे आजकल जो चुनावमें हार जाता है, उसे दो-तीन माह तक क्लेश रहता है। जितना बड़ा पुण्य है, वैसा ही दुःख मिलता है। विरला ही ऐसा कोई होगा जो पुण्यमें आनन्द प्राप्त करता हो। बड़े बड़े राजाओंको देख लो, बड़े बड़े राजाओंके राज्य छीन लिये गये। यह तो प्रजातन्त्र राज्य है। जनता अपने हितोंके लिये अपने प्रतिनिधियोंको स्वयं चुनती है। जिसको अधिक मत प्राप्त हो गये, वही जीता कहलाता है। जैसा जिसका पुण्य है, उसको वैसा ही फल मिलेगा।

ये सब क्लेशके उपादान हैं, उनसे तो क्लेश ही मिलेगा। ऐसा चैतन्यस्वरूप आत्मा अनेक पर्यायोंमें बदलता चला जाता है। आत्मा पर्याय बदलनेसे किसी शुद्ध पर्याय रूप भी नहीं रहता, अशुभ पर्यायरूप भी नहीं रहता है। आत्माकी सेवा करो, आत्मापर श्रद्धा करो, तो फिर कल्याण होनेमें कोई सन्देह नहीं रहेगा। निजके व्यवसायमें कभी हानि नहीं हो सकती। निज व्यवसायसे मोक्ष मिलेगा, शान्ति मिलेगी तथा संकल्प विकल्पोंसे विश्रान्ति मिलेगी। विकल्प दुःखके कारण है, विकल्पका है दुःख; तो विकल्पोंका दुःख मिटानेके लिये निज स्वभावका आश्रय करना पड़ेगा। विकल्पोंसे दुःख नहीं मिटेगा और भी बढ़ेगा। पर दृष्टि नहीं देना—इसीसे सिद्धि मिलेगी। आत्माको जानो तभी कल्याण होगा।

**शुद्ध ज्ञान आचरण बिना कहीं भी हो सफलता नहीं**—जैसे किसीको संगीत सीखने की चाह है, तो पहले उसे संगीतज्ञको ढूंढ़ना पड़ेगा। फिर उसपर श्रद्धान करना पड़ता है तथा संगीतज्ञके अनुकूल आचरण करे तभी तो संगीत विद्या आती है। बिना विनयके विद्या नहीं आ सकती। जैसे रोटी बनाना सीखना है तो रोटी बनानेमें उसके एक्सपर्टके पास जाना पड़ेगा, उसके प्रति विनय सहित बर्तना होगा। किसीको रोटी सेकना सीखना है तो उसे पहले तो बनाने वालेकी जानकारी करनी पड़ेगी, फिर अपने ऊपर श्रद्धा करे कि रोटी बनाना ज़रूर सीख जावेंगे तथा जैसा रोटी बनाने वाला कहे वैसा ही करता रहे, तभी तो रोटी बनाना सीख सकोगे। कोई चीज कभी जबर्दस्ती नहीं सीखी जा सकती। हां, जबर्दस्ती लड़ाई की जा सकती है, उसमें विनयकी आवश्यकता नहीं है। लड़ाई झगड़ेमें किसीकी प्रसन्नता नहीं चाहिये। विद्यायें विनयसे आती हैं। आत्माको यदि मोक्षकी इच्छा है, तो आत्मा को जानो और उसपर श्रद्धान करो तथा उसके अनुकूल आचरण करो। "मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं। मेरेमें दूसरा कोई परिणमन नहीं हो सकता है। मैं स्वयं अपना कर्ता हूं, मैं स्वयं अपना भोक्ता हूं, मेरे द्वारा मेरे लिये मेरेमें मैं स्वयं अपना कर्ता हूं" ऐसी भावनामें रहो।

आत्माका कोई कभी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मोक्षका उपाय आत्मानुभव ही है। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। यद्यपि यह आत्मा अनेक प्रकारके विभावोंमें परिणम रहा है, फिर भी यदि भेदविज्ञानकी कुशलता है उससे यह जाना जा सकता है कि यह मैं हूं, यह मैं नहीं हूं, ऐसा जाना सकता है। मैं चैतन्यस्वरूपात्मक हूं ऐसा विचार करनेपर ही आत्माकी ओर विश्वास, श्रद्धा व रुचि होती है, जिससे आत्मा आत्माकी ओर खिंचा रहता है। ऐसा करनेसे ईर्ष्या शल्य द्वेषादि सब दूर हो जाते हैं।

**सत्य आनन्दकी झलक होनेपर वह भूला नहीं कहा जाता**—जहां आनन्द न मिले उस तरफसे उपयोगको बदल देना चाहिये। जहां सत्य आनन्द मिलेगा, चाहे उस ओरसे

दृष्टि विवशतापूर्वक हटानी पड़े, फिर भी उपयोग उसी ओर लगा रहता है। आत्मीय आनन्द वह आनन्द है कि उसके होने पर यही हित है, यह कभी नहीं भूला जा सकता है। यदि भूल जाते हैं तो समझो वह वास्तविक सुख नहीं था। आत्मानंद कभी भूला नहीं जा सकता है। इसी आनन्दसे आत्माकी सिद्धि होती है। अतः आत्माको जानो, श्रद्धा करो तथा तदनुरूप आचरण करो। जिस स्वभावकी उपासनासे जीवको मोक्ष मिलेगा वह स्वभाव सभीमें—बच्चों से लेकर बूढ़ों तकमें मूर्खसे लेकर ज्ञानी तकमें है। खुदका भगवान्, अनादिकालीन वह आत्मा परके साथमें एकत्व कर रहा है और उसी जबर्दस्तीके परिणाम में यह मोही जीव आसक्त बन जाता है। यह जीव पर्यायमें मुग्ध रहता है, इसने पर्यायमें बुद्धि लगा रखी है। ऐसे मोही आत्माको आत्मज्ञान नहीं होता है। क्योंकि जब आत्मा ज्ञान ही में नहीं आया तो उसका विश्वास कैसे कर लिया जाये ? आत्मामें ज्ञानकी दृष्टि ही नहीं है तो आत्मामें वह ठहर ही नहीं सकता। वह आत्माके मोहमें ही लगा रहेगा वह आत्माको पा नहीं सकता है तथा उसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि यह मोह अन्यथा (अकरणीय) कार्य है। आप ही बताइये इस अन्यथा कार्यसे सिद्धि कैसे हो सकती है ? भैया ! उस आत्माका ज्ञान किये बिना मोक्ष कैसे हो सकता है ? जीव आत्मज्ञानके बिना इस संसार चक्रमें ही रुलता फिरता रहेगा। अतः ज्ञानबलसे, धैर्यसे, विवेकसे, शान्तिसे, विचारसे आत्माको जानो तथा आत्मापर श्रद्धा करो। साथ ही आत्मा के अनुरूप आचरण भी करना चाहिये। आचरण करने से तात्पर्य आत्माके ध्यानसे है। ये ही आत्माकी सिद्धि (मोक्षकी प्राप्ति) का उपाय है।

इस आत्मामें अनुकूल प्रतिकूल अनेक भाव हो रहे हैं, स्थायी अस्थायी भाव भी हैं। उनमेंसे सच्चिदानन्द स्वरूप परमपारिणामिक भाव रूप मैं हूं—ऐसा निश्चय करनेके लिये परमविवेककी परम कुशलता होना चाहिये। भगवती प्रज्ञाके प्रसादसे इस परमार्थ आत्मा का परिज्ञान पावें और यह हो है ऐसा परम श्रद्धान पाये तो अन्य भावोंसे हटकर इस ही में निःशङ्क अवस्थित रह सकता है। इस तरह यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माको साध ही लेता है। देखो भैया ! भगवान आत्मस्वभाव है तो सबमें अन्तः प्रकाशमान और इस ही का अनुभव सबको होता है परन्तु इसका जो अशुद्धरूपमें अनुभव करते हैं, परभावों में एकत्व करके मुग्ध होते हैं उनके "यह चैतन्यस्वरूप मैं हूं" ऐसी अनुभूत नहीं हो सकती। फिर जिसका परिचय ही नहीं उसका श्रद्धान कहांसे हो और श्रद्धान बिना उसमें प्रवेश व स्थिरता कैसे हो ? इस प्रकार बहिरात्माके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं होते तो उनको निराकुल आत्मतत्त्वकी सिद्धि नहीं होती।

आत्मा कैसा है ? आत्मा ज्योति कैसी है ?—वह आत्मा ज्योति किसी अपेक्षासे

तीनपनेको प्राप्त है:–१. दर्शन, २. ज्ञान और ३. चारित्रपनेको। यद्यपि यह आत्मा व्यवहारसे तीनपनेको प्राप्त हो गया है। फिर भी अखण्ड है, एक है। उस द्रव्यको समझनेको व्यवहारनयका आश्रय करना पड़ेगा। वह आत्मा ज्योति एकतासे गिरी हुई नहीं है। उसमें निर्मलता ही प्रकट हो रही है। स्वभावका परिणमन परको निमित्त पाकर अशुद्ध भी हो रहा हो तो भी स्वभाव तो अपनी निर्मलता ही फैकता है। जैसे दर्पण इतना शुद्ध और साफ है कि उसमें सब चीजें या रंग स्पष्ट झलक जाती हैं। इसी तरह आत्मामें राग आता है। यह राग भाव आत्मामें ही क्यों आता है? पुद्गलादिकमें क्यों नहीं चला जाता? इसका कारण आत्माका स्वच्छपना है। आत्मा चैतन्य है, अविनाशी है। जिसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र पाया जाये उसे आत्मा कहते है। अनंत चैतन्य जिसका चिन्ह है उसे आत्मा ज्योति कहते हैं।

यदि तुम्हें आत्माको मोक्ष दिलाना है तो पहले आत्माको जानो, फिर उसपर श्रद्धा करो कि यह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आत्मापर श्रद्धा करके उसही के अनुकूल आचरण करो, याने आत्माके ध्यानमें तन्मय हो जाओ। ऐसा करने से साध्यकी सिद्धि अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी। अतः आत्माको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी और तद्रूप एकत्वकी उपासना करनी चाहिये। अपनी एकतासे जो गिरा हुआ नहीं है, उस आत्मत्वका योगीजन निरन्तर अनुभव करते हैं।

सामयिकमें प्रातः सायं—२४ घन्टेमें दो बार अपने स्वरूपका ही चिन्तन करो। सामायिक इसीलिये की जाती है कि अन्य बाह्य विकल्पोंको छोड़ करके स्वानुभव स्वात्म चिन्तन किया जाय। पहले तो इस तरहकी भावना बनानी होगी कि मैं बाह्य अन्य समस्त द्रव्योसे न्यारा एक चैतन्य पदार्थ हूँ। मैं अपना ही कर्ता और अपना ही भोक्ता स्वयं हूँ—इस तरहकी प्रतीति करते जाओ आत्माके स्वरूपको एक दिन पहचान ही जाओगे। इस प्रतीतिसे समस्त बाह्य पदार्थोंसे मोह छूट जायेगा। मै सबसे न्यारा एक चैतन्य पदार्थ अपना ही कर्ता और अपना ही भोक्ता हूँ। मै अपने ही परिणमन करता हूँ—ऐसा बार बार चित्तवन करो। दूसरेको सुनानेके लिये करनेसे या दबावसे कहनेके कारण करनेसे तत्त्वमे भी कोई तत्त्व नहीं निकलता है। मैं स्वतन्त्र हूँ, ज्ञाता दृष्टा मेरा स्वरूप है, अन्य पदार्थोंसे मैं भिन्न हूँ, ऐसा बार-बार ध्यान करनेसे आत्मापर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

**बार बार विचारका प्रभाव**—जैसे एक बार चार चोर चोरी करने चले। उन्होंने एक ब्राह्मणको बकरी ले जाते देखा। तो उन्होंने सलाह की कि इस बकरीको इससे छुड़ानी चाहिये। चारों सलाह करके एक एक मीलकी दूरीपर जाकर खड़े हो गये। ब्राह्मणको पहला चोर मिला और उसने कहा—क्यों महाशय! आप तो बड़े पागल है कि सिरपर

कुतिया रखे ले जाते हैं। ब्राह्मण यह बात सुनकर उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ा तो दूसरे चोरने भी यही कहा। आगे चला तो तीसरे चौथे चोर भी मिले, सबने यही कहा। ब्राह्मण ने सोचा, क्या बात है ? मुझे सभी टोक रहे हैं, वास्तवमें यह कुतिया ही होगी। यह सोचकर उसने उस बकरीको वहीं छोड़ दिया और आगे बढ़ा। चारों चोर उस बकरी को लेकर घर चले गये। एक ही बातको बार बार कहा जाये तो उसका मनपर अवश्य असर पड़ता है। जब झूटी बातका भी असर यों पड़ सकता है तो सत्यस्वभावी आत्मापर सत्यका प्रभाव तो अमिट सुगमतया पड़ ही सकता है।

इसी प्रकार मैं सबसे न्यारा हूँ, अकेला हूं, शुद्ध हूँ—इस प्रकार बार बार भावना आने से तो कल्याण अवश्य होगा। क्योंकि भेदभावनासे पर परिणति हट जाती है। बाह्य पदार्थोंसे परिणति हट जानेसे जीवका मोह छूट जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि पर-पदार्थोंसे परिणति हटा देना चाहिये। जितना बने अपने आत्मतत्त्वको जानो। जहां आत्मा के उत्थानका प्रश्न है वहां पैसेसे कोई काम नहीं बन सकता। वह तो केवल परिणाम शुद्ध रखनेसे ही काम चलता है। क्यों कि आत्मानुभवसे मोक्षकी सिद्धि हो जाती है। मोक्ष निस्तरंग अवस्था है। वह अवस्था तब प्रकट होती है जबकि आत्मापर ही उपयोग जाता है। बिना आत्मानुभवके साध्यकी सिद्धि हो ही नहीं सकती है। आत्मा एक स्वभावी है। इस अखंड चैतन्य आत्माका निरन्तर ध्यान करो।

शंका—ज्ञानका तो आत्माके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, वह तो कभी आत्मासे अलग होता ही नहीं है जब वह अलग नहीं होता है तो हम ज्ञानी हैं। तो फिर ज्ञानकी उपासनासे क्या लाभ ?

समाधान—तुम्हारा कहना ठीक है। ज्ञानके साथ आत्माका तादात्म्य होनेपर भी यह आत्मा ज्ञानकी खबर नहीं लेता है। ज्ञान अलग होता और आत्मा अलग होता तो उपासना बड़ी दूरकी चीज हो जाती। आत्माका ज्ञानके साथ तादात्म्य होनेपर भी क्षणभरके लिये यह ज्ञानकी उपासना नहीं करता है। ज्ञानकी उत्पत्ति उपदेशसे व स्वभावसे होती है। दोनों हालतमें आत्माको ही समझना पड़ेगा। ज्ञान जो न स्वयं समझ सकता और न दूसरोंके समझानेसे समझता वह बड़ा व्यामोही है।

**ज्ञानमय स्वतत्त्वको समझनेसे ही हित होगा**—कुछ जीव ऐसे भी होते हैं, खुद तो समझमें आता ही नहीं, न दूसरेके समझाने पर समझते और उसमें उल्टे कोई अड़चन डाल देते हैं। कुछ जीव ऐसे होते हैं कि समझकर भी जबर्दस्ती करते रहते, वे हठी कहलाते हैं, जैसे हम तो ३० + ३० = ५० ही कहेंगे। आत्मा ज्ञानशरीरी है, आत्मा अमूर्त है। आत्माको वही बता सकता है जो जानता है। शरीरको तो पकड़कर भी बताया जा

सकता है, यह है शरीर ।

आत्मा ज्ञानमय है, फिर भी यह संसारी प्राणी जड़ पदार्थोंकी उपासनामें लगा रहा, ज्ञानकी उपासना उसने अभी तक की ही नहीं । भैया ! चाहे जितनी भी चिल्ला चिल्लाकर पूजा कर रहे हो, मनमें मुकदमामें जीतनेकी धुन लगी है तो उसका गला फाड़ने से कोई लाभ नहीं है । पूजा चेतन परिग्रहकी करो । एक आदमी घर पर पड़ा है, या दुकानपर बैठा है, यदि भगवान्की भक्तिमें तन्मय है तो उसे साध्यकी सिद्धि हो जायेगी । जो व्यक्ति स्थिरतासे नहीं बैठ सकता है, वह बन्दरके समान है । बन्दर कभी भी स्थिर नहीं बैठता है । मन भी उसका बन्दरकी तरहसे क्रियाहीन या विचारहीन नहीं रहता है । मनकी स्थिरताके लिए मनको ज्ञानमें, पूजामें, ध्यानमें, सामायिक आदिमें लगाओ तो मन स्थिर हो सकता है ।

तन-मन धन-वचन— इन चारोंमें से एक भी चीज हमेशा नहीं रह सकती है । अत: इनसे जितना बने, काम लो । कम काम करने वाले पुरुष कायर या नपुन्सक कहलाते हैं । अरे, इस नश्वर शरीरको दीन दु:खियोंकी सेवामें लगाओ । द्रव्यमन और भावमन दोनों नष्ट होने वाले हैं । अत: मनका उपयोग सबका भला विचारनेमें लगाओ । बुरा विचारने में मनको क्यों लगाते हो ? यदि मनसे भला नहीं विचार सकते तो बुरा भी तो मत विचारो ।

धनका उपयोग ज्ञानसाधनोंमें करो, जिससे सृष्टिके चप्पे-चप्पेमें ज्ञानका प्रकाश हो । यद्यपि धनसे ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु उससे ज्ञानके उपकरण जुटाए जा सकते हैं । पूर्व कालमें ऐसा जरूर था कि मुनि लोग जङ्गलमें रहकर ही ज्ञानदान किया करते थे, कोई खर्च नहीं हुआ करता था । परन्तु वर्तमानमें ज्ञानके साधन जुटानेमें भारी खर्च पड़ता है । अत: धनका उपयोग ज्ञानमें ही करो ।

मान लिया, यह मन्दिर बहुत सुन्दर बना हुआ है, लेकिन कोई ज्ञानी नहीं है तो जीवका कल्याण इस ईंट पत्थरोंसे निर्मित मंदिरसे नहीं हो सकता है । जीवका कल्याण तो ज्ञानमात्र भावनासे ही होगा । मन्दिर तो साधन मात्र है । धनको ज्ञानके विकासमें लगाना चाहिये ।

**वचन निकट धन है, उसका धर्मानुकूल उपयोग करो**—वचन भी मिट जाने वाली चीज है । वचन सदा नहीं रहता अत: उसका ठीक स्थानमें उपयोग करो । ऐसे वचन बोलो, जिनसे दूसरोंकी कषाय न बढ़े और दूसरोंको कषाय कम करनेकी शिक्षा मिले । धर्मकी वाणी बोलनेसे स्वयं भी धर्मके परिणाम हुए, सुनने वालेको भी धर्मकी बात सुनाई दी । धर्मके वचनसे दोनोंका लाभ होता है । अत: वचनकी शुद्धता होनी चाहिये ।

तन-मन-धन-वचन मिट जाने वाली चीज है।

आत्मामें यद्यपि ज्ञान है लेकिन यह आत्मा उसे पकड़ता नहीं है। जैसे किसी आदमी के हाथमें "हीरा" है, लेकिन वह उसे कांच समझ रहा है। उसे हीरा मिलनेपर उतनी ही प्रसन्नता होगी, जितनी कांच मिलनेपर होती है। भावना तो बनाओ, उस अखण्ड चैतन्यात्माका ध्यान करो। आत्माका ज्ञान स्वरूप होनेपर भी मिथ्यादृष्टिने कभी ज्ञानकी आराधना नहीं की।

शंका:—जब तक बुद्धबोधित और स्वयं बोधित होनेको न मिले, तो क्या यह आत्मा तब तक अज्ञानी रहता है?

समाधान:—हां, जैसे जिसके घरकी दीवारमें रत्न गड़े हों, जब तक उसे पता नहीं कि मेरे घरमें रत्न गड़े है, तब तक गरीब ही कहलायेगा। इसी प्रकार इस आत्माके पास ज्ञान होनेपर भी यदि वह उसको नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी ही है। जब तक यह जीव परवस्तुको और अपनेको एकमेक मानता है, तब तक वह अज्ञानी ही है। कहाँ तो यह पवित्र चैतन्य आत्मा और कहाँ यह अपवित्र शरीर? यह शरीर मल ही मलको एक पुंज बना बैठा है। इस मुंहमें सबसे अधिक मल है। जल्दीसे जल्दी मुंहसे मल निकलता रहता है। सर्वप्रथम मुंहसे ही मल निकलता है। सब मल पिण्ड इस मुंहमें ही हैं। लोकमें मुख ही बड़ी श्रद्धासे देखा जाता है। सब ही मुखका फ़ोटो उतारना चाहते है ऐसा घिनावना यह शरीर आत्मासे बिल्कुल भिन्न है। कर्म मैं हूं, नोकर्म मैं हूं—जब तक जीवकी यह बुद्धि रहती है, तब तक वह अज्ञानी है। जब यह आत्मा अपनेको शरीरसे अलग मानता है, तभी ज्ञानका उदय होता है।

**सर्व साधारण स्वरूपको तो देखो**—वही पुरुष धन्य है जिसका माहात्म्य सम्यक्त्व प्रभु द्वारा प्रकट होता है। वह सम्यग्दर्शन पदार्थोके सामान्य तत्त्वकी प्रतीतिसे होता है। पहले द्रव्यके लक्षणको जानकर द्रव्यकी प्रतीति करो। प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परके चतुष्टयसे द्रव्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें ६ गुण होते हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व। इन साधारण गुणोंकी दृष्टिसे कोई द्रव्य न छोटा है, न बड़ा, सब द्रव्य स्वतन्त्र है। न कोई हेय है, न उपादेय है। सब द्रव्य सामान्य गुणोंकी दृष्टिमें समान हैं। अस्तित्व गुणके कारण वस्तु है। वस्तुत्व, जो वस्तुकी सत्ताको बताये कि यह वही है, अन्य नहीं, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। द्रव्यत्व गुण यह बताता है कि द्रव्य स्वत: है, स्वत: परिणमनशील भी है, अपरिणामी और कूटस्थ नहीं है। यह वस्तु परिणमती हुई दूसरी वस्तुरूप न परिणम जाये, इस मददको करनेके लिये अगुरुलघुत्व गुण है। द्रव्योंकी व्यवस्था देखो, द्रव्य जो है सो है। वस्तुका ठीक-ठीक बोध हो जाये, यह

वर्णन समझानेके लिये उपाय है। वे उपाय बनाये हुए समझो। वस्तुका कोई नाम नहीं है, उसका तो जो नाम विशेषण है वही नाम बन जाता है। जैसी अपनी परम्परा चली आ रही है उसीके अनुसार नाम बनाओ। जिसका कोई आकार ही न हो, वह चीज ही क्या रहेगी? अतः उसका आकार बतानेके लिये प्रदेशत्व गुण कहा। यदि वस्तु ज्ञानमें ही न आवे तो किसकी व्यवस्था बनावें? इन छः गुणोंसे वस्तुकी ठीक-ठीक पहिचान होती है। द्रव्य सामान्य और विशेष दो प्रकारका होता है।

द्रव्य चेतन व अचेतनके भेदसे दो प्रकारका होता है। चेतन द्रव्य एक जीवद्रव्य है। शेष पांच अचेतन द्रव्य हैं। भेद किसी अपेक्षाको रखकर किया जाता है। हमें द्रव्यके ऐसे भेद करने हैं जिससे जीवकी पहिचान मिले। मूर्त अमूर्तके भेदसे भी द्रव्य दो प्रकारका है, किन्तु मूर्त या अमूर्त यह भी जीवकी पहिचान नहीं करता। क्योंकि अन्य पदार्थ भी मूर्त या अमूर्त होते हैं। यह चेतन वास्तवमें है, क्योंकि दुःखका या ज्ञानका संवेदन होता है। आंखोंसे जो कुछ देखता है उसका भी ज्ञान हो जाता है। जीवका कुछ न कुछ परिचय सभीको है, जैसे कोई लड़का यदि भींतको ठोक रहा हो तो कोई भी उसे नहीं डांटेगा। लेकिन यदि वह कुत्तेको लट्ठ मारे तो प्रत्येक उसे कहेगा कि व्यर्थमें तुम कुत्तेको क्यों मार रहे हो? अतः सर्वसाधारणमें भी यह बात निश्चित है कि जीव नामकी वस्तु अवश्य है। जीवके साथ दूसरी कोई अजीव भी है। यदि जीवके साथ अजीव न लगा होता तो उनमें अन्तर न मालूम पड़ता। जीव जीवमें भी जो अन्तर मालूम पड़ता है और एक जीवमें भी विभिन्न कालोंमें अन्तर मालूम पड़ता है। उसका कारण भी जीवसे विलक्षण तत्त्व (कर्म) का सम्बन्ध है।

**यह तो सोचो जीव और कर्मका संयोग कबसे हुआ?**—उनका संयोग आदिसे है या अनादिसे? इनका संयोग हुआ तो कैसे हुआ? रागी जीव और कर्म—इनमें पहले कौन था? संयोग वाली चीज पहलेसे ही होती है। पहले राग था या कर्म? जीवमें पहले राग था, ऐसा कहो तो राग अहेतुक बन गया, फिर वह कैसे दूर हो? यदि कहो कि जीवमें पहले कर्म थे ऐसा भी नहीं है। कर्मका निमित्त पाकर राग और रागका निमित्त पाकर कर्म होता है। बीज वृक्षमें पहले कौन था, बीज था या वृक्ष? बीज पहले था ऐसा कहो तो वृक्षके बिना बीज कैसे आया? यदि पहले वृक्ष था, बीज बादमें हुआ, ऐसा कहो तो बीजके बिना वृक्ष कैसे पैदा हो गया? पहले जो हुआ तो बताओ वह आया कहांसे? अन्तमें आपको मानना ही पड़ेगा, बीज वृक्ष दोनों अनादिसे हैं, न पहले बीज हुआ, न वृक्ष। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। जब तक हमारा जीव और कर्मके सम्बन्धपर दृष्टि है, तब तक जीव और कर्मका सम्बन्ध जारी रहेगा। जब कर्मपर दृष्टि नहीं

रहेगी, केवल जीवपर ही दृष्टि जाएगी, तभी जीव और कर्मका सम्बन्ध छूटेगा। अतः एव कर्मपरसे दृष्टि हटानेके लिये व जीवपर दृष्टि स्थित करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है तभी वह स्वानुभव होना संभव है।

प्रत्येक प्राणीको इतना दुःख है कि उसको वर्णन करनेकी शक्ति गणधराचार्यमें भी नहीं है। दुःखकी स्थितियोंमें रहकर भी अपने आपका यह हित है ऐसा भ्रमपूर्ण विश्वास बना रहता है। यह भूलको लम्बी बनाने वाली भूल है। यह पर्याय और मूलको न समझने देने वाली चीज है। हमारा कर्तव्य है कि हम आत्माको जानें देखें। जीवमें यदि कोई चीज कष्टकी है तो विकल्प हैं। ऐसी चेष्टा करो कि कष्टदायक ये विकल्प उत्पन्न ही न हो पायें।

**सत्य आनन्द मायासे परे रहनेमें हैं**—जीवको उस समय निर्विकल्प सुखका अनुभव होता है, जब आत्मासे विकल्प चले जाते हैं और निर्विकल्प होकर आत्मानुभवमें लीन रहता है। वे पुरुष धन्य हैं, जिनका माहात्म्य उस सम्यक्त्व प्रभुके द्वारा प्रकट होता है। सम्यक्त्व वास्तवमें प्रभु है। उस सम्यक्त्व प्रभुके माहात्म्यसे इष्ट सिद्धिकी, मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर अपार आनन्द प्राप्त होता है। सम्यक्त्व एकपर दृष्टि रखनेसे—जीवके स्वयंके अनुभवसे—अभेद दृष्टिसे—प्राप्त होता है।

वह अभेद दृष्टि एक तो भेद करते-करते आखिरी दृष्टि डालकर बनता, दूसरे वह सामान्यपर दृष्टि डालनेसे बनता, उस अभेद दृष्टिको यदि मोटे रूपमें कहो एक (अखण्ड) द्रव्य दृष्टि और दूसरी क्षणिक पर्यायकी दृष्टि है। इससे अधिक और क्या अभेद हो कि एक समयकी पर्यायका भी भेद नहीं। दोनों दृष्टियोंका उपयोग लेना चाहिये। यदि समयकी पर्याय भी समझमें आये तो आत्मा जल्दीसे समझमें आ जाता है। समझमें आने वाले ये दोनों नय हैं। वे एकान्तसे कभी समझमें नहीं आ सकते हैं। जैसे—हमने अपनी दुकान खूब अच्छी बनाली तो फिर आरामसे एक एक कार्य भी किया जाये, कार्य बड़े सन्तोष-पूर्वक हो जायेंगे। पहले तो वस्तुका पूर्ण ज्ञान कर लिया जाये। चाहे ध्रुव स्वभावको जानकर, पर्याय गुणको जानकर, किसी प्रकारकी लीलासे, फिर वह ज्ञाता अपने किसी भी ज्ञानके होते हुए उद्देश्यमें सफल हो सकता है।

**जीवन बीता जा रहा है, शान्तिपर अधिकार पानेका यत्न करो**—इस सम्यक्त्व प्रभुकी बड़ी महिमा है। मनुष्य भव प्राप्त करके भी यदि सम्यक्त्व न हो तो मनुष्य-भव पाना व्यर्थ ही है। ऐसे कृत्य करो कि इस भवके बाद बहुत ही अल्प भव बताकर अपने इन भवोंसे रिक्त हो जावें। वह काम स्वभावदृष्टि है, जिससे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होकर इन भावोंसे छुटकारा हो जाये। स्वभावदृष्टि रखनेके लिये विकल्पोंको दूर भगाना होगा। विषय-कषायकी आसक्तिको छोड़ना होगा, फिर सहज स्वभावके उपयोगसे स्वभावदृष्टि

पाना सुगम है ।

धर्म-पालनमें बाधक ३ शल्य हैं । जिस आत्मामें शल्य है—न उसके धर्म है, न तप, न जप । व्रतीको निःशल्य होना चाहिये, इस वाक्यमें मुख्य मर्म यह है कि सम्यग्दृष्टि निःशल्य होता है । तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीका लक्षण निःशल्य होना बताया है । व्रत पालनके लिये सम्यग्दर्शन होना आवश्यक है । सम्यग्दर्शन नहीं है तो व्रतादि पालना ही व्यर्थसा है । मायाके रहते हुए सम्यक्त्वका पालन नहीं हो सकता है । किसीके धनको हड़पनेकी चाह हुई तो वह चाह आत्माको अधर्मके मार्गपर ले जाती है और तब आत्माको धन हड़पनेके लिये कुपथ पर चलना ही पड़ेगा ।

अपन लोगोंके कभी भी सरागी गुरु व शास्त्रोंकी अनुमोदना तो नहीं होती है ? यदि अनुमोदन होता है तो वह भी शल्य है । शल्यके रहते हुए जीवका कल्याण नहीं हो सकता है । सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे ही शल्यादि दूर हो सकती हैं । सम्यक्त्व प्रभुकी प्राप्तिसे इष्ट सिद्धि होती है । सम्यग्दर्शनके सिवा इस संसारसमुद्रसे जीवको निकालनेमें अन्य कोई शक्ति सहाय नहीं है । सब जीवोंका रक्षक सबके निर्मल परिणाम हैं । जीवके यदि कर्मका उदय है, कोई चाहे उसे सुखी कर दे; उसे सुखी कर ही नहीं सकता है और जो पुण्य पाप से रहित स्वभाव दृष्टिमें लगा हुआ है, उसे कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता है । यह सब सम्यक्त्व प्रभुकी ही तो महिमा है ।

"ॐ शुद्ध चिदस्मि"

भूतमें जितने सिद्ध हुए अथवा होंगे, सब सम्यक्त्वके ही कारण हुए हैं । अपने आपमें इस भावनाको अधिकसे अधिक विचारो कि मैं चैतन्यस्वरूप हूं, सब बाह्य पदार्थोंसे न्यारा हूँ । मैं अपने लिये अपने आप अपनेमें परिणमता रहता हूं । मैं किसीको नहीं परिणमा सकता और न मुझे ही कोई परिणमा सकता है । मेरे ये सब परिणमन मेरे हैं, अन्य द्रव्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार विचार करके अपनी स्वभाव दृष्टिसे अपने परिणामोंकी निर्मलताको बढ़ाया जावे तो जीवन सफल हो जावे । मनुष्य-भव और भी पाये होंगे, परन्तु जितना समय इन विकल्पोंसे रहित स्वानुभवमें रहे, वह समय सार्थक है । वह आत्मा और वह समय धन्य है, जिसकी कृपासे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है । जब तक इस जीवको स्वयं बुद्धताके कारणसे अथवा बोधित बुद्धताके कारणसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है, तब तक यह जीव ज्ञानकी उपासना नहीं कर सकता है ।

शंका:—इन कारणोंके मिलनेके पहले क्या जीव अप्रतिबुद्ध ही रहा ? समाधान:—हाँ जब तक जीवको स्वयं बुद्धता या बोधितबुद्धताके कारणसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है, तब तक जीव अप्रतिबुद्ध ही रहता है । यहाँ पुनः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कितने काल

तक जीव अज्ञानी रहता है ? इसके समाधानस्वरूप आचार्यदेव कहते हैः—

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

जब तक जीवको कर्म और नोकर्ममें यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि रहती है, तब तक जीव अज्ञानी ही रहता है । शरीर है, सो हम हैं; हम हैं, सो शरीर है; अज्ञानी ऐसा विचार नहीं करता है क्योंकि ऐसा सोचनेमें उसने दो की सत्ता तो मान ही ली, अज्ञानी तो वह है जिसे देह आत्मा एक ही दिखता । दो की सत्ता माने तो विवाद सिर्फ इसपर रह गया कि जो हम हैं, सो शरीर है; जो शरीर है, सो हम हैं क्या यह ठीक है ? किसी भी रूपमें यहाँ दो की सत्ता वाली बुद्धि अज्ञानीमें नहीं है । वह तो "है" ऐसा समझता है । इस तरह तो ज्ञानी ही समझाया करता है ! अज्ञानी तो जैसी ज्ञानीने भूल बताई वैसा करता है । अज्ञानी के तो तर्कणाओंका भी ख्याल नहीं रहता है । वह तो शरीरको आत्मा मानता ही है । जब तक यह जीव कर्म और नोकर्मको 'यह मैं हूं' ऐसा मानता है, तब तक जीव अज्ञानी रहता है । जैसे — घड़ा उसे कहेंगे, जो बीचमें मोटा, नीचे सकरा, ऊपर पतला-सा हो, उसे प्रतिबुघ्नोदराकार कहते हैं । घड़ेमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण भी है । घड़ेमें नवान्ध (नये घड़ेकी गन्ध) तो आती ही है, रस भी उसमें आता है, रूप और स्पर्श प्रत्यक्ष हैं ही । जिन आकारमेंके रूपके स्कन्धोंसे यह घड़ा बना है, वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमय हैं ।

घड़ा अलग हो, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण अलग हों, ऐसा नहीं है । घड़ेका आकार अलग हो और घड़ा अलग हो, ऐसा भी नहीं है । जो ये स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि हैं, वही घड़ा है । ये गुण घड़ेसे अलग नहीं हैं । शरीर और आत्माके विषयमें अज्ञानीकी बुद्धिमें भी ऐसा है कि जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्शमें यह घड़ा है । ठीक इसी प्रकार अज्ञानी शरीर आत्मामें मानता है । उसमें इतना दिमाग नहीं कि वह शरीर और आत्माको अलग-अलग मान सके । यह शरीर ही मैं आत्मा हूं, ऐसा भेद करनेकी भी उसमें ताकत नहीं है । जैसी हम लोगोंकी इन चीजोंमें घड़े आदिकमें धारणा होती है, उसी प्रकारकी रागद्वेष मोहादिमें अज्ञानीकी धारणा होती है । ज्ञानावरणादि आठ कर्म किसीको दिखाई नहीं देते, अतः उन पर कोई विश्वास नहीं करता है । राग द्वेष मोहादि तो अपनेको समझमें आ जाते हैं, कर्म के कार्य तो समझमें आते हैं । विभावोंमें आत्मबुद्धि करना कर्ममें आत्मबुद्धि है ।

**अनात्मामें आत्मबुद्धि करना ही निज प्रभुपर अन्याय है**—कर्म (राग-द्वेष-मोहादि) में और नोकर्म (शरीरादि) में अज्ञानी मानता है कि यही मैं हूं । इस आकार और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शरूप यह घड़ा है, यह तो दुनिया जानती है । अज्ञानी, पुद्गलोंके परिणमनों को, 'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता है । ये परिणमन आत्माको दबाने वाले हैं ।

जैसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण ये भाव हैं. उनमें यह घड़ा है—इसमें दो की कल्पना नहीं है वहां तो ठीक है, किन्तु यहां यह जीव शरीरके प्रति यह मैं हूं और मैं हूं मानता रहेगा; तब तक वह अज्ञानी है। यह तो ज्ञानीकी भाषामें कहा जा रहा है कि अज्ञानी शरीरको आत्मा मानता है। अज्ञानीकी भाषामें ऐसा विचार नहीं है कि यह शरीर है ना, सो ही मैं हूं क्योंकि शरीरका व आत्माका पृथक् पृथक् अस्तित्व ही अज्ञानीकी समझमें नहीं है तो फिर वह अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी स्थापना कैसे करेगा ? अज्ञानी तो मानता है कि मैं हूं। वह किसे "मैं" मानता ? यह ज्ञानी पुरुष बतला रहे हैं कि वह शरीरको "मैं" मानता है। वह शरीरको "मैं" ऐसी एकत्व बुद्धिसे मानता है जैसे कि लोकमें घड़ा उसके रूप, रस, आकारादिसे भिन्न कुछ नही दिखता और घड़ेसे भिन्न रूप, रस आकारादि कुछ भिन्न नहीं दिखता। वह ही घड़ा है ऐसा एकत्व जैसा वहाँ है तैसा एकत्वरूप उपयोग बहिरात्माने शरीरमें किया है। हमारी दृष्टिमें "जब तक हम आत्मामें आत्मज्योति नहीं पा लेते तब तक सामायिकका काल पूरा नहीं होता है" हम मानते हैं कि यदि आत्मामें परद्रव्योंसे घृणा नहीं हुई, तो चाहे २४ घण्टे दिखाऊ सामायिक करते रहो, कुछ नहीं होना है।

यद्यपि यह आत्मा ज्ञानमय है, लेकिन जब तक यह जीव ज्ञानकी उपासना नहीं करता, तब तक वह अज्ञानी ही बना रहता है। उसके लिये "पानीमें घुसे हो, फिर भी प्यासे हो" यह कहावत चरितार्थ होती है। यह आत्मा ज्ञानमय है, फिर भी अज्ञानके कारण यह जीव ज्ञानकी उपासना नहीं कर पाता है।

मोहादिक भाव व शरीरादिक परपदार्थ ये सब आत्मतिरस्कार करने वाले हैं, पुद्गलके परिणाम हैं अर्थात् विभाव तो पुद्गल उपाधिके निमित्तसे होने वाले परिणाम (फल) हैं और शरीरादि पुद्गल स्कन्ध है ही। इन सबमें अज्ञानी जीव ऐसी बुद्धि करता है कि ये ही मैं हूँ और मैं ही ये सब हैं। ऐसा स्व-परमें अभेदानुभवन जब तक रहेगा तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध है अर्थात् अज्ञानी है।

ज्ञातापन = स्व और परके भेदका प्रकट हो जाना तथा प्रत्येकको स्वतन्त्र, सम्बन्ध रहित व जैसा जिसका स्वरूप है वैसा जानना सो ज्ञातापन है। जब कभी ऐसा अनुभव आ पड़ता है कि मेरे आत्माका तो ज्ञातापन स्वभाव है कि परसे उपेक्षा हो ही जाती है। जानने और रागद्वेषमें अन्तर है। जानने के समयमें भी आत्माके ज्ञेयाकार होता है, फिर भी ज्ञेयाकारकी पकड़ न होकर ज्ञानाकारका अनुभवन ही है। जब जीव यह समझ लेता है कि मेरा तो ज्ञातृता ही स्वभाव है, यह सब पौद्गलिक ठाठ है, ऐसा अनुभव जब आ पड़ता है, तब जीव ज्ञानी कहलाता है।

**स्वभाव-भावनाके अभ्याससे योग्य हुई आत्मभूमिकामें स्वयं स्वानुभव होता है—**

प्रयत्न करनेसे स्वानुभव नहीं होता है। जहाँ तक विकल्प आया करते है, वहाँ तक यत्न चलता है। स्वानुभव निर्विकल्प अवस्था है, अतः उसमें यत्न नहीं चलता है। जो निर्विकल्प स्थित है, उसमें यत्न नहीं होता है।

आत्माका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जुदा और शरीरका जुदा है—आदि बातोंसे भेद-विज्ञान हो जाये तो आत्मानुभव आ पड़ता है। प्रश्न—स्वानुभव स्व-निमित्तसे होता है या पर-निमित्तसे ? उत्तर—वस्तुतः वह स्वतः ही होता है, निमित्त दृष्टिसे स्वतः परतो वा—स्वानुभव स्वतः भी होता है परतः भी। निमित्त दृष्टिसे किसी जीवके स्वतः हो जाता है, किसीके परतः होता है, निश्चयतः तो सभीके स्वतः ही होता है। मेरा स्वरूप ज्ञातृता है; रागद्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, आत्माका और शरीरका अत्यन्ताभाव है, आदि वस्तुत्वभावना से निर्विकल्पताकी योग्यता होती है, कर्म मैं हूँ—यह चर्चा तो छोड़ो, मेरा तो स्वरूप ज्ञातृत्व ही है। जैसे—एक दर्पण है। उसमें निजी स्वच्छता है। वह अपनेमें स्वच्छतारूपसे परिणमता रहता है। उसके समक्ष जो पदार्थ आ जाता है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें झलक ही जाता है। यदि अग्नि ही सामने आ जाये तो भी दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब आ ही जाता है।

रागद्वेष बुरे हैं। फिर भी राग-द्वेष वहीं आ सकते हैं जहाँ चैतन्य महाशक्ति हो। दर्पण, जो अपनी स्वच्छता रूपसे परिणमा था; अग्निका प्रतिबिम्ब उसमें आनेसे क्या अग्नि का स्वरूप दर्पणमें चला गया ? नहीं, अग्निका स्वरूप अग्निमें ही है। दर्पण ठंडा है, फिर भी अग्नि उसमें दिख रही है। दर्पणकी स्वच्छताके परिणमनसे यह अग्निकी प्रतिकृति उसमें आ गई तो आ जाओ; अग्नि अपनी जगह और दर्पण अपनी जगह है। दर्पणने अग्निका निमित्त पाकरके ऐसा परिणमन बना लिया। दर्पणका स्वरूप स्वच्छता है, उष्णता या ज्वाला उसका स्वरूप नहीं है। उष्णता तो अग्निका स्वभाव है। इस प्रकार अरूपी इस आत्माका ज्ञातृता ही स्वरूप है। कर्म और नोकर्म पुद्गलकी चीज है। जीवको जब यह अनुभव हो जायेगा, तभी वह ज्ञानी हो जायेगा। यह अनुभव भेद-विज्ञानसे होता है। स्वानुभव मनुष्य क्या तिर्यंचोंके भी हो सकता है।

**आत्मज्ञानका प्रयत्न व साधन करते रहो**— ध्यानसे सुना उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता है। उपदेश इस भवमें कार्यकारी न हो तो अगले भवमें कार्यकारी हो सकता है। वस्तुतत्त्वके उपदेशसे शरीर और आत्मामें भेद-विज्ञानका अनुभव हो जाये तो जीव ज्ञानी बन जाता है और ज्ञानकी उपासना करने लगता है। मैं तो ज्ञानी ही रहूँगा, सार शान्ति जो कुछ है, वह आत्माके यथार्थ ज्ञानमें है। आत्मज्ञान है तो अपने पास विश्वकी समस्त निधियां हैं, आत्मानुभवके बिना अपने पास कुछ नहीं है। जिनके अनुभवमें यह चीज

आयेगी उन्हींको लाभ होगा। यह आत्मा तो किसीका कुछ नहीं कर सकता। ऐसी भेद-विज्ञानकी झलक-अनुभव पैदा हो तो संसारकी संतति (राग-द्वेष-मोह) आदिका छेद हो जायेगा।

जिस ढंगसे भी हो इस नरभवमें कष्ट सहकर भी भेद-विज्ञानकी झलक द्वारा जो अविचलित आनन्दको प्राप्त करते है, वे अपनेमें अचलित हो जाते हैं। उनको कोई आकुलता नहीं होती है। लेकिन विषयोंके सुखमें तो आकुलता होती है, उसे मोही जीव फिर भी नहीं छोड़ता है। जैसे—इत्रको निरन्तर सूंघते रहने पर सूंघने वालेका मन इत्रको ओरसे हट जाता है। रूपको निरन्तर देखते रहने पर आँखें थक जाती हैं। किसी रूपको अधिक देर तक नहीं देख सकते हैं। नाच गाना सुननेमें भी आकुलता हो जाती है। इन इन्द्रियोंके सुखोंमें जीवको आकुलता ही रहती है, परन्तु इस भेद-विज्ञानकी झलकमें तथा आत्मानुभवमें आकुलता नहीं होती है। यदि जीव अनुभवसे च्युत भी हो जाये तब भी उपयोग उसीमें लगा रहता है। उसमें अकुलाहट नहीं होती है। जिसने स्वका अनुभव प्राप्त कर लिया है. वे दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह सदा अविकारी ही रहते हैं।

अहो अध्यात्मयोगियोंकी देशनाओ! तुम जयवंत प्रवर्तो। हे अलौकिक शरणभूत गुरुवृन्द! तुम्हारा आभार मेरा कल्याण करे। चिरकालकी तपस्या और अनुभूतिके परिणाम स्वरूप जिन्होंने आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कर ली है, ऐसे संत करुणा करके बताते हैं कि हे आत्मन्! तू स्वरसतः ज्ञानानन्दरस निर्भर है। तुझे किसी परपदार्थकी अटक नहीं है। तू अपने ध्रुव चैतन्यस्वभावमें उपयुक्त रह, अपने स्वभावके साथ ज्ञानोपयोगकी एकता कर। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, शुद्धसत्ताक है। अतः किसी भी द्रव्यसे किसी भी अन्य द्रव्यका परिणमन नहीं होता है। तेरा जो कुछ भी हो रहा, तेरेसे हो रहा है। जब तू अपने स्वभावका उपयोग छोड़कर बाह्य पदार्थके सम्बन्धमें संकल्प विकल्प करता है तब तू क्लेशका अनुभव करता है। बाह्य पदार्थ तेरे दुःखके हेतु नहीं हैं, सुखके भी हेतु नहीं हैं, आनन्दके भी हेतु नहीं है।

**आत्मज्ञानी ही समृद्धिवान है, अज्ञानी ही दरिद्र है:**—कल यह बताया था कि अज्ञानी शरीरको आत्मा कैसे मानता और रागद्वेष आदिको आत्मा कैसे मानता? वह अज्ञानी अपने अज्ञानको सम्भालता है, ज्ञान करता है, जो ज्ञान करता है वह तो आत्मा है और उसकी मलीमसता आत्मा नहीं है। दर्पणको देखनेसे दर्पणमें यदि अग्निका प्रतिबिम्ब दीखे तो दर्पणकी शुद्धता नष्ट नहीं हो जायेगी या दर्पण गर्म नहीं हो जायेगा। दर्पणकी शुद्धता दर्पणमें रहेगी, और अग्निकी उष्णता अग्निमें ही रहेगी, दर्पणमें नहीं चली जायेगी। अज्ञानी जीवको कर्म और नोकर्ममें साक्षात् बोध हो जाता है कि यह मैं हूं। जैसे लोकमें

किसीसे यह कहा जाता है कि जैसे भी बने, यह काम कर लो, इसी प्रकार यहां आचार्य देव कहते हैं कि जैसे भी बने, आत्मज्ञान कर लो। किसी प्रकारसे जब तक यह जीव यह अनुभव करता है कि मैं अपने परिणमनको ही कर सकता हूं, समस्त द्रव्योंका परिणमन उन्हीं में होता है। मेरा स्वरूप ज्ञायक भाव है, चैतन्यमात्र है, अमूर्त है, इस प्रकारके विकल्पोंके बाद यदि स्वयं अनुभव करे, तथा इस स्थितिको स्वयं या परके उपदेशसे पा ले तो यह अनुभव चलायमान नहीं होता है। यह अनुभव भेदविज्ञानके प्रभावसे मिलता है। भेद-विज्ञान यह जाननेसे होता है कि ये जीव अपनेमें परिणमते है, मैं अपने स्वरूपमे परिणमता हूं। इस अखण्ड सत्का प्रत्यय हो जाता है। पश्चात् पर्यायमे आत्मबुद्धिको वह साधक छोड़ देता है।

ज्ञानमें सभी पदार्थ आ जाते हैं। ज्ञानमें किसी चीजका आना या न आना यह स्वभावविकासके ऊपर या ज्ञानकी कमी या अधिकताके ऊपर निर्भर है। सत् कुछ जाननेमें आया और कुछ नहीं आया—यह ज्ञानकी अपूर्ण अवस्था है। पदार्थोंका ज्ञान होनेसे आत्मामें कोई अड़चन नहीं पड़ती है। जैसे—दर्पणमें अग्निका भी प्रतिविम्व आ जाये तो भी वह गर्म नहीं होता है, उसी प्रकार आत्माके ज्ञानमें जगतके समस्त पदार्थ भी आ जायें तो भी आत्मा अविकारी बना रहता है। जैसे—ज्ञानमें अनेक पुरुष दिख जाते हैं, तो भी ज्ञान अवि-कारी कैसे रहता है? देखो, जिन्होंने अपने स्वभावको पा लिया, वे ही अविकारी कहलाते हैं। दर्पणमें कोई चीज भी प्रतिविम्वमें आवे, तो भी वह अपनी दशा नहीं वदलता है, दर्पण दर्पण ही रहता है। उसी तरह जिन्होंने अपनी आत्माका ज्ञान किया है, उनमें कभी विकार नहीं आता है।

**ज्ञानी सर्वत्र परस्पर अत्यन्ताभाव देखता है**—शरीरसे भी असम्वद्धताका व्यवहार निरखता है ज्ञानी। यद्यपि हम शरीरसे चारों ओरसे निवद्ध हैं, तो भी यह शरीर मेरेसे भिन्न है। जिनको ऐसा अनुभव हो गया वे जीव स्वानुभवी कहलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रति समय परिणमता रहता है। यह अज्ञ जीव निज चैतन्यको आत्मा नहीं मानता, वह तो अज्ञानके कारण शरीरको आत्मा मानता है। वह शरीरमें ही सदा मुग्ध रहता है। जब तक उसे स्व और परमें एकत्वका आभास है, तब तक वह अज्ञानी है।

शंका—यह कैसे जानें कि यह जीव अज्ञानी है? इसके समाधानमें कहते हैं—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सह्मि होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदस्सावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदस्सावि होस्सामि ॥२१॥

एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

सचित्त अचित्त अथवा सचित्ताचित्त अन्य जो भी परद्रव्य हैं, मैं यह हूं, यह मैं हूं, मैं इसका हूं, यह मेरा है, यह पहिले मेरा था, मैं पहिले इसका था, यह मेरा फिर भी होगा, मैं इसका भी होऊंगा, ऐसे असद्भूत आत्मविकल्पको यह मूढ करता है परन्तु भूतार्थ तत्त्वको जानता हुआ अन्तरात्मा अर्थात् ज्ञानी आत्मा इन असद्भूत विकल्पोंको नहीं करता है, वास्तवमें यही असंमूढ है, ज्ञानी है ।

लोकमें पुद्गल तीन प्रकारके हैं— (१) सचित्त, (२) अचित्त और (३) सचित्ताचित्त । सचित्त वे हैं, जिनमें चेतनता पाई जाये । जैसे स्त्री-पुत्र, पिता माता, मित्र आदि । अचित्त पदार्थोंमें रुपया पैसा, धन, मकान आदि हैं और सचित्ताचित्तमें मौहल्ला, गाँव, शहर, देश आदि हैं । चेतन और अचेतनका समुदाय देश आदि हैं, अतः इनको मिश्र कहा है ।

इस प्रकारके पदार्थोंमें जो ममत्व बुद्धि रखता है, उसे अज्ञानी कहते हैं । साधुओंके पास सचित्त, अचित्त और मिश्र पदार्थोंका परिग्रह है । जैसे शिष्य (सचित्त) शास्त्र, पीछी, कमण्डलु आदि (अचित्त) और पुस्तक सहित शिष्य (मिश्र) परिग्रह है । परन्तु वे व्यवस्थित चित्त होनेसे ज्ञानी कहलाते है । यह मैं हूँ, मैं यह हूँ, यह मेरा है, मैं इसका हूँ, इस प्रकार आत्मासे भिन्न परद्रव्योंमें जब तक जीवकी बुद्धि मोहित रहती है, तब तक वह अज्ञानी, मोही, मूर्ख कहलाता है ।

**किसीके स्वरूपमें किसी अन्यका न स्वागत है न दुरागत है**—किन्हीं पदार्थोंका कभी समागम नहीं हो सकता है । सब पदार्थ एक दूसरे पदार्थसे भिन्न हैं । सैंकड़ों इस संसार स्थली पर आते हैं और हाथ पसारे चले जाते हैं । किसीके साथ कुछ नहीं जाता । दुनियाको अच्छी या बुरी करामात दिखा जाते हैं । अच्छे परिणाम किये, अपना ही अच्छा किया, बुरे परिणाम किये, अपना ही बुरा किया । तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुष कभी मोहमें नहीं फंसे । जीवके दुःखका कारण मोह ही तो है । रागमें स्नेह तो होता है, परन्तु मोह-रहित रागमें यह मैं हूं, यह मेरा है, ऐसी प्रतीति नहीं होती है । मोहमें ही ऐसी प्रतीति होती है । मोहका सम्बन्ध अज्ञानसे अधिक है । अप्रमत्तमें भी राग होता है, परन्तु बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है । सम्यग्दृष्टि मोही नहीं होता है । मोहकी पहिचान है कि रागमें राग करना । राग उत्पन्न हो रहा है, उसमें वियोग-बुद्धि किये रहो तो उसमें राग नहीं है । महाराज, बड़ा आनन्द है—यह मोहका वचन है । राग करता हुआ सम्यग्दृष्टि रागको विपत्ति समझता है । मिथ्यादृष्टि रागको आपत्ति नहीं मानता है । चौथे गुणस्थानके बाद रागकी

ऐसी स्थिति नहीं रहती है। जैसे गुरु पासमें रहने वाले शिष्य, पीछी, कमण्डल आदिसे मोह नहीं रखते, उसी प्रकार गृहस्थ, स्त्री, पुत्र, धन वैभव आदिमें मोह नहीं रखता। वह राग आया तो राग क्यों आया, ऐसी वियोगबुद्धि भाता है। निर्मल परिणाम बनाये रखनेके लिये साधुको कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है। गृहस्थको निर्मल परिणामोंके बनानेमें कठिनाई पड़ती है क्योंकि उसके बाह्यमें परिग्रह सम्बन्ध है। जो भाव साधुका रहता है, वही भाव सम्यग्दृष्टि गृहस्थका रहता है। गृहस्थ भी साधुकी तरहसे परिग्रहमें वियोगबुद्धि रखता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और साधुमें भावोंकी जातिकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। भाव दोनोंके समान हैं। सम्यक्त्वकी महिमा अपार है।

**जो गृहस्थ सम्यग्दृष्टि है उसकी लीला भी अपार है**—यद्यपि साधु और गृहस्थमें अन्तर है, तो भी सम्यक्त्वकी अपेक्षासे दोनों एकसा कार्य कर रहे है। अनात्मामें आत्मत्व की श्रद्धा न साधुके है, न गृहस्थके है। तीन ही प्रकारके परिग्रह हैं--अतीत, वर्तमान और अनागत। अतीतमें ज्ञानी विशेष बुद्धि नहीं डालता। मृत प्राणीके प्रति अज्ञानी लोग ऐसे रोते है कि मलते-मलते आँखें भी खराब हो जाती हैं। जो मर गया, वह हमारा कुछ नहीं करता था, अपने ही परिणामोंकी चेष्टा करता था। अतीतका रोना अज्ञानियोंके होता है। ज्ञानी भविष्यका भी परिग्रह नहीं रखता है, वह बाह्यकी आकांक्षा ही नहीं करता, इसलिये वर्तमानमें वियोगबुद्धि बनाये रक्खे कि इससे मेरा कब पिण्ड छूटे आदि बातें सम्यक्त्वके कारण ही आती है। बनायेसे परिणाम नहीं बनते। शरीरका और वचनका काम तो (निमित्त दृष्टिसे) कियेसे हो सकता है, लेकिन परिणाम तो जो हो गया सो हो गया, नहीं हुआ तो नहीं हुआ। पुरुषार्थ करनेके बाद परिणामोंकी निर्मलता होती है। ज्ञानात्मक यत्न करो तो निर्मल परिणाम होते है। क्रियात्मक पुरुषार्थसे निर्मल परिणाम नहीं होते। क्रिया भी करो तो ज्ञानात्मक पुरुषार्थसे न चूको। आजकल ज्ञान करनेके लिये भी समय चाहिये। खाना पीना, संग्रह करना यह सब पर्यायकी सेवा है। आत्माकी सेवामें समय अधिक लगाना चाहिये, यदि आत्माकी बात मुख्य है तो आत्माकी सेवामें अधिक समय लगता है। और शरीरको यदि प्रधानता दो तो शरीरकी सेवामें अधिक समय लगता है। आत्मा मुख्य है, अत: आत्माकी सेवामें अधिक समय लगाना चाहिये।

यह मेरा है, यह मेरा पहिले था, अब दूसरेका हो गया है। हम ऐसे थे कि हमारे दरवाजेपर हाथी झूमा करता था। रोज १०० जूते हमारे दरवाजेपर निकलते थे, आदि यह सब अतीत कालका परिग्रह है। जब 'मेरा था' का ख्याल आता है, जल्दीसे आँसू टपकने लगते हैं। यह सब अतीत कालका परिग्रह ही तो है। जो गुजर गया, उसीका ध्यान बना रहनेको अतीत कालका परिग्रह कहते हैं।

**अब भविष्यत्कालके परिग्रहको व उसके विप्रतिषेधको कहते हैं**—मैं इसका अमुक बनूंगा, यह मेरा भाई बनेगा, वह मेरी स्त्री होगी, आदि भविष्यत्कालका परिग्रह है। सगाई होनेपर ही लोग रिश्ता लगा लेते हैं। सगाई न हो, तब भी सोचने लगते हैं कि यह मेरा फलाना होगा। यह सब भविष्यत्कालका परिग्रह ही तो है। सब लोग ऊपरसे ह मोह दिखाते हैं, अन्तरंगसे कोई मोह कर ही नहीं सकता। मोह दिखावटी ी होता है। हमने तुमसे मोह किया तो मोह पर्याय हमारी ही हुई, अतः हमारा मोह तुम्हारेमे जा ही नहीं सकता। अतः सबसे मोहमे कपट व्यवहार ही होता है। निश्चयसे मोह कोई किसीसे कर ही नहीं सकता। हमारा राग हमारेमें ही सीमित रहेगा। सब स्वार्थके साथी हैं। यदि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका परिणमन करते तो द्रव्य ही नहीं रहेगा। मोही जीव अपने सही धंधेमें लगा हुआ है, नहीं तो मोह ही मिट जाता। मोही मोहकी बात कर सकता है। यदि मोही ज्ञानकी बात करदे तो सारे शास्त्र झूठे हो जायेंगे। मोह मोहियोंको डटकर होता है। इसी तरह ज्ञानी मोहकी वात नहीं कर सकता है। अपने ही अपने काममें लगा रहना यह ठीक है। यद्यपि चीज ऐसी नहीं है कि किसीका कुछ लग जाय तथापि मान्यता मोहीकी ऐसी है, अतः मोहीका मिथ्या विकल्प कहलाया।

भगवान् यदि अपनी शान मारें कि हमारा ज्ञान अनन्त है तो मोही कहेगा कि हमारा दुःख अनंत है। उनका तो सीधा-साधा रोजगार है, किन्तु हमारा विकल्प करनेका टेढ़ा रोजगार है, फिर भी हम नहीं घबराते हैं। सर्वत्र आत्माकी लीला अचिन्त्य है। जिस शक्तिका अपव्यय मोही मोहमें करता है, यदि उसी शक्तिका उपयोग ज्ञानमें करे वह भी ज्ञानी बन सकता है। दृष्टि फिरना भर है। यदि दृष्टि फिर गई तो सब कुछ ठीक दिखने लगेगा।

**आत्माका बड़प्पन तत्त्वज्ञानसे है**—बहुतसे लोग कहने लगते हैं कि यह १८ वर्षका हो गया, परन्तु इसे अभी तक अकल नहीं आई, ऐसी चिन्ता उनको लगी रहती है। परन्तु आत्माका बड़प्पन आयुपर अवलम्बित नहीं है, उसका बड़प्पन उसकी करनीपर अवलम्बित है। जो परपदार्थोमें विकल्प करता है, वह अज्ञानी है। जो स्वतःसिद्ध तत्त्वको जानता है, वह ज्ञानी है। वह इन विकल्पोंको नहीं करता है। पुत्र मित्रादि कभी साथी नहीं हो सकते। धन पाकर गर्व न करना, यह कुछ चीज नहीं है, ये सब असार चीज हैं, अस्थिर हैं, पर हैं, इनसे हितकी सम्भावना नहीं है। ज्ञानी जीव ऐसी श्रद्धा परपदार्थोंमें रखता है। जो पदार्थोको स्वतन्त्र-स्वतन्त्र निरखते हैं, वे ही ज्ञानी हैं।

मनको शुद्ध करनेसे ही मन शुद्ध होता है, कहनेसे नहीं। जब तक मोहीमें मोह है, तब तक शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माका अनुभव नहीं कर सकता है। प्रयत्न ज्ञान सीखनेमें

करो। अज्ञानमें अज्ञानमय भाव होता है और ज्ञानमें ज्ञानमय भाव होते हैं। अज्ञानी जब तक यह सोचता है कि यह मेरा है, मैं इसका हूं, तभी तक वह अज्ञानी है।

**अज्ञानी जीवकी पहिचान**—अज्ञानी जीवकी क्या पहिचान है कि यह अज्ञानी है? जैसे कोई अग्निको ही ईंधन या ईंधनको ही अग्नि समझता है या ईंधनमें लगी हुई अग्नि को एक समझता है तब तक वह अज्ञानी है। क्यों भैया! ईंधन और आग क्या चीज है? ईंधन अलग चीज है, अग्नि अलग। वे एक नहीं हो सकते हैं। जो आकार दिखाई दे रहा है, वह ईंधन है। गर्मीके ढंगसे जो जाननेमें आ रहा है, वह अग्नि है। अग्निका ईंधन है या ईंधनकी अग्नि है, यह जो कहे वह अज्ञानी है। क्योंकि किसीका किसीमें स्वामित्व हो ही नहीं सकता। अतएव सम्बन्धको कारकोंकी श्रेणीमें नहीं रक्खा है। पृथक्-पृथक् दो वस्तुओंमें सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। किसीका कुछ है, ऐसा सम्बन्ध नहीं होता है। इस आत्माका यह आत्मा या पदार्थ कुछ है. ऐसा मानना अज्ञान है। संयोग सम्बन्ध नामकी कोई चीज ही नहीं है, फिर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जैसे—यहाँ अंगुलीसे अंगुलीका सम्बंध है। लेकिन वास्तवमें अंगुलीका अंगुलीसे सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनमें सम्बन्ध परिणमन ही नहीं है। यदि उनमें सम्बन्ध होता तो अलग होनेपर भी सम्बन्ध उनमें दिखाई देना चाहिये था। किसी चीजका किसी अन्य चीजसे सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध तो हमारे दिमाग में बसा है, जिससे हम कुबुद्धि कर लेते हैं कि अमुकका अमुकसे सम्बन्ध है। जो चीज किसी आकाश प्रदेशपर है, उसीके पास वाले दूसरे आकाश प्रदेशपर दूसरी चीज हो तो उनमें हम लोग सम्बन्धकी कल्पना कर लेते हैं। पदार्थमें सम्बन्ध नहीं है, हाँ, निमित्तनैमित्तिक भाव तो कोई चीज है परन्तु सम्बन्ध नामकी कोई चीज ही नहीं है। ईंधनकी अग्नि, कंडे की आग, यह सब अज्ञानीकी भाषा है। ईंधनका ईंधन होता है, आगकी आग होती है। यद्यपि हमें यह बोलनेमें अटपटासा लगता है, क्योंकि हमें इस प्रकार बोलनेका मुहाविरा नहीं है तथा आवश्यकता भी नहीं है।

अग्निका ईंधन था, ईंधनकी अग्नि थी, यह भूत सम्बन्ध विचार है। ईंधनमें असद्-भूत अग्नि है। जो जल सके उसे ईंधन कहते है, जो जल रहा है उसे आग कहते हैं। ईंधन और अग्निका सम्बन्ध मानने वाले जीव अज्ञानी हैं। सम्यग्दृष्टि भी यही कहता है, हमारा बच्चा तुमने देखा है क्या? किन्तु श्रद्धा यही करेगा कि यह मेरा नहीं है। क्योंकि बच्चेका परिणमन बच्चेमे है, मेरा परिणमन मुझमें है। मैं बच्चेका कुछ नहीं कर सकता, बच्चा मेरा कुछ नहीं कर सकता। जिस प्रकार ईंधनमें असद्भूत अग्निकी प्रतिष्ठा करने वाला अज्ञानी समझा जाता है और ईंधन व अग्निका विलक्षण स्वरूप मानने वाला ज्ञानी समझा जाता है इसी प्रकार कर्म नोकर्ममे आत्माकी प्रतिष्ठा करने वाला अज्ञानी समझा

जाता है और यह मैं नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है, इस प्रकारका विलक्षण विलक्षण स्वरूप देखकर विचार करने वाला सम्यग्दृष्टि समझा जाता है।

**परद्रव्यमें मैं कुछ नहीं करता**—तीन प्रकारकी पर्याय होती है--(१) सचित्त (लड़के, पुत्र, कलत्र, मित्र, भाई, बहन), (२) अचित्त (मकान, रुपया, पैसा, धन, दौलत आदि) (३) मिश्र-सचित्ताचित्त (नगर, मौहल्ले, देश आदि) इन तीनोंको सामने रखकर यह मैं हूं, मैं यह हूं, ऐसी बुद्धि जो करता है, वह अज्ञानी समझा जाता है। इसका मैं हूं, यह मेरा है, ऐसी बुद्धि जो करता है वह अज्ञानी है। इन सबकी स्वतन्त्र सत्ता है इनका परिणमन इनमें है, मेरा परिणमन मेरेमें है। यदि हमारा परिणमन अन्यमें होता तो पता नहीं क्या-क्या हो जाता? परवस्तुके आप स्वतन्त्र कर्ता नहीं हैं, आप अपने स्वतन्त्र कर्ता हैं। ऐसा विचार सम्यग्दृष्टि करता है। यह मेरा है, जो ऐसा विकल्प करे वही अज्ञानी है। इसका मैं ससुर था, यह मेरा था, यह सब अज्ञान ही तो है। यह मेरा था, यह फिर मेरा होगा, इस प्रकार परद्रव्यमें असद्भूत आत्माका अज्ञानी जीव विकल्प करता रहता है, करता रहेगा, करता था। 'गा', 'था', 'है' ये ही तो जीवको इस संसारमें भटकाने वाले हैं। भूत, वर्तमान और अनागतमें ममताकी दृष्टिसे दुःख ही दुःख है, परद्रव्यमें कोई कुछ कर ही नहीं सकता। क्या अज्ञानी सदा अज्ञानी ही बना रहेगा? नहीं, जब उसकी बुद्धि सही मार्गपर लग जायेगी, परपदार्थोंमें अनासक्त रहेगा तो ज्ञानी कहलायेगा। अग्नि ईंधन नहीं है, ईंधन अग्नि नहीं है, यह प्रतिभास ज्ञानीको होता है। ईंधनकी अग्नि, घीका डिब्बा आदि प्रतिभास अज्ञानीको होता है। अग्नि अग्नि है, ईंधन ईंधन है, अग्निकी अग्नि है, ईंधनका ईंधन है—यह कहना अटपटा-सा लगता है, किन्तु तथ्य यही है। दो में भी कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, एकमें सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्धको कारकोंकी श्रेणीमें ही नहीं रक्खा। अग्निकी अग्नि है, इसका कोई अर्थ नहीं होता, फिर भी ईंधनकी अग्नि नहीं है, इसको समझानेके लिये वैसा कहा गया है। व्यवहारमें निमित्तका प्रयोग होना पड़ता। व्यवहार धर्मके लिये भी तो देख लो कितना आलम्बन बनता है?

व्यवहार धर्मकी नींव मूर्तियां हैं:—संसारमें आजकल जितने भी धर्म चल रहे हैं, सब मूर्तिको माननेके बलपर टिके हुए हैं। मूर्ति न होती तो वे आश्रयविहीन होकर सब समाप्त हो जाते।

प्रश्न:—संसारमें इस समय ऐसे भी धर्म चल रहे हैं, जो मूर्तिको नहीं मानते, अपितु मूर्तिको माननेका विरोध करते हैं, तो उनका धर्म कैसे चल रहा है?

उत्तर:—जो मूर्ति नहीं मानते, उनका धर्म भी मूर्ति मानने वालोंके बलपर चल रहा है। यदि मूर्ति मानने वाले नहीं हैं तो विरोध किसका करेंगे? जैसे कि जिन प्राणियों

का धर्म है, मूर्ति न मानना, मूर्ति माननेका विरोध करना, मूर्तिका अपमान करना, मूर्तिको खण्डित कर देना, तो यह भी उनका खण्डनरूप धर्म ही तो चला । बिना मूर्तिके वे किसका खण्डन करने ? जो ऊंचे साधु हैं, खूब ज्ञानी हैं, वे अवश्य उस सिद्ध भगवान्की अशरीरिता का व चेतनके चैतन्यका विचार करके धर्म पा लेते हैं । लेकिन वे तो प्रारम्भमें मंदिरमें जाते होंगे, मूर्तिको मानते होंगे, पूजा करते होंगे आदि । प्रारम्भमें ही निश्चयनयकी बात कोई नहीं जान सकता, पहले उसे व्यवहारनयका ही आश्रय लेना पड़ा । यदि मूर्ति मानने वालों का धर्म जीवित है, उसको न मानने वालोंका भी जीवित रह सकता, क्योंकि एक वर्गके लोग मूर्तिको मानेंगे, विरोधी पक्ष मूर्तिका विरोध करेगा ही । इस प्रकार मूर्तिके बलपर ही दोनों धर्मोंकी सत्ता रहेगी ।

अग्निका ईंधन नहीं था, न ईंधनकी आग थी, अग्निकी अग्नि ही थी, ईंधनका ईंधन । अग्निका ईंधन नहीं होगा, ईंधनकी अग्नि नहीं होगी । अग्निकी अग्नि ही रहेगी, ईंधनका ईंधन ही रहेगा । अग्निकी अग्नि ही रहती है, अग्निका ईंधन नहीं हो सकता । ईंधनका ईंधन ही रहेगा, ईंधनकी आग नहीं हो सकती । इस प्रकारकी जिस जीवकी बुद्धि रहे जैसे वह ज्ञानी है । इसी प्रकार यह मैं नहीं हूं, मैं यह नहीं हूं, मैं इसका न था, यह मेरा न था, मैं इसका न होऊंगा, न यह मेरा होगा, मैं मैं ही हूं, यह यह ही है, यह इसका ही है, मैं मेरा ही हूं, मैं मेरा था, यह इसका था, मैं मेरा रहूंगा, इसका यह ही रहेगा—ऐसी प्रतीति वाला पुरुष (जीव) ज्ञानी है । सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है । क्योंकि सत् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे अलग-अलग हैं और अलग-अलग परिणमते हैं । स अपनी अपनी पर्यायोंमें ही प्रवर्तते हैं । हम तो किसीका कुछ करनेके लिये कषायोंकी चेष्ट मात्र कर सकते हैं । आज तक पिताने पुत्रका और पिताका पुत्रने क्या उपकार किया ? कुछ नहीं । पुत्रके पुण्यका उदय था, उसके पढ़ानेमें पिता निमित्त बन गया, लेकिन पढ़ा वह स्वयं, उसमें पिताने कुछ नहीं किया । कोई किसीको न सुख देता, न दुःख देता और न जीवन मरण करता है ।

**अपना ही ज्ञान अपनेको शरण है**—एक बुढ़ियाके एक लाड़ला लड़का था । एक दिन वह बच्चा विकराल कालके गालका ग्रास बना । वह रोती हुई जंगलमें जा रही थी, उसे वहाँ एक साधु मिले, साधुने पूछा—तू क्यों रो रही है ? उस बुढ़ियाने कहा—महाराज मेरा यह बच्चा इकलौता था, वही मर गया, अब मैं भी जी करके क्या करूंगी ? साधुने कहा, तू रो मत, हम तेरे बच्चेको जिन्दा कर देंगे, जो हम कहेंगे, वह कर लोगी ? बुढ़िया—हाँ महाराज, मैं अवश्य कर लूंगी । साधुने कहा—जिस घरमें कोई न मरा हो वहाँसे सरसों के दाने ले आओ । बुढ़िया घर घर गई और सरसोंके दाने माँगने लगी । लेकिन उसे कोई

भी घर ऐसा नहीं मिला, जिस घरमें कोई न मरा हो। इस प्रकार उसने पूरे भूमण्डलका चक्कर लगाया, उसे कोई भी घर इस मरण रूप व्याधिसे अछूता नहीं मिला और उसे प्रत्येक घरसे यही उत्तर मिला कि हमारे घर तो फलाना मर गया है, तो उस बुढ़ियाको ज्ञान उत्पन्न हो गया कि सभी मरते हैं, जो उत्पन्न होता है, वह अवश्य मरता है। जब इस संसारके प्राणियोंका मरना कर्म-स्वभाव है तो मैं क्यों मोहमें पड़ी हूँ ? वह साधुके पास जाकर बोली कि महाराज, मेरा निजका बच्चा जिन्दा हो गया है।

जितने दिन भी पुत्र, मित्र, कलत्र आदिका संयोग था, उस समय भी मैं उनका नहीं था, न वे मेरे थे और मैं उनका न कभी हो सकूंगा। जब ऐसा ज्ञान हो जाता है तो यह जीव प्रतिबुद्ध कहलाता है। मेरा यह नहीं है के मुकाबिलेमें मेरा मैं हूं, बोलना पड़ता है। लेकिन मैं मेरा हूँ, इसका कोई अर्थ नहीं है। बोलनेमें भी अटपटा-सा लगता है। जब मैं मेरा हूँ, अन्य बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं, यह भाव आ गया, तभी वह प्रतिबुद्ध कहलाता है।

निज आत्म द्रव्यमें सद्भूत द्रव्यका विचार करना ज्ञानीकी निशानी है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है। मैं भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप हूँ। किसी बाह्य पदार्थका परिणमन मैं नहीं कर सकता, कोई वस्तु मुझे नहीं परिणमा सकती है। मैं स्वयं अपने आपमें परिणमता हूं। परन्तु वस्तुमें ऐसी लीला है कि वह निमित्त पाकर विभावरूप परिणमती है, निमित्त बिना पाये स्वभावरूप परिणमती है, इस प्रकारका विचार ज्ञानी जीवका होता है। इस प्रकार हमें शिक्षा मिलती है कि हमारा बाह्य पदार्थ कोई नहीं है, किसीका मैं कुछ नहीं हूँ, न मैं किसीका कुछ हो सकूंगा, न मैं किसी का कुछ था, सदा ऐसी प्रतीति करना चाहिये।

**अपना घर अपना अस्तित्व है जिसमें कि तुम रहते हो उसे तो जान लो**—जब तक जीवको आत्मा अनात्माका विवेक नहीं रहता है, तब तक जीव अज्ञानी बना रहता है। आत्मा चैतन्य पदार्थ है। उसमें दो प्रकारकी शक्तियां पाई जाती हैं—(१) भाववती शक्ति और (२) क्रियावती शक्ति। भाववती शक्तिसे आत्माके गुणमें परिणमन होता है। क्रियावती शक्तिसे आत्मा एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें चला जाता है। पुद्गलमें भी ये ही भाववती और क्रियावती दो शक्तियां हैं। भाववती शक्तिसे पुद्गलके गुणोंमें परिणति होती है। क्रियावती शक्तिसे पुद्गल एक जगहसे दूसरी जगह चला जाता है। जीव और पुद्गलमें दोनों शक्तियां हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंमें केवल एक भाववती शक्ति पाई जाती है। समस्त द्रव्योंमें भाववती शक्तिसे परिणमन होता है।

प्रश्नः—जीव चैतन्य मात्र तत्त्वको शुद्ध विकासको छोड़कर उल्टा क्यों परिणम

जाता है ? जीवका जैसा स्वभाव है, उसका वैसा ही परिणमन होना चाहिये ।

समाधान:—जीवमें इस प्रकारकी भाववती शक्ति है कि निमित्त पाकर जीव, विभावरूप परिणम जाता है । निमित्त बिना पाये स्वभावरूप परिणमता है । इसी प्रकार पुद्गल भी निमित्त पाकर विभावरूप परिणम जाता है, निमित्त न पाये तो स्वभावरूप परिणमता है । भाव माने गुण है । जैसे सोनेका भाव १०७) रु० है । सोनेमें १०७) रुपये नहीं लिखा है, लेकिन सोनेके विषयमें जीवके भाव (विचार) ही सोनेका भाव है सोनेका भाव माने जीवोंके विचार । जीव जो विचार करता है, वह भाववती शक्तिसे करता है । जीव निमित्त पाये तो उल्टा परिणम जाता है, निमित्त न पाये स्वभाव रूप परिणमता है, इसे विभाव शक्ति कहते हैं ।

शंका:—जो तुमने कहा कि जीवमें विभाव शक्तिसे उल्टा और स्वभावरूप परिणमन होता है इससे तो जीवमें दो शक्तियां मानना ठीक रहेगा—(१) स्वभावशक्ति, (२) विभावशक्ति । समाधान:—(१) शक्ति द्रव्योपजीविनी है । (२) शक्ति कभी परिणमन किये बिना नहीं रहती है । शक्ति नित्य है, लेकिन परिणामी है । यदि दो शक्तियाँ मानी जाती हैं तो दोनों शक्तियोंका सदा परिणमन मानना होगा । स्वभाव और विभाव शक्ति माननी तुम्हारी कल्पना है । दो शक्ति माननेमें दोष है, क्योंकि शक्ति वह है जो सदा परिणमती रहे । जीवमें यदि दो शक्ति एक साथ रहें, तो वे दोनों युगपत् कैसे परिणमेंगी ? जीवमें स्वभाव शक्ति है, थोड़ी देरके लिये ऐसा मान लेते हैं कि विभावशक्ति संसार अवस्था में परिणमती है, मुक्त अवस्थामें नहीं तो मुक्त अवस्थामें विभाव शक्ति बेकार हो जावेगी । शक्तिका काम निरन्तर परिणमते रहनेका है, आराम करनेका नहीं । स्वभाव और विभाव दो शक्तियां जीवके माननेसे यह दोष आ जायेगा कि सिद्धोंमें भी विभाव शक्तिका तुम्हारा माना गया परिणमन पाया जाना चाहिये ।

शंका:—भाव शक्ति धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यमें भी है, वह क्यों नहीं उल्टी परिणमती ? फिर जीवमें ही क्यों उल्टी परिणमती है ?

समाधान:—प्रत्येक द्रव्यमें भाववती शक्ति है, भाववती शक्तिका यह काम है कि पदार्थके गुण सदा परिणमते रहें । जीव पुद्गलमें ही यह विशेषता है कि वे विभावरूप भी परिणम जाते । इस मर्मको बतानेके लिये भाववती शक्तिका नाम विभाव शक्ति रख दिया । पदार्थमें जो भी विडम्बना हो, उसका कोई शक्ति अवश्य कारण होती है । पुद्गल और जीवमें ऐसी भावशक्ति है कि निमित्त पाये तो विभावरूप, निमित्त न पाये तो स्वभावरूप परिणमा देती है । इसीका भाव प्रकट करनेके लिये उसका नाम विभाववतीशक्ति रख दिया । यह नाम केवल लोगोंको समझानेके लिये रखा है । यदि इसका नाम स्वभावशक्ति

रख देते तो उल्टा परिरगमन भी होता है, ऐसा भाव प्रकट न होता। वह भाववती इस ढंगकी है कि उल्टा परिरगमन भी कराती है, इसीलिये इसका नाम विभाववती शक्ति रक्खा है।

शंका:—हम तो दो शक्तियां मानते हैं—स्वभावशक्ति और विभाववती शक्ति। इससे सारा मामला साफ व स्पष्ट हो जायेगा।

समाधान:—शक्तियां दो माननेमें कितने ही दोष हैं। एक तो कार्य कारणका नाश होता है, दूसरे जीवको मोक्ष कैसे होगा ? क्योंकि विभाव एवं स्वभाव दोनों शक्तियां अपना अपना कार्य करेंगी।

शंका:—जिस समय आप आत्मामें विभावशक्ति मानते थे, उस समय कार्य कारण कैसे बन जाता था ?

समाधान:—विभाववती शक्तिके विभावरूप परिरगमनके व्ययका नाम कारण और स्वभावरूप परिरगमनका नाम कार्य है। विभाववती शक्तिके विभावरूप परिरगमनेका नाम बन्ध और स्वभावरूप परिरगमनेका नाम मोक्ष है। एक कालमें एक शक्तिके दो परिरगमन नहीं हो सकते। दोनों परिरगमन एक साथ कहां और कब होते है ? विभावशक्ति तो हमें इसलिये नाम रखना पड़ा कि जीव और पुद्गल निमित्त पाकर उल्टे भी परिरगम जाते हैं। ऐसी विशेषता बताना है। धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्योंमें इस प्रकारकी भाववती शक्ति नहीं है।

शंका:—अनादि कालसे सर्व पदार्थ स्वत: सिद्ध हैं, इसी प्रकार परिरगमन भी स्वत: सिद्ध है। जीव रागद्वेष कुछ भी करे वह निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि वस्तु स्वत: परिरगामी है, वह परिरगमता जाये। फिर आत्माके परिरगमनमें कर्म निमित्त क्यों बनते है ? फिर क्या कारण है कि यह जीव उल्टा परिरगम जाता है ? जीवके रागमें कर्म क्यों निमित्त मानते हो, विस्रसोपचयको क्यों निमित्त नहीं मानते ? स्वभावसे ही आत्माके साथ जो ढेर बना रहे, उसे विस्रसोपचय कहते है। विस्रसोपचय सबके न्यारे-न्यारे हैं। जो कर्म बन गये, उनका नाम कर्म है और जो आत्माके साथ चिपके रहते हैं तथा कर्म बननेकी योग्यता रखते है, उसे विस्रसोपचय कहते हैं। कर्मकी भांति विस्रसोपचय भी विभावमें निमित्त क्यों नहीं होता ?

समाधान—तुम ठीक कह रहे हो कि जीवमें कर्म भी मौजूद हैं और विस्रसोपचय भी मौजूद है। आचार्य कहते है कि जीवमें दो प्रकारकी कार्माणवर्गणायें हैं—(१) बद्ध कर्मरूप और (२) अबद्ध कर्मरूप। जो कर्म बनकर बन्धमें आ चुके उन्हें बद्ध कर्म और जो कर्म बननेकी शक्ति रखते हैं, उन्हें अबद्ध कर्म अर्थात् विस्रसोपचय कहते हैं। विस्रसोप-

चय अबद्ध है। बद्ध निमित्त होता है, अबद्ध निमित्त नहीं होता है। अबद्ध होनेपर भी विस्रसोपचय आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रहता है। कर्म तो आत्माके विभावमें निमित्त पड़ता है, विस्रसोपचय निमित्त नहीं पड़ता है। फिर विस्रसोपचय एक क्षेत्रावगाह क्यों रहता है? रहता है इसी प्राकृतिकताको बतानेके लिये विस्रसा शब्द पड़ा हुआ है।

शंका—बद्ध और अबद्ध कर्ममें क्या अन्तर पड़ता है?

समाधान—बद्धमें तो दोमें बन्धन होता है और दोनों ही स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। जीव और पुद्गल कर्मोंके बन्धनसे अपने स्वभावसे च्युत (विकृत) हो जाते हैं। जीवकी स्वभाव च्युतिके साथ कर्म भी स्वभावसे च्युत हो जाते है। विस्रसोपचयमें ऐसा नहीं होता, विस्रसोपचय उस प्रकार च्युत नहीं होता। बन्ध तब होता है, जहाँ दोनों स्वरूपसे च्युत हो जायें।

एक दूसरेसे बंधे रहना बद्ध कहलाता है। जैसे जब आप घरसे दूर चले जाते हैं तो आप घरवालोंका ख्याल करते हैं, घरवाले आपका। क्योंकि आप और आपके घर वाले आपसमें मोहसे जकड़े हुए हैं। दुश्मन दुश्मन भी बद्ध हैं, क्योंकि वे सदा एक दूसरेका बुरा विचारते रहते हैं। वे बुरा करनेके लिये बद्ध है। जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब आया, प्रतिबिम्ब आनेसे पदार्थमें कोई खराबी नहीं आयी, दर्पणमें ही खलबली मची, उस खलबलीको ही दर्पणकी अशुद्धता कहेंगे। जो बद्ध है, वह तो निश्चित अशुद्ध है। अबद्ध अशुद्ध होता भी है, नहीं भी होता। जीव और पुद्गल जैसा है, उसे वैसा समझो उनमें स्वत्वका भाव न लाओ। आत्माको आत्मा जानो, पदार्थको पदार्थ जानो, वही उत्तम जानना है।

**पर्याय बुद्धि ही सब अपराधोंका मूल है:**—मैं मैं हूं, मैं और कुछ नहीं हूं। मै मेरा था, अन्य किसीका नहीं था। इस प्रकारके ज्ञानमें यह जीव क्यों नहीं रह पाता है, इसका कारण है पर्यायबुद्धि। जीवको जिस समय जो पर्याय मिलती है, वह उसी पर्यायमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारका विचार बना लेता है। पतनकी जड़ यह पर्याय बुद्धि है। सम्यग्दृष्टिके चलते हुए भी, यह मैं नहीं हूं, इस प्रकारका विचार निम्न अवस्थामें भी होता है। यह पर्याय मैं नहीं हूं, इस प्रकारकी श्रद्धामें कितना बडा बल है? इस प्रकारकी श्रद्धा वाला व्यक्ति येन केन प्रकारेण अपनी पर्यायोंको सुधारकर निर्मल परिणामोंमें आ जायेगा। यदि व्यक्तिकी ऐसी श्रद्धा न हो तो ऐसे मोही जीवको और कोई आश्रय नहीं है, जो निम्न अवस्थासे उठाकर उच्च अवस्थामें पहुंचा देवे। सम्यक्त्व राजाकी यही कृपा है कि वह उच्च अवस्थामें पहुंचा देता है। इस जीवको पर्यायबुद्धि ही मोही बनाती है। जब में जिस समय पर्याय होती है, उस समय पर्याय उसमें तन्मय है। पर्यायके साथ लगा है

अज्ञान, अतः वह अपनेको पर्यायसे अलग नहीं समझ पाता है। पर्यायके बननेका आश्रय, पर्यायके संग्रहमें लग जाना है। समस्त आपदाओंकी जड़ यह मैं हूं, इस प्रकारकी पर्याय बुद्धि है। यह पर्याय विभावरूप इसलिये बनी कि जीवमें इस प्रकारकी विभावशक्ति है, जो निमित्त पाकर उल्टा परिणमन करती है और निमित्त न पाये स्वभावरूप परिणमती है। जीवके परिणमनके कारण ही कर्मबन्ध होता है, हुआ था और होगा। अतः वह मलिन पर्यायोंको उत्पन्न करता रहता है। अतः हे संसारके मोहियों! अब मोहको छोड़ दो और यथार्थका परिज्ञान करो। तुम्हारे भाव जो खोटे परिणमन रूप हैं, उनको सुधारो। तुम्हारे खोटे परिणमन "कल्पना" है, उसे ज्ञानसे जीतो। ज्ञानके लिये पुरुषार्थ करो। वस्तुको ज्ञान से जानो तो कर्म अपने आप दूर हो जायें। कर्म शत्रुओंकी प्रबल सेनाको, मोह जिसका सेनापति है, जीतनेके लिये ज्ञानका अमोघ अस्त्र चाहिये। अतः अनादिकालसे भली प्रकार चाहे गये इस मोहको अब तो छोड़ दो। सम्यग्ज्ञानरूप अस्त्रसे मोहका विध्वंस करो। आत्म-रसिक पुरुषोंके लिये रुचिकर रोचन तत्त्व ज्ञानका स्वाद लो।

**तुम अपने परिणमनके सिवाय अन्य कुछ नहीं करते हो:—**मैं जाननमात्र हूं, जानने के सिवा मैं और कुछ नहीं करता। आम मीठा है, यह जानना ही तो है। आम मीठा है, आत्माको इस जानने मात्रसे सुख होता है, मीठेसे या आमसे सुख नहीं होता है। जाननेमें ही तो सुख दुःख होते हैं। यदि आत्मा अच्छा जानता है तो सुख, बुरा जानता है तो दुःख होता है। अतः ऐसा जानो, जिससे सुख प्राप्त हो। ज्ञानका जानना, स्वभावका जानना, आत्माका जानना— ये सब सुखके कारण हैं। अमुक पदार्थसे मुझे सुख होता है। यही सोचना दुःखका कारण है तो वे पदार्थ कितने भयावह होंगे?

अतः हे संसारके भोले प्राणियों, जो ज्ञानियोंको हितकर है, उसका स्वाद लो। यह आत्मा किसी भी प्रकारसे अनात्माके साथ तादात्म्य नहीं कर सकता है। मोही मोहकी चीजोंको रखनेके लिये पूर्ण कोशिश करता है, उनको भोगनेका पूर्ण प्रयत्न करता है। इतना करने पर भी कभी कुछ साथ नहीं जाता है। जैसे एक बार एक शराबीने शराबको एक दुकानपर जाकर शराब मांगी। शराबीने कहा, बढ़िया शराब देना। दुकानदारने कहा हाँ बढ़िया देंगे। देखो, इतने बेहोश पड़े हैं, उनको देखकर तो विश्वास करो। इसी प्रकार इस संसारमें इतने जीव मरे, किसके साथ क्या गया? सबका कल्पित सर्वस्व यहीं तो छूट गया। इन प्रतिदिन मरने वाले मृत शरीरोंको देखकर अपने मनमें कुछ ऐसी बात तो लाओ कि इन सबसे मोह हटे। ये सब पदार्थ स्वप्नवत् हैं।

**जो जीवन शेष है उसका ही सदुपयोग कर लो:—**बीता समय स्वप्नवत् प्रतीत होता है। यह पूरा दिन बीतना बड़ा मुश्किल प्रतीत होता है। लेकिन बीते दिनोंके बराबर ही

है। जिस तरहसे यह पिछला समय (मनुष्यकी अभी तककी आयु) बीता, उसी तरह अवशिष्ट आयु भी समाप्त हो जानी है। अतः जितनी आयु बाकी बची है, उतने समयका तो सदुपयोग करो। ऐसा कोई प्रकार नहीं कि आत्मा अनात्मकृतिको अपना सके। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परके चतुष्टयसे नहीं है। अतः हे मोहमें फंसे प्राणियों! अनादि कालसे चाटे गये इस मोहको तो छोड़ो। तुमने इस मोहको इतना चाटा कि इसका अंश तक भी मोह करनेसे शेष नहीं बचा। तीव्र आसक्तिमें चाटना होता है। चाटकी तरह से यह जीव मोहका अनादिकालसे स्वाद ले रहा है। यह जीव अनात्मामें तादात्म्य वृत्तिको नहीं कर सकता। परपदार्थमें यह मैं हूं, मैं यह हूं, इस प्रकारसे परपदार्थ और अपनेमें एकत्व बुद्धि ही मोह है। इस बुद्धिसे यह जीव अनादि कालसे बद्ध है।

जीवका बन्ध तीन प्रकारसे होता है—(१) भावबन्ध, (२) द्रव्य बन्ध और (३) उभय बन्ध। जीवका रागादिक भावोंमें बंधना भावबन्ध है। जैसे सिनेमाके पर्देपर मशीनके निरन्तर चलनेके कारण फोटो आते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा मानो एक पर्दा है व कर्म मानो एक मशीन है। कर्म निरन्तर अपना काम करते रहते हैं, उनका फोक्स आत्मापर पड़ता है। चाहे आप स्वानुभवमें हों, चाहे बड़ी भक्तिमें हों, किन्तु एक समय भी ऐसा नहीं जा सकता जो जीवमें कर्म अपना काम न करें। अपना उपयोग परपदार्थमें न लगे, उसे स्वानुभव कहते हैं। किसी न किसी हद तक कर्मोंका परिणमन आत्मामें निरन्तर चलता है। जो सम्यग्दृष्टि कर्मोंके परिणमनकी ओर उपयोग नहीं लगाता, समझो वह मोक्षके सही रास्तेपर चल रहा है, वह अपने कल्याणको करनेमें तत्पर है। जैसे आप आंख खोलते हुए किसी विचारमें बैठे हुए हैं, आपके सामनेसे कोई चीज निकली, फिर भी आपके उस चीजके जाननेमें आनेपर भी पकड़ नही है। उसी प्रकार वह स्थिति स्वानुभव है, जहां आत्मामें रागादिक भाव उठ रहे हैं, फिर भी उन्हें उपयोग नहीं पकड़ता है। वही बन्धमें हीनता लाता है, ऐसी स्थितिमें जो स्वका उपयोग है, उसें स्वानुभव कहते हैं। पहलेसे लगे हुए कर्मोंमें नये कर्मोंका बंधना द्रव्य बन्ध कहलाता है। जीवका और कर्मोंका एक क्षेत्रावगाह होना उभयबन्ध कहलाता है। जीवका और कर्मका जो उभयबन्ध चलता है, वह एक दूसरेकी अपेक्षासे चलता है। द्रव्य और भावबन्धमें अशुद्धता है, उभयबन्धमें बन्ध है। जिसमें जीव और कर्म अपने गुणोंसे च्युत हो जायें, उसे उभयबन्ध कहते हैं।

**वर्तमान विवेक लाभ ही का कारण है**—पूर्वकालमें बंधे हुए कर्मोंका उदय होना वर्तमान दुःखका कारण है, किन्तु वर्तमान ज्ञानसे कर्मफलमें भी अन्तर पड़ जाता है। कर्म न बंधे तो आगामी कर्मोंका उदय भी नहीं होगा और दुःख भी नहीं होगा। अभी हमारेमें ऐसी ताकत नहीं कि कर्म बिल्कुल ही न बधें। बधेंगे तो अवश्य, हां अपनी ऐसी स्थिति

बना लेवें कि कर्म कम बंधें, जो बधें उनमें पुण्यका अधिक बन्ध होवे। इसका भी सच्चा उपाय कर्मदृष्टि नहीं है, किन्तु स्वभावका उपयोग है। पुण्यकी आशासे कभी पुण्यबन्ध नहीं होता। जो जीव पुण्यकी आशा न रखकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करता है, उसके अधिक पुण्यबन्ध होता है। भावोंसे पुण्य पापका बन्ध होता है। जीवकी जैसी बाह्य प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिको लोग पुण्य, पाप और धर्म समझने लगे हैं। शरीरादिकी प्रवृत्तिसे न पुण्य होता, न धर्म होता और न पाप ही होता है। भावोंसे ही पुण्य पाप व धर्म होते हैं। लेकिन जीवोंने प्रवृत्तिको ही पुण्य पापका कारण समझकर सुख दुःखका कारण समझ लिया है। जीवके परिणाम खराब नहीं होने चाहियें। परिणाम करना ही दुःख-सुखका कारण है। हिंसाके यदि हमारे परिणाम नहीं हैं, चार हाथ आगेकी भूमि देखकर चल रहे हैं, ऐसेमें यदि अनजानेमें हिंसा भी हो जाये, तब भी पाप बन्ध नही होता है। परिणाम जीवको मारनेके हो गये, चाहे उससे हिंसा भी न हो पाये: लेकिन उसके परिणाम खराब हो जाने के कारण उसके हिसा न करनेपर भी पापका बन्ध हो चुका है। जैसे धवल सेठने श्रीपाल को मारनेके लिये समुद्रमें गिरवा दिया था। लेकिन श्रीपाल आयु शेष रहनेके कारण मरा नही, प्रत्युत उसे राज्य-प्राप्ति हुई। लेकिन धवल सेठने उसे मारनेके परिणाम करके श्रीपालको मारनेरूप पापका बन्ध कर लिया। भावोंके अनुसार पुण्य पापका बन्ध होता है, चाहे प्रवृत्ति होवे या न हो पाये।

सारांशः—भाव यह है, जैसे कर्म हैं, जीवने अपने मनमें बुरे परिणाम किये, लेकिन कर्ममें उसी समयमें बहुतसे कर्म परमाणुओंका अपने आप लगना और स्थितिका विभाग होना तथा किस कर्मके लिये कितने कर्म परमाणुओंका बन्ध हुआ आदि, यह सब कार्य हुआ। कर्मोंमें डिग्रियाँ भी एक समयमें बन जाती है। जीवने तो केवल भाव बनाया, लेकिन कर्ममें एक साथ इतनी खलबली मच गई और इतने कार्य एक साथ हो गये। जैसे आतीशबाजी में अनारमें आग मात्र दिखाई जाती है, लेकिन उसमें छुर्र छुर्र व आघात अपने आप बहुत देर तक होती रहती है। इसी प्रकार जीव तो भावमात्र बनाता है, कर्ममें उसी समय अपने आप काम हो जाते हैं।

**अपने आपको शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभवोः**—जीवमें "मैं पर्याय नही हूं, मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूं", इस बुद्धिसे जो अनुभव हुआ, सो हुआ, उससे कितने ही कर्म जो उदय में आने वाले थे और जो अधिक स्थिति वाले थे, उनकी कर्म स्थिति हो जाना आदि ऐसे अनेकानेक काम कर्मोंमें अपने आप एक समयमें हो जाते हैं। स्वभावदृष्टि करनेमें कर्मोंमें वड़ी उथल-पुथल अपने आप हो जाती है, इस उथल-पुथलको हमें नहीं करना पड़ता है, हमने तो अपने चैतन्यस्वभावपर दृष्टि दी। पर्याय बुद्धिसे इतनी हानियां हैं, जितने लाभ

स्वभावदृष्टिमें है। इस वचनकी भी बड़ी करामात है। जरा अच्छा बोल बोल दो, तो सभी लोग तुम्हारा कार्य करनेके लिये तत्पर रहेंगे। इसी प्रकार जीवने वस्तुके स्वभावके अनुरूप अच्छा भाव बनाया तो कर्मोंमें उथल-पुथल मच जाती है। बुरे परिणाम किये तो कर्मोंकी सेना आकर जम जाती है। जैसे दर्पणको देखते समय आंखका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ा, अतः प्रतिबिम्बरूप कार्यके लिये आंख कारण है। दर्पणमें जो आंखका प्रतिबिम्ब बना, उस प्रतिबिम्बरूप आंखका हमारी आंख कारण है और उस प्रतिबिम्ब द्वारा आंख देखनेके लिये वही आंख कार्य है। यही आंख अपनी आंखको देखनेके लिये कार्य कारण दोनों बनी है, तभी आंख देखी जा सकती है। वैसे ही इस जीवके नये द्रव्य कर्मके लिये रागादि कारण है, कर्म कार्य है और रागादि होनेके लिये कर्म कारण है, रागादि कार्य है। जैसे दर्पणकी आंख और आंखकी आंखके कार्य कारण सम्बन्ध होनेपर ही आंखकी आंख देखी जा सकती है, अन्यथा नहीं। वैसे ही इस संसारका काम करनेके लिये द्रव्य कर्म और भाव कर्म कार्य कारण बनते हैं। इस प्रकार जीव और कर्मका कार्य कारण भाव बना।

हे आत्मन् ! पता तेरे स्वरूपके अलावा तेरा और क्या है—आत्मा अनात्माके साथ एकमेक कभी नहीं हो सकता है। तब ऐसा मानना कि यह मेरा है, यह मेरा था, यह मेरा होगा, जीवको ऐसा भ्रम क्यों हो गया ? बात यह है कि वह द्रव्यकर्म जीवके भावादि विकारोंका कारण है। जीवके कर्म विकार कर्म बन्धका कारण है। ये एक दूसरेके उपकारक है। जीव विकार और कर्म मित्रके समान है। इसमें जब भेद डाल दिया जाये, तब काम बने। भेद भेदविज्ञानसे पड़ सकता है। जीवमें जो चिद् विकार आया, वह वैभाविक भाव है। जीवका विभावके साथ और कर्मके साथ क्या सम्बन्ध है ? जीवका विभावादिके साथ उपादान-उपादेयका सम्बन्ध है। जीव विकार और कर्म यद्यपि बहुत भिन्न हैं, लेकिन फिर ये आपसमें शृङ्खलावत् मिले हुए हैं। जीव विकार निमित्त है, कर्मका बन्ध नैमित्तिक है, इनमें फूट डाल दो तभी ठीक रहेगा। वह द्रव्यकर्म उभय बन्धके बिना जीव विकारमें कारण नहीं है। जीवबन्ध और कर्मबन्ध दोनों उभयबन्ध कहलाते हैं। जहांपर बन्ध होता है, उनमें अशुद्धता अवश्य रहती है। जहां अशुद्धता होती है, वहां कर्मबन्ध हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। परन्तु अशुद्धताके बिना बन्ध हो नहीं सकता। जैसे एक पुरुष एक पुरुषसे मोह करता है। यदि उनमेंसे एक मोह न करे तो वह भी बन्ध नहीं कहलाया और जहां दोनों ही मोह न करें तो मित्रतामें अशुद्धता आ गई। जीवने अभी तक अपनी पर्याय को ही माना कि यह ही मैं सब कुछ हूं। मैं माता हूं, मैं उसका पिता या पुत्र या भाई या मित्र हूं। इस प्रकार पर्यायपर दृष्टि देकर क्यों इस मनुष्यभवको व्यर्थ गंवाते हो ? जीव सदा क्षणिक पर्यायमें रमता रहा। वह अपनेको 'माता-पिता-भाई-बहन-स्त्री-पुत्र मित्र-नेता-

त्यागी मानता रहा, इससे पर्याय बुद्धि हो ही जाती है। विभाव किसीका न किसीका आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, अतएव यह जीव पर्याय बुद्धि करता हुआ अज्ञानी बना रहा।

**यह अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंको अपना समझता है**—पुद्गलको—यह मेरा है, मेरा यह है, धन, मकान, स्त्री, पुत्रादि सब मेरे हैं। यह जीव बद्धाबद्ध पुद्गलोंको अपना मानता रहता है। यह अज्ञानी अपने शरीरको निज और दूसरेके शरीरको अन्य जीव मानता है। वह सब पुद्गलोंसे ही मोह करता है। यदि वही शक्तिप्रयोग पुद्गलसे हटाकर आत्मासे करे तो संसार सन्तति छिन्न हो जाये। आत्मामें रुचि होती तो आत्माको जान लेते कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। यदि ऐसा बोध हो गया होता तो वह आत्मा दुःखोंसे निकल जाता। इसे पढ़ाओ, इसे न पढ़ाओ, यह मेरा पुत्र है—इत्यादि भाव न होते। संसारके ये मोही प्राणी बद्धसे तो मोह करते ही हैं, अबद्धसे भी करते हैं। अपना शरीर बद्ध पुद्गल है। जो आत्माके चलनेपर साथ चले, उसे बद्ध पुद्गल कहते हैं। जो आत्माके एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाते समय साथ न जाये उसे अबद्ध पुद्गल कहते हैं। जैसे स्त्री, पुत्र, मकान, धन, सम्पत्ति, पुरुष आदि। यह अज्ञानी दोनों प्रकारके पुद्गलोंको अपना मान रहा है। बद्धको (अपने शरीरको) अपना माने तो सदाशाके आधारपर कुछ माफी भी मिल सकती है, परन्तु यह तो अबद्धको भी अपना रहा है। यह तो बहुत बड़ा अपराध है, यह तो महामूर्खता है। अज्ञानी बद्ध अबद्धको अपना इसलिये मानता है कि उसने जीवकी स्वतन्त्र सत्ताका ज्ञान नहीं किया।

**जीव अपने आपमें परिणमन करता हुआ काल व्यतीत करता है**—तुम्हारी शक्तिसे तुम्हारेसे बाह्य पदार्थ नहीं परिणम सकता। तुम्हें परिणमानेमें बाह्य पदार्थ भी कार्यकारी नहीं हो सकता। जीव स्वार्थ और प्रतिष्ठाके लाभके चक्करमें पड़कर मोहके फंदेमें फंसता है। यदि स्वार्थ और प्रतिष्ठाका भाव न रहे तो कौन किसका क्या करेगा? पुत्र बूढ़े पिताकी सेवा भी प्रतिष्ठाके लाभसे करता है कि यदि मैंने बुढ़ापेमें पिताकी सेवा न की तो लोग मुझे बुरा कहेंगे। कोई किसीके कहनेसे मानता नहीं है, यही वस्तुका स्वरूप है। कोई पदार्थ किसीका कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि जीवका अन्य पदार्थोंसे अत्यन्ताभाव है। जीवका लक्षण उपयोग है और पुद्गलका लक्षण उपयोग नहीं है तो फिर असमान धर्म वाले एक कैसे हो सकते हैं? पुद्गल और आत्मा एक हो ही नहीं सकते। पुद्गलका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पुद्गलमें है, हमारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हमारेमें है। हमारे द्रव्य क्षेत्रादि पुद्गलसे बिलकुल अलग हैं, कभी एक नहीं हो सकते। पुद्गल और जीव अत्यन्त व्यतिरेकी हैं। कोई अन्य पदार्थ अपना नहीं हो सकता। मोहके बिना भी राग होता है। मोहका लक्षण है, एक दूसरेको एक मानना। मोहमें मोही बेहोश हो जाता है। उसकी बुद्धि काम नहीं करती।

रागमें रागी व्यवस्थित चित्त रह सकता है। जहाँ स्व और परकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति ही नहीं है, वह मोह है। मोहमें राग भी प्रबल होता है। अप्रत्याख्यानावरणकी गड़बड़ी छह महीनेसे अधिक नहीं चलती है। तब भी रागने रामचन्द्रजी को कितना सता डाला था? सम्यक्त्व-तेज अन्दर प्रकट रहता है, बाहर दिखाई नहीं पड़ता है। कोई गृहस्थ रागसे ग्रस्त है या मोहसे ग्रस्त है, इस विषयमें निर्णय नहीं दिया जा सकता है। गृहस्थ स्वयं जान सकता है कि हम रागपूर्वक घरमें रहते हैं या मोहपूर्वक। पुद्गल आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा पुद्गल नहीं हो सकता है। अतः पुद्गलको अपना मत मानो।

आत्मा अखण्ड है, अविकारी है, चैतन्यस्वरूप है। आत्मा कर्मसे जुदा है। आत्मामें कर्म आ गये और आ करके उसमें मिल गये। ऐसा उपचारसे कहा जाता है। उस अद्वैतमें भी द्विधा आ जाती है। अद्वैत माने—अखण्ड, जिसके विषयमें कोई कल्पना की जा सके। द्वैत:—द्वैत दो प्रकारका है—(१) अपने अंशोंको बताना और (२) दूसरे जीवके अंशोंको बताना। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, यह भी द्वैत है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण तथा अनन्त शक्तियां हैं, यह भी द्वैत हैं। आत्मा-आत्मा-आत्मामात्र कहना अद्वैत है।

**द्वैत बुद्धिके अनेक स्वाङ्ग हैं:**—(१) स्वभाव और स्वभाववान्का द्वैत—जैसे जीवमें चैतन्यस्वभाव। (२) गुण और गुणीका द्वैत—जैसे जीवमें ज्ञानदर्शनादि अनेक गुण हैं। (३) द्रव्य-पर्याय और द्रव्यका द्वैत—जैसे जीवकी मनुष्य देव तिर्यंच नरकादि पर्यायें। (४) गुण-पर्याय और द्रव्यका द्वैत—जैसे जीवमें क्रोध, मान, मायादि कषाय हैं। (५) आत्मा और उपाधिका द्वैत—जैसे जीवमें कर्म लगे हैं सोपाधिअंश कल्पना गुण पर्यायमें हुई। आत्मामें असंख्यात प्रदेश हैं। यह स्वांश कल्पना है। जीवमें चैतन्य स्वभाव है। यह स्वांश कल्पना है। जीवमें रागादि हैं, यह उपाधि कल्पना है। इस प्रकार जीवकी कल्पनामें नाना द्वैत माना जाता है।

एक साथ नाना प्रकारके बन्धनकी उपाधि लग रही है। आठों कर्म आत्मामें एक साथ लग रहे हैं। कर्म आत्मामें एक साथ उदय आ रहे हैं। उनके उदयके निमित्तसे जो विभाव होता है, वह भी बात हो रही है। जैसे स्फटिक पत्थरमें दाग लगानेसे मलिनता आ जाती है इसी प्रकार जिस जातिके कर्म होते है, उसी जातिके विभाव होते हैं। आत्मा और कर्मका मेल है। मेलके कारण यह जीव अनादिकालसे भ्रमण करता रहा है। यह मनुष्यभव विवेकपूर्ण पाया है, जिसमें बोल सकते हो, समझ सकते हो, पढ़ सकते हो, आज हम कितने विशिष्ट भवमें हैं? ऐसा जानकर अपने स्वरूपको जानो। अपना स्वरूप पदार्थके ज्ञानके बिना नहीं जाना जा सकता। अतः पदार्थको जानकर अपने स्वरूपको पहिचानो, इसीमें मनुष्यभवकी सफलता है।

शंका—आत्माके साथ तुमने कर्म और उपाधिकी बात बताई कि आत्मा सोपाधि है। उपाधि तो कल्पना है, वह कहाँसे लग गई ? जैसे ज्ञानने रसको जाना तो ज्ञान रस रूप तो नहीं हो गया ? ज्ञान और रसका सम्बन्ध तो नहीं है। ज्ञान ज्ञानकी जगह है और रस रसकी जगह। उसी प्रकार आत्मा आत्माकी जगह है और कर्मका (स्वरूप) अलग है, दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते। आत्माके लिये कर्म उपाधि कैसे बन जायेंगे, दोनों पास हैं तो सम्बन्ध भी हो ऐसी बात नहीं है।

समाधान—आत्मा और कर्म एक साथ रह रहे हैं, इससे आत्माका क्या बिगाड़ ? सिद्ध प्रभुकी आत्माके पास छहों द्रव्य ठसाठस भरे हैं, परन्तु उनकी आत्माका क्या बिगाड़ है ? बिगाड़, बन्धन आदि यह तो निमित्तनैमित्तिकसे होता है। देखो भैया ! सारी विभिन्नताओंका कारण कर्म है। ईश्वर तो एक उत्कृष्ट ज्ञान है। ईश्वर यदि कारण है तो सारी सृष्टि एक तरहकी होनी चाहिये। ईश्वर यदि उपादान है तब भी सारी सृष्टि एक तरहकी होनी चाहिये। यतः, उपादान सदृशं कार्यम्। उपादान (ईश्वर) यदि एक है तो कार्य (सृष्टि) भी एक ही होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सृष्टिमें ईश्वर कारण भी नहीं है, उपादान भी नहीं। पदार्थका स्वभाव कारण हो—ऐसा भी नहीं है। स्वभाव अविनाशी है। जिस चीजका कारण स्वभाव हो, वह चीज अविनाशी हो जायेगी। अतः आत्मासे राग-द्वेष-मोह नहीं मिटना चाहिये, लेकिन मिट जाते हैं। आत्माके नाना परिणामोंका कारण बाह्य निमित्त अवश्य है। यदि कोई एक ही प्रकारका निमित्त मानोगे तो सारी चीजें एक ही तरहकी बन जायेंगी। आत्माके नाना परिणामोंका कारण नाना निमित्तरूप बाह्यपदार्थ हैं, ऐसा मानना ही पड़ेगा। वह है नानाविध कर्म।

**करनी संभालो तो फल भी संभल गया**—जैसा करते हो, उसका वैसा ही फल मिलता है। इसमें कोई विवाद नहीं है। लोग कहते हैं कि जैसा करोगे, उसका वैसा ही फल ईश्वर दे देता है। चाहे कोई भी फल देवे, लेकिन तुम्हारी करनीका फल तो तुम्हें मिलेगा ही। जैसी करनी करोगे, वैसा ही फल मिलेगा। जब करनी करना तुम्हारे करमें है; तो ऐसा कार्य मत करो, जिससे दुःख प्राप्ति हो। दुःखका कारण हमारे विकल्प हैं। जैसे लोकमें कहा करते हैं—हाय, हमें ऐसी चीज प्राप्त नहीं हुई, इसने ऐसा क्यों किया, ऐसा क्यों नहीं किया ? इस प्रकार दुःख विचार बनानेसे ही आये ना ? यदि ऐसा विचार हो कि मैं अकेला हूं, मैं अपना फल स्वयं भोगता हूं। जैसा मैं करूंगा, वैसा ही फल मिलेगा। करनी अच्छी करूंगा तो सुख पाऊंगा, परका विचार पराधीनताका भाव दुःखका कारण है। मेरे दुःखका कारण मेरे विचार हैं, अन्य कुछ नहीं। परकी चीज हमारे अधीन नहीं है। अतः उसका विचार ही न करो। परके विचारमें आकुलताके सिवाय और क्या मिलेगा ? मित्रका ख्याल करके राग उत्पन्न होता है, शत्रुका ख्याल करनेसे द्वेष उत्पन्न हुआ, अतः

दूसरेका ख्याल करना भी दुःखका ही कारण है। आत्मामें राग ही राग चलता रहे तो मिथ्यात्वका कारण है। आत्मामें राग हो रहा है, लेकिन वह रागी होना नहीं चाहता, वह सम्यग्दृष्टि है। विकल्पका नाम ही सुख दुःख है। अतः विकल्प ऐसे करो कि परका चिन्तन ही न हो, पराधीन भावोंका लक्ष्य ही न हो। इसका उपाय स्वका चिन्तन स्वका लक्ष्य बनाओ।

**उपाधि तो है किन्तु आत्मस्वभाव निरुपाधि है:**—कर्मके उदयके बिना रागादि नहीं होते। कर्म उदित होते है, तभी रागादिरूप परिणाम होते है। अतः इनका उपाधि सम्बन्ध माना गया है। हमारे, तुम्हारे, सबके अज्ञान है। गणधरोंके औदारिक अज्ञान है। अज्ञान उपाधि हुई ना? मिथ्यादृष्टि भी रागी है। चौथे गुणस्थानवर्ती जीव भी रागी है। राग दसवें गुणस्थान तक होता है। अज्ञान और रागमें कर्म हेतु है, कर्मको निमित्त पाकर अज्ञान और राग उत्पन्न होता है। कर्मके होनेपर ही राग होता है, कर्मके न होनेपर नहीं होता। संसारी जीव सोपाधि हैं और मुक्त जीव निरुपाधि है। आत्मामें जैसी उपाधि लगती है, आत्मा वैसी ही दीखने लगती है। आत्मामें उपाधि कैसे लगती है—इसकी अन्यत्र कहीं व्याख्या नहीं देखनेमें आई है। जैन सिद्धान्तके आधे ग्रन्थ कर्म सिद्धान्तके वर्णनसे पूरित हैं। आक्रान्तावोंकी चेष्टाके निमित्तसे जैन साहित्य काफी नष्ट हो चुका है, फिर भी ठोसकी दृष्टिसे अब भी सर्वाधिक साहित्य, जैन साहित्य है। उपाधिके बारेमें कि जीवके साथ उपाधि कैसे लग गई, इसका विवरण यहाँ मिलेगा।

समस्त द्रव्योंमें अपनी-अपनी शक्तिका परिणमन होता है। जीव विभावरूप परिणमता है तो अपनी ही शक्तिका परिणमन कर रहा है, कर्ममें बन्ध, उदय आदि अवस्थायें होती है तो कर्म अपनी ही शक्तियोंके परिणमन करते हैं। एकके विभाव परिणमनमें अन्य पदार्थ निमित्तमात्र है। देखो, जब जीव कषायभाव करता है तब कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाते है और उनमें भी कितनी कार्माणवर्गणायें ज्ञानावरण कर्मरूप हों व कितनी कार्माणवर्गणायें दर्शनावरण कर्मरूप हों इत्यादि कर्मोंके कार्माणवर्गणावोंका विभाव भी उसी समय स्वयं हो जाता है। उनमें भी अर्थात् एक समयमें बद्ध कर्मवर्गणावोंमें भी कितने अबाधाकालके बादके समयमें उदय आवें और कितने दूसरे तीसरे आदि समयोंमें उदय आवें, ऐसा निषेक रचना भी उसी समय स्वयं हो जाती है। कहीं भी कभी भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं करता। कोई उपाधि निमित्त हो तो जीव कैसा परिणमन कर जाय और कोई उपाधि न हो तो जीव वैसा परिणमन कर जाय, यह सब जीवकी शक्तिकी ही कला है। निरुपाधि सिद्ध आत्मा है। सिद्ध आत्मा क्षायिक ज्ञानसे युक्त, अबद्ध और निरुपाधि है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये चारों ज्ञान सोपाधि हैं, अतएव अशुद्ध हैं। जिस ज्ञानमें जरा भी कमी हो, वह सोपाधि कहलाता है। अतः ज्ञान

परिपूर्णतासे थोड़ा भी कम हो, अशुद्ध कहलाता है। परिपूर्ण ज्ञान शुद्ध है।

**जीवका काम जीवमें व कर्मका काम कर्ममें चलता है**—जीव जब कषाय करता है, तो जीवमें एक क्षेत्रावगाहसे रहने वाले विस्रसोपचय सात या आठ कर्मरूप बंध जाते हैं। इस जीवके कर्म सात हमेशा बंधते हैं। आयु बंधनेका समय हो तो आठ कर्म बंधते हैं। जैसे किसीको आयु ८१ वर्षकी है। ५४ वर्षकी आयु होने पर कर्म बंधेंगे। ७२ वर्षकी आयु होने पर, फिर ७८ वर्षकी आयु होनेपर, फिर ८० वर्षकी आयु हो जाये तब आठ कर्म बंधेंगे। इस तरह शेषका भी त्रिभाग करो। यह त्रिभाग ८ बार होता है।

जितने कर्म बंध जाते है, उनमें विभाग हो जाता है कि इतने कर्म दर्शनावरणके इतने ज्ञानावरणके, इतने वेदनीयके आदि। जैसे तुम भोजन करते हो, तुम्हारा काम तो पेटमें पहुँचाना है। इसकी चिन्ता न करो कि किसका, कितना, क्या, कैसे बनेगा? पेटमें जाकर स्वयमेव विभाग हो जाता है, इतना खून बनेगा, इतना मल बनेगा आदि। इसी प्रकार तुम तो कषाय करलो, उसकी चिन्ता न करो कि किस कर्मकी कितनी प्रकृतियोंका बन्ध हुआ? इसके बाद कर्ममें भी विभाग हो जाते हैं। जैसे ज्ञानावरणमें ५ विभाग हो जाते हैं कि मतिज्ञानावरणकी इतनी वर्गणायें, श्रुतज्ञानावरणकी इतनी आदि। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि और मनःपर्ययके भी दो दो विभाग हो जाते हैं—कुछ देशघाती प्रकृतियाँ और कुछ सर्वघाती प्रकृतियाँ। केवल ज्ञानावरणमें सर्वघाति प्रकृतियोंका ही बंध होता है, देशघातिका नहीं। पाप प्रकृतियाँ दूर-दूर तक बन्धसी रहती है। सर्वघाति उसे कहते हैं कि जो सब कुछ मिटा दे। देशघाति उसे कहते हैं जो कुछ मिटावे, कुछ रहने देवे। केवल ज्ञानावरणका उदय हो तो केवलज्ञान बिल्कुल नहीं हो सकता। मनःपर्यय ज्ञानावरण या मति-श्रुत अवधि ज्ञानावरणके क्षयोपशम व उदय होने पर ये ज्ञान थोड़े-थोड़े रहते हैं। आत्मामें कर्म बंधते ही इतने कर्म एक साथ हो जाते हैं।

आत्मामें कर्म रागद्वेष हैं, यह अशुद्धका वर्णन है। भेदरूप व्यवहारमें आत्मामें केवलज्ञान है, यह कहना भी अशुद्धका वर्णन कहलाया। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, शक्ति आदि है, यह कहना भी अशुद्धका वर्णन कहलाया। तब प्रश्न हो सकता है कि कैसा वर्णन करें कि शुद्धका वर्णन कहलाये?

उत्तरः—कहते हैं कि केवल आत्माको जानो, उसे कहो मत, विकल्पित करो मत, तब शुद्ध कहलायेगा। आत्मामें जोड़ करना या तोड़ करना अशुद्धका वर्णन है। जोड़ तोड़ से रहित अखण्ड वस्तु शुद्ध है। जोड़ तोड़के कहनेमें आध्यात्मिक अशुद्धता है। अशुद्धता दो प्रकारकी है—सोपाधि अशुद्ध और निरुपाधि अशुद्ध। शुद्ध आत्मा किसे कहते हैं? शुद्ध आत्मा सिद्धोंको नहीं कहा, मनुष्योंको शुद्ध आत्मा नहीं कहा, तिर्यचोंकी आत्माको शुद्ध

आत्मा नहीं कहा, नारकियोंकी और देवोंकी आत्माको शुद्ध आत्मा नहीं कहा। किसीको शुद्ध आत्मा नहीं बताया। किन्तु द्रव्य दृष्टिसे सभी उनमें शुद्ध आत्मा हैं। सिद्ध पर्याय निरुपाधि अशुद्ध है, मनुष्य देव आदि पर्याय सोपाधि अशुद्ध है। आत्मद्रव्य निर्विकल्प शुद्ध है।

**विवक्षाओंसे सब निर्णय कर लो**—आत्मा सोपाधि भी है, निरुपाधि भी। जीवके साथ दूसरी चीज न लगी हो तो जीवोंकी पर्यायगत विविधताएं कैसे सिद्ध हों? दूसरी चीज के सम्बन्धके बिना आत्मामें राग द्वेष कलुषता हो जाये तो सिद्धोंमें भी राग द्वेष आदि उत्पन्न हो जाना चाहिये। यदि जीवके साथ सोपाधि और निरुपाधि भाव कारण न मानो तो जिनके बन्ध है, उनके बन्ध सदा ही बना रहेगा। बन्धरहित अवस्था न रहे तो सारे जीव एक समान हो जायें, सिद्ध भी संसारियोंके समान हो जायेंगे, कोई अन्तर न रहेगा। शुद्ध आत्मा और अशुद्ध आत्माका अन्तर नहीं होना चाहिये। जैसे—अग्निके बिना पानी गर्म हो जाये तो सारा पानी गर्म होना चाहिये और विशिष्ट गर्म ठंडा नहीं होना चाहिये। विभाव पर्याय निमित्त पा करके होती है।

कोई कहे कि कर्म वगैरह कुछ निमित्त नहीं, स्वभावसे ही जीव ऐसा होता है; सो ठीक नहीं। कार्यसे कारणका अनुमान होता है। रागके बन्धकी यदि कमी हो तो यह भी सिद्ध होता है कि जिसमें बिल्कुल भी बन्ध न हो वह सिद्ध आत्मा है। जिसके जैसी कमजोर उपाधि है, उसके वैसा ही कमजोर राग भी होता जाता है। जीव बन्ध सहित और बन्ध-रहित दोनों प्रकारके पाये जाते हैं। जो समस्त पदार्थोंको एक साभ जान ले, ऐसे अधिक ज्ञान वाला भी कोई अवश्य है। जीवके साथमें कोई अवश्य लगा हुआ है, तभी तो उसकी उल्टी गति होती है, क्योंकि जीवका स्वभाव स्वभावरूप परिणमनेका है। जीव स्वभावरूप परिणाम नहीं रहा है तो इसका कारण अन्य विजातीय द्रव्यका संसर्ग ही तो है। संसारके इन सभी जीवोंमें राग-द्वेष मोह करना और विकल्प करना पाया जाता है। राग-द्वेषादि संसारके कारण हैं। यदि जीवके साथ उपाधि न हो तो राग द्वेष आदि नहीं दीखने चाहियें। जीवमें विपरीतता पाया जाना संसारका कारण है। अतः सिद्ध है कि जीव सोपाधि है, बद्ध है। जीवके स्वभावका स्वरूप अबद्ध है। शक्तिका लक्षण यदि बन्ध हो जाये तो जीव बद्ध ही रहेगा, कभी अबद्ध नहीं हो सकता। अतः सिद्ध है कि ज्ञान सोपाधि भी है और निरुपाधि भी है। सोपाधि ज्ञान अशुद्ध है और निरुपाधि शुद्ध ज्ञान है। उप+आधि= उपाधि—मानसिक दुःखके पास जो ले जाये उसे उपाधि कहते है। उपाधि मानसिक दुःख को प्रायः बढ़ाती है। मानसिक दुःख बड़े आदमियोंके पास अधिक होते हैं। मानसिक दुःख के पास ले जाने वाले कर्म है।

शंका—बद्धता और अशुद्धतामें क्या अन्तर है? समाधान:—कार्य कारणके भेदसे

दोनोंमें भेद है। अशुद्धतामें एक पर दृष्टि होती है, बद्धतामें दोपर दृष्टि जाती है। 'बद्ध' माने बंधा हुआ। बंधा हुआ किन्हीं दो में अवश्य होना है।

**बद्धता और अशुद्धताके चिन्ह**--बन्ध कारण है और अशुद्धता कार्य है। बन्ध कारण न हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती है। वह बन्ध कार्यरूप भी है। जीव अशुद्ध न होता तो नवीन कर्म कैसे बंधता ? देखो भैया ! वास्तवमें शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षासे जीव शुद्ध है तथापि व्यवहारनयकी अपेक्षासे वही जीव अशुद्ध है। जीवको आध्यात्मिक दृष्टिसे बद्ध और मुक्त कहनेमें भी अशुद्धता है। जीव न बद्ध है; न मुक्त है। जैसे किसीको कहें कि तुम अभी कैदमें हो या कैदसे छूट गये हो--इस प्रकार कहनेसे दोनों अवस्थाओं में ही जीवको बुरा मालूम पड़ता है। क्योंकि किसीको बंधा हुआ या छूटना बताना उसके लिये "गाली" है। जीवका स्वरूप बन्धमें या मोक्षमें नहीं है। उसका स्वरूप तो चैतन्यमय है।

जीवके निज स्वरूप पर, बन्धन या मोक्ष माननेमें दृष्टि नहीं जाती। चैतन्य आत्मा पर दृष्टि दो तो जीवका कल्याण हो जायेगा। जीवको न बद्ध मानो और न मुक्त मानो--ऐसे शुद्ध चैतन्यमय जीवपर दृष्टि देनेसे ही कल्याण होगा। केवल भगवानकी भक्तिसे भी कल्याण नहीं होता है। हां, पुण्य बन्ध अवश्य हो सकता है। सञ्चित पुण्यके प्रतापसे राजा, इन्द्र आदि पद प्राप्त अवश्य कर लोगे। भक्तिसे ब्रह्ममें लीन होनेके लिये उत्साह जग सकता है यह भी हो जायगा, परन्तु भक्ति करते वक्त ब्रह्ममें लीन नहीं हुए। भगवानकी भक्ति करनेसे बुरी आकुलताएं घट जाती हैं। आत्मा तो स्वयं प्रभु है। यदि उस प्रभु आत्माको लाखोंकी जायदाद मिल गई तो कौन बड़ी बात हो गई ? उन लाखोंमें लग गये या उन्हीं का प्रभुत्व मान बैठे तो प्रभुता ही चली जायेगी। बड़े आदमी होनेके कारण थोड़ेसे लोग तुम्हारे अनुकूल हो गये तो क्या बड़ी बात हुई ? अब यदि उसीमें अटक गये तो अटके ही रहोगे। मनुष्यभवमें बड़ी विशिष्टता है। यदि इस विशिष्टताको पाकर उपयोग न किया और आहार-निद्रा-भय-मैथुनादिमें ही समय गंवा दिया तो आत्म-कल्याणसे हाथ धो बैठोगे। मनुष्यभवके चले जानेपर चिरकाल तक हाथ मलते रहोगे।

जीव शुद्ध है। अपने गुणोंमें तन्मय रहना, पर पदार्थके द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे जुदा रहनेका नाम शुद्धता है। सदा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालना चाहिये। शुद्ध दो प्रकारके होते हैं--(१) द्रव्य शुद्ध और (२) पर्याय शुद्ध। द्रव्यसे शुद्ध तो समस्त जीव हैं। अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें रहनेको द्रव्य शुद्ध कहते हैं। जो पर्यायसे शुद्ध हो गया हो, उसे पर्याय शुद्ध कहते हैं। पर्याय शुद्धि सिद्धोंमें है। निगोदिया जीव या संसारी जीवों में पर्यायकी शुद्धता नहीं है। द्रव्य शुद्धि तो निगोदिया जीवमें भी है। क्योंकि उसकी आत्मा अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें है, परके चतुष्टयमें नहीं है एवं पर्यायोंका आधारभूत

एक स्वभाव भी है। द्रव्यदृष्टिसे सभी पदार्थ शुद्ध हैं। पर्यायशुद्धि अरहन्त-सिद्धमें ही है, अन्यमें नहीं। जगतके सारे जीव अपने स्वभावसे अकेले है। प्यौर माने केवल-अकेला। अकेला होना ही द्रव्यकी शुद्धता है। किसीसे भी प्रेम मोह करलो, कभी भी दो मिलकर एक बन ही नहीं सकते।

जैसे बच्चे खेलते रहते हैं। उनमें आते हैं, चले जाते हैं। उन्हें इसका कोई हर्ष विषाद नहीं होता है। उनमें से कोई भी दो मिलकर एक नहीं होते हैं। जब तक साथ साथ खेलते हैं, पक्के दोस्त हैं। उसी प्रकार इस संसारमें जीव आते हैं, मोही सबसे मोह करता है, लेकिन कोई कभी मिल करके एक होता देखा गया है? प्रयोजन यह है कि भाव बनानेमें ही बद्धता और अशुद्धता है। यदि तुमने द्रव्यकी शुद्धि जान ली तो निर्विकल्प बन जाओगे। संयोग होकर, मोह करके किसीसे कोई लाभ नहीं होना है। आत्माका हित संयोगमें नहीं है। जिससे अहित होता है, उसके नष्ट होने पर भी दुःख होता है। अहित-कारक वस्तु मिले तो दुःख होता है, जाये तो दुःख होता है। न मिले और न जाये तो आनन्द ही आनन्द है। जीवका जैसा राग मोह है, उसको उतना ही दुःख है। दुःख देने कोई विलायतसे नहीं आता, वह तो अपने ही भावोंसे मिलता है। शुद्धताकी दृष्टिसे प्रत्येक जीव द्रव्य शुद्ध है। दो के चक्करमें पड़नेसे ही अशांति और आकुलता मिलती है। निर्द्वन्द माने अकेला। अर्थात् जिससे किसीका सम्बन्ध नहीं है। जहां दो हैं, वहां दुःख है। जहां दो नहीं वहां परमानन्द है। शुद्धनयसें जीव निर्विकल्प और निर्द्वन्द है। जीवमें राग है, केवलज्ञान है, यह भी शुद्धनय नहीं है। जीवमें चैतन्य है, यह भी शुद्धनय नहीं है। शुद्ध-नय तो वह कि जीवके स्वरूपको जानलो, कुछ कहो मत। नेति-नेति प्रतीति पूर्वक करनेसे शुद्धनयका विषय बनता है। शुद्धनय, हाँ, कहेसे नहीं जाना जाता। तत्त्व क्या हैं, ऐसा प्रश्न करनेपर तुम बोलकर उत्तर देते रहो, हम नेति-नेति कहते रहेंगे, वहां जानते हो तो शुद्धनय है। व्यवहारनय सद्वन्द सविकल्प और अनेक हैं।

शुद्धनयका विषय चिदात्मक शुद्ध जीव है। "है" बताओ ऐसा कि जिसमें जोड़ और तोड़ न हो। जीव चिदात्मक है, इसमें जोड़ तोड़ नहीं है, यह शुद्धनयका विषय है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप व्यवहारनयके विषय हैं। भूतार्थनयसे जाने गये सातों तत्त्व सम्यक्त्वके कारण है।

भूतार्थनय पद्धतिका अनुसरण न होनेसे इस अवस्थामें जीव पर्यायकी ओर झुकते हैं, अतएव बाह्य सम्पर्कमें रचते हैं। ऐसे जीव अप्रतिबुद्ध हैं। अब इन अप्रतिबुद्धोंके प्रति-बोधके लिये आचार्यदेव यत्न करते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्ते ।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्चं ।
किह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२४।।
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं पव्वं ।।२५।।

जिसकी अज्ञानसे बुद्धि मोहित हो गई है, ऐसा प्राणी अर्थात् वहिरात्मा अनेक विकल्पोंसे संयुक्त होता हुआ बद्ध और अबद्ध यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ऐसा कहता है। किन्तु सर्वज्ञ भगवान्के ज्ञानमें देखा गया है कि जीव नित्य उपयोग लक्षण वाला है, वह पुद्गल द्रव्य कैसे हो जावेगा, जिससे फिर हे बहिरात्मावो ! यह पुद्गल मेरा है, ऐसा कैसे कहते हो ? यदि जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाय और पुद्गल जीवपनेको प्राप्त हो जाय तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है।

जो जीव अज्ञानी है, अज्ञानसे जिसकी बुद्धि मोहित हो गई है, बद्धाबद्ध पुद्गलोंको इष्ट मानता है कि ये मेरे हैं—वह अज्ञानी है। आत्माके चलनेपर जो साथ-साथ चले वे बद्ध पुद्गल हैं जैसे शरीर। जो आत्माके चलनेपर साथ न चले वे अबद्ध पुद्गल हैं, जैसे स्त्री पुत्र धन मित्रादि सभी अबद्ध पुद्गल हैं। शरीर और कर्म, जो कि बद्ध पुद्गल हैं वे भी मेरे नहीं हैं, क्योंकि उनकी सत्ता मेरेसे न्यारी है। अबद्ध पुद्गल तो मेरे हो ही नहीं सकते।

**सब अन्य द्रव्योंका मुझमें अत्यन्ताभाव है:**—अभाव चार प्रकारका है:—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। कोई अभाव नामका स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। वस्तुकी कोई सत्ता 'अभाव' नहीं है। जैसे हमने कहा कि कमरेमें चौकीपर समयसार रक्खा है। वहां देखा तो समयसार नहीं है। हमने खूब देख लिया कि वहां समयसार नहीं है। लेकिन समयसारका "अभाव" कैसे देख लिया ? यदि अभाव देख लिया जा करके, अभाव को उठा तो लाओ। तुम वहां जा करके देखो, वहां भी समयसारका अभाव नहीं दीखेगा। समयसारके अभावरूप चौकीमात्र दिखाई देगी 'अभाव' नहीं दिखाई देगा। प्रत्येक पदार्थका अभाव किसीके सद्भाव रूप पड़ता है। यह बात चारों अभावोंमें घटती है। किसी चीजका पहले न होना प्रागभाव है। जैसे मिट्टीसे घड़ा बना तो घड़ेका कुछ समय पूर्व प्रागभाव था। घड़ेकी खपरियां बन गई तो घड़ेकी खपरिया प्रध्वंसाभाव कहलाया। घड़ेका फूट जाना घड़े का प्रध्वंसाभाव है। हम यदि घड़ेका फूट जाना मांगें तो घड़ेकी खपरिया तो उठाकर लाओगे। खपरिया ही घड़ेका अभाव है। खपरियोंको दिखाकर ही बताओगे कि देखो, घड़ा

फूट गया। घड़ेका अभाव खपरियोंके सद्भावरूप पड़ा। खपरियोंका प्रागभाव घड़ा है और घडेका प्रध्वंसाभाव खपरियां हैं। जैसे मनुष्य है, वह मरकर देव बनेगा। मनुष्यका प्रध्वंसाभाव देव हुआ। देवका प्रागभाव मनुष्य है। अभाव किसी चीजकी सत्ता रूप नहीं है। किसी अन्यकी सत्ता रूप ही अभाव है। अन्योन्याभाव माने एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें न होना। जैसे घड़ा और कपड़ा। घड़ा कपड़ा नहीं हो सकता, कपड़ा घड़ा नहीं हो सकता। अन्योन्याभावमें यह सम्भव है कि जिसका अभाव कह रहे हैं, वह दूसरी चीज कालान्तरमें बन सकती है। लेकिन वर्तमानसे उसका बिल्कुल अभाव है। सुवर्ण ऐसो धातु है कि वह बहुत देर तक ठहरता है, लेकिन अरबों वर्षों बाद तो वह भी मिट्टी बन जाता है। अपनी थोड़ीसी जिन्दगी है, अतः कहते हैं कि सुवर्ण नष्ट नहीं होता। एक चीजका दूसरेमें अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। चौकीपर जैसे पुस्तक रक्खी थी, पुस्तक उठा ली तो चौकी ही पुस्तकके अभावरूप है। पुद्गलकी पर्यायें दूसरे पुद्गलमें नहीं हैं। जैसे दूध दही नहीं है, दही दूध नहीं है, दोनों अलग-अलग हैं। लेकिन दूधका दही बन जाता है तो यहांपर अन्योन्याभाव हुआ। जो कालान्तरमें भी एक न हो सके उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे जीव द्रव्य व अन्य द्रव्य। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें एक नहीं हो सकता। यदि ये सामने दिखाई देने वाले परमाणु मिलकर एक बन जाएं तो इनका हिस्सा नहीं होना चाहिये। परमाणु परमाणु सब जुदे हैं, इनमें अत्यन्ताभाव है। किसी भी द्रव्यमें कोई दूसरा द्रव्य नहीं है।

बद्धाबद्ध दोनों प्रकारके पुद्गलोंका जीवमें अत्यन्ताभाव है। जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं है और गृहस्थीमें है या कहीं है वह पागल है। बहुत भाव करके यह जीव बद्ध अबद्ध पुद्गलोंको अपना मानता है। किसी किसीको यह प्रतीति होनी है कि ये पुद्गल मेरे हैं। संकट आनेपर या लड़ाई झगड़ा होनेपर उसीको कह देते हैं कि यह मेरा नहीं है। सब स्वार्थके साथी हैं, कोई मेरा नहीं, यह रोना भी पाप है। यह मेरा है, यह मेरा मित्र है—यह कहना भी पापकर्मका हेतु है। घातिया कर्म सब पाप हैं। अघातिया कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार के हैं। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यक्त्वका घात नहीं करती है, लेकिन वह भी पापप्रकृति है। दर्शनमोहनीय तो चारित्रमोहनीयसे भी बुरा है। सम्यक्त्वप्रकृति ही सबसे अच्छी जंचती है, लेकिन वह भी पापरूप ही है। हंसना भी पापका कारण है। साता और हंसना ये दो मिले हैं। साता भाव पुण्यका काम है और हंसना पापका कारण है।

**अन्य पदार्थोंमें मोह बुद्धि मत करो:**—यह जीव पापप्रकृतिके कारण बद्ध-अबद्ध पुद्गलोंको अपना मानता है, समझानेपर भी यह जीव ज्ञानमार्गपर नहीं आता है। समझने पर भी यह ज्योंका त्यों रहता है। रागद्वेषके दोस्त कर्म हैं। रागद्वेष अलग जातिके हैं और कर्म अलग जातिके। अस्वभाव भाव आत्माको भटकाता है। जैसे स्फटिक पत्थरमें उपाधि

लगनेसे स्वच्छता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार इस जीवके कर्मोको उपाधि लगनेसे स्वच्छता नष्ट हो जाती है। शरीरसे भिन्न आत्माकी अनुभूति रहे तो अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। वास्तविक आनन्दमें कभी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। भूठे आनंदमें रोम नहीं खड़े होते हैं। आत्मानंदमें रोम खड़े हो जाते है, अतएव वह वास्तविक आनंद है। बढ़ियासे बढ़िया भोजन करो तब भी रोम नहीं खड़े होते है। अच्छी बातपर, धर्मकी बातपर, आत्मानुभाव होनेपर, आनन्दके होनेपर रोंगटे खड़े हो जाते है। भगवान्की निष्कपट भक्तिमें भी रोम खड़े हो जाते हैं। किसीके गुणपर मुग्ध होनेपर रोम खड़े हो जाते है, लेकिन किसी भी विषयानंदमें कभी रोम खड़े नही होते हैं। किसीके गुणोंको देखकर भी आनन्द होता है। अज्ञानने जीवके हृदय को मोहित कर रक्खा है, तभी तो यह इन पुद्गलोंको अपना मानता है। यह मेरा है, ऐसी कल्पनाको मानता है कि यह मैं हूं, तभी जान पाया कि यह मेरा है। दूकान मेरी है--इस कल्पना रूप ही मैं हूं:—

यह जीव अपनेको किसीका पिता, किसीका पुत्र मानता है। इस पिंडोले (शरीरको) भी अपना मानता है। जो विचार यह कर रहा है, उनको भी यह मेरा है, ऐसा मानता है। कल्पना आत्माकी पर्याय है। कल्पनाको मान ले कि यही मैं हूं, तभी दूकानको मान पायेगा कि यह मेरी है। पहले अपने विचारोंको मानेगा कि यह मैं हूँ. बादमें दूकानको मान पायेगा कि यह मेरी है। जैसे यह धन मेरा है। हृदयमें जब ऐसा विचार आया कि यह विचार मेरा है, तभी जानोगे कि यह धन मेरा है। धन मेरा है, यह मिटानेके लिये, धन मेरा है, इस विचारबुद्धिसे ममत्व मिटाओ तभी धनसे ममत्वबुद्धि छूटेगी। मुझ चैतन्यस्वरूप आत्माका यह धन है. ऐसा तो कोई कहता नहीं है। पहले शरीरको जानता है कि यह मैं आत्मा हूं, तभी दूसरेसे ममत्व होता है। पहले पर्यायबुद्धिको मिटाओ, तब ममत्व मिटेगा। पर्यायबुद्धि, आत्मामें विभाव शक्तिका निमित्त पाकर विभाव उत्पन्न होनेसे उत्पन्न हुई है।

**परिणमनकी विशेषता बतानेके लिये भावशक्तिका ही नाम विभावशक्ति रक्खा गया है:**--वह शक्ति एक है:—भाववती। जिस शक्तिके कारण गुण परिणमें उसे भाववतीशक्ति कहते हैं। अब यह शंका हो कि भाववती शक्ति विभावरूप कैसे परिणाम गई? तब हमें इस विषयका मौलिक समाधान करना होगा, वह (समाधान) यहां है कि हमें ऐसी शक्ति माननी ही पड़ेगी, जिसका नाम लेकर अन्त तक काम चल सके। विभावशक्तिके ही दो परिणमन है:—(१) विभावरूप और (२) स्वभावरूप। निश्चयनयका विषय चिदात्मक आत्मा है और व्यवहारनयका विषय, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव अजीवादि सातों तत्त्व और पुण्य-पाप आदि सर्व द्वैत है। जीवमें रागद्वेष हैं, असंख्यात प्रदेश हैं, जीवमें चैतन्य स्वभाव है, यह सब व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनय नेति-नेतिसे जाना जाता है। जीव

अखण्ड सत् है—उसके टुकड़े करनेसे स्वानुभव नहीं होता है। जिससे स्वानुभव हो वह निश्चयनयका विषय है। निश्चयनयका विषय ही न समझे और नेति-नेति कहता रहे, वह सत्यता नहीं। सत्त्व हितकर सम्यक्त्वका विषय निश्चयनयका विषयभूत तत्त्व है, व्यवहारनय सम्यक्त्वकी तैयारी करा देने वाला है।

शंका:—सम्यक्त्वका प्रयोजक शुद्धनय है तो व्यवहारनयसे क्या प्रयोजन है? समाधान:—तुम ठीक कह रहे हो। सम्यक्त्वका विषय शुद्धनय है तो भी व्यवहारनय युक्तियुक्त है। यदि सबको शुद्ध चैतन्य मान लें तो काम कैसे चलेगा? कोई आदमी यदि उपदेश दे रहा हो कि यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है, वह गलत बात है लेकिन मिथ्यात्वकी अपेक्षासे ठीक है। मोहके उदयमें पापकी बात ही ठीक है। मिथ्यात्वी तो पुण्यकी बातको पाप मानता है। मिथ्यात्वके उदयमें पाप निरन्तर चलता है। साधुकी पर्यायको यदि आत्मा मान लिया तो यह बात भी गलत है। मिथ्यात्व अवस्थामें उल्टी बात ही सूझती है। यदि मिथ्यात्वके उदयमें सीधी बात सूझ जाये तो मिथ्यादृष्टि भी मोक्ष चले जायें अथवा वह मिथ्यात्व ही कैसा. व्यवहारनय युक्तियुक्त होनेसे व्यवहार करे बिना काम ही नहीं चलेगा। केवल निश्चय कहनेसे काम कैसे चलेगा? अब युक्ति देते है कि व्यवहारनय क्यों कहना चाहिये? जीव एक है। उसीको नौ रूप कह दिया गया है। मनुष्य अजीव है अर्थात् जीव नहीं है, केवल उसमें रहने वाला चैतन्य ही जीव है। मनुष्य जीवकी पर्याय है शुद्ध जीव नहीं, अतः अजीव कहा। रागादिक ये सब जीवकी पर्यायोंके नाम है—इनमेसे कोई भी जीव नहीं है। शुद्धनयकी दृष्टिसे कोई भी तत्त्व जीव नहीं है। इन नौ में ही जीव हैं—जीव अजीवादि सातों तत्त्वों तथा पुण्य और पापमें। इन सात तत्त्वोंमें जो जीव तत्त्व है, वह शुद्ध जीव नहीं है। वह पर्याय जीवका नाम है। ऐसे ये नौके नौ पदार्थ सम्यक्त्वका विषय नहीं हैं। इन नौ में जो देखा गया एक जीव, वही शुद्ध जीव है। इस शुद्ध जीवके स्वरूपका प्रतिपादन कैसे हो यदि गुण पर्यायोंके वर्णनका कोई सहारा नहीं लिया जावे। हाँ यह बात सत्य है कि व्यवहारनय जिसको विषय करता है वही परमार्थ नही है परन्तु परमार्थके समझानेका व्यवहार निरपेक्ष स्वतन्त्र कोई उपाय नहीं है।

यहां एक साथ ही अनेक बन्धन उपाधियोका सन्निधान है जिसके निमित्तसे अनेक अस्वभाव भाव अर्थात् दौड़े चले आ रहे है। इस कारण इस आत्माकी विवेक ज्योति अस्त हो गई है, अज्ञानमें ही यह मुग्ध है। अतः विभावोंको ही आत्मसर्वस्व समझकर स्वीकार कर रहा है यह और विभावोंके आश्रयभूत पुद्गल द्रव्योंको "यह मैं हू, ये मेरे है" ऐसा अनुभव कर रहा है। हे आत्मघाती दुरात्मन्! इस भयावह, विपदास्पद, संसारमूल अविवेकको छोड़। तू स्वयं परख ले—जीव तो उपयोगस्वरूप है, तू जीव है, उपयोग स्वरूप है। तू

पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? पुद्गल तो अचेतन है, अनुपयोग रूप है। कहीं प्रकाश और अन्धकार एक ही अधिकरणमें देखा है क्या ? नहीं, तो जैसे प्रकाश और अन्धकारका सहवृत्ति विरोध है इसी तरह उपयोग और अनुपयोगका सहवृत्ति विरोध है। इसलिये अब ज्ञाननेत्र खोलो, मोहनिद्रा तोड़ो, मिथ्यात्वतन्द्रा मिटावो, अपने आपको निर्मल बनाओ, अपने आपको अपनेपर प्रसन्न करो, अपने प्रभुका प्रसाद पावो, स्व द्रव्य ही मेरा है—ऐसा अनुभव करो। हे प्रिय आत्मन् ! तूने अब तक अनन्तों बार यत्न किये शान्ति पानेके लिये, किन्तु शान्ति प्राप्त न कर सका। सो विपरीत प्रयत्नसे कार्य बनता है क्या ? पहले शान्ति चाहने वालेको समझ, शान्तिको समझ, शान्तिके सदुपायको समझ। सही उपायसे चले और साध्य-सिद्धि न हो, यह हो नहीं सकता।

**पर्यायोंका आधार तो देखो, निज ज्योतिके दर्शन होंगे:**—जीव-अजीव आस्रव-बंध संवर-निर्जरा मोक्ष-पुण्य और पापमें ९ पदार्थ पर्याय धर्म हैं। इनमें जीव भी शामिल है। इतना ही नहीं ये ९ केवल पर्याय धर्म हों, सापेक्ष भी हैं। इन नौ पदार्थोंको भूतार्थकी पद्धतिमे स्वतंत्रताकी दृष्टिसे देखो तो सम्यक्त्वका कारण है। आस्रव, बन्ध, संवरनिर्जरा, मोक्ष—ये सभी सापेक्ष पर्याय धर्म है। इन्हीं ५ पर्याय धर्मोका आधार जीव अजीव है। ये ५ पर्याय जिसमें होती है ऐसा सापेक्ष जीव अजीव निश्चयनयका विषय नहीं। अखण्ड, एक निश्चयनयका विषय है। इन सात तत्त्वों वाले जीव अजीव सम्यक्त्वका कारण कैसे बन सकते है ? पर्याय धर्म दो प्रकारके होते हैं—उपरक्ति सहित (सापेक्ष) और उपरक्ति रहित (निरपेक्ष), जीवादि नौ पदार्थ केवल पर्याय धर्म ही नहीं, उपरक्ति सहित भी हैं। मोक्ष भी उपरक्ति सहित याने सापेक्ष है, क्योंकि वह एक समयकी चीज है, सिद्ध अवस्था अनन्त कालकी चीज है। सिद्ध अवस्था उपरक्ति रहित (निरपेक्ष) है। वस्तुतः देखा जाये, क्षायिक अवस्था भी एक समयकी चीज है। क्षायिक होनेके बाद स्वतः परिणमन होता रहता है। उन्हीं नौको क्षायिक दृष्टिसे देखा तो क्षायिक जान पड़े, पर्यायदृष्टिसे देखा तो सापेक्ष जान पड़े। ये सातों तत्त्व उपरक्ति सहित याने सापेक्ष हैं। उपरक्ति माने परायत्त चिन्तन। निरपेक्ष पर्याय धर्म और उपरक्ति सहित पर्याय धर्म—इन दो प्रकारका वर्णन कर रहे है। मोक्षके बाद सिद्ध अवस्थामें जो वर्तन हो रहा, वह उपरक्ति रहित है।

**निरपेक्ष पद्धतिसे भी तो ज्ञानका उपयोग करो:**—ज्ञान दो प्रकारसे होता है:—सापेक्ष और निरपेक्ष। जीव-अजीवादि जो नौ पदार्थ है, वे सब सापेक्ष ज्ञानसे बनते हैं, निर-पेक्ष ज्ञानसे नहीं। जैसे मोक्ष होनेमे कर्मोकी क्षयकी अपेक्षा रहती है, अतः मोक्ष भी सापेक्ष ही समझना। ये सभी तत्त्व सापेक्ष है। शुद्ध निश्चयनयके विषय सापेक्ष तत्त्व नहीं हैं, किन्तु उन तत्त्वोंमें निरपेक्ष जीवको देखना निश्चयनयका विषय है। ये नौ तत्त्व पर्याय धर्म है याने ये सापेक्ष है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये भी पर्याय धर्म ही है। पर्यायि भी पर्याय धर्म है।

जहाँ सापेक्ष्य पाया जाये, वे सब पर्याय धर्म समझना। पर्याय सामान्यका नाम ध्रौव्य है। पर्याय विशेषका नाम उत्पाद व्यय है। पर्यायोंके निरन्तर बनते रहनेका नाम ही पर्यायकी ध्रुवता है। कूटस्थ अपरिणामी ध्रौव्य कहीं नहीं। जीव और तत्त्वको निरखकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। नौ पदार्थोंमें शुद्ध जीवको देखना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि तत्त्वोंमें जीवको इस प्रकार देखता है जैसे सुनार भस्ममें सोना। सोना यद्यपि वहाँ राखसे अलग नहीं है; सुनार उसमें सोना देखता है। द्रव्य माने आत्मा। गुण माने द्रव्यमें रहने वाली शक्ति। पर्याय माने शक्तियोंके परिणमन। इन आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्षको तो अच्छी तरह समझ लो। आस्रव दो प्रकारका है—(१) भावास्रव और (२) द्रव्यास्रव। आत्मामें राग, द्वेष, मोह, कषाय आदिका आना भावास्रव है। कर्म वर्गणामें कर्मत्व पैदा होना द्रव्यास्रव है। द्रव्यास्रव पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। भावास्रव जीव द्रव्यकी पर्याय है। पर्याय द्रव्यसे, गुणसे उठती है। भावास्रव जीवसे उठता है, द्रव्यास्रव कर्मसे उठता है। कर्मको निमित्त पाकर जीवसे जीवका आस्रव उठा। जीवको निमित्त पाकर कर्मसे कर्मका आस्रव उठा। यद्यपि है ऐसा ही, परन्तु अभी हमें ऐसा नहीं देखना है, क्योंकि यहाँ एककी चर्चा करना है।

जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ा। उस प्रतिबिम्बको हम दो प्रकारसे देख सकते हैं—(१) प्रतिबिम्बित दर्पणको और (२) अमुक पदार्थके निमित्तसे दर्पण मलिन हो गया, इस तरह भी यहाँ पर हम दर्पणको देख रहे कि दर्पण इस प्रकारसे मलिन हो गया इसी प्रकार, यद्यपि द्रव्य कर्मको निमित्त पाकर आत्मामें भावास्रव हुआ तथापि एक वस्तुपर दृष्टि डालो। एकत्वपर दृष्टि डालना निश्चयनयका विषय है, अतः एकको देखो। यह भावास्रव आत्माके गुणोंकी पर्याय है। भावास्रवमें राग-द्वेष, मोह अज्ञान आता है। कौनसी चीज आत्माके किस गुणकी पर्याय है—यह देखना है।

मोह (मिथ्यात्व) आत्माके श्रद्धा गुणकी पर्याय है, मिथ्यात्वमें और मोहमें कोई अन्तर नहीं है, एक ही वस्तुके दो नाम है। यहाँ उस भावास्रवका कथन है जिसको निमित्त पाकर कर्मवर्गणायें भी कर्म बन जाते हैं। श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, कुमति, कुश्रुत यद्यपि ये आत्माकी गलती है, परंतु इनसे कर्मबन्ध नहीं होता है। नींद भी आत्माकी गलती है, केवल नींदसे कर्मबन्ध नहीं होता, परन्तु नींदमें आत्माके अप्रतिबोध रागद्वेष मोहादि प्रबलतासे उठते हैं, उनके कारण कर्मबन्ध होता है। मति-श्रुतज्ञान, कुमति, कुश्रुत आदिमें भी रागद्वेष मोहसे ही कर्म बंधते है। मोह और कषायके सिवाय कर्मबन्धके अन्य कारण नहीं हैं। दूसरेके ज्ञानमें बाधा डालना यह द्वेष है। बंधके कारण राग, द्वेष, मोह, कषायादिक हैं। आठों कर्मोंमेंसे किसी भी कर्मके बंधमें राग-द्वेष अवश्य कारण होते है। कम या अधिक

जाननेसे कर्मबन्ध नहीं होता, परन्तु यथार्थ न जाननेसे जो अप्रतिबुद्धता रहती है उससे कर्मबन्ध होता है। कम जानना लेकिन यथार्थ जानना अच्छा है। अधिक जानना, लेकिन विपरीत जानना अच्छा नहीं है। विपरीत जानना कर्मबंधका कारण भी है। अतः थोड़े जाननेका तो अफसोस करो ही मत, लेकिन प्रयोजनभूतको अवश्य जान लो।

**भूतार्थपद्धतिमें अन्तरङ्ग तत्त्व मुख्य हो जाता है**—भावास्रव जीवके श्रद्धा और चारित्र गुणकी पर्याय है। ऐसा कहनेसे श्रद्धा और चारित्र गुण मुख्य हो जाते हैं, भावास्रव व उसके कारण गौण रह जाते हैं। जैसे व्यवहारमें पूछते है यह लड़का किसका है? हमारी इच्छा वहाँ लड़केके बापकी ओर विशेष जाननेकी रहती है। राग-द्वेष चारित्रगुणकी व मोहश्रद्धागुणकी पर्याय हैं। ऐसा जाननेमें गुणपर अधिक दृष्टि जाती है। जिसपर अधिक दृष्टि जाती है, वह मुख्य, अन्य गौण हो जाता है। पर्यायके आधारभूत गुणपर दृष्टि दो, फिर गुणके आधारभूत द्रव्य, आत्मापर दृष्टिपात करो। इस तरह विश्वास करो कि श्रद्धा ज्ञान, चारित्र, आत्माके गुण है। अतः वहाँ गुणोंका आधारभूत आत्मा मुख्य रहा, गुण गौण रह गये। आत्मापर दृष्टि जावे, इसका उपाय जिस प्रकार बने, करना चाहिये। इस तरह इन नौ पदार्थोमें जीव इस तरह छिपा है कि करो जीव-अजीव-बंध-संवर निर्जरा-मोक्ष पुण्य और पापकी बात, लेकिन ध्यान आत्मापर जाता है। जीवको भावके ढंगसे देखा उसका नाम 'जीव' (तत्त्व) पड़ा, उसी जीवको द्रव्यदृष्टिसे देखो तो उसका नाम 'आत्मा' पड़ा।

मन दो प्रकारका है—एक भावमन, दूसरा द्रव्यमन। भावमन आत्मासे अलग नहीं है, उसकी एक समयकी परिणति है। लेकिन इससे आत्माको और भावमनको एक नहीं समझ लेना चाहिए, आत्मा जुदा है और भावमन जुदा। द्रव्यमन आत्मासे बिल्कुल जुदा है। भावमन जीवकी पर्याय है। इन सात तत्त्वोमें कहा गया जीवतत्त्व स्वयं पर्यायरूप धर्म है। जीवमें जो आत्मा है, वह द्रव्य है। नौ तत्त्वोंमें मोक्ष भी सोपरक्तिमें (सापेक्ष) बताया गया है। सभी तत्त्व उपरक्ति सहित हैं। नौके नौ पदार्थ पर्याय धर्म हैं। उपरक्ति माने जो एक दूसरेकी अपेक्षासे बने। मोक्ष केवल एक समयका होता है, बादमें सिद्धोंके शुद्ध परिणमन होता रहता है। मोक्ष कर्मोके क्षयके समय होता है। आगे उसकी संज्ञा 'मोक्ष' नहीं है। सिद्धोंमें भी पहले ही समयमें मोक्ष है। इसके बाद पर्यायधर्म है। मोक्ष होने तक सापेक्ष पर्याय था, अब निरपेक्ष पर्यायधर्म है। मोक्षसे पहिले सभी पर्यायधर्म निरपेक्ष भी हैं, सापेक्ष भी है। सापेक्षदृष्टिमें सापेक्ष हैं, निरपेक्ष दृष्टिमें निरपेक्ष हैं। विज्ञान पद्धतिसे देखो तो निमित्तनैमित्तिक भाव है, वहाँ पर्यायधर्म सापेक्ष हुआ। द्रव्यार्थिकनयसे देखो तो जीव ही तो परिणमा, परिणमता रहता है, अपनेमें अपनेसे ही तो परिणमा। कैसा परिणमा? कैसा परिणमा! अपनी जातिकी सीमा तोड़कर नहीं परिणमा। विज्ञानपद्धति

से देखो तो सिद्धावस्थासे पहिले जीवकी सभी पर्यायोंमें उपाधि है। मोक्ष होने तक उपाधि है; बादमें सिद्धावस्था निरुपाधि है। मोक्ष समस्त कर्मोंके क्षयके समय होता है, वह सापेक्ष पर्याय धर्म है। सापेक्ष पर्याय धर्मका विषय व्यवहार है। निरपेक्ष पर्याय धर्मका विषय भी व्यवहार ही है। शुद्धनयकी बात तो आस्रवके विचारमें मिल जाये मोक्षके विचारमें न मिले, मोक्षके विचारमें मिल जाये आश्रवके विचारमें न मिले। मोक्ष या आस्रवकी शुद्धनयकी शैलीसे विचारो तो शुद्धनय है। जैसे रागद्वेष मोह आत्माके श्रद्धाचारित्र गुणकी पर्याय है। यहाँ रागद्वेष ध्याताकी दृष्टिमें विलीन हो गये और श्रद्धा-चारित्र गुण प्रधान हो गया। श्रद्धा चारित्र ये गुण आत्माके हैं। यहाँपर आत्मा प्रधान हो गया और गुण गौण हो गये। इसी प्रकारसे किसी भी तत्त्वको भूतार्थनयसे विचारोगे तो शुद्धनयपर आ जाओगे। इस शैलीसे केवल ज्ञानको भी न विचारो, शुद्धनयपर नहीं आ सकते। यदि विचार करो कि केवलज्ञान तीन लोकों और कालोंके पदार्थोंको एक साथ जान रहा है, वह आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय है, ऐसी प्रतीतिमें केवलज्ञान मुख्य हो जायेगा।

यह ज्ञान सामान्य आत्माकी पर्याय है, इस प्रतीतिमें "आत्मा" प्रधान हो गया। इस शैलीसे जिस चीजको भी विचारो, आत्मापर आपका ध्यान चला जायेगा। इस प्रकार जीवकी सारी पर्याय सोपरक्त हैं—सिद्ध भगवान्‌की पर्याय सोपरक्त नहीं है। जैसे जो 'सहित' होता है, वह रहित अवश्य होता है। जैसे धनसहित कहा जाये तो आपको यह भी प्रतीति हो जायेगी कि कोई धनरहित भी अवश्य होगा। तभी तो 'धन' के साथ 'सहित' शब्द लगा है। ये सम्पूर्ण पर्याय सोपरक्ति हैं। इससे सिद्ध होता है कि कुछ पर्याय उपरक्ति रहित भी अवश्य है। सिद्धोंकी पर्याय उपरक्ति रहित है। सब पर्यायोंमें भूतार्थकी शैलीसे विचार कर शुद्धनय तक आजाओ तो सम्यक्त्वका कारण होता है।

**यह जीवमोहके कारण कषायमें प्रवृत्ति करता है**—धन, सन्तान, स्त्री, पुत्रादिके मोह की जड़ मोह है। यह मोही प्राप्त पर्यायको ही अपना सर्वस्व मान बैठता है। वर्तमान पर्यायका मोह सब प्रकारके मोहोंका कारण है। पर्यायके मोहकी जड़ कटी तो सब प्रकार के मोह अपने आप छूट जायेंगे। वर्तमान पर्यायमें सन्तोष न करो। इससे स्थिर सन्तोष नहीं होता है—ऐसा विचारो। अनादिसे लेकर अब तक हमारे अनन्त भव, भाव गुजर गये, लेकिन इस समय उनमेंसे कोई भी भव या भाव नहीं है। वे विचार भी नहीं रह सके। इसी प्रकार वर्तमान भावमें भी इन समागमोंसे क्या लाभ है? खूब सोचो, सन्तोष नहीं होना है। यह जीव नवीन पर्यायमें सन्तोषकी बुद्धि करता जायेगा, लेकिन सन्तोष पर्यायों में होना ही नहीं है। बाह्य सन्तोष यदि हो भी गया, उससे कल्याण संभव नहीं है। कल्याण करनेके लिये अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके भीतरी संतोप करो। भीतरी

सन्तोष सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धिसे होता है। जब तक जीव आस्रव और आत्मामें भेद नहीं समझता, तब तक जीवके पर्यायबुद्धि रहती है। जब तक पर्यायपर दृष्टि रहती है, तब तक क्लेश नहीं मिटता, क्लेशका कुहराम मचा रहता है। मनुष्यकी परपदार्थपर ऐसी दृष्टि है कि वह अपने आपको भूल जाता है। परदृष्टिसे सब जीव दुःखी रहते हैं। सम्यग्दृष्टिकी भी गृहस्थीमें यही हालत है, किन्तु अज्ञान है नहीं सो भीतरसे अनाकुल है। पहले जो कर्म बाँधे थे, उनके जो संकट थे उनके कारण संसारमें रहना पड़ा। अज्ञानके मिटनेपर विषय-कषायके परिणमन कुछ ही समय तक रह सकते हैं। जीव पर्यायबुद्धिके कारण ही संसारमें रुलता रहता है। पुद्गल द्रव्योंके विषयमें अज्ञानी सोचता कि ये मेरे हैं। किन्तु किसीका कुछ होता नहीं। एक पदार्थ परिणम रहा दूसरा पदार्थ परिणम रहा, लेकिन वे जुदे-जुदे परिणमते रहते हैं। मैं अपने प्रदेशोंमें, ये अन्य पदार्थ अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित हैं। मैं अपने भावोंसे परिणमता रहता हूं, ये बाह्य द्रव्य अपने प्रदेशोंसे परिणम रहे हैं। ये पहले हमारे साथ नहीं थे, न आगे रह सकेंगे। हे मूर्ख आत्मन्! फिर तू इन बाह्य पदार्थोंमें क्यों मोह करता, क्यों अपने मानता? यह ठीक है कि तेरा बाह्य पदार्थोंसे धर्मसाधनके लिये गुजारा चलता; लेकिन ये तेरे हैं, यह मैं हूँ, ऐसा क्यों कहता विश्वास करता? तेरा जीवन इन बाह्य पदार्थोंसे चल रहा है, ठीक है, लेकिन ये मेरे हैं, मैं उनका हूँ, यह मैं हूं—आदि बात गलत है; मेरा कुछ नहीं है। यहां तक कि दुःख सुखमें कारण बनने वाला व साथ देने वाला यह नश्वर शरीर भी मेरा नहीं है।

हे मोही आत्मन्! हे स्वकी हत्या करने वाले आत्मन्! अपने आपकी हत्यासे मतलब स्वभावपर दृष्टि न होना—इस हाथी जैसे अविवेकपूर्ण भोजनको छोड़ो। हाथीको भोजनके विषयमें जैसा अविवेक है, वैसा ही इस मोही प्राणीको परपदार्थोंमें आसक्ति है। प्रत्येक पदार्थको अपना समझ लिया। इनको अपने माननेके परिणाम ही तो परम अविवेकके कारण हैं।

**विलक्षणोंको विलक्षण लक्षणों द्वारा देखलो**—जीवद्रव्यका लक्षण 'उपयोग' है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है। चैतन्यका अनुविधान करने वाले परिणामका नाम 'उपयोग' है। वास्तविक दृष्टिसे जीवका लक्षण उपयोग नहीं, जीवका लक्षण चेतनता है। जीवको उपयोगसे ही पहिचाना जाता है। जीवका लक्षण 'नित्योपयोग' है; चैतन्यमात्र जीवका लक्षण कहनेसे लोगोंके जल्दी समझमें नहीं आवेगा—अतः 'नित्योपयोग' जीवका लक्षण जानना। उपयोग तो पर्याय है, समस्त पर्यायोंको नित्योपयोगमें ग्रहण कर लिया। "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" यह तो सर्वसम्मत है।

जीव पुद्गल नहीं बन सकता, पुद्गल जीव नहीं बन सकता। फिर क्यों अनुभव

करते कि ये पुद्गल मेरे हैं । एक पदार्थ अपने से भिन्न दूसरेका कुछ बन ही नहीं सकता । फिर क्यों ऐसा अनुभव करते हो कि अमुक वस्तु यह पुस्तक घड़ा आदि मेरे हैं । भैया ! बात यह है कि ये बाह्य पदार्थ अचेतन हैं, तुम्हें कुछ जवाब तो दे नहीं सकते, तुम चेतन हो सो कुछ उधम मचा लेते हो । यदि इन पदार्थोंमें चेतनेकी हलचल होती तो ये फिर तुम्हारी हमारी अक्ल खुद ठिकाने लगा देती । अभी तो अपन बक रहे हैं घड़ी मेरी, मकान मेरा आदि ।

सारे विश्वको एक ज्योतिसे समझने वाला ज्ञान सर्वज्ञ भगवान्का ज्ञान है । उसमें संशय विपर्यय अनध्यवसाय नहीं हैं । अखिल विश्वके ज्ञाताद्रष्टा सर्वज्ञ देवने बतला दिया है कि पुद्गल जीवसे भिन्न है, जीव पुद्गलसे भिन्न है । यदि अकस्मात् जीव पुद्गल बन जाये या पुद्गल जीव रूप परिणम जाये—तो इन बाह्य पदार्थोंमें यह मेरा है या मैं यह हूं—ऐसा प्रतीति करलो । लेकिन कभी जीव-पुद्गलमें एकत्व हो ही नहीं सकता ।

सचित्त-अचित्त-सचित्ताचित्त—इन तीन प्रकारके पुद्गल द्रव्योंमें कोई भी त्रिकालमें भी जीवका नहीं हो सकता । दृष्टान्ततः इस अंगुलीके पासके परमाणु व दूसरे उसके पासके परमाणुमें कोई सम्बन्ध नहीं, दोनों भिन्न हैं । जब पुद्गलका एक परमाणु दूसरे पुद्गल परमाणुका कुछ नहीं लगता, तो यह पुद्गल शरीर इस चैतन्य जीवका लगेगा ही क्या ? फिर यह मेरा है. शरीर मेरा है—यह विचार कहांसे ले आये ? ज्ञानसे यह निर्णय करो कि मेरा कुछ है ही नहीं; मैं मैं हूँ, यह यह है, इनका मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । लेकिन मोही प्राणी मोहके कारण मोहके आश्रयभूत इन पदार्थोंको अपना मान बैठा । कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यका कभी हो ही नहीं सकता । अज्ञानी शरीरमें ऐसी बुद्धि करता है कि यह आत्मा है । उसे यह मालूम नहीं कि ये दो सत् हैं—शरीर और आत्मा । वह यह नहीं कहता कि शरीर ही आत्मा है, उसने तो शरीरको ही आत्मा समझा है । जैसे यह (पुस्तक) है सो पुस्तक है । ऐसे ही मोही प्राणी शरीरको ही आत्मा मान बैठा है । यह शरीर मैं हूं, ऐसा नहीं सोचता वह । शरीरमें यह मैं हूँ ऐसा मानता है वह । जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक जीव अज्ञानी है, मोही है । कमसे कम इतना तो मानो कि मेरा कुछ नहीं है, यह मेरा है—इस बुद्धिको त्याग दो । मेरा कभी कुछ हो नहीं सकता । मेरा है—यह बुद्धि लगी है इसीलिये आत्माका सर्वसे बैर है ।

यह मोही जीव यद्यपि कुछ करता नहीं, केवल भावमात्र बना लेता है, लेकिन बुद्धि में करे बिना रहता भी नहीं है । परमार्थसे मेरा कोई कैसे हो सकता है ? इसका परिणमन इसका है, मेरा परिणमन मेरा है, दोनोंके परिणमन जुदा जुदा हैं । मैं अपने परिणमनसे परिणमता, यह अपने परिणमनसे परिणमता । दुनियाभरके संकट मदीय भावसे तो हो

रहे हैं, तनिक सी ममता ही संकटका कारण है। बाह्य पदार्थोंमें यह मेरा है–जो यह कल्पना हो रही है, उसे भूल जाओ। क्योंकि कोई भी चीज मेरी हो ही नहीं सकती। इस प्रकार निर्मल अभिप्रायमें बहिरी दशों विपत्ति होनेपर भी आराम ही आराम रहेगा। यह विवेक ही सुखकारी है। सर्वज्ञ देवने जीवका लक्षण उपयोग ही बतलाया है। उपयोग रहित पुद्गल द्रव्य है–फिर यह पुद्गल मेरा कैसे हो सकता है?

नमकका लक्षण क्षारत्व है। जैसे नमक पानी रूप हो जाता है: जलका लक्षण द्रवत्व है। वह द्रवत्व लक्षण वाला पानी नमक रूप बन सकता है। खारा और पानी एक साथ हो सकते हैं। परन्तु उपयोग कभी भी अनुपयोग, अनुपयोग कभी भी उपयोग नहीं हो सकता। जैसे अंधकार और प्रकाशमें सहवृत्ति विरोध है अर्थात् दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार उपयोग और अनुपयोगमें भी सहवृत्ति विरोध है। अतः स्वद्रव्यको ही मेरा है– ऐसा अनुभव करो।

संसारकी मूर्ति यह शरीर है। शरीरको देखकर ही 'भव' की पहिचान होती है। इस शरीरको मात्र पड़ौसी जानो। जैसे–किसीके घरमें आग लगनेपर पड़ौसी उस आगको यथाशक्ति बुझानेका प्रयत्न करता है। वह, यह पड़ौसीका घर है, अतः मैं आग बुझाऊं– यह सोचकर आग नहीं बुझाता, बल्कि कदाचित् यह आग मेरे घर तक पहुँच जाये और मेरे घरको भस्म करदे–इस दृष्टिसे बुझाता है। उसी प्रकार आत्माका पड़ौसी यह शरीर है। जब इस शरीरमें रोगादि रूप वह्नि लगती है, उसीको ज्ञानी जीव यह सोचकर उनको दूर करता है कि ये रोग शरीरके पड़ौसी मुझमें (आत्मामें) न लग जायें; मेरेमें कहीं राग द्वेष, मोह, काम, क्रोध, कषायादि रूप वह्नि न लग जाये, कहीं मेरी ज्ञाननिधि न जल जाये।

तत्त्वका कुतूहली प्रत्येक पदार्थमें से तत्त्व निकाल लेता है। जिन्हें संसारसे छूटना है, वे जिनमूर्तिसे तत्त्व निकाल लेते हैं कि इसी प्रकार दिगम्बर होकर ध्यान करते रहो और कर्मोंको क्षय करो तो मोक्ष मिले। तत्त्वकुतूहलीको दृश्यमान सभी वस्तुओंमें अपना इष्ट तत्त्व दिखाई देता है। जो हमें आंखोंसे दिखाई दे रहा है, वह एक नहीं है, वह नश्वर पदार्थ हैं। यह सब दीखने वाली चीजें पर्याय होती हैं ऐसा विचार तत्त्वज्ञ प्रत्येक पदार्थमें कर लेता है। अतः हे भोले प्राणियों! पुद्गलका और आत्माका विवेक समझो।

**तत्त्वज्ञान ही संकटसे बचाने वाला परम शरण है:**—आत्माका वैभव ज्ञान है। आत्माकी जो महिमा है, वह सब ज्ञानकी महिमा है। ज्ञानसे इस लोकमें सुख मिलता, परलोकमें भी सुख मिलता है। एक ब्राह्मण वृद्ध-वृद्धा, उनका लड़का और लड़केकी बहू यात्रा के लिये जा रहे थे। उन्हें रास्तेमें हो गई रात। वहांपर प्रतिदिन एक दैत्य आया करता

और प्रश्न पूछता, जो उत्तर दे न पाता उसे खा जाता। वे चारों उस जंगलमें ठहर गये। उन्होंने एककी ड्यूटी लगाई। पहले बूढ़ेका नम्बर आया, अन्त सब साथी सो गये। नियमानुसार वही दैत्य आया और प्रश्न पूछा—एको गोत्रे... । बूढ़ा शिक्षित तो था ही, उसने उत्तर दिया:—एको गोत्रे भवति स पुमान् यः कुटुम्बं विभर्ति अर्थात् गोत्रमें वही पुरुष होता है जो समस्त कुटुम्बका पालन करे। उत्तर उचित सुनकर दैत्य एक सुवर्णका आभूषण उपहारमें दे गया। दूसरे पहरमें पुनः राक्षस आया और कर्तव्यपरायणा वृद्धासे प्रश्न किया—सर्वस्य द्वे। बुढ़ियाने उत्तर दिया—सर्वस्य द्वे सुमति कुमति संपदापत्तिहेतू। कि सब जीवोंको सुमति और कुमति सम्पत्ति और विपत्तिका कारण है। उचित उत्तर सुनकर इसे भी आभूषण भेंट किया। तीसरे पहरमें लड़का जागा, उससे भी दैत्यने प्रश्न किया-वृद्धो यूना। लड़केने उत्तर दिया—वृद्धो यूना सह परिचयात्त्यज्यते वामाभिः। अर्थात् स्त्रीका पति वृद्ध हो और स्त्रीका परिचय किसी युवकसे हो जाय तो स्त्रियोंके द्वारा वह वृद्ध छोड़ दिया जाता है। इस उत्तरको सुनकर दैत्य इसे भी इनाम दे गया। अन्तिम पहरमें बहूसे राक्षसने प्रश्न किया—स्त्री पुंवत्। बहूने जवाब दिया:- स्त्री पुंवत् प्रभवति यदा तद्धि गेहम् विनष्टम् अर्थात् जिस घरमें स्त्री पुरुषकी तरह हो जाती है याने स्वच्छंद प्रभु बन जाती है वह घर नष्ट हो जाता है। इसे भी सोनेका आभूषण इनाम दिया। इस प्रकार दैत्य उन चारोंके उत्तर पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुतसा इनाम दिया। प्रातः होते ही वे चारों सकुशल अपने घर आ गये। दुःख मनकी कल्पना है। ज्ञानसे कोई दुःख नहीं पा सकता। जिन्होंने अभी तक गरिष्ठ पदार्थ खाये हैं, यदि उन्हें साधारण भोजन दे दिया जाये तो वह अपने मनमें दुःख मानता है। दुःख ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। ज्ञानसे विवेककी वृद्धि होती है। शरीर मैं नहीं हूं, और कोई सम्बन्धी भी मेरा नहीं है। इस जगत्में कोई भी चीज मेरी नहीं है—यह बात हर समय ध्यान रखनी चाहिये। मनुष्य जितना जीवनभरमें कमा सकता है, उससे भी अधिक खर्च करके उसे पढ़ाया जाता है। ज्ञानकी तुलना धनसे कभी नहीं की जा सकती। ज्ञानके विकासके लिये तन-मन-धन भी लग जाये तब भी कोई बात नहीं। सब प्रकारके कष्ट सहकर भी ज्ञानसाधन करो।

राजा भोजके समयमें जरा-सी भी कविता सुनानेपर एक लाख, ५० हजार, २५ हजार रुपया इनाम मिल जाता था। चार देहाती थे। उन्होंने सोचा चलो हम भी कविता बनावें, हमें भी इनाम मिलेगा। वे चारों चले। रास्तेमें एक बुढिया रांटा कातती हुई मिली। उनमेंसे एक बोला कि लो हमारी कविता बन गई। तीनोंने पूछा सुनावो। तब वह बोला—चनर मनर रांटा मन्नाय। आगे बढ़े वे चारों। आगे एक कोल्हूका बैल भुस खा रहा था। दूसरा बोला—हमारी कविता बन गई। क्या? कोल्हूका बैल खरी भुस खाय। आगे बढ़े।

सामनेसे धुनिया पीजना लादे चला आ रहा था। तीसरा बोला—हमारी भी कविता बन गई। क्या ? वहाँसे आ गये तरकसबंद। अब तीनोंने चौथेसे कहा कि तुम भी बनावो। चौथा बोला—मैं आशुकवि हूं सो तुरंत बनाऊंगा। चले चारों दरबारको। पहरेदारसे चारों बोले—महाराजको खबर दो कि चार महाकवीश्वर आना चाहते हैं। राजाने बुला लिया। अब कविता करनेको चारों लाइनसे खड़े हो गये। अब आप देखना चौथा अपनी क्या कविता सुनायेगा ? चारोंने क्रमसे सुनाया:—चनर मनर रांटा मन्नाय, कोल्हूका बैल खली भुस खाय, वहांसे आ गये तरकसबंद, राजा भोज हैं मूसरचंद। राजाने वहां बैठे हुए विद्वानोंसे कहा, अच्छा इस दोहेका कौन अर्थ बतायेगा। पहले तो सब चुप रहे क्योंकि इस दोहेमें कोई तत्त्व तो है ही नहीं। फिर भी एक विद्वान साहस करके उसका अर्थ करने लगा। (१) यह शरीर रांटाकी तरह इधरसे उधर घूमता रहता है। (२) आदमी प्रति-समय कोल्हूका बैल बना रहता है, दूसरोंके लिये कमाता है, स्वयं रूखा-सूखा खाकर रह जाता है। (३) ईश्वरके पाससे आयु समाप्त करनेके लिये यमराज आ धमका है। (४) संसारकी ऐसी दशा है, फिर भी राजा भोज नहीं चेतते उन्हें बिल्कुल भी विवेक नहीं है सो राजा भोज मूसरचंद हैं। राजा यह अर्थ सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और पांचों को खूब इनाम दिया। ऐसी दशा सारी दुनियाकी है। परन्तु उन्हें यह खबर नहीं कि कुछ समय ज्ञानोपयोगमें लगावें। यह मनुष्य जड़ पदार्थोंके लिये कमाता है। जब तक हमारे पुण्यका उदय है तभी तक ये स्वार्थी प्राणी साथ देते हैं, फिर कोई खबर भी नहीं लेता। विवेकपूर्वक कुछ अपने आत्माके बारेमें सोचो। वह पर्याय जो हमपर गुजर रही है, इसी को अपना सर्वस्व मान अपनी आत्माको अधिकसे अधिक कर्मोंसे बांध लें, यह तो बुद्धिमानी नहीं है। अभ्यास करो तो सब विकल्प दूर हो जायें। ध्यानसे जो निराकुलता मिलती है, उसीसे समझो सन्मार्ग मिल गया।

सुख शान्ति अपने ही विचारोंसे मिलेगी, दूसरोंके विचारोंसे शान्ति नहीं मिल सकती। जितना मिला है, उसीमें सन्तोष करो। जिसे वर्तमान परिस्थितिमें सन्तोष करने की आदत नहीं है, वह सन्तुष्ट नहीं रह सकता। बाह्य पदार्थोंमें बुद्धि रखना अनर्थके कारण हैं। यह जीव अज्ञानी है, ऐसा कैसे जाना जाता है ? जो परिग्रहमें लीन है और उनमें यह मैं हूं, यह मेरे हैं, इस प्रकारसे पर्यायबुद्धि रखता है, वह अज्ञानी है। इस जीवके साथ कर्मों के बन्धनकी उपाधि लगी है। यह जीव शरीरको ही आत्मा मानता है। उसके दिमागमें दो चीजें हैं:—शरीर और मैं। अपनेको शरीराकार रूप ही मानता ऐसी मोहीकी मान्यता है। वह इन शब्दोंमें नहीं जानता कि शरीर ही मैं हूं। वह तो जो दो चीजें उसके साथ हैं वह मैं हूं, ऐसा मानता है।

**एक द्रव्यके स्वरूपमें दूसरे द्रव्यका प्रवेश ही नहीं हो सकता:**—हे प्राणियों ! यह तो पुद्गलद्रव्य है तुम जीवद्रव्य हो। पुद्गल जीव नहीं हो सकता, जीव पुद्गल नहीं हो सकता, मैं चैतन्य सहित एक पदार्थ हूं; पुद्गल चेतनता रहित है। त्रिकालमें भी पुद्गल जीव नहीं हो सकता और जीव पुद्गल नहीं हो सकता। एक परमाणु दूसरे परमाणुसे मिलकर कभी एक नहीं हो सकता। पूज्य आचार्योंने समझाया कि जीव पुद्गल नहीं है, पुद्गल जीव नहीं है। त्रिकालमें भी ये एक दूसरे नहीं हो सकते। पुद्गल अचेतन पदार्थ है, जीव सचेतन पदार्थ है। प्रत्येक परमाणुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है जीव अखड सत् है। जीव अनादिसे है, उसका कभी अन्त भी नहीं हो सकता। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें रहता हूं। ये पुद्गल द्रव्य मेरे कैसे हो सकते हैं ? कभी सत् दो मिलकर एक नहीं बन सकता। राग न छूटे, न छूटे परन्तु यह प्रतीति होना चाहिये कि ये पदार्थ मेरे नहीं हैं; और न कभी हो सकते। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है। परमार्थसे कोई चीज मेरी नहीं हो सकती। शरीर और कर्म भी मेरे कैसे हो सकते हैं ? कोई पदार्थ मेरा नहीं हूं, मेरा मैं स्वयं हूं। मैं मैं हूं, अन्य नहीं हो सकता, फिर राग कब तक नहीं रह सकेगा। मैं मैं स्वयं ही हूं—यह इसलिये कहना पड़ा कि अज्ञानी इसके विपरीत कल्पना कर रहा था। अन्यमें मैं हूं ऐसा मान रहा था अन्य-अन्य पदार्थोंमें अज्ञानीकी बुद्धि न चल पाये, अतः उसका खण्डन करनेके लिये ऐसा वाक्य कहा है। दूसरे पदार्थका अन्य पदार्थसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है।

एक सिद्धके स्वरूपमें दूसरे सिद्धका स्वरूप नहीं जा सकता। मोक्ष जानेका स्थान ४५ लाख योजन अढ़ाई द्वीप है। एक जगहमें अनेक सिद्ध रहते हैं, लेकिन एक सिद्धमें उन्हीं का परिणमन जाता है। सबका अलग-अलग परिणमन होता है। एक सिद्धने सबको जान लिया, सब सिद्धोंको भी जान लिया। ऐसे सभी सिद्ध हैं, जो सब सिद्धोंको जानते हैं। उपयोगमें और क्षेत्रमें अनेक सिद्ध विराजमान हैं, फिर भी उनका परिणमन उनके अपनेमें ही होता है। दूसरेका परिणमन उनमें या उनका परिणमन दूसरेमें नहीं होता है। सबका परिणमन न्यारा-न्यारा है।

**प्रत्येक पदार्थ स्वयं है, स्वयंसे स्वयंमें स्वयंके लिये परिणमता रहता है**—कोई भी बाह्य पदार्थ अपना कुछ नहीं हो सकता। लेकिन मोही जीव बाह्य पदार्थोंको अपना मान कर दुर्गतियोंमें भटकता फिरता है। अपने स्वभावपर तनिक भी दृष्टि नहीं देता। अरे प्राणियों ! अपने स्वभावपर किञ्चित् दृष्टिपात तो करो। अपने स्वभावपर अधिकसे अधिक समय दृष्टि बनी रहनी चाहिये। जीवमें प्रति समय परिणमन होता रहता है। जिस समय वस्तुमें परिणमन होना बन्द हो जायेगा, वह वस्तु भी उसी समय नष्ट हो जायेगी, बिना

परिणामें वस्तु रह ही नहीं सकती। मैं यदि साधु हूं, यह तो कुछ समयके लिये हालत है। मैं एक चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं। वह ज्ञानी भी शुद्ध आत्मासे व्यवहार नहीं कर सकता। द्रव्य शुद्ध निश्चयनयसे अपनेमें रहता है, अन्य पदार्थोंसे न्यारा है। स्वभावकी दृष्टिसे जो सम्यग्ज्ञानात्मक आत्मा है, उसको देखना चाहिये, नहीं तो मोक्षमार्ग नहीं चल सकता है। अशुद्धका आश्रय करनेसे मोक्षमार्ग चलेगा ही नहीं। मोक्ष मार्ग शुद्ध पर दृष्टि देनेसे चलता है। इस अशुद्धमें भी यदि शुद्ध द्रव्य देखा जाये तब मोक्षमार्ग चलता है। सिद्धोंका आश्रय (ध्यान) करनेसे मोक्षमार्गका उपाय मिलता है। वास्तवमें सिद्धोंका आश्रय कोई कर ही नहीं सकता। परपदार्थका आश्रय न तो किसीने किया है और न कोई कर ही सकता है। प्रत्येक आत्मा अपना काम अपने द्वारा अपने में अपने लिये करता है। यदि कोई एक दूसरे रूप हो जाता तो यह संसार और संसारमें रहने वाले प्राणी ही न रहते। अतः एक पदार्थ दूसरे पदार्थ रूप हो ही नहीं सकता है। गुस्सा करने वाले ने अपना बिगाड़ किया, दूसरेका कोई बिगाड़ कर ही नहीं सकता। यदि गुस्सेकी बात देख कर दूसरा भी गुस्सेमें आ गया तो वह (दूसरा) अपना बिगाड़ स्वयं करेगा, पहला उसका बिगाड़ नहीं कर सकता। आपसमें वे अपने परिणामोंसे स्वयं अपना बिगाड़ कर लेंगे, लेकिन उनमें से कोई किसीका तनिक भी बिगाड़ नहीं कर सकता। हाँ, अपने परिणाम दोनों मलिन कर लेंगे।

हम निरन्तर इस ध्यानमें नहीं रह पाते कि मैं तो अमूर्त चैतन्य हूँ। इस अचेतन अमूर्त आत्माको कोई नहीं जानता है। मैं अपरिमित पदार्थ हूँ। जब मेरा लोगों ने परिचय ही नहीं किया अर्थात् मुझे कोई नहीं जानता, चाहे मेरी कैसी भी हालत होती रहे, मेरा कुछ नहीं बिगड़ता तब मेरा कोई कैसे होगा? जैसे दो आदमियोंमें लड़ाई हो जाती है, उन्हें यदि कोई परिचित व्यक्ति देखे तो लड़ने वालोंको और भी अधिक गुस्सा आता है, क्योंकि वे अपने मनमें यह सोचते हैं कि ये देखने वाले मुझे कायर समझेंगे। अतः उन्हें अपनी इज्जतकी फिक्र पड़ती है। लेकिन जब मुझ चैतन्य आत्माको कोई जानता ही नहीं, फिर इस मेरेका कुछ भी होता रहे, मुझे किसी की फिक्र नहीं।

इस अमूर्त चैतन्य आत्माका कोई अपमान कर ही नहीं सकता—जो कोई किसी की निंदा करता है, समझो वह अपनी ही निंदा कर रहा है, परकी निंदा वह कर ही नहीं सकता। निंदा करनेसे उसकी आत्मा कलुषित होगी, अन्यकी नहीं। जब निन्दकको दोषपर दृष्टि गई तो निंदकने अपना ही अपमान किया। दूसरेकी निन्दासे दूसरेका अपमान नहीं होता है। यदि दूसरेका अपमान होगा तो दोषपर दृष्टि जानेसे होगा। यदि इस प्रकारकी दृढ़ प्रतीति करे तो कभी आकुलता न हो। सुख शांति निश्चयनयके आश्रयसे

मिलेगी, व्यवहारके आश्रयसे सुख नहीं मिल सकता। दुनियाको अपनेसे भिन्न समझो तो सुख-शाँति मिलेगी। व्यापार करते हुए भी पद-पद पर आने वाली विपत्तियोंसे दुकानदार विवेक रक्षा करता है। श्रद्धाके बलपर ही शाँतिकी प्राप्ति होती है। एक बार श्रद्धा होनी चाहिये कि मैं समस्त पदार्थोंसे न्यारा शुद्ध चैतन्य अमूर्त पदार्थ (आत्माद्रव्य) हूं। ऐसे शुद्ध चैतन्यात्माके आश्रयसे, जो कि समस्त पदार्थोंसे न्यारा है, सुखशाँति प्राप्त हो जाती है, समस्त आकुलताएं प्रकाशमें अन्धकारके समान दूर चली जाती हैं। वह ध्येय प्रभु स्वयमें विराजता है। उसका यद्यपि अशुद्ध परिणमन है फिर भी हम उस अशुद्ध परिणमनमें शुद्ध द्रव्यको देखते हैं। मोह श्रद्धा-गुणका परिणमन है—ऐसा सोचनेपर श्रद्धाशक्तिका स्वरूप उसके समझमें आया। इस अशुद्ध पर्यायमें भी सामान्य तत्त्वपर आता है। सामान्यकी महिमा बहुत बड़ी है, जबकि दुनियामें विशेषकी महिमा गाई जाती है। दुनियामें विशेषको आदर दिया जाता है, इसी कारणसे अभी तक रुले। सामान्यपर दृष्टिमें ही कल्याण होगा, विशेषमें नहीं यह निश्चित है।

अखण्ड द्रव्यकी ओर दृष्टि दौड़ाएं और परपदार्थोंको गौण समझ करके यह जीव सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे मोक्ष मार्गमें प्रवृत्ति करे तो उसका कल्याण हो जाये। सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे धर्म प्रकट होता है। वह ध्येय प्रभु सबके हृदय-मन्दिरमें है। हमें सिद्ध बनना है अतः सिद्ध प्रभुके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। वास्तवमें कोई सिद्ध प्रभुका अथवा किसी अन्यका ध्यान कर ही नहीं सकता। बड़ेसे बड़ा योही भी किसीसे मोह कर ही नहीं सकता। पुत्रपर मोह पिता कर ही नहीं सकता। जो करता है, वह खुदमें ही मोह करता है। यह प्रेम पर्याय स्वयंकी आत्मामें हुई, प्रेम अपनी आत्मासे ही किया, हमारी प्रेम-पर्याय दूसरेमें जा ही नहीं सकती। जो करता है, वह अपने लिये करता है, दूसरेके लिये नहीं कर सकता। ऐसी ही वस्तु है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें स्वतंत्र परिपूर्ण है। अन्य पदार्थमें अपना आत्मा जा ही नहीं सकता। अतः हे आत्मन्! इस अविवेकको छोड़। शरीर मेरा है ही नहीं, कितना भी कहते रहो कि मेरा है, लेकिन समयानुसार एक दिन नष्ट हो ही जाना है। सचित्त, अचित्त व मिश्र—ये पुद्गल मेरे नहीं—ऐसा विचारकर बाह्य पदार्थोंसे दृष्टि हटा लो। हमें उस स्थितिका अनुभव करना है, स्वाद लेना है; जो निर्विकल्प हो। एक समयकी निर्विकल्प स्थितिके स्वादमें कितनी पापवर्गणाएं प्राप्त होती हैं। जिस निर्विकल्प स्थितिसे इतना लाभ है, उसीका आदर करो, वही सर्वोच्च 'चीज है।

कभी जीव पुद्गल नहीं हो सकता, पुद्गल जीव नहीं हो सकता। शरीरकी सेवा रुचि करना आत्माकी हत्या करना है। शरीरका पोषण तभी तक करो, जब तक वह धर्म-ध्या में सहायक होता है। शरीरको अपना नौकर समझो, उल्टे शरीरके नौकर मत बनो।

जीव पुद्गल नहीं हो सकता, पुद्गल जीव नहीं हो सकता।

शंका:—अब अज्ञानी शिष्य समयसारकी २६ वीं गाथामें प्रश्न करता है कि जो शरीर है वही आत्मा न हो और पुद्गल ही जीव न हो तो यह स्तुति योग्य नहीं बैठती:—

जदि जीवोण सरीरं तित्थपरायरिय संथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेणहु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि शरीर ही जीव नहीं है तो फिर तीर्थंकरदेव और आचार्यदेव आदिकी जो स्तुतियां हैं वे सब मिथ्या हो जावेंगी। इसलिये मैं तो यही समझता हूं कि देह ही आत्मा है। ऐसा जिज्ञासुने कहा।

भगवान् तीर्थंकरने अपनी कांतिसे दशों दिशाओंको स्नान करा दिया। कान्ति शरीर की है। जिसकी कान्ति है, वही भगवान् है। शरीरसे अतिरिक्त भगवान् नहीं है। शरीर ही तो जीव कहलाया। शरीरसे न्यारा अन्य जीव है ही क्या? यदि शरीर ही जीव न हो तो ये स्तुतियां झूठी हो जायेंगी। हे भगवन्! आपके तेजके द्वारा सभी प्रभावित हैं। तेज भी तो शरीरका है। हे भगवन्! आपका रूप बड़ों बड़ोंके चित्तोंको चुरा लेता है। चूंकि रूप शरीरका है, अतः भगवान् शरीरसे अलग हो ही नहीं सकते इससे शरीर ही तो भगवान् कहलाया। शरीरसे न्यारा भगवान् नहीं है। व्यवहारमें बहुतसे लोग कहा करते हैं कि इन भगवान्की कैसी मूर्ति है, ये भगवान् काले हैं, इनकी सूरत मनमोहनी है, ये भगवान् छोटेसे हैं, ये भगवान् बड़े हैं आदिसे हम तो इन्हींको जीव मानते हैं। इनसे अलग हम जीव मानते ही नहीं। आप दिव्यध्वनिके द्वारा कानोंमें अमृतकी वर्षा करते हो। दिव्यध्वनिके समय शरीर ही से तो शब्द निकला, अतः शरीर ही जीव कहलाया। हे भगवन! आपके १००८ लक्षण हैं। लक्षण शरीरके ही तो हैं। यदि शरीर ही भगवान् न हो तो ये स्तुतियां मिथ्या हो जायेंगी। सब शास्त्र झूठें कहलायेंगे। हम तो शरीरको ही भगवान् मानेंगे। यह हमारा जबर्दस्त विश्वास है कि शरीर ही जीव है। ऐसी शंका शंकाकारने की और भी देखो आचार्यकी स्तुतिमें भी कहा करते हैं कि जिनका देश शुद्ध है, कुल शुद्ध है, जाति शुद्ध है, जो शुद्ध मन वाले हैं, शुद्ध वचन वाले हैं, शुद्ध काय वाले हैं वे आचार्य मुझपर प्रसन्न हो गये। इसमें देहके, पुद्गलके गुण गाकर ही तो उनकी स्तुति की। इससे हम जानते हैं कि देह ही आचार्य है। यह शंका भी शंकाकारने की। अब उत्तरमें श्री आचार्यदेव कहते हैं—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण हु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एयट्ठो ॥२७॥

जीव और देह एक है ऐसा व्यवहारनय कहता है, परन्तु निश्चयनयके आशयमें जीव और देह कभी एकार्थ नहीं हैं।

समाधानः—पूर्वगाथोक्त शंकाका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि तुम्हें नयोंका पता नहीं है, अतएव ऐसी बात कह रहे हो। व्यवहार नय तो ऐसा कहता है कि जीव और देह एक है, मिला हुआ है। परन्तु निश्चयनयके मतमें कभी भी जीव और देह एक नहीं हो सकता। आत्मा जिस जगह है, वही देह है। देह जिस जगह है, उसीमें आत्माके प्रदेश हैं, फिर भी देह देह ही है, आत्मा आत्मा ही है। आत्मा और आकाशका अवगाढ़ सम्बन्ध नहीं है। शरीर और आत्मामें अवगाढ़ सम्बन्ध है। क्योंकि जब शरीर चलता है, आत्मा भी चलता है, लेकिन आत्माके चलनेपर आकाशके प्रदेश नहीं चलते हैं। जिसपर भी देहका लक्षण देह ही में है, आत्माका आत्मामें। जैसे—सोना और चांदी मिला हुआ हो। तो वह सोनेका डिगला कहलाता है। इसी प्रकार व्यवहारनयकी दृष्टिसे जीव और शरीर मिले हुए हैं। इस पिण्डको जीव कह दिया जाता है। मिली हुई चीजमें जहाँ जिसका जो आशय हो उस आशयसे किसी एकके नामका व्यवहार चलता है। जैसे मिले हुए चाँदी सोनेमें पिण्डको देखकर कोई तो कहता है कि यह सोना है, कोई कहता है यह तो चांदी है। मिले हुए दूध पानीमें बेचनेवाला तो कहता है यह दूध है और खरीद-दार खरीदता हुआ भी या न खरीदता हुआ यह कहता है कि यह तो पानी है। बोले जाने में आशय भिन्न-भिन्न है। यह शरीर याने भव जीव पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, इसे व्यवहारनय तो जीव कहता है और निश्चयनय अजीव अर्थात् यह जीव नहीं, ऐसा कहता है।

जैसे चांदीका स्वभाव श्वेतपना है, सोनेका स्वभाव पीतपना है सो स्वभाव भेद होने से दोनोंमें भिन्नता है, अतः वे दोनों एक अर्थ हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार जीवका स्व-भाव उपयोग है और पुद्गल (शरीर) का स्वभाव अनुपयोग है सो स्वभावभेद होनेसे दोनोंमें भिन्नता है. अतः जीव और पुद्गल ये दोनों एक अर्थ हो ही नहीं सकते। जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, उसका परिणमन चैतन्यस्वरूप है। शरीर अनन्तों पुद्गल-परमाणुवोंका एक पिण्ड है वह तो प्रकट मायास्वरूप है। निश्चयसे जीव अखण्ड, सर्वविशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। निश्चयनयसे शरीर और आत्माका परस्परमें सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार नयकी दृष्टिसे दूध पानी एक है लेकिन निश्चयसे दूध अलग है, पानी अलग। जैसे अमय और कपूर दो मित्र हैं। व्यवहारसे उन्हें एक कहा जाता है, निश्चयनयसे दोनों अलग-अलग हैं। जो सोना और चाँदीका डिगला मिला हुआ था, उसमें भी निश्चयनयसे चाँदीके हिस्से में चाँदीके परमाणु हैं, सोनेके हिस्सेमें सोनेके परमाणु हैं। इसी प्रकार आत्मा और शरीर यद्यपि मिले हुए हैं, लेकिन निश्चयदृष्टिसे हैं न्यारे-न्यारे। जीवका स्वभाव चैतन्य, अजीवका स्वभाव अचैतन्य है। स्वभावसे भिन्नोंमें सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अतः भगवान्की इस

प्रकारकी स्तुतियां व्यवहारनयसे की हुई होती हैं। व्यवहारनय कहता कि शरीर आत्मा अलग नहीं हैं, मिले हुए हैं। निश्चयनयसे शरीर जुदा, आत्मा जुदा है। इस प्रकार नयोंका ज्ञान करना आवश्यक है।

भगवान्की स्तुति व्यवहारनयसे की गई है। अर्थात् भगवान्का ध्यान करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं। परिणामोंकी निर्मलतासे पुण्यप्रकृतिका उदय और पापप्रकृतिका नाश होता है। ये स्तुतियां व्यवहारनयसे हैं, ऐसा समझनेसे ठीक रहेगा। अतः व्यवहारनयके द्वारा शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति हो जाती है। जितने भी लोग परकी बड़ाई करते हैं, वे सब व्यवहारनयसे ही करते हैं। शरीरके विषयमें प्रशंसासूचक बात कही जाये तो व्यवहारनयकी स्तुति कहलाई भी जा सकती है। भगवान्के शरीरकी स्तुति होनेके कारण ये स्तुति व्यवहारनयसे समझनी चाहिये।

व्यवहारनय तो शरीर और कर्मपर चलता है। बाकी सब कल्पनाकी बात है। "द्रोपदीको चीर बढ़ायो सीता प्रति कमल रचायो। अंजनसे किये अकामी, दुःख मेटो अन्तरजामी।" इत्यादि स्तुतियाँ सब व्यवहारनयसे की गई हैं। उपचारका कोई कारण अवश्य होता है। हे भगवन्! मुझे सुमति देना—यह सब भगवान्की व्यवहारभक्ति है। भगवान् की सच्ची अवस्थाकी स्तुति करना निश्चयनयकी स्तुति है। देहकी स्तुति करके आत्माकी स्तुति मानना व्यवहारनयसे ही युक्त है। अब इस बातको दृढ़ करते है--

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

जीवसे अन्य (भिन्न) पुद्गलमय इस देहका स्तवन करके मैंने केवली भगवान्की स्तुति करली, वन्दना करली, ऐसा व्यवहारनयसे मानता है।

जीवसे यह देह भिन्न है, देह पुद्गलमय है। पुद्गल माने जो घटे व बढ़े, पूर्ण और गलन स्वभाव वाला। आत्मामें यह बंधन नहीं होता है, पुद्गलोंमें भेद संघात होता है। यह पुद्गलमय देह जीवसे भिन्न है—ऐसा मानकर फिर देहका वर्णन करके भगवान्की स्तुति करे, वह स्तुति व्यवहारनयसे की हुई कहलाती है। ज्ञानी मुनि ऐसा कहकर भी संतुष्ट है। यदि कोई रहस्य ही न जाने और स्तुति कर रहा हो, तो वह उनकी स्तुति व्यवहारनयसे की हुई भी नहीं है। रईस आदमी यदि चना खाये तो कहते हैं कि भैया! साहबको चना खानेको मन हुआ है। ज्ञानी यदि देहकी भी स्तुति कर दे तो कह देते हैं कि यह स्तुति व्यवहारनयसे की गई है। गरीब यदि चना खाये तो सब कहते हैं कि यह तो गरीब है, अतः चना खा रहा है। उसी तरह अज्ञानी यदि देहकी स्तुति करे तो वह स्तुति व्यवहारनयसे भी की हुई नहीं है। यदि सोना चाँदी मिले हुए हों तो कह देते हैं कि सोना

सफेद है। अतः यह रद्दी है। अरे, कभी सोना सफेद हो सकता है ? उसमें सफेद चांदी और पीला सोना है। सोना और चांदी मिला है, इस कारणसे सोनेमें कहा जाता कि यह सोना सफेद हो, पर वास्तवमें सोनेका सफेदी स्वभाव है क्या ? यह व्यवहारनयसे कहा जाता कि सोना सफेद है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा परस्परमें अवगाढ़ हैं। जहां शरीर जाता, वहीं आत्मा जाता है; जहां आत्मा जाता, वहीं शरीर जाता है। तो क्या शरीरका धर्म जीवका बन जायेगा ? नहीं बनेगा। जीवका धर्म जीवका ही रहेगा, शरीरका धर्म शरीरका ही रहेगा। आत्माका धर्म चैतन्य ज्ञान है, शरीरका स्वभाव खून, मांस, हड्डी, मज्जा आदि है। है तो तीर्थंकरके शरीरका खून सफेद, किन्तु कहते हैं कि भगवान्का खून है। हाँ, जो सारे विश्वका कल्याण करनेवाला है, यदि उसके शरीरका खून सफेद भी हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? भगवानका बल अपरिमित है, सारा खून सफेद है, अतएव इतना बल है। इस प्रकार ऐसी भगवान्की स्तुति व्यवहारनयसे की गई है। तभी यह स्तुति व्यवहारनयसे मानी जायेगी, जब कि यह श्रद्धा हो कि शरीर अलग है, शरीर ही भगवान् नहीं है और तब देहकी स्तुति की जाये। जिन्हें भगवान्की तो खबर नहीं, और मूर्तिको ही भगवान् मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो ज्ञानी जीवसे देह अन्य है– ऐसा मानकर देहकी स्तुति करके माने कि मैंने केवली भगवान्की स्तुति की है, वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। शरीर का गुण लहू आदि है, ऐसा वर्णन करे तो देहकी मुख्यतासे वर्णन है और शरीरके गुणके व्यपदेशसे भगवान् तीर्थंकरका वर्णन करने लग जाय कि भगवान आपका लोहित सफेद है तो यह व्यवहारनयसे ही स्तवन है। जैसे कि मिले हुए सोने चांदीके एक पिण्डमें चांदीके सफेदी गुणके व्यपदेशसे सुवर्णका वर्णन करने लग जाय कि यह सुवर्ण सफेद है तो यह व्यवहारनयका व्यपदेश है। यदि व्यपदेशकी दृष्टि नहीं तो सुवर्ण सफेद है––यह मिथ्याज्ञान हुआ और चांदी सफेद है ऐसा कहनेमें चांदीका वर्णन हुआ, सुवर्णकी कोई चर्चा ही नहीं। यदि व्यपदेशकी दृष्टि नहीं तो भगवानका लोहित शुक्ल है यह मिथ्याज्ञान हुआ और शरीरका लोहित शुक्ल है ऐसा कहनेमें शरीरका वर्णन हुआ। भगवानकी कोई चर्चा ही नहीं, स्तुति ही क्या हुई ? इससे शरीर धर्मके व्यपदेशसे भगवानकी स्तुति करना यह व्यवहारनयसे स्तुति है। निश्चयनयसे शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं बन सकती। शरीर की स्तुति करके आत्माकी स्तुति मान ली जाये, यह व्यवहारनयसे ठीक है।

यह मोही जीव जिसमें जिसका राग है, उसकी स्तुतिसे, अपनी स्तुति मानता है। जैसे यह बच्चा बड़ा बुद्धिमान् है, एक बारमें याद कर लेता है––ऐसा कहनेपर बच्चेमें जिसका राग है, वह अपनी स्तुति मानकर फूला न समायेगा। आपका जिसमें राग है, उसमें सहयोग देना चाहते हैं। आप जिसे अपना मित्र बनाते है, उसके मित्रोंसे भी मित्रता

और उसके द्वेषियोंसे भी द्वेष करना पड़ेगा, तभी यह सच्ची मैत्री है। यह जो नाना वर्णनों में भगवान्की स्तुति की जाती है, यह सब व्यवहारनयसे की जाती है। निश्चयनयसे तो शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन तो होता ही है।

कभी-कभी ऐसी भी स्तुतियां, जो कि शरीरकी मुख्यतासे गाई हैं, जैसे कि हे प्रभु! तुमने अपनी कांतिसे दशों दिशाओंको स्नान करा दिया इत्यादि स्तुति व्यवहारनयसे मानी गई है।

प्रश्न—शरीरके स्तवनसे आत्माकी स्तुति हो जाना व्यवहारनय क्यों है? शरीर की स्तुतिसे आत्माकी स्तुति हो जाना निश्चयनयसे क्यों ठीक नहीं?

तंणिच्छये ण जुंजदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

देहकी स्तुतिसे शरीरकी स्तुति हो जाना निश्चयनयमें युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरके गुण केवली भगवानके नहीं होते हैं। वास्तवमें तो जो केवली की गुणोंकी स्तुति करता है वही निश्चयसे केवली भगवानकी स्तुति करता है।

शरीरके गुण केवलीमें होते है, निश्चयनयमें नहीं फबती है। शरीरकी पर्याय याने गुण शरीरमें रहता है। शरीरकी पर्याय आत्मामें नहीं रहती और आत्माकी पर्याय शरीरमें नहीं हो सकती। अतः शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति हो जाये, यह बात निश्चयनयमें नहीं फबती। पर व्यवहारनयसे यह बात ठीक है, अर्थात् शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति हो जाती है। बुद्धि द्वारा एककी चीज दूसरेमें रख देनेको व्यवहारनय कहते है। अतः शरीर के सम्बन्ध होनेके कारण शरीरकी स्तुतिको आत्माकी स्तुति मान लेना व्यवहारनय है। यह बात निश्चयनयसे नहीं है। जैसे सोना और चाँदीमें से सफेद गुण चांदीमें है, सोनेमें नहीं। निश्चयनयसे देखा जाये तो चाँदीके गुणोंसे सुवर्णका वर्णन नहीं हो सकता है। यह सोना सफेद है. ऐसा कहेंगे, क्योंकि दृष्टि शुद्धतापर है। शुद्ध चीज पीला सोना है। जैसे सोनेमें चाँदीका गुण नहीं है तो क्या चाँदीका गुण बताकर सोनेका गुण बताना ठीक है? यदि वास्तवमें सोना है, वह सफेद हो ही नहीं सकता। सोना चाँदी मिले हैं, वहां सोनेको सफेद कह देते है, क्योंकि हमारी दृष्टि शुद्धपर है। शुद्धपर दृष्टिसे मनुष्य भी जीव नहीं, त्रस जीव नहीं, स्थावर भी जीव नहीं है। निश्चयनयसे जीव देखना है तो चैतन्य आत्मा जीव है। जिसमें जरासी भी अशुद्धि होती है, शुद्धपर दृष्टि डालते समय उस चीजको बिल्कुल इन्कार कर देते है। सोनेका व्यपदेश सोनेका नाम लेनेसे ही होगा—यह बात निश्चयनयसे है।

हे भगवन्! आपका शुद्ध श्वेत खून है। शरीरका खून सफेद होना शरीरकी बात है—भगवानमें नहीं है। निश्चयनयकी अपेक्षासे सफेद खून कहनेसे भगवानकी भक्ति नहीं

होगी। भगवानकी स्तुति, आप अनन्त ज्ञानी हो, सर्वपदार्थोंके ज्ञाताद्रष्टा हो, इस प्रकार की स्तुति निश्चयनयसे होगी। शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं होती है। आपका कोट तो अच्छा है, इतना कहनेपर ही कोटवाला प्रसन्न हो जाता है। मोही मोहकी दशामें परकी स्तुतिको अपनी स्तुति मान लेता है। जो ज्ञानी निश्चयनयकी बात जानता है, वह भगवानके शरीरकी स्तुति करता हुआ भी अपने निश्चयनयसे च्युत नहीं हो सकता है। यदि ज्ञानी मूर्तिको भी भगवान् कहे, तो भी ठीक है, क्योंकि वह भगवानके स्वरूपसे परिचित है। परन्तु जो निश्चयनयकी बात जानता ही नहीं वह भगवावकी मूर्तिको ही भगवान मान बैठता है। वह यदि शरीरकी स्तुति करके भगवानकी स्तुति माने तो वह अज्ञानी है। जो वास्तविक भगवानको जानता है, यदि वह मूर्तिको भी पार्श्वनाथ भगवान कह दे तो वह भूला नहीं। मगर जो भगवानको जानता ही नहीं, यदि वे मूर्तिको पार्श्वनाथ भगवान् कहें तो वे भूले हैं। स्थापना निक्षेपमें भी यदि सच्चे भगवानको जानते हो तो मूर्तिको पार्श्वनाथ भगवान कह सकते हैं। जो भगवानको जानने ही नहीं, यदि वे मूर्तिको भगवान् माने तो वे भूले हैं।

**कषायका, संसारका मूल पर्यायबुद्धि है**—जो हम लोगोंको क्रोध जल्दी आता है, उसका कारण पर्यायको आत्मा मानता है। इसी मिली हुई पर्यायको–यह मैं हूं–यह मान रक्खा है। उनकी सदा पर्यायबुद्धि रहती है, अतएव वे लोग "हम, मैं" आदि कहकर शान बताते हैं। अहंप्रत्यय और अहंकारमें भेद है। अहंप्रत्ययमें तो अहंका प्रतिबोध है और अहङ्कारमें अहंपना कराया गया है। अहंप्रत्यय तो स्वाभाविकी चीज है और अहङ्कार बनावटी चीज है। अहंमें अहंको समझना अहंप्रत्यय है और परमें अहंको समझना अहङ्कार है। यद्यपि सामान्यतया अहंप्रत्यय भी दोनों जगह घट सकता, किन्तु अहङ्कार दोनों जगह नहीं घटता, केवल मिथ्याशयमें घटता है, अतः अहम्प्रत्ययकी मुख्यता अहंमें अहंके प्रतिबोध की है। देखो भैया! जहाँ शरीरको आत्मा माना कि वहीं नाना विकल्प विपदायें खड़ी हो गईं। प्रशंसा, निन्दा, सम्मान, अपमान, यश, अपयश, सुख, दुःख, इष्ट, अनिष्ट, संपदा विपदा सभी अहंकारवृक्षके फल है। शरीरमें आत्मबुद्धि न हो तो कोई विपदायें नहीं हैं।

जैसे शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार शरीरकी निन्दासे आत्माकी निन्दा नहीं होती। लोग, उनको कुछ कहने पर, अपना अपमान पर्याया बुद्धि होनेके कारण महसूस करते हैं। जैसे चाँदीका वर्णन करनेसे सोनेका वर्णन नहीं होत उसी प्रकार शरीरकी निंदा या प्रशंसा करनेसे आत्माकी निन्दा या प्रशंसा नहीं हो सकती। निश्चयनयसे सोनेका वर्णन करो तो सोनेका वर्णन कहलायेगा। यह मोही ऐसा मोह करता है कि धनको धी अपना मानता, स्त्री-पुत्र मित्रादिको अपना मानता है, घर, गाय, भैंस

आदि सभी पदार्थोंमें आत्मबुद्धि करता है। पर्यायमें जब तक आत्मबुद्धि है, तब तक आत्मा को सत्पथ नहीं दिखाई दे सकता है। एक साधु या सद्गृहस्थ मरणासन्न है, व्याधि हो रही है, यदि उसकी आत्माके भीतर स्वानुभव हो रहा है तो क्या इन बाह्य कारणोंसे उसके कर्मबन्ध हो जायेगा ? नहीं, कर्मबन्ध उस स्वानुभवीके नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मबन्ध तो भावसे होता है। सारी दुःखसम्पदा शरीरको आत्मा माननेसे प्राप्त होती हैं। शरीरकी स्तुति करने से भगवान्की स्तुति नहीं हो सकती।

निश्चयनयसे भगवान्की स्तुति इस प्रकार होती है कि आपकी आत्मासे अखिलकर्म दूर हो गये हैं, सर्वदर्शी व समदर्शी हैं, ज्ञानके निधान हैं, इस संसारके बन्धनसे मुक्त हैं। यदि कोई भगवान्को स्वरूपसे नहीं जानता है, वह भगवान्के शरीरकी स्तुति करता हुआ भगवान् कुछ गुणोंका ठीक वर्णन भी कर जाये तो क्या भगवान्को समझा हुआ है ? नहीं है—यह तो अन्धेके हाथ बटेर है। यदि निश्चयनयकी बात जानली तो व्यवहारकी बातें भी गुणकारी हो सकती हैं, भगवान्की पूजा करना, स्तुति आदि करना सफल है। यदि निश्चयनयको नहीं समझा तो भगवान्की भक्ति, पूजा, स्तुति आदिसे कोई मौलिक लाभ नहीं है।

निश्चयनयकी बात समझमें न आनेसे कषाय, मोह, लड़ाई झगड़ा, रागद्वेष आदि दुष्कार्योंका हो जाना सरल है। यह आवश्यक नहीं कि भगवान् आँखोंसे दिखाई पड़ें, तभी भगवान्के दर्शन हो सकते हों—भगवानके स्वरूपका विचार दूर बैठे बैठे भी किया जा सकता है। प्रायः लोग भगवानकी मूर्तिके पास खड़े होकर भी भगवानके स्वरूपका विचार नहीं कर सकते हैं। जिनका लक्ष्य व भाव शुद्ध है, उनके हृदयमें भगवान बसते हैं। जिनके भाव शुद्ध नहीं हैं, वे चाहे भगवानकी मूर्ति सिरपर धरे नाचते भी फिरें ती क्या उनके हृदयमें परमात्मा आ जायेंगे ? नहीं आ सकते। तो फिर इसकी क्या चिन्ता कि हमें भगवान आँखों से दिखने ही चाहियें। भगवानका स्वरूप (हृदय स्थित भगवानका, भाव शुद्ध करके कहीं विचारा जा सकता है। भगवानकी मूर्तिके पास न पहुंच सके, या बड़ी भीड़ है तो जहां भगवानका शुद्ध चिन्तन है, समझो वहीं भगवान आ गये। यह सब शुद्ध परिणामोंके ऊपर निर्भर है। परिणाम निर्मल हों तो चाहे कैसी भी स्थितिमें पड़े हो, कर्म आ ही नहीं सकते।

समस्त प्रकारके बन्धनोंकी जड़ पर्याय बुद्धि है। मैं पिता हूं, साधु हूं, पण्डित हूं, अमुक हूं—यह सब पर्याय बुद्धि ही तो है। यद्यपि हिंसा करनेसे बचनेका उपाय सोला (शुद्धि) करना उपयुक्त है। सोला करे, लेकिन मैं सोला करती हूं, अतः छुओ मत—ऐसा क्रोध मत करो। क्योंकि कषाय करनेसे पर्यायबुद्धि दृढ़ होती है। सोला अवश्य करो। सोला करना बुरा नहीं अच्छा ही है, लेकिन कषायमें मत पड़ जावो कि मैं सोला करती हूं। यदि

सोला करने वालेको कोई अनजाने छू दे तो वह उसके ऊपर बरस पड़ती है—इस तरह बाह्य सोलाकी रक्षाके लिये वह अन्तरंग सोला (परिणामोंकी शुद्धि) बिगाड़ लेती है। अन्तरंग शुद्धि गई, चाहे वाह्य शुद्धि बनी रहे तो भी बाह्य शुद्धि निरर्थक रही। सोलाका मुख्य मर्म अहिंसा है। भीतरका सोला करना है इसका ध्यान रक्खो। देखो जो जो प्रचलन हैं उनके मूल उद्देश्य जानना चाहिये और उद्देश्यकी रक्षा करनी चाहिये। लड़कीके घरका रुपया नहीं लेना चाहिए—इसके लिये समाजने बाड़ लगा दी कि लड़कीके घरका तो पानी भी नहीं पीना चाहिये। लड़कीके घरका पानी तो न पियो और नगदी १००००) दस हजार रु० गिनवा लो तो क्या पानी न पीना गुणकारी हुआ? इससे बड़ा पाप क्या हो सकता है? अब तो यह नौबत आ गई कि लड़कीके घरका पानी नहीं पीना चाहिये। क्यों? लड़कीके पिताकी गाढ़ी कमाई मक्खीचूस पुत्र वाला एक बारमें ही जितना वश चलता, खीच लेता है।

निमित्तनैमित्तिक भावसे जो बात होनी है, वह तो होकर रहती है। जैसे किसीके परिणाम होंगे; उसीके अनुसार कर्मबन्ध होता है। यदि यह जीव पर्याय बुद्धि न करे, तो श्रावक, मुनि, गृहस्थ आदिके सब कानून एकसे हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। साधुके पास जरा-सी चीज होती है, वह जैसे अपनी नहीं मानता है, उसी प्रकार यदि श्रावकके पास साधुसे कोई चीजें अधिक हैं, वह भी उन्हें अपना न मानता। अविरत गृहस्थके पास श्रावककी अपेक्षा अधिक चीजें हैं, वह भी ये मेरी नहीं हैं ऐसी प्रतीति रखता है तो साधु, श्रावक, गृहस्थ—इन सबकी पद्धति समान है—कोई विलक्षण अन्तर नहीं है। पर्यायबुद्धि न रहनेसे सत्पथ अपने आप प्राप्त हो जाता है।

जो भगवानकी निश्चयनयकी स्तुति जानता है, उसका व्यवहारनयकी स्तुति करना भी ठीक है। जो निश्चयनयको न जाने और भगवानकी स्तुति करे तो वह स्थापना निक्षेप भी नहीं है। उसका स्तुति करना बिल्कुल गलत है। निश्चयको जाननेवाला यदि व्यवहारका आश्रय लेकर भी स्तुति करे तो उसका स्तुति करना ठीक है। जो सम्यग्दृष्टि भगवानके गुणों को जानता है और व्यवहारनयसे स्तुति करे तो उसका व्यवहारकी अपेक्षा स्तुति करना ठीक है। यदि वास्तविक भगवानका ज्ञान है, तो भगवानकी मूर्तिकी स्तुति करना भी ठीक है।

प्रश्न:—यहां जिज्ञासु प्रश्न करता है कि शरीरकी स्तुति करनेसे आत्माकी स्तुति क्यों नहीं हो जाती? चूंकि आत्मा शरीरका अधिष्ठाता है, अतः शरीरकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति हो जानी चाहिये। इसके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं:—

णयरम्मि वण्णिदे जह णवि रण्णो वण्णणा कया होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

जैसे नगरका कोई वर्णन करे कि इस नगरके महल इतने ऊंचे हैं कि मानो ये आकाशको निगल रहे हैं, खाइयां इतनी गहरी हैं कि पातालको पी रही हैं आदि आदि। तो इसके वर्णनसे कहीं राजाका वर्णन नहीं हो जाता। इस ही प्रकार यदि कोई देहके गुणोंका वर्णन करता है कि आपका श्वेत खून है, अपनी कांतिसे दशों दिशावोंको स्वच्छ कर डाला है, आपका रूप अविकार है, अक्षुब्ध समुद्रकी तरह गंभीर है, अपूर्व सुन्दर है आदि, तो इससे कहीं केवली भगवानका वर्णन नहीं हो जायगा। तात्पर्य यह है कि जैसे नगरका वर्णन करनेसे उसके अधिष्ठाता प्रतिपालक राजाका वर्णन नहीं होता है, उसी प्रकार शरीरका वर्णन करनेसे आत्माका वर्णन नहीं हो सकता है। शरीरकी प्रशंसा या निन्दा करनेसे आत्मा की निन्दा या प्रशंसा नहीं होती है। शरीर जुदा है, आत्मा शरीरसे भिन्न है; अतः शरीर की स्तुति करनेसे आत्माकी स्तुति नहीं हो सकती है।

अब आचार्य समयसारकी ३१ वीं गाथामें निश्चय स्तुतिका वर्णन करते है—

जो इंद्रिये जिणित्ता णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुँपरमट्ठवियाणया विंति ॥३१॥

जो द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावमय आत्माको जानता है उसे ज्ञानियोंने जितमोह साधु कहा है। इन्द्रियविजयी कर्मोका भेद न करके मोक्ष पथका राही बन जाता है। इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय उनकी ओर अपेक्षा दृष्टि है। इन्द्रियोंको जीतना ही सबसे बड़ी जीत है। "बड़ी मार करतारकी चित्तसे दिया उतार।" इन्द्रियोंको चित्तसे उतार देना इन्द्रियोंके जीतनेका सरल उपाय है। इन्द्रियोंके सम्बन्धमें ३ बातें जाननी चाहियें—(१) द्रव्येन्द्रिय, (२) भावेन्द्रिय और (३ विषय। भावेन्द्रियाँ अपने अपने गुणके विकाससे होती हैं। आत्मामें जो ज्ञान, विचार भावादिक होते हैं, वे सब भावेन्द्रियाँ है। द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे होने वाली आत्माकी ज्ञानपरिणतिको भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियोंके आकारको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय बोधको कहते है। मतिज्ञान और भावेन्द्रिय पर्याय-वाची शब्द हैं। जड़ पदार्थ द्रव्येन्द्रियाँ कहलाती है। वाह्य पदार्थ इन्द्रियोंके विषय कहलाते हैं। इन तीनोंकी—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयकी उपेक्षा करनी है, उपेक्षा करना ही इन्द्रियोंको जीतना है। जहां उपेक्षाके भाव बनाये, तीनोंको एक साथ भूल गये। द्रव्येन्द्रियोंके कारण स्व-परका विभाग नष्ट हो गया है। द्रव्येन्द्रियोंकी करामातसे ही स्व परका विवेक खत्म हो गया है। क्योंकि-अनादि कालसे विपरीत विपरीत पर्यायें चल रही हैं। जानते ही मोही परपदार्थमें एकत्व मानने लगता है। अतएव ये इन्द्रियाँ स्व-परके विभाग को नष्ट कर देने वाली है। इन्द्रियां स्व-परका विभाग नहीं होने देती हैं। जहाँ आत्मा है, वहाँ एक क्षेत्रावगाहसे इन्द्रियां भी है। फिर भी सब अपने आपमें परिणमन चलता रहता

है । इन्द्रियाँ और आत्मा एक क्षेत्रावगाही हैं, इतने ही से स्व-परका विभाग खत्म नहीं हो जायेगा । मोहसे स्व-परका विभाग खत्म होता है ।

भेदविज्ञानकी कुशलतासे प्राप्त स्फुट स्वभावके अवलम्बनसे इन्द्रियोंको जीत सकते हो । भेदविज्ञानमें ज्ञात है कि द्रव्येन्द्रियाँ मैं नहीं हूं—ये मेरेसे भिन्न हैं; इनका एक-एक परमाणु द्रव्य है; आत्मा इनसे न्यारा है । आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावमें रहता है । पर्याय और गुण अलग नहीं होते हैं । एक द्रव्यके जाननेमें जैसे दृष्टि बनाओ, उतने ही गुण हैं । यदि जीवके गुणोंकी पृथक् सत्ता हो तो इनकी संख्या की जा सकती है । सत् तो केवल द्रव्य है, पर्याय भी द्रव्य ही है, गुण भी द्रव्य ही हैं ।

परम्परागत आचार्योंके समझानेका तरीका इतना निर्विवाद है कि द्रव्यके बोधमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । द्रव्यको समझनेका यह तरीका अपने आप आ जाता है । शक्तिको समझानेके लिये उसके अनन्त भेद कर सकते हैं, यदि थोड़ेपर दृष्टि दी तो वहां असंख्यात भागवृद्धि हो गई । अधिकपर दृष्टि दी तो असंख्यात गुणवृद्धि हो गई । इस दृष्टिमें यह ठीक है, इस दृष्टिसे यह ठीक है । वस्तुमें अलग अलग गुण तो हैं नहीं; समझानेके लिये अलग अलग भेद किये जाते हैं । वस्तु है, परिणामी है; यह बात तो संक्षेपमें कही जा सकती है । वस्तुको समझानेके लिये ही उसके विशेष भेद किये जाते हैं । गुण कहो या विशेषण कहो भिन्न-भिन्न शब्दोंमें चीज एक ही है । जैसे—अखण्ड सत् है, उसकी विशेषता बताई जा रही है; वह विशेषतासे कोई अलग चीज नहीं है । वस्तुको गुणरूपसे देखो तो गुणरूप नजर आती है; सत् (एक) रूपसे देखो तो वस्तु अखण्ड नजर आती है । यदि गुण भी सत् हो जाये और पर्याय भी 'सत्' हो जाये तो एक एक पर्याय व एक एक गुण सब द्रव्य हो जायेंगे । अतः वस्तु एक ही सत् है । अन्य सब सत्के भेद ही तो हैं । सत्के इस प्रकारसे भेद किये गये हैं, यह बात ठीक है या गलत ? वस्तुके इस प्रकार भेद करनेसे वस्तु ठीक प्रकारसे समझमें आ जाती है, अतः भेद करना सत्य है । वस्तु वास्तवमें भेदरूप नहीं है अतः यह कहना असत्य भी है ।

द्रव्यके विशिष्ट लक्षण "सम गुण पर्यायो द्रव्यम्" में "गुण पर्ययवद्द्रव्यम्," उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्"—सभी लक्षण आ जाते हैं, वैसे सभी लक्षण ठीक हैं । जैसे—शाखा, कोंपल, पत्ते, फल, फूल आदि वृक्षके अवयवोंके समूहको एक शब्दमें 'वृक्ष' कह सकते हैं, उसी प्रकार गुण और पर्यायको तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सबको एक शब्दमें द्रव्य कह सकते है । द्रव्यके सर्वाङ्गपरिपूर्ण व सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको जाननेका फल यह है कि सर्व द्रव्यकी स्वतन्त्रता उपयोगगत रहे ताकि समस्त क्लेशोंके बीजभूत इस मोहभावसे छुटकारा पा लिया जाय ।

**उपेक्षा भी परमविजयका परम उपाय है:—** शरीरके परिणमनको प्राप्त हुई इन द्रव्येन्द्रियोंको चैतन्यस्वभावके अवलम्बनसे तथा इनकी ओर उपेक्षा करके जीतो। क्योंकि द्रव्येन्द्रियां जड़ पदार्थ हैं, उनको उनके विरुद्धभूत चैतन्यस्वभावके अवलम्बनसे ही तो जीत सकते हैं। वह चैतन्यस्वभावका आश्रय द्रव्येन्द्रियोंकी ओर उपेक्षा करनेसे ही प्राप्त हो सकता है। "बड़े मार करतारकी चित्तसे दियो उतार।"

धर्मका पालन करनेके लिये रागद्वेषादि नहीं करना चाहिए। नहीं करना—इसका क्या अर्थ हुआ? प्रत्येक बातका "न करना" किसीके सद्भावरूप ही तो हुआ करता है। रागद्वेष न करनेका मतलब हुआ—समताभाव धारण करना। उपयोगसे निजस्वभावका अवलम्बन करना चाहिये। उपयोगसे निज स्वभावके अवलम्बनमें ही रागद्वेष आदिका जीतना आ गया। अर्थात् निज स्वभावके आश्रयसे ही रागद्वेष आदि जीते जा सकते हैं। स्वभावके अवलम्बनका मतलब है, वस्तुको यथार्थ रूपसे जानना—आत्माको यथार्थतासे देखना। स्वभावका अवलम्बन ही तो चित्स्वरूपको जानना है। किसी भी चीजको जानो, लेकिन जानो भूतार्थ शैलीसे। घटको जानो, पटको जानो, कर्मको जानो, शरीरको जानो, दुनियाभरकी किसी भी चीजको भूतार्थ शैलीसे जानो तो चित्स्वभावका अवलम्बन आ ही जाता है।

**भूतार्थकी शैली है क्या चीज?—** पर्यायसे लोगोंका विशेष परिचय है। अतएव पहले पर्यायोंका बड़े विस्तारसे स्वरूप बताया जाता है। फिर बताया जाता है कि पर्यायको गुणके सम्मुख करे। पर्यायको गुणके सम्मुख करनेपर पर्याय गौण हो जाती है, गुणकी मुख्यता हो जाती है। जब गुण मुख्य हो जाता है तो आत्माको गुणके सम्मुख करो। आत्माको गुणके सम्मुख करनेसे गुण गौण हो जायेगा, आत्मा मुख्य कहलायेगी। आत्माको सम्मुख करनेसे चित्स्वभावका अवलम्बन स्वयं हो जाता है। यही पदार्थको जाननेकी भूतार्थ शैली है। इस रीतिमें देखो भैया! दर्शनका विषय जो सामान्य है उसकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है।

चक्षुदर्शनका विशुद्ध अर्थ:—चाक्षुष ज्ञानके पहले होने वाले सामान्य प्रतिभासको चक्षु दर्शन कहते हैं, न कि आँखसे दीखे तो चक्षुदर्शन हुआ। वह तो चाक्षुष ज्ञान है।

अचक्षुदर्शनका विशुद्ध अर्थ:—अचाक्षुष ज्ञानके पहले होने वाले सामान्य प्रतिभासको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अन्तर्मुखचित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं और बहिर्मुखचित्प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। जैसे पुस्तकको जाना। पुस्तकको छोड़कर होल्डरको जानो, इन दोनोंके जाननेके बीचमें दर्शनोपयोग रहता है। क्योंकि उस मध्यमें ज्ञान न होल्डरका है, न किताबका ही। अवान्तर सत् भी जाने और सामान्य प्रतिभास भी रहे, ऐसा छद्मस्थके कैसे हो सकता है? यह जाना, इसे जाना—यह हमारी जाननेकी विशिष्ट शैली होती है। जो ज्ञेयाकार बना

वह ज्ञानमात्र वहिर्मुखचित्प्रकाश हुआ। और जो ज्ञेयाकारके विकल्पसे रहित ज्ञानाकारमात्र का उपयोग रहा वह दर्शन है, अन्तर्मुख चित्प्रकाश है। ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है, परका भी। यहां स्वका अर्थ है ज्ञान। एक ज्ञानका निर्णय करनेके लिये दूसरे ज्ञानके बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। उसी ज्ञानसे पदार्थको जाननेवाले ज्ञानका भी ज्ञान हो जाता है। जैसे ज्ञानने घटको जाना। घटको जानने रूप ज्ञानको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। अस्वसंवेदियोंके खण्डनके लिये ज्ञानको स्वपर प्रकाशक कहा है अर्थात् ज्ञान पदार्थको भी जानता है और वही ज्ञान पदार्थको जाननेरूप ज्ञानको भी जानता है। आत्माका प्रकाश ज्ञानरूप और दर्शनरूप दोनों रूप पड़ता है।

शरीरके परिणमनको प्राप्त हुई ये द्रव्येन्द्रियाँ हैं। इनको चैतन्यस्वभावके अवलम्बन से जीतो। द्रव्येन्द्रियोंको जीतना उपयोगके ऊपर निर्भर है, यह उपयोग भी स्वभावसे हो प्रकट होता है। कोई उपयोग स्वभावको भांप सकता है, कोई उपयोग ऐसा भी है, जो स्वभावको नहीं भांप सकता है। जो उपयोग चैतन्यस्वभावको पकड़ लेता है, वह संसारके दुःखोंसे छूटकर संसारसे पार हो जाता है। मोहियोंमें ऐसी विशिष्टता है कि यह मोही जीव चैतन्यस्वभावका अवलम्बन नहीं कर पाता है।

भगवान् विश्वको तो जानते हैं किन्तु किसी भी अर्थको विकल्परूपसे नहीं जानते हैं, हम लोग तो विकल्प रूपसे भी जान लेते हैं। परपदार्थमें सम्बन्धका विकल्प मोहियोंके ही उत्पन्न होता है। जैसे पुस्तकका और चौकीका सम्बन्ध है। यहाँ पुस्तक भी है, चौकी भी है यहाँ तक जानना तो ठीक है, इसमें भी पुस्तक या चौकी नामसे न जाने तो लेकिन यह एक वास्तविक लम्बी है, ये हमारे विकल्प ही तो हैं। भगवान् किसी भी पदार्थको विकल्प करके नहीं जानते हैं, लेकिन हम लोग जो विकल्प करके जान रहे हैं उसे भगवान् जान रहे हैं। लेकिन भगवान्को उस हमारे विकल्पको जाननेमें कोई विकल्प नहीं होता है। भगवान् का ज्ञान तो 'अन्यूनमनतिरिक्त' है। प्रत्येक द्रव्यमें जो है, सो है, बाकी उसके भेद वगैरह करना हमारी कल्पना है। चैतन्य स्वभाव, जो अन्तरंगमें स्फुट है, वह अति सूक्ष्म है, वह चित्स्वभाव भेदविज्ञानकी सहायतासे ही मिलता है। पदार्थोंका जानना, भेदविज्ञानकी सहायतासे ही बन सकता है। इस स्वावलम्बनसे ही द्रव्येन्द्रियोंको भी जीता जा सकता है। यह निश्चयनयसे भगवान्के आत्माके गुणोंकी स्तुति है। भगवान्के शरीरके गुणोंका वर्णन करने से तो भगवान्के विषयमें कोई बात समझमें नहीं आती है। जिसे यथार्थका पता है, वह शरीरकी बात कहकर भी व्यवस्थित चित्त है। जो अपने स्वभावमें लीन है वह द्रव्येन्द्रियोंको जीत लेता है।

भगवान्की निश्चयनय स्तुति क्या है? इस सम्बन्धमें यह कहा कि भगवान्के

गुणोंका वर्णन करना सो भगवान् की निश्चय स्तुति है। इन्द्रियों का जीतना इसी तरह से हो सकता है कि उनसे उपेक्षा करदी जाये। कल द्रव्येन्द्रियका वर्णन कर चुके हैं, आज भावेन्द्रियका वर्णन करते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।" लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि और उपयोगके बीच समझमें आई जो परिणति है उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियोंको जीतना है। इन इन्द्रियोंके विषय जुदे जुदे हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श, रसनेन्द्रियका रस, घ्राणेन्द्रियका गन्ध, चक्षुइन्द्रिय का देखना रूप), और कर्णेन्द्रियका शब्द—ये इन्द्रियोंके विषय हैं। सब इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को विषय करती हैं, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियके विषयको नहीं जानती है। जैसे रसको घ्राणेन्द्रिय नहीं चख सकती, फूलको रसना इन्द्रिय नहीं सूंघ सकती। इन इन्द्रियोंका नियत विषय हैं, उसके बाहर ये ग्रहण नहीं कर पाती हैं। इन इन्द्रियोंने पदार्थ को खण्ड खण्ड करके ग्रहण किया है। ज्ञानमें समस्त पदार्थ झलकें, यह ज्ञानका अखण्ड काम है। ज्ञान यदि क्रम क्रमसे जाने या कम जाने या पूरा न जान पाये तो इस तरहके ज्ञानने अपने खण्ड-खण्ड कर डाले। यह ज्ञान स्थूलको जान लेता है, परन्तु सूक्ष्मको नहीं जान पाता है। ज्ञानमें जो खण्ड हुए, वे सब द्रव्येन्द्रियोंसे हुए। लेकिन उनका निमित्त कारण भावेन्द्रियाँ हैं। अतः इन भावेन्द्रियोंको भी जीतो। द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे जो भाव बने वे भावेन्द्रियां हैं।

**अखण्डज्ञानानन्दमय निज परमात्मतत्त्वको तो देखो**—जीव अखण्ड आनन्दमय है; क्योंकि वह अखण्ड ज्ञानमय है। खण्ड आनन्द खण्ड ज्ञानसे होता है। अखण्ड आनन्द अखण्ड ज्ञानसे होता है। जितना व जैसा ज्ञान करो, उतना व वैसा आनन्द मिले। जो ज्ञानको खण्ड खण्ड करके जानती है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानका काम तो सम्पूर्ण को जानना था। अतः अखंड प्रतीयमान चैतन्यशक्तिसे इन भावेन्द्रियों को जीत सकते हो। उसीके आश्रयसे द्रव्येन्द्रियाँ और इन्द्रियविषय जीते जा सकते हैं। खण्ड-खण्ड करने वाले इस आनन्दको अखण्ड चैतन्यशक्तिसे जीतना है। जरा, अखण्डज्ञानानन्दमय निजतत्त्वको तो देखो।

जितने भी इस चैतन्यशक्तिके परिणमन हैं, वे सब चैतन्यमय हैं। जितने भी ज्ञानके परिणमन हैं, उन सबमें ज्ञान सामान्य रहता है। वह ज्ञान सामान्य अखण्ड ज्ञान कहलाता है। जितने भी प्रकारके ज्ञान चलते हैं, वे सब ज्ञान सामान्य हैं। जितने भी चैतन्यशक्तिके परिणमन हैं, वे सब चैतन्यमय हैं। चैतन्यशक्तिके परिणमन अनेक हो गये। ये चैतन्यशक्ति के परिणमन एक भी नहीं रहे, अखण्ड भी नहीं रहे। खण्ड-खण्ड करके जानने वाली इन भावेन्द्रियोंको इसी चैतन्यशक्तिके आश्रयसे जीतो। मोक्षमार्गको प्राप्त करनेके लिये निज

ध्रुव स्वभाव, जिसे चैतन्यस्वभाव कहते हैं, उसका आश्रय लो। मोक्षमार्गके लिये एक काम करना—चैतन्यस्वभावका अवलम्बन करना। अवलम्बन तो एक प्रकार है किन्तु अवलम्बन की दृढ़ताकी डिगरी अनेक हैं। जिस संयमके अनेक स्थान बने, वे चैतन्य शक्तिमें नहीं होते हैं। क्योंकि कमीकी अवस्थामें ही स्थान हुआ करते है। साधारणतया ये विविध स्थान ८वें गुणस्थान तक चलते हैं; सूक्ष्मतया ये स्थान आगे तक भी चलते हैं। विकासमें अनेक दर्जे चला करते है। वह चैतन्यशक्ति अखण्ड है। उस निज स्वभावके उपयोगके द्वारा इन भावेन्द्रियों और विषयोंको जीता जाता है। विषय इन्द्रियोंके विषय हैं केवल रूपादि नहीं किन्तु विषयभूत अर्थ अकेले रूप गुणको और काले पीले नीले हरे आदि रंगोंको भी कोई नहीं जानता है। जो जानता है, वह पदार्थोंको जानता है। गुणकी मुख्यतामें जीव पदार्थ को जानते समय समझता है कि हम गुणोंको जान रहे हैं। इसी प्रकार पर्यायकी मुख्यतासे पदार्थको जानते समय जीव समझता है कि हम पर्यायको जान रहे हैं। लेकिन कोई गुण या पर्यायको नहीं जानता है; जो जानता है, वह द्रव्य या पर्यायको जानता है। सत्को हम कभी उत्पादकी मुख्यतासे जानते हैं, कभी व्ययकी मुख्यतासे जानते, कभी ध्रौव्यकी मुख्यता से। जो जानता है, वह पदार्थको जानता है। जो कुछ है, सो सत् है। जो बताया जाये वह सत्की विशेषता है। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषयोंको जानती हैं, वे विषय रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द हैं। कोई रूप सामान्य, रस सामान्य, गंध सामान्य, स्पर्श सामान्य और शब्द सामान्यको नहीं जानता है और न कोई केवल उनकी पर्यायोंको लोग रूपकी मुख्यतासे पदार्थको जानते हैं, रसकी मुख्यतासे भी पदार्थको ही जानते हैं। मालूम ऐसा पड़ता है कि जैसे हम रूप सामान्य वा रस सामान्यको जान रहे हों। जिसकी मुख्यतासे द्रव्य जाना जाये, उसे ही द्रव्य कहा गया है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द—ये इन्द्रियों के ५ विषय हैं। जिस समय ये विषय जाननेमें आ रहे हैं, उस समय ये पदार्थ मोहियोंके ज्ञानमें एकीभूतसे हो रहे हैं।

प्रश्न:—ये विषय पदार्थको जानते समय ज्ञानके साथ एकीभूतसे क्यों हो रहे हैं ? कुछ तो सम्बन्ध होगा ?

उत्तर:—पदार्थमें और ज्ञानमें मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है। मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, इसका फलितार्थ यह हुआ कि वास्तवमें देखा जाये तो पदार्थमें और ज्ञानमें कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि इन बाह्य पदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन्हीं पदार्थोंमें है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें ही है। ज्ञान आत्माका ही तो गुण है। अतः आत्माका गुण यह ज्ञान इन बाह्य पदार्थोंसे कैसा नाता जोड़े ? इस आत्माकी ही ऐसी शक्ति है, जो पदार्थोंको जाननेरूप परिणमती है। ज्ञेयाकार इन चीजोंका अलग-अलग नाम लेकर बताया जाता है।

आत्मा दृश्य पदार्थोंको नहीं जानता है। आत्माका ज्ञेयाकारमें ही जाननेका तादात्म्य है। आत्माने क्या जाना, कैसे जाना, क्या करके जाना—यह जाननेकी इच्छा हो वहाँ बताना है कि हम अपने आपको कैसे जान रहे हैं? उसके बतानेका उपाय बाह्य पदार्थोंके नाम लेना है। इस बातको एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं:—

जैसे हमने पुस्तकको जाना। निश्चयसे हमने पुस्तकको नहीं जाना, अपने आपको ही जाना। हमने पुस्तकके ज्ञान रूपसे ग्रहण करने वाले अपने आत्माको ही जाना। लेकिन व्यवहारनयसे पुस्तकको जाना। निश्चयसे आत्माने आत्माको ही जाना, लेकिन किस रूपसे आत्माने अपनेको जाना—यह बतानेके लिये हम 'पुस्तक' का नाम ले देते हैं। इसी प्रकार द्वादशांग श्रुतको जाननेवाला श्रुतकेवली निश्चयसे श्रुतको नहीं, वह आत्माको ही जानता है। वह द्वादशांग श्रुतके ज्ञान रूपसे ग्रहण करने वाले आत्माको ही जानता है।

भावेन्द्रियोंने विषयोंको जाना। वास्तवमें भावेन्द्रियने अपने आपको जैसा परिणमाया, उसीको भावेन्द्रियने जाना। यद्यपि पदार्थ और द्रव्येन्द्रियका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्धके कारण पदार्थ और इन्द्रियाँ एक रूपसे हो गये हैं। भावेन्द्रियों के द्वारा गृह्यमाण इन विषयोंको जीतना है। विषयोंको जीतनेका उपाय अपनेको निःसंग अनुभव करना है। निश्चयकी बात अपनी समझमें आये कि हमने इन पदार्थोंको नहीं जाना, अपने आत्माको ही जाना। इस उपायसे निःसंगताका अनुभव भी शीघ्र होगा।

द्रव्येन्द्रियोंको जीतनेका हथियार एक है और जीतना बहुतको है। वह हथियार निजस्वभावका आश्रय है। इसी निज स्वभावसे आश्रयरूप हथियारसे द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषय इन सबको जीता जा सकता है। विषयोंमें रति करना जीवका निजपद नहीं है। यह समय विषयोंमें यों ही निकला जा रहा है, इन समयोंका सदुपयोग मोहभावको कम करनेमें और सत्पथकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नोंमें करो। मोहभावको कम करके द्रव्येन्द्रियों को जीतना। शरीरमें रहने वाली इन्द्रियाँ मैं नहीं, मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं; ऐसी भेदविज्ञानकी कुशलतासे और चैतन्यस्वभावके आश्रयसे ये द्रव्येन्द्रियाँ जीती जा सकती हैं। मैं अखण्ड चैतन्य आत्मा हूं, द्रव्येन्द्रियों और भावइन्द्रियोंको जीतकर मैं निःसंग हूँ, चैतन्यमात्र हूँ—ऐसा विचार करके और विषयोंसे रतिको हटाकर और चैतन्यमय स्वरूपमें रति करना—यह काम बुद्धिमानीका है। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयोंको जीतकर, अर्थात् इनकी उपेक्षा करके निजस्वभावका अनुभव कर उस स्वभावमें चित्त स्थिर करो। जिस समय जीवका स्वभावका आश्रय रहा, उस समय वह क्या मान रहा, क्या अनुभव कर रहा—कुछ बताया नहीं जा सकता। जीव स्वभावका आश्रय करके क्या जान रहा, इसका उसमें विकल्प ही नहीं है। इसे तो जान लेने दो, वह अपने आप अव्यक्त संकेतमें बतायेगा।

अतः हे प्राणियों ! इन इन्द्रियों और विषयोंको स्वभावके अवलम्बनसे जीतो। लड़ाई, झगड़े, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी दुष्परिणाम स्वभावके आश्रयसे जीते जाते हैं। धर्मके कार्योंमें विघ्न डालने वाला विकल्प छोड़कर अन्य कोई नहीं है। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयोंके विकल्पोंके भगानेका उपाय दान, भक्ति, स्वाध्याय, पूजा आदि भी हैं। किन्तु ये इन्द्रियां और विषय मूलतया चैतन्य शक्तिके अवलम्बन द्वारा जीते जा सकते हैं। अतः निज चैतन्यशक्तिका अवलम्बन करो।

राग दो प्रकारका है—एक जो समझमें आता है, वह बुद्धिपूर्वक राग है, और दूसरा जो समझमें न आवे वह अबुद्धिपूर्वक राग है। अपन लोगोंके दोनों प्रकारके राग पाये जाते हैं। एक समयमें एक ही साथ दोनों प्रकारके राग हो सकते हैं। जीवमें दुःख निरन्तर विद्यमान रहता है, चाहे वह उसे जान पाये या न जान पाये। कर्मका उदय मात्र ही दुःखका कारण है। जिस दुःखको बताया जा सके, वह बुद्धिपूर्वक दुःख कहलाता है, जो न बताया जा सके, वह अबुद्धिपूर्वक दुःख है। लट पिपीलिका आदिके भी बुद्धिपूर्वक दुःख होता है। यहां कोई जिज्ञासु शंका करता है कि शारीरिक, मानसिक व इन्द्रियजन्य दुःख—ये सब संसारी जीवोंके होते हैं; लेकिन अबुद्धिपूर्वक दुःख हम किसीके होता नहीं देखते, अतः कैसे जानें कि अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है ? उत्तर—अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे जो राग होता है, वह भी चल रहा है, परन्तु वह समझमें नहीं आता है; अतः वह अबुद्धिपूर्वक है। अनेक दुःख बुद्धिपूर्वक भी होते हैं। शंका—शारीरिक, मानसिक व इन्द्रियजन्य—ये दुःख, दुःख हैं, अबुद्धिजन्य दुःख, दुःख नहीं हैं। क्योंकि यह हमें ठीक मालूम नहीं पड़ता। बुद्धिजन्यके अलावा कोई दुःख नहीं है।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। स्वाभाविक सुख जो नहीं दीखता, उससे सिद्ध है कि स्वाभाविक (अबुद्धिपूर्वक) दुःख भी अवश्य है। जब स्वाभाविक सुख नहीं है तो दुःख अवश्य रहेगा। अतः बिना आत्मानुभवके बाकी सब दुःख हैं। जिन भावेन्द्रियों और विषयोंको भगवानने जीता वे सब दुःखके ही तो प्रसंग हैं। यह समझना चाहिये कि जब तक आत्मामें कर्मका उदय है, तब तक दुःख ही दुःख है।

आत्मीय सुख और दुःख दोनों विरुद्ध चीजें हैं। आत्मीय सुखके अभावमें दुःख ही तो रहेगा। यदि आत्मामें दुःख है तो समझो आत्मीय सुख नहीं है। खेलना, हंसना, खाना आदि भी स्वाभाविक सुख नहीं हैं, अतः इन्हें भी दुःख ही समझो। ठंडके अभावमें जैसे उष्ण रहता है, वैसे ही आत्मीय सुखके अभावमें आत्मीय सुख रहता है। जैसे द्रव खारा भ हो सकता है, द्रव भी हो सकता है, जैसे—समुद्र। किन्तु स्वाभाविक सुख और दुःखका परस्परमें विरोध है। अतः आत्मीय सुखके अभावमें उसे दुःख ही समझो।

'सुख' शब्दसे लोग अधिक परिचित हैं। अतः आचार्योंने उनको सरलतासे समझाने के लिये 'सुख' शब्दका प्रयोग किया। वस्तुतः सुख = जो इन्द्रियोंको रुचे वह है। जो आत्मीय सुख है उसे 'आनंद' कहते हैं। **यः आसमन्तात्** नन्दति आत्मानं स आनदः। जैसे लोग स्त्रीसे अधिक परिचित हैं, अतः मुक्तिके साथ कन्या, कामिनी आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। गुण चार हैः—ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनंद। सिद्धोमें आनद है, सुख नहीं है। आनंद शक्तिके ३ परिणमन हैंः—दुःख, सुख और आनंद। दुःख सुख संसारियोंके और आनंदमुक्तोंके होता है। आनंद शक्ति आत्मामें आदिसे अनन्त तक रहती है। सुख और दुःख—आनंद शक्तिके विकार हैं। आनंदका आनंद रूपमें परिणमना आनदशक्तिका स्वभाव रूप परिणमना है। जीवकी आनंद शक्ति द्रव्योपजीवी है, उस शक्तिके घातनेवाले कर्म है। दुःख सुख इस आनंद गुणके घातक कर्मके प्रभाव हैं। आत्मा शक्ति तो आनंद है। लेकिन घातिया कर्मोंके निमित्तसे जीव आनंद शक्तिका स्वभावरूप परिणमन नहीं कर पाता है। जीवके परिणमनका स्वभाव निमित्त पाकर विभावरूप परिणमनेका है, और निमित्त न पाकर स्वभावरूप परिणमनेका है। कैसा उपादान, कैसा निमित्त पाकर किस रूप परिणम जावे, यह विशेषता उपादानकी है। जैसे हम चौकीपर बैठ जायें तो बैठना चौकीकी विशेषता नहीं, किन्तु हमारी विशेषता है।

जब तक **कर्म है तब तक दुःख ही हैः**—सुख दुःख दोनों एक साथ क्यों नहीं रह सकते हैं? आप कहोगे कि रह सकते हैं। जैसे कहा करते कि यह सुखी भी है, दुःखी भी है। लेकिन नहीं, जब तक कर्मका उदय है, तब तक दुःख ही है, दुःख मिट ही नहीं सकता है। जब तक कर्म हैं तब तक दुःख है। आनंद गुणकी ३ पर्याय हैंः—सुख, दुःख और आनन्द। इन्द्रियोंको जो अच्छा लगे, उसे सुख कहते हैं, इन्द्रियोंको जो सुहावना न लगे, उसे दुःख कहते है और जहां स्वाभाविक आनंद है, उसे आनन्द कहते हैं। आनन्दगुणकी एक समयमें एक ही अवस्था हो सकती है। लेकिन तुम्हें मालूम पड़ता है कि आत्मामें एक ही समयमें सुख भी रहता है, दुःख भी। ऐसा नहीं है, दुःख सुखका चक्र घूमता रहता है। दुःखके बाद सुख और सुखके बाद दुःख आता रहता है। **इनका क्रमसे आना समझमें नहीं आता है।** जैसे कौवेकी पुतली कभी इधर घूमती है, कभी उधर, पुतली चलती हुई नहीं दिखाई देती है। मालूम यह पड़ता है कि कौवेकी पुतली दोनों तरफ है, लेकिन ऐसा तो नहीं है। उसी प्रकार दुःखके बाद सुख और सुखके बाद दुःख आता ही रहता है। दुःख और सुख एक साथ नहीं रह सकते हैं। कामोंमें उपयोग इतनी जल्दी चलता है कि तुम्हें समझमें नहीं आ सकता है। जैसे एक चक्का है। उसमें अन्तर-अन्तरसे चार-पांच पटिये लगे हैं। यदि वह चक्का तेजीसे घूमे तो यह मालूम पड़ेगा कि इसमें एक पटिया ही सर्वत्र है। वहां कोई

अन्तर नहीं है। उसी तरह दुःख-सुख भी चक्रकी भांति तेजीसे आते रहते है।

**हमारे विचार सुख-दुःखके कारण बन जाते हैं:**—ये भावेन्द्रियां ही तो हमारे सुख दुःखका कारण बनती है। सुख जैसे काम करो, सुख प्राप्त होता है। कुत्सित कार्य करो तो दुःखकी उपलब्धि होती है। इन्द्रियोंके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। जड़रूप चिह्न विशेषोंको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके द्वारा जो जाना जाये, उसे विषय कहते है। इनका उपयोग आत्माके गुणोंका वध कर डालता है। अतः द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषय–इन तीनोंको जीतना चाहिये।

**जड़को जीतनेका उपाय चैतन्यकी भावना है:**—द्रव्येन्द्रियां जड़रूप है, अतः चैतन्य-स्वरूप आत्माको देखो तो द्रव्येन्द्रियोंको जीत सकते है। भावेन्द्रिय ज्ञानको खण्ड-खण्ड करके जानती है। इसे जाना तो दूसरा पदार्थ जाननेमें नहीं आता, वह जाना तो तीसरा समझमें नहीं आता है। अतः भावेन्द्रियोंको अखण्ड चैतन्य शक्तिके अवलम्बनसे जीता जायेगा। जड़के जीतनेका उपाय चैतन्यका आश्रय लेना है। खण्ड-खण्ड ज्ञानको जीतनेका तरीका अखण्ड चैतन्यशक्तिका आश्रय लेना है। कहनेका मतलब यह है कि जिसे जीतना है, उससे उल्टेका आश्रय लो। जैसे हमें किसी शत्रुको जीतना है तो हमें उसके शत्रुसे मैत्री करनी पड़ेगी। भावेन्द्रियोंका काम खण्ड-खण्ड करके जानना है, इसको जीतनेका उपाय अखण्ड चैतन्यशक्तिका आश्रय लेना है।

**विषय व ज्ञान एकमेकसे लग रहे हैं:**—विषय ज्ञानके साथ एकमेकसे हो रहे हैं। विषयोंका और ज्ञानका मात्र ग्राह्य ग्राहक सम्बंध है। ज्ञान जाननेवाला बन गया, जाननेमें आ गये पदार्थ—इतना ही ज्ञानका और विषयका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध व्यवहारसे है, जान लो—इतना ही पर्याप्त है; उसमे विकल्प आदि न करो। जाननमात्रसे आगे जो बढ़े तो कर्मोका बन्ध होगा। दुनियाभरके पदार्थोको देखो; बस, जान लिया–जान लिया, ऐसे भाव उत्पन्न हो जावें तो इष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाये। जाननेके बाद उसमें विशेष दृष्टि दी तो आपत्ति है अर्थात् कर्मोका बंध हो जायेगा। लोग सोचते हैं कि धन गया तो समझो हम ही मर गये अर्थात् वे चमड़ी चली जाये, पर दमड़ी न जाये–इस शैलीके आदमी होते हैं। धनको अपनेसे, आत्मीय जनोंसे–स्त्री पुत्रादिसे भी विशेष समझते है। लेकिन जब जिससे प्राण ही चले गये, उस धनके होनेसे लाभ ही क्या? कमाई करनी है तो अपने परिणामोंको निर्मल बनाओ। धनोपार्जनकी जड़ अपने परिणामोंकी स्वच्छता है। बिना स्वच्छ परिणाम अर्थात् ईमानदारीके व्यापारादि आर्थिक क्रियाओंमें सफल नहीं हो सकते। यह तो यहांकी बात है। लाभ पुण्योदयसे हुआ, पुण्यबंध स्वच्छ परिणामोंसे हुआ यह जड़की बात है। अतः मनमें कुभावोंको–खोटे परिणामोंको कभी मत आने दो।

**विषयोंको जीतनेका उपाय असंगकी भावना:**—ज्ञानके साथ एकमेकसे हुए इन विषयोंको जीतना है। इनका ज्ञानके साथ संग-सा हो गया है। अतः इनको जीतनेके लिये स्वयं अनुभवमें आने वाले असंग स्वभावका अवलम्बन करो। यह स्वानुभव स्वयं प्राप्त हो जाता है, इच्छापूर्वक नहीं आता है। धर्मका और इच्छाका तो परस्पर विरोध है। इच्छा-पूर्वक जो किया जावे, वह धर्म नहीं है। इच्छा मत करो स्वयं धर्म मिल जायेगा। हाँ इस स्थितिको पानेके अभिप्रायसे कुछ यत्न किया जाता है वह शुभोपयोग है। जैसे विवाह शादियोंमें सातवीं भंवर पड़नेपर ही विवाह होता है, उससे पहले विवाह नहीं होता है। सातवीं भंवर पड़नेमें अधिकसे अधिक आधा मिनट लगता होगा अर्थात् विवाह आधे मिनट में ही होता है। लेकिन उस आधे मिनटके लिये कितने दिन पहलेसे कितने झंझट करने पड़ते हैं? कितना खर्च करना पड़ता है लेकिन विवाह इन झंझटोंमें नहीं होता है। फिर ये भी झंझट विवाह करना है तो करने ही पड़ेगे। इसी प्रकार स्नान, पूजा, अभिषेक स्वाध्याय आदि जो हम कर रहे हैं, उनमें धर्म नहीं है। फिर भी धर्म प्राप्त करना है, ये क्रियाएं अवश्य करनी पड़ेंगी। इनके बिना धर्मकी स्थिति पाना विडम्बना वालोंको कठिन है। ये जितने भी कार्य तुम करते हो सब इच्छापूर्वक ही तो करते हो। जब स्वानुभव होगा, उस समय तुम्हारी कोई इच्छा ही न रहेगी।

**जब इच्छा न होगी, तभी धर्म होगा:**—ध्यान करो, ऐसा करो कि कुछ ध्यान ही न रहे। एतदर्थ इच्छापूर्वक किये गये कृत्य बिल्कुल बेकार नहीं गये, उनसे वह शुभोपयोग होता है। जिसके पश्चात् धर्मकी संभावना है। आत्माका ध्यान ऐसा करो कि आत्माका भी ध्यान न रहे, वही यथार्थ ध्यान है, वही धर्म है। ऐसी अवस्थामें स्वाभाविक आनंदकी एक झलक मिलती है। जीव जिस कालमें धर्म करता है, उसी कालमें आनंदकी प्राप्ति होती है। धर्म करे अब, और आनंद मिले पश्चात्—ऐसा नहीं है। एकत्वका लक्ष्यपूर्वक ध्यान करते जाओ; स्वानुभव अपने आप ही प्राप्त हो जायगा। शुभोपयोगसे मनको सुख मिलता है। शुभोपयोगसे जो सुख मिलता है, मिलता है उसी समय, परन्तु क्षणिक सुख मिलता है अर्थात् जितने समय शुभोपयोगके कृत्य करते हो, उतने ही समय तक उसका सुख रहता है, बादमें नहीं रहता।

**उपयोगका फल उपयोगके कालमें है:**—शुभोपयोगका फल शुभोपयोगके बाद नहीं है। अशुभोपयोगके विषयमें भी यही बात है। शुभोपयोग जिस समय करता है, उसी काल उसका फल मिलता है—इसमें झगड़ा नहीं, उधारका काम नहीं है। कर्म किया, कर्मका उदय आएगा, उसके बाद फल मिलेगा। यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। इस निमित्तनैमित्तिक दृष्टिमें सम्यग्दृष्टिको छोटे कामका जितनी जल्दी फल मिलता है, उतनी जल्दी मिथ्या-

दृष्टिको नहीं मिलता । क्योंकि सम्यग्दृष्टिने जो भाव किया, वह कम स्थितिका कर्म बांधेगा, कम स्थिति होनेसे जल्दी उदयमें आयेगा । उदयमें आते ही फल मिल जायेगा । लेकिन मिथ्यादृष्टि तो बड़ा पाप करता रहता है । उसके जो कर्म बांधेगा, वह लम्बी स्थितिका बंधेगा । लम्बी स्थिति होनेसे देरमें उदयमें आयेगा । उदयमें आनेपर ही उसका फल मिलेगा । ऐसे कर्म बंधे हुए अनन्त पड़े हैं अतः रोज़के रोज़गारमें मोहीके अन्तर नहीं आता ।

इन विषयोंको जीतना है, जो ज्ञानके साथ एकमेकसे हो रहे हैं, इनका ज्ञानके साथ संग बताया है । विषयोंको जीतनेके लिये स्वयं अनुभवमें आने वाले असंग स्वभावका आश्रय करो । द्रव्येन्द्रियां जड़ हैं, अतः उनको जीतनेके लिये चैतन्यस्वभावका आश्रय करो । भावेन्द्रियां ज्ञानको खण्ड-खण्ड करके जानती हैं, अतः उनको जीतनेके लिये अखण्ड चैतन्यस्वरूप का अवलम्बन करो ।

हे भगवन् ! आपने इस प्रकार द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और विषयोंको जीता । आपको नमस्कार हो । इस प्रकार यह भगवान्‌की निश्चय स्तुति है । द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषय भगवान्‌की आत्मासे स्वयं पृथक् हो गये, यही उनको जीतना है । हे भगवन् ! आपने इन तीनोंको जीता है, इस प्रकार भगवान्‌के आत्माके गुणों तक दृष्टि ले जाना भगवान्‌की निश्चय स्तुति है । आत्माके गुणोंकी पर्यायकी बात बताना सो निश्चयस्तुति है । आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्यके पर्यायकी बात करना व्यवहारस्तुति है । व्यवहारस्तुति भी तभी होती है जबकि स्तोता उसकी आत्माके गुण जानता हो । यहांपर भगवान्‌की आत्माके गुणोंका वर्णन करनेके कारण निश्चयस्तुति की गई है ।

जिस पुरुषको आत्माके गुणोंकी खबर ही नहीं है उसके द्वारा की गई बाह्य स्तुति व्यवहार स्तुति भी नहीं है । भैया ! यहां भी तो लोग अटपट परस्पर प्रशंसा करते हैं—यदि पुत्र धन मकानकी प्रशंसा करके संतोष करे तो वह निश्चयस्तुति है । यदि आत्माके गुणोंको बतावें तो "उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायंति गर्दभाः । परस्पर प्रशंसन्ति, अहोरूपमहो ध्वनिः" ही होगा ।

प्रश्न— भगवान्‌की निश्चय स्तुति कैसे की जानी चाहिये ?

उत्तर—द्रव्येन्द्रियोंको चैतन्यस्वभावके आश्रयसे जीत करके, भावेन्द्रियोंको अखण्ड चैतन्य शक्तिके आश्रयसे जीत करके, विषयोंको असंग स्वभावके आश्रयसे जीत करके, हे भगवन् ! आप उस अपनी आत्माके स्वभावका अनुभव कर रहे हैं, जो आपकी आत्मा एकत्वमें लीन हो रही है । भगवान्‌का स्वरूप इसलिये एकत्वमें आगया कि भगवानने ज्ञेय ज्ञायक शंकर दोषको समाप्त कर दिया है । ज्ञेय पदार्थ हैं । ज्ञायक ज्ञान स्वयं है । दोनों भिन्न भिन्न वस्तु हैं, इस प्रकार जानकर आपने ज्ञेय-ज्ञायक शंकर दोषको दूर कर अपने

स्वभावको एकत्वमें कर लिया है। जैसे—आम खा रहे है। आम खा भी रहे हैं और आम के रसका स्वाद भी ले रहे है—ऐसी समझ यही ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर-दोष है। क्योंकि आत्मा आम खाता नहीं है; आत्मा यह अनुभव करे कि मैं आमका रस चख रहा हूं, यह ज्ञेयज्ञायक शंकर दोष है। आत्मा आमका निमित्त पाकर आमके रसका ज्ञान कर रहा है। आमके रसका अनुभवन आममें और आमका रस मीठा है, इस प्रकारका ज्ञानरूप अनुभव आत्मामें होता है। ज्ञेयका लक्ष्य समाप्त हो जाये, ज्ञानमात्र रह जाये, इसीको ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दोषका दूर होना कहते है। दुनिया ज्ञेय-ज्ञायक-शंकरमें ही तो लगी है। ज्ञेयके अनुसार ज्ञानके परिणमनको ज्ञेय ज्ञायक शंकर दोष कहते हैं। हे भगवन् ! आपने ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दोषको नष्ट कर दिया है। आप अपनी एकतामें आ गये हैं। दुनियाके लोग ज्ञेय-ज्ञायक शंकर-दोषके दोषी होनेके कारण एकतामें नहीं आ पाये हैं। हे नाथ ! आप निज एकत्वमें टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल है, इस प्रकारकी यह भगवान्की निश्चयस्तुति है।

व्यवहारमें शरीरका वर्णन करके भगवान्की स्तुति की जाती है। लेकिन निश्चय-स्तुतिमें केवल भगवान्की आत्माके गुणोंका वर्णन किया जा रहा है। इस निश्चयस्तुतिसे अपनेको मार्ग दिखाई देगा कि हमें भी ऐसा ही करना है; जैसा कि भगवान्ने किया है। हे भगवन् ! जो आत्मा समस्त बाह्य द्रव्यान्तरोंसे पृथक् है, ऐसे अपने आत्माको आपने जाना है। अपने आत्माको जाननेके कारण आप बड़े हैं। आपके अन्दर बड़ा होनेकी करतूत है, अतः आप बड़े हैं। आपने अपने ऐसे आत्माको जाना है, जो समस्त द्रव्यान्तरों से बिलकुल न्यारा है। हे भगवन् ! आप ज्ञानस्वभावके द्वारा अपने आत्माको सबसे न्यारा अनुभव कर रहे हो। वह आत्मा ज्ञानस्वभावके द्वारा सबसे अलग जान पड़ी।

**द्रव्यमें साधारण गुण छह हैं**—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व' (३) द्रव्यत्व, (४) अगुरुलघुत्व, (५) प्रदेशत्व और (६) प्रमेयत्व; इन छह गुणोंकी अपेक्षा आत्मा निखिल द्रव्योंके समान है। अन्य द्रव्योंसे जीवद्रव्यमें ज्ञानस्वभावसे विशेषता है। जैसे—द्रव्यपनेसे दूध और पानी समान है; परन्तु उनकी पहिचान करनेके लिये द्रव्यत्व गुण नहीं देखा जाता। जलसे भिन्न दूधकी पहिचान रससे, स्वादसे, सफेदी आदि गुणोंसे होती है। इसी प्रकार आत्मा अन्य द्रव्योंसे ज्ञानस्वभावमें अधिक है। इस ज्ञानस्वभावके द्वारा ही अन्य द्रव्यों से अलग जीवद्रव्य पहिचाना जाता है। वास्तवमें ज्ञान है; कल्पनाकी चीज नहीं है। ज्ञान को किसी ने बनाया नहीं है, ज्ञान स्वतःसिद्ध है। ज्ञान अनुयायी है, ज्ञान अविनाशी है; ज्ञानका कभी नाश नहीं होता है। जैसे अग्निसे उष्णता कभी नष्ट नहीं होती है। यदि अग्नि ही नष्ट हो जाये तो उस अग्निकी उष्णता भी नष्ट हो जाती है। अग्नि पर्याय होनेके कारण नष्ट हो जाती है; किन्तु आत्मा कभी नष्ट नहीं होता है। अतएव आत्माका गुण

ज्ञान भी सदा ही बना रहता है, कभी नष्ट नहीं होता है। आत्मा प्रकाशमान है, समस्त जीवोंमें है। जो जानता है, अनुभव करता है, वह आत्मा है। ज्ञान जानने वालोंके पूर्णतया समझमें आ रहा है। भगवान्का ज्ञान सारे विश्वको एक समयमें एक साथ जान रहा है। भगवान्का ज्ञान सारे विश्वपर एक समयमें तैर रहा है। जैसे अपना ज्ञान सामने स्थित जितने पदार्थों को समझ रहा है, मालूम पड़ता है कि उन पदार्थोंपर तैर रहा है। इस गाथाका यह भाव हुआ कि हे भगवन्, आपने द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयोंको जीतकर अपनेको ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय अनुभव किया। यह भगवान्की निश्चय स्तुति है। यह रोज-आना भगवान्के सामने बोलो तो तुम भी भगवान् जैसे ही इन्द्रियोंको जीतकर अपनेको ज्ञानमय अनुभव करने लगो। इस लायक यत्न करनेका उत्साह जागेगा।

लोगोंको सुखसे या दुःखसे अधिक परिचय है। उसीका नाम लेने से हरेक कोई समझ जाता है, अतः आचार्योंने सुख दुःखसे परिचित मोहियोंको "आनन्द" की जगह सुख कहकर समझाया है। जैसे कि संसारी प्राणी स्त्रीसे अधिक परिचित हैं, अतएव आचार्योंने मोक्षको स्त्रीका रूपक देकर समझाया है—मुक्ति कन्याकरग्रहेशुल्कतां एति। यहाँ पर "मुक्ति रूपी कन्याके विवाहमें" ऐसा कहा है। जिस प्रकारकी भाषाको समझने वाले जीव होते हैं, उनको समझानेके लिये उसी प्रकारकी भाषा बोली है।

**भगवान्का ज्ञानस्वभाव सारे विश्वके ऊपर तैर रहा है**—हे नाथ! आपने इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव करि अपनेको अधिक अनुभव किया। चैतन्य स्वभावका आश्रय कर जड़रूप द्रव्येन्द्रियोंको जीता, आपने ज्ञानको खण्ड-खण्ड करके जाननेवाली भावेन्द्रियोंको अखण्ड स्वभावका अवलम्बन करके जीता और संगसहित विषयोंको असंग स्वभावका आश्रय कर जीता। इस प्रकार इन्द्रियोंको जीतकर आपने अपनेको ज्ञानमय अनुभव किया। जिसने इन्द्रियोंको और उनके विषयोंको जीतकर अपनेको ज्ञानमय अनुभव किया है, उन्हें "जितेन्द्रिय" कहते हैं। हे भगवन्! आप जितेन्द्रिय हैं। समस्त सम्यग्दृष्टि 'जिन' कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टियोंके इन्द्र जिनेन्द्र (अरहंत) कहलाते हैं। जिनेन्द्रके द्वारा कही गई वाणीको "जिनवाणी" या "जैनेन्द्रवाणी" कहते हैं। भगवानकी साक्षी पूर्वक परम्परासे जो श्रुत आया है उसे "भागवत" कहते हैं। आचार्य इस भागवत समयसारमें निश्चय स्तुतिका वर्णन कर रहे हैं:—हे नाथ! आप जितेन्द्रिय हैं, क्योंकि आपने समस्त इन्द्रियों व उनके विषयों को जीतकर अपनेको ज्ञानरूप अनुभव किया है।

कितने ही लोगोंका विश्वास है कि भगवान महावीरसे जैनधर्म चला है, लेकिन इसकी परम्परा बहुत पहिलेसे है। इनसे पहिले राधेश्याम, पार्श्वनाथ हुए है। राधा स्वात्मानुभूतिका नाम है, उस राधा सहित श्याम वर्ण वाले पार्श्वनाथ हुए। उनसे पहिले गोरखनाथ

हुए । गोरखनाथके नामसे प्रचलित हमारे २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ हैं । क्योंकि गो = दिव्य-ध्वनि, रख = रक्षा करनेवाले- -दिव्यध्वनिकी रक्षा करनेवाले गणधर हैं । गणधरोंके नाथ नेमिनाथ हुए । शंकर = कल्याणको करनेवाले; महादेव = पहले या सबसे बड़े भगवान. ये आदिनाथ भगवान हैं । सोम = चंद्रनाथ = प्रभु—सोमनाथ = चंद्रप्रभु ८वें तीर्थङ्कर हुए । इन सब तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि ही "भागवत" कहलायी ।

इस प्रकार भागवत समयसारमें ३१ वीं गाथामें भगवानकी निश्चयस्तुति की है कि जिन्होंने इन्द्रियोंको जीतकर अपनेको ज्ञानमय अनुभव किया है, ऐसे जिनेन्द्र भगवानको मेरा बारम्बार नमस्कार हो । भगवानका नाम चाहे जो रख लो, स्वरूपमें अन्तर नहीं आना चाहिये । स्वरूपके वर्णनसे की गई यह भगवानकी प्रथम निश्चय स्तुति है । आत्माके पास कारणज्ञान ही तो है । ज्ञानसे ही तो इन्द्रियोंको जीतना और अपनेको ज्ञानमय अनुभव करना—ऐसा भगवानको बताना कि आपने ऐसा किया है । फिर उस मार्गके यत्नमें अपनेको ज्ञानमय अनुभव करनेपर ही आत्मानुभव प्राप्त होगा । भैया ! विषयकषायोंका ऊधम न मचाया जावे तो सब बात सरल है । क्या कठिनाई है आज सत्पथपर चलनेमें ? वीतराग महर्षियोंके अनुभव शब्दब्रह्ममें प्रकट हो रहे हैं । खुदको भी उस रत्नमय मार्गपर कुछ भी चलनेसे साक्षात् स्पष्ट होता जाता है कि यही मार्ग है जिससे परमशान्ति प्राप्त होती है ।

**आनन्द गुणकी तीन पर्याय हैं:**—सुख, दुःख और आनन्द । ये तीनों पर्यायें एक साथ नहीं हो सकतीं । दुःख होगा तो सुख नहीं हो सकता; सुख होगा दुःख नहीं हो सकता है । जो दुःखी है, सो दुःखी ही है । जो सुखी है, वह सुखी ही है । जीवमें जब तक कर्मका उदय है, तब तक दुःख है । कोई दुःख अपने जाननेमें आ जाता है, कोई दुःख जाननेमें नहीं आ पाता है । दुःख अबुद्धिपूर्वक भी होता है । कारण, अबुद्धिपूर्वक दुःख वाले जीवमें स्वाभाविक सुख नहीं देखा जाता है; और अबुद्धिपूर्वक दुःख होनेका आगम भी प्रमाण है । अतः अबुद्धिपूर्वक दुःख अवश्य है । विषय सुख स्वाभाविक आनन्द नहीं है । धन वैभवमें चैन मानना स्वाभाविक आनन्द नहीं है । इन्द्रियोंके ज्ञानमें जितने दोष हैं, उतने ही इन्द्रिय सुखमें भी दोष हैं । समस्त शास्त्र भगवानकी परम्परासे चले आ रहे हैं, अतएव इनको 'भागवत" कहते हैं । इस भागवत परमागमें बताया है कि समस्त कर्मोंका फल दुःख है । एक इन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक कार्माणकायवाले जीव दुःखी ही माने गये हैं । अरहंतमें भी कार्माण-काययोग होनेके कारण इतना ऐब अवश्य है । लेकिन उनके गुणोंमें यह ऐब नहीं है । संसारी जीवोंमें सभी दुःखी हैं, एक भी सुखी नहीं है । सभीको कोई न कोई चिन्ता अवश्य लगी रहती है । जहाँ चिन्ता या इच्छा है, वहाँ दुःख ही दुःख है, सुखका लेश नहीं । मोक्षकी इच्छामें भी दुःख ही है । सुख ज्ञाता-द्रष्टा रहनेमें है । तुम शरीरको भी जानो, लेकिन

ज्ञानमात्र लो—इससे भी आनंद प्राप्त हो सकता है। इच्छा करते हुए मोक्षको भी जानोगे तो वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त होता है। जीवमें इतनी योग्यता है नहीं कि वह समस्त जड़ पदार्थोंको जाने और उनके रागद्वेष न हो पावे। रागद्वेष बाह्यपदार्थोंके आश्रयसे ही होते हैं। अतः आत्माको जानो, बाह्यपदार्थोंसे चित्त हटा लो, ऐसा उपदेश है और मुमुक्षुका ऐसा यत्न भी है। ज्ञाताद्रष्टा बने रहो, तभी वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक सभी जीव दुःखी हैं।

घातिया कर्मोंके उदयसे जीवके प्रदेशोंमें आघात पहुँचता है। प्रदेशोंमें आघात पहुंचनेके कारण ही विकल्प उठते हैं। आत्मामें विकल्प कैसे हो जाते हैं, यह समझमें नहीं आता है। आत्माके प्रदेशोंमें आघात पहुंचना ही विकल्पोंका कारण है। प्रदेशोंमें आघात घातिया कर्मोंके कारण पहुंचता है। विकल्पोंका आत्मामें उठना ही आत्म हनन है। आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह उत्पन्न हुआ, समझो, आत्माकी हत्या हो गई।

संसारमें अपना कोई मददगार नहीं है, जिनके पीछे कुभाव कर रहे हैं, हम क्रोध करते है तो अपना ही नुकसान है, हमारे क्रोध करनेसे दूसरेका क्या बिगड़ता है ? कुछ नहीं। हे आत्मन् ! फिर तू परको शत्रु या मित्र समझ करके क्यों कुभाव करता है ? अपनी गलती से अपना ही नुकसान होता है। घातिया कर्मोंके उदयसे जीवमें अनिच्छित दुःख होता है। यदि कर्मोंके उदयको दुःख न माना जाये, केवल मानसिक या शारीरिक दुःखको ही दुःख माना जाये तो संज्ञीको ही दुःख हो सकेगा, असंज्ञीको नहीं।

दुःखका मूल हेतु तो मिथ्यात्व है—शायद तुम कहो, असंज्ञीको कम दुःख होता है, संज्ञीको अधिक दुःख होता है। परन्तु ऐसा नहीं है। संज्ञीकी अपेक्षा असंज्ञीको अधिक दुःख होता है। यह बात भी नहीं कि बुद्धिपूर्वक दुःख बड़ा कहलाता हो और अबुद्धिपूर्वक दुःख छोटा दुःख हो। क्योंकि संज्ञीका असंज्ञीसे ऊंचा पद है। अतः असंज्ञीको अधिक दुःख है। जिनके कर्मका उदय है, उनको दुःख है। यदि यह कहो कि असंज्ञियोंके इन्द्रियाँ होने से दुःख है तो विग्रह गति करते समय तो उसके शरीर छूटनेसे इन्द्रियाँ भी नहीं रहती है, उस समय वह सुखी कहलायेगा। लेकिन ऐसा नहीं होता है, उस समय भी दुःख रहता है। अतः दुःखका कारण कर्मका उदय ही है, इन्द्रियाँ नहीं। यदि इन्द्रियोंको सुख दुःखका कारण मानोगे तो विग्रह गतिमें जीवके सुख दुःखका अभाव हो जायेगा, इस प्रकार अव्याप्ति दोष आ जायेगा। विग्रहगतिमे यह शरीर नहीं है, फिर भी दुःख है।

वह आत्मा ऐसा परिणमता रहता है कि जैसे इन्द्रियोसे जान रहा है। लेकिन वह इन्द्रियोंसे नहीं जानता है; वह अपने ज्ञानसे जानता है। यह सिद्ध है कि कर्मका उदयसे ही दुःख है। आत्माके आनन्द गुणमें विकार होनेसे कर्मोंका उपद्रव होता है। शरीर और

इन्द्रियां सुख दुःखका कारण नहीं हैं।

अरहन्त भगवान्‌के एक भी ध्यान नहीं है। क्योंकि १३ वें गुणस्थानमें कोई ध्यान नहीं होता है। आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्वतक अरहन्त अवस्था रह सकती है। ८४ लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है, ८४ लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व होता है—ऐसे एक करोड़ पूर्वकी चतुर्थकालमें आयु हो सकती है, विदेहमें सर्वदा हो सकती है। जैसे ८ वर्षकी अवस्थामें अरहन्त बने तो आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व तक अरहन्त रहे। द्रव्येन्द्रियाँ तो वहाँ भी हैं किन्तु दुःख नहीं है। इसलिये दुःखका कारण कर्म है। कर्मको जीतनेका उपाय मोहको जीतना है। मोहके जीतनेका उपाय कर्मको जीतना है। कर्मको जीतनेका उपाय इंद्रियोंको जीतना है। हे भगवन्! आपने द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयोंको जीतकर अपने को ज्ञानमय देखा—यह भगवान्‌की निश्चयस्तुति है।

इस जीवके साथ दो विकट दोष लगे हैं—ज्ञेय-ज्ञायक शंकर और भाव्यभाव शंकर। इन दो दोषोंसे जीव क्लिष्ट है। जो पदार्थ जाननेमें आवे और जिससे जाना, उनका मिला हुआ स्वाद लेना ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दोष है। इस दोषको करनेवाला इन जड़ पदार्थोंके सिवा अन्यको कुछ गिनता ही नहीं है। हे भगवन्! आपने यह दोष—ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दूर कर दिया है, अर्थात् आप दुनियाभरके समस्त पदार्थोंको जानकर भी अपनी आत्माकी एकतामें रमते हो। दुनियावाले ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दोषमें पड़े हुये हैं—पदार्थको जानकर भी पदार्थमें ही उसका आनन्द समझते हैं। जब तक द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयोंको न जाना जाये, तब तक वह दोष दूर नहीं हो सकता है। ज्ञान इन्द्रियोंके निमित्तसे हो रहा है, जिनके निमित्तसे ज्ञान हो रहा है, उनको अपनी आत्मासे न्यारा समझ लेवे—उनकी ओर उपेक्षा कर देवे—इसीसे इन्द्रियों तथा उनके विषयोंको जीता जा सकता है। इन्द्रियोंके जीतने का ही अर्थ है, ज्ञेय-ज्ञायक-शंकर दोषको जीतना। हे भगवन्! आपने इन्द्रियोंको और उनके विषयोंको जीता और अपनी आत्माकी एकतामें तन्मय रहे, अतएव आपको ज्ञानियोंने जितेन्द्रिय कहा है। आप जितेन्द्रिय हैं, इसीलिये ही भगवन्! मैं आपको बार बार नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार भगवानकी प्रथम निश्चय स्तुति समाप्त करके आचार्य दूसरी निश्चय स्तुति प्रारम्भ करते हैं—

गाथा नं० ३२ में आचार्य भगवानकी दूसरी निश्चय स्तुति इस प्रकार करते हैं—

जो मोहंतु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।  
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

जो मोहको जीत करके ज्ञानस्वभाव करि अधिक आत्माको मानता है, परमार्थके

ज्ञायक पुरुष उसे जितमोह साधु कहते हैं। यह मोह मोहनीय कर्मके उदयको निमित्त पाकर प्रादुर्भूत हुआ सो मोह भाव तो भाव्य है और मोहनीय कर्म भावक है। मोहनीय कर्म निमित्त होनेके रूपमें फल दानमें समर्थ है, इसलिये इसे भावक कहते हैं। यह मोहनीय कर्म तो परपदार्थ है। वह तो डुबाने वाला (निमित्त) है। वह तो अन्य स्वरूपसे दूर ही है, उसके उदयरूप संसर्गमें होने वाला मोह भाव भी औपाधिक है, आत्मस्वरूप नहीं, अतः उसका व्यावर्तन हो जाता है। हे आत्मन्! अनादिसे मोहभावका आदर किया, उसे अपनाया परन्तु फलमें क्लेश ही पाया। अब तो उसे पृथक् कर दो। अहो तत्त्व ज्ञानकी महिमा अद्भुत है। मोहभाव और कर्मोदयका संसर्ग दोष, शंकरदोष तत्त्वज्ञानसे ही टलता है। हे आत्मन्! मोहका वर्णन कर, देख अपना प्रताप, ज्ञानमय स्वरूपका अनुभव कर।

हे नाथ! आपका भाव्य-भावक-शंकर दोष भी समाप्त हो गया है, अतएव आप "जितमोह" कहलाते हो। जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको मानता है– आत्माको ज्ञानमय देखता है, उन सिद्ध प्रभुको ज्ञानी "जितमोह" कहते हैं।

मालूम पड़ता है कि आचार्य कुन्द-कुन्द वृद्ध पद्धतिके थे और श्री अमृतचन्द्रजी सूरि जवान पद्धतिके, क्योंकि आचार्य श्रीमत्कुन्दकुन्दने तो एक बातको संक्षेपमें कहकर समाप्त कर दिया, परन्तु सूरिजी ने पूर्वकी भांति एक-एक बातको विशिष्ट रूपसे प्रकाशित किया है। यदि सूरिजी गाथाकार की कही हुई बातोंपर यह भाष्य न लिखते तो वे गाथाएँ समझनी कठिन हो जातीं। देखो श्री अमृतचन्द्र जी भगवानकी दूसरी निश्चय स्तुति इस प्रकार स्पष्ट करते हैं——

भाव्यभावक दोष है, अतएव जीवने मोहको पकड़ रक्खा है। यदि भाव्य भावक शंकर-दोष खत्म हो जाये तो मोह ही न हो। जिसको निमित्त पाकर रागद्वेष मोह आदि उत्पन्न होते हैं, उसे (भावक) कहते हैं। राग द्वेष आदिको भाव्य कहते हैं। जो भाव्यभावक को मिला हुआ देखे याने अवकके अनुसार भाव्य होनेमें उपयोग करे उसे भाव्यभावक शंकर दोष कहते हैं। राग-द्वेष आदि होते हुएको प्रेरणा करते हैं, अतः भावक हैं। कर्मके उदय होनेके कारण आत्मामें राग-द्वेष आदि होते हैं। जिस समय आत्मामें रागद्वेष आदि होते हैं, उस समय आत्मा उनमें कुछ चिपटतासा है——इसे भाव्यभावक शंकरदोष कहते हैं। कर्मके उदयसे होने वाले रागद्वेष को अपनाना भाव्यभावक शंकर दोष है। यदि यह जीव राग-द्वेषको न अपनावे तो मोह दूर हो सकता है। इतने यह रागादिको अपनाता रहेगा इतने मोह दूर होना असम्भव है।

उदाहरणतः—पुत्रमें राग करना उतना बुरा नहीं, जितना कि पुत्रके रागसे राग करना बुरा है। पुत्रके रागको ही बांधकर रह गये, अपना समझ लिया, यही बुरा है।

पुत्रका राग ज्ञेयज्ञायक शंकरदोष और पुत्रके रागका राग भाव्य-भावक शंकर दोष है। मोह तब तक दूर नहीं हो सकता, जब तक अपनी दृष्टिसे रागद्वेष दूर नहीं होंगे। अतः पहले अपनी दृष्टिसे रागद्वेषको दूर करो।

धर्म कभी भी इच्छापूर्वक करनेसे नहीं होता। बस करते जाओ, इच्छा न करो, हो गया धर्म। घंटा फोड़नेसे या जोर-जोरसे चिल्लानेसे धर्म नहीं होता है। धर्म तो बड़ी सरल चीज है। धर्म होनेमें कोई कष्ट नहीं होता है। बीमारीमें, गरीबीमें या अशक्तता में भी धर्म हो सकता है। रागद्वेषसे भिन्न अपनेको जो अनुभव करे, उसे जितमोह कहते हैं, यही यो धर्म कहलाया।

फल देनेमें जो समर्थ रूपसे उत्पन्न होता है, वह कर्म भावक बन रहा है। कर्मके उदयमें आनेसे रागद्वेषादि अवश्य होते हैं। ऐसे भावकको श्री अमृतचंद्र जी सूरि कहते हैं कि भावक रागद्वेष आदि है और भाव्य दीन दुःखी आत्मा अथवा भावक मोह है और भाव्य मोहपरिणत आत्मा। नचानेवालेको भावक और नचनेवालेको, तदनुरूप प्रवृत्ति करनेवालेको भाव्य कहते हैं। नचानेवाला यह मोह है, पहले इसे दूर करो। मोहको रागद्वेष आदिके अनुकूल परिणामोंसे आत्माको जुदा कर दो। इससे मोहका तिरस्कार हो जायेगा।

**मोहकी इज्जत बिगाड़ दो, मोह मिट जायगाः—**मोह एक बहुत बड़ा मतवाला राजा है। उसकी सेनाके प्रमुख सेनापति रागद्वेष आदि हैं। मोह भी स्वाभिमानी है, वह भी अपनी इज्जत रखता है। यदि आप उसकी इज्जत बिगाड़ दो तो वह भाग जायेगा। मोहकी इज्जत बिगाड़नेका उपाय उसकी ओर उपेक्षा करके आत्माकी ओर दृष्टि लगाना है। जब मोहकी एक बार भी इज्जत बिगड़ जाये अर्थात् उसकी ओर उपेक्षा हो जाये तो वह आत्मामें फिर कभी आनेका नाम नहीं लेता है। जहां उसका सम्मान होता है, वहां चला जाता है। रागद्वेष आदि भाव आत्मासे जुदा हैं, मैं ज्ञानमात्र हूं—रागद्वेष कर्मोंके उदयमें प्रतिबिम्बमात्र है—इस प्रकारसे मोहको दूर कर भाव्यभावक शंकर-दोषको दूर कर सकते हैं। मनमें जिस समय रागद्वेषका ज्वारभाटा आता है, उस समय आत्मामें भी हलचल मच जाती है, भूकम्पसा आ जाता है—आत्मा ठहरता नहीं है। यदि आत्मासे रागद्वेषको जुदा मान लिया तो आत्मामें चाहे रागद्वेष उठते भी रहें, तो आत्मा धीरता धारण करेगा। क्योंकि आत्मासे रागद्वेषको दूर भगानेके कारण भाव्य-भावक शंकर-दोष दूर हो गया है। भाव्यभावक शंकर-दोषके दूर होनेपर आत्मा निजमें अनुभव करता है कि मैं ज्ञानमात्रहूं, मैं ज्ञानस्वभाव करि विशिष्ट हूं। वह ज्ञान सारे विश्वके पदार्थोंको जानकर भी समस्त विश्वपर तैर रहा है। जैसे पानीके ऊपर जलकी बूंद पड़ती है तो वह जलके ऊपर तैरती रहती है।

भगवान्‌का ज्ञान सारे विश्वके ऊपर तैर रहा है। पदार्थोको जानकर भी उनका ज्ञान पदार्थोंसे चिपटता नहीं है। हे नाथ! आपने अपने आपको उस ज्ञान करि विशिष्ट माना है। जो अपनेको ज्ञानमय अनुभव करता है, उसका उपयोग ज्ञानसे बाहर कहाँ जा सकता है? ज्ञान तो सबके पास है। उसकी उपयोगिता उसके जाननेमें है कि ज्ञान हमारी आत्मामें है। यदि उसको जीव पहिचानता है वह तो तब भी ज्ञान है, नही पहिचानता है तो भी ज्ञान ही बना रहेगा। जैसे किसीके साफेमें "लाल" बाँध दिया जाये। यदि साफे वालेको उसका पता चल जाता है, वह तब भी "लाल" ही कहलायेगा, पता न चले तब भी लाल ही रहेगा। इसी प्रकार आनन्द गुण ही सबमें है। उस अतीन्द्रिय सुखको जानते हो तब भी वह आत्मामें ही रहेगा, न जानो तब भी आत्मामें ही रहेगा। भगवानमें वह अतीन्द्रिय सुख प्रकट है; अपनेमें नहीं।

**ज्ञान व आनन्दका विकास इन्द्रिय व शरीरसे नहीं है**—शंका:—भगवानके जब इन्द्रियां और शरीर नहीं हैं तो भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे हो सकता है?

समाधान:—तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिनके देह और इन्द्रियां नहीं हैं उनके भी ज्ञान होता है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। जिसके देह और इन्द्रियां हैं, वह जानता है कि देह है तो सुख है, देह नही है तो सुख नहीं है। जैसे—ग्वालाके पास गाय भैंस हैं तो वह जानता है कि सर्वत्र घी-दूधकी वर्षा हो रही है। यदि उसके पास गायें भैंस नहीं हैं तो वह कहेगा कि क्या बात है, दूध-घी तो दुनियासे उठ ही गया, दूध-घी के तो लोगोंको दर्शन तक भी नहीं होते हैं। इसी प्रकार यह देहधारी मोही संसारी प्राणी मानता है कि देह और इन्द्रियोंके बिना भगवानके ज्ञान कैसे हो सकता है? उसको यह पता नहीं कि आत्मा ज्ञानमय है, इन्द्रियां तो ज्ञानका कारण मात्र हैं। संसारीके विषयमें "उपानदगूढवत्तस्य-दृश्यते भूश्चर्मणा:" वाली कहावत चरितार्थ होती है। अब सिद्ध करते हैं कि अतीन्द्रिय-ज्ञान भी हो सकता है।

**ज्ञान व आनन्द आत्माका ही धर्म है**—इंद्रियोंके निमित्तसे जो सुख या ज्ञान होता है, उसे लौकिक सुख व ज्ञान कहते है। इंद्रियोंके निमित्त बिना जो सुख (आनंद) होता है, उसे शुद्ध सुख कहते हैं। इद्रियोंके निमित्त बिना होने वाले ज्ञानको शुद्ध ज्ञान कहते है। वह शुद्धज्ञान अपन लोगोंमें भी हो सकता है। जैसे—हम खाना पीना खाकर दुपहरके समय अपने विचारमें डूबे बैठे हों, इंद्रियोंके निमित्तसे उस समय कोई सुख न हो रहा हो, इंद्रियां आराम कर रही हों, यदि उस समय कोई हमसे आकर पूछे कि मजेमें तो हो न? तो हम तुरंत उत्तर देंगे कि हां भाई आनंदमें है। वही जैसा मानो शुद्ध ज्ञान कहलाता है, लेकिन वह शुद्ध ज्ञान एक देश है, पूरी तरहसे नहीं समझा जा सकता है। अतएव जब एक देश

आनंद अपन लोगोंके है, तो जो मुक्त या सिद्ध हो गये हैं, जिनका इंद्रिय और शरीरसे पूर्णतया सम्बन्ध छूट गया है, उनके यदि पूर्ण ज्ञानका सुख हो जाये तो आश्चर्य हो क्या है ? इसीको और स्पष्ट करते है--जैसे कोई आदमी मकानके भीतर है। उस मकानके अन्दर ५ दरवाजे हैं, तो वह उन दरवाजोंसे बाहरके पदार्थोंको देख सकता है। यदि वे दरवाजे बन्द कर दिये जायें तो बाहरके पदार्थोंको नहीं देख पायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है कि वह दरवाजोंसे ही देख पाये, वैसे न देख पाये, वह अपनी ताकतसे देखता है, दरवाजों से नहीं देखता है। दरवाजे वंद करके आप मकानकी भींतोंको फोड़ डालिये तो क्या आप फिर भी बाह्य पदार्थोंको नहीं देख पायेंगे ? अर्थात् अवश्य देख लेंगे और पहलेकी अपेक्षा अधिक पदार्थोंको देख सकेंगे अर्थात् जो पदार्थ भित्तिके आवरणमें थे, उनका भी ज्ञान हो सकेगा। उसी प्रकार इस कमरे रूपी शरीरमें एक मनुष्यरूपी आत्मा बन्द है। उसमें ५ दरवाजों रूपी पांच इन्द्रियाँ हैं। वह मनुष्य इन पांच इन्द्रियोंसे पदार्थोंका यथाशक्ति ज्ञान कर लेता है। लेकिन जब वह शरीरमें आसक्त हो जाता है तो वह कुछ भी नहीं देख पाता है। परन्तु आत्माकी जब गुह्यशक्ति प्रकट होती है तब वह कमरे रूपी शरीरकी भित्तियोंको फोड़कर जिसमें पांच दरवाजेरूपी इन्द्रियां भी नष्ट हो जाती हैं, वह शुद्ध ज्ञान कर सकता है। इसी तरह जब भगवानके देह और इन्द्रियां नहीं हैं तो वे यदि संसारके समस्त पदार्थों को एक साथ जान लेते हैं तो आश्चर्य ही क्या ? मकानरूपी शरीरकी भींतोंको फोड़ डालो तो सभी पदार्थ अपने आप समझमें आने लगेंगे।

भगवानके छूना, चखना, सूंघना, देखना और सुनना—इनमें से कोई भी क्रिया नहीं होती है। देह और इन्द्रियाँ न होनेपर भी भगवानके ज्ञानमें सब कुछ झलकता है। देह इन्द्रियां न हों, न हों, उनके न होनेसे ज्ञानमें कोई बाधा नहीं है। उल्टे देह इन्द्रियाँ ही ज्ञानमें बाधक हैं। देह और इन्द्रियाँ ही आत्माको जानने नहीं देती है। हमारी आत्मा तो प्रभु है, इसलिये कुछ विघ्न हो, प्रकाश रहता ही है। देह और इन्द्रियोंने तो मानो आत्माके साथ यह सलाह करके सम्पर्क किया था कि आत्माके सम्पूर्ण ज्ञानको नष्ट कर देवें। लेकिन इस आत्मप्रभुकी ऐसी प्रभुता है कि देह और इन्द्रियोंके ज्ञानमें बाधकता होनेपर भी यह प्रभु ज्ञान कर लेता है।

ज्ञान और आनन्द अनादि अनन्त है। देह और इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेपर भी वह रहता ही है। क्योंकि ज्ञान द्रव्योपजीवी है। द्रव्योपजीवी होनेसे ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता है। देह और इन्द्रियां नष्ट हो जाती है, परन्तु ज्ञान और आनन्द सदा ही बना रहता है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध अवस्थामें देह और इन्द्रियोंके विना भी आनंद और ज्ञान रहते है। इन्द्रियाँ और देह आत्माके इन दो गुणोंको नष्ट नहीं कर सकते हैं। हे नाथ ! आपने

इस आत्माको विकृत कर देने वाले भाव्यभावक शंकर-दोषको नष्ट किया है।

शंका— पहले भगवानकी स्तुतिमें ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषको दूर किया, बादमें भाव्यभावक शंकर-दोषको दूर किया है। लेकिन भाव्यभावक शंकर-दोषको पहिले दूर करना चाहिये था, ज्ञेयज्ञायक शंकर दोषको बादमें, क्योंकि भाव्यभावक शंकर-दोषसे दर्शन मोह आता है और ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषसे चारित्रमोह आता है। अतः दर्शनमोह आत्मासे पहले हटाना है और चारित्रमोह बादमें। उसी क्रमसे इन्हें दूर करना चाहिये था। समाधान—भगवान्ने पहले ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषको दूर किया है, क्योंकि बिना सामान्य चारित्रके दर्शनमोहको दूर नहीं कर सकते हैं। अतः भगवान्ने ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषको पहले और भाव्यभावक शंकर-दोषको बादमें दूर किया है। इसी क्रमसे आचार्यने भगवान्की स्तुति की है।

हे भगवन् ! आपने भाव्यभावक शंकर दोषको जीत लिया है, अतः आप जितमोह हैं। आपने अपनेको ज्ञानस्वभाव करि विशिष्ट माना है। अतः आपको बारम्बार नमस्कार हो।

**हे नाथ ! आप जितमोह है**—मोहके जीतनेसे जितमोह कहलाता है। आत्माका विभाव भावमोह कैसे जीता जाता है? यदि मोह आत्मामें निरन्तर उभर रहा है तो मोहको जीता ही क्या? यदि आत्मामें बिल्कुल भी मोह नहीं है तो जीतना किसका? आत्मामें मोहका कोई परिणमन हो रहा है, उस समय मोहसे भिन्न आत्माके स्वभावको परखे, वही मोहका जीतना हुआ। मोह ज्ञानस्वभावके द्वारा ही जीता जा सकता है। ज्ञान-स्वभाव इतना निर्मल हो जाये कि सारे विश्वके पदार्थोंको जानकर भी उनमें न रमे। ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष प्रकट है, अन्तरंगमें प्रकाशमान है, अविनाशी है स्वतःसिद्ध है—ऐसे ज्ञानस्वभाव भगवान् हैं। भग = ज्ञान, वान् = वाला, ज्ञान वाले को भगवान् कहते हैं। ज्ञानस्वभावके द्वारा अपनी आत्माको संचेतन करना। जो उस ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य पदार्थोंको जानकर भी अन्य पदार्थोंसे अपने को भिन्न अनुभव करता है, उसे जितमोह कहते हैं। हे नाथ ! आप जितमोह हैं, आपको बारम्बार नमस्कार हो। इस प्रकार यह भगवान्की निश्चय स्तुति की।

इसी प्रकार हे नाथ ! आप जितराग हैं, जितद्वेष हैं। इसी प्रकार क्रोध भी भावक बन रहा है, इस क्रोधका आक्रम्य आत्मा हो रहा है। जो इस आत्माके स्वभावको पहिचान-कर इस क्रोधसे पृथक् चैतन्यस्वभावको अनुभव करे, उसे जितक्रोध कहते हैं। इसी प्रकार भगवान जितमान, जितमाया, जितलोभ आदिके जीतनेवाले है। जो शरीरसे जुदा आत्माको अनुभव करे, उसे जितशरीर कहते हैं। जो मनसे जुदा आत्माको अनुभव करे उसे जितमन कहते हैं। जो विकारभाव अपनी आत्मामें मौजूद हैं, उनको जीतो तो जीतना कहलाया।

लेकिन जो आत्मामें है ही नहीं उसे क्या जीतेगे ? सो विभाव किसी रूपमें आते हैं उनसे भिन्न ज्ञानमय अपनेको चेतना विभावका जीतना है। वचनसे भिन्न अपनी आत्माका अनुभव करो उसे जितवचन कहते है। चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे समीप या दूरवर्ती सब पदार्थो ो जीता जा सकता है और जीता जा सकता है चैतन्यका तरङ्ग। इस तरह हे आत्मन्! आप जितकषाय हो। कषायके प्रभावसे ही विषयानुभव होता है। जो जितकषाय है वह जित विषय भी है अथवा भेदविज्ञानके प्रतापसे जो जितविषय होता है वह जितकषाय हो जाता है। हे प्रभो! तू सहजसिद्ध है, तुझमें न तो कर्मकलङ्क है, न नोकर्म मिश्रण है और न औपाधिक सजिनता है। तू शुद्धसन्तक है, तू अपने ही प्रभाविष्णु स्वरूपास्तित्वसे तन्मय है, तुममें अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं। अतएव तू जितश्रोत्र है, जितनेत्र है, जितघ्राण है, जित-रसन है, जितस्पर्शन है। आत्मामें अनगिनते अध्यवसान हैं। जो उन सब अध्यवसानोंसे पृथक् आत्मस्वभावको जानकर ज्ञानमय आत्मतत्त्वका अनुभव करता है वह उन समस्त विभावोंका विजयी है। जितमोह १०वें गुणस्थान तक हो सकता है। मोह आत्माके पर्देपर उछल रहा है, वही जीता हुआ हो सकता है। मोहको विवेकसे जीतो, वही मोहका जीतना कहलाया। इस प्रकार आचार्यने दो प्रकारकी निश्चय स्तुति की।

अब ग्रन्थकार भगवानकी तृतीय प्रकारकी निश्चय स्तुति करते हैं:—

जीव ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषके माननेसे ही संसारमें रुलता है। भगवानने सबसे पहले ज्ञेयज्ञायक शंकर-दोषको जीता फिर भगवानने भाव्यभावक शंकर-दोषका भी अभाव कर दिया। ऐसे जीवकी क्या अवस्था होती है, उसे समयसारकी ३३ वीं गाथामें कहते है।

जिदमोहस्स हु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जिसने मोहको जीत लिया है; ऐसे साधुके जिस समय मोह क्षीण हो जाता है, ऐसी अवस्थाको ज्ञानियोंने क्षीणमोह कहा है।

मोह जब जीत लिया गया, इसके बाद वह नष्ट ही तो होगा। क्षीणमोह कैसे बन जाता है, उसे श्री अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं कि जब आपने मोहकी इन्सैल्ट कर दी तो वह अब आत्मामें कैसे रह सकेगा? क्योंकि दुश्मनी बराबर वालोंमें होती है। ज्ञानका दुश्मन मोह है, जैसे ज्ञान बलिष्ठ है, वैसे ही मोह भी बलिष्ठ है। मोह स्वाभिमानी व बात वाला है। मोहका अपमान करने वालोंके पास वह जाकर फटकता भी नहीं है। जो मोह की इज्जत करता है, उसीके पास मोह जाकर रहता है' जब भगवानने मोहका तिरस्कार कर दिया, फिर स्वाभिमानी मोह उनके पास क्यों कर जाय? भगवान ज्ञानस्वभावसे अभिन्न आत्माके द्वारा जितमोह बने थे अर्थात् मोहको जीता था। मोहसे न्यारा अपने आपको

अनुभव करना, जितमोह बननेका उपाय है। यदि मित्रसे मित्रता छोड़नी है तो उसकी ओर उपेक्षा कर दो। जब मित्र समझ जायेगा कि इसने मेरी ओरसे कुछ उपेक्षा-सी करदो है, देखूं, पूछूं तो सही क्या बात है? वह जाकर मित्रसे पूछता है कि क्यों भैया! तुम मेरेसे क्यों बात नहीं करते हो, मेरेसे ऐसा कौनसा बड़ा अपराध हो गया है? यदि वह जित नहीं हुआ तो क्यों पूछता? इसी प्रकार मोहकी ओर उपेक्षा करके ही उसे जीत सकते हो।

ऐसे जितमोहके मोह क्षीण हो जाता है। जो मोह अभी तक भावक बन रहा था उस मोहको कभी भी आत्मामें उत्पन्न न होने देना मोहका क्षीण होना है। मोहके क्षीण होने पर वह कभी दुबारा उत्पन्न नहीं होता है, यदि मोहकी सन्तानका मूलसे नाश कर दिया जाये। मोह की सन्तान धर्म करनेसे दूर हो सकती है। धर्म करना बहुत सरल है; क्योंकि वह एक ही प्रकारका है, और उसे करनेका उपाय भी एक ही है। उसका उपाय है कि अखण्ड स्वभावके भावकी भावना भाओ। जब आत्मासे मोह क्षीण हो गया तब भगवान् टङ्कोत्कीर्णकी तरहसे निश्चल हो गये।

जैसे टाँकेसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है, जो अंग बन गया, उसे टससे मस नहीं कर सकते, वह जरा भी चलायमान नहीं हो सकती, इसी प्रकार यह परमात्मा जिसे क्षीण-मोह बनकर प्राप्त किया है, वह भी निश्चल हो गया है। अन्यच्च वह परमात्मा जिसे प्राप्त किया है, वह जीवके अन्दर शुरूसे ही है। जैसे कोई बड़ा पहाड़ है, उसमेंसे यदि कोई मूर्ति निकाली जाये, वह उसमें अब भी मौजूद है। वह स्पष्ट इसलिये नहीं दिखाई दे रही है कि वह अगल-बगलके पत्थरोंसे ढकी हुई है। कारीगर मूर्ति नहीं बनाता बल्कि वह मूर्तिके ढकने वाले पत्थरोंको निकाल देता है तो मूर्ति स्पष्ट दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार परमात्मा पदको कोई नहीं बनाता, परमात्मास्वरूप पहलेसे ही है। आत्माके बीचमें आये हुए राग-द्वेषको दूर कर दो, परमात्म पद प्रकट हो ही जायेगा। इसका उपाय भाव्यभावक भावका अभाव है। अतः भाव्यभावकको नष्ट करो। पहले दर्शन मोहका भाव्यभावक नष्ट हुआ, फिर ज्ञेयज्ञायक नष्ट हुआ। तदनंतर चारित्रमोहका भाव्यभावक नष्ट हुआ। इस विधानसे आत्मा सर्वज्ञ और आनन्दमय हो जाता है। देह और इन्द्रियोंसे ज्ञान और आनन्द नहीं होता है, परन्तु ज्ञान और आनंद ज्ञान और आनंदसे ही होता है। आनंद ज्ञान तो आत्माके धर्म हैं, क्योंकि वे द्रव्योपजीवी हैं। जो शुरूसे आखिर तक द्रव्यमें तन्मय रहे, उसे द्रव्योपजीवी कहते है।

**आनन्द और ज्ञान अनादिसे द्रव्यके आश्रित हैं**—शंका—शंकाकार कहता है कि हम और आपके तो ज्ञान और आनन्द वर्तमानमें देह और इन्द्रियोंके निमित्तसे ही हो रहा है ना? समाधान—नहीं। मतिज्ञान होने के समय भी ज्ञान (आत्मा) उपादान कारण है,

इन्द्रियां निमित्त कारण हैं, उस समय इन्द्रियां और देहके रहते भी आत्मासे ही जाना। जीव संसारी हो चाहे मुक्त वह ज्ञानस्वभाव वाला ही होता है। संसार अवस्थामें भी ज्ञान और आनंद आत्मासे ही प्रकट होते हैं। परन्तु मोही आत्मासे बाह्यपदार्थोंसे ज्ञान व सुखको प्रकट हुआ मानता है। आत्माका सुख आत्मासे ही होता है, यह सिद्ध है। जैसे ठन्डे स्पर्शको पाकर जो सुख हुआ, उससे जीव ही सुखी होता है, स्वयं जल नहीं। अतः उस जीव के सुखी होनेमें ये अचेतन स्पर्शादिक पदार्थ क्या कर देंगे? स्पर्शनादि बाह्य पदार्थ यदि स्वतः ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, तो घटादिक अचेतन पदार्थोंमें ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न कर देते? यदि स्पर्शादि ज्ञान उत्पन्न करने लगें तो अजीवादिमें ज्ञान होनेका प्रसंग आजायेगा। अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञान और आनंद आत्मासे ही प्रकट होते हैं।

यदि यह कहो कि ये पदार्थ चेतन द्रव्यमें ही ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं तो चेतन जब स्वयं चेतन है तो उसमें अचेतन द्रव्य क्या ज्ञान उत्पन्न करेंगे? अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञान होनेमें इन्द्रिय और देह अकिञ्चित्कर हैं। ज्ञान उत्पन्न करनेमें इन्द्रियाँ कुछ भी मदद नहीं करती हैं। आत्माके ज्ञानके विषयमें इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं करतीं, आत्मा स्वयं ज्ञान कर लेता है। यदि ऐसा कहें कि देह और इन्द्रियोंके होनेपर ही आत्मामें सुख होता है, अतः इन्हें अकिंचित्कर मत कहो तो व्यञ्जक द्रव्यकी अपेक्षा रखनेपर ही साधक हेतु हो सकता है। शंकाकारके मतमें इन्द्रियाँ व्यञ्जक हैं और आत्माके सुख और ज्ञान अभिव्यञ्जय हैं। लेकिन आत्मामें ज्ञानगुण था, तभी तो प्रकट हुआ। जैसे-ऊदबत्तीमें आग लगनेपर गंध आती है। ऊदबत्तीमें गंध थी तभी तो गंध आई। गंध ऊदबत्तीकी है, आगकी नहीं। इसी प्रकार देह और इन्द्रियाँ ज्ञान सुखके अभिव्यञ्जक हैं। आत्मामें ज्ञानगुण होगा, तभी तो प्रकट होगा। ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है। उपादानके बिना कार्य नहीं हो सकता। जैसे ऊदबत्तीके बिना अग्निसे गंध नहीं निकल सकती, उसी प्रकार आत्माके बिना शरीरादिसे ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध हो गया कि समस्त जीवोंके ज्ञान सुख आत्मासे ही उत्पन्न होता है।

हे भगवन्! आपने मोह क्षीण कर दिया आप क्षीणमोह हैं, इसी कारण आपकी आत्माने समस्त ज्ञानको प्राप्त कर लिया है। यह भगवानकी तीसरी निश्चय स्तुति की जा रही है। भगवान आत्माने जब जितेन्द्रिय व जितमोह बनकर मोहका तिरस्कार कर दिया तब यह प्रभु स्वभावभावना की ही परमकुशलतासे ऐसी निर्मलता प्राप्त करता है कि फिर मोह कभी उत्पन्न ही न हो सके ऐसा क्षीण हो जाता है अर्थात् मोह क्षयको प्राप्त हो जाता है तथा भाव्यभावक भावके अभावसे अर्थात् न मोहनीय कर्म रहा, न मोह रहा, न उनकी भाव्यभावकता रही, इस कारणसे भगवान् आत्मा अपने एकत्वमें (स्वरूपास्तित्वमें) परमात्म

तत्त्वको प्राप्त होकर क्षीणमोह हो जाते है। क्षीणमोह ही नहीं, किन्तु क्षीणराग, क्षीणद्वेष, क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाय, क्षीणलोभ, क्षीणकर्म, क्षीणशरीर, क्षीणमन, क्षीणवचन, क्षीणकाय, क्षीणश्रोत्र, क्षीणनेत्र, क्षीणघ्राण, क्षीणरसन, क्षीणस्पर्शन इत्यादि कहाँ तक कहें क्षीणविभाव हो जाता है।

उक्त विशेषणोंमें से क्षीणमन, क्षीणवचन, क्षीणकाय तो योगोंकी अपेक्षासे है, सो भी भाव्यभावकताका अभाव होनेसे नाशोन्मुखताके प्रोग्राममें कहा गया है। भाव्यभावकताके अभावसे विशीर्ण होनेके कार्यक्रममें ही क्षीणकर्म व क्षीणशरीर कहा है। क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाय, क्षीणद्वेष तो यह प्रभु नवमे गुणस्थान वाले विकासमें ही हो जाता है व क्षीणराग व क्षीणलोभ दशवें गुणस्थान वाले विकासमें हो जाता है। क्षीणश्रोत्रादिक विवक्षान्तर ७ वें से लेकर दशवें गुणस्थान तक बीचमें कहा जाता है। ये सब गुणस्थान क्या हैं? स्वभाव भावनामें दृढ़ दृढ़तर व दृढ़तम अवलम्बनके रूप हैं।

निर्दोषता स्वभावावलम्बनसे प्रकट होती है—यह इस सबका निष्कर्ष है सो स्वभावावलम्बन द्वारा निर्दोष बनकर सदाके लिये अनंतानंदी जैसे भगवान केवली हुए हैं उसी मार्गका अवलम्बन लेकर हम भी कृतार्थ हों। हे प्रभो! आप निर्दोषता और स्वभावविकासपनेकी मूर्ति हो तुम्हें भाववन्दना हो। यहाँ निश्चयस्तुतिका वर्णन ३ प्रकारसे किया। निश्चयस्तुतिसे पहले व्यवहारस्तुतिका वर्णन किया गया था। व्यवहारस्तुतिमें शरीरकी स्तुति की गई थी। इस प्रकारकी व्यवहारस्तुति भी भगवानकी आत्माके वास्तविक गुणोंको समझने वालेके लिये है। शरीरकी स्तुति व्यवहारस्तुति इस कारणसे है कि वास्तवमें शरीरका और आत्माका एकत्व नहीं है, व्यवहारसे आत्मा और शरीरकी एकता मान ली गई है; क्योंकि लोकमें शरीर और आत्मा मिला हुआ प्रतीत होता है तथा उनकी प्रायः क्रियायें भी साथ ही साथ देखी जाती हैं, अतः शरीर और आत्मामें व्यवहारसे एकत्व है। अतः भगवानके शरीरकी स्तुति करके भगवानकी स्तुति मान लेना व्यवहारसे ठीक है। निश्चयसे तो भगवानकी आत्माके गुणोंके वर्णनसे ही भगवानकी स्तुति होती है। वास्तवमें शरीर और आत्माका एकत्व नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। भगवानकी भक्तिके बहानेसे शरीर और आत्माका एकत्व व्यवहारनय है; निश्चयनयसे नहीं है। निश्चयनयसे तो शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं, ऐसा प्रकट किया गया है।

**अविवेकमें ही शरीरको आत्मा समझ लिया जाता है**—जिनकी बुद्धि अज्ञानमें मोहित है, वे शरीरको ही आत्मा मानते हैं। वास्तवमें शरीर और आत्मामें एकत्व नहीं पाया जाता। शरीर जुदा है और आत्मा जुदा। शरीर अपने गुण पर्यायोंमें है; आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें। जिन्होंने तत्त्वको (तस्यभावस्तत्त्वम् = वस्तुस्थिति) को जान लिया है, वे नय-

विभागबलसे शरीर और आत्माकी एकत्वकी मान्यताका विनाश कर देते हैं अर्थात् शरीर और आत्मा निश्चयनयसे न्यारे-न्यारे हैं, व्यवहारसे ही उनका एकत्व है; तत्त्वज्ञ ऐसा जानता है। जैसे सूत परमाणुओंका समूह है। निश्चयनयसे सूत परमाणुरूप है; व्यवहारसे सूत सूत-रूप है। शरीर और आत्मा एक साथ रहते हैं, अतः व्यवहारनयसे उनको एक मान लिया है; निश्चयसे शरीर अलग और आत्मा अलग है—ऐसी भिन्नता जिसने जान ली है, क्या उन जीवोंका यह ज्ञान ज्ञानपनेको प्राप्त नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा। उनका ज्ञान शुद्ध है, व्यवस्थित है। अपनेमें यह विश्वास होना चाहिए कि शरीर और आत्मा अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे नहीं हैं, अतः वे न्यारे-न्यारे हैं। जब ज्ञान हो जाता है, तब सुख मिलता है। यदि अपनेसे परिचय करना है तो आत्मा और शरीरको न्यारा-न्यारा देखो। जिन्होंने उनको न्यारा जान लिया है, उनका जानना जानना है। वह ज्ञान एकत्वरूप है। इस प्रकार भगवानकी व्यवहारस्तुति और निश्चयस्तुतिके प्रकरणमें आचार्यने यह सिद्ध कर दिया कि वास्तवमें आत्मा और शरीर एक नहीं हैं; व्यवहारसे उनमें एकत्व है। शरीर और आत्मा व्यवहारनयसे तब एक हैं, जब कि वह निश्चयसे शरीर और आत्माकी भिन्नता जानता हो।

यह जीव अनादिकालसे मोहवश शरीर और आत्मामें एकत्व मानता चला आ रहा है; अतः वह अज्ञानी कहलाता है। परंतु उसको यह पता नहीं कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कैसे हो सकता है; सब न्यारे-न्यारे हैं। जिसको आत्मा और शरीरकी भिन्नता मालूम हो गई, उसके समस्त विकल्प और उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। यदि उनमें यह बात आ गई तो उनकी आत्माका कल्याण अवश्य हो जायेगा और कैसे आत्माका कल्याण हो, यही लगन लगी रहेगी। मैं कैसे उस निर्विकल्प स्वानुभवका अनुभव करूं, इसीके ध्यानमें समय व्यतीत होगा, जब निर्विकल्प ध्यान न रहेगा।

प्रश्न—यदि कोई जीव अनादिसे अज्ञानी है, क्या वह ज्ञानी नहीं हो सकता है?

उत्तर—क्यों नहीं, अवश्य ज्ञानी बन सकता है। ऐसा लोकमें भी देखा जाता है कि कारण पाकर ज्ञानी बन जाते हैं। जब तत्त्वज्ञानकी ज्योति आत्मामें वेगसे उत्पन्न होती है, तब जीव ज्ञानी हो जाता है। अज्ञानी भी ज्ञानी हो सकता है, अतएव पापसे घृणा करो, पापीसे नहीं। वह पापी भी देखते देखते कारण पाकर ज्ञानी बन सकता है। आत्मामें ज्ञानज्योति कहकर नहीं आती है, किन्तु स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। हाँ, पापीके पापके ज्ञाता द्रष्टा बनो कि देखो, यह जीव मोहके वशसे कैसा परिणम जाता है। साथ ही अपने पापसे घृणा करो, अपनेमें पापको आने ही न दो।

वर्तमानमें भी जैसा कि यदि लोग समझते हैं कि मैं मोक्षके सही रास्तेपर चल रहा

हूं, मैं अपने पथसे च्युत नहीं हूँ, यह सोचकर संतुष्ट हो जाते हैं, प्रगतिके लिये चिन्तन नहीं
रहता तो उनका यह संतोष ज्ञान संगत नहीं है, उनको इस अज्ञानताके लिये अब भी रोना
चाहिये। थोड़ासा त्याग करनेपर लोग उसीको धर्मकी चरमसीमा मान करके सन्तुष्ट हो
जाते हैं, लेकिन वे यह सोचकर ठीक पथ पर नहीं चल रहे हैं। वे यह नहीं जानते कि
निरन्तर चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बना रहना ही धर्म है, इसके अलावा धर्म नहीं है।

**अज्ञानमय बातोंका पता ज्ञान होने पर चलता है**—ज्ञानी सोचता है कि मैंने जो
पहले चेष्टा की है, वह सब मेरा अज्ञान था। यद्यपि ज्ञानी भगवान्‌की भक्ति करता है, शुद्ध
आहार करता है, ईर्या समितिसे चलता है आदि पवित्र चेष्टा करके भी वह यह सब अज्ञान
समझता है, इन चेष्टाओंमें भी वह अपनी सन्तुष्टि नहीं मानता है। छोटीसी भी गलतीके
लिये ज्ञानियोंको अफसोस रहता है। ज्ञानियोंको घृणा अपने विभावोंसे होती है।

जैसे नेत्रविकारी पुरुष पटल होनेपर देखने लगता है, उसी तरह अज्ञानी जीव
तत्त्वज्ञान ज्योति प्रकट होनेपर प्रतिबुद्ध हो जाता है। अज्ञान स्वभाव तो है नहीं, पर्याय
है; अतः अज्ञान पर्यायका व्यय व ज्ञानपर्यायका उत्पाद हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं।
तीव्र मोहके होनेपर भी कारण मिलने पर ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जिससे आज आपकी
शत्रुता है, वह भी आधा मिनट बाद परिणाम बदलनेपर मित्र हो सकता है। शत्रुको
मिटानेकी अपेक्षा शत्रुताको मिटाओ। कोई द्रव्य किसीका शत्रु या मित्र नहीं है। जो उसके
भाव बने कि यह मेरा शत्रु है, यह मेरा मित्र है—ये ही परिणाम उसके शत्रु या मित्र हैं
न मित्र क्या शत्रु ही शत्रु हैं। पर वह दुश्मन, जिसको वह दुश्मन मानता है, वह उसका
दुश्मन नहीं है। शत्रु मिलेगा, अन्तरमें मिलेगा, बाह्य पदार्थोंमें कोई शत्रु नहीं है। मित्र
भी कोई अन्य पदार्थ नहीं है, मित्रके प्रति मोह ही को हम अपना मित्र माने बैठे हैं। अतः
अज्ञानी भी तत्त्व ज्योतिको प्राप्त करनेके बाद ज्ञानी बन जाता है। इसमें आयुकी अपेक्षा
नहीं। बालक भी ज्ञानी बन जाय। भैया! घबड़ा न जाना कहीं बालक ज्ञानी, योगी न
बन जाय।

ज्ञानीको समझना चाहिये कि मेरा बच्चा भी ध्यानमें लग जाये तो अच्छा है।
मेरा बच्चा यदि ज्ञानमार्गमें आता है, इससे बढ़कर कुछ नहीं। कौन किसका सदा बाप
रहता है, कौन किसका सदा पुत्र रहता है? उस अनादि कालके समयके आगे उस १५–२०
वर्षकी क्या गिनती है? मोही ज्ञानी होकर अपनेको ज्ञाता दृष्टा जानकर, श्रद्धा करता हुआ,
स्वभावरूप बने रहनेकी इच्छा करता हुआ परभावका त्याग करेगा। अब इस शंकापर
कि अन्य द्रव्योंका त्याग किसे कहते हैं? श्री परमपूज्य महर्षि कुन्दकुन्द आचार्य ३४ वीं
गाथामें समझाते हैं कि त्याग किसे कहते हैं?

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाइ परेत्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणंणियमा मुणेदव्वं ॥३४॥

जिस कारण कि यह आत्मा सर्व भावान्तरोंको 'पर हैं' ऐसा जान कर उन सब भावोंको छोड़ता है इस कारण ज्ञानको ही निश्चयसे प्रत्याख्यान मानना चाहिये ।

वस्तुत: परको पर जान लेना ही यह आत्मा कर सकता है; ग्रहण तो करता ही नहीं त्याग भी वह किसका करेगा ? विभावको ही ग्रहण किया था अब विभावको ही परतत्त्व जान लिया । ग्रहण भी क्या किया और यह स्वतत्त्व है ऐसा अङ्गीकार किया था । अब अनङ्गीकार हो गया यही प्रत्याख्यान है । आत्मा अमूर्त है, पौद्गलादिक मूर्त है तो फिर आत्माके स्वरूपमें पौद्गलादिक कैसे मेल खा सकते है ? ऐसी स्थितिमें यह आत्मा जबकि मोहमें चल रहा था, तब परपदार्थोंको ग्रहण कर रहा था । परद्रव्य "मेरे हैं" यह भाव बनाना ही परद्रव्यका ग्रहण है । यह मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, ऐसी दृढ़ प्रतीतिको त्याग कहते हैं । ये सब द्रव्य मेरे स्वभावसे अत्यन्त जुदे हैं, इनका परिणमन इनमें होता है और मेरा परिणमन मेरेमें होना है । इस प्रकारका उपयोग बना रहना, परका त्याग कहलाता है। त्याग वस्तुकी स्वतंत्र सत्ताका बोध होनेसे होता है । एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है, ऐसी प्रतीति करना ही त्याग है । त्याग करनेसे कर्म बन्ध नहीं होता है । कर्म मिथ्यात्व और कषाय करनेसे बंधते है । सम्यग्दर्शन और अकषायसे कर्मबंध नहीं होता है । कर्म बाह्य ईर्यासमितिका लिहाज़ नहीं करता है, वह कषाय और मिथ्यात्वरूप परिणामों को देखकर चिपट ही जाता है । सम्यग्दर्शन और अकषाय परिणामोंसे कर्म नहीं बंधता है ।

परको परका जानकर त्याग करे तो वह ज्ञान ही है । ज्ञानका बना रहना ही त्याग है । ऐसा त्याग करने वालेका परवस्तुसे मोह छूट ही जायेगा । ज्ञानभावका नाम ही त्याग है । जब वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ताका परिज्ञान हो जाता है, तब त्याग कहलाता है ।

यह ज्ञाता पुरुष जानता है कि कोई भी परपदार्थ अथवा केवल परपदार्थ ही नहीं किन्तु सर्व औपाधिभाव भी मेरे स्वभावसे अन्य हैं ये सब भावान्तर मेरे स्वभावमें व्याप्य नहीं हो सकते—ऐसा जानकर उनका परिहार करता है । इस लिये जो ही पुरुष (आत्मा) पहिले जानता है वही पश्चात् त्यागता है अन्य और कोई नहीं, ऐसा आत्मामें निश्चय करके ज्ञान ही प्रत्याख्यानस्वरूप है ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

परपदार्थका नाम लेकर जो प्रत्याख्यानका वर्णन किया जाता है जैसे कि अमुकने मकानका त्याग किया, अमुकने कुटुम्बका त्याग किया इत्यादि वह सब इसी कारण करना होता है कि आत्माने वास्तवमें क्या किया, क्या त्यागा ? इसको परमार्थसे अथवा सुगमतया तो कहा नहीं जा सकता है सो जिस पदार्थका विषय करके विकल्प बना रहा था और

इसी से उसके समागमके अनुकूल उपयोग व योग बन रहा था, तत्त्वज्ञान होनेपर उपयोग योग उस ओरसे निवृत्त होकर ज्ञानस्वभावकी ओर आता है और उससे चिगता नहीं, इस परिस्थितिको उस ग्रहणमें विषयभूत बाह्य पदार्थके प्रत्याख्यान कहनेके व्यपदेशसे उस प्रत्याख्यानको बोलना होता है। त्याग किसे कहते हैं, इससे पहले जानना चाहिये कि आत्मा ग्रहण किसे करता है ? वास्तवमें आत्मा किसी भी बाह्यपदार्थका ग्रहण नहीं कर सकता है। एक पुद्गलमें दूसरे पुद्गलका भी ग्रहण नहीं होता है। चेतनमें ग्रहण करने का व्यवहार होता है। आत्मा यदि ममकार और अहंकार करता है, यही उसका ग्रहण करना है। ममकार और अहंकार न करे वही त्याग कहलाता है। यह ग्रहण करना अनित्य चीज है, त्याग हमेशा रहता है। क्योंकि ग्रहण करना गुणका विकार है, अतः वह अधिक समय तक नहीं रह सकता है। कर्ममलका नाश होने पर विकारोंका नाश होता है। विकारोंके नाश होने के समय ज्ञाताद्रष्टाकी अवस्था रहती है। विकार कर्मजन्यभाव हैं। जितने कर्मोंका उदय सामने है, उनका ग्रहण करना ग्रहण है। अहंकार और ममकार भावका दूर हो जाना त्याग है।

ग्रहण अशुद्ध पर्याय है और त्याग शुद्ध पर्याय है। अशुद्ध पर्यायके नष्ट हो जानेपर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। गुणोंके नित्य होनेसे ज्ञान आत्मामें सदा रहता है, उसका विकास त्याग है। जिसके त्याग रहे उसे त्यागी कहते हैं। सबसे ऊंचा त्यागी परमात्मा है, क्योंकि उनमें हमेशा ज्ञाता द्रष्टाकी अवस्था बनी रहती है। ज्ञान और आनन्दपना आत्माका गुण है। विकारभावमें नष्ट हो जानेपर भी ज्ञान और आनंद नष्ट नहीं होते हैं, बल्कि और भी स्पष्ट हो जाते हैं। जब किसी चीजका ज्ञान होता है, तभी तो उसका त्याग होता है। अतः जाननमात्रको त्याग कहते हैं। जिस समय किसी चीजका लक्षण देखकर यह चीज मेरी नहीं है, यह प्रतिभास होता है, वस्तुतः उसी समय उस वस्तुका त्याग हो जाता है। अतएव वास्तवमें जानना ही त्याग है।

**अन्तस्तपमें तपते हुए आत्माके मल नष्ट होने लगते:**—जैसे स्वर्णको अग्निमें तपाने से उसका मल ही नष्ट होता है, स्वर्णपना उसमें ज्योंका त्यों बना रहता है। इसी प्रकार जब आत्मा त्यागरूप अग्निमें तप जाता है तब उसके विकार नष्ट हो जाते हैं; ज्ञान ज्योंका त्यों बना रहता है, वह नष्ट नहीं होता। ज्ञान ज्ञान ही रह जाये—इसीका नाम त्याग है। जो हमें दीख रहे हैं, वे सब असमानजातीय द्रव्य पर्याय हैं। वे सब मेरेसे भिन्न हैं। वे अपनेमें परिणमते, मैं अपनेमें। अतः ये सब मेरे नहीं हैं ऐसी उपेक्षा होनेपर त्याग होता है। किन्हीं लोगोंका कहना है कि जो आत्माके २१ प्रकारके दुःख हैं, वे आत्माके गुण हैं। जब उन दुखोंका नाश हो जाता है तब आत्माका मोक्ष हो जाता है। ऐसा कहने वालोंको

पर्याय और गुणका विवेक ही नहीं है। यदि दु:ख गुण हैं तो गुणके नष्ट हो जाने पर, आत्माके भी विनाशका प्रश्न आजायेगा। उन्होंने दु:खको गुण माना है, लेकिन गुणोंका विकास होना अच्छी चीज है, इस प्रकार आत्मामें दु:खकी अधिकता होनेपर आत्माकी श्रेष्ठताका प्रश्न आ जायेगा। सुखका मूलसे नाश होनेपर आत्माके दु:ख होनेका प्रश्न आता है। यदि आत्माके स्वरूपपर दृष्टि देवें तो आत्माके गुणोंका कभी विच्छेद नहीं होता है।

ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति बने रहनेका नाम त्याग है। बाह्य शुद्धि (सोला) करना ठीक है। लेकिन बाह्य शुद्धि करके बाहर चले और किसीसे छू गये तो यदि तुमने उसके ऊपर बाह्यशुद्धिकी रक्षाके हेतु क्रोध करके अन्तरंग शुद्धिको बिगाड़ लिया तो कर्म बंधनेको बाह्य अवसर नहीं देखेंगे, अपितु कर्म बंध ही जायेंगे। उस समयमें यदि क्रोध न आवे तो वास्तविक शुद्धि है। वास्तविक बात यह है कि कर्म न बंधें। कर्म कषाय न करनेसे नहीं बंधते हैं। बाह्य वस्तुके त्यागका उपाय कषाय न करना है। कषाय छोड़नेके लिये बाह्य वस्तुका त्याग किया जा सकता है। जिसकी कषाय छूट गई, वह बाह्य वस्तुका संग्रह कर ही नहीं सकता है। अत: प्रति समय ध्यान रखना चाहिये कि कषाय उत्पन्न न हो। अपमान होनेपर किसीके प्रति कषाय न करो। अपमान होना इतना बुरा नहीं है, जितना बुरा कषाय करना। कषायके त्यागका नाम त्याग है, वह ज्ञानरूप पड़ता है।

ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप आत्माके देह और इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान आनन्द है। त्याग होना सहज है, परन्तु प्रवृत्ति होना असहज है। ज्ञाताद्रष्टा बन जाना ही तो त्याग है। 'ज्ञान' त्यागका ही नाम है। यह ज्ञान परमात्मामें भी है, अत: वह स्वत: त्यागी है। ज्ञान और आत्माके एकत्वमें आ जाना त्याग है। त्यागका उल्टा संयोग है अर्थात् चेतनमें अचेतनके संयोगको ग्रहण कहते हैं। भगवान और सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञाता द्रष्टा होते हैं। विशुद्ध ज्ञानका बना रहना, विशुद्ध त्याग कहलाता है। जिस आत्मामें विशुद्ध ज्ञान है, उसमें कर्म नहीं बंधते। भगवानके ज्ञान और आनन्दगुण हैं। ये गुण उनके सदा रहते हैं। उनके विकार नष्ट होते समय ये गुण भी विनाशको प्राप्त हो गये हों, यह मत समझना। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका कर्ता नहीं होती है। सब पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें परिणमते हैं, अपने ही द्रव्य क्षेत्रादिमें रहते हैं।

**इस प्रकार तत्त्वोंको जाननेवाला सम्यग्दृष्टि जीव किसी बाह्यमें अटकता नहीं है—** आत्मा अन्य द्रव्योंके प्रदेशोंमें नहीं रहता है, अपने ही प्रदेशोंमें रहता है। आकाशद्रव्य अपने प्रदेशोंमें रहता है, आत्मद्रव्य अपने प्रदेशोंमें। जहां आकाश है, वहां आत्मा अवश्य है, परन्तु यदि आत्माके प्रदेशोंमें आकाश आ जाये या आकाशके प्रदेशोंमें आत्मा आ जाये तो आकाश आत्मा बन जायेगा, आत्मा आकाश बन जायेगा। सब द्रव्य अपने-अपनेमें बर्तते

हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमें नहीं रहता है। जब ऐसी स्थिति है तो मैं किसको बुरा मानूं, और किसको अच्छा—ऐसा विचार करता है। समस्त विषयोंमें राग द्वेषको छोड़ो, राग-द्वेष ज्ञानसे छूटते हैं।

जिज्ञासा——क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमें इतना ही उल्लेख है कि या और भी, जिससे सम्यग्दृष्टिका बोध अच्छी तरहसे हो जाये ? समाधान——सम्यग्दृष्टिके बहुतसे लक्षण और भी हैं। जिसकी दृष्टि बनी रहे कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुख आदेय नहीं है, यह भी चिह्न सुदृष्टिका है। कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म और भावकर्म—-ये इनके बीचमें पड़ा हुआ जीव दुःखी होता है। इनके स्पर्शसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माके अनुभवनको त्याग कहते हैं। इस त्यागमें जो आनंद है, वह अन्य किसी पदार्थमें नहीं है। त्याग नाम ही आनंद है। त्याग और ज्ञानसे भिन्न अन्य सबको दुःख कहते हैं। जैसे शहद लपेटी तलवार चखनेमें मीठी लगती है, परन्तु उससे जीभ कट जाती है. उसीके समान संसारके ये सुख दुःख हैं। इन संसारके दुःखोंसे आत्माकी बरबादी होती है। सम्यग्दृष्टि जीवकी ऐसी प्रतीति बनी रहे तो वह सत्य भी है, शिव भी है और सुन्दरम् भी है। बाह्यपदार्थोंका कोई संग्रह नहीं कर सकता है, सभी अपने-अपने परिणामोंका ही उपार्जन करते हैं। कोई धन नहीं कमाता है, अपने परिणामोंको ही अच्छा बुरा कर सकता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है। आत्मा तो मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहे इसीमें कल्याण है; यही त्याग है। ऐसा त्याग जिस समय प्रकट होता है, जिस समय सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है।

ज्ञान ही का नाम त्याग है। त्याग और ग्रहण परवस्तुमे नहीं होता है। वस्तुमें गुण और उनके गुणोंकी स्थिति है, और कुछ नहीं। वस्तु है, उसका परिणमना होता है। जो बाह्य वस्तुके विकल्परूप परिणमन हुआ, वह ग्रहण कहलाता है। वस्तुके ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमनेका नाम त्याग है। ज्ञानी बाह्य द्रव्योंका ज्ञाता है, वह उनको पररूपसे जानता है क्योंकि ये उनके स्वभावमें नही है। उन द्रव्योंको स्वतन्त्र असंबद्ध जानना ही त्याग है। जिस वस्तुका चाहरूप ग्रहण था, अब हो गई ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति, उसको त्याज्य वस्तुके नाम द्वारा बताया जाता है। त्याग तो एक ही प्रकारका होता है। जैसे धर्म वास्तवमें १० नहीं हैं। उत्तम क्षमादिके उल्टे क्रोध आदि १० ऐब हैं। उनको बतानेके लिये कि इनके न होनेसे यह दशा मिलती है। धर्मको दस प्रकारसे बताया गया है। ये दशों धर्म सिद्धिके विकासके उपायको प्रकट करनेवाले है। आत्माके अवगुणोंको बतानेके लिये इन्हें बताया गया है। त्याग करनेसे कर्ताका व्यपदेश चलता है। वास्तवमें ज्ञानस्वभाव अव्यपदेश्य है। आत्मा ज्ञानस्वभावसे च्युत न हो, इसीका नाम त्याग है। विकार भावोंका होना ग्रहण है और विकार भावोंको छोड़ना ही त्याग है।

शंका—यह ज्ञाताका त्याग है, क्या इसका कोई उदाहरण है ? आचार्य ३५ वीं गाथामें इसका उत्तर देते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो पर दव्वमिणंति जाणिहुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ॥३५॥

जैसे कोई पुरुष परपदार्थको "यह परद्रव्य है" ऐसा जानकर छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी समस्त परभावोंको "यह परभाव है" ऐसा जानकर छोड़ देता है ।

उत्तर—जैसे व्यवहारमें कोई पुरुष परवस्तुको दूसरेकी जानकर छोड़ देता है, उसी प्रकार यह ज्ञानी परपदार्थोंको पर जानकर छोड़ देता है । जैसे दो आदमियोंने अपनी-अपनी चद्दर साथ धुलने धोबीके दी । दो चार दिन बाद उनमेंसे एक धुली एक चादर ले आया, लेकिन धोबीने भ्रमसे उसको दूसरे पुरुषकी चादर दे दी । वह लेकर चला आया । रात्रिमें वह उसी चादरको ओढ़कर सो रहता है । दूसरा पुरुष भी अगले दिन चद्दर लेने गया । धोबीने उसको दूसरी चादर दे दी । उसने अपनी चादरके चिह्न उस चादरमें नहीं पाये तो उसने कहा यह मेरी चादर नहीं है । धोबीने कहा, ओह, आपकी चादर अमुक ले गया है । उसने कहा उसे तो मैं जानता हूं. जाकर ले लूँगा । वह (दूसरा) उसके (पहलेके) घर जाता है और कहता है, उठो, उठो, यह चादर तुम्हारी नहीं है । "तुम्हारी नहीं है," यह बार-बार जब उसने सुना तो उसने चादरको देखा, उसमें अपने चिह्न न पाये । इस चादर में मेरी चादरके चिह्न नहीं हैं, यह जानते ही उसका वह चादर छूट गया । उसी प्रकार जब साक्षात् अथवा ग्रन्थोंमें हमारे गुरुराज बार-बार समझा रहे हैं कि ये पदार्थ तेरे नहीं, इनमें तेरा चिह्न नहीं; ये भिन्न हैं, ये तेरे स्वभाव नहीं हैं, तू चैतन्यमय पदार्थ है—ये जड़ पदार्थ । इससे यह ज्ञान हो गया कि इन पदार्थोंका तेरेसे अत्यन्ताभाव है । ज्ञान होते ही बाह्य पदार्थ आत्मासे छूट जाते हैं । अतः ज्ञान ही तो त्याग है ।

वास्तवमें शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, व्यवहारसे ही उनमें एकत्व है । शरीर की स्तुति करके भगवानकी स्तुति मान लेना व्यवहारसे ही है, निश्चयसे नहीं । निश्चयसे तो आत्माके गुणोंका वर्णन करना ही निश्चय स्तुति है । वास्तवमें शरीरकी स्तुतिसे आत्मा की स्तुति नहीं हो जाती है । शरीरके बुरा होनेपर आत्मा बुरा नहीं होता, शरीरके अच्छा होनेपर आत्मा अच्छा नहीं होता, शरीरके दुर्बल होनेपर आत्मा दुर्बल नहीं होता । क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं । जब आत्मासे भिन्न शरीरको जाना तो आत्माके अनुरूप आचरणकी प्रवृत्ति होती है । इस प्रवृत्तिसे बाह्यपदार्थोंका प्रत्याख्यान होता है । प्रत्याख्यान ज्ञानसे होता है । जैसे अंधेरेमें पड़ी हुई रस्सीको भ्रमसे सांप समझ लिया तो भय उत्पन्न हुआ । जब उसके पास जाकर देखा तो यह रस्सी है, यह जानते ही सारे भय एक

साथ समाप्त हो गये । ये मेरा है, ऐसा भाव बनाना सो ग्रहण करना है । ये मेरे नही हैं—इस भावका उत्पन्न होना त्याग है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंके गोचर नहीं हैं । सम्यक्त्व देशावधिका भी विषय नहीं है । सर्वावधि परमावधि तथा मन:पर्यय और केवल-ज्ञानसे सम्यक्त्व जाना जा सकता है । मतिज्ञान यह सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व नहीं है—ऐसा निर्णय नहीं कर पाता है, अनुभव अवश्य कर लेता है । सम्यक्त्व है, ऐसा निर्णय कर लेना प्रत्यक्ष ज्ञान है । परमावधि और सर्वावधिका विषय भी औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है । जो क्षयोपशम या उपशम अवस्था सम्पन्न कर्म हैं, उन्हींको अवधिज्ञानने जाना । उपशमापन्न कर्मोंको जानते ही औपशमिक सम्यग्दर्शनका ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार अवधिज्ञानीने सम्यक्त्वको जाना । कर्मका अभाव कोई सद्भूत वस्तु नहीं है । जो कर्म हैं, वे क्षय अवस्थासे युक्त हैं - ऐसा तो नहीं है । सम्यक्त्व देशावधिका विषय नहीं है । सम्यक्त्व सर्वावधि और परमावधि तथा मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका विषय है ।

**सम्यक्त्व गुणके परिणमन:**—जिस गुणके तीन परिणमन हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व—उनका क्या नाम देना ? उसका नाम 'सम्यक्त्व' गुण है । सम्यक्त्वकी तीन पर्यायोंमें सम्यक्त्व पर्याय भी आ गया । सम्यक्त्व नाम गुणका भी है और पर्याय का भी । पर्यायदृष्टिसे सम्यक्त्व पर्याय है और गुण दृष्टिसे देखें तो सम्यक्त्व गुण भी है । उन तीनों परिणमनोंके स्रोत्रका नाम 'सम्यक्त्व' दिया गया है । यह नाम बिलकुल भी विरुद्ध नहीं है । आत्माका कोई गुण सम्यक्त्व नामका है उसकी शुद्ध पर्यायका नाम भी सम्यक्त्व है । वह एक ही प्रकारका है; उसका कोई भेद नहीं है । सम्यक्त्वके भेद निमित्तसे पड़ गये । सम्यक्त्व तो एक ही चीज है, निर्विकल्प है । दर्शन मोहके उदयसे होनेवाले सम्यक्त्वकी दशाको मिथ्यादर्शन कहते है । दर्शन मोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होनेवाली सम्यक्त्व गुणकी दशाको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यह काललब्धि, संसारसागरकी निकटता एवं भव्यत्व गुणके विपाकसे प्राप्त होता है ।

आत्माकी खुदकी पर्यायको काल कहते है । काल माने घड़ी, घंटा, दिन आदि भी हैं, सम्यक्त्व प्राप्तिके कालको काललब्धि कहते हैं । व्यवहारसे जिस दिन सम्यग्दर्शन मिलना है, उसको काललब्धि कहते है । समय सब एकसा है । कोई दिन विशेष आवे और सम्यग्दर्शन मिले, ऐसा नहीं है । निश्चयनयसे सम्यग्दर्शनकी पर्याय मिलना ही काल-लब्धि है । सम्यक्त्वकी प्राप्ति दिन-विशेषके कारण नहीं होती है, समय तो परिणमन मात्रका निमित्त है । समय तो यही कहता है कि तुम्हें परिणमना पड़ेगा । वस्तु कैसी परि-णमे—इसमें समय जीभ भी नहीं हिला सकता है ।

संसार सागरके निकट आने पर, काल-लब्धि होनेपर और भाव्यताका विपाक होने पर सम्यग्दर्शन होता है। वस्तु अखण्ड है, पर्याय अखण्ड है, स्वभाव अखण्ड है। वस्तु को समझनेके लिये वस्तुके भेद करने पड़े, उसे गुण कहते हैं। पर्यायके भी कोई भेद नहीं हैं, फिर भी उन्हें समझनेके लिये उनके भिन्न-भिन्न परिणमनको अनेक पर्याय कह देते हैं। भव्यत्वगुणका जहाँ तक अशुद्ध परिणमन है, वहाँ तक उसे मिथ्यात्व कहते हैं। भव्यत्वके शुद्ध परिणमनसे सम्यक्त्व पैदा होता है। जब यह जीव निज चैतन्यस्वभावकी भावनाके बलसे निज चैतन्य स्वभाव तक पहुंचता है, जब चैतन्य स्वभावपर दृष्टि पहुंचती है तो व्यवहारके सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं। निश्चयके विकल्प भी हट कर तब सम्यक्त्वकी अनुभूतिरूप परिणमन रूप हो जाता है। सम्यक्त्व स्वानुभवको लेकर प्रकट होता है। जैसे उपयोगसे ही तो सारी विद्याएं आईं। उपयोग लगाकर लोग हिन्दी, अंग्रेजी या संस्कृत आदि भाषाका ज्ञान कर पाते हैं। किन्तु भाषाज्ञान हो चुकने पर जब इंगलिश लेटर पढ़ रहे है तब अन्य भाषावोंका उपयोग नहीं है। एवमेव जब भी सम्यक्त्व उपार्जित हुआ, स्वानुभवके साथ हुआ। सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभव रहता भी है, नहीं भी रहता। ज्ञानमें ही लब्धि और उपयोग ये दो प्रकार होते हैं। ज्ञानमें उपयोग लगाना उपयोग कहलाता है। और ज्ञानप्राप्तिकी योग्यता कर लेना लब्धि कहलाता है। जब जीव स्वका अवलम्बन करके निर्मल परिणामोंमें बढ़ता है, तब दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होता है। जो कर्म बंधते है, आबाधा कालको छोड़कर प्रत्येक समयके कर्म रहेंगे। दर्शन मोहनीय कर्मका भी निरन्तर बंध स्थान है। अन्तरकरणसे दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होता है। वहाँ सान्तर बंधस्थान हो जाता है। याने जिस कालमें उपशम सम्यग्दर्शन होना है उस कालके दर्शनमोह स्पर्द्धक आगे पीछेके कालमें मिल जाते हैं। जैसे कि किसी वकीलकी इच्छा है दशलक्षण पर्वमें कचहरीकी उलझन न रहे तो वकील ऐसा यत्न करता है कि दशलक्षण पर्वमें जो तारीख थीं उनमें कितनी ही तो पर्वसे पूर्वमें लगवा लेता है और कितनी ही पर्वके उत्तर कालमें लगवा लेता है और जो नई तारीखें लगें उन्हें दशलक्षणपर्वमें नहीं रखवाता ऐसा उद्यम प्रभावक व कुशल कोई कर लेता है। तब वह दशलक्षणपर्व कचहरीकी उलझनों से परे होकर धर्मध्यानमें व्यतीत करता है। इसी तरह अनिवृत्तिकरण परिणामोंको निमित्तमात्र पाकर दर्शनमोहनीयकर्ममें क्या बीतती है, सो देखें—अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग बीत जानेके बाद अनिवृत्तिकरणकाल समाप्तिसे आगे अन्तर्मुहूर्त तक दर्शनमोहनीय कर्मका उस समयकी सीमावाला अस्तित्व ही न रहे यह होने लगता है। सो उस अन्तर्मुहूर्त की स्थिति सत्त्ववाली दर्शन मोहनीयकी कर्मप्रकृतियाँ कुछ तो पूर्व अन्तर्मुहूर्तमें मिलने लगती है और कुछ उसके उत्तर कालमें मिलने लगती है। ऐसा होनेको अन्तरकरणविधान

कहते हैं। इस अन्तरकरणविधानके होते समय कुछ काल तक ऐसा भी होता है कि पूर्वकाल में आकर भी उत्तर कालमें पूर्वकाल वाली कुछ प्रकृतियाँ मिल जाती हैं और उत्तर कालमें मिली हुई कुछ प्रकृतियाँ पूर्वकालमें मिल जाती हैं। इसको आगाल प्रत्यागाल कहते हैं। देखो स्थानभ्रष्ट होने वाली प्रकृतियोंका ऐसा हाल होना कैसा प्राकृतिक मालूम होता है। जीव इनमें कुछ नहीं करता। किन्तु जीव परिणामोंको निमित्त पाकर कर्मोंमें ऐसा स्वयं होता है। अन्तरकरण हो चुकने पर व अनिवृत्तिकरण काल समाप्त होते ही उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। सम्यक्त्व गुणका भी नाम है और पर्यायका भी। सम्यक्त्व गुणकी तीन पर्यायें हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यक्मिथ्यात्व। सम्यक्त्व निर्विकल्प स्वरूप है। वह एक ऐसा मौलिक सुधार है कि उसके होने पर सब गुणोंमें सुधार होने लगता है। सम्यग्ज्ञान और चारित्र भी सम्यक्त्वके होने पर होते हैं। सम्यक्त्व ही ऐसा बल है, जिसके द्वारा मोक्षमार्गके लिये प्रोत्साहन मिलता है। सम्यक्त्व ही अष्टकी स्थिति कर देता है। अपना इस दुनियामें है ही क्या?

**मिथ्यात्व मिटनेके बाद रागादि मिटनेके लिये होते हैं:**—सम्यक्त्व होनेपर भी कदाचित् ऐसी रागादिकी बातें चलती हैं, लेकिन चलती हैं जल्दी मिटनेके लिये। मोहीको निर्मोहीके प्रति आश्चर्य होता है कि ये निर्मोही विवेकहीन हैं। परन्तु निर्मोही जो कुछ करता है, बड़े विवेकसे करता है। जिस सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान चारित्र सुधरने लगते हैं, वह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। प्रश्न:—क्या सम्यग्दर्शन वस्तुकी यथार्थ प्रतीतिको कहते हैं? प्रतीति माने ज्ञान है। क्या सम्यक्त्व आचरणको कहते हैं? आचरण माने चारित्र कहलाया। फिर सम्यक्त्व क्या रहा? सम्यक्त्व वह है जिसके होनेपर ज्ञान और चारित्रमें भी समीचीनता आती है। सम्यक्त्व ही आत्माका भला करने वाला है। व्यवहारमें दूसरोंका बड़प्पन है, परन्तु निश्चयसे अपनेसे दूसरोंको बड़ा मानकर दीनताका व्यवहार करना—बड़ी बुरी बात है। दूसरोंको छोटा मानना भी घृणित विचार है। आत्माको स्त्री, पुत्र, माता-पिता आदि पर मान बैठना आत्माका घात करना है। आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है। दुनियाके सब जीव स्वभावकी दृष्टिसे मेरे बराबर हैं—ऐसा बना रहना चाहिये।

रागी कभी भी दूसरोंका कल्याण नहीं चाह सकता। वह सोचता है कि यह जीव सदा अज्ञानमें ही पड़ा रहे। यह समझ अज्ञानको ज्ञान समझकर होती है। अरे, जीवको ऐसी दृष्टि बने कि मेरे जाननेके अतिरिक्त अन्य जीव भी ज्ञान करें, दुनियाके समस्त पदार्थोंको जानें, ऐसा ज्ञान करें कि उसमें मैं भी डूब जाऊं, सामान्य होकर लीन होऊं। स्वभाव दृष्टिसे सब बराबर हैं। ऐसी धारणा निर्मोहीकी होती है। लेकिन रागी न अपने लिये कल्याणकी बात सोचता है, न दूसरेके लिये। उस विषयमें कहा गया है कि सूर्यके प्रकाश होनेपर अन्धकारके दूर होनेपर दिशाएं जैसे निर्मल हो जाती हैं; उसी प्रकार दर्शनमोहनीय

कर्मके उपशम होनेपर सम्यग्दर्शनके जगनेपर आत्मामें शुद्धता, निर्मलता प्रकट हो जाती है। चार ज्ञानियोंका समागम जितना लाभदायक है, उससे कहीं अधिक १००००० एक लाख अज्ञानियोंका समागम हानिकारक है। जैसे धतूरेका नशा उतरनेपर बुद्धि आदि शुद्ध निर्मल हो जाती है, उसी तरह मिथ्यादर्शनका नशा उतरनेपर समस्त गुणोंमें निर्मलता आ जाती है। मिथ्यात्वका नशा उतरनेपर आत्मामें जो बात होती है, वही सम्यग्दृष्टिका विकास है। इस पिशाचिनी प्रतिष्ठाके चक्करमें पड़कर क्यों अपनी आत्माका विनाश करते हो? चार दिनके लिये प्रतिष्ठा हो गई, लोग पूजने लगे, कौन बड़ा लाभ हो गया? उस अनादि अनन्त कालके सामने वे चार दिन क्या महत्त्व रखते हैं? अनन्त कालका समय पड़ा है, आत्माको परिणमन करना है। कुछ अपनी जिम्मेदारी तो समझो कि हमें क्या करना है? जब मोह का नशा उतरता है, तब ज्ञानी जीव भी प्रसन्न देखा जाता है। दूसरेका वास्तवमें अपनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध मानना यही नशा है।

लोग त्यागियोंके लिये लाखों खर्च करें यह गृहस्थोंकी उदारता है। यदि उसके इस कार्यको देखकर त्यागीको प्रसन्नता होती है तो उसका त्यागीपन गया। मोहका नशा उतरते ही उदारता आ जायेगी। जैसे गृहस्थ खर्च करते हैं, उसके सिलसिलेमें त्यागीको भी बेपरवाह होना चाहिये। मनुष्य-भव जैसा सुन्दर कौनसा भव होगा? इस जीवने नाना शरीर धारण किये, सबमें आकुलता रही। अन्य पर्यायोंकी अपेक्षा मनुष्य पर्यायकी श्रेष्ठता तो देखो। हम इस समय ऐसे स्थलपर हैं कि संसारके समस्त दुःखोंके छोड़नेका उपाय कर सकते हैं। संसारके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये वस्तुस्वभावको जानना चाहिये। जिस समय सम्यक्त्व प्रकट हुआ, समझो, संसारके समस्त दुःख नौ दो ग्यारह हुए।

**भ्रमजनित भय भ्रमके मिटनेपर मूलसे मिट जाता है**—रस्सीमें साँपका भ्रम होनेसे भय उत्पन्न हुआ, परन्तु जिस समय रस्सीको रस्सी समझ लिया, भय दूर हो जाता है। अपना कर्तव्य है कि मोहकी बात ही न करो। आत्मानुभव ही रहे। मोह बलवान है तो ज्ञान भी उससे कम शक्तिशाली नहीं है उससे भी बलिष्ठ है। हम मोहके बलके गीत गाएं, उसकी अपेक्षा ज्ञानकी बातें करें तो कुछ लाभ तो होगा। व्यर्थकी बातोंमें क्यों फंसते हो? मोहकी बातें करना व्यर्थ है। कर्मका जब उदय होता है तो राग होता है सो होने दो, किन्तु विवेक करके यह तो प्रत्यय किये रहो कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। रागमें तो राग न करो। तत्त्वकी बातें जान भरलो, उनको हृदयमें स्थान मत दो। अपने को निर्विकल्प स्थितिमें पहुँचाओ तो अपनेको अपनेमें तन्मय कर सकते हो। जिनको कल्याणकी लग्न है, उनको भूख तो अवश्य लगती है, भोजन भी करता ही है, परन्तु उस समय भी लगन कल्याणकी रहती है। राग आता है, आने दो, भीतर विवेक जगा रहना चाहिये। वस्तुमें

संयोग वियोग होता ही नही है। वस्तुका एक स्वभाव है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्तिके अनन्त परिणमन है। माता–पुत्र, भाई, बहन आदिका रिश्ता पर्याय नही है। रिश्ता माननेका भाव ही आत्माकी विकारी पर्याय है। आत्मा न त्यागका कर्ता है, न ग्रहण का कर्ता। आत्मा न किसीकी पर्याय बनाता है, न किसीका स्वामी है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं की पर्यायको ही बनाता है। हम स्वयं की पर्यायके ही बनाने वाले हैं। हमारी उन्नति हमारे सम्बन्धी या अन्य नहीं कर सकते है, अपनी उन्नति हम स्वयमेव करते हैं।

आत्मा जो रागपरिणाम कर रहा है, उसके फलको रिश्तेदार नहीं भोगेंगे, वह स्वयं ही तो कृतपरिणामोंके फलको भोगेगा। मोहियोंको आत्माकी स्वच्छता बुरी मालूम होती है। मोहियोंको तो यही ठीक है, यही ठीक है, यही लगा रहता है। उल्टा रास्ता तभी चला जाता है कि जब मनमें यही ठीक रास्ता है, अन्य नहीं—यह फतूर भरा रहता है। गलत रास्तेको ठीक माने तभी गलत रास्तेपर चला जाता है। गलतको यदि गलत समझ लिया जाये, फिर कैसे गलत रास्तेपर चला जायेगा ? यदि रास्ता चलते हुए संदेह हो गया कि यह गलत रास्ता है कि सही, तब वह चलता हुआ भी नहीं चलता है। आसक्ति पूर्वक वह नहीं चलेगा, चलते वक्त उसमें विवेक जागृत रहेगा, अधिक नहीं चलेगा, पूछनेके लिये, मार्गदर्शककी खोजके लिये चलेगा जिसको सम्यक्त्व प्रकट हो गया, वह सत्पथका ध्यान रखता है। उसकी प्रसन्नता अपनेमें बनी ही रहती है। कोई विपत्ति भी हो जाये वह उस ओर कोई ध्यान नहीं देता है। धन चला गया, सो चला गया, धन मेरा स्वभाव नही है। विवेकी जीवको एक बार सम्यक्त्व हो जाये, वह अपनी आत्माकी समझ बनाये ही रखता है। सम्यग्दृष्टि अपने सम्मान या अपमानका ख्याल नहीं रखता है। विवेकका जागृत रहना ही ज्ञान है। ज्ञान ही त्याग है। ज्ञान या विवेक हो गया, समझो त्याग हो गया। "यह मेरा नहीं है"—यह सम्यक्तया ज्ञान होते ही कर्मबंध रुक जाता है। कर्मबंधके रुकनेसे त्याग स्वयमेव हो गया। अज्ञानीकी तरह ज्ञाताद्रष्टा भी दूसरोंको अपना मानकर बेहोश हो रहा है। अज्ञानियोंने समझाया–जागो, जागो-जिसमें तुम उपयोग बनाये हो, वह सत्पथ नहीं है। जब उसको भान हुआ, तो उसका उस कुपथसे उपयोग हटकर, सत्पथपर लग जाता है। जिसको सत्यका ज्ञान हो गया और उसका भ्रम दूर हो गया है, उसके अन्तरमें उजेला है। जब जीव ज्ञानी होता है तो शीघ्र ही परभावोंको छोड़ देता है।

समस्त परभावोंके त्यागके दृष्टान्तकी तरह पाई हुई यह दृष्टि जैसे ही हुई, समझो, परभावोंका त्याग हो गया। यह निर्विकल्प स्वानुभूति इस विवेकमें ही प्रकट होती है।

**कल्याण स्वभाव व परभावके विवेकमें है**—पर पर है, पर मैं नहीं हूँ—ऐसा ज्ञान ही कल्याणकारी है। ऐसे अनुभवको परवस्तु विवेक कहते हैं, यह अनुभव सम्यग्दृष्टिके

होता है। सम्यग्दर्शनके निर्मल होनेपर सभी गुण निर्मल हो जाते हैं। स्वानुभव-श्रद्धा आदि सम्यग्दृष्टिके लक्षण सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण हैं। श्रद्धा, स्वानुभव, जानकारी, प्रतीति—ये सब ज्ञानकी पर्याय है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सम्यग्दर्शनका यह बाह्य लक्षण है। श्रद्धा करना ज्ञानकी विशेषता है। निश्चयसे श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन नहीं है। श्रद्धा न करना ज्ञानका ही एक प्रकार है। आत्मानुभव भी ज्ञानका ही प्रकार है। आत्मानुभव सम्यग्दर्शन नहीं है। स्वानुभूति माने स्वका उत्तम ज्ञान। सम्यक्त्वका स्वरूप बताते समय ज्ञानकी ही पर्याय बताई जाती है, सम्यक्त्वकी नहीं बताई जा पाती। वास्तवमें श्रद्धान, प्रतीति, अनुभूति भी ज्ञानकी ही पर्याय हैं। सम्यक्त्वका स्वरूप यही कहा जा सकता कि विपरीत अभिप्रायरहित स्वच्छता। ऐसे सम्यक्त्वके होने पर सभी गुण निर्मल हो जाते हैं।

जैसे स्वास्थ्यादिसे उत्पन्न होने वाला हर्ष बताया नहीं जा सकता है। हर्ष तो मन वचन कायकी चेष्टाओंसे प्रकट हो जाता है। हर्ष मन वचन कायकी चेष्टाओंसे उत्साहादि संचारी भावोंके द्वारा लक्षित होता है, वस्तुतः हर्ष दुर्लक्ष्य है। इसी प्रकार सम्यक्त्व तो दुर्लक्ष्य है, सम्यक्त्व कैसे समझमें आयेगा? अनुभूति श्रद्धा आदि बाह्य लक्षणों द्वारा सम्यक्त्व लक्षित होता है। स्वानुभव ज्ञानकी पर्याय है। स्वानुभवसे सम्यक्त्व जाना जाता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि साक्षात् आत्माके अनुभवको तो सम्यग्दर्शन मानो। मिथ्या दृष्टिके स्वानुभव होता ही नहीं है, अतः स्वानुभवको सम्यग्दर्शन मानो। फिर आप स्वानुभूतिको सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण क्यों कहते हैं? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी धारणामें प्रतीत होता है कि तुम सामान्य विशेषके लक्षणभूत साकार-अनाकार के विषयमें अनभिज्ञ हो। अतः यहाँ पर साकार और अनाकारका लक्षण कहते हैं। जैसे गौ विशेष साकार है, गो सामान्य अनाकार है। गो सामान्य जातिवाचक नाम है। शंका—गो सामान्यके जाननेपर भी तो कुछ रूपक प्रतीत होता है। उत्तर—जब कुछ मुकाबिला रखकर देखे तब रूपक प्रतीत हो जाता है, सो उस समय विशेषकी दृष्टि आ जाती है। ऐसे लोग जो सामान्यको थोड़ा बहुत समझते है, वे विशेषसे मिलाजुला ही समझते हैं। सामान्यवस्तुका तत्त्व है। अब आकारको कहते हैं—

आकार माने अर्थविकल्प है। अर्थविकल्प ज्ञानकी चीज है; ज्ञानकी समस्त पर्यायें विशेषसे सम्बन्धित हैं। सामान्यके विचारका भी कोई रूपक हो सकता है, परन्तु सामान्य का कोई रूपक नहीं है। स्व पदार्थ या परपदार्थ—दोनों ही अर्थ कहलाते हैं। ज्ञानकी उपयोग सहित अवस्थाको विकल्प कहते हैं। चाहे स्व-पदार्थमें विकल्प लगाओ, चाहे परपदार्थ में विकल्प लगाओ, दोनोंको ही अर्थविकल्प कहते हैं। अर्थविकल्प ज्ञानकी ही पर्याय है।

अब अनाकारको जानिये—जिसका कोई आकार न हो उसे अनाकार कहते हैं। ज्ञान ही सविकल्प है। अन्य शेष गुण निर्विकल्प हैं। सब गुणोंका अनुभव चूंकि ज्ञान है अतः सविकल्प है। सम्यक्त्व और चारित्र व अन्य सभी गुण निर्विकल्प हैं। अनाकारता होना अनन्त गुणोंका लक्षण है। केवलज्ञान ही साकार होता है। इतना सिद्ध कर चुकनेपर—साकार ज्ञानकी अवस्थायें हैं, अनाकार शेष गुणोंकी अवस्थायें हैं—यहां एक जिज्ञासुने शंका की है:—शंका:— विशेषके समान सामान्य भी तो वास्तविक चीज है। फिर किसीको साकार और किसीको अनाकार क्यों कहते हो? समाधान:—ज्ञान सामान्यवत् विशेषवत् अस्ति सभी चीजें सामान्य धर्मसे युक्त हैं, और विशेष धर्मसे सहित है। ज्ञान सामान्य अनाकार है और ज्ञान विशेष सविकल्प साकार है। चेतना सामान्य अनाकार है। चेतना विशेष साकार भी है, व अनाकार भी है। वस्तुतः सामान्य अनिर्वचनीय है।

ज्ञानके बिना शेष गुण निर्विकल्प होनेसे अनाकार हैं। ज्ञानके बिना शेष गुण विशेष और सामान्य दोनों अपेक्षाओंसे निराकार हैं। अतः स्वानुभव और श्रद्धान या प्रतीति करना सम्यग्दर्शन नहीं है—ज्ञानकी ही पर्याय है।

**यह जीव राग, द्वेष, ज्ञान आदि सब खुदमें ही करता है:**—इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक आत्मा अपने गुणोंसे तन्मय है। इससे परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग है। अतः एक आत्माका दूसरे आत्मासे मोह नहीं हो सकता है। एक आत्माका दूसरे आत्मासे राग नहीं हो सकता, एकका दूसरेसे द्वेष नहीं हो सकता, एक आत्मा दूसरे आत्माको ज्ञान नहीं दे सकता। एक आत्मा दूसरे आत्माको अच्छे या बुरे मार्गमें नहीं लगा सकता। जीव जो करता है, सब अपने प्रति करता है, दूसरेके प्रति कुछ नहीं कर सकता है। एक आत्मक्षेत्रसे द्वेष निकलकर दूसरे जीवमें नहीं पहुंच सकता है। लेकिन फिर भी मोही रागमें फंसा रहता है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि हमारेमें जो परिणमन नहीं होना होगा, वह तुम्हारे करनेसे नहीं हो सकता। मैं दुनियामें कुछ नहीं करता, न किसीसे राग करता, न द्वेष। न मैं किसीको सुखी करता, न किसीको दुःखी। लेकिन दुनियाके लोग दुनियाको अपने उपयोग में फंसाये हुए हैं। ज्ञान गुण सविकल्प है, शेष गुण निर्विकल्प होते हैं। सम्यक्त्व गुण और सम्यक्त्वकी पर्यायें निर्विकल्प हैं। जिसके होनेपर हमारी बुद्धि ठीक चले, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। धर्म कमर कसकर करो। हम जिंदा है तो धर्म पानेके लिये ही हैं। धर्म सीखने लिये तन, मन, धन, वचन सब न्यौछावर करो और कमर कसकर उत्साहपूर्वक तैयार हो। हमारा उद्देश्य ही ज्ञान है। ज्ञान तो परभवमें भी काम दे सकता है, परन्तु यश, धन ये क्या करेंगे।

ज्ञानाभ्यास करे मन मांहि, ताको मोह महातम नांहि।

सम्यग्दर्शन दुर्लक्ष्य है, उसकी प्ररूपणा ज्ञान द्वारा ही होती है। क्योंकि निर्विकल्प

वस्तुको नहीं कहा जा सकता, उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा ही किया जाता है। अनुभूति, प्रतीति, श्रद्धान—ये सब ज्ञानकी ही पर्याय हैं। जैसे हर्ष—मन, वचन, काय, मुखाकृति—इन चिह्नोंसे बताया जा सकता है; हर्षके स्वयंको कोई नहीं बता सकता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी निर्वाच्य है, उसको ज्ञानके द्वारा ही बताया जा सकता है।

ज्ञान एक साथ स्व और परको जान जाता है। निश्चयसे आत्माका एक ज्ञान गुण स्वार्थ है और स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सुखादि अन्य गुण पदार्थ हैं। जब ज्ञान आनन्दका स्वयं अनुभव करता है, तो वह अनुभव तो स्वयं ज्ञान है, परन्तु आनन्द ज्ञानसे पर है। ज्ञानने जब सम्यक्त्वका अनुभव किया तो ज्ञान ज्ञानके लिये स्व है और सम्यक्त्वके लिये पर है। ज्ञानने जितने भी अन्य गुणोंका अनुभव किया, तब ज्ञान ज्ञानके लिये स्व है और शेष गुणोंके लिये पर है। जैसे ज्ञानने सुख जाना तो ज्ञान सुखमय नहीं हो गया, ज्ञान ज्ञान रहा, सुख सुख रहा; वे दूसरेमें एकमेक नहीं हो गये। उसी प्रकार ज्ञानने सम्यक्त्वको जाना तो सम्यक्त्व सम्यक्त्व ही रहा, ज्ञान ज्ञान ही रहा, ज्ञान सम्यक्त्वमय नहीं हो गया।

**सम्यक्त्व अनिर्वचनीय है, अतः वह ज्ञानके द्वारा ही बताया जाता है:**—वस्तुतः सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय है, सूक्ष्म है—अतः उसको कहनेका और सुननेका कोई अधिकार नहीं है। यदि तुम्हें सम्यक्त्वकी चर्चा करनी है तो चर्चा ज्ञान द्वारा ही करोगे। सम्यग्दर्शन ज्ञानसे निरूपित होता है। अब अपने आपको ऐसा अनुभव किया जावे कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान मेरा सर्वस्व है, ज्ञानके अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, शरीरका एक अणु भी मेरा नहीं है। सब जीवोंकी सबकी अलग अलग परिणतियां हैं। हम उनका भाव अपने उपयोगमें क्यों लायें? मैं तो ज्ञानमात्र हूं। विकल्प भी मेरा स्वभाव नहीं है, ये भी निमित्तनैमित्तिक भावसे ही आते हैं। विकल्पोंका करने वाला मैं स्वयं नहीं हूं। मैं ज्ञानरूप हूं, ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, मैं अन्य रूप नहीं हो सकता—ऐसी भावना भानेसे सुख मिलता है, मोक्ष मिलता है। बड़े बड़े तीर्थंकरोंने अपनेको अकिञ्चन अनुभव करनेके लिये राज्यादि वैभवको छोड़कर, जंगलमें जाकर तपस्या करके अपनेको ज्ञानमय, अकिंचन अनुभव किया। जैसे किसी व्यक्तिने दसों रोजगार किये; पहला किया, बदल दिया, दूसरा बदला, तीसरा बदला, इस प्रकार नौ रोजगार तक उसने बदल दिये, लेकिन वह दसवें रोजगारको डटकर प्रसन्नतापूर्वक करने लगा। इसका मतलब हुआ कि उस व्यक्तिके लिये दसवेंमें लाभ हुआ, अन्य नौ में हानि हुई; अतः उसने दशवां अपनाया। इसी प्रकार तीर्थंकरोंने विवाह किया, स्त्री सुख भोगा, राज्य-सुख भोगा, लेकिन उनको इनमें लाभ जब दृष्टिगोचर नहीं हुआ तो उन्होंने वनमें जाकर तपस्या करके अपनेको ज्ञानमय, अकिंचन अनुभव किया। फिर उन्होंने उसे नहीं छोड़ा, पुनः गृहस्थ नहीं हो गये। इसका कारण था कि उन्हें इसीमें कल्याण दिखाई दिया, यही

अच्छा लगा, इसीमें उन्हें लाभ दीखा। तीर्थकरोंने अनुभव किया—मैं अकिंचन हूं, ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, अन्य मेरा स्वभाव नहीं है। आखिरी काम उनका अपनेको ज्ञानमात्र और अकिंचन अनुभव करना था। अतः सर्वश्रेष्ठ यही आखिरी काय सिद्ध होता है।

मरनेके बाद ऐसा बनेंगे. उसका निर्णय. वर्तमानके भाव कर रहे हैं। मोहके भाव करनेसे दुर्गति प्राप्त होती है; अच्छे भाव करेंगे तो सुगति मिलेगी। अच्छा विवेक वह है, जो परभवकी बात भी सोचे। ज्ञानको छोड़कर आगामी भवमें भी कोई मेरा सहाय नहीं है। मेरा मददगार मैं ही हूँ, भगवान् भी मेरा रक्षक नहीं है। अपने जिम्मेदार हम स्वयं हैं, अन्य किसीपर हमारा उत्तरदायित्व नहीं है—ऐसा दृढ विश्वास रक्खो। पतिकी रक्षा पत्नी नहीं कर सकती, पिताकी रक्षा पुत्र नहीं कर सकता; पुत्रकी रक्षा माता-पिता नहीं करते। दुनियाके अन्दर मैं ही अपने खुदका सिंह हूँ। जो व्यक्ति अच्छे मार्गके लिये भाव करता है, उसे अच्छा फल प्राप्त होता है।

**मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं**—आत्मा जो चैतन्यमात्र हैं, अमूर्त है, अखण्ड है, जो भावोंमें बसता है; वह न स्त्री है, न पुरुष है; न तिर्यंच है, न देव-नारकी है; न कीड़े मकोड़े चींटी आदि है। आत्मा तो एक अखण्ड सत् है, वह आत्मा यह कुछ नहीं है। आत्मा उन भावों को भूल जाए, जितने वह अपने चित्तमें बसाये रखता है कि मैं धनी हूँ, मैं त्यागी हूं, मैं पण्डित हूं—ऐसा ध्यान बनाये तो वह विवेकी है। यह (पर्याय) कुछ नहीं है, सब नाटक है। इन नाटकोंमें मत अटको, इनको छोड़ दो। मैं चैतन्यमात्र हूं, मैं ज्ञायकभाव हूं—ऐसा अनुभव न होनेसे कर्मोंकी निर्जरा होगी। कर्मोंका मूलतः विनाश इस आत्माके अनुभवसे होता है। अतः ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है।

स्वका अनुभव भी ज्ञान ही है। परन्तु वह स्वानुभूति सम्यक्त्वकी अविनाभावि है। अर्थात् वह आत्मानुभव सम्यक्त्वके होनेपर होता है, यदि सम्यक्त्व न हो तो वह स्वानुभव नहीं होता है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिमें परस्परमे अविनाभावि सम्बन्ध होनेसे स्वानुभूति के द्वारा सम्यग्दर्शनका बोध करा दिया जाता है। वह स्वानुभूति ही सम्यक्त्व कहलाती है। स्वानुभूति एक साधारण शब्द है। स्वकी कैसी अनुभूति होती है? स्वानुभूति दो प्रकारकी है—(१) अशुद्धनयात्मक स्वानुभूति और (२) शुद्धनयात्मक स्वानुभूति। मैं व्यापारी हूं, पंडित हूं, त्यागी हूं, धनी हूं—यह भी स्वानुभूति है; परन्तु यह अशुद्धनयात्मक स्वानुभूति है और मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं चित्स्वभाव हूं—यह अनुभूति भी स्वानुभूति है; परन्तु यह शुद्धनयात्मक स्वानुभूति है। अशुद्धनयात्मक स्वानुभूतिसे संसार बढ़ता है और शुद्धनयात्मक स्वानुभूतिसे मोक्ष मिलता है।

सम्यक्त्व होनेके बाद स्वानुभूति रहे, यह आवश्यक नहीं है। सम्यक्त्व होनेपर स्वा-

नुभूति रहती भी है, नहीं भी रहती है। जैसे—अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, मराठी आदि भाषाएँ पढ़ लेनेके बाद सबमें उपयोग नहीं रहता है, जिसमें हमारा उपयोग है, उसीमें उपयोग रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके होनेपर स्वानुभूति रहती भी है, नहीं भी रहती। परंतु जब सम्यग्दर्शन हुआ था स्वानुभूतिको लेकर हुआ था। जब स्वानुभूति नहीं होती तब आत्मा अन्तः निरन्तर स्वरूप प्रतीतिका काम करता रहता है, सम्यग्दर्शन तो रहता ही है।

शंका—स्वानुभूतिके द्वारा परभावका विवेक कैसे होता है?

समाधान—भावक भावका विवेक बताते हुए यही बात श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ३६ वीं गाथामें कहते हैं—

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३६॥

मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूँ ऐसा जो जानता है, अपने को बोधता है, बूझता है उसे समय अर्थात् आगम तथा आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुष मोह-निर्ममत्व अथवा निर्मोह कहते हैं।

मोह मेरा कुछ भी नहीं है—यहाँ पर आचार्यने स्त्री-पुत्रादिके रागकी चर्चाको नहीं कहा, क्योंकि वह राग मोहके सामने याने रागके सामने कुछ भी नहीं है। जैसे किसी आदमीने आपका विरोध किया, आपने उसका कोई जवाब भी नहीं देना चाहा। उसका मतलब हुआ कि वह विरोध पक्ष वाला कमजोर है। क्योंकि आपने उसका जवाब यह सोच कर नहीं दिया कि यह तो बकता है, इसका क्या जवाब देना? यदि आपने उसका विरोध करने पर विरोध किया तो इसका मतलब हुआ कि उसमें भी कोई बल है। सम्यग्दृष्टिकी निगाहमें स्त्री-पुत्र-मित्रका राग कुछ भी नहीं है। अतएव यहाँ मोहको ही कहा कि मोह मेरा कुछ भी नहीं है।

मैं एक उपयोगमात्र हूं, ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्य मेरा स्वभाव है—ऐसा जो जानता है, उसे मोहसे भी ममता नहीं है। धन हरेक छोड़ सकता है, परन्तु बात छोड़ना कठिन है। ऐसा क्यों हुआ कि—यह बात नहीं छोड़ी जा सकती है. जो जिस बातको निजभाव मानेगा वह उसे कैसे छोड़ेगा? जो उस बातसे भी अपने को न्यारा करले वह विवेकी ज्ञानी है। जो अपनेमें होने वाले राग द्वेष मोह भाव है, उनका भी त्याग कर देवे तो कर्म ही न बंधे। यदि अपने भावको न पकड़े रहें तो दुःख हो ही नहीं सकता। दुश्मनी होने पर कोई तुमसे बड़ा है, उससे दया करके बोल लो कि यह तो अज्ञानी है, इससे बोलनेमें क्या दोष है? यदि छोटा है तो उससे बोलनेमें शोभा ही है। धन मेरा नहीं है, उसकी यहाँ चर्चा करना व्यर्थ है, क्योंकि बार-बार चर्चा करने से सन्देह हो जाता है कि धन वैभवादि अपने कुछ

होंगे तभी तो इनकी आचार्य बार-बार चर्चा कर रहे हैं । अतएव यहाँ पर धन वैभवादि मेरे नहीं हैं–इनकी चर्चा न करके मोह, राग, द्वेष, वचन बात मेरे नहीं हैं—इनकी चर्चा कर रहे हैं ।

यह मोहभाव भावक मोहकर्मके द्वारा रचा जाने वाला है । अनुभागवश फलदानमें (निमित्तरूपसे) समर्थ होनेसे मोहनीयकर्म भावक कहा जाता है । उस भावकके द्वारा निर्वर्त्यमान भाव्य यह मोह परभाव है । यह प्रभाव टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल मुक्त ज्ञायक-स्वभावीका कुछ भी नहीं है, क्योंकि परमार्थसे देखो तो परभाव मुक्त ज्ञायकस्वभावको कुछ भी हुवानेमें समर्थ नहीं है । मैं वहीका वही चैतन्यतत्त्व हूँ ।

मैं तो उपयोग मात्र हूँ अथवा चिच्छक्तिमात्र हूं, जिसकी प्रताप संपत्ति ऐसी है कि समस्त विश्वके प्रकाश करनेमें प्रचण्ड विकस्वर है ।

**चैतन्यस्वरूपके ज्ञाताके विभावमें भी ममता नहीं रहती**—मैं एक उपयोग मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं—ऐसा जो जानता है, उसको मोहसे भी ममता नहीं है, यहांपर किसी वस्तु की ममताकी तो बात ही नहीं कर रहे हैं । कोई व्यक्ति बिगड़ जाए, और उसको तुम बार-बार मनाने लगो तो लोग समझेंगे कि यह बड़ा आदमी होगा, अतएव इसको बार-बार मना रहे हैं । धन मेरा नहीं है—यह कहना निम्न श्रेणीका कथन करना कहलायेगा, अत: धन मेरा नहीं है, इसकी चर्चा ही नहीं की गई है । हमला राग-द्वेष मोह बलपर करो—ये मेरे नहीं हैं । आगमके जाननेवालोंने ऐसा कहा है कि जो जीव मोहको अपना रहा है, वह जिस परको विषय करके मोह किया गया है, उसको भी अपनायेगा । जैसे जिसको अपना राग प्रिय लग रहा है, जिसको आश्रय करके राग किया गया है, वह उसको भी अपनायेगा । राग करना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा रागका राग करना है । जिसको राग ही अच्छा न लगे, उसको वह चीज भी अच्छी नहीं लगेगी, जिसको आश्रय करके राग किया गया था । जैसे जिसने घड़ीका राग किया, यदि हमें घड़ीका राग प्रिय लग रहा है तो घड़ी भी अवश्य प्रिय लगेगी । जिसे घड़ीका राग प्रिय नहीं है, उसे घड़ी भी अच्छी नहीं लगेगी । यह घड़ीका राग कष्टकर है, इससे क्या लाभ है ? इसके रागके बनानेमें कितना कष्ट होगा—ऐसा विचारनेसे छूट सकता है । जो अपने रागको मेटना चाहता है, उसे घड़ी भी प्रिय नहीं लगेगी । रागके रागको मोह कहते हैं । घड़ीका राग राग कहलाया, लेकिन घड़ीके रागका राग मोह कहलाया । मोहीको राग तो प्यारा लगता ही है, साथ ही रागका राग भी प्यारा लगता है । रागके रागमें वेहोशी हो जाती है । रागमें वेहोशी नहीं होती है ।

मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं उपयोग मात्र हूँ, मोह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक अमूर्त चैतन्य आत्मा हूं, ज्ञान मेरा स्वभाव है—इस प्रकार विचारनेसे राग हटे, मोह हटे—

उसे कहते हैं मोहकी निर्ममता। जो इस तरहका अपनेको अनुभव करता है, उसे आगमके जानने वालोंने मोहनिर्मम कहा है। जब भी शांति मिलेगी, ज्ञान ही से मिलेगी। ज्ञानके सिवाय शान्तिका और कोई उपाय नहीं है। इस ज्ञानके लिये खुदको भी न्यौछावर कर दो तो भी कम है। जो चीज अपनेको अच्छी लगती है, उसीके लिए कोई चीज न्यौछावर की जाती है। यदि तुम्हें ज्ञान अच्छा लगता है तो उसके लिये क्या क्या न्यौछावर नहीं कर दोगे ? जो जिसको प्रिय है उसके लिए सब कुछ सौंप दिया जाता है। जैसे पुत्र सबको प्यारा होता है; उसके लिये क्या-क्या न्यौछावर नहीं कर दिया जाता ? यदि तुम्हें मुक्ति और ज्ञान प्यारा है, उसके लिये धन क्या, अन्य क्या क्या न्यौछावर नहीं कर सकते हो ?

वस्तुतः यह मोह मेरा नहीं है, फिर यह मोह मेरेमें कैसे उत्पन्न हो गया ? यह मोह पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होता है। कार्माणवर्गणायें भावकरूपमें देनेकी शक्तिसे उत्पन्न हुई, उनके द्वारा मोह रचा गया है। मैं इसके होनेमें निमित्त नहीं हूं, इसके होनेमें ये पुद्गल निमित्त हैं। जैसे यदि मिट्टी सोचे कि मैं घड़ा बननेके लिये मैं ही निमित्त हूँ और मैं ही उपादान हूं। तो मेरु पर्वतकी तलहटीमें स्थित मिट्टीके धड़ाधड़ घड़े बनने लगेंगे, अतः मिट्टी घड़ा बननेमें निमित्त नहीं है। उसी प्रकार इस मोहके करनेमें निमित्त मैं नहीं हूं, ये पुद्गल द्रव्य निमित्त हैं। मैं तो टङ्कोत्कीर्ण प्रतिमाके समान निश्चल हूं। जैसे पर्वतके अन्दर मूर्ति स्थित है, उसी प्रकार मुझ आत्मामें परमात्मा मौजूद है। भेदविज्ञानकी कुशलतासे परमात्मत्व प्रकट हो सकता है। भेदविज्ञान पुरुषार्थ करनेसे हो सकता है। पुरुषार्थ किये बिना तो सम्यक्त्व भी नहीं होता।

छोटे बच्चे खेलनेके लिये जैसे रेतका घर बार-बार बनाते हैं और बार-बार बिगाड़ते हैं, वह घर कुछ काम नहीं आता। उसी प्रकार तनिक सुना और भुला दिया, फेर थोड़ा सुना–फिर भुलाया तो वह तो बच्चोंका रेतका घर ही है। यदि तुम ज्ञानको परिपक्व करो तो कुछ लाभ भी होगा। अतः ज्ञानके पुरुषार्थमें जड़की प्रीति छोड़कर लगो तो कुछ मिलेगा। पुण्योदयके कारण यह धन मुफ्त ही मिला है, वह मुफ्तमें ही चला जायेगा। उसके टैक्स, चोरी, डाका द्वार होंगे। मुनाफेमें मिलेगा पाप, घृणा। ज्ञानी जीव सोचता है कि मोह मेरा कुछ नहीं है।

अहो ये परोक्ष आर्षवाणियां अन्तिम तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामीके तीर्थमें आज भी जयवन्त प्रवर्त रही हैं। एक स्तुतिमें कहा गया है कि—

"या जगमन्दिरमें अनिवार अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी,
श्री जिनकी ध्वनि दीपशिखासम जो नहिं होत प्रकाशनहारी।

तो किस भांति पदारथ पाँति कहाँ लहते रहते अविचारी,
या विधि संत कहैं धन है धन है जिन बैन बड़े उपकारी।"

भगवान् महावीर स्वामी, जिनके चरित्रका स्मरण हमारी कलुषताओंको दूर भगा देता है, उस चरित्रमें प्रधान एक बात जिसपर हम लोगोंका ध्यान होना चाहिये, वह है भगवान् महावीरस्वामीका अखण्ड ब्रह्मचर्य। भगवान् महावीरस्वामी बालब्रह्मचारी थे, यह निर्विवाद सिद्ध है। माता पिताके विवाहके आग्रह करने पर भी उन्होंने विवाह करनेकी स्वीकृति नहीं दी तथा समय की ओर ही उन्होंने अपना लक्ष्य रखा।

भगवान् महावीर स्वामी पुण्यशाली व्यक्ति थे, उन्होंने राज्यसुख भोगा, वे राजाके पुत्र थे—इन कारणोंकी विशिष्टतासे हम उनको नमस्कार करते हों—ऐसा नहीं है। उनमें एक बड़ी बात यह थी कि जिसके कारण हम लोगोंके मस्तक यकायक झुक जाते हैं, वह है सत्य-उपदेश। भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिसे जो उपदेश संसारके प्राणियोंको प्राप्त हुआ है, जिससे उन्हें संसारके समस्त दुःखोंसे छूटनेका मार्ग दिखाई दिया, वह अब भी उपलब्ध है। भगवान् महावीर स्वामीने हमें देह व संसारके बन्धनसे छूटनेका उपाय बताया, अतएव वे हमारे आराध्य हैं। भगवान् महावीरस्वामीके उपदेशसे हमें कल्याण-स्वार्थका उपदेश मिलता है, अतएव हम उनकी आराधना करते हैं।

उनके उपदेशोंको आज हमारे राष्ट्रकी पताका बता रही है कि भगवान महावीर स्वामीने हमारे हितार्थ क्या शिक्षा दी थी और हमें क्या करना है तथा हमारा कल्याण कैसे होगा ? यह सब पताकाका रूप रंग भी ध्वनित करता है।

हमारी राष्ट्रीय पताका तीन रंगोंसे रंजित है—हरा, पीला, सफेद। इन तीनों रंगों से प्रमुख दो आशय प्रकट होते हैं जो अभी कहे जावेंगे। जैसा कि जो समस्त विश्वके ज्ञाता हैं, उन भगवानकी दिव्य ध्वनिसे हमें उपदेश मिलता है। ऐसा नहीं है कि किसी भगवानने और कुछ बताया हो, दूसरेने कुछ और। भगवान आदिनाथके समयसे लेकर भगवान महावीर स्वामीके समय तक समान धर्म प्रवर्तित हुआ है। ऐसा नहीं कि किसीने कम उपदेश दिया हो या किसीने अधिक।

**राष्ट्रीय-पताका कह रही है कि**—(१) समस्त पदार्थोंको सत्यतासे जानो, पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हैं। (२) आत्माको क्या करना चाहिये कि वह संसारके दुःखोंसे छूट जाये, वह उपाय है रत्नत्रय। रागद्वेष मोह दुःखदायी हैं, अतः पहले इन्हें छोड़ो—यह हम कितना भी कहते रहें, मोह नहीं छूटेगा जब तक स्त्री, पुत्र, पिता, भाई, बन्धु, मकान, धन, कपड़ा, चटाई, शरीरादि दिखाई देने वाले पदार्थ कैसे आये और कहांसे आये, क्या इनका स्वरूप है, यह ज्ञान नहीं होगा। सर्वप्रथम यहाँ जाननेकी आवश्यकता है कि दुनियाके

ये समस्त पदार्थ क्या हैं, इनका स्वरूप कैसा है, ये क्यों हैं ? आदि। दुनियामें जितने भी पदार्थ हैं, प्रत्येक पदार्थ एक है, अकेला है। जो दो पदार्थ मिलकर एक हो जाये, वह भी पदार्थ नहीं है। पदार्थ टूटकर दो भी नहीं हो सकता है। जगत्के समस्त पदार्थ अखण्ड हैं, वे टूट नहीं सकते। अखंडको जाननेकी यह पहिचान है कि जो बात बनेगी, जो परिवर्तन होगा, वह पूरेमें होगा; ऐसा नहीं कि किसी परिणमनसे आधेमें पदार्थ परिणम जाये आधेमें नहीं। ऐसा नहीं कि आधे आत्मामें दुःख हो रहा हो और आधेमें नहीं। एक बात पूरेमें घटेगी अर्थात् यदि दुःख है तो पूरे आत्मामें, यदि सुख हैं तो वह भी पूरे आत्मामें। संसारके जितने भी पदार्थ हम देख रहे हैं, वे सब एक पदार्थ नहीं हैं। एक वह है, जो परमाणु है, आंखोंसे न दिखाई दे सके, उसका दूसरा हिस्सा न हो सके।

हम पर्यायको द्रव्य (पुद्गल मान लेते हैं, अतः हमारा राग बढ़ जाता है। यदि हम द्रव्यको द्रव्य ही मानें तो हमें मोह हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें रहता है, दूसरे द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें नहीं रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपनेमें ही परिणमता है, दूसरे पदार्थमें उसका परिणमन आ-जा नहीं सकता। यदि यह ज्ञान हो गया तो मोह हो ही नहीं सकता। जो कुछ यह है वह उस ही द्रव्यकी पर्याय है, नित्य नहीं। जैसे रस्सी पड़ी हुई है। उसमें यदि सांपका भ्रम हो जाता है तो भय उत्पन्न हो जाता है। लेकिन जब हमें पासमें जाकर रस्सीमें रस्सीका बोध हो जाता है तो भय खतम हो जाता है और आनन्द प्रकट हो जाता है। संसारके सभी पदार्थ अपनेमें पूरे हैं, कोई अधूरा नहीं है। सभी पदार्थ अपनेमें अपने आप परिणमन करते हैं, कोई पदार्थ दूसरेमें परिणमन नहीं कर सकता और न दूसरे पदार्थ रूप ही परिणम सकता है। ऐसा भी नहीं कि एक पदार्थका परिणमन दूसरे पदार्थमें चला जाये, दूसरेका पहलेमें आ जाये। वे तो अपनेमें ही स्वतः परिणमते रहते हैं।

सबसे पहले मोह छोड़नेके लिये इस शरीरसे पर्यायबुद्धि हटानी पड़ेगी कि यह शरीर मेरा नहीं है, शरीर मैं स्वयं नहीं हूं, यह शरीर नष्ट हो जाने वाला है, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं, मैं ज्ञानमय हूं, ज्ञान ही रूप मेरा परिणमन है— ऐसा अनुभव करनेसे मोह दूर हो जाता है। चाहे लोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त करलो उससे मोक्ष नहीं मिलने का। प्रतिष्ठा तो चार दिनकी चाँदनी है।

**राष्ट्रीय-ध्वजका प्रथम उपदेश यह है कि—**(१) प्रत्येक चीज उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप है। अर्थात् उत्पादरूप होनेसे बनती है, व्ययरूप होनेसे बिगड़ती है और ध्रौव्यरूप होनेसे बनी रहती है। ध्वजका हरा रंग बताता है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय उत्पन्न होता रहता है। प्रत्येक पदार्थ बिगड़ता रहता है—यह पीला रंगका आशय है। सफेद रंग

का प्रयोजन वस्तुके सदा बने रहनेसे है। वस्तुमें उत्पाद व्यय होने पर भी वस्तु वही रहती है, यह वस्तुकी ध्रुवता है। जिस प्रकार सफेद रंग पर पीला भी चढ़ सकता है, हरा भी, उसी प्रकार वस्तु बनती भी रहती है बिगड़ती भी रहती है, तब भी बनी रहती है। साहित्यमें उत्पादको हरे रंगसे, व्ययको लाल रंगसे और स्थैर्यको सफेद रंगसे ध्वनित किया है। इन पर्यायोंमें मोह मत करो। ये पर्यायें नष्ट हो जाने वाली हैं। अच्छे परिणाम रक्खोगे, अच्छी गति प्राप्त होगी, बुरे परिणामोंसे बुरी गति प्राप्त होती है।

**राष्ट्रपताकाका दूसरा उपदेश यह है कि**—(२) मेरा—आत्माका उद्धार कैसे हो? क्या करें कि इस संसारसे छूट जायें?

आत्माका ज्ञान श्रद्धान और आचरण (क्रिया) हो तभी मोक्ष मिल सकता है। आत्माको अनुभव करना, जानना आत्माका ज्ञान करना है। श्रद्धान यह है कि आत्माका स्वरूप जाननेसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है; और आत्माके अनुरूप आचरण करनेका नाम है आत्माका चारित्र करना।

ध्वजाका पीला रंग सम्यग्दर्शनको बता रहा है। उससे प्रतीति होती है कि मैं शुद्धस्वरूप चैतन्यआत्मा हूं। शुद्ध आत्माकी रुचिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। चारित्रसे आत्मा का विकास होता है, आत्माके गुणोंमें वृद्धि होती है; यह हरा रंग प्रकट कर रहा है। ज्ञान बड़ी स्वच्छताकी चीज है, अतः उसका वर्णन सफेद रंगसे किया जाता है।

जिस राष्ट्रकी छायामें हम बढ़ रहे हैं, वह इस ध्वजा द्वारा इन दो बातोंका उपदेश दे रहा है। तुम उस पथपर चलो तो तुम्हारी इच्छा, न चलो तुम्हारी इच्छा। मैं आत्मा एक वस्तु हूं, आत्माका कल्याण कैसे हो, यह बात करनेपर मानवमें जो मानवीय लक्षण होने चाहियें, वे अपने आप आ जाते हैं। आत्माके अनुसार आचरण करो यही भगवान महावीर स्वामीका उपदेश है।

**सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?**—(अ) तत्त्वार्थमें उन्मुख जो बुद्धि है उसका नाम तो श्रद्धा है। यदि श्रद्धानका नाम ही सम्यग्दर्शन है तो फिर श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय रही या दर्शन की? यदि श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय है तो सम्यक्त्व क्या रहा, सम्यक्त्व किसे कहेंगे? (ब) तत्त्वार्थके विषयमें तन्मयताका नाम रुचि है, वह भी ज्ञानकी अथवा चारित्रकी ही पर्याय है और (स) ऐसा ही स्वरूप है, ऐसा स्वीकार करना, उसका नाम प्रतीति है। प्रतीतिको भी आपने ज्ञानकी ही पर्याय बताया। ऐसी स्थितिमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या रहा?

समाधान—सम्यक्त्वका स्वरूप श्रद्धा रुचि प्रतीति नहीं है, क्योंकि वे तो ज्ञानकी पर्यायें हैं। अतः सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय है। वह ज्ञान द्वारा ही बताया जाता है। श्रद्धा, प्रतीति और रुचि सम्यक्त्वको बतानेके द्वार हैं। श्रद्धा प्रतीति रुचि और क्रियामें सम्यक्त्व,

का सम्यक् लक्षण नहीं है। जिसके द्वारा विपरीत अभिप्राय मिट जाता है, उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे कर्णको इधर-उधर करनेसे नाव घूम जाती है, कर्ण दिशा बदल देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व संसारसमुद्रमें मोक्षरूपी नौकाके कर्ण धारके समान है, मोक्ष नौकाका रास्ता दर्शाता है। संसारमार्गमें जाते हुए प्राणीको, जो कि गलत मार्ग है. संसारमार्गसे हटाकर—सांसारिक काम छुटाकर, मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करानेके लिये सम्यक्त्व दिशा बदलनेका काम देता है। आंख, कान, हाथ पैर वे ही हैं, लेकिन सम्यक्त्व होनेके पश्चात् उनका उपयोग मोक्षमार्गमें होने लगता है। हाथ, पैर, आँख, कान, जीभ व्यवहार मोक्षमार्गके बाह्य साधनोंमें प्रवृत्ति करनेमें सहायक हैं, लेकिन नाकका क्या भला उपयोग है, यह समझमें नहीं आ रहा। नाक तो संसारसें ही नाक रखनेके (प्रतिष्ठा सुखके) उपयोगमें आती है। कदाचित् नाक (प्रतिष्ठा) नाक (स्वर्ग) तक पहुंचा सकती है? (हंसी)

श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ज्ञानकी पर्यायें हैं और क्रिया चारित्रकी। सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर ज्ञान और चारित्र निर्मल हो जाते हैं। जो इन दो गुणोंको निर्मल कर देता है, वही सम्यक्त्वका लक्षण समझ लीजिये। यहाँ शंका होती है तत्त्वोंकी श्रद्धा प्रतीति और तत्त्वोंमें रुचि तो मिथ्यादृष्टिके भी हो जाती है और सम्यग्दृष्टिके भी, तो सम्यग्दृष्टि कैसे पहिचाना जाये? समाधान:—भूतार्थसे जाने गये ये जीवादि सात तत्त्व सम्यग्दर्शनके कारण हैं। तत्त्वोंमें प्रतीति श्रद्धादि होनेपर बोलते जाते हैं, बात समझमें आती जाती है, मगर झक्काटा नहीं हो पाता। अतः श्रद्धादिको सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण कहा है। हां, यदि श्रद्धादि गुण स्वानुभूतिके साथ उत्पन्न होते है तो सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं। अन्यथा—स्वानुभूति न होने पर श्रद्धादि ये श्रद्धाभास, रुच्याभास, प्रतीत्याभास हो जाते हैं। अतः स्वानुभूतिके बिना तत्त्वोंकी श्रद्धा रुचि और प्रतीति भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकते। यदि स्वानुभूति सहित तत्त्वोंकी श्रद्धा प्रतीति रुचि है तो श्रद्धादि गुण श्रद्धा प्रतीति और रुचि ही रहते हैं।

जैसे भगवान्की भक्ति की, लेकिन भगवान्में श्रद्धा नहीं है तो वह सम्यक्त्व नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनकी पहिचान स्वानुभूतिसे है। जिनको भगवान्के गुणोंपर विश्वास होता है, वे भगवान्के गुणोंपर गदगद हो जाते हैं। जैसे लोकमें कोई तुम्हारा मित्र तुम्हारे साथ प्रेमपूर्वक बातें करे, तुम्हारे पास बैठे और तुम्हारे शत्रुके पास भी प्रेमपूर्वक आचरण करे तो उसे पक्का मित्र नहीं कह सकते। जैसे श्रद्धा, प्रतीति आदि सम्यक्त्वके साथ भी रहती और मिथ्यात्वके साथ भी रहती तो श्रद्धा आदिको सम्यक्त्वका लक्षण कैसे कहा जावे? अतः दोनों जगह गुणोंकी समानता नहीं। सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धा आदि गुण सम्यग्दर्शनरूप हैं, और मिथ्यादृष्टि जीवके वही गुण आभासरूप हो जाते हैं। यहाँ पुनः शंका होती है—जब श्रद्धा लक्षण ज्ञानमें घटित हो गया तो फिर वह मिथ्या और सम्यक् कैसे? समाधान—

श्रद्धा और स्वानुभूतिकी समव्याप्ति है। स्वानुभूतिके बिना श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वानुभूति के बिना केवल शास्त्रोंके श्रवणसे जो श्रद्धा है और स्वानुभूति नहीं है, वह श्रद्धा श्रद्धाभास कहलाती है। अतः जो श्रद्धा सम्यक्त्वके साथ है वह सम्यक् श्रद्धा है और जो मिथ्यात्वके साथ है वह मिथ्या श्रद्धा है। भगवान कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—

**मोह मेरा कोई नहीं है, मैं उपयोगमात्र हूं**—मोह विपरीत अभिप्रायसे कर्मोंके उदय से होता है। मोह मेरा स्वभाव नहीं है। रागद्वेष आदि परिणाम मेरेमें आकुलता उत्पन्न करने वाले हैं। मोह मेरा कुछ नहीं लगता, मैं उपयोग मात्र, चैतन्यरूप आत्मा हूं, ऐसा जो अनुभव करता है, उसे स्वानुभूति प्राप्त हो जाती है। वह मोह निर्ममत्व हो जाता है। मोह निर्ममता सम्यग्दर्शनका परिणाम है। लोकमें कहते हैं कि घड़ेको कुम्हारने बनाया, मिट्टीने घड़ेको नहीं बनाया अथवा मिट्टीने घड़ा बनाया, कुम्हारका कोई प्रयोजन नहीं है। यद्यपि घड़ा मिट्टीकी ही दशा है परन्तु बनानेवाला कुम्हार उसके बननेमें कारण है। इसी प्रकार मोहको कर्म हुआते हैं। मोहके हुआनेवाले पुद्गल कर्म हैं। कर्मके द्वारा मोह रचा गया है। मोह मेरा नहीं, मेरा तो टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है। टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावः—अहा यह स्वभाव निश्चल है। स्वभाव बनाना नहीं पड़ता। स्वभाव अनादिसे पूर्ण है। स्वभावके इधर उधर लगे हुए मोहादिको ज्ञानकी टांकीसे अलग करना पड़ता है तो वास्तविक स्वभाव परमात्मत्व अपने आप प्रकट हो जाता है। ज्ञायक स्वभाव बनाना नही पड़ता, वह तो शिलामें स्थित निश्चल मूर्तिकी तरह अनादिसे है, जो कि ज्ञान टांकीसे अपने आप प्रकट हो जाता है वह निश्चल स्वभाव मोहके द्वारा हुवाया नहीं जाता। मोहके भावक कर्म हैं। यदि मोह स्वभावका भावक बन जाये तो मोह मेरा कुछ लगे तो; लेकिन मोह मेरा कुछ लगता नहीं है और न वह स्वभावका भावक ही है। किन्तु जो कुछ यह है, यह सब आत्मा इस ज्ञानस्वभावके द्वारा ही समझमें आता है। यह आत्मा ज्ञानमात्र है। यहांपर 'एतत्' शब्दसे आत्माको बताया गया है, क्योंकि यह आत्मा शुद्ध है। संस्कृतमें प्रत्येक चीज जो अज्ञात है, नपुंसक लिंगसे ही पूछी जाती है, चाहे वह पुल्लिग या स्त्रीलिंग क्यों न हो? प्रश्नका उत्तर किसी भी लिंगमें दिया जा सकता है। जब हम आत्माके बारेमें मध्यस्थ भाव से सोचते हैं तो 'एतत्' शब्द बहुत ऊंचे भावको लिये रहता है। स्वयंके द्वारा स्वयंका आत्मा समझा जा रहा है, मोह द्वारा वह समझमें नहीं आता है। मोह मेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा ही जाननेवाला है और वही ज्ञेय है। यह आत्मा ज्ञान द्वारा जान लेनेमें आता है। ज्ञानशक्तिके द्वारा चित्स्वभावके द्वारा पारिणामिक स्वभाव आत्मा ही समझा जाता है बड़े-बड़े अन्य यत्नोंके द्वारा नहीं, अपितु उसी ध्रुव स्वभावके द्वारा यह भगवान आत्मा समझा जाता है।

**मोह और ज्ञानके स्वरूपमें भेद है, स्वादमें भेद है**—जो मैं एक हूं, वह किसी द्रव्य में नहीं पहुँचता। जब हम संयोग वाली दृष्टिसे देखते हैं, ये द्रव्य एक एकमें प्रविष्ट हुये प्रतीत होते हैं। लोकाकाशका ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ छहों द्रव्य न हों। लोकाकाश के एक प्रदेशपर जातिकी अपेक्षासे छहों द्रव्य पाये जाते हैं। इनका तो परस्परमें साधारण अवगाह है। इस मिलीजुली अवस्थामें दही और शक्करके मिश्रणके समान ये द्रव्य सब एकमेक हो रहे हैं, फिर भी दहीमें बूरा मिलानेपर भी जो स्वाद बनता है, उसमें स्वाद भेद है। इसी प्रकार ये द्रव्य एक दूसरेमें अवस्थित हैं, फिर भी एकका स्वरूप दूसरेमें नहीं पहुँचता है। इस उपयोगकी भूमिमें यह मोह बीज उत्पन्न हो जाता है, लेकिन रागसे स्वभाव भिन्न है। आत्माका स्वरूप चैतन्य है। मोहके स्वभावमें व्याकुलता है और आत्मा के स्वभावमें परमानन्द। हे आत्मन्! तुम चाहे मोहका स्वाद लो, चाहे स्वभावका स्वाद लो, तुम प्रभु हो, समर्थ हो। आत्मारूपी टेबिलपर मोह और स्वभाव दोनों चीजें रक्खी हैं—उठाकर चाहे किसीका स्वाद लो। मोहका स्वाद लेने वाला मिथ्यादृष्टि है, और स्वभावका स्वाद लेने वाला सम्यग्दृष्टि है। मोह जुदा है और स्वभाव जुदा। मान लिया आममें रूप जुदा है, और रस जुदा है—ऐसा अनुभवमें आता है। लेकिन वही पदार्थ रस वाला है वही रूप वाला। जैसे बाजारमें आमका भाव २५ पैसे सेर है तो क्या रूप छोड़कर कोई रसको पंद्रह पैसे सेर दे देगा? अरे रूप तो रससे अलग हो ही नहीं सकता, फिर भी स्वरूप भेद तो है ही।

आत्मामें मान लिया विभाव आ रहा है। उस समय यदि अनुभव करो कि विभाव का स्वभाव भिन्न है और स्वभावका स्वभाव भिन्न है—यह सब मोहको नाश करनेका षड़यन्त्र है, मोहियोंके मिजाजके खिलाफ है। स्वभाव-विभावके स्वादभेदसे मोह छूट सकेगा। हे आत्मन्! तुम कृतकृत्य हो। तुम स्वभाव और विभावमें अन्तर जानलो, बस जो कुछ होना होगा, होगा। जैसे आदिनाथ भगवान् छह माह तक अपनी इच्छासे निराहार रहे और छह माह तक अन्तराय होता गया। यदि भगवान् आहार करनेके लिये उद्दण्डता करते तो उनको आहार मिल जाता, क्योंकि उनके महान् पुण्यका उदय तो था ही। यदि भूख लगी है तो थोड़ी समताकी बात सोच लो तो स्वभावतः भूख कम लगेगी। समता धारण करनेसे भूखका दुःख कम हो जाता है। ज्ञानमें कोई ऐसा बल है, कि वह तत्कालके दुःखको भी कम कर देता है। सर्वदा आत्मा एकत्वमें ही रत है। मोह मेरा नहीं है, पुत्र मेरा नहीं है—यहाँ इस बातकी चर्चा नहीं की गई है, क्योंकि इस की चर्चा करना निम्न कोटिकी बात कहलायेगी। जैसे ज्ञानियोंका दरबार लगा है। सबसे छोटा ज्ञानी द्वारपाल है। पुत्र मेरा नहीं है— यह कहना तो द्वारपालकी बात होगी। भीतर जाकर तो यह बात

सुनाई पड़नी चाहिये कि यह आत्माके परिणाम भी मेरे नहीं हैं। मोह मेरा नहीं है-यह बात समझमें आनी चाहिये। पुत्र मेरा नहीं है—यह बात तो बालगोपाल भी जानते हैं। यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि राग द्वेष मोह परिणाम जो कि आत्मामें उत्पन्न होते हैं, वे भी मेरे नहीं हैं। इस प्रकार जो ज्ञानी भावना भाता है, वह मोहसे निर्ममत्व हो जाता है—ऐसा समयके जानने वाले कहते हैं।

जो जीव मोह और स्वभावमें भेद डालकर स्वभावकी ओर झुकता है, वह मोह-नाशक है। जो मोही स्वाभावकी उपेक्षा करके विभावकी ओर झुकता है, वह मिथ्यादृष्टि है। राग-द्वेष-मोह आदि विभावोंका अभी तक बहुत सम्मान किया है, अब कारणपरमात्मा ध्रुव परमात्माकी ओर झुक। इस चैतन्यमात्र मुझ आत्माको कोई नहीं जानता है, यदि कोई जानता भी होगा, वह स्वयं अपने रूप बन जायेगा, इस चैतन्य आत्मामें दृष्टि नहीं गड़ायेगा। अतः इस संसारके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; संसार कुछ भी करे, मेरेमें विह्वलता नहीं आनी चाहिये। विह्वलता यही है कि यह आत्मा स्वभावकी ओर झुकता नहीं है। लोग प्रायः इसीलिये दुःखी होते हैं कि ये ऐसा क्यों करते हैं? मुझे इस वजहसे खेद नहीं है कि तुम किस तरह चल रहे हो? ये विभाव मेरेमें खेद उत्पन्न करते हैं इसका खेद है। दुनियाँ कैसे भी परिणामें, उस परिणमनमें मेरी कोई हानि नहीं है।

मेरे आत्मामें उत्पन्न होने वाले रागद्वेष मोह परिणाम मेरे कुछ भी नहीं हैं, मैं उन्हें कुछ भी अनुभव नहीं करता हूं। मैं अपने रसके भरे हुए रसको ही चेतन करता हूं, मैं उस चैतन्य भावको अपनेमें ही चेतन करता हूं। मोह मेरा कुछ भी नहीं है। मोह तो औदयिक भाव है। मैं मोह कुछ भी नहीं हूं—सम्यग्दृष्टि अपनेमें ऐसी भावना बनाता है। जिस सम्यक्त्वके होने पर सम्यग्दृष्टि अपनेमें ऐसी भावना बनाता है, उसका लक्षण प्रतीत आदि नहीं है। प्रतीति रुच्यादि बाह्य लक्षण हैं। स्वानुभूतिको अन्तरग लक्षण कहा जा सकता है। स्वात्मानुभूतिकी तरह श्रद्धा आदि भी रूढ़िमें लक्षण बन जाते है।

**सम्यग्दृष्टिके शान्ति, धर्मरुचि, कृपा व आस्तिकता होती है:**—सम्यग्दृष्टि जीवके प्रशमादि गुण भी प्रसिद्ध हैं—ये सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण कहे हैं, क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये मिथ्यादृष्टिके भी पाये जाते हैं। फिर भी सूक्ष्म भेदसे वे भिन्न हैं, सम्यग्दृष्टिके वे यथार्थ हैं, मिथ्यादृष्टिके वे आभास हैं। प्रशमगुण किसे कहते है—पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें मनकी शिथिलताका होना, विषयोंसे मनको हटाना—इसको प्रशमगुण कहते हैं। प्रशमगुणमें सब ओरसे मन शिथिल हो जाता है, क्या खायें, क्या पियें, किसे —आदिकी भी इच्छा नहीं होती है। प्रशमगुणके प्रगट होनेपर अनगिनती कषायोंसे मन

शिथिल हो जाता है। कषाय किसके लिये ? क्यों करना ? आत्मा स्वतन्त्र है, एकाकी है, कषायादि सब असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। ये हमारे ताऊ लगते हैं, ये वे हैं, ये फलाने हैं—इस तरह नाम ले दिये तो इनसे क्या मिल गया ? जड़से कषाय करके क्या उपयोग का जीवन निभ जायेगा ? क्या आत्मीय जीवनको ये धन-सम्पत्तियाँ पूरा कर देंगी ? जब ये भाई बन्धु धन सम्पत्तियाँ आत्मधर्ममें सहायक नहीं हो सकते तो किसके लिये कषाय की जाये ? यह चेतन समागम दु:खसे निकालकर क्या सुखमें पहुँचा देगा ? सम्यग्दृष्टिका मन कषायोंमें शिथिल हो जाता है, लगना नहीं चाहता। धर्मके काम हठ या तत्परता-आसक्तिसे करना-यह भी कषाय है। प्रशम कषायोंकी शान्तिका गुण है-यह गुण सम्यग्दृष्टि जीवका बाह्य लक्षण है।

**प्रशमभाव किसे कहते हैं:**—किसीने अपराध किया, उसपर उसके दुःखके लिये बुद्धि का न होना—इसको प्रशमगुण कहते हैं। किसीने कितना भी बुरा किया हो, सम्यग्दृष्टि उसका बुरा नही विचारता है। 'सुख-दु:ख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दु:खकी खान' सम्यग्दृष्टि यह जानता है। उसके अपराधीके घातका कोई विचार नहीं होता है—इसे प्रशम-गुण कहते हैं। यह प्रशमगुण क्यों होता है ? सम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धी कषायें नहीं रहीं, अतः ये आत्मा बुरा विचारनेवाले जीवके प्रति बुरा विचार नहीं करता है। कितनी ऊंची साधना है सम्यग्दृष्टि जीवकी, तलवार भी लग जाये तब भी कषाय नहीं करता है—यह सम्यग्दृष्टिकी पहिचान है। किसीके तलवार भी लगा दे फिर भी घातदु:ख नहीं विचारता। सम्यग्दृष्टि जीवके अनंतानंत कषायोंका उदयाभाव रहता है, शेष कषायोंका आंशिक उदय रह गया, अतः सम्यग्दृष्टिके प्रशम गुण पैदा होता है। "धर्मीसौं गौ बच्छ प्रीति सम कर जिन धर्म दिपावै।" जिनके प्रशमगुण हो जाता है, उनका मन अपने कल्याणकी ओर प्रवृत्त रहता है। सम्यग्दृष्टि जीवको सत्संगमें प्रसन्नता होती है। जहाँ रागादि हों वहाँ सम्यग्दृष्टिको आकुलता होती है।

यदि दैवयोगसे सम्यग्दृष्टिके आरम्भादि क्रिया भी होती है, मन, वचन, कायकी चेष्टा भी सम्यग्दृष्टि जीवके होती है, तब भी उसके अनंतानुबन्धी नहीं रही, अतः वह क्रिया और चेष्टा चारित्रगुणमें अन्तरंगकी शुद्धिको खराब नहीं कर सकती है। प्रारम्भसे जिन बातोंमें यह जीव रहा, उनका मिटना देरमें होता है, फिर भी ज्ञान होनेपर अन्तरङ्गमें आकुलता नहीं रहती है। जैसे—रस्सीमें सर्पका अनुभव किया तो भय उत्पन्न होता है। थोड़ी देर बाद उसको अच्छी तरह देखनेसे रस्सीमें रस्सीका ज्ञान होने पर अन्तरंगमें स्वस्थता आ जाती है। परन्तु उस रस्सीको सांप समझकर जो घबराहट हुई थी, जिससे

दिल धड़कना हुआ व थकावट हुई । वह अब भी बनी हुई है । रस्सीमें रस्सीका ज्ञान
होते ही शान्ति हो गई । उस घबराहटमें जो कि रस्सीको साँप जाननेमें उत्पन्न हुई थी,
उसकी शारीरिक शाँति कुछ समय बाद ही होगी । लेकिन वह भ्रमके बड़े दुःखसे तो बच
गया । अब उसे आकुलता नहीं है । भ्रम खत्म होनेसे भीतरी महा:दुख खत्म हो गया । इस
प्रकार जीवको परपदार्थके मोहके कारण बड़ा भारी दुःख आ गया था । जरा विवेक
किया, आचार्योंकी भक्ति की याने आचार्योंकी बात मानी, तो समझमें आगया कि परद्रव्य
परही है । मैं अपनेसे चतुष्टयसे हूं, परपदार्थ स्वयंके स्वचतुष्टयसे हैं । मैं परपदार्थोंसे
बिल्कुल भिन्न हूं, परपदार्थ मेरेसे भिन्न हैं । इस प्रकारका ज्ञान होते ही जीवके समस्त
दुःख दूर हो जाते हैं, उसे दुनियांमें कोई भी कार्य करना शेष नहीं रहता है । जैसे मकान
बनाते हैं । मकान तो अपनेसे बनता ही नहीं, हम तो मकान बनानेके भावमात्र कर सकते
हैं । हम दुनियांका कोई कार्य नहीं कर सकते, हमें दुनियांमें कोई काम करना शेष नहीं
रहा है । सम्यग्दृष्टिकी अन्तरङ्गशुद्धिका कभी नाश नहीं होता है । बाह्यशुद्धिके नाश होने
पर यह प्रशम गुण प्रकाशमान रहता है ।

मिथ्यादृष्टिको कभी शांति नहीं मिलती है । जिसे वह शान्ति मानता है, वह
शान्त्याभास है । उसका प्रशमगुण प्रशमाभास है । अज्ञानियोंका भरोसा नहीं भैया ! जैसे
सींगवाले सांडका विश्वास नहीं है, उससे सात हाथ दूरसे चलना पड़ता है, अन्यथा उसके
सींग मारनेका डर रहता है, उसी प्रकार इस मिथ्यादृष्टिका भी कोई विश्वास नहीं है,
उससे बच करके चलना चाहिये । अभी तो भगवान्की भक्तिमें लीन हो, अभी आकर लड़ने
लगे तो बड़ी मुश्किल हो जावे । उसके प्रशमगुण उत्पन्न नहीं होता है । जो वह प्रशम
बनाये रखनेके लक्षण पूजादि करता है वे भी प्रशम नहीं हैं, प्रशमाभास हैं । क्योंकि पूजा
करते समय तो उसका प्रशम है, अभी तेजी भी आ सकती है । सम्यग्दृष्टि चाहे कहीं भी
हो, सभी जगह उसका विश्वास है कि इस जीवके शान्त परिणाम सर्वत्र रहेंगे । अतः उस
का गुण प्रशम है । मिथ्यादृष्टिके साथ प्रशमगुण प्रशमाभास हो जाता है, और सम्यग्दृष्टिके
साथ प्रशमगुण प्रशम ही रहता है । कभी कभी तो सम्यग्दृष्टि भी खतरेमें पड़ जाते हैं ।
द्वीपायनमुनि सम्यग्दृष्टि थे । वे ध्यानमें अवस्थित थे । उनको नागरिकोंने पत्थर मारे ।
कर्मविपाकवश उन्हें यह देख असह्य क्रोध आया । फलतः उनके वामस्कंधसे तैजस पुतला
निकला, और पूरी द्वारिकाको जला डाला । उधर द्वीपायन मुनिका सम्यक्त्व जाता रहा व
खुद भी भस्म हो गये । देखो ऐसे खतरेमें सम्यग्दर्शन नहीं रहता ।

यह सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको चारों ओरसे चैतन्यमात्र अनुभव करता है । मैं अमूर्त
चेतन हूं । कब वह समय आवे कि मेरे स्थैर्यकी परीक्षाके हेतु मेरेपर चारों ओरसे गालियों

की बौछारें पड़ें और मेरे उस समय भी प्रशम गुण ही रहे। जैसे नाईका लड़का बाल बनाना सीखनेके लिये दसों व्यक्तियोंकी तलाश तलाशकर बाल बनाता है। यदि अपने को शिक्षा देने वाले गाली गलोज देने वाले मिलें तो लाभ ही समझो। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्वकी परीक्षा करनेके लिये गाली देने वालोंकी आवश्यकता महसूस करता है। किसी को यदि अनायास ही गाली देने वाला मिल जाता है, तो वह अपना सौभाग्य समझता है, उनका आभार मानता है और अपने प्रशमगुणको बढ़ाता है।

**अब संवेग भावको कहते हैं:**—एक गुण सम्यग्दृष्टिमें होता है संवेग। धर्ममें और धर्मके फलमें अपूर्व उत्साह जगाना संवेग गुण है। जैसे अपने घरके काममें अपना काम समझनेके कारण विशेष चित्त लगता है, इसी तरह सम्यग्दृष्टि धर्मको ही इष्ट कल्याणकारी जानकर उसके फलमें अनुराग करता है। धर्मके अनुरागको ही संवेगगुण कहते है। पंच परमेष्ठीमें, धार्मिक कार्योंमें, पुण्य कार्योंमें अनुराग रखना संवेग है।

सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल स्वरूप है। शुद्ध आत्माका अनुभव करना धर्म कहलाता है। मैं त्यागी हूं, मैं व्रती हूं, अतः मुझे शुद्ध खानेको मिलना चाहिये आदि सम्बन्ध भाव, सो धर्म नहीं है और यह अशुद्ध अनुभव है। भगवन्! अब मैं इन्द्र बना हुआ हूं, आपका अभिषेक करूंगा, पूजा करूंगा, मंत्र बोलूंगा—यह भी अशुद्धका अनुभव है। मैं जीवोंकी रक्षा करता हूं—यह भी अशुद्धका अनुभव है। आज चतुर्दशी है, अतः मुझे उपवास करना चाहिये, मुझे तपस्या करनी चाहिये। यह सब अशुद्धका अनुभव है। परद्रव्यके विचार जितने भी हैं, सब अशुद्धका अनुभव है। शुद्धका अनुभव भी अशुद्ध अनुभव द्वारा ही बताया जायेगा। चैतन्यमात्र आत्माका अनुभव शुद्ध अनुभव है। पर्यायमात्रका अनुभव अशुद्धका अनुभव है। १०५ डिग्रीके बुखारकी अपेक्षा १०० डिग्रीके बुखारवाला स्वस्थ माना जाता है, परन्तु क्या १०० डिग्रीके बुखारवाला व्यक्ति स्वस्थ है? नहीं। यदि यह अनुभव है कि मैं अमुक हूं तो यह अशुद्धका अनुभव है, किन्तु अपेक्षावश किसी अशुद्ध अनुभवको भी शुद्ध अनुभव कहा जाता है।

धर्म सीखनेके लिये बच्चे बनो। जैसे बच्चा अपनी पोजीशनका विशेष ख्याल नहीं करता है। बच्चे धूलमें खेलते, लोटते रहते हैं, परन्तु उन्हें इसका बिल्कुल भी अनुभव नहीं होता है। जितने अंशमें दृष्टान्त हैं उतने अंशमें लेना। नहीं तो बच्चा तो वैसे अपनेसे भी अज्ञानी है। अतः यह अनुभव करो कि यह ढांचा मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्यमात्र आत्मा हूं। किसी भी पर्यायका अनुभव अशुद्ध अनुभव कहलाता है। शुद्धका अनुभव धर्म है, अशुद्धका अनुभव धर्म नहीं है तो इस धर्मका फल क्या मिलता है? सुख आनन्द, जो कि अतीन्द्रिय है; अविनाशी है, स्वभाव कर्मोंके क्षयसे प्रकट होने वाला है, स्वभावका पूर्ण अनुभव उस

धर्मका फल है।

आत्माके गुणोंमें अनुराग होना संवेग है। रत्नत्रयमें अनुराग होना, चैतन्यस्वरूपसे अनुराग होना—संवेग है, धर्म है। गुणोंसे गुणीभी पृथक् नहीं है, अतः इन शरीरधारी धर्मात्माओंके गुणोंमें अनुराग करना भी धर्म ही है, क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना"। अतः धर्मके अनुरागका नाम धर्म है और धर्मके फलमें अनुराग होना भी धर्म ही है। धर्मका अनुराग संवेग है। मिथ्यादृष्टिका संवेगगुण संवेगाभास है और सम्यग्दृष्टिका संवेग संवेग है। अनुरागका अर्थ इच्छा नहीं है। संसारसे डरना और संसारसे निवृत्ति हो जाना भी संवेग है। अधर्मसे निवृत्त होने को अनुराग कहते हैं। और अधर्मके फलसे निवृत्त होनेका नाम भी अनुराग ही है। धर्मके अनुराग को संवेग कहते हैं।

छठे गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। अतः मुनियोंकी नींद ऐसी होती है कि तुम प्रायः पहिचान नहीं कर सकते कि ये सो रहे हैं या जग रहे हैं? शरीर धर्मके कारण मुनियोंकी आँख गिरती अवश्य हैं, परन्तु धर्म अनुरागके कारण उन्हें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नींद आती ही नहीं है। उन्हें संसारसे छूटनेकी फिक्र लगी रहती है। उनका धर्मसे अनुराग और संसारसे वैराग्य इतना पक्का है कि वे आसक्तिसे सोते नहीं हैं। अगर उनको देर तक नींद आजाये तो उनका मुनित्व गया। दर्शनके साथ चारित्रकी बड़ी महिमा है। संसारसे डरनेका नाम भी संवेग है। आत्मधर्ममें आना भी अनुराग है।

इस तरह सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषा भोगोंमें ही निषिद्ध है, इतना ही मत समझना। परन्तु उसे तो मोक्षकी इच्छा भी नहीं होती है। उसका मोक्ष प्राप्त करनेका और शुद्धात्म होनेके लिये यत्न रहता है। निर्विकल्प ध्यानमें इच्छा नहीं होती है, परन्तु यत्न अपने आप ही हो जाता है। उसकी परिणति ऐसी है कि वह धर्म कार्योंमें लगा रहता है। सम्यग्दृष्टि धर्मकी भी इच्छा नहीं करता है, परन्तु धर्मके लिये यत्न स्वयमेव हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके स्वकी अनुकम्पा होती है और सत्य हितसे अनुविधस्त करनेवाली परकी अनुकम्पा होती है। इस अनुकम्पाका कारण आत्मस्वभावकी यथार्थ पहिचान हो जाना है। इसी कारण अन्तरात्माके आस्तिक्यभाव भी सुदृढ़ रहता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं, परपदार्थों से अत्यन्त विभक्त हूँ, उपाधिसे अत्यन्त विविक्त हूं, औपाधिक भाव मेरे स्वभाव नहीं है इत्यादि वस्तु स्वरूपकी प्रतीति अडिग रहती है।

आचार्य ३६ वीं गाथामें कह रहे हैं कि मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो उपयोगमात्र हूं। जैसे ३६में ३ और ६ इन दोनों अङ्कोंका मुंह अलग अलग है, इसी प्रकार इस गाथामें बताया गया है कि मोह और ज्ञानका स्वरूप अलग-अलग है। जैसे ३ और ६ एक दूसरेको पीठ वता रहे है ऐसे ही मोह और ज्ञान एक दूसरेको पीठ बता रहे हैं। मोहके राज्यमें ज्ञा।

का तिरस्कार रहा तो अब ज्ञानके राज्यमें मोहकी मिट्टी पलीत हो रही है। जैसे सम्यग्दृष्टि ने मोहके निषेधमें यह भाव किया, इसी प्रकार अन्य भावके सम्बन्धमें भी लगा लेना चाहिये कि रागद्वेष मेरा कुछ नहीं है। राग आत्माके चारित्र गुणका विकार है। जैसे यह अंगुली है। एक मुक्का लगानेसे टेढ़ी हो गई। टेढ़ी होना यह अंगुलीकी ही पर्याय है, मुक्केकी टेढ़ी होना पर्याय नहीं है। हां अंगुली टेढ़ी होनेमें मुक्का निमित्त है। इसी प्रकार राग आत्माके चारित्र गुणकी परिणति है। रागादिके उत्पन्न होनेमें पुद्गल कर्म तो निमित्तमात्र हैं। मैं उपयोगमात्र हूं, राग मेरा नहीं है। राग आत्माके निमित्तसे नहीं होता है। जैसे एक सिनेमाके पर्देपर रीलके फोटोका आकार आ जाता है। वे आकार रीलकी परिणति नहीं हैं—पर्दा ही परिणति है फिर भी पर्दाके स्वभावसे नहीं। रील तो उस आकारके आनेमें निमित्त है। यदि पर्दाके अन्दर फोटो होते तो बिना रीलके भी आजाने चाहियें। इसी प्रकार आत्माके भीतर रागादि विभाव नहीं होते। यदि रागादि विभाव आत्माका स्वभाव होता तो सबके बराबर बराबर राग रहना चाहिये। कर्मके बिना राग नहीं होता है, अतः राग आत्माका स्वभाव नहीं हैं। जो आत्माका स्वभाव नहीं होता है, वह मेरा नहीं है। स्वभाव की दृष्टि करनेपर रागद्वेष मेरे नहीं हैं। मैं राग नहीं हूं, मैं तो उपयोगमात्र, चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं। द्वेष क्या है? द्वेष भी तो आत्माके लिये अहितरूप है। इसने सदा आत्माके साथ रहकर धोखा किया—बुरा किया। द्वेष कल्पना है। वास्तवमें वह कल्पना अशुद्धोपयोग है। मैं अशुद्धोपयोग नहीं हूँ। जिसके निमित्तसे कर्म उत्पन्न हुए वह भी मेरा नहीं है।

गुस्सा पुद्गलके निमित्तसे होता है, अतः गुस्सा करना मेरा स्वभाव नहीं है। मान करना, मायाचारी करना, लोभ करना—ये चारों कषाय भी मेरा स्वभाव नहीं। लेकिन इस अमूर्त आत्माने कषाय करना ही अपना रोजगार समझ रक्खा है, उसने यही अपना काम समझा है। परन्तु है वह ज्ञानमात्र, उसमें रूप नहीं है। लेकिन आत्माकी परिणतियाँ मेरा नहीं हैं। यदि कोई गृहस्थ ज्ञानी कहे कि यह शरीर मेरा नहीं है, तो उसका कोई हाथ मरोड़ दे और कहे कि कहो कि शरीर मेरा है। हाथ मरोड़नेके दुःखके कारण वह बाह्य मनसे कह देगा, हाँ भाई शरीर मेरा ही है। परन्तु उसके अन्तरंगमें यही है कि शरीर मेरा नहीं है। वह भीतरी मनसे नहीं कहेगा कि शरीर मेरा है। शरीर बिना आत्मा है—इतने यह पता न हो, इतने कल्याण नहीं हो सकता है।

पर-घरकी बातें न सोचो, आत्माकी ओर विशेष ध्यान लगाओ—तभी तो आत्मानुभव हो सकता है। जैसे किसीको भाषण देना सीखना है, उसको ८–१० साल पहलेसे सीखना पड़ता है। थोड़ेसे लाभके लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है? उसी प्रकार यह अनुभव कि शरीर बिना भी आत्मा रह सकता है—मोह छूटनेसे हो सकता है, एतदर्थ भाव-

नात्मक पुरुषार्थ करो। यह शरीर भी मेरा नहीं है, ये पौद्गलिक कर्म भी मेरे नहीं हैं, यह मन भी मेरा नहीं है, यह बार-बार उठने वाली कल्पना भी मेरी नहीं है। मैं तो उपयोग मात्र हूँ, चैतन्य मेरा स्वभाव है। अपनी बात पर न अड़ना (हठ न करना) निर्मलता बिना नहीं हो सकता है। अतः निर्मल परिरणामोंको बनानेके लिये किसी बातकी अटक (हठ) नहीं होनी चाहिये, वही तो बड़प्पन है। जिसकी बातकी अड़ भी नहीं मिटी तो उसने क्या धर्म किया ? भले ही तुमने धर्म खूब किया हो, लेकिन अवसरपर (परीक्षामें) नम्बर तो शून्य ही आया। आज ऐसा ही होना चाहिये, मैं तो लड्डू ही खाऊंगा—यह अड़ कहलाती है। अब इसके लिये करो संक्लेश नाना और दुःखी करो औरोंको झड़प झड़पकर। बात की जड़ जब तक नहीं गई, तो धर्म क्या हुआ ? मनकी अड़, वचनकी अड़, कायकी अड़ ये सब निरर्थक हठ हैं। ये हठें सभी खराब हैं। अड़ मिथ्या भाव है। इतना सरल रहना चाहिये कि उन भावोंको बदल देवे। बाजे बाजे व्यक्ति तो मन्दिरमें भगवान्‌की साक्षीमें शपथ लेते हैं कि भगवन् आजसे हम अमुकचन्द्रसे नहीं बोलेंगे। ये मिथ्यात्वभाव नहीं तो और क्या है ? इन प्रतिज्ञाओंको जल्दीसे तोड़ देना चाहिये। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए कि नाथ ! अज्ञानावस्थामें मैंने ऐसा कह दिया था, अतः मैं अपने वचन वापिस लेता हूं।

मन-वचन-काय-इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय-इन्द्रियोंका विचार—ये सब मेरे नहीं हैं, धन मकानका तो कहना ही क्या, ये तो मेरे कभी हो ही नहीं सकते। इस प्रकार आत्माके जितने भी विभाव हैं, सबके प्रति सोचे। इस तरह सोचनेसे यह जीव इच्छा मात्र की इच्छा ही नहीं करेगा। इच्छा न करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। मोक्षकी चाह करने पर मोक्षका भी रास्ता बन्द रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षके मार्गपर चलता है, परन्तु रटन (इच्छा) नहीं करता है। उसका सहज वैराग्य है, प्रयत्न करता है, परन्तु चाह नहीं रखता है। "बिन माँगे मोती मिलै, माँगे मिलै न भीख" इत्यनुसारेण क्या चाहनेसे मोक्ष मिल जायेगा ?

रोटीखाना जिनका प्रतिदिनका काम है तो क्या वह प्रत्येक ग्रास लेते समय इच्छा करता है कि अब मैं टुकड़ा तोड़ता हूं, दाल साग लगाता हूं, अब मुंहमें देता हूं, अभी मुंह में नहीं देता——ये कार्य तो बिना इच्छा किये अनायास ही हो जाते हैं। ये कार्य तो रोज-आनाके हैं। इसी तरह सम्यग्दृष्टि भी मोक्षकी इच्छा नहीं करता है, मोक्षके मार्गपर चलने का उसका प्रतिदिनका प्रयास है। वह प्रयास करता जाता है, कामनायें नहीं बनाता, न इच्छा ही रखता है। यह संसार गोरखधंधा है, जरा जान लिया कि इससे इस तरह निकला जाता है, बस, जरा आत्मापर दृष्टि दी और संसारसे निकल गये। किसी जीवमें तो अभि-

लाषा न होनेपर, कारणके न मिलनेपर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती है। किन्हीं जीवोंके चाह नहीं है और कारण मिलनेपर इष्टकी सिद्धि हो जाती है। अतः चाह क्यों की जाये ? यत्न करना श्रेष्ठ है, चाह न करो। चाहसे किसी चीजकी प्राप्ति नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी सुखकी इच्छा नहीं करता है। यहाँ तक कि मोक्षकी भी उसे चाह नहीं है।

सारा जगत् यशकी इच्छा करता है, सम्पत्तिकी चाह करता है। परन्तु पुण्योदय न हो तो सर्व पदार्थोंकी इच्छा करते रहनेपर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती है। बुढ़ापा, मृत्यु, बीमारी, गरीबी, दुःख, वियोग, अनिष्ट संयोगको कोई नहीं चाहता है, परन्तु पापोदयके कारण बिना चाहे भी ये व्याधियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। अतः चाहनेसे प्राप्ति और न चाहनेसे अप्राप्ति कैसे हो सकती है ?

**सम्यग्दृष्टिके संवेग गुणका वर्णन करते हैं:—** धर्मसे अनुराग करना और धर्मके फल में अनुराग करना संवेग गुण है। अशुभसे निवृत्तिका नाम भी सवेग है। अशुभसे निवृत्ति होनेपर वास्तविक स्वभावका विकास होता है, और अशुभ कार्योंमें निवृत्ति (अनिच्छा) होती है। संवेग कहो या निर्वेद कहो, एक ही बात है। संवेग = धर्मसे अनुरागका द्योतक है; और निर्वेद = विषयभोगोंकी अनिच्छाको बतलाता है। अर्थात् समस्त अभिलाषाओंके त्यागको निर्वेद कहते है। इस संसारमें अपन सब ये जन्मते-मरते रहते हैं, अतः किसकी चाह करें ? समस्त अभिलाषाओंका त्याग और धर्मसे अनुराग एक ही बात है। जिस की मोक्षमें इच्छा नहीं है और उसका मोक्षमार्गमें प्रयत्न जारी है, वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है। नीले कपड़ेमे जैसे केशरका रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार इच्छासे मलिन आत्मामें धर्मका अनुराग नहीं चढ़ सकता है। अपनी जिन्दगीमें कोई एक बड़ा उत्सव करा दिया और ३६४ दिन कुछ नहीं किया तो कुछ नहीं किया। एक गरीब आदमी आधा पेट रोटी खाकर धर्म करता है, वह धर्मलाभ ले लेता है। धर्मका माप धनसे नहीं होता, धर्मका माप ज्ञानसे होता है। जो ज्ञानके मार्गमें आकर धर्म-सेवन करता है, वही धर्मका फल भोगता है। धनका धर्म तो "आज नकद कल उधार है।" अर्थात् आज धन खर्च करके धर्म करो, जाओ उसका फल उधार है, कल मिलेगा। और ज्ञानके धर्मको आज करो तो तुरन्त ही फल मिलेगा; उधारका काम नहीं है। एक गरीब कोई स्वरूप ज्ञान कर रहा है, भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही फल पा लेता है। अतः धर्मका फल ज्ञानसे ही मिलता है। ज्ञानी जीव धर्ममें ही खर्च करता है और यश लोलुपी धर्ममें भी खर्च करे तब भी उसके फलको नहीं प्राप्त कर सकता है। भावनाका हेर फेर है। मिथ्यादृष्टिके धर्म करते समय भी रागादि परिणाम रहते हैं। अतः उसका क्रिया रूप धर्म भी अधर्म ही है। विभावके परिणमनको अपनाना ही अधर्म है। विभाव परिणामोंकी पकड़े रहते तुम्हारा पूजा पाठ करना

सब व्यर्थ है। बहुतसे लोग नाच-नाचके पूजा करते है, वे बाजे बजा बजाकर पूजा क्यों न करने लगें ? यदि रागादि युक्त परिणाम हैं, वह धर्मके फलको नहीं पा सकता है।

संवेग भावना जिसके उत्पन्न हो जाती है— उसके किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं होती है। मिथ्यादृष्टिके रागपरिणाम एक क्षणको भी नहीं छूटते हैं। सम्यग्दृष्टि सदा वीतराग रहता है। सम्यक्त्वको धारण करने वाले जीवके किसीसे राग-द्वेष नहीं होता है। वह प्रतीक्षा करता है कि इन भोजनादिकोंसे भी किस दिन मेरा राग छूट जावे, और मुझे भोजन न करना पड़े। धर्मके अनुरागके लिये सदा सादा भोजन करो। धर्मके मार्गमें अपने को तथा दूसरेको उत्साहित करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव भोजनको बड़ा कष्टकर समझ-कर भोजन करता है। वह खुशीपूर्वक भोजन भी नहीं करता है— रसगुल्ले, जलेबी आदि तो उसे भायेंगे कैसे ? सात्विक भोजनमें ही वह आसक्ति नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी ऐसी दृष्टि स्वभावतः बन जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी राग परिणत नहीं होता है।

रागद्वेष मोह मेरा नहीं है, जिनके यह प्रतीति है, उनमें संवेग भावना उत्पन्न होती है। देखो अकलंक और निष्कलंकने धर्मके नामपर कितना अपूर्व बलिदान किया था ? निष्कलंकने धर्मके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी और अकलंकने भी उसके वियोगकी कितनी बड़ी विपत्ति सही ? जिनके व्यवहारमें इतना बल है उनके अन्तरङ्ग मोक्ष मार्गमें भी बल संभव है। ज्ञानकी बातके बिना धर्म तिलरत्ती भी नहीं है। ज्ञानका सर्वत्र प्रचार हो यही धर्मप्रभावना है। सम्यग्दृष्टि सदा ही वीतराग होता है। अब सम्यग्दृष्टिकी दयाका वर्णन करेंगे। जिस सम्यक्त्वके होनेपर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये चार गुण प्रकट होते है उस सम्यक्त्व परिणतिमें जीवका निर्ममत्व भाव होता है। उसमेसे अनुकम्पागुणका वर्णन करते है:—

**अनुकम्पा अनुकम्पनको कहते हैं**—जिसमें निजका हित हो उसके अनुसार क्रियाके यत्नको निजकी अनुकम्पा कहते है और जिससे परका हित हो उसके अनुसार क्रियाके यत्न को परकी अनुकम्पा कहते है।

अनुकम्पा माने दया भाव। अपनेमें जो मैत्री या मध्यस्थभाव या शल्यरहितता होती है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। इन चारों गुणोंमें अन्य प्रकरणोंका सम्बन्ध मिलाया जाये तो—प्रशम भाव होने पर मैत्री प्रकट होती है। संवेग गुण होनेपर प्रमोद होता है, अनु-कम्पा होने पर कारुण्य होता है, आस्तिक्य हो तो माध्यस्थ भाव रहता है। जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसी प्रतीति हो तो माध्यस्थभाव रहता है। इसी प्रकार इन चारों गुणोंका सम्बन्ध कषायोंसे इस प्रकार जोड़ सकते है—क्रोध कषाय कम होते ही प्रशमगुण पैदा होता

है। मानकषायके दूर होनेपर संवेग भाव प्रकट होता है। माया (छल कपट) के खत्म होने पर दया उत्पन्न होती है। छली, कपटी व्यक्ति बहुत क्रूर होते है। घात करने वाला छली ही होता है। छल कपटके दूर होनेपर अनुकम्पा उत्पन्न होती है। लोभ कषायके नाश होनेपर आस्तिक्यभाव उत्पन्न होता है। लोभकषाय होनेपर यथार्थ बात नहीं सूझ सकती है। मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ एवं क्रोध मान माया लोभसे इन चारों गुणोंका विध्यात्मक व प्रतिषेधात्मक सम्बन्ध है।

अनुग्रहबुद्धि होनेको अनुकम्पा कहते हैं। वह हृदय धन्य है, जो किसीका बुरा न सोचे, ऐसे परिणामोंको मैत्रीभाव कहते हैं। दूसरेका बुरा सोचनेसे अधिक पतित अवस्था हो सकती है। चाहे लड़ लो, किन्तु किसी का बुरा तो न विचारो। जैसे न्यायके लिये रामने रावणसे युद्ध किया था, लेकिन रावणका उन्होंने बुरा नहीं सोचा था। वे तो चाहते थे कि रावण सीताको लौटा दे, चाहे लड़कर, चाहे शान्तिसे। हठी होनेके कारण रावण मारा गया। स्वयंभूरमण समुद्रमें जो महामच्छ होता है, वह तो छट्ठे नरकमें जाता है, लेकिन उसके कानमें होने वाला तुमुल मच्छ सातवें नरकमें जाता है, क्योंकि वह कानमें बैठा-बैठा सोचता है कि यदि मैं इतना बड़ा म ामच्छ जितना) होता तो सारे जीवोंको एक साथ पेटमें रख लेता, इस प्रकार उसकी तीव्र कषाय होनेसे बड़े भारी कर्मका बन्ध होता है। इतनी बड़ी अवगाहना सुनकर विस्मय नहीं करना। यह बात इसलिये सत्य है कि असंख्यात द्वीप समुद्रोंका जितना परिमाण होता है, उससे भी कही अधिक परिमाणवाले स्वयम्भूरमण समुद्रमें यह महामत्स्य होता है। यह माता-पिताके गर्भसे पैदा नही होता है, सम्मूर्च्छन जन्मसे पैदा होता है। दूसरेका बुरा विचारना बड़ा अनर्थकारी है। कोई अपना अहित भी सोचता हो, अपनेपर उपद्रव भी करता हो तब भी दूसरेका बुरा न विचारो। सर्व प्राणियोंको सुख शान्ति मिले. ऐसी चेष्टोन्मुख बुद्धिका होना अनुकम्पा भाव है। यह बुद्धि सम्यग्दृष्टि जीवके होती है। क्योंकि:—

उस अनुग्रहके होनेमें दर्शनमोहनीयका अनुदय हेतु है। व्यामोह न हो तो दया होती है। दर्शनमोहजन्य मिथ्यामोहके बिना शत्रुता नहीं होती है। जब तक मिथ्यात्वकर्म रहता है, तब तक ही यह विभाव बनता। जिसने स्वरूपका बोध कर लिया और जिसको ज्ञा हो गया है, उसको दया उत्पन्न होगी कि इसका (मोहीका) अज्ञान नष्ट हो जाये। जो सवसम्पन्न व्यक्ति है, उनको गरीबोंके प्रति ऐसी दया उत्पन्न होती है कि इसके पास कपड़ा नहीं है, इसे कपड़ा दे दो; यह भूखा है, इसे भोजन करा दिया जाये आदि। कोई व्यक्ति जैसे मर रहा है, अर्थात् अधिक बीमार है। उसके पास खड़े हुए भिन्न-भिन्न वर्गके व्यक्तियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी दया उत्पन्न होती है। आत्मबुद्धि वालोंको उसकी आत्मापर दया आती है।

वह यही चाहेगा कि किसी तरहसे इसकी आत्माका कल्याण हो जाये, स्व परस्वरूपका यथार्थ बोध हो जावे। पर्यायबुद्धि रखनेवाला उसके शरीरपर दया करेगा। उनमें उसके कल्याण की चाह करनेवाला श्रेष्ठ है। यदि तुम मरनेवाले व्यक्तिमें मोह उत्पन्न करोगे तो वह कुछ तो यहीं मर रहा, कुछ उसका परभाव भी बिगड़ जायेगा। परिवारके व्यक्तियोंने अभी तक अपना क्या किया ? सिवाय मोह उत्पन्न करनेके। जिससे विवादभाव पैदा न हो निर्मल भाव बढ़ें, ऐसा सत्संग किसीको नहीं रुचता। अरे, सबसे पहले अपनी आत्मापर दया करनी चाहिये।

भैया ! गावोंमें प्रायः बूढ़ोंपर सब कोई विश्वास करता है। एक साग बेचने वाला गांवमें आ गया। सभी वहांपर साग खरीदनेके लिये पहुँचे, वहांपर एक बूढ़ा भी पहुंचा। सभीने उससे कहा कि हमारा भी साग खरीद दो, हमारा भी खरीद दो। बूढ़ेने एक-एक करके सबका साग खरीद दिया। सबके साग लेनेपर साग वालेके पास नीचेका खराब साग बचा, तो बूढ़ेने अपना भी साग खरीदा। घरपर बूढ़ेराम साग लेकर पहुँचे, चारों ओरसे गालियोंकी बौछारें आने लगीं कि इतना रद्दी साग क्यों लाये. इसे कौन खायेगा ? तुम्हारेपर साग भी देखकर नहीं लाना आता—आदि आदि। बतावो भैया ! उसे क्या करना था ? अपना साग लेनेके बाद सबको साग लिवाता। पहले अपनेपर दया करो। वास्तवमें तो जो कोई दया कर पाता है, वह अपनी ही कर पाता है। कोई दूसरा अपनेसे दूसरेपर दया कर ही नहीं सकता। जिसके मिथ्याज्ञान होता है, वह सशल्य है। दूसरेको मारनेकी इच्छा करता हुआ भी खुदको ही मारता है। कर्म किसीकी लिहाज नहीं करते, अपराध किया और कर्म बंधे।

सर्व प्राणियोंके प्रति समता भावका होना, यह तो दूसरोंके प्रति दया है; शल्यका त्याग कर देना, अपनी दया है। अपनी शल्यको मेटनेके लिये दूसरेसे क्षमा मांगी जाती है। जैसे लोकमें अपने शल्यको मेटनेके लिये दूसरेसे कहा जाता है कि हमारेसे गलती हो गई, अपने मनमें शल्य न रखना। यदि तुम्हारे मनमें यह अनुभव हो जाये कि उसकी शल्य मिट गई है, चाहे मिटी भी न हो, तो भी तुम्हें सुख मिलेगा और चाहे उसकी शल्य मिट गई हो, लेकिन तुम सोच रहे कि इसकी शल्य अभी नहीं मिटी है, तो तुम्हारे मनमें शल्य बनी रहेगी और दुःख होता रहेगा कि वह क्या सोचता होगा, हमसे यह भूल हो गई। अतः दूसरेसे अपराधकी क्षमा मांगकर अपनी शल्य मिटाई जाती है। अतः शल्यका मनसे मिटने का नाम अपनी दया है। प्राणियोंपर दयाभाव रखना परदया है। अपनेमें रागादि भाव मत लाओ, यह अपनी अनुकम्पा है। दया दो प्रकारकी होती है:—(१) स्वदया और (२) परदया।

जीवोंकी अहिंसा ही दया है। अहिंसा ही परमात्मा है। वह परमात्मा वहाँ रहता है, जहाँ भाव-आरम्भ और भाव-परिग्रह नहीं है। और जहाँ लेशमात्र भी भाव आरम्भ और भाव परिग्रह है, वहाँ अहिंसा नहीं है। हे भगवन् ! आपने अहिंसाकी सिद्धिके लिये दोनों प्रकारके (बाह्य और अन्तरंग) आरम्भ और परिग्रहको छोड़ दिया है, अतः आप बड़े दयावान हैं। अतः रागादि परिणामोंका न होना यथार्थ अनुकम्पा है।

अब आस्तिक्य गुणको कहते हैं—जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही समझना, सो आस्तिक्य है। जो पदार्थ जैसा है, वैसा समझना आस्तिक्य है। जैसा मैं हूं, वैसा विश्वास होना आस्तिक्य है। अन्य लोग कहते हैं, "नास्तिको वेदनिन्दकः।" सो भैया यह सही भी इस तरह है कि वेद है ज्ञान। जो ज्ञानकी निन्दा करे, ज्ञानको ठीक न समझे, वह नास्तिक है। जो पदार्थके स्वरूपमें, धर्मके स्वरूपमें, धर्मके फलमें, धर्मके कारणोंमें निश्चय रखता है, उसे आस्तिक्य कहते हैं।

प्रश्न—आस्तिक्यमें क्या भाव या लक्षण होते हैं कि उसे आस्तिक समझा जाये ?

उत्तर—जो स्वतःसिद्ध है, चेतन है, वह जीव नामक पदार्थ है। जो अचेतन पदार्थ है, वे अजीव नामक पदार्थ हैं। पहले तो अपनेसे न्यारा इस शरीरको जाने। सभी लोग शरीरसे न्यारा अपनेको नहीं समझते हैं। कुछ दार्शनिक बन्धु कहते हैं कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। यह सारा संसार ब्रह्ममय है, और उसकी नाना परिणतियां ब्रह्मका विकार हैं। परमहंस जो होते हैं, उनका चित्त संसारके इन पदार्थोंमें नहीं लगता है। वे जहां चाहे खाते, जहां चाहे बैठ जाते हैं। जैसा मिलता है, वैसा खा पी लेते हैं। जैसा उनके पास कपड़ा हो, वैसा पहन लेते हैं, कोई नग्न रहते हैं। परमहंसपद सोचनेसे नहीं मिलता है। वह तो सहज वैराग्य और ज्ञानकी बात है। सभी जीव समान हैं ऐसा ज्ञान वैराग्यका हेतु होता है किन्तु स्वरूप यथार्थ समझे बिना समानता ज्ञात नहीं होती। पहले तो यह जानना कि शरीरसे न्यारा जीव है। फिर यह जानना कि कर्मसे भिन्न यह आत्मा है। किसी चीज में निजी स्वभावमें भेद नहीं पड़ता है और भेद पड़ा तो कोई उपाधि निमित्त है। वह कोई न कोई चीज तो है उसीका नाम 'कर्म' है। उन कर्मोंका क्षय हो जाये तो मोक्ष हो जाता है। जब तक कर्म आत्मामें चिपके हैं, तब जीव उन कर्मोंका कर्ता है और भोक्ता है। जीव के साथ कर्म लगे हैं। जिनके साथ कर्म लगे हैं वे संसारी हैं।

आस्रव और बन्धके दो भेद हैं—पुण्यास्रव, पुण्यबन्ध (२) पापास्रव और पापबन्ध। पुण्य और पाप—ये दोनों ही जीवरूप भी है, कर्मरूप भी हैं। पापके उदयसे बुरी बातें होती हैं और पुण्यके उदयसे साताका संग मिलता है। पुण्यके उदयमें प्रतिष्ठा आदि भी बढ़ जाती है। लेकिन पुण्यका उदय भी आकुलता रूप पड़ता है। पुण्य और पाप—दोनोंके उदय

में आकुलता ही रहती है। अतः पुण्य कर्मको भी आस्रव और बंधका भेद बताया है। आस्रव और बन्ध संसारमें भ्रमण करानेमें सहायक है। पुण्यको संवर और निर्जराका भेद नहीं बताया है, क्योंकि संवर निर्जरा मोक्षके कारण होते हैं, पुण्य है संसारका कारण। पुण्य और पाप आस्रव और बन्धके भेद है, ये सब अहित है, हित चैतन्यमात्र मैं स्वयं हूं, ऐसी श्रद्धा आस्तिक जीवमें होती है।

पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा तो बंध और मोक्षका विकल्प भी संसारके कारण हैं। द्रव्यार्थिकनयसे सभी जीव शुद्ध है। यदि अशुद्ध भी द्रव्यका स्वभाव हो जाये तो वह अशुद्धता उसमें बनी रहनी चाहिये, अनन्तकाल तक मिटनी नहीं चाहिये। अतः जीव कभी शुद्ध नहीं हो सकता है, यह दोष उपस्थित हो जायेगा। जैसे काले रंगका स्वभाव काला है, उसको जिंदगी भर धोते रहो लेकिन वह अपनी कालिमा नहीं छोड़ सकता है।

कोयलेका भी कालापन मिट जाता है, क्योंकि कालिमा उसका स्वभाव नहीं है। कोयलेको तेज आगमें डाल दो तो वह भी जलकर बिल्कुल सफेद राख बन जाता है। जब कोयला भी जलकर सफेद हो जाता है तो क्या यह आत्मा जिसपर पापकी कालिमा पुत गई है, सफेद (स्वच्छ) नहीं हो सकता है ? क्यों नहीं, कोयलेकी तरह उसमें भी ज्ञान-ध्यान और तपकी आग लगा दो वह भी तपसे तपकर स्वच्छ हो जायेगा। जब कोयला भी जलकर सफेद हो गया तो पापलिप्त यह आत्मा भी तपोवह्निसे अवश्य शुद्ध हो सकता है।

आस्तिक्य होनेपर आस्तिक कहता है कि मोह मेरा नहीं है। उन सातों तत्त्वोंमें अपने ही प्रत्यक्षका विषय जो चैतन्यात्मक स्वभाव है, वही मैं हूँ। मैं उपादेय हूँ। मुझ आत्मासे भिन्न जो पौद्गलिक रागादिक हैं, वे सब पर है। पर हेय है। यदि कोई किसी को मारे पीटे तो ठुकने वाला अपना शरीर कड़ा कर लेता है और अपना उपयोग भीतर की ओर दे लेता है, तो उससे कम चोट लगती है। यदि कोई अचानक ही एक घूंसा जमा दे तो चोट अधिक लगती है। इसी प्रकार ये रागादिक मुक्का है, ये आत्मा तक अपना वार न कर पायें—इसीके लिये ज्ञान द्वारा आत्मस्वभावमें लगो। अन्तर्दृष्टि इतनी दृढ़ बनालो कि रागादिका प्रहार इसपर न हो सके।

निश्चय और व्यवहारनयके द्वारा जो जैसे पदार्थ है, उनमें वैसा ही श्रद्धान करना आस्तिक्य भाव है। व्यवहारकी बात भी व्यवहारके रूपमें व्यवहार जैसी माने, यह भी आस्तिक्य है। पर्यायका भी ज्ञान होवे, वह ज्ञान भी ज्ञान है। यदि पर्यायका ज्ञान न होवे तो सच्ची श्रद्धा नहीं है। पर्याय को जानो, उसके साथ त्रैकालिक स्वभावको भी जानो, वह आस्तिक्य भाव है और सही ज्ञान है।

शुद्धसत्ताक चैतन्यस्वभावमय निजतत्त्वका अनुभवी पुरुष मोहभावसे निर्मम हो

जाता है, सो वह केवल मोहभावसे ही निर्मम नहीं होता है किन्तु राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन आदि सर्व भावान्तरोंसे निर्मम हो जाता है।

**जीवकी गलतियां मिथ्यात्व भावके लिये दो प्रकारसे होती हैं**--(१) ज्ञेय पदार्थोंसे अपनेको न्यारा न मान पाना और (२) अपने विभावोंसे अपने को न्यारा न समझ सकना ये दो गलतियां मिथ्यात्वभावकी पोषक हैं। इनमें पहली गलतीको ज्ञेयज्ञायकशंकर और दूसरी गलतीको भाव्यभावकशंकर कहते है। ३६ वीं गाथामें भाव्यभावक शंकरको मिटाने के लिये वर्णन था। मोह मेरा कुछ नही है, मैं तो अपने चैतन्य स्वभावका संचेतन करता हूँ। मैं मोह नहीं हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। इसी प्रकार रागादिके साथ भी लगा लेना चाहिए कि रागादि मेरा कुछ नहीं है आदि। मन-वचन-कायकी चेष्टाओंसे काम, क्रोध, मद, मोह लोभ, भय—इन आत्माके षड् रिपुओंसे अपने को न्यारा समझे। इस प्रकार भाव्यभावक शंकरसे अपनेको न्यारा समझकर विवेक उत्पन्न करे।

अब ज्ञेय पदार्थोंको जानकर उनके प्रति अथवा ज्ञानविकल्पके प्रति या ज्ञेयाकार विकल्पके प्रति जो ममत्व परिणाम हो जाया करता है उसका विप्रतिषेध करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते है—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धमणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

मेरे धर्मादि द्रव्य कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूं ऐसा जो समझता है उसे तत्त्वज्ञ ऋषि धर्मादिनिर्मम कहते हैं। धर्म अधर्म द्रव्यादि मेरे कुछ भी नहीं है। मैं एक उपयोग मात्र हूँ। जैसे पुस्तक जानी, वहाँ पुस्तक तो जानी किन्तु पुस्तक मैं नहीं हूँ। वैसे ही जो बात भी विचारे, वही मेरा नहीं है। धर्म द्रव्यादि भी मेरे नही है। यहाँ शंका की जा सकती है कि धर्मादि द्रव्य दिखाई तक तो देते नहीं, न कोई अपना ही मानता है, ये तो अमूर्त द्रव्य है, इनकी पहिचान करना ही कठिन है। यदि इनका ज्ञान भी कर लिया तो धम अधर्म द्रव्यको मेरा है, ऐसा कोई भी नहीं विचारता है। फिर यह क्यों कहते कि धर्मादि द्रव्य मेरे नहीं है।

समाधान—धर्मद्रव्य निश्चल है, लोकाकाशमें सर्वत्र व्याप्त है, असंख्यातप्रदेशी है, धर्मद्रव्यका इस प्रकार विकल्प तो हुआ ना? धर्मद्रव्यका जो विकल्प हुआ, उस विकल्परूप अपनेको समझना, अपनेको उससे न्यारा न जान पाना, यही धर्मद्रव्यको अपनाना हुआ। बहुतसे जीव धर्मद्रव्यको जान करके उसके विकल्पसे अपनेको न्यारा नही समझ पाते है, उस विकल्परूप अपनेको मान लेते है, यही धर्मास्तिकायका अपनाना है। जैसे केला बेचने

वालेको लोग केला ! रिक्शा चलानेवालेको 'रिक्शा' सम्बोधन करके बुलाते हैं, उसी प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य–इन अमूर्त वस्तुओंको जाननेका जो विकल्प है, वह भी धर्मास्तिकाय है। उस विकल्परूप ही इस जीवकी बुद्धि हो रही है। विकल्पको अपनानेके स्व माननेके कारण जीव धर्मास्तिकायको भी अपना रहा है। जो जाना, उसी जानन रूप मैं हूं, इससे भिन्न मैं नहीं हूं–यही तो उस पदार्थको अपनाना है। जैसे धर्मास्तिकाय जानना कि ऐसा है, यह जाना कोई रूपक लेकर बना। उसी विकल्परूप अपनेको मानना धर्मास्तिकायको अपनाना है। जैसे रिक्शा 'रिक्षा' संज्ञा पड़ गई, उसी प्रकार धर्मद्रव्यके विकल्पको ही उपचारसे धर्मद्रव्य कहा गया है। अतः धर्मद्रव्यके विकल्पको अपनाना ही धर्मद्रव्यको अपनाना हुआ।

मेरे धर्मद्रव्यादि कुछ भी नहीं हैं। मैं तो एक उपयोगमात्र हूं, ऐसा जो जानता है, उसे आगमके जानने वाले धर्म निर्ममत्व कहते हैं। धर्मद्रव्यसे मोहरहित कहा गया है। जैसे यह घड़ी हमारी नहीं है, परद्रव्य हैं। मैं तो चैतन्यमात्र हूं—ऐसी प्रतीति हो तो वह अन्दरसे घड़ीसे जुदा है। उसी तरह मेरे धर्मादि द्रव्य कुछ भी नहीं हैं—ऐसा जो मानता है उसे धर्म निर्ममत्व कहते हैं।

अर्थ, शब्द और ज्ञान–इस तरह तत्त्व त्रितगत हैं—जैसे एक पुस्तकके ३ भेद कर सकते हैं—(१) हाथमें लिये है, (२) जो पुस्तक ज्ञानमें झलक रही है और (३) अक्षरोंमें लिखे हुए 'पुस्तक' का नाम भी पुस्तक है। पहली पुस्तक अर्थपुस्तक है, जिसे हाथमें लिये हुए हैं, दूसरी पुस्तक ज्ञान-पुस्तक है, जो ज्ञानमें झलक रही है और तीसरी पुस्तक शब्द-पुस्तक है, जो शब्दोंमें लिखी हुई है।

यह पुस्तक मेरी है, यह ज्ञेयको (अर्थ पुस्तकको) अपनाना हुआ। ज्ञानमें झलकी हुई पुस्तक ही मैं हूं, इससे अलग मैं नहीं हूं, यह भी पुस्तकका अपनाना है। अर्थपुस्तकको अपनाया, वह भी पुस्तकको अपनाना हुआ; ज्ञानपुस्तकको अपनाया, यह भी पुस्तकको अपनाना हुआ। जैसे—जो मानता है कि मैं रागी हूं, मैं मनुष्य हूं, मैं नारकी हूँ,—वह उन पर्यायोंको अपना रहा है। किसी भी पर्यायरूप मैं नहीं हूँ; सब पर्यायोंमें जाकर भी मैं उन पर्यायोंसे अलग हूं। यदि पर्यायके ज्ञानमें ही अटक गये तो अर्थपुस्तकको अपनाना और ज्ञानपुस्तकको—दोनोंको अपनाना हुआ। ऐसा कोई भी जीव नहीं है जो ज्ञानपुस्तकको तो अपना लेवे और अर्थपुस्तकको न अपनाना चाहे तथा अर्थपुस्तकको तो अपना लेवे और ज्ञानपुस्तकको न अपनावे। ज्ञानपुस्तक मै नहीं हू, यदि ऐसा विवेक कर लिया, तो वह अर्थपुस्तकको भी नहीं अपना सकता। जैसे चौकीका ज्ञान हुआ। ज्ञान होते ही चौकीका फोटो अपने मनमें खिंच गया। यह चौकीका फोटो, जो ज्ञानमें झलक रहा है,

मेरा नहीं है, ऐसा जिसने विवेक बना लिया, तो अर्थचौकी भी उसकी नहीं है, यह विवेक बन जाता। ज्ञानचौकीकी भिन्नताका विवेक कर ले और अर्थचौकीका अविवेक बनाये रक्खे, ऐसा हो नहीं सकता।

अर्थचौकी मेरी नहीं है, ऐसा समझनेवाला व्यक्ति इस ज्ञानचौकीको अपनाये हुये रह भी सकता है, नही भी रह सकता। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी जानता है कि यह चौकी मेरी नहीं है। जो ज्ञान हुआ कि यह चौकी मेरी नहीं है, ऐसे विकल्प करो भिन्न अपनेको नहीं जान सकता है, जिसने यह नही सोच पाया कि यह ज्ञानचौकी भी मेरी नही है, वह यह भी यथार्थ नहीं जान सकता कि यह चौकी मेरी नहीं है।

जैसे कल कोई कहता था कि यह घड़ी मेरी नहीं है। आज उसे यह घड़ी इनाममें दे दी जावे, तो वह कहने लग जायेगा कि यह घड़ी मेरी है, अतः उसकी कलकी बात भी झूठी है, आजकी बात भी। जिसे ५० खेलते हुए बच्चोंमें अपने २-३ लड़कोंमें बुद्धि है कि ये मेरे हैं, और शेष दुनियाभरके बच्चे मेरे नहीं हैं, तो उसकी दोनों बातें झूठी हैं। क्योंकि उसने इष्टको तो मान लिया कि यह मेरा है; जो इष्ट नहीं है, उसे कह दिया कि ये मेरे नहीं हैं। अतः उसकी दोनों ही बातें झूठी ठहरीं।

धर्मद्रव्यका विकल्प भी मेरा नहीं है——ऐसा विचार करनेवाले जीवको धर्म निर्ममत्व कहते हैं। कोई चीज यदि आत्माके ज्ञानमें आ गई तो यह आत्माकी गलती नहीं है, क्योंकि प्रत्येक चीज सदा उसके ज्ञानमें आती ही रहेगी। क्योंकि आत्माका स्वभाव ही पदार्थोको जाननेका है। परंतु उस ज्ञानको अपना मान लेना बड़ी भारी भूल है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये द्रव्य सभी ज्ञानमें आयेंगे, क्योंकि जाननेवाला यह प्रभु है। उसके पदार्थोंके ज्ञानमे कोई बाधा नहीं डाल सकता है। सब पदार्थोको वह प्रभु आत्मा जान लेता है–कवलित कर लेता है। सब पदार्थोंके द्रव्य, गुण पर्यायको जानना उसका स्वभाव है। जान लेना माने अपनेमें मग्न कर लेना। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है, फिर भी ये पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं। ऐसा जो जाने, उसने जाना कि मैं दुनियासे न्यारा हूँ। निज घर साफ करो तो यह चीज मेरी नहीं है, यह बात सच्ची कहलायेगी। चेतन तत्त्व का चिच्चमत्कार तेज इतना अद्भुत है कि स्वरसतः ही उसका प्रस्तर अनिवास्ति है। जिस में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीवान्तर समस्त परपदार्थ ऐसे ज्ञेयरूपसे अन्तर्निमग्न हो जाते है कि मानो उस प्रभुकी चित्सामर्थ्यने उन सबको कवलित ही कर लिया। फिर भी मैं ज्ञायकस्वभावी हूं और उक्त सब ज्ञेय मुझसे अतिरिक्त स्वभाव वाले हैं। जीवान्तर यद्यपि मुझ जैसे ज्ञायकस्वभावी हैं परन्तु मेरे स्वरूपास्तित्वसे तो अतिरिक्त स्वभाववाले हैं। इसी कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व जीवान्तर बहिम्स्तत्त्व है। ये सब

बहिस्तत्त्व मुझ अन्तस्तत्त्वके कुछ नहीं लगते। मैं तो परमार्थसे अनाकुल भगवान आत्म-स्वभावको ही स्वीकारता हुआ केवल उपयोगमात्र हूं, चित्शक्तिमात्र हूँ।

मैं एक हूँ, शुद्धसत्ताक हूं, यद्यपि समस्त द्रव्य परस्पर एक क्षेत्रावगाह अथवा साधारण अवगाहरूप है तो भी किसी भी वस्तुका किसी भी अन्य वस्तुमें निश्चयसे प्रवेश नही है, क्योंकि सभी पदार्थ शुद्धसत्ताक है। मैं भी शुद्धसत्ताक हूँ, अतः मुझमें न कर्मका प्रवेश है, न नोकर्मका प्रवेश है और न मेरे स्वभावमें किसी भी मोह आदिक विभावका प्रवेश है। ज्ञान स्वभावका और विभावका स्वरूपभेद, स्वादभेद (अनुभवभेद) प्रकट स्पष्ट है। मैं तो सर्वदा निज आत्मतत्त्वके एकत्वमें गत हूं। सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपके एकत्वमें ही गत है। इस तरह भावक और भाव अलग-अलग तत्त्व है। मेरा मोह कुछ भी नहीं है। जो ज्ञेय-विकल्पसे भिन्न निज ज्ञायकका अनुभव करता है, उस अनुभवी पुरुषके व्यवहारमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य गुण प्रकट हो जाते है।

**आस्तिक्य भाव सम्यग्दृष्टिके गुणविकासका मूल है**—जिस कारणसे निश्चयनय और व्यवहारनयके द्वारा दुनियामें जो जैसे पदार्थ है, उनको वैसा ही जाने, वह आस्तिक्य भाव कहलाता है, आस्तिक्य दो प्रकारका है:—(१) सम्यक् आस्तिक्य, (२) मिथ्याआस्तिक्य। जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही मानना आस्तिक्य है। आत्माका यथार्थ स्वरूप स्वसंवेदन द्वारा गम्य है। इस सम्बन्धमें मतिश्रुत प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान ही वास्तवमें प्रत्यक्ष ज्ञान है, शेष चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—परोक्ष ज्ञान हैं।

शंका:—इन्द्रियजन्य ज्ञान देश प्रत्यक्षज्ञान हैं तो इन चार ज्ञान द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

समाधान:—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परके जाननेमें परोक्ष है और स्वको जाननेमें तो प्रत्यक्ष ही है। परोक्ष माने पराधीन ज्ञान और प्रत्यक्ष माने स्वाधीन ज्ञान। आत्माके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। अतः आत्माका अनुभव करते समय मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं। केवलज्ञान स्वानुभूतिरूप आस्तिक्य परमगुण है। स्वानुभूति ही आत्माकी बड़ी विशेषता है। जीवादिक सातों तत्त्वोंमें जैसी दृढ़ प्रतीति सम्यग्दृष्टिके होती है वैसी मिथ्यादृष्टिके नहीं होती। स्वकी बात तो छोड़ो, परवस्तुमें भी जैसा यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टिके होता है, वैसा मिथ्यादृष्टिके नही होता है। इस प्रकार प्रत्येक पहलूसे यह बात सिद्ध हो गई कि सम्यग्दृष्टिके जो आस्तिक गुण है, वह उसकी महान विशेषता है। जिस सम्यक्त्वके होनेपर यह आत्मा अपनेको विभावोंसे पृथक् अनुभव करता और ज्ञेय पदार्थोंसे भी अपनेको पृथक् अनुभव करता है, उस सम्यक्त्वके होनेपर ८ गुण और प्रकट हो जाते हैं। प्रशमादि चार गुण कहो या ८ गुण कहो, एक ही बात है। ये ८ गुण इन्हीं चार गुणों में अन्तर्भूत हैं:—

(१) संवेग, (२) निर्वेग, (३) आत्मनिन्दा, (४) गर्हा, (५) प्रशम गुण, (६) भक्ति, (७) वात्सल्य, (८) आस्तिक्य।

संवेग, धर्म और धर्मके फलमें अनुरागको कहते हैं। विषय कषायोंसे विरक्तिको निर्वेद कहते हैं। आत्मनिन्दा (अपनी निन्दा करना)। गुरुके सामने अपने दोषोंके वर्णन करनेको गर्हा कहते हैं। कितना ही प्रसंग क्यों न आये, क्रोधादि कषायोंको न होने देना प्रथमगुण कहलाता है। देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करना, मन वचन कायकी उद्धता न होने देना, मन वचन कायको विनयरूप रखनेको भक्ति कहते हैं। भक्ति अन्दर ही अन्दर होती है, बाहर प्रकट नहीं होती है। देव शास्त्र गुरुके गुणोंके उत्कर्षके लिये दिये हुए मनको वात्सल्य कहते है। वात्सल्य बाहर प्रकट हो जाता है। जो जैसा स्वरूप वाला है वैसा ही माननेका भाव आस्तिक्य है।

भक्ति और वात्सल्य, संवेग और निर्वेग—इन चारोंके लक्षण संवेगमें ही आ जाते हैं। भक्ति और वात्सल्य संवेगके बिना नहीं होते। संवेग सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होता है। निन्दा और गर्हा ये प्रशमगुणके अन्दर आ जाते हैं, क्योंकि जिसका चित्त शांत होता है, वह अपनी गलती महसूस करता है। सुख और शांतिके लिए अपनी गलती विचारना चाहिये। यह सब प्रशमगुणके प्रकट होने पर होता है।

दुर्निवार राग द्वेष मोहादि जो अपनेमें उत्पन्न होते हैं, वे छूटते नहीं हैं, इनसे अलग होना ही अच्छा है। मुनि, ज्ञानी तो यहां तक विचारते कि भक्ति, दर्शन उपदेश देना, आहार करना आदि—ये सब चेष्टाएँ हमारे अज्ञानमें होती हैं। साधु अपनी एक एक चेष्टाके आगमके अनुकूल होने पर भी अज्ञानमय चेष्टा समझता है, क्योंकि साधु ने अचेष्ट चैतन्यभावको परख लिया है। जब प्रशमगुण पैदा होता है, तब आत्मनिन्दा होती है। अपने रागादि भावोंको आचार्योंसे बतलानेको गर्हा कहते है। यह भी प्रशमगुणके अन्दर शामिल हो जाता है।

शंका—सम्यग्दर्शनका पूर्वोक्त ही लक्षण है या अन्य कोई भी ?

समाधान—सम्यक्त्वके आठ अंग भी लक्षण हैं। इनका वर्णन निर्जराधिकारमें होगा। सम्यक्त्वके होने पर ज्ञेयज्ञायकशंकर नहीं रहता।

**ज्ञेयसे निर्मम कैसे हुआ जाता है:**—ज्ञेय पदार्थोंको अपनाना कि ये मेरे हैं, यह ज्ञेयको अपनाना हुआ। ज्ञेय पदार्थ जो जाननेमें आये, इस परिणमनको अपनेसे भिन्न न समझ पाना—इसको भी मोह कहते हैं। ये पदार्थ जाननेमें आ रहे हैं, आयेंगे, आने दो, क्योंकि आत्माका स्वभाव जाननेका है। अन्तस्तत्त्व तो ज्ञायकभाव है, बहिस्तत्त्व ज्ञेय पदार्थो की झलक है। ये ज्ञेय पदार्थोंकी झलक आत्मामें आयेगी, छूटेगी नहीं, फिर भी यह अनुभव

करो कि मैं ज्ञेयमात्र हूं, वह हमारी नहीं है। जैसे दर्पणमें सामने रक्खी हुई चीजका फोटो आ जाता है, परन्तु वह फोटो दर्पणकी चीज नहीं है। उसी तरह मैं तो एक उपयोगी अनाकुल आत्माको अनुभव करने वाला आत्मा हूं। मैं आत्मा तो एक ज्ञानमात्र हूं। चौकी को जानकर, चौकी मेरी नहीं है, चौकीकी झलक मेरी नहीं है. ऐसा विचारनेवालेको आत्म के जाननेवाले धर्मादिकसे निर्ममत्व कहते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक भाव एकमेक हो रहे हैं। जैसे दर्पणके अन्दर जो फोटो आया, वह और दर्पण एकमेक हो रहे हैं। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञेय की झलक ज्ञानका परिणमन है. एकमें एक मिला हुआ है, फिर भी उनका स्वभाव जुदा-जुदा है। यह ज्ञेयकी झलक आत्मामें आ रही है, फिर भी ज्ञेयकी झलक आत्मस्वभावसे भिन्न है। ज्ञेय पदार्थ जाननेमें आ रहे, फिर भी मेरे नहीं हैं।

सबसे बड़ी चीज है यह विश्वास जान लेना कि जो यह पिण्डौला (शरीर) है, वह मैं नहीं हूँ। मोह इस पिण्डौलामें आत्मबुद्धि करनेसे बढ़ता है। जितने भी रागद्वेषादि संक्लेश होते हैं, सब इस पिण्डौलेमें आत्मबुद्धि करनेसे होते हैं। इस पिण्डौलेको निर्दयता पूर्वक मित्र लोगोंके द्वारा जला दिया जायेगा, जिसपर दृष्टि करके हम अपने आत्माकी बर बादी कर रहे हैं। यह शरीर बहुत ही जल्दी राख कर दिया जायेगा। जिस शरीरकी वजह से हम अपने मन वचन कायकी चेष्टा करते हैं, वह शरीर सारहीन है। जिस शरीरको अपना समझकर नाम, प्रतिष्ठा, अपमानादि सब कुछ महसूस करते हैं, उसी शरीरको देखकर कल घरके लोग जला डालेंगे और कहेंगे कि जल्दीसे इसे घरसे बाहर निकालो, कभी भूत बनकर खा न जाये। मान लिया आपने इन पत्थरोंपर प्रतिष्ठाके लोभसे अपना नाम अंकित करा दिया। मरनेके बाद लोग नाम मात्र बांच लेंगे, तो उससे तुम्हें क्या लाभ हुआ? प्रतिष्ठा चाहनेकी इच्छा, अपना अपमान महसूस करना, मोह करना, कषायादि करना—ये सब दुर्गुण शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे आते हैं। यह शरीर जल्दीसे जल्दी तुम्हारे हितैषियों द्वारा जला दिया जाना है, अतः इन शरीरादिक भावोंमें आत्मीय बुद्धिको छोड़कर एक चैतन्यस्वभावका ही निरन्तर चिन्तन करो। आत्माका स्वभाव है कि उसके ज्ञानमें जगत्के समस्त पदार्थ जाननेमें आते रहें, अतः ये पदार्थ तो जाननेमें आते ही रहेंगे। आज एक पदार्थको जानकर भुला दिया, संयममें लग गये। इस तरह छोड़ते गये, भुलाते गये। छोड़ा तो दो ही चारको, लेकिन उस संयमकी कृपासे दस पदार्थ जाननेमें आते हैं। दसको भुलाया तो हजार जाननेमें आते है। हजारको छोड़ा, असंख्य जाननेमें आते है। असंख्यातको भुलाया, उस संयमकी कृपासे पूरा विश्व ज्ञानमें एक साथ झलकने लगता है। इस आत्म-स्वभावकी बड़ी विचित्र करतूत है, सारे विश्वके पदार्थोंको अपनेमें समा लेता है, परन्तु फिर भी ये समस्त पदार्थ अपने आत्मासे जुदे हैं। ऐसा विचार करनेसे आत्मस्वभावका ज्ञान हो

जाता है। जब समस्त भावान्तरोंको अपनेसे न्यारा समझ लिया, तब इस आत्मामें आत्म-तत्त्व ही बसा करता है। जिन्होंने दर्शन ज्ञान चारित्रके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया वे सदा अपनी आत्मामें ही रमण किया करते हैं।

आत्मसाक्षात्कार करनेके लिए सबसे पहले शरीरसे आत्मबुद्धिको हटाएँ। कमसे कम इतना तो मानलें कि जिस तरहसे हमने स्वयं लाखोंके सिर जलाकर राख कर दिये, उसी प्रकार अपना शरीर भी एक दिन जलकर अपने बंधुओं द्वारा राख कर दिया जाना है। इस तरह जानकर अपनी बुद्धिको व्यवस्थित करने वाला आत्मा आत्माराममें रमण कर सकता है।

अब आचार्य ३८ वीं गाथामें कहते हैं कि जीव जुदा है, शरीर जुदा है। शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं होती है। व्यवहारसे ही शरीर की स्तुति करके आत्माकी स्तुति मानली गई है। वह भी भगवान् निश्चय गुणोंको जानने वाले ज्ञानियों द्वारा की गई शरीरकी स्तुति व्यवहारसे भगवानकी आत्माके गुणोंकी स्तुति मानली गई हैं।

सम्यग्ज्ञानी जीव यह अनुभव करता है कि मैं एक हूं, अकेला हूँ। कोई भी न पुण्य-बंधमें साथी है और न पापबंधमें साथी है। जहां भी जायेगा जीव अकेला ही जायेगा। स्वर्ग नरक मोक्षादिमें जानेके लिए भी इसका माना हुआ इष्ट साथ नहीं दे सकता है। सर्वत्र यह जीव अकेला है। दुनियाके प्रत्येक द्रव्य अकेले हैं। इस चौकीमें अनेक परमाणुओं का समूह है, फिर भी उनमेसे दो परमाणु भी मिल करके एक नहीं हो सकते हैं। यदि एक हो गये तो जुदा हो नही सकते। ज्ञानसे देखो तो प्रत्येक पदार्थ अलग अलग है, अखण्ड है, उसका दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता। एक पदार्थकी सत्ता दूसरे पदार्थमें नहीं जा सकती है। दो पदार्थ मिलकर एक नहीं हो सकते है। एक पदार्थ अपनेसे भिन्न पदार्थका हो नहीं सकता। सभी पदार्थ अपने अपने चतुष्टयमें हैं। यद्यपि लोकमें अनन्त परमाणु मिलकर एक दिखाई देने लगते हैं, परन्तु प्रत्येक परमाणुकी सत्ता न्यारी न्यारी है, नहीं तो वे अलग हो ही नहीं सकते। मैं एक शुद्ध चैतन्यमात्र ज्ञानमय आत्मा हूं। मेरेसे सभी पदार्थ अलग हैं। आत्मा अपने द्वारा अपने लिये अपनेको परिणमाता है। राग निमित्तकी परिणति नहीं है। आत्माकी ही ऐसी योग्यता है कि वह निमित्तको पाये उसीरूप परिणाम जाता है। जैसे आपने अरहन्त भगवानकी प्रतिमा देखी। प्रतिमाको देखकर आपके परिणामोमें निर्मलता आ गई, यह आपकी ही योग्यता है, अरहन्त भगवानकी नहीं। अरहंत भगवानका तुम्हारेमें कुछ नहीं आ गया। ऐसा भी हो सकता था कि तुम्हारेमें निर्मल परिणाम न आकर भगवानकी नग्न मूर्तिको देखकर मिथ्यात्वका पोषण हो जाता। यह योग्यता उपादानकी है कि वह निमित्तको पाकर अपने आपमें उसी रूप परिणाम जाता है।

जो आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्रमें परिणत हो गया है अर्थात् निज शुद्ध स्वभावका ज्ञान और निज स्वभावकी ओर अनुभव जिसका हो गया है, ऐसा आत्मा कैसा अनुभव करता है—उसका उपसंहार करते है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

मैं निश्चयत: सदा ही एक हूँ, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञानमय हूं, अरूपी हूं। इस मुझ आत्माका अन्य परमाणुमात्र भी कुछ भी नही है।

यह प्राणि अनादिकालसे मोहमें उन्मत्त हो रहा था। इसी कारण अज्ञानमें अनेक प्रकारके अध्यवसान करता था। किन्तु है तो यह अनादिसे ही ज्ञान व आनन्दका पुञ्ज। जब इसकी सुभवितव्यता आई और तत्त्वज्ञ विरक्त एवं परमकरुणारसपूरित गुरुके द्वारा सदुपदेश मिला, बार-बार प्रतिबोध मिला तब यह यों ही शीघ्र प्रतिबोधको प्राप्त हो गया कि अहो यह मैं स्वयं ही तो ज्ञानानन्द पिण्ड हूं, चिन्मात्र ज्योति हूं।

मैं हूँ, एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञान मात्र हूं, अरूपी हूं—इस प्रकार पाँच प्रकार से आत्माका अनुभव बता रहे हैं।

"मैं हूँ"—यह बात अपने आपके प्रत्यक्षसे जानी जा सकती है। मैं हूँ, मैं आत्मा प्रत्यक्ष हूं, चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। जो यह मैं पहले अज्ञानी था। जिस अज्ञानी होनेका कारण अनादि कालसे मोहमें उन्मत्तपना था। अर्थात् जिस पर्यायमें मैं गुजरा, उसी पर्याय को यह मैं हूँ—ऐसा मानता रहा; अत: यह जीव अज्ञानी था। पर किसी वैरागी गुरुने बारम्बार समझाया, तब कुछ समझमे आया। किसी तरह समझ गया। मैं अपने आपको इस तरह प्रत्यक्ष हुआ जैसे कि अपनी ही हथेलीपर सोनेका ढेला रक्खा हो और उसे खुद ही भूल जाये; वह उसके ढूंढनेके लिये बाहर यत्न करता था, परन्तु जरा भीतरकी ओर ख्याल आजाये कि मै हाथ ही में लिये था। हाथ देखा तो मिल गया। जैसे भूली हुई चीज हाथमें अनायास मिल गई, अपने ही हाथमें थी, ख्याल आया, मिल गई; उसी प्रकार यह परमेश्वर आत्मा अनादिकालसे खुदमें ही आवृत था, मुझे यह परमेश्वर आत्मा मिल नहीं रहा था, परन्तु जब उस परमेश्वर आत्माका ज्ञान हुआ और श्रद्धा हुई कि यही म परमेश्वर आत्मा हूँ, जैसा परमेश्वर आत्मा दीखा, वैसे ही देखने वाले बन गये, यही उ..का आचरण हुआ तो यह आत्मा इस तरह प्रत्यक्ष हो गया कि यह, 'यह मैं हूँ'।

अपने आपमें यह बात भीतर समझ लेना यही धर्म है। इतनी बात समझनेके लिये पू.. दर्शन, भक्ति, जप, तप, दान आदि कार्य करते हैं। परन्तु जिनका लक्ष्य यह आत्मा ...का पूजा करना धर्मके अन्तर्गत है। परन्तु जिनका लक्ष्य चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं

है, उनका पूजा, दान, तपादि करना धुन सवार है। जिन्हें यही पता नहीं कि इतना कष्ट करके मन्दिरमें क्यों आते हैं; क्यों पूजा पाठ प्रक्षाल, दर्शनादि करते हैं—उनका यह सब धुन-सवार ही तो है। करनेसे धर्म नहीं मिलता है, कुछ भी न करो धर्म मिल सकता है। कष्ट करनेसे चेष्टा करनेसे पुण्य या पापका संचय होता है, जो आस्रव और बंधके भेद हैं; न करनेसे धर्म होता है, जो इष्टसिद्धि विधायक है। धर्म इतना सहज और सरल है कि तुम कष्ट न करो बस, हो गया धर्म। मन-वचन-काय इनसे कष्ट न करो, विकल्प या चेष्टा न करो-यही तो धर्म है। दुकान आदि तो महान् कष्टकर हैं, जरासा भी कष्ट न करो, कष्ट करनेमें धर्म नहीं है। ऐसे जब ऐसे शुद्ध निज परमेश्वर आत्माको जाना, तब यह आत्माराम अपने आप आत्माके प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस 'मैं' के साथ कोई रूपक बन गया वह 'मैं', 'मैं' नहीं हूँ। उस मैं का अनुभव करते हुए परीक्षा करो। मैं साधु हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं पंडित हूँ, श्रावक हूँ, गृहस्थ हूँ उस मैं की चर्चा नहीं है। यह तो मिथ्या दृष्टिका मैं मैं करना है। जहाँपर "यह मैं हूँ" ऐसा भी मानसिक कष्ट नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि आत्माका अनुभव करता है।

**महान् आनन्दविश्राम झूठी हठमें खो दिया:**—शान्ति सुख तो आत्मामें अब भी मौजूद है, लेकिन मैं की कल्पनाने उस सुखको छिपा लिया है। सम्यग्दृष्टि तो चाहता है कि मुझे भूख प्यास भी न लगें। क्षुधा-तृषा संसारके कारण हैं। खाने-पीनेमें वह बिल्कुल उपयोग नहीं देता है। वह चाहता है कि मुझे अब इसके बाद न खाना पड़े। सम्यग्दृष्टिके आत्मप्रत्यक्ष होनेपर भूख प्यास सभी नष्ट हो जायेंगे; अनन्त काल तक इनकी जरूरत नहीं पड़ेगी, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। यह मैं हूं, यह मैं आत्मा आत्माके द्वारा प्रत्यक्ष हूं। यह सम्यग्दृष्टिका निजस्वरूप संचेतन है। आनंद-शान्ति खुदकी खुदमें है।

यह जगत् इन्द्रजाल (धोखेकी टटिया) है। वास्तवमें जगत् ऐसा नहीं है; इस प्राणी का मोह ही ऐसा है। पदार्थको देखकर इसे संग्रह किये बिना चैन नहीं है। पदार्थोंका संग्रह करना ही तो मौत है। बाह्य पदार्थोंकी ओर झुकना ही मौत है, न झुको तो निर्भयता है। परन्तु यह मन मानता ही नहीं है। यह मन अपनी इच्छानुसार आचरण करता रहता है। किसीने कोई बात कही; उसका ख्याल न करे; उसे गुनगुनाना थोथी चीज है—इसीमें आत्माकी रक्षा है। उसी बातमें विचलित हो जानेमें अपना बड़ा भारी नुक्सान है। मोही लोग ऐसा कहेंगे कि इन्होंने ऐसी-ऐसी बातें कह डालीं, इनकी क्या इज्जत रही—यह सब उनका (मोहीका) थोथापन है। ज्ञानी विवेकी लोग यदि किसीकी बात नहीं सहना चाहते तो उसका कारण यह हो सकता है कि अपनी लोकमें जीविका व्यवहार चलानेके लिये अज्ञानियोंकी बातोंका उत्तर दे देते हैं। लौकिक जीवनको चलानेके लिये उनका विरोध

करना उपयुक्त भी है। विरोध वे अपनी इज्जतमें बट्टा लगनेके भयसे नहीं करते हैं; क्योंकि उन्हें अपने मानापमानका ख्याल नहीं होता है। ख्याल होता है उन्हें अपनी आत्माका। क्योंकि वह जानता है कि अपनी इज्जतको मैं स्वयं खराब कर सकता हूं; अन्य कोई मेरी क्या इज्जत खराब करेगा? अतः किसीने जो बात ज्ञानीको कही उससे ज्ञानीकी इज्जत तो नहीं बिगड़ती, अपितु इज्जत बिगाड़नेवालेकी ही इज्जत बिगाड़ती है; परन्तु उसका मुकाबला न करनेसे उसके लौकिक जीवन निर्वाहमें फर्क आ सकता है, अतः वह अज्ञानीकी बातोंका विरोध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव सहज विरक्त है। जिन जिन बातोंसे उसके रहन-सहन, जीवन-निर्वाहमें कोई फर्क नहीं पड़ता है, उन-उन बातोंपर वह कोई उपयोग नहीं देता है। टुच्ची टुच्ची बातोंपर वह मनमें कलुषता नहीं आने देता है। क्योंकि उसे विश्वास है कि मेरी इज्जत अन्य कोई खराब नहीं कर सकता है। मैं ही स्वयं अपनी इज्जत अपने आप खराब करता हूं। सम्यक्त्वी आत्माको आत्मा समझता है।

यह आत्मा अपने आपको अनादिकालसे भूला हुआ था, वह इसी पर्यायको आत्म मानता रहा है, केवल समझका फेर है निजतत्त्वकी भूलके कारण इस जीवपर अनेक विपत्तियोंका पहाड़ टूट पड़ता है। आंख, कान, नाक, हाथ, पैर आदिसे यह शरीर बन गया, जिसकी रक्षाके वास्ते भोजन करना पड़ता है एक दूसरेसे सम्बन्ध हो गये, घर बनाना पड़ा—इस चैतन्य आत्माके लिये ये विपत्तियाँ क्या कम विपत्तियाँ हैं? इन सब विपत्तियों का कारण समझका फेर है, पर्यायबुद्धि है।

एक बादशाह था। उसके कई दरबारी थे। उनमें एक उसका साला और एक सेठ भी था। बादशाह सेठको खूब पुरस्कार देता था। एक दिन मेम साहिबाने बादशाहसे कहा, इस अपने सालेको प्रश्रय क्यों नहीं देते हो, यह सेठ तुम्हारा क्या लगता है? बादशाहने कहा कि इस सालेमें कोई ऐसा गुण नही है, जो हमसे प्रश्रय ले सके। फिर भी मेमसाहिबा के बार बार आग्रह करनेपर उसने वजीरसे कहा कि इस सालेको भी कुछ प्रश्रय (पुरस्कारादि) दिया करो। वजीरने कहा कि पहले इस सालेकी परीक्षा तो लेनी चाहिये कि इसमें सम्मान प्राप्त करनेकी योग्यता है या नहीं?

एक दिन सेठसे और सालेसे कहा गया कि तुम्हें ५००) रुपयेमें अपनी-अपनी दाढ़ी बेचनी होगी। साले साहबने कहा कि इससे बढ़कर हमारे योग्य क्या सेवा हो सकती है? उसने नाईको बुलाया और दाढ़ी उतरवाकर बादशाहको सौंप दी और ५००) प्राप्त कर लिये। अब बनियेका (सेठका) टर्न आया। सेठने कहा अच्छा हमने राजा साहबको अपनी दाढ़ी बेच दी, लाओ ५००) रुपये। सेठको ५००) दे दिये गये। अब बुलाया गया नाई। जब नाई बनियेकी दाढ़ी बनाने लगा तो सेठने नाईके गालपर एक चपत रसीद किया और

कहा, अबे, तुझे इतनी भी अक्ल नहीं है कि हम यह दाढ़ी बादशाहको बेच चुके हैं, इसपर तू अपना हाथ क्यों फेरता है ? यह दाढ़ी तो बादशाहकी है, इसकी ये इज्जत करता है। चपत खाते ही नाईने कहा कि मैं तो इसकी दाढ़ी बना चुका (असमर्थ हूं) और वहांसे चपत खाकर चम्पत हुआ।

अब बनियेकी लड़कीकी शादी होनी थी। उसने बादशाहके पास बिल बनाकर भेज दिया कि बादशाहकी दाढ़ीकी रक्षाके लिए लड़कीकी शादीमें ३ लाख रुपयेकी आवश्यकता है। बादशाहकी लड़कीकी शादीमें भी इतना ही खर्च होना था, इस आजमायसके लिये पुराने बहीखाते देखे गये और ३ लाख रुपयेका चैक कटाकर भेजना पड़ा। सेठको जिस कार्यके लिये भी रुपयोंकी आवश्यकता होती रही, वह बिल बनाकर भेजता रहा और उसे रुपये मिलते रहे। यह देखकर उस मुसलमान भाईको (सालेको) गुस्सा आया, तो उसने चिढ़कर आकर कहा कि लो ये अपने ५००) रुपये, हमें अपनी दाढ़ी नहीं बेचनी है। साले साहबकी दाढ़ी वापिस दे दी गई। देखो, सेठने अपनी दाढ़ीका एक बाल भी नहीं दिया और उसे बादशाहकी ओरसे बड़ीसे बड़ी सहायता मिलती रही। और साले साहबने अपनी दाढ़ी भी कटा ली और वह ५००) रुपयोंसे भी हाथ धो बैठा। अतः भैया, समझ ही का तो फेर है। समझ है तो उत्कर्ष है और समझ नहीं है तो हानि है।

पर्यायमें आत्मबुद्धि है तो वही सारी विपत्तियोंका पहाड़ है:—अतः पर्यायबुद्धिको बलात् मनसे दूर करनेका सफल यत्न करो। यह मैं आत्मा आत्माके द्वारा प्रत्यक्ष चैतन्यमात्र ज्योति हूं। मैं अकेला हूं, कोई किसी बातमें मेरा साथी नहीं है। यह विश्वास रखना कि मैं किसीका उपकार नहीं करता, किसीका पालन नहीं करता हूं। अपितु जैसी हमारी योग्यता है, उस योग्यताके अनुकूल हमारी चेष्टाएँ बन जाती हैं मैं किसीका कुछ नहीं करता। जैसे अन्य लोग कषायवाले हैं; वैसा ही मैं भी हूं। उस कषायरूप मेरा परिणमन हो जाता है, उस मेरी कषायसे दूसरेका भला बुरा हो जाये, यह उसकी योग्यतापर निर्भर है। परन्तु मैं किसीका भला बुरा नहीं कर सकता हूं। मेरी कषायकी चेष्टाएं दूसरेके भले बुरेमें कारण बन गई, यह योग्यता–विशिष्टता उसीमें है, मेरेमें नहीं है। मैं किसीका भला बुरा नहीं कर सकता, मेरेमें तो चेष्टायें होती रहती हैं—मेरी चेष्टाएं किसीके भलेमें हेतु हो गईं–यह उसीकी योग्यतापर आश्रित है। यह मैं एक हूं। यद्यपि आत्मामें अनन्त गुण और अनेक पर्यायें समझमें आ रही हैं, अब इस गुणने यह जाना, इस गुणने यह किया, उसने वह किया, फिर भी क्या इन गुणोंने अपने चैतन्यस्वरूपमें कभी भेद डाला है ? नहीं, इसमें भेद नहीं पड़ता है। यह अभिद्यमान होनेसे एक है, अकेला है।

यह सम्यग्दृष्टिका निज स्वरूप संचेतन है कि अपने आपमें यह कैसा संचेतन करता

है ? मैं मैं हूँ, मैं ज्ञाता हूं, द्रष्टा हूँ, स्वतन्त्र हूं, निश्चेष्ट हूं, निष्क्रिय हूं—वह इन विकल्पोंको करता हुआ अनुभव नहीं करता है, परन्तु जब कब उसमें ऐसा अनुभव होता रहता है। इस आत्माके साथ पचासों परिस्थितियां लगी रहती हैं, परन्तु परिणमना तो आत्माको ही पड़ता है, इसमें किसी बाहरकी चीजका प्रवेश नहीं है। अतः यह मैं एक आत्मा हूं, ऐसा अखंड सत्। जैसा यह मैं आत्माके द्वारा प्रत्यक्ष हुआ, इतना ही मात्र मैं हूं, ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने आपमें संचेतन करता है। दुःख लाये जाते है, सुख मिलता है, दुःख बनाये जाते हैं, सुख निकलता है। दुःख परायत्ततासे प्रकट होते है, सुख स्वतन्त्र है, सुख स्वयं है। कितनी विपत्तियोंसे यह आत्मा लिप्त रहता है ? कैसे इस आत्मामें नाना प्रकारके रोग-व्याधियाँ होती रहती हैं ? पर इन सब विपत्तियोंकी जड़ समझका फेर है, पर्यायको ही पूर्ण द्रव्य मान लेना है। इस जरासी, परन्तु बड़ी भूलपर इतनी विपत्तियोंका ढेर इस जीवपर आ ढलता है। जैसे—

एक बार एक कुम्हारने एक सिंहको गधा जानकर पकड़ लिया। सिंह भी अपने आप अनायास ही पकड़में नहीं आता है, उसने अंधेरीका सुन रक्खा था कि जितना शेरका डर नहीं होता जितना अंधेरीका होता है। वह अंधेरीके भ्रममें आकर पकड़ा गया। शेरपर कुम्हारने बर्तन लाद दिये। शेरपर इतनी विपत्तियाँ जो पड़ गईं, केवल इसी समझके कारण कि कहीं मुझे अंधेरीने तो नहीं पकड़ लिया। इस समझके फेरसे सिंह भी कुम्हारके वशमें हो गया। ये सब विपत्तियाँ बोध होते ही, कि यह कुम्हार है और मैं जंगलका राजा "शेर" हूं, छूट जायेंगी और पहलेकी तरहसे स्वतन्त्र विहार करने लगेगा। इसी प्रकार इस संसारी जीवपर ये आपत्तियां जरासी भूलपर राज्य जमा रही है। मोहमें पड़कर यह अज्ञानी इसी पर्यायको पूरा आत्मा मानता है, इस गलतीपर सारा संसार अपना दुःख इस जीवपर डाल रहा है। सम्यग्दृष्टिसे यह सब पर्यायबुद्धि छूट चुकी है। इस प्रकार आज "मैं एक हूँ" का वर्णन हुआ, कल "मैं शुद्ध हूं" का प्रकरण चलेगा। सम्यक्त्वके लक्षणमें अनेक बातें बताई गई। सार यही है कि सम्यग्दर्शनका लक्षण ज्ञान चेतना है। निःशङ्कितादि अंग भी सम्यक्त्व के लक्षण है, लेकिन ये आठों अङ्ग ज्ञान चेतनाके होनेपर ही होते है। ज्ञानचेतनाके बिना होनेवाले अङ्गाभास है। निःशंकितादि अंग सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण हैं। सीधा लक्षण ज्ञान चेतना है। सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको ज्ञानमात्र संचेतन करता है।

चेतना तीन प्रकारकी है:—(१) कर्म चेतना, (२) कर्मफल चेतना और (३) ज्ञान चेतना। ज्ञानके सिवाय सारी बातोंमें मैं इन्हें करता हूं—यह सचेतन होना कर्म चेतना है। मैं ज्ञान करता हूं, यहाँ तक तो ठीक है, इसके बाद मैं दूकान करता हूं आदि कर्तृत्वकी बात लगाना कर्म चेतना है। मैं ज्ञानका ही अनुभव न करता हूं, यहाँ तक तो ठीक है। ज्ञानके सिवाय न किसीको करता हूं, न किसीको भोगता हूं। ज्ञानसे सुख दुःखका अधिक

सम्बन्ध है। यदि धनसे सुख दुःख होता तो करोड़पतियोंको तो दुनियाभरका सुख मिल जाना चाहिये था, किन्तु नहीं मिलता। इसका कारण अन्य धनियोंपर दृष्टि है। गरीबपर दृष्टि डालोगे, कैसे कैसे वे अपना गुजारा करते हैं? उनके तनपर कपड़ा नहीं है, कलके लिये घरमें आटा नहीं है आदि दिक्कतें पड़ती हैं, उनकी तरफ दृष्टि हो तो सन्तोष हो जाये ना? अतः धनसे दुःख सुख नहीं है, ज्ञानकी स्टाइलसे सुख दुःखका सम्बन्ध है। ज्ञानके सिवाय मैं सब बातोंको भोगता हूँ, बरतता हूँ— यह बुद्धि होना कर्मफल चेतना है। मैं ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ ऐसी बुद्धि होना ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके पाई जाती है। शेष दो चेतनायें सम्यग्दृष्टिमें गौण रूपसे पाई जाती हैं। कुछ उसे घरका, दुकानका, समाजका, देशका काम भी करना पड़ता है, ऐसा राग आ जानेका कारण कर्मका उदय है। अतः उसके थोड़ा यह तो विचार मौजूद है कि मैं यह करता हूँ, अतः उसके कर्म चेतना भी है। तथा जैसे शरीरमें व्याधि हो गई, उसे उसका उपचार भी करना पड़ता है, वहां कुछ वेदनेका विकल्प तो है ही। अतः उसके कर्म फल चेतना भी गौणरूपसे है। उसकी दृष्टिमें उपादेय ज्ञानचेतना है।

सम्यग्दृष्टिका लक्षण तो ज्ञानचेतना ही है, मगर ज्ञानचेतना किसीके समझमें नहीं आती। उसका बाह्य चिह्न बतानेमें लिये प्रशम, अनुकम्पा, संवेगादि अनेक गुणोंका वर्णन किया गया है। अङ्ग भी सम्यग्दृष्टिके बाह्य चिह्न हैं।

सम्यग्दर्शन भी २ प्रकारका है—(१) व्यवहार सम्यक्त्व, (२) निश्चय सम्यक्त्व। परन्तु ये भेद प्रयोजनवश किये गये हैं। व्यवहार सम्यक्त्व सराग है, सविकल्प है। निश्चय सम्यक्त्व वीतराग है, निर्विकल्प है?

**सम्यग्दर्शनका लक्ष्य आत्माके स्वभावपर पहुँचना है**—अपनेमें सम्यग्दृष्टि जो भी प्रतीति करता है, वह स्वभाव रूपसे प्रतीति करता है। मैं (आत्मा) एक हूं, शुद्ध हूं। शुद्ध के माने यहाँ पर यह लिया है कि इस आत्मामें अनेक मनुष्य नरक, तिर्यंचादि पर्याय चल रही हैं, ये व्यंजन पर्याय कहलाती हैं। आत्मामें काम-क्रोध-राग-मोहादि पर्याय भी चल रही हैं। ये अर्थ-पर्याय कहलाती हैं। इस प्रकार अनेक पर्याय आत्मामें चल रही हैं। पर्याय आत्माकी दशा है। यह दशा हमेशा नहीं रहती है, यह आत्मा एक पर्यायको छोड़कर दूसरीको अपनाता रहता है। इन पर्यायोंसे आत्माका स्वरूप विलक्षण है। वह ज्ञायक स्वभावरूप है। ज्ञायक स्वभाव आत्मासे अत्यन्त भिन्न है, अतः आत्मा शुद्ध है। शुद्ध माने जो अनन्तकाल तक एक अपरिणामी तत्त्व है वह है। शुद्धस्वभाव पर दृष्टि डाले, वह शुद्ध है। जैसे अंगुली न टेढ़ी है, न सीधी है। परन्तु अंगुलीको बिना टेढ़ी और बिना सीधी रूप में दिखला नहीं सकते हैं। हाँ, यदि, कोई कहे कि अंगुली सीधी होती है, तो अंगुलीके टेढ़ी

होने पर अंगुलीका सीधापन कहाँ रहा ? यदि कोई कहे अंगुली टेढ़ी होती है तो उसे सीधी करके समझा सकते हैं कि अंगुली सीधी भी होती है। शुद्ध अंगुली टेढ़ीसे भी अलग है, सीधीसे भी अलग है। शुद्ध अंगुली न टेढ़ी है और न सीधी ही है। वह अंगुली टेढ़ी और सीधी होकर भी किसी भी एक पर्यायमें नहीं है। अंगुलीका लक्षण न टेढ़ापन है, न सीधा-पन। इसी प्रकारसे यह (शुद्ध) जीव न संसारी है, न मुक्त है। यदि कहो कि जीव संसारी है, तो हम सिद्ध भगवानका दृष्टान्त दे सकते है, क्योंकि वे संसारी नहीं है, मुक्त है। यदि कहा जाये कि जीव मुक्त है, तो संसारी जीवोंको प्रत्यय देखकर भी अन्धा बनना क्या न्याय-संगत है ? यदि स्वरूपपर दृष्टि दो तो वह जीव शुद्ध है। मैं शुद्ध हूं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि जीव विशेष और अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि सब व्यवहारिक तत्त्व हैं। इनसे मैं परमार्थतः अत्यन्त विविक्त हूं। मैं तो ज्ञायकस्वभावमात्र हूं, टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल एवं स्वतःप्रसिद्ध हूं, ऐसे शुद्ध स्वभावपर जो दृष्टि डालता है, वही मोक्षमार्गपर चल पाता है। जो शुद्धपर दृष्टि देता है, उसीकी पर्याय निर्मल होती है। जैसे मनुष्य निश्चयतः न बच्चा है, न जवान है, न बूढ़ा है। यदि तुम जवानको मनुष्य कहो तो तो जवानी मिटनेपर मनुष्य ही मिट जायगा। क्या बूढ़े और बच्चे मनुष्य नहीं है ? यदि तुम बूढ़ेको मनुष्य कहो तो बूढ़ोंसे पहिले वह मनुष्य न कहायेगा। क्या बच्चे और जवान मनुष्य नहीं हैं। अतः मनुष्य न बच्चेको कहते, न बूढ़ेको कहते और न जवानको कहते। यदि तुम्हें मनुष्यका ठीक-ठीक लक्षण समझना है तो जो बच्चा, जवान, बूढ़ा—इन सब अव-स्थाओंमेंसे गुजरता रहता है, वह एक है, वह मनुष्य है। शुद्ध मनुष्यको न बूढ़ेकी शक्लमें देखो, न जवानके आकारमें और न बच्चेके रूपमें, वही मनुष्य है। मनुष्यको अशुद्ध देखा तो उसे बूढ़ेके रूपमें देखा या बच्चेके रूपमें देखा या जवानके आकारमें देखा। जो मनुष्य इन अवस्थाओंरूप दिखाई दिया, वह अशुद्ध मनुष्य है। जीवकी किसी एक पर्यायसे देखना अशुद्ध देखना है। यदि तुम्हें मनुष्य ही दीखा तो तुमने अशुद्ध देखा। यदि तुम्हें जवान दीखा तो वह अशुद्ध दीखा। कहनेका मतलब यह है कि मनुष्यको पर्यायरूपसे देखा तो अशुद्ध दीखा, शुद्धरूपसे देखा तो शुद्ध दीखा। इसी प्रकार जीव निश्चयतः न नरक है, न मनुष्य है, न तिर्यंच है और न देव है तथा न सिद्ध है। यदि तुम इनमेसे जिस एकको जीव कहोगे तो बाकी पर्यायोंमें वह जीव न कहावेगा। अतः जो इन सब पर्यायोंमें अनुगत है वह जीव है। अथवा जो इन सबसे विविक्त है शुद्ध चेतनामात्र है वह जीव है।

जीवाजीवाधिकारकी अन्तिम गाथामें सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपका किस रूप अनुभव करता है, यह बताया जा रहा है।

मैं मैं हूं, मैं एक हूं और शुद्ध हूं। अपनेको अशुद्धरूपमें मानने ही में तो संसार बढ़

रहा है। मैं त्यागी हूं, मैं साधु हूं, मैं श्रीमान् हूँ, मैं पंडित हूं आदि— इनमें से कोई भी विशिष्टता अपने अन्दर अनुभव की, समझो दुःखका पहाड़ टूट पड़ा। जहाँ यह अनुभव हुआ कि मैं एक हूं, शुद्ध हूँ, चैतन्यमात्र हूँ तो समझो दुःख वहाँ ठहर भी नहीं सकते। कोई शरीरमें व्याधि हो जाये, उस समय यह अनुभव कर लिया जाये कि मैं उपयोगमात्र हूँ, ज्ञानमात्र ही हूँ तो वह रोग कुछ कम हो जाता है, धीरे-धीरे वह रोग नष्ट भी हो जाता है। यह अनुभव करनेसे सारी विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी। किसीपर द्वेष करनेकी कितनी भी कुबुद्धि उत्पन्न क्यों न हो रही हो, मैं ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, यह अनुभव उत्पन्न हो जाये तो कुबुद्धि भी दूर हो जाये। आत्माके पास वैभवकी कमी नहीं है, परन्तु यह आत्मा बाह्यमें दृष्टि गड़ाकर अपनेको दुःखी अनुभव कर रहा है।

सब पर्यायोंमें जाता हुआ भी मैं सब पर्यायोंसे अलग हूं—मैं चैतन्यमात्र हूँ। जो मैं सामान्यरूपसे चेतता हूँ, वह दर्शनरूप है। विशेषसे चेतता हूँ तो वह ज्ञानरूप है। मैं निरन्तर चेतता रहता हूँ और विशेष-सामान्यमय हूँ, अतः आत्मा दर्शनज्ञानमय है। आत्मा में दुःख है तो कर्तृत्व बुद्धिका है।

भैया ! किसी ने यदि तुम्हें कुछ कह दिया तो तलवार तो नहीं मार दी। कोई देखने वाला कहेगा कि देखो व्यर्थमें यह अपनेको दुःखी अनुभव कर रहा है। यह सब यह कर्तृत्व बुद्धि ही कराती है।

एक धुनिया था। वह वायुयानमें बैठकर कहींसे आया था। जहाँ पर वह उतरा, वहीं पर उसी वायुयानसे हजारों मन रुई भी उतरी। इतनी रुईको देखकर उसे चिंता हो गई कि यह सारी रुई मुझे ही धुननी पड़ेगी। इस प्रकार चिन्ताकुलित होकर वह बहुत अधिक बीमार हो गया। बड़े बड़े डाक्टर वैद्यराज और हकीम बुलाये गये, लेकिन कोई भी उसके रोगको न पहिचान सका। एक कुशल वैद्य आया। उसने पूछा, तुम कहाँ गये थे, वहाँ क्या देखा आदि ? धुनिया बोला, मैं आज सुबह यानसे आ रहा था, तो मैंने उस यानसे उतरती हुई हजारों मन रुई देखी। कुशल-वैद्य जान गया कि यह धुनिया है, इसने रुई देखी, अतः इसे यह बीमारी हुई है। वैद्यने यकायक कहा कि अरे, वह जो आज सुबह वायुयानसे रुई आ रही थी, उसमें तो आग लग गई है। यह सुनते ही धुनियाकी सारी आधि व्याधियाँ जाती रहीं। धुनना पड़ेगी, यह कर्तृत्वबुद्धि ही तो दुःख था। सिवाय कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धिके दुःख नहीं है।

मैं आत्मा दर्शनज्ञानमय हूँ। मैं रूपको जानता तो हूँ, पर मुझमें रूप नहीं आजाता, मैं गन्धको सूंघता अवश्य हूँ, परन्तु गन्ध मुझमें नहीं आजाती, इसी प्रकार मै रसको चखता तो हूँ, परन्तु रस मेरी आत्मामें नहीं पहुँच पाता। मैं रूप-रस-गन्ध-स्पर्शको जानता

तो हूँ, पर जानकर मैं उनरूप परिणाम थोड़े ही जाता हूँ। बस, मै तो जान भर लेता हूँ। परमार्थसे देखो तो मैं अरूपी हूँ।

जैसे कहने कि हमने पकवान खाया। परन्तु पकवान आत्मामें चिपकता नहीं है। पकवानका रूप रस गन्ध स्पर्श पकवानमें ही रहता है, आत्मामें नहीं पहुँच पाता, परन्तु आत्मामें ऐसी शक्ति है कि वह रूप रस गन्ध स्पर्शका ज्ञान कर लेता है। यह आत्मा अमूर्त है, फिर भी यह चबा कर ही रसका ज्ञान कर पाता है, देखो कैसी विडम्बना है? और भगवान् तो दूर बैठे बैठे पकवानको बिना चखे रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका ज्ञान कर लेते हैं। संसारी आत्माके साथ कैसी विडम्बना है कि जाननेका काम होते हुए भी द्रव्येन्द्रियोंके साथ कैसा सम्पर्क लगा रक्खा है और फिर जान पाता है। ऐसा वेदन होकर भी आत्मामें रस नहीं पहुँच पाता है। बड़ा मीठा लग रहा है, ऐसी भाषा न बोलो। ऐसी भाषा न बोलो कि इसकी मीठी पर्यायका ज्ञान हो रहा है। वह तो बेहोशी है। ऐसी भाषा बोलो कि आत्मा रसका ज्ञान कर रहा है। स्वादका ज्ञान होनेमें और लगनेमें फर्क है। यह आत्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका ज्ञान करके भी उसरूप नहीं परिणाम पाता। सबसे पहले प्रतीति करे कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, यही माननेसे आत्मामें आनन्द आयेगा। मैं आत्मा अमूर्त हूँ। यह पौद्गलिक शरीर मैं नहीं हूं, मैं एक हूं। मैं चैतन्यमात्र हूं। मैं रूप रस गन्ध स्पर्शसे रहित अमूर्त आत्मा हूं। किससे किसका कब तक सम्बन्ध रहेगा? जो इसे आत्माको पदार्थ मिले हैं, शरीरके साथ कब तक सम्बन्ध रहेगा? बाह्य शरीरकी बात विचारकर मोहमें पड़ना पड़ता है। करोड़ों काम कर डालो शान्ति ज्ञानसे ही मिलेगी।

**जिस दिनसे ज्ञानमार्गमें लगे, उस दिनसे हमारी उन्नति शुरू होती है**—आत्माका वैभव ज्ञान ही है। वैभवकी समृद्धि होनेपर आत्माकी भी उन्नति है। मगर जब तक जड़का ज्ञान रहता है तब तक मोहकी स्थिति रहती है। जहाँ परपदार्थोंसे मोह हटा, भेद जान पाया कि आत्मद्रव्यसे समस्त पदार्थ जुदे हैं कि आनन्द उमड़ आता है। कोई किसीका परिणमन नहीं करता, मैं स्वयंकी शक्तिसे विभावरूप परिणमता जाता हूं। मैं अपनी ज्ञान दर्शन शक्तिसे अपना परिणमन स्वयं कर सकता हूं, अन्य मेरा परिणमन नहीं कर सकता है। मेरा परिणमन ज्ञानरूप हुआ करता है। मैं ज्ञानके सिवाय अन्यको नहीं भोगता हूं और न किसी पदार्थको करता हूं—ऐसी बुद्धिके निर्विकल्प पद्धतिसे होनेको ज्ञानचेतना कहते हैं। म स्पर्श रस गन्ध वर्णका ज्ञान करता हुआ भी, उन रूप नहीं परिणाम जाता। रूपादिका परिणमन रूपादिमें है, मेरा परिणमन मुझमें है।

मै एक हूं, शुद्ध हूं, केवल एक निज अखण्ड स्वभावरूप हूं, जहां यह विश्वास हो गया, ऐसी प्रतीति करनेवाले मेरे निजका एक अणुमात्र भी नहीं है। सारा विश्व मेरे ज्ञान

में आता है, परन्त अणुमात्र भी मैं नहीं हूं, न अणुमात्र मेरा है। सम्यग्दृष्टिके ऐसी ज्ञान-चेतना होती है। जीवका अजीव कुछ भी नहीं है। इस तरहकी बात बताते हैं कि एक अणु-मात्र भी मेरा नहीं है। जोकि जगत्के ये पदार्थ भावक बनकर या ज्ञेयरूपसे मुझमें मिलकर मेरेमें मोह उत्पन्न करें, ऐसा हो नहीं सकता। बाह्य पदार्थ मेरेमें लोभ उत्पन्न करते, बाह्य ही मुझे क्रोध दिलाते—ऐसी बुद्धि बनी थी, जब वस्तुका स्वरूप जाना तब बुद्धि ठिकाने आई तो यह ज्ञान हुआ कि इन पदार्थोंमें से मेरा कोई रिश्ता नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपना अनुभव करता है और मोहको नष्ट कर देता है।

**ज्ञान चेतना सम्यक्त्वसे सम्बन्ध रखती है**—सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञानचेतना होती है और सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञानचेतना भी नहीं होती है।

शंका:— ज्ञानचेतना वीतराग सम्यग्दृष्टिके हो सकती है, सराग सम्यग्दृष्टिके हो, यह संभव नहीं जंचता। समाधान:—जैसे दूधमें उफान आ रहा हो तो दूधमें जल डाल देना चाहिए। इसी प्रकार तुम (शिष्य) बड़े उफानमें बात कर रहे हो, अतएव अब तुम्हें ठण्डी ठण्डी बातें सुनाकर तुम्हारा उफान शान्त कर दें। यह तो तुम बुद्धिपूर्वक नहीं कह रहे हो कि सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना नहीं होती है। हाथी जैसे भोजन करता है तो उसे कोई विवेक नहीं होता, वह हलुआ और घासको जैसे एक साथ मिलाकर खाता है; इसी प्रकार जिज्ञासु, तू राग और सम्यक्त्वमें भेद न समझकर उनको मिलाकर कह रहा है कि ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि अब क्या अनुभव करता रहता है, इस बातसे तुम अनभिज्ञ हो। अतः तुमने यह शंका की कि ज्ञानचेतना वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है, सराग सम्यग्दृष्टिके नहीं।

रागका स्वरूप और ज्ञानका स्वरूप जिसने भले प्रकार निश्चित कर लिया है, वह कैसे रागमें घुल जायगा? राग यद्यपि आत्मामें उठते हैं, तो भी राग आत्माके निमित्तसे नहीं होता है। रागके उत्पन्न होनेमें कारण कोई कर्मका उदय है। अतएव राग आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञानचेतना है। रागका काम आकुलता है, जबकि ज्ञानका काम अपनेको ज्ञाता द्रष्टा देखनेका है। सम्यक्त्वका यह प्रभाव है जिसके होनेपर परिस्थितियाँ कुछ भी रहें, पर अनुभव होता रहता है, कि अन्दर ज्ञान है। वे परिस्थितियाँ क्यों होती हैं? जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, वह आत्मा अज्ञान मोहके वश होकर नाना प्रकारके प्रवर्तनोंमें लग रहा था, आज सम्यक्त्वके होनेपर भी उनसे एकदम हट नहीं पाता है तथापि रुचि ज्ञानस्वभावकी ही है। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करता है। उसे परमाणुमात्र भी आत्मीय नहीं प्रतिभास होता है। अब उसके भावमें मोहसे ममता नहीं है। अब ऐसी स्थितिका अवसर नहीं है कि मोहनीयकर्म की भावकरूपसे

एकता स्थापित हो अथवा ज्ञेय परपदार्थों या ज्ञेयविकल्पोंकी ज्ञेयता रूपसे चलकर एकता स्थापित हो। अब मोह कैसे उत्पन्न हो ? सम्यग्दृष्टि जीव यह अनुभव करता है कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, मेरा परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है—ऐसा जो भाव रखता है, उसके मोह एकदम दूर हो जाता है, उसके ज्ञान एक साथ स्फुरित हो जाता है। आचार्य महाराज ज्ञानकी भक्ति करते करते ज्ञानके विषयमें कहते हैं कि—

हे संसारके मोही प्राणियों ! तुम सबके सब एक साथ ज्ञानशान्ति रसमें डूब जाओ, जहाँ केवल ज्ञान और केवल दर्शनका ही कार्य है, जहाँ आत्माका ही मात्र प्रतिभास है, ऐसे शान्तरसमें डूब जाओ। उस शान्त रसमें सारा लोक एक साथ छलक रहा है। किसी को न जानो किसीको उपयोगमें न लाओ—सबका जानना और उपयोग छोड़ दो, केवल आत्माका अनुभव करो—उसका फल यह होता है कि सारा विश्व इसके अन्दर छलक जाता है। हे लोकके प्राणियों ! ऐसे शान्तरसमें तुम सब एक साथ डूब जाओ। केवल एक भ्रमकी चादरका ही आवरण है, अतः वह शान्त समुद्र तुम्हें प्रवेश करनेको नहीं मिलता है। इस पतली-सी भ्रमकी चादरको हटाओ तो यह विज्ञानसागर झलक जाता है। जैसे पहाड़के ज्ञानको एक छोटा-सा तिल रोक देता है, इसी प्रकार यह भ्रमकी पर्यायबुद्धि इस जीवके समस्त क्लेशोंका कारण बन रही है। इस भ्रमरूपी चादरको ज्ञानसिन्धुमें अन्तर्मग्न कर दो और अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करो। जिस समय मूसलाधार वर्षा हो रही हो, ओले पड़ रहे हों, आंधी उठ रही हो, उस समय कोई कमरेसे बाहर निकलना नहीं चाहेगा। ऐसे निजके कमरेमें जिसे स्थान मिला है ऐसे जीवको, ऐसे स्थानमें जहाँ आपदा, चिन्ता और शल्यकी वर्षा हो रही हो वहाँसे कोई ले जाना चाहे, वह इस घरसे बाहर नहीं जाना चाहेगा। सम्यग्दृष्टि यदि विवश होकर निकल भी जाता है तो भी उसका उपयोग उसी ओर बना रहेगा। सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टिके, दोनोंके ज्ञानचेतना है। कर्मफल भोग करके भी मैं ज्ञानमात्र हूँ—ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता है ? जब विश्वास किया जा सकता है तो रागके होनेपर मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव किया जा सकता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना मुख्य है तो भी सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी गौणरूपसे कहनी ही पड़ी। बस, इस ज्ञानसिन्धुमें डूब जाओ।

**अपनी आत्माको जानोः**—मैं शरीरसे जुदा हूं, शरीर जल जाने वाली चीज है। शरीरको लोग बांध सकते हैं। आत्मा अमूर्त है, शरीरको सुख देकर, शरीरकी प्रवृत्तियाँ करके इस आत्माको सुख न मिलेगा, किन्तु इस आत्माको जानकर यह आत्मा सुख पा सकता है। आत्माकी शान्ति स्वभावमें बसी है। केवल निजको निज और परको पर ही

जानना है। मैं तो एक चैतन्यमात्र हूं, जहां इस स्वभावपर एकाग्रता आ गई, वहाँ इस जीव को अन्य कुछ करनेको नहीं है। हे आत्मन्, तुम करते ही क्या हो, किसीकी परिणतियाँ तुम कर नहीं सकते। पर अखण्ड सत् है, तुम भी अखण्ड सत्ता वाले हो। तुम्हारी क्रियाएं तुम्हारेमें ही हो सकती हैं। तुम्हारेमें जो कुछ होता है, वह तुम्हारे ही द्रव्य गुण पर्यायमें होता है, इससे बाहर तुम्हारा कुछ नहीं होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य गुण पर्याय में परिणमते चले जाते हैं। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें परिणमन नहीं कर सकता है। यदि तूने इन्हीं विषयप्रसंगोंमें समय गुजार दिया तो तू इस संसारके बन्धनोंमें ही जकड़ा रह जायेगा। यदि तूने अपनेको अपने ही आपमें रक्खा तो इसमें तेरा उत्कर्ष है। मत अपने को मानो कि मैं त्यागी हूं, साधु हूं, पण्डित हूं, धनी हूं आदि। गरीब देखकर मैं धनी हूं इस प्रकारके विचार आना—यह प्रवृत्ति आपको पतनकी ओर ले जाने वाली है। गरीबको देखकर अपनेको गरीबसे भी गरीब जानकर आचरण करो।

आत्माका स्वभाव पर्यायबुद्धि रहित है। पर्यायमें तुम इस बातको आदर दोगे तो अकल्याण तुम्हारा है। जगतके समस्त प्राणी आनन्दमय हैं। जिसकी जो परिणतियां हैं, वह अपनी परिणतियोंके अनुसार चलता है। वस्तुके आत्मस्वभाव तक पहुंचनेवाला व्यक्ति ज्ञानस्वभावके नातेसे व्यवहार करेगा, हमें इसमें द्वैत दिखाई देगा। इस स्वभावकी दृष्टि इतनी प्रबल बनाओ कि जो भी तुम्हें दिखाई देता है, वह सब इन्द्रजाल मायामय मालूम पड़े। अपने स्वभावकी इतनी प्रबल धुन करो कि उस दृष्टिमें रहते हुए ज्ञप्ति अपनी बनो या दूसरेकी बनो—वह आत्मामें घर किये रहे। जो चीज बोली जाती है, वह चीज कहीं न कहीं होती है। हे भोले प्राणियों! तुम इस भ्रमकी चादरको दूर करके इस ज्ञानसिन्धुमें आकर गोते लगाओ।

॥ इति समयसार प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

# सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्रापुस्त चापुरचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम्।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम्।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥